ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ११

अंक १

क्रमांक १२१

पौष

संवत् १९८६

जनवरी

सन १९३०

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) [illegible]० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष ११
अंक १
क्रमांक १२१

पौष
संवत् १९८६
जनवरी
सन १९३०

वैदिक धर्म.

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

क्षत्रियोंका कर्तव्य।

उत न ईं मरुतो वृद्धसेनाः स्मद्रोदसी समनसः सदन्तु।
पृषदश्वासोऽवनयो न रथा रिशादसो मित्रयुजो न देवाः ॥ ९ ॥

ऋग्वेद. १। १८६। ८

"(रोदसी) इस भू लोकसे द्युलोकपर्यंत के सब विश्वमें, (स-मनसः) एक विचार रखनेवाले, (वृद्धसेनाः) बडी सेना रखनेवाले, (पृषद्-अश्वासः) हृष्ट पुष्ट घोडे पास रखनेवाले, (अवनयः) रक्षा करनेमें तत्पर, (रिश्-अदसः) शत्रुका नाश करनेवाले, (मित्रयुजः देवाः न) मित्रता करनेवाले देवोंके समान, (उत रथः न) और रथियों के समान पराक्रमी (मर्-उतः) मरनेतक लडनेवाले वीर, (नः ईं स्मत् सदन्तु) हम सबको सुखसे बसने दें।"

क्षत्रियोंको उचित है कि वे एक विचारसे सबकी पालना करें। सब प्रजा सुखपूर्वक रहने योग्य राज्यशासन करना चाहिये। क्षत्रिय उत्तम पादचारी सैनिक, अश्ववीर, रथीवीर और सब प्रकार के वीर तैयार रखें और शत्रुका नाश करनेमें तत्पर हों। जनता की रक्षा करनेका कार्य आमरण करें। क्षत्रियोंमें प्रजारक्षाका विचार नित्य जाग्रत रहे और सब लोक यही इच्छा करें कि अपने राष्ट्रमें ऐसे उत्तम शूर क्षत्रिय वीर बडे प्रभावशाली हों और सब प्रजा निर्भय हो।

धर्म, पंथ और मत।

से कई संस्कृत शब्द हैं जिनका प्रयोग आज कल मन चाहे अर्थ में किया जाता है। शब्द के मूल अर्थ को न देख, जब शब्द का प्रयोग मन चाहे अर्थ में होने लगता है, तब कभी कभी अर्थ का अनर्थ भी होता है। इसी प्रकार का अर्थका अनर्थ 'धर्म, पंथ और मत' शब्द के संबंध में हुआ है। आज कल बहुतेरे लोग यही मानते हैं कि हिन्दु, बुद्ध, पारसी, यहूदी, ईसाई, मुसलमानी, कन्फूशियन, शितो आदि अनेक 'धर्म' हैं। परन्तु देखना चाहिए कि इन में से सच्चे धर्म कितने हैं, पंथ कितने हैं और मत कितने हैं। यह विचारपूर्वक देख लेने पर ही योग्य अर्थ से योग्य शब्दका प्रयोग करना संभव होगा।

देखना चाहिए कि वास्तव में धर्म पंथ और मत शब्दोंसे किस बात का बोध होता है। यह भी देखना चाहिए कि धर्म का लक्षण क्या है और पंथ तथा मत का लक्षण क्या है।

१ मत।

ज्यो व्यक्ति के नाम से चलता है वह 'मत' है। जैसे बौद्धमत बुद्ध के व्यक्तिके नाम पर चलता है। इसी प्रकार ईसाईमत,मुहम्मदी मत,राधास्वामी मत आदि सब मत हैं। इन मतोंमें से यदि इनके आचार्यों की व्यक्तिकी सत्ता निकाल ली जाय तो इन मतों में शेष कुछ नहीं रहता। ईसाई धर्म से यदि हजरत ईसामसीह को अलग निकाल लें तो उनके मतों के सिवा ईसाई धर्म में कोई भी बात शेष नहीं रह जाती। इसीसे इसे ईसाई मत या ईसामसीह का मत कहते हैं। इसीप्रकार पूजनीय मुहम्मद पैगंबर का मत कुरान शरीफ में संगृहीत किया है। इसीसे यह मुहम्मदी मत है। "अल्ला ताला, मुहम्मद पैगम्बर तथा कुरान शरीफ" इन तीन बातों को विना माने मुसलमानी मतमें प्रवेश नहीं हो सकता। इसका कारण भी यही है। ईसाई मत का भी यही हाल है। प्रत्येक ईसाई को "ईश्वर, ईसामसीह और बाइबल" इस त्रयीको मानना पडता है। इसी प्रकार जरदुष्ट्र के मत को पारसी मानते हैं। बौद्ध लोग कहेंगे "बुद्धं शरणं गच्छामि" और बुद्धजी को अंतिम अष्टाधिकार देंगे। पृथ्वीमें इस प्रकार के अनेक मत जारी हैं। इसमें व्यक्ति के नामका या मत को प्राधान्य होता है। भाविक लोग कहेंगे कि हमारे पैगंबर को ईश्वरकी प्रेरणासे ज्ञान प्राप्त हुआ। परन्तु एक मतवाला दूसरे मतके पैगंबर को अपने पैगंबर की बराबरी से आदर कभी न देगा। इसीसे मुसलमान मानते हैं कि मुहम्मद पैगंबर ही अन्तिम संदेश देनेवाले हैं। और ईसाईलोग इसे बिलकुल नहीं मानते अपितु अपने ही पैगंबर के बडप्पन की बडाई करते हैं। मतों में व्यक्तिको ही प्रधानता होने के कारण ऐसा होना अपरिहार्य है।

मतों में व्यक्ति की सत्ता की गुलामी है इससे इतनी बात में मतवालों को संकुचित विचारोंका स्वीकार करना ही पडता है। इसीसे ये लोग दूसरों के पैगंबर को हलका मानते हैं। धर्म का व्यापक तत्त्व तो वे बिलकुल ही नहीं समझते। अतः आपस में फजूल का कलह मचा देते हैं। इसका अनुभव तो प्रतिदिन आता है।

२ पंथ।

'पंथ' भी किसी विशेष सिद्धान्तको माननेवाला होता है। जैसे अद्वैतपंथ, द्वैतपंथ,शाक्तपंथ इत्यादि। ऐसे अनेक पंथ भारतवर्ष में हैं। यदि कहें कि हिन्दुस्थान के बाहर प्रायः धर्म हैं ही नहीं तो भी चल सकेगा। हिन्दुस्थान के बाहर जो कुछ हैं वे सब मत हैं। व्यक्तिको प्रधान मानकर, व्यक्ति का महात्म्य

बढाकर, एक व्यक्ति के अस्तित्व पर चालू हुए मत ही हिन्दुस्थान के बाहर जारी हैं। ऐसे मत हिन्दुस्थान में भी जारी हैं। परन्तु सिद्धान्त भेद से हुए पंथ जैसे इस देश में अनेक हैं वैसे वे अन्य देशों में नहीं हैं। व्यक्ति निष्ठा की अपेक्षा सिद्धान्त निष्ठा कभी भी श्रेष्ठ ही समझी जावेगी। इस दृष्टि से मतों की अपेक्षा पंथों को श्रेष्ठ मानना उचित होगा। क्यों कि एक व्यक्ति के पीछेसे जाने की अन्धश्रद्धा पंथ में नहीं होती। पंथ का सिद्धान्त निश्चित रहता है और तत्त्व ज्ञान की दृष्टि से भी वह सिद्धान्त मानने योग्य होना चाहिए। अद्वैत पंथमें मानना पडता है कि ब्रह्म सत्य एवं अ-द्वितीय है। द्वैत पंथ में मानना पडता है कि ईश्वर और सृष्टि में अथवा उपास्य और उपासक में सनातन भेद है। अन्यान्य पंथों में इसी प्रकार अन्यान्य सिद्धान्तों को मानना पडता है। वाचक गण सहजही में देख सकते हैं कि व्यक्तिका मत माननेकी अपेक्षा तत्त्वज्ञानका सिद्धान्त मानकर पंथ में शामिल होना श्रेष्ठ दर्जे का है।

यहां पर यह दिखला देना आवश्यक है कि द्वैत, अद्वैत आदि सिद्धांतों से श्रीमन्माध्वाचार्य, श्रीमच्छंकराचार्य आदि आचार्योंका निकट संबंध यद्यपि माना जाता है तथापि द्वैत अद्वैत की कल्पनाएं इन आचार्यों से बहुत प्राचीन हैं और ये सिद्धान्त भी बहुत प्राचीन हैं। अर्थात् यद्यपि पंथों के साथ एक वा अनेक आचार्यों का साक्षात् या परंपरासे संबंध होता है तब भी यह नहीं सिद्ध होता, कि वह पंथ व्यक्तिनिष्ठ है और सिद्धान्तानुगामी नहीं है। इस प्रकार 'पंथ' और 'मत' का अंतर भी स्पष्ट हो जाता है। इससे यह भी विदीत हो जावेगा कि एक पंथ में उसके सिद्धान्तसे अविरोधक ऐसे अनेक मत हो सकते हैं; पर एक मत में अनेक पंथ कदापि नहीं हो सकते।

आजकल 'मत' और 'पंथ' शब्द अर्थ न समझकर ही मन चाही रीति से प्रचार में लाए जाते हैं। इससे वाचकों की समझ में भूल हो जाती है इसीसे इन शब्दों का प्रयोग करने के पूर्व इनके असली अर्थों को समझ लेना अत्यंत आवश्यक है।

३ धर्म।

'धर्म' शब्द वस्तुतः 'स्वभाव धर्म' के अर्थ का शब्द है। स्व-भाव-धर्म का मतलब है "अपने अस्तित्व का धर्म" मनुष्य के अस्तित्व का जो धर्म वही मानवधर्म है। यदि यह प्रश्न उत्पन्न हो कि मनुष्य का अस्तित्व काहे में है तो धर्म की दृष्टि से उसका उत्तर इस प्रकार है:—

व्यक्ति | १ आत्मा
[illegible] | २ बुद्धि
अंतःकरणचतुष्टय
३ मन
४ इंद्रियां
५ शरीर
समष्टि　६ जनता

इनके अस्तित्व का जो धर्म उसी का नाम 'धर्म' है। व्यक्तिधर्म में उक्त पांच पदार्थों के गुण-धर्म-विकास के नियमों का अंतर्भाव होता है। समाज-धर्म में व्यक्ति और समाज के संबंध का अंतर्भाव होता है। जो सच्चा धर्म है वह न तो व्यक्ति के मत को प्रधानता देता है और न सिद्धान्तानुसारी पंथ को ही। व्यक्तिनिष्ठ लोग एक के पीछे पीछे जाते हैं अतः वे दूसरों की निंदा करेंगे और झगडा मचावेंगे। और पंथनिष्ठ लोग यद्यपि एक सिद्धान्त मानते हैं, तथापि वे दूसरे सिद्धान्त माननेवालों से लडते रहेंगे। ऐसे क्षुद्र वायुमंडलमें समय बिताने के लिए 'धर्म' जिज्ञासुओंको फुरसत ही नहीं। धर्मवादी लोग सब मानवों का उक्त छः पदार्थों के केन्द्रों से ही विचार करेंगे। प्रत्येक मनुष्य में ऊपर बतलाए हुए पांच पदार्थ हैं। उसे उनका विकास करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य का संबंध इतर जनों से है। उसे इस संबंधको पहिचानकर ही बर्ताव करना आवश्यक है। बस् धर्म में इतना ही विचार होता है। इसीसे 'धर्म' मनुष्यमात्र को "अपने अस्तित्व का नियम" बतलाता है। किस मार्ग से जानेपर मनुष्य के भीतर की ये पांच शक्तियां पूर्ण विकास पावेंगी, जनता के साथ जो संबंध है वह किस प्रकार जारी रखकर परस्पर उपयोगी बनेगा यही विचार धर्म में होता है।

इस विवेचन से विदित होगा कि मुहम्मदी, ईसाई, बौद्ध, आदि मतों से विभक्त हुई जनता केवल सनातन मानवधर्म से ही बद्ध हुई है। इसीसे सनातन मानव धर्म के सामने उपरोक्त मतों के कारण हुए आधुनिक भेद बिलकुल ही टिक नहीं सकते। खिस्त मतादि अनेक मतों के अनुयायियों में भी उक्त पांच तत्व हैं। उन्हे भी इनका विकास करना आवश्यक है। संपूर्ण मानवी प्राणियों को यह शास्त्रीय अनादि मानवधर्म इसी कारण से माननीय होना संभव तथा योग्य भी हैं। क्यों कि यहां किसी भी एक मनुष्यके मतका अधिकार नहीं है, एक सिद्धान्तका दुराग्रह नहीं है,एकही व्यक्तिका अनुगामी होने का कारण नहीं। इस मानव धर्ममें सब मानव समान हैं। यह तो आत्मशक्ति के विकास सेही मनुष्य की योग्यता निश्चित करता है। अन्य ऊंच, नीच भेद व्यवहार में चाहे कितना ही महत्व क्यों न रखें पर यह मानव धर्म उन्हें बिलकुल नहीं मानता। इसीसे 'चोखामेला' जन्मका अंत्यज इस धर्म में रहकर ही आत्मोन्नति करके सबको वंदनीय हो सका।

सनातन वैदिक मानवधर्म का स्वरूप इस प्रकार है। इस स्वरूप को देखने पर विदित होगा कि संसार में यही एक धर्म है। इस धर्म का स्वरूप इतना उदार है इसीसे इसमें अनेक पंथ मिल गए हैं। मतों के अनेकत्व के कारण इसकी वृद्धि नहीं होती और कुछ मत इससे अलग हो गए तो इसमें हानि भी होती नहीं। पंथ अर्थात् मार्ग यदि अधिक हुए तो भी इसका नुकसान नहीं और कुछ कम हो जाने से इसका कुछ बिगडता भी नहीं। जैसे वर्षा होने से समुद्र बढता भी नहीं और अवर्षणसे घटता भी नहीं, उसी प्रकार इस मानव धर्म की अक्षोभ्य वृत्ति है। मतवादी लोग यदि उनके आचार्यों को कोई कुछ कहें,तो चिढ जाते हैं और एकदम पशुवृत्ति का अवलंब करते हैं। उनके आचार्यों की निन्दा होने से उन्हे ऐसा लगता है जैसे उनका सर्वस्व नष्ट हो गया हो। एक ही आचार्य के अनुयायियों की ऐसी वृत्ति होना स्वाभाविक है। क्यों कि उनके एकमात्र ' तारक ' की यदि अप्रतिष्ठा हुई तो फिर वे किसके पीछेसे जावें ? इसीसे मतवादियों में उक्त कारण से पशुभाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है। पंथवालों का भी प्रायः यही हाल है।

परन्तु धर्मवादी लोग ऐसी पशुवृत्ति के वश में नहीं हो सकते इसीसे धर्मवादी लोग जन्मतः शांतिस्वरूप होते हैं। उनमें स्थित पशुभाव उक्त शुद्ध धर्मभाव के कारण कम हो जाता है। यदि धर्म का काम पशुवृत्ति को घटाना और मानवी शांतवृत्ती बढाना है तो यह कार्य किसी भी मत या पंथ ने नहीं साधा। वह कार्य केवल एक सनातन आर्य धर्म ने ही साधा है। अब देखना चाहिए कि वह इस धर्म से ही क्यों सधा और दूसरे मतों या पंथोंसे क्यों न सधा।

धर्म का सिद्धान्त है की " सब लोक अपनी अपनी रीतिरस्मोंके तथा पूर्वपरंपरा के अनुसार भलेही बर्ताव करते रहें, वे यदि सदाचार से चलते हैं तो वे मुक्त हो जावेंगे। अतः उपास्य भेद, मतमतांतरों का भेद, पंथभेद कितना भी क्यों न हों तथा रीतिरस्मोंके कितने भी भेद क्यों न बढें वे सब हिन्दू धर्मीयों को सहनीय हो सकते हैं। कोई श्रीकृष्ण को माने या न माने कोई श्रीरामचंद्रका भजनपूजन करे वा अन्य किसी का भजन पूजन करे, कोई अद्वैती हो या द्वैती हो, कोई कुछ भी क्यों न माने, जबतक वह व्यक्तिगत, सामाजिक तथा राष्ट्रीय नीति नियमोंका उल्लंघन नहीं करता तब तक हिन्दुओंकी दृष्टि से वह पतित न होगा। इसी लिए मुसलमानों को हिन्दुओं की ग्रामसंस्थामें कुछ अधिकार मिले हैं। कई गावोंमें हिन्दुओं के देवों के सन्मुख बाजे बजाने का काम मुसलमानों को दिया गया है। जो लोग ग्राम में आकर स्थाइ होकर बस गए उन्हे केवल मतों के भेदों के कारण अलग रखने का विचार हिन्दुओं को छुएगा भी नहीं।

कश्मीर में अमरनाथ नामक शिवजी का एक स्वयंभू स्थान है। वह अत्यंत पवित्र स्थान है। वहां प्रतिवर्ष बडा मेला लगता है। वहां की यात्रा बहुत ही कठिन है। तिसपर भी हमने प्रत्यक्ष देखा है कि उस देवस्थान में वहां के मुसलमानों को भी कुछ अधिकार वंशपरंपरा के लिए दिए गए हैं। वाचक इस दशा पर ध्यान दें और यह भी देख लें कि मत

वादी किस प्रकार चिडचिडे स्वभाव के होते हैं। किसी पंजाबीने मुसलमानों के पैगंबर की निंदा छपवा दी। इससे क्रोधित हो पठानिस्थान के सब हिन्दुओंको मुसलमानों ने भगा दिया। जिन गांवों में हिन्दूलोग दो तीन सौ वर्षों से रहते आए हैं, उन गांवों में से उन्हीं हिन्दुओं को भगा दिया। सोभी उनके अपराध के लिए नहीं। तो किसी पंजाबीनें कोई पुस्तिका लिख डाली इस लिए! यदि यह सचमुच में अपराध है तो उस अपराधी को सजा देना कुछ और बात है पर उसके जातिबन्धुओं को उन मकानों और गांवोंमेंसे भगा देना जहां कि वे दो, तीन सौ वर्षों से रहते आए हैं क्या दिखलाता है? संख्या की दृष्टि से जो दशा सीमाप्रान्त के हिन्दुओं की है वही दशा महाराष्ट्र के मुसलमानों की है। सीमा प्रान्त के हिन्दुओं को उनका कोई अपराध न रहते भो वहां के मुसलमान भगा देते हैं। परन्तु महाराष्ट्र में स्थित कुछ मुसलमान लोग हिन्दुओं का अपराध विना-कारण कर रहे हैं; तिसपर भी वहां के हिन्दू, उन्हे भगाते तो है ही नहीं, उनके साथ बन्धु भाव से बर्ताव करही रहे हैं। इसका कारण यही कि मुसलमान लोग मतवादी हैं और हिन्दू धर्मवादी हैं। इस मानव धर्म को माननेवाला मनुष्य सहसा पशुवृत्ती में प्रविष्ट न होगा। परन्तु इस के विपरीत मतवादी मनुष्य की पशुवृत्ति तुरन्त ही जोर पकडती है क्यों कि उनमें पर-मत के प्रति सहिष्णुता नहीं होती। धर्म के भीतर ही अनेक पंथ एवं अनेक मत होने के कारण धर्मवादी लोग जन्मतः सहिष्णु होते हैं। मतवादियों में यह सहिष्णुता नहीं होती। उनमें दुराग्रह अवश्य होता है।

मूर्तिभंजक तथा ग्रंथदाहक मुसलमान जेताओं का कहा हुआ एक वाक्य इतिहास में प्रसिद्ध है। वह वाक्य इस प्रकार है " यदि हिन्दुओं के ग्रंथ कुरान के प्रतिकूल हैं तो वे झूट हैं, इस से जला डालने के योग्य हैं और यदि वे कुरान के अनुकूल हुए तो कुरान के रहते इन ग्रंथों को रखने की आवश्यकता नहीं। अतः इन ग्रंथों को जला देना ही उचित है। " इस जंगली विचारप्रणाली के कारण इन्होंने हिन्दुओं के कई अनमोल ग्रन्थ जला डाले। मतवादियों का यह काम देखिए और धर्मवादी हिन्दुओं का कार्य देखिए। ऐसे सैकडों उदाहरण हैं कि जब श्री शिवाजी महाराज को कहीं कुरान का ग्रंथ मिलता तो वे उसे आदर से मुसलमानों के पास पहुंचवा देते। धर्मवीर छत्रपति श्री शिवाजी महाराजने मस्जिदों की रक्षा की और मतवादी मुसलमानों ने मंदिर तुडवाए और अब भी वही विघातक काम जारी है।

मतवादियों के जो जो अत्याचार इतिहास में मिलते हैं वे इसी प्रकार पशुवृत्ति के द्योतक हैं। उनसे इतिहास के पृष्ठ कलंकित हुए हैं। धर्मवादियों में ऐसी अनुदारता कदापि नहीं होती। इसीसे जब रामचंद्रजी ने रावणको हराया, तब उन्होंने लंका को किसी प्रकार से हानि न पहुंचाई। राक्षसों को केवल आर्यों की शासन पद्धति बतलाई गई। परन्तु मुसलमान जब ईरानमें गए उन्होंनें पारसियों को वहां रहने भी न दिया। पारसी लोग वहां से भागे और हिन्दुस्थान के हिन्दू बादशाहों के आश्रय में रहने लगे। क्यों कि हिन्दू राजा मानव धर्मवादी थे अतः वे जानते थे कि अग्नि की उपासना करनेवाले पारसी यदि यहां आकर बस गए तो उससे हिन्दू धर्म का कुछ भी बिगाड नहीं हो सकता। पर मुसलमानों का ऐसा न था। उनके लिए अग्नि के उपासक पारसियों को सहानुभूति बतलाना असंभव था। अन्य मतवालोंका भी यही है। केवल उदाहरण के लिए इतिहाससे मुसलमानों के दृष्टांत उद्धृत किए हैं।

बौद्धमत हिन्दुस्थान में ही निकला। इससे उसपर हिन्दुधर्म के बहुतसे शुद्ध संस्कार हुए। इसीसे उसमें भर अत्याचार की प्रवृत्ति नहीं है। इस महत् अंतर का कारण यही है कि उसकी उत्पत्ति हिन्दुधर्म से हुई है।

धर्म में उदारता रहती है और मत तथा पंथों में संकुचित वृत्ति रहती है। धर्म में परमत सहिष्णुता होती है और मत में निरंतर असहिष्णुता वास करती है। इस बात पर ध्यान देनेसे विदित होता है कि संसार में ' धर्म ' नाम जिसे शोभा देगा ऐसा केवल एक सनातन वैदिक आर्य मानव सत्य

धर्म ही है। दूसरे जो हैं सो पंथ हैं वा मतमता-न्तर हैं।

यदि देखना हो कि धर्म कितना उदार है तो दूर जाने की आवश्यकता नहीं। केवल एक ही बात पर्याप्त होगी कि जो जो अन्यान्य मत या पंथ आज वैदिक धर्म के बाहर विद्यमान हैं वे अपने अपने मतों को मानते हुए भी यदि केवल इस धर्म का अंतिम ध्येय मानकर शामिल हो सकते हैं। परन्तु हिन्दुधर्म के लोग अपने अपने सिद्धान्त मानते हुए अन्य- ईसाई वा मुसलमानी- मतोंमें प्रविष्ट नहीं हो सकते। इसी बात से स्पष्ट होगा कि धर्ममें कैसी भारी मत- स्वतंत्रता है। ऐसी मत- स्वतंत्रता अन्य किसी मत वा पंथ में नहीं। इस धर्म में वेद को न माननेवाले सिक्ख भी शामिल हैं। वैसे ही कट्टर वेदानुयायियों का भी अंतर्भाव होता है। निरीश्वरवादी सांख्याचार्य इसमें आचार्य माने गए हैं,तो एकेश्वरवादी या बहुदेववादी भी इसमें शामिल हैं। " अहं ब्रह्मास्मि " कहनेवाले अद्वैतवादी जैसे इस धर्म में हैं वैसे ही शुद्ध द्वैतवादी, मूर्तिपूजक इस धर्म में एकजीव होकर रहते हैं। इससे विदित होगा कि जैसा मतस्वातंत्र्य इस धर्म में है वैसा और कहीं भी नहीं है। और न मिलना ही संभव है !!

इस प्रकार की स्वतंत्रता के कारण ही इसे ' धर्म' संज्ञा है। धर्म का अर्थ है धारण करने वाला। इकट्ठे न होनेवालों को एक स्थान में लाकर उनका एकत्र धारण करनेवाला और इस प्रकार सब का पोषण करनेवाला जो वही सच्चा धर्म है।

इस विवेचन से स्पष्ट होगा कि धर्म क्या है और पंथ तथा मत क्या हैं। आज कल पंथ और मतको भी धर्म कहते हैं पर वह गौण दृष्टिसे ही कहा जाता है। वास्तव में अनादि काल से चला आया हुआ सनातन आर्य वैदिक धर्म ही सब मनुष्योंका सच्चा धर्म है; अन्य सब मत और पंथ इसके भीतर आकर रहने के लिए तथा वहां धर्मत्व पाने योग्य हैं।

प्रातः स्नान।

(ले०—श्री. त्र्यं. ग. जावडेकर; धुळे)

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनं चैव समिधादानमेव च ॥ (मनु०)

यह बतला दिया गया कि ब्रह्मचारी उर्फ विद्यार्थिको कब उठना चाहिए और उठते ही प्रथम क्या करना चाहिए। यह मान कर कि उसका शौच-मुखमार्जन हो चुका है अब स्नान की तैयारी करनी चाहिए। स्नान का प्रश्न निकालने के पहले ही आजकल के विद्यार्थि-विशेषतः कालेज के विद्यार्थि एकदम प्रश्न करेंगे कि "पहले यह तो बतलाइए कि चाय का क्या प्रबंध और तब आगे बोलिए। " कई विद्यार्थी रात को सोते समय अपनी खटिया के पास ही चाय के सामान की सिद्धता कर रखते हैं। बेचारे मनु-याज्ञवल्क्य के समय यह झंझट न थी। यह तो अंग्रेजी राज की देनगी है। इसके संबंध में इतना कहना पर्याप्त है कि वह जहांसे आई है वहीं पर ठीक है। हमारे देशमें ऐसे समय जब कि वीर्य बनता है इस विष से कोसों दूर रहना चाहिए। जब बैल मस्त हो जाता है तब उसकी मस्ती उतारने के लिए उसे रोज गरम पानी पिलाते हैं। और ऐसा कुछ दिन करने से उसकी मस्ती उतर जाती है। जब बैल का यह हाल है तो जिस मनुष्य को उसके कोमल वय से गरम पानी पिलाना शुरू होता है उसे जवानी पहुंचने पर भी मस्ती कहां से आवेगी ? उसके शरीर में सामर्थ्य बढे कैसे ? और उसके द्वारा मस्त बैल के सदृश कभी भी दूसरे से टक्कर देते कैसे बन सकता है ? इस संसार में सबका 'धक्का बुक्की ' का व्यवहार है। सार्वत्रिक स्थिति यही है कि जिसके हाथ लोई उसके हाथ सब कोई। यही हाल सर्वकाल रहनेवाला है। अतएव वीर्य-संचय के काल में ही यदि वीर्य-नाशक उपचार जारी रहे तो आगे की अधिक आशा करने की गुंजाश ही नहीं। अस्तु।

स्नान की ओर शीघ्र ही ध्यान देना चाहिए। आजकल का ब्रह्मचारी इतना आलसी और उत्साहहीन रहता है कि कुछ कहा नहीं जाता। वस्तुतः स्नान का नाम निकलते ही मन को उत्साह

मालूम होना चाहिए। और विद्यार्थि को स्नान के लिए दौडना चाहिए। पर परिस्थिति इसके बिलकुल विपरीत है। उसे स्नान सजा सा मालूम होने लगा है। यदि माबाप बालकों को बिना नहाए रोटी दे दें तो ऐसे कई लडके निकलेंगे जो आठ आठ दिन तक न नहाएंगे और बिना नहाए ही मजे से भोजन कर लेंगे। उन्हे स्नान न करने से कुछ भी बुरा न लगेगा और न उसे बिना स्नान किए रोटी खाने में शरम ही मालूम होगी। तो क्या स्कूल की पाठ्य पुस्तकों में स्नान के पाठ नहीं हैं ? पर अब तक सबकी समझमें यह बात नहीं आई है कि केवल याद करा लेने ही से पूर्ण शिक्षा कदापि नहीं होती। भारतवर्ष के विद्यापीठों से प्रति वर्ष ऐसे सहस्त्रों पदवीधारी पीठ ठोक कर निकाले जाते हैं जिन्होंने " देशाभिमान " " राष्ट्राभिमान " जैसे गहन विषयों की पुस्तकों के ढेर पढ लिए हैं।परंतु दुःख यही है कि जो कुछ पढा है उसका शतांश भी कर दिखाने की सामर्थ्य विश्वविद्यालय उत्पन्न नहीं कर सकता। अस्तु।

केवल " स्नान " के बारे में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। पर यहां अब आगे बढते हैं। मनुजी की स्पष्ट आज्ञा है कि नित्य प्रातःकाल उठते ही स्नान करना चाहिए। नौ दस बजेतक बिना नहाए घूमने के समान लज्जा की अन्य बात ब्रह्मचारी के लिए नहीं है। ऐसी दशा में तेज वृद्धि नहीं हो सकती। मान लिया जाय कि स्नान हो चुका अब यह देखें कि आगे क्या करना चाहिए। इसका उत्तर स्पष्ट ही है कि देवतर्पण, ऋषितर्पण, देवपूजा और अग्निमें समिधा का होम। यह तर्पण की और पूजा की मालिका पढकर ही विद्यार्थी एकदम बिगडे दिल हो जावेंगे। पर उन्हे ध्यान में रखना चाहिए कि ये सब सत्य है। अब यदि वे कहें कि हम अपनी रोज की पढाई कब करें और यह झंझट कब निपटावें ? तो हमारा उत्तर यह है कि उनका सबक याद करने का बहाना व्यर्थ है। उसमें सत्य बिलकुल नहीं है और यदि हो भी तो वह अत्यल्प है। क्यों कि सब स्कूलों और कालेजों को वर्ष में करीब पांच, छः महीने छुट्टियां रहती हैं। स्कूल के दिन भी यदि वह नित्य ब्राह्म मूहूर्त में उठना और ठण्डे पानी से नहाने के नियम का पालन करेगा तो वह इन ' झंझटों ' को सह्माल कर भी सात बजे पढने को बैठ सकेगा। आगे के तीन घण्टे (भोजन के समय तक) वह जितना चाहे पढ सकता है। इतना ही नहीं इस कर्म के बाद जो पढाई होगी वह एकाग्र चित्त से होगी। हर कोई इसे अनुभव कर देखे। यहां तो पढाई का बहाना किया जाता है पर वास्तविक पढाई एक घण्टा भर भी नहीं होती। शेष समय केवल हँसने खेलने में बीत जाता है। ' लडके और तर्पण ' इन शब्दों को पढकर लडकों के साथ उनके पालक भी ' अशुभ ' ' अशुभ ' कह कर चिल्ला उठेंगे। पर इसमें उन्हीं का अज्ञान जाहिर होगा। क्यों कि यह समझ भ्रम पूर्ण है कि तर्पण केवल उन्हीं को करना है जिनके मा—बाप जीवित नहीं हैं। कई लोग शायद यह भी नहीं जानते कि पितृतर्पण के सिवा अन्य तर्पण भी हैं। वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, कश्यप आदि ऋषियों के कुलमें जन्म लेकर भी क्या हमारे लिए उचित है कि हम उन्हे भूल जावें ? उनके कर्तव्यों को तो हम कभी के भूले बैठे हैं! देवतर्पण, ऋषितर्पण, देवपूजा और अग्नि की आराधना आदि कर्म मन से करें तो मनकी प्रसन्नता कितनी बढती है उच्च विचारों को कितनी सहायता होती है और मनोभूमिका कैसी शुद्ध और पवित्र बनती जाती है यह तो अनुभव से ही जाना जा सकता है। यदि हम देवों को भूलें, ऋषियों को भूलें और अग्नि को जो मूर्तिमान् तेजही है भूलें तो आर्य संस्कृति को हमारे भाग्य से जो देवताओं की सामर्थ्य, ऋषियों की तपस्या और अग्नि के तेजका बल है उसे हम अपने हाथों से खो देंगे। ऐसा होनेपर हमारे जैसे अभागी हम ही रह जावेंगे। मुंहसे कहना कि हम ' आर्य-संतान ' हैं और काम करना ' अनार्य संतानका। ' भला इसके समान अन्य कोई अधःपात हो सकता है ? भला जरा सोचिए तो कि जिस ब्रह्मचारी को प्रातःस्नान, संध्यावंदन और अन्य कुछ नहीं तो कमसे कम सूर्य को द्वादश या त्रिचाकल्प नमस्कार इतने छोटे कर्म भी करते नहीं बन-

ता तो वह ब्रह्मचारी ही कैसे हो सकता है ? उसे केवल द्विपाद प्राणी की संज्ञा दी जा सकती है पर उसकी लियाकत चतुष्पाद के बराबर ही समझी जावेगी। पालकों को यह न समझना चाहिए कि विद्यार्थियों के इस बर्ताव के दोष का कम भाग उनके जिम्मे है। उक्त कर्म में ग्रथित तत्वों की पहिचान यदि उन्हें ही नहीं है तो वह उनके अपत्यों को कहां से हो सकती है ? जो कुएं में नहीं है वह बालटी में कहां से आ सकती है ? तात्पर्य यही है कि विद्यार्थी, पालक या यों कहिए कि स्थूलमान से सब त्रैवर्णिक ही ' इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः ' हो गए हैं। क्या सब लोग इस बातका विचार करेंगे ?

दुग्धाहार का अनुभव।

मैंने निरोगी होते हुए भी सिर्फ दूध पर निर्वाह करने का विचार किया। मैंने ता. १-६-२८ से यह शुरू किया। पहले पहल मुझे सेर भर दूध लगता था। मुझे पहले ही से चाय पीने की आदत थी और मैं चार कप चाय कमसे कम पीता ही था। इस तरह मैं चार कप चाय और एक सेर दूध पर ता. १२ जून १९२८ तक रहा। इसके बाद मुझे नंदुरबार छोडकर धुलिया को जाना पडा और वहां मुझे आठ दिनका मुकाम करना पडा। उन आठ दिनों में मुझे जितना दूध मिलता था उतना ही मैं पीता था और यदि न मिला तो कुछ हलकासा अन्न, बहुत थोडा खा लेता था। फिर ता. २० ६-२८ को मैं नंदुरबार लौट आया। ता. २-१६-२८ से फिरसे सेरभर दूध और चार कप चाय शुरू हुई। ता. ३०-६-२८ तक ऊपर लिखा हुआ आहार नियमित और रोज हुआ करता था। इस तरह के एक मास के अनुभव ये हैं। दस्त साफ हुआ करते थे। मन सदा प्रसन्न और शांत रहा करता था। कुछ दिन पहले जब मैं भोजन करता था तब भी दोपहर के बाद तीन चार बजे कोई भी काम करने की इच्छा न होती थी, परन्तु अब सात बजे तक भी यदि कोई काम करूं तो मन निरुत्साह नहीं होता। आलस होता नहीं। मन उत्साहित रहता है। रातको बहुत अच्छी नींद आती है।

ता. १जुलाई१९२८से मैंने डेढ सेर दूध लेना शुरू किया। चाय चार दफे के बदले दो दफे कर दी इस प्रकार का नियम ता.१५जुलाई १९२८ तक रहा। इन पंद्रह दिनोंमें निम्नलिखित अनुभव आया।

ता. ३-७ २८ से सिरदर्द शुरू हुआ। सिरदर्द दोपहर के तीन चार बजे से शुरू होता था। वह चार पांच दिन श्याम के आठ बजे तक जारी रहता था। तब मैंने यह विचार किया कि ज्यादह काम करनेसे वह होता है। मुझे ता. १ से १० तक बहुत ज्यादा काम करना पडता था। शायद वह सिरदर्द इसी के कारण होगा। परन्तु ता. ९. ७. २८ को। सिर दर्द रातको ९ बजे तक जारी रहा। तब मैंने यहां के डॉक्टर श्रीयुत व्यंकटेश प्रहलाद पुणतांबेकर से मेरा सब हाल शुरू से आखिर तक कह सुनाया। उन्होंने मेरा सब वृत्तांत सुनकर कहा कि कोई चिन्ता करने का कारण नहीं। पित्त के जोर के कारण यह सिरदर्द होता है। आप जो करते हैं सो बहुत अच्छा है। आजकल के दिन इस तरह के आहार के लिये बहुत ही अच्छे हैं। आपको इस से बहुत फायदा होगा। इस प्रकार मैं रोज चार बजते तक सिरदाई की राह देखते रहता था। चार बजेसे वह शुरू होता था। यह सिरदर्द १४ जुलई १९२८तक रहा। ता.१५ जुलाईसे सिरदर्द बिलकुल बंद होगया। इस तरह यह डेढ महीने का अनुभव दिया है। इस डेढ मासमें चार या पांच दफेही पानी पीनेमें आया। वर्तमान दिनोंमें प्यास बिलकुल नहीं लगती। इसलिये पानी आठ या दस दिन के बाद पीने का मौका आता है। बीमार मनुष्य को पित्त होनेके कारण पानी जिस तरह खराब लगता है उसी तरह मुझे भी लगता है। और कुछ विशेष नहीं।

ऊपर लिखी हुई बातें यथार्थ में जैसी हुईं वैसी ही लिखकर भेजी है। मै रोगी नहीं हूं। केवल अनुभव प्राप्त करने के लिये ही मैंने वह आहार किया। कई लोग इस प्रकार की बातों से बहुत डरा करते हैं। यह हाल दूसरों को लाभदायक और उपयुक्त होगा इसलिये मैंने यह लिख भेजा है।

यम और पितर।

अथर्ववेद सूक्त।

अथर्व० काण्ड १८। सूक्त० १।

[ले० श्री. पं. मंगलदेव (तडित्कान्त) जी वेदालंकार (गु० कु० कांगडी) औंध.]

इस सूक्तके प्रारम्भिक १६ मंत्रोंमें यम और यमी का अर्थात् सहज भाई बहिनका परस्पर विवाह संबन्ध हो सकता है वा नहीं, इस बातको यम और यमी के संवाद द्वारा दर्शाया गया है। यह यम और यमी एकही मा बापकी संतान होनेसे सगे भाई बहिन तो हैं ही पर इसके अतिरिक्त जैसा कि यम और यमी इन नामोंसे प्रतीत होता है वे युगलोत्पन्न अर्थात् एक साथ जोडे में पैदा हुए हुए हैं। इस सूक्तके ५३ वें मंत्र 'त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति' इत्यादि पर विद्यमान आख्यायिका यम यमीके उत्पत्तिपर विशेष प्रकाश डाल रही है। इस ५३ वें मंत्रमें वर्णित अर्थको स्पष्ट करनेके लिए बृहद्देवतानुक्रमणिकाकारने निम्न लिखित आख्यायिका दर्शाई है—

> अभवन्मिथुनं त्वष्टुः सरण्युस्त्रिशिराश्च ह ।
> स वै सरण्युं प्रायच्छत स्वयमेव विवस्वते ॥
> ततः सरण्व्यां जज्ञाते यमयम्यौ विवस्वतः ।
> तौ चाप्युभौ यमौ स्यातां ज्यायांस्ताभ्यां तु वैयमः ॥ इत्यादि ।

इन कारिकाओं से यम यमी का पारस्परिक संबन्ध जैसा कि हम उपर दर्शा आए हैं व्यक्त हो रहा है। इसके सिवाय इसी सूक्तका चतुर्थ व पंचम मंत्रभी इसी कथन की पुष्टि कर रहे हैं। यह यम कौन है इसका विचार इन मंत्रोंके अंतमें करेंगे।

प्रथम यमी अपने पक्षकी स्थापना करती हुई यम से कहती है कि—

> ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्। पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ अथर्व० १८।१।१ ॥

अर्थ— (पुरू अर्णवं तिरः जगन्वान्) विस्तृत संसाररूपी समुद्रके पार जाना चाहता हुआ जो तू यम है, उस तुझ पतिरूपसे (सखायं) मित्रको मैं यमी (सख्या) पत्नीरूपसे प्राप्त मित्रता द्वारा (ववृत्याम्) वरण करूं अर्थात् तुझ यम को मैं यमी अपना पति बनाऊं। और इस प्रकार पति बनकर, यम (अधिक्षमि) पृथिवीपर (प्रतरं दीध्यानः) विशेष रूपसे प्रकाशमान होता हुआ अथवा मुझ यमी में गर्भधारण करनेके उपायका विशेष चिंतन करता हुआ, (वेधाः) संतानका उत्पादक यम (पितुः नपातं) पिताके कुलको न गिरानेवाली अर्थात् कुलप्रवर्तक संतानको (आदधीत) धारण करे।

भावार्थ - यमी यम से कहती है कि संसार रूपी सागरसे तरनेके लिए हम दोनों पतिपत्नी के रूपमें मित्रता करें ताकि यम मेरेमें अपने पितृकुलकी प्रवर्तक संतान उत्पन्न करे जिससे कि यमका वंश नष्ट न होने पावे। यह मंत्र ऋग्वेद (१०।१०।१)में है।

यमीके उपरोक्त कथनको सुनकर यम उससे कहता है कि-

> न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति। महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परिख्यन्। अथर्व०१८।१।२॥

अर्थ- (ते) तुझ यमीका (सखा) मित्र यह यम (एतत् सख्यं) इस प्रकारकी पतिपत्नी भाव वाली मैत्री (न वष्टि) नहीं चाहता। (यत्) क्यों कि इस प्रकार करनेसे (सलक्ष्मा) एकही उदर से उत्पन्न होनेके कारण समान लक्षणों वाली(विषुरूपा) भिन्न स्वरूप वाली अर्थात् बहिन से पत्नीके स्वरूप में परिणत (भवाति) हो जाती है। अथवा इस

मंत्रार्ध का अर्थ यूं करना चाहिए (यत्) क्यों कि (सलक्ष्मा) तू यमी सहजा होनेसे समान लक्षणों वाली है अतः (ते सखा) तेरे मित्र यम (एतत् सख्यं) इस पत्नी रूपसे मित्रताको (न वष्टि) नहीं चाहता । पत्नी तो वह बन सकती है जो कि (विषुरूपा) भिन्न स्वभाववाली भिन्न लक्षणोंवाली (भवाति) होती है । इसके अतिरिक्त (महः असुरस्य) महान् प्राण प्रदाता परमात्माके (दिवः धर्तारः) व्यवहार को धारण करनेवाले अर्थात् सांसारिक व्यवहार कुशल (वीराः पुत्रासः) पराक्रमी मनुष्य पुत्र भी (उर्विया) पृथिवीपर ऐसे संबन्धका (परि ख्यन्) परिवाद- निराकरण- निषेध करते हैं ।

भावार्थ- यम यमीको उत्तर देता हुआ कहता है कि, हे यमी ! तूने जिस प्रकारकी मैत्रीकी कामना मुझसे की है उस प्रकार की मुझे स्वीकृत नहीं है, क्यों कि तू तो समान लक्षणों वाली है और पत्नी तो भिन्न लक्षणों वाली होनी चाहिए । इसके सिवाय सिर्फ मैं ही इस बात का प्रतिवाद नहीं कर रहा अपितु अन्य व्यवहार कुशल लोकभी पृथिवीपर इस प्रकार के संबन्धका विरोध करते हैं ।

उर्विया=उर्व्या-पृथिवीपर । मंत्र ऋग्वेद १०।१०।२ में है ।

यम के इस उत्तरको सुनकर यमी यह युक्ति देती हुई कि मनुष्यको संतान अवश्य उत्पन्न करनी चाहिए व इस बातको व्यवहार कुशल मनुष्यभी मानते हैं, कहती है कि-

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य । नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः ॥

अथर्व०१८।१।३

अर्थ - (ते अमृतासः) वे अमृत स्वरूप व्यवहार कुशल मनुष्य भी (एकस्य मर्त्यस्य) एक अर्थात् अद्वितीय मनुष्यकी (त्यजसं) संतान (उशन्ति) चाहते हैं (एतत् घा) यह बात प्रसिद्ध ही है । इस लिए संतानोत्पत्तिके लिए (ते मनः) तेरा मन (अस्मे मनसि) हमारे मनमें स्थित होवे और इस प्रकार (जन्युः पतिः) संतानका उत्पन्न करने वाला पति हुआ हुआ (तन्वं आ विविश्याः) मुझ यमी के शरीर में प्रवेश कर ।

भावार्थ- यमी यम से कहते है कि क्यों कि संसारमें रहते हुए पुरुषको एक न एक संतान अवश्यमेव उत्पन्न करनी चाहिए, अतः तू और मैं एक मन वाले होवें व तू मेरेमें संतान उत्पन्न कर ।

त्यजस=संतान । त्यज हानौ दानेच+असुन् । यह मंत्र ऋग्वेद (१० । १० । ३) में है ॥

इस प्रकार संतानोत्पत्तिके बहानेसे संबन्ध करनेकी इच्छा करती हुई यमी को पुनः यम समजाकर कहता है कि—

न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम । गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥

अथर्व० १८।१।४॥

अर्थ- (यत्) जो कार्य (पुरा) पहिले (न चकृम) हमने नहीं किया है वह कार्य (कद्ध नूनं) निश्चयसे अब क्यों करें ? (ऋतं वदन्तः) सत्य बोलते हुए (अनृतं रपेम) असत्य क्यों बोलें ? अथवा (यत्) क्यों कि (पुरा न चकृम) पहिले हमने ऐसा काम नहीं किया है इस प्रकारसे (नूनं) निश्चय से (ऋतं वदन्तः) सत्य बोलते हुए (कद्ध) किस लिए (अनृतं रपेम) झूंठ बोलें कि हमने ऐसा काम पहिले किया है । उत्तरार्ध में यम अपने तथा यमी को मा बाप व दोनोंके पारस्परिक संबन्ध को दर्शाता हुआ कहता है कि (अप्सु गंधर्वः) अन्तरिक्ष में विद्यमान आदित्य (च) और (योषा सा अप्या) आदित्यकी स्त्री वह अप्या (नौ) हम दोनों के (नाभिः) उत्पत्तिस्थान हैं । (तन्) इस कारण से (नौ) हमदोनों का (जामि·) जो संबन्ध है वह (परमं) बडा उत्कृष्ट व पवित्र है ।

भावार्थ-यम यमीसे कहता है कि जो काम हमने पहिले कभी नहीं किया वह अब हम झूठ बोलकर क्यों करें ? और इसके सिवाय हम दोनों के एकही मा बाप होनेसे हमारा पारस्परिक संबन्ध बडा उत्कृष्ट है अतः ऐसा संबन्ध हम दोनों में नहीं हो सकता ।

यह मंत्र ऋग्वेद (१०।१०।४) में है। *

यमकी इस युक्तिका कि हम दोनोंका एक योनिज होनेसे बडा पवित्र संबंध है। अतः पति पत्नीका संबंध हम दोनों में नहीं हो सकता, खण्डन करती हुई यमी फिर यमसे कहती है कि-

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः। न किरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥ अथर्व १८।१।५॥

अर्थ- (सविता) प्रेरक, (विश्वरूपः) विश्वसृष्टा (त्वष्टा) बनाने वाले (देवः) प्रकाश मान (जनिता) उत्पादक परमात्माने (नु) निश्चयसे (नौ) हम दोनों को (गर्भे) माताके गर्भ में (दम्पती) पतिपत्नी (कः) बनाया है। (अस्य) सर्व उत्पादक परमात्मा के (व्रतानि) बनाए हुए नियमोंको (न किः प्र मिनन्ति) कोई भी नहीं तोडते। (नौ) हम दोनों को दम्पती बनानेका (अस्य) इस त्वष्टा का जो कर्म है उसे (पृथिवी उत द्यौः) पृथ्वी व द्यु दोनों ही (वेद) जानते हैं।

भावार्थ-यमी यमसे कहती है कि हे यम ! परमात्माने स्वयं ही हम दोनों को गर्भ में से ही पतिपत्नी बनाया है। क्यों कि उसने हम दोनों को एक साथ ही गर्भ में रखा था। गर्भ से ही हम दोनों की जोडी बनाई है। इस परमात्माके नियमों का तो कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता तो फिर हम कैसे करें। अतः तू मेरे साथ यह संबन्ध जोड। यह द्यु और पृथिवी भी जानते हैं कि त्वष्टाने हमारा इस प्रकार का संबन्ध बनाया है। तू यह न समझ कि मैं अपनी ओर से बनाकर कह रही हूं।

यह मंत्र ऋग्वेद (१० । १०।५) में है।

इस प्रकार यमीके परमात्माके नियम भङ्ग आदि के डरावे के साथ अपील करने पर यम उस से कहता है कि—

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्। आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥ अथर्व. १८।१।६॥

अर्थ- हे यमी ! (अद्य) आजकल के जमाने में (ऋतस्य गाः) सत्य की स्तुति करने वाले, (शिमीवतः) श्रेष्ठ कर्मों के करने वाले (भामिनः) तेजस्वी, (दुर्हृणायून्) दुष्टों पर क्रोध करने वाले, (आसन् इषून्) मुखपर बाण मारने वाले, (हृत्स्वसः) हृदयोंमें शस्त्र मारने वाले तथा (मयोभून्) सुख पहुंचाने वालों को भला (कः) कौन (धुरि युंक्ते) कार्य धुरा में जोडता है ? कोई भी नहीं। (यः) जो (एषां भृत्यां)इनके भरण पोषण को(ऋणधत्)बढाता है (सः) वह (जीवात्) वस्तुतः जीता है।

भावार्थ- यम यमी से कहता है कि हे यमी ! आजकल के जमाने में सत्यवादी वीर जनों को कौन पूछता है। उनके मार्ग का कौन अनुसरण करता है? कोई भी नहीं। वस्तुतः भाई बहिन का विवाह संबन्ध नहीं होना चाहिए तो भी तू झूटमूठ युक्तियां देकर कि गर्भ से ही हम दोनों को परमात्माने दंपती बनाया है, असत्य बोल रही है। इस प्रकार इस मंत्र में यमने यमीसे यह कहा कि तू सत्य नहीं बोलती है और नहीं सत्यवादियों का अनुकरण ही करती है। अब अगले मंत्रमें यमीद्वारा दी गई ' गर्भे नु नौ जनिता दम्पतो ' इत्यादि पंचम मंत्रोक्त युक्तिका यम खण्डन करता हुआ कहता है कि—

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्रवोचत्। बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥

अथर्व १८।१।७॥

---

* इस चतुर्थ मंत्रमें गन्धर्व का अर्थ आदित्य किया गया है क्यों कि गन्धर्व को यहां यम का उत्पादक बताया गया है और यमका उत्पादक विवस्वान् अर्थात् आदित्य है जैसा कि इसी सूक्त के मंत्र ५३ से प्रतिपादित है। इसके साथ यहां आदित्य की पत्नी अप्या कही गई है जिसका अभिप्राय यह हुआ कि सरण्यू का दुसरा नाम अप्या भी है। यम यमी की उत्पत्ति सरण्यू से है पर यहां अप्या को यम यमी की माता बनाया गया है अतः इससे भी यही परिणाम निकलता है।

अर्थ- हे यमी! (अस्य प्रथमस्य अह्नः) इस प्रथम दिन के संबंधमें (कः वेद) कौन जानता है? (कः ईं ददर्श) और किसने इसको देखा है? (क इह प्रवोचत्) और उसके विषयमें भला कौन कह सकता है? (मित्रस्य,वरुणस्य धाम) मित्र भूत श्रेष्ठ परमात्मा का धाम(बृहत्) महान् है। अतः (आहनः) हे क्लेश देनेवाली! (वीच्या) छल कपट द्वारा (कत् उ) कैसे (नृन् ब्रव)हम मनुष्यों के साथ बोलती है?

भावार्थ- यम यमीसे कहता है कि तू जो यह युक्ति दे रही है कि गर्भसे ही परमात्माने हमको पति पत्नी बनाया है इत्यादि सो ठीक नहीं है। क्यों कि जिस दिन गर्भ धारण हुआ था उस दिन त्वष्टा का क्या विचार था इस बात को कौन जानता है? किसने देखा? और किसने आकर कहा? न कोई जानही सकता है, न देखही सकता है और नहीं कह ही सकता है। क्यों कि परमात्मा की शक्ति अगाध है, उसको कोई जान नहीं सकता। ऐसी हालत में तू हम मनुष्यों से ऐसी ऐसी बातें क्यों बनाती है कि परमात्माने ही हमें गर्भ से दंपती बनाया है तथा भाई बहिन का विवाह होना चाहिए इत्यादि। यह मंत्र ऋग्वेद (१० । १० । ६) में है।

इस प्रकार युक्तियों द्वारा यमको काबुमें न आता हुआ देख कर यमी अपने मनकी इच्छा स्पष्ट रूपसे प्रकट करती हुई कहती है कि—

यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने योनौ सह शेय्याय। जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा॥

अथर्व० १८।१।८॥

अर्थ- (समाने योनौ) एक घरमें (सह शेय्याय) एक शय्यापर साथ सोने के लिए(यमस्य कामः)यम की कामना (मा यम्यं) मुझ यमी को (आ अगन) आकर प्राप्त हुई है। मैं यमी (पत्ये जाया इव) पति के लिए जिस प्रकार स्त्री उस प्रकार यमके लिए (तन्वं) अपना शरीर (रिरिच्यां) फैलाऊं और (रथ्या चक्रा इव) रथके दो पहियों के समान हम दोनों यम यमी (वि वृहेव) परस्पर मिलें-व्यवहार करें।

भावार्थ—यमी यमसे कहती है कि मेरे मनमें तुझ भाई यमके विषय में काम वासना उत्पन्न हुई है। तेरी पत्नी बनकर एकत्र विहार करनेकी इच्छा है। अतः हे भाई! आओ हम दोनों मिलकर पति पत्नी की तरह रहें व रथके दोनों पहियों की तरह मिलकर संसार की यात्रा करें। यह मंत्र ऋग्वेद (१० । १० । ७) में है।

इस प्रकार यमी की स्पष्टोक्ति सुनकर यम यमी से कहता है कि-

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति। अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन विवृह रथ्येव चक्रा॥ अथर्व० १८।१।९॥

अर्थ- (एते देवानां स्पशः) ये देवोंके दूत अर्थात् परमात्मा के नियामक (ये) जो कि (इह) इस संसारमें संचार करते हैं, वे (न तिष्ठंति) न तो एक स्थानपर ठहरते हैं और (न) नहीं (निमिषन्ति) आंख बन्द करते हैं अर्थात् सोते हैं। इस लिए तू (मत् अन्येन) मेरे से भिन्न दूसरे के पास (तूयं) शीघ्र (याहि) जा और हे (आहनः) कष्ट देनेवाली! (रथ्या चक्रा इव) रथके चक्रोंके समान उसके साथ (विवृह) आलिङ्गन कर।

भावार्थ—यमी की काम वासना की इच्छा सुनकर यम उसे कहता है कि परमात्मा के दूत प्रतिक्षण हमारे आचरणों को देख रहे हैं। अतः तू मुझे छोड कर अन्य किसी के साथ जाकर विवाहित हुई हुई अपनी अभिलाषा पूर्ण कर।

यह मंत्र ऋग्वेद (१०।१०।८) में है।

इस प्रकार यमके पुनः इनकार करनेपर यमी फिर से कहती है कि-

रात्रीभिरस्माअहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्। दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विवृहादजामि॥

अथर्व० १८।१।१०॥

अर्थ- (रात्रीभिः)अहभिः रात और दिन (अस्मै) इस यमको सुमति (दशस्येत्) देवें। और (सूर्यस्य चक्षुः) सूर्यका प्रकाश (मुहुः) वारंवार (उत् मिमीयात्) इसके लिए फैले। (दिवा पृथिव्या) द्युके साथ पृथिवी व पृथिवी के साथ द्यु

इस प्रकार (सबन्धू) भाई बहिन के रूपमें स्थित होते हुए भी द्यु व पृथिवी (मिथुना) परस्पर मिलकर रहते हैं अतः (यमीः) यमी भी (यमस्य अजामि विवृहात्) यमका बन्धुत्व रहित संबन्ध करके (विवृहात्) व्यवहार करे।

भावार्थ- यमी यमसे कहती है कि देख, दिन व रात्री, द्यु और पृथिवी ये परस्पर भाई बहिन होते हुए भी परस्पर मिलकर संगत हुए हुए हैं। जरा आंख खोलकर देख। फिर ऐसी अवस्थामें हम दोनों भाई बहिन होते हुए भी क्यों न मैं बहिन का संबन्ध छोडकर तेरे साथ पत्नी का व्यवहार करूं?

यह मंत्र ऋग्वेद (१०।१०।९) में है।

यमी के उपरोक्त कथन को सुनकर यम कहता है कि-

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः
कृणवन्नजामि। उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्य-
मिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ अथर्व १८।१।११॥

अर्थ- हे यमी ! (ता उत्तरा युगानि) वे भविष्यमें ऐसे युग (घा) निश्चय से (आ गच्छान्) आवेंगे (यत्र) जिन युगोंमें कि (जामयः) बहिनें (अजामि) बन्धुत्व रहित कर्म (कृणवत्) करेंगी अर्थात् बहिनें भाईयों से शादी करेंगी। परन्तु तू तो (वृषभाय) किसी वीर्यवान् पुरुष के लिए (बाहुं) अपना हाथ (उप बर्बृहि) फैला, आगे बढा। अर्थात् उसके साथ पाणि ग्रहण कर। इस प्रकार (सुभगे) हे भाग्यशालिनी ! (मत् अन्यं पतिं) मेरे से भिन्न पति की (इच्छस्व) इच्छा कर।

भावार्थ- यम यमी की युक्ति युक्त दशम मंत्रोक्त उक्ति सुनकर निरुत्तर हुआ हुआ कहता है कि हे यमी ! इस प्रकार का समय आगे आवेगा जब कि भाई बहिने भी पतिपत्नी के अनुसार वर्ताव करेंगी परन्तु मैं ऐसा नहीं करना चाहता, चाहे तेरी युक्ति का प्रत्युत्तर मेरे पास न भी हो। अतः तू मेरे से भिन्न अन्य किसी वीर्यवान् पुरुष का पाणिग्रहण कर के उसे अपना पति बना।

यह मंत्र ऋग्वेद (१०।१०।१०) में है।

इस प्रकार जब यमीने देखा कि किसी भी ढंग से यम विवाह करने के लिए तैयार नहीं है तो वह यमसे आकर्षक शब्दों में अपील करती हुई कहती है कि-

किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा
यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्। काममूता बह्वेतद्
रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि ॥

अथर्व० १८।१।१२॥

अर्थ- (किं भ्राता असत्) वह क्या भाई है (यत्) क्यों कि जिसके रहते हुए भी बहिन (अनाथं भवाति) अनाथ बनी रहती है। (उ) और (किं स्वसा) वह क्या बहिन है कि जिसके रहते हुए भी (यत्) यदि भाई (निर्ऋतिः निगच्छात्) कष्ट को प्राप्त होता है। अतः हे भाई !(काममूता) कामसे युक्त हुई हुई मैं (एतत् बहुरपामि) यह बहुत कुछ कहती हूं। इसलिए तू (तन्वा) अपने शरीर से (मे) मेरे (तन्वं) शरीर को (संपिपृग्धि) संयुक्त कर।

भावार्थ- यमी यम से कहती है कि हे यम ! देख, जो भाई के रहते हुए भी यदि बहिन अनाथ बनी रहे तो वह भाई किस कामका ? और इसी प्रकार बहिन के रहते हुए यदि भाई को कष्ट उठना पडे तो वह बहिन किस काम की ? इस लिए हे भाई तू मेरे साथ अपने शरीर का संयोग कर !

यह मंत्र ऋग्वेद (१०।१०।११) में है।

यमी के इस कथन को सुनकर पुनः यम उससे कहता है कि-

न ते नाथं यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वा सं
पपृच्याम्। अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते
भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥ अथर्व० १८।१।१३॥

अर्थ- हे यमी ! (अत्र) यहांपर (अहं) मैं (ते नाथं) तेरा स्वामी (न अस्मि) नहीं हूं। और इस लिए (ते तनूं) तेरे शरीर को (तन्वा) अपने शरीर के साथ (न सं पपृच्याम्) संयुक्त नहीं करूंगा। अतः हे यमी ! (मत् अन्येन प्रमुदः कल्पयस्व) मेरे से भिन्न दूसरे के साथ आनन्द कर। (सुभगे) हे सौभाग्यवती ! (एतत्) इस प्रकार का संबन्ध (ते भ्राता) तेरा भाई यम (न वष्टि) नहीं चाहता।

भावार्थ- यम यमी से कहता है कि हे बहिन! मैं तेरा स्वामी नहीं हूं। अतः अपने शरीरसे तेरे शरीर को संयुक्त नहीं करूंगा। तू अन्य किसी के साथ आनन्दका उपभोग कर। तेरा भाई इस प्रकार का कार्य तेरे साथ करना नहीं चाहता।

इस मंत्रका उत्तरार्ध ऋग्वेद १०।१०।१२ के उत्तरार्ध से मिलता है।

इस प्रकार यम अपनी अनिच्छा प्रकट करता हुआ फिर भी यमी से कहता है कि—

न वा उ ते तनूं तन्वा सं पपृच्यां पापमाहुर्यः
स्वसारं निगच्छात्। असंयदेतन्मनसो हृदो
मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय॥

अथर्व०१८।१।१४॥

अर्थ- हे यमी! (ते तनूं) तेरे शरीर को (तन्वा) अपने शरीर के साथ (वै उ) कदापि (न सं पपृच्याम्) नहीं संयुक्त करूंगा, क्यों कि (यः स्वसारं निगच्छात्) जो बहिन के साथ संभोग करता है उसे (पापं आहुः) पापी कहते हैं। (एतत्) यह बात (मे मनसः हृदः) मेरे मन व हृदय के (असंयत्) विरुद्ध है-असंगत है कि (भ्राता) भाई मैं (स्वसुः शयने) बहिन की शय्यापर (शयीय) सोऊं।

भावार्थ- यम यमी से अपने पूर्वोक्त कथन को दृढ करता हुआ कहता है कि मैं अपने शरीर के साथ तेरा शरीर कदापि संपृक्त नहीं करूंगा क्यों कि बहिन के साथ संभोग करनेवाले को पापी कहा गया है। इसके सिवाय भाई बहिन की शय्यापर लेटे, यह बात मेरे मन व हृदय के भी प्रतिकूल है अतः मैं तेरी बात नहीं मान सकता।

इस मंत्रका पूर्वार्ध ऋग्वेद १०।१०।१२ पूर्वार्ध से मिलता है।

इस तरह यम को अपने निश्चय से टलते हुए न देखकर यमी यमसे कहती है कि-

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम। अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्॥ अथर्व० १८।१।१५॥

अर्थ- हे यम! (बत) बडे दुःख की बात है कि तू (बतः असि) बडा निर्बल है। (ते) तेरे (मनः हृदयं च) मन तथा हृदय को (न अविदाम) हम नहीं जान पाये। खैर, (किल) निश्चय से (अन्या) दूसरी स्त्री (त्वां) तुझे (परिष्वजाते) आलिंगन देगी, (कक्ष्या युक्तं इव) जिस प्रकार से कि घोडे को कमर पेटी, गाडीको जोते हुए घोडे को लिपटती है और जिस प्रकार से कि (लिबुजा वृक्षं इव) बेल वृक्षको देती है।

भावार्थ- यमी यम से कहती है कि हे यम! तू बडा ही निर्बल है। सचमुच मैं तेरे मन व हृदयको जान नहीं पाई हूं। अस्तु अन्य स्त्री तो अवश्यमेव तुझे आलिंगन देगी जैसे कि कमर की पेटी घोडेको देती है व बेल वृक्ष को।

यह मंत्र ऋग्वेद (१०।१०।१३) में है।

यमीके इस कथनको सुनकर यमभी उससे कहता है कि—

अन्यमू षु यम्यन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव
वृक्षम्। तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा
कृणुष्व सं विदं सुभद्राम्॥

अथर्व० १८।१।१६॥

अर्थ- (यमि) हे यमी! तू (अन्यं उ सु) अन्य पुरुषको ही आलिङ्गन कर और (अन्यः) दूसरा पुरुष ही (त्वां) तुझे (परिष्वजाते) आलिङ्गन देवे। (लिबुजा इव वृक्षम्) जिस प्रकारसे कि बेल वृक्षको आलिङ्गन करती है। (तस्य) उस पुरुषके (मनः त्वं इच्छा) मन की तू इच्छा कर (स वा तव) और वह तेरे मनको जाननेकी इच्छा करे। (अध) और तब उसके साथ तू (सुभद्रां संविदं कृणुष्व) कल्याण कारिणी संगति कर।

भावार्थ- यम यमीसे कहता है कि हे यमी! तूभी दूसरे पुरुषको प्राप्त हो। वह तुझे आलिंगन देवे। उसके मनके अनुकूल चलनेकी तू इच्छा कर तथा वह भी तेरी इच्छानुसार चले और इस प्रकारसे तुम दोनों का मीलन कल्याण करने वाला होवे।

यह मंत्र ऋग्वेद (१०।१०।१४) में है।

इस प्रकार यह यमयमीका संवाद यहांपर पूर्ण होता है। इस संवाद द्वारा हमें यह पता चलता है कि सगे भाई बहिनका विवाह नहीं होना चाहिए। यद्यपि इस सूक्तमें ऐसा विवाह निषेधमें जो खास

विशेष युक्तियां दी गई हैं उनका सारांश यह है कि ऐसा विवाह गर्हित समझा गया है। मिस्र देशमें सगे भाई बहिन का विवाह करने की प्रथा प्राचीन कालमें थी। मुसलमान आदि जातियों में सगे भाई बहिनको छोडकर अन्य भाई बहिनों का परस्पर विवाह होता है। ऐसे विवाहोंके विषयमें श्रुति कुछ भी प्रकाश नहीं डालती। श्रुतिमें सगे भाई बहिन के विवाहका ही निषेध मिलता है।

जहांतक हमारा ख्याल है वेदोंमें सगोत्र विवाह होना चाहिए या नहीं इस विषयमें विशेष कुछ उपलब्ध नहीं होता। यही एक ऐसा सूक्त है जो कि सगेभाई बहिनके ही सिर्फ विवाह निषेध पर प्रकाश डालता है। अन्य भाई बहिनोंके विवाहके विषयमें मनुस्मृति में बहुत कुछ उपलब्ध होता है पर वेदोंमें नहीं। मनुस्मृतिमें माताके सपिण्ड तथा पिताके सगोत्र भाई बहिनों के विवाह का निषेध हमें मिलता है।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥
मनुः ३।५ ॥

अर्थात् जो कन्या माता के कुलकी न हो और पिताके गोत्र की न हो ऐसी कन्या द्विजातिके लिए विवाह कर्मके लिए प्रशस्त है।

परन्तु यदि सर्वगुणसंपन्न कन्याके सदृश पति, पिताका सगोत्र वा माताका सपिण्ड भी हो अर्थात् उपरोक्त श्लोकानुसार वह कन्या देने योग्य न ठहरता हो तो भी उसे कन्या अवश्य देवे।

उत्कृष्टायाऽभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥
मनुः ९।८८ ॥

अर्थात्- गुणोंसे युक्त, सुन्दर, सदृश अर्थात् कन्या के गुण कर्मोंसे मिलते हुए को अप्राप्त होती हुई भी कन्या, अर्थात् माता के सपिण्ड होनेसे वा पिताके सगोत्र होनेसे जिसे नियमानुसार कन्या नहीं मिल सकती, यथाविधि देवे।

मनुस्मृतिने सगोत्र वा सपिण्ड को कन्या देना कबुल किया है पर गुणहीन को नहीं, चाहे कन्या मरण पर्यन्त कुमारी रहे।

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥
मनुः ९।८९ ॥

अस्तु, यहांपर इतनाही लिखना पर्याप्त है। तथापि इतना अवश्यमेव हमें पता चलता है कि सगोत्र व सपिण्ड विवाह करने न करने अवस्थाविशेष पर निर्भर हैं। ऐसे विवाह सर्वथा नहीं हो सकते यह हम नहीं कह सकते।

अब हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यहांपर आया हुआ यम कौन है, अर्थात् यम व पितर में जिसका उल्लेख किया गया है वह यह यम है अथवा उससे भिन्न अन्य कोई ? यम व पितर में जिस यमका उल्लेख है उस यम की माता का नाम सरण्यू है वह पिताका नाम विवस्वान् है जैसा कि पहिले हम देख आए हैं। यहांपर आए हुए यम की उत्पत्ति के विषय में हमने इसी सूक्त की प्रारंभ की भूमिका में कुछ उद्धृत किया है। उस उद्धरण को देखने से हमें यह पता चलता है कि इस यम का भी पिता विवस्वान् है वह माता का नाम सरण्यू है। इसके अतिरिक्त इसी सूक्त के चतुर्थ मंत्र के तृतीय पाद ' गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा' से भी यही पता चलता है कि इस यम का उत्पादक भी सूर्य (विवस्वान्) ही है। आगे पंचम मंत्रमें सविता यम यमी को गर्भमें इकट्ठा उत्पन्न करता है ऐसा कहा गया है। अतः उससे भी यही परिणाम निकलता है कि यमका पिता सविता (विवस्वान्) है। अतः इस उपरोक्त विवेचन से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि इन १६ मंत्रोंमें जो यम है वह यम वही है जिसका कि यम व पितर में उल्लेख किया गया है, यानि जो यम लोक का राजा है व पितरों से तथा मृत जीवोंसे संबन्ध रखता है। उसी प्राणापहारी यमकी बहिनका नाम यमी है और उनही दोनों का यह उपरोक्त सगेभाई बहिन का विवाह उचित है वा अनुचित इस विषय पर संवाद है ऐसा ज्ञात होता है। उपर दर्शाई गई उत्पत्ति के सिवाय यम की अन्य उत्पत्ति ही नहीं मिलती। अतः यह यम व पहिले आया हुआ यम ही है।

अब यहां से ४० वें मंत्रतक आए हुए मंत्रोंका यम और पितर से कोई संबन्ध प्रतीत नहीं होता है। इन मंत्रोंका संपूर्ण सूक्त के मंत्रों के साथ संगतिकरण किस प्रकार से किया जा सकता है यह विचारणीय है। अभीतक ऐसा पता चलता है कि इन मंत्रोंका यह एक स्वतंत्र विभाग है जिसका कि सूक्त के अन्य मंत्रों से कोई विशेष संबन्ध नहीं है, पर ऐसी हालतमें इन मंत्रोंको यहां पर क्यों डाला गया यह फिर भी एक समस्या सी बनी रहती है। अस्तु। इस पर विशेष विचार अपेक्षणीय है। किसी भी भाष्यकार ने सूक्त के मंत्रों की परस्पर संगति लगाने की कोशिश नहीं की हैं अथवा उन्हें यह ठीक ठीक पता ही नहीं चला' है ऐसा कहा जाए तो अनुचित न होगा। अथवा फिर यूं माना जाए कि सूक्त व मंत्रों के क्रम में कोई भी विशेषता नहीं रखी गई है।

त्रीणिच्छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्। आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन अर्पितानि ॥ अथर्व० १८।१।१७॥

अर्थ- (कवयः) क्रान्तदर्शी ज्ञानी जनोंने (त्रीणि छन्दांसि) तीन छन्द अर्थात् (जो संसारका आच्छादन करें-अपने से जो संसारको व्याप्त करें यानि जो संसारमें सर्वत्र उपलब्ध हो सकें ऐसे) तीन सर्वत्र उपलब्ध होनेवाले पदार्थों को संसार के निर्वाह के लिए (वि येतिरे) विविध प्रकार के यत्नों में लगा रखा है। उन तीनों छंदोंमेंसे प्रत्येक(पुरुरूपं) बहुत रूपोंवाला है, (दर्शतम्) अद्भुत है तथा (विश्वचक्षणम्)सब के देखने योग्य हैं। वे तीनों छन्द कौन से हैं? (आपः वाताः ओषधयः) जल, वायु तथा औषधियां हैं। (तानि) ये तीनों छंद (एकस्मिन् भुवने) इस एक ही संसारमें अर्पित हैं, स्थापित हैं।

भावार्थ- ज्ञानी लोकोंने जल वायु तथा ओषधियोंको संसार निर्वाह के लिए नाना कार्योंमें लगा रखा है। वे इस संसार में सर्वत्र उपलब्ध हो सकते हैं। वर्तमान समयके ज्ञानी लोकोंने जल वायु तथा ओषधियोंको नाना कार्योंमें लगा रखा है तथा उनसे संसार का किस प्रकारसे निर्वाह हो रहा है, यह प्रत्यक्ष ही है। ये तीनों पदार्थ संसार में सर्वत्र पाये जाते हैं, अत एव इन्हें छन्द के नामसे पुकारा गया है। छादनात् छन्दांसि। इन्होंने संसार को ढक रखा है। जल वायु तथा ओषधियोंसे संसार आच्छादित है। अतएव ये छन्द हैं।

अब १८ से २६ तकके मंत्रोंका ऋग्वेदमें स्वतंत्र सूक्त है। जो कि यहांपर इस सूक्तमें जोड दिया है। यहांपर मंत्र जरा आगे पीछे से हैं। (देखो ऋ. १०।१२) इस सूक्तका देवता अग्नि है।

वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः। विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति यज्ञियाँ ऋतून् ॥

अथर्व० १८।१।१८॥

अर्थ- (अदाभ्यः) किसीसे भी न दबने वाला (यह्वः) महान् (वृषा) कामनाओं की वर्षा करने वाला अग्नि (वृष्णे) पराक्रमी जन के लिए (अदितेः दिवः) अखण्डनीय द्यु लोकसे (दोहसा) दोहने के साधन वृष्टि द्वारा (पयांसि) जलों (रसों) को (दुदुहे) दोहता है। (सः) वह पराक्रमी अग्नि (यथा वरुणः) वरुण की तरह (धिया) अपनी बुद्धि द्वारा (विश्वं वेद) सब कुछ जान लेता है। अथवा इस तृतीय पादका अर्थ यूं भी किया जा सकता है- (सः वरुणः) वह श्रेष्ठ जन (यथा धिया) अपनी बुद्धी के अनुसार (विश्वं वेद) सब कुछ जान लेता है और फिर तदनुसार (सः यज्ञियः) वह पूजनीय बनकर (यज्ञियान् ऋतून्) पूजनीय ऋतुओंकी (यजति) पूजा करता है।

भावार्थ- अग्निरूप परमात्मा द्युलोक से जलोंकी वृष्टि करता है। और मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार उस जलद्वारा ऋतुओं का उचित उपयोग लेता है। ऋतुयाग करता है। और इस प्रकार अन्यों का पूजनीय बनता है।

मनुष्यों को उचित है कि वे वृष्टि का उचित उपयोग लेकर समयोचित कार्य करके सुखी बने।

रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु नो मनः। इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो विवोचति ॥

अथर्व० १८।१।१९

अर्थ - (गन्धर्वीः) स्तुति करनेवालों का धारण करनेवाली, (अप्या) सत्कर्मों में रहनेवाली, (योषणा) भजनीय वेदवाणी (रपत्) अग्नि के गुणगान करती है। वह अग्नि (नः मनः) हमारे मन की (नदस्य नादे) स्तुति करनेवाले की अर्चना करने में (परिपातु) चारों ओर से रक्षा करे। (इष्टस्य मध्ये) इष्ट अर्थात् अभिलषित पदार्थ के बीचमें वह (अदितिः) अखण्डनीय अग्नि हमें (निधातु) स्थापित करे। वह अग्नि (नः ज्येष्ठः भ्राता) हमारा बडा भाई होकर (प्रथमः) प्रसिद्ध हुआ हुआ (नः विवोचति) हमें उपदेश देता है।

भावार्थ-वेदवाणी उस अग्निरूप परमात्मा की स्तुति करती है। वह परमात्मा हमारी श्रेष्ठ जनों के सत्कार में रक्षा करता है। इच्छित पदार्थ का प्रदान करता है, वह बडेभाई के समान होकर हमें समय समय पर उपदेश देता है।

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती। यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन् ॥
अथर्व० १८।१।२० ॥

अर्थ- (सो) वही (चित्) निश्चयसे (नु) अब (भद्रा) कल्याण करने वाली (क्षुमती) अन्नवाली, (यशस्वती) कीर्तिवाली, (स्वर्वती) आदित्यवाली अर्थात् जिसमें आदित्य विद्यमान है ऐसी (उषाः) उषा (मनवे) मनुष्यके लिए (उवास) प्रकाशित हुई है। कब उत्पन्न हुई है ? (यत्) जब कि (ईम्) इस (उशन्तं) कामना करते हुए (होतारं) दानी, (अग्निं) अग्निको (विदथाय) यज्ञके लिए (उशतां क्रतुं अनु) कामना करते हुओं के यज्ञके साथ साथ (जीजनन्) उत्पन्न किया।

भावार्थ- जबकि यज्ञ की कामना करते हुए जनोंने यज्ञमें अग्निको प्रज्वलित किया तब कल्याणप्रद उषा उत्पन्न हुई।

अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विराभरदिषिरः श्येनो अध्वरे। यदी विशो वृणते दस्ममार्या अग्निं होतारमध धीरजायत ॥
अथर्व०१८।१।२१

अर्थ- (अध) तब (त्यं) उस (द्रप्सं) हर्षप्रद (विभ्वं) महान् (विचक्षणं) विशेषतया देखनेवाले सोमको (अध्वरे) यज्ञमें (श्येनः विः) श्येन नामक पक्षी (आभरत्) लाया। (यदि) जब (आर्याः विशः) श्रेष्ठ जन (दस्मं) दर्शनीय, (होतारं) दानी (अग्निं) अग्निको (वृणते) वरण करते हैं (अध) तब (धीः अजायत) यज्ञादि कर्म होता है।

इस मंत्र का भाव विचारणीय है। सायणाचार्यने इसका अर्थ करते हुए तै० ब्रा० का वचन देकर उसके अनुसार इस मंत्रका अर्थ किया है। वह वचन इस प्रकार है- [तृतीयस्यां इतो सोम आसीत्। तं गायत्र्या हरत्। तस्य पर्णं अच्छिद्यत। तै.ब्रा.३।२।१।१]

सदासि रण्वो यवसेव पुष्यते होत्राभिरग्ने मनुषः स्वध्वरः। विप्रस्य वा यच्छशमान उक्थ्यो वाजं ससवां उपयासि भूरिभिः ॥
अथर्व० १८।१।२२ ॥

अर्थ- (मनुषः होत्राभिः) मनुष्यके यज्ञोंसे (स्वध्वरः) शोभन यज्ञवाले (अग्ने) हे अग्नि। (पुष्यते) पोषण करने वालेके लिए (यवसा इव) जिस प्रकार पशुओंके लिए घास होती है उसी प्रकार तू (सदा रण्वः असि) सर्वदा रमणीय आनन्दप्रद है। (यत्) क्यों कि (विप्रस्य वाजं ससवान्) मेधावी जनके अन्नका सेवन करता हुआ (उक्थ्यः) प्रशंसनीय व (शशमानः) फुरतीला तू (भूरिभिः) बहुतसी कामनाओं के साथ (उपयासि) आता है। अर्थात् बहुतसी कामनाओं को पूर्ण करता है।

भावार्थ- अग्नि यज्ञादि कर्म करने वालेके लिए ऐसा आनन्दप्रद है जैसा कि घास पशुओंके लिए। क्यों कि अग्नि यजमानकी अनेक कामनाओंको पूर्ण करता है।

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति। विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती ॥ अथर्व० १८।१।२३

अर्थ— हे अग्नि ! (पितरौ) माता पिताके प्रति (भगं) अपना तेज-ऐश्वर्य (जारः आ) सूर्यकी तरह अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अपना तेज

सर्वत्र प्रसारित करता है उस प्रकार (उदीरय) प्रेरित कर-उनके पास पहुंचा। (हर्यतः) कमनीय स्पृहणीय अग्नि (हृत्तः) हृदयसे (इयक्षति) यजन करना चाहता है इस लिए (इष्यति) जाता है। (वहिनः) हवि आदिका वहन करने वाला अग्नि (विवक्ति) कहता है और (मखः स्वपस्यते) कर्म शील अग्नि सुन्दर कर्म करना चाहता है। (तविष्यते) महान् होनेकी इच्छा करने वाले के लिए (असुरः) प्राणदाता अग्नि (मती वेपते) कर्म द्वारा आता है।

इस मंत्रका भाव विचारणीय है।

जारः= आदित्य। आदित्योऽत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयितेति। निरु. ३।१६॥

यस्ते अग्ने सुमतिं मर्तो अख्यत् सहसः सूनो
अति स प्रशृण्वे। इषं दधानो वहमानो अश्वैरा-
स द्युमाँ अमवान् भूषति द्यून् ॥ अथर्व. १८।१।२४।

अर्थ- (अग्ने) हे अग्नि ! (यः मर्तः) जो मनुष्य (ते सुमतिं) तेरी सुमतिके विषयमें (अख्यत् स्थान स्थान पर कहता फिरता है अर्थात् तेरी प्रशंसा करता रहता है, हे (सहसः सूनो) बलके पुत्र ! (सः) वह मनुष्य (अति प्रशृण्वे) बहुत अधिकतासे सुना जाता है अर्थात् वह सर्वत्र प्रसिद्ध हो जाता है। सर्वत्र उसीका नाम सुनाई देता है। इसके अतिरिक्त (सः) वह मनुष्य (इषं दधानः) अन्नका धारण करता हुआ अर्थात् अन्नसे परिपूर्ण हुआ हुआ, (अश्वैः वहमानः) घोडोंसे वहन किया जाता हुआ अर्थात् अश्वादि वाहनसे संपन्न हुआ हुआ, (द्युमान्) तेजस्वी होता हुआ (अमवान्) बलवान् हुआ हुआ (द्यून्) दिनोंको (भूषति) शोभित करता है। अर्थात् ऐसे मनुष्यके जीनेसे वस्तुतः दिनोंकी शोभा बढती है।

भावार्थ- जो मनुष्य अग्नि की सुमतिका सर्वत्र वर्णन करता है वह सर्वत्र प्रसिद्ध होकर धनधान्य पशु वाहनादिसे संपन्न हुआ हुआ बल व पराक्रमसे युक्त होकर बहुत समयतक जीवित रहता है।

श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृ-
तस्य द्रवित्नुम्। आ नो वह रोदसी देवपुत्रे
माकिर्देवानामप भूरिह स्याः ॥ अथर्व. १८।१।२५

अर्थ- (अग्ने) हे अग्नि ! (सधस्थे सदने) जहांपर सब एकत्रित होकर बैठते हैं ऐसे घरमें (नः श्रुधि) हमारी प्रार्थना को सुन। वह प्रार्थना क्या है यह अगले तीन पादोंसे बतलाते हैं- (अमृतस्य द्रवित्नुं रथं युंक्ष्व) अमृत के बहाने वाले रथको जोड और फिर उस रथ द्वारा(देवपुत्रे रोदसी) देव हैं पुत्र जिनके ऐसे द्यावा पृथिवी को (नः आवह) हमारी तरफ ले आ। और हे अग्नि तू (देवानां माकिः अपभूः) देवोंके बीचमेंसे कभी भी दूर मत हो। देवों में बना रह। (इह स्याः) यहां पर हमारे बीचमें भी स्थित हो।

भावार्थ- हे अग्नि ! हम सब द्वारा मिलकर की गई प्रार्थनाको सुन। वह प्रार्थना यह है कि तू अमृत के बरसाने वाले रथ में द्यावा पृथिवीको बिठला कर हमारे पास ले आ। अर्थात् वर्षादि के देने द्वारा उन्हें हमारे अनुकूल कर। तू हमारे बीचमें तथा देवोंके बीचमें बना रह।

यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु यजता
यजत्र। रत्ना च यद् विभजासि स्वधावो भागं
नो अत्र वसुमन्तं वीतात् ॥ अथर्व० १८।१।२६

अर्थ— (यजत्र) हे यजन करने योग्य (अग्ने) अग्नि ! (यत्) जब (एषा समितिः) यह जन समाज (देवेषु) देवजनों में (देवी) दिव्य गुणोंवाला व (यजता) यजनीय (भवाति) होवे, (च) और (यत्) जब हे (स्वधावः) अन्न देनेवाले अग्ने ! तू (रत्नानि विभजासि) रत्नों को बांटे, तब (अत्र) यहांपर (नः) हमारे लिए (वसुमन्तं भागं) प्रभूतधन युक्त भाग(वीतात्) दे।

भावार्थ— हे अग्नि ! जब हमारा जन समुदाय दिव्य गुणोंवाला व पूजनीय बने तब उसे तू नाना रत्नों को बांट और उस समय हमें प्रभूत धनधान्य से युक्त कर।

योग्यता प्राप्त करनेपर ही धनधान्यादि सुख सामग्री उपलब्ध होती है अन्यथा नहीं। वीतात्- 'वी असने क्षेपणे' से बना है। शब्दार्थ फैंकना। भावार्थ- देना।

यहांपर ऋग्वेद१०में मण्डल का १०वां सूक्त समा-

प्त होता है। अथर्व वेद के १८ वें काण्ड के प्रथम सूक्त के मंत्रों के साथ ऋग्वेद के इस सूक्त का क्या संबन्ध है यह पता नहीं लगता है। अब आगे २७व २८ मंत्र को छोडकर २९ से लेकर ३६ मंत्र पर्यन्त जो मंत्र हैं वे भी ऋग्वेद में (मण्डल १०। सू० १२) एक स्वतंत्र सूक्तके रूपमें विद्यमान हैं, पर अथर्व वेदके व ऋग्वेद के मंत्रों में क्रम भेद अवश्य है।

इन मंत्रों का भी प्रकृत सूक्तके विषय यम और पितर से कोई संबन्ध प्रतीत नहीं होता। इन मंत्रों का देवता भी अग्नि ही है।

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जात-
वेदाः। अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावा-
पृथिवी आ विवेश॥ अथर्व० १८।१।२७

अर्थ— (प्रथमः) मुख्य-प्रसिद्ध (जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थों के ज्ञान करानेवाले (अग्निः) अग्नि ने (उषसां अग्रं) उषा की उत्पत्ति व (अहानि) दिनोंको (अनु अख्यत्) प्रसिद्ध किया है। वह अग्नि (सूर्यः) सूर्यरूप हुआ हुआ (उषसः अनु, रश्मीन् अनु, द्यावा पृथिवी अनु) उषाओंमें, रश्मियोंमें तथा द्यावा पृथिवी में अनुकूल रूपसे (आविवेश) प्रविष्ट हुआ हुआ है। अर्थात् उषामें भी सूर्य रहता है, किरणों में भी रहता है और द्यावा पृथिवी में भी रहता है।

भावार्थ — अग्नि पहिले उषा व तदनन्तर दिन को प्रकट करता है। वही सूर्य रूपसे उषा, किरण तथा द्यु लोक व पृथिवी लोक में प्रविष्ट हुआ हुआ है। अग्नि ही इन सब में भिन्न भिन्न रूपसे प्रविष्ट हुआ हुआ है। वस्तुतः सूर्यादि अग्नि के ही स्वरूप हैं। ये अग्निसे भिन्न नहीं।

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जात-
वेदाः। प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति
द्यावा पृथिवी आ ततान॥ अथर्व० १८।१।२८

अर्थ- मंत्रका पूर्वार्ध पूर्व मंत्रके पूर्वार्ध के समान है। अतः उसका अर्थ वही समझना चाहिए। पूर्व मंत्रके 'अनु'पदके स्थान पर यहां पर 'प्रति' यह पद आया है। अतः यहांपर (प्रति अख्यत्) का अर्थ करना चाहिए प्रत्यक्ष रूपसे प्रसिद्ध किया है। शेष अर्थ समान है। उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार है- उस अग्निने (सूर्यस्य रश्मीन्) सूर्य की किरणोंको (पुरुधा) बहुत रूपों से (द्यावापृथिवी प्रति, प्रति आततान) द्यु लोक व पृथिवी लोक के प्रति अर्थात् द्यु व पृथिवी में प्रत्यक्षतया फैला रखा है।

भावार्थ- अग्नि ने उषा व दिन बनाकर सूर्य की किरणों को द्यु व पृथिवी लोक में फैला रखा है। सर्वत्र प्रकाश कर रखा है।

अब यहां से अर्थात् २९ मंत्र से ३६ मंत्र पर्यन्त उपरोक्तानुसार ऋ. मं. १०। सू. १२ वां प्रारंभ होता है -

द्यावा ह क्षामा प्रथमे ऋतेनाभिश्रावे भवतः
सत्यवाचा। देवो यन्मर्तान् यजथाय कृण्व-
न्त्सीदद्धोता प्रत्यङ् स्वमसुं यन्॥
अथर्व १८।१।२९॥

अर्थ- (प्रथमे) मुख्य वा प्रसिद्ध, (सत्यवाचा) सत्यवाणी वाले (द्यावा क्षामा) द्यु और पृथिवी (ऋतेन) सत्य द्वारा अथवा यज्ञद्वारा (ह) निश्चय से (अभिश्रावे भवतः) सुनने लायक अर्थात् प्रसिद्धि वाले (भवतः) बनते हैं (यत्) जब कि (होता) दानी (देवः) प्रकाशमान् अग्नि (मर्तान्) मनुष्यों को (यजथाय) यज्ञके लिए (कृण्वन्) प्रवृत्त करता हुआ (स्वं असुं) अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) को (यन्) प्राप्त होता हुआ (प्रत्यङ्) सामने (सीदत्) बैठता है।

भावार्थ- जब अग्नि मनुष्यों को यज्ञके लिए तैयार करके स्वयं उनके सन्मुख बैठता है तब यज्ञ द्वारा द्यु व पृथिवी प्रसिद्धि पाते हैं।

देवो देवान् परिभू ऋतेन वहा नो हव्यं प्रथम-
श्चिकित्वान्। धूमकेतुः समिधा भा ऋजीको
मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान्॥
अथर्व० १८।१।३०॥

अर्थ- (प्रथमः) प्रसिद्ध वा मुख्य, (चिकित्वान्) ज्ञानवान् (देवः) प्रकाशमान् हे अग्नि ! तू (देवान् परिभूः) देवों को चारों ओरसे व्याप्त करता हुआ (ऋतेन) यज्ञ द्वारा (नः हव्यं वह) हमारे हव्य का वहन कर। उत्तरार्ध से उस अग्निके गुण वर्णन करते हैं। (धूमकेतुः) धुंआ है झंडा (ध्वजा) जिसकी ऐसा अथवा जो धुंएसे जाना

जात है (यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः) अर्थात् जहां जहां धूंआ है वहां वहां वह्नि है, यह व्याप्ति लोक प्रसिद्ध ही है, और जो (समिधा) काष्ठ आदि अग्नि प्रज्वलित करने के साधनों से (भा ऋजीकः) अत्यन्त प्रकाशवाला, (मन्द्रः) आनन्द देनेवाला, (होता) दान आदान करने वाला, (नित्यः) नित्य तथा जो (वाचा) वाणीद्वारा (यजीयान्) पूजनीय अर्थात् स्तुति करने लायक है ऐसा अग्नि हव्य का वहन करे।

भावार्थ-हे नाना महिमावाले अग्नि ! तू हमारे लिए ग्राह्य पदार्थों का नित्य प्रति वहन करता रह।

अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणु-
तं रोदसी मे। अहा यद् देवा असुनीतिमायन्
मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम् ॥

अथर्व० १८।१।३१॥

अर्थ- (घृतस्नू) जल बरसाने वाले (द्यावा भूमि) द्यावा पृथिवी ! (अपः वर्धाय) जल की वृद्धि के लिए (वां) तुम दोनों की (अर्चामि) पूजा करता हूं। (रोदसी) हे द्यावा पृथिवी ! (मे शृणुतं) मेरी इस प्रार्थना को सुनो। (यत्) जब कि (अहा) दिन तथा (देवाः) देव (असुनीतिं आयन्) प्राणों के नेतृत्व को प्राप्त करते हैं तब (अत्र) यहां (मध्वा) मधुर अन्न वा जलसे (पितरा) हे माता पिता द्यु व पृथिवी ! (नः) हमें (शिशीताम्) युक्त करो-दो-बढाओ।

इस मंत्रके तृतीय पाद का अभिप्राय बराबर पता नहीं चलता है। इस मंत्रमें द्यु व पृथिवी से जल व अन्न देने की प्रार्थना की गई है। शिशीताम् 'शो-तनूकरणे' से बना है।

स्वावृग् देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो
धारयन्त उर्वी। विश्वे देवा अनु तत् ते यजु-
र्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः ॥

अथर्व० १८।१।३२॥

अर्थ- (देवस्य) प्रकाशमान अग्नि का (स्वावृक्) सुखपूर्वक पाने योग्य (अमृतं) अमृत (यदि) जब कि (गोः) पृथिवी से उत्पन्न होता है तब (अतः) इस अमृत से (उर्वी) पृथिवीपर (जातासः) उत्पन्न प्राणी (धारयन्त) अपने को धारण करते हैं अर्थात् इस अमृत से जीते हैं। हे अग्नि ! (विश्वे देवाः) सब देव (ते) तेरे (तत्) उस (यजुः अनु गुः) अमृत दान रूपी पूजनीय कर्म का अनुसरण करते हैं अथवा तेरे उस उदक दान का सब गान करते हैं। (यत्) जब कि (एनी) नदी (दिव्यं) दिव्य वा द्यु लोक में होनेवाले (घृतं) सार युक्त (वाः) जलको (दुहे) दोहति अर्थात् जब कि जल से परिपूर्ण हुई हुई नदी बहती है।

भावार्थ- अग्नि जब अमृत रूप जल को उत्पन्न करती है तब पृथिवीस्थ उत्पन्न पदार्थ अपने जीवन को धारण करते हैं। नदियां जल से भरी हुई बहती हैं। और तब सब देवजन अग्निके इस जल दान का गान करते हैं।

एनी = नदी। निघण्टु १।१३॥

किं स्विन्नो राजा जगृहे कदस्याति व्रतं चकृ-
मा को वि वेद। मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो
देवाँ श्लोको न यातामपि वाजो अस्ति ॥

अथर्व० १८।१।३३॥

अर्थ- (राजा) दीप्यमान अग्निने (नः) हमें (किं स्वित्) किस कारण से (जगृहे) पकडा है? हमने (कत्) कब (अस्य) इस अग्नि के (व्रतं अति चकृम) नियम का अतिक्रमण किया है ? इन बातों को (कः विवेद) कौन जानता है ? कोई भी नहीं। अथवा 'कः विवेद' इस प्रश्न का उत्तर भी यही है कि (कः विवेद) वही सुखस्वरूप अग्नि जानता है। (हि) निश्चय से वह अग्नि (देवान् जुहुराणः) देव अर्थात् मदोन्मत्त जनों के प्रति कुटिलता दर्शाता हुआ हमारा (मित्रः चित्) मित्र भी है और (यातां श्लोकाः न वाजः अपि अस्ति) उद्योगी ज्ञानियों का स्तुति की तरह बल है। जैसे भक्त की स्तुति बल है उसी प्रकार वह ज्ञानी जन का बल है।

भावार्थ- हम अग्नि के किस नियम का उल्लंघन करनेसे सुखी वा दुःखी हैं इस बात को नहीं जान सकते, वही जानता है। वह अग्नि कुटिलों की कुटिलता को दूर करता हुआ हमारा मित्र है व ज्ञानी

जनों का एक मात्र बल है।

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति। यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन्। अथर्व० १८।१।३४॥

अर्थ- इस मंत्रसे पूर्वके मंत्रमें जो आक्षेप किए गए हैं कि कोई सुखी है वह कोई दुःखी है तो संभव है कि सुख दुःख की व्यवस्था में किसी प्रकार का दोष हो उससे किसी के साथ न्याय होता हो व किसी के साथ अन्याय। इस मंत्रमें इन आक्षेपों को दृष्टि में रखते हुए उनका परिहार किया गया है कि—(यत्) यदि (सलक्ष्मा) सबके लिए जो व्यवस्था एकसी है वह (विषुरूपा) भिन्न भिन्न रूपवाली (भवाति) हो जावे। यानि किसी पर वह लगे और किसीपर न लगे तो (अत्र) इस संसार में (अमृतस्य) इस अमृत अग्निका (नाम) नाम (दुर्मन्तु) अपूजनीय हो जावे। (ऋष्व) हे दर्शनीय (अग्ने) अग्नि ! (यः) जो कोई (यमस्य) न्यायकारी तेरा नाम (सुमन्तु मनवते) बडा पूजनीय मानता है (तं) उसका तू (अ प्रयुच्छन्) प्रमादरहित होकर (पाहि) रक्षण कर।

भावार्थ- यदि अग्नि की व्यवस्था एक सी न हो तो संसार से उसका नाम ही मिट जावे। जो उस अग्नि के नाम को पूजनीय समझता है उसी की अग्नि बिना प्रमाद किए हुए रक्षा करता है। अग्नि की व्यवस्थापर किसी को शंका न लानी चाहिए।

यस्मिन् देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते। सूर्ये ज्योतिरदधुर्मास्यक्तून् परि द्योतनिं चरतो अजस्रा॥

अथर्व० १८।१।३५॥

अर्थ- (यस्मिन्) जिस अग्नि में स्थित हुए हुए (देवाः) देवगण (विदथे मादयन्ते) यज्ञमें आनन्दित होते हैं। और (विवस्वतः सदने धारयन्ते) प्रकाशमान् अग्नि के घरमें अपने आप को धारण करते हैं उन देवोंने (सूर्ये ज्योतिः अदधुः) सूर्य में ज्योति (प्रकाश) स्थापित किया है और (मासि) चन्द्रमा में (अक्तून्) अंधकार निवारक रश्मियोंको स्थापित किया है अथवा चन्द्रमा में रात्रियां स्थापित की हैं अर्थात् चन्द्र रात्रिके लिए निर्माण किया है। जो कि दोनों सूर्य व चन्द्र (अजस्रा) निरन्तर (द्योतनिम्) प्रकाशमान अग्नि की (परिचरतः) परिचर्या करते रहते हैं।

भावार्थ- अग्नि में स्थित देवगणोंने सूर्य चन्द्रका निर्माण किया है। अतः सूर्य चन्द्र निरंतर रातदिन अग्नि की परिचर्या करते रहते हैं।

यस्मिन् देवा मन्मनि संचरन्त्यपीच्ये न वयमस्य विद्म। मित्रो नो अत्रादितिरनागान्त्सविता देवो वरुणाय वोचत्॥

अथर्व० १८।१।३६॥

अर्थ- (यस्मिन् अपीच्ये मन्मनि) जिस छिपे हुए ज्ञानमें (देवाः संचरन्ति) देव संचरण कर रहे हैं, (अस्य) इस अग्नि के उस अन्तर्हित ज्ञान को (वयं न विद्म) हम नहीं जानते। अतः (अत्र) यहांपर (मित्रः) मित्र, (अदितिः) अखण्ड शक्तिवाला, (सविता) प्रेरक (देवः) प्रकाशमान अग्नि (नः अनागान्) हम निरपराधियों को तथा (वरुणाय) पाप निवारक को (वोचत्) कहे।

भावार्थ—अग्नि का छिपा हुआ ज्ञान हम नहीं जानते अतः उस ज्ञान का बोध अग्नि स्वयमेव हमें करावे। उसके विना कहे हमारा जानना दुष्कर है।

यहां पर ऋग्वेद मं. १० का १२ वां सूक्त समाप्त होता है। अब अगले चार मंत्र ऋग्वेदमें से भिन्न भिन्न स्थान पर से लेकर प्रकृत सूक्तमें उद्धृत किए हैं। उनका भी यम व पितर से कोई संबन्ध प्रतीत नहीं होता। अथर्ववेद के सूक्तों में मंत्र क्रम किस भाव को लक्ष्यमें रखकर रखा गया है यह विशेष विचारणीय है। इनको जबतक संपूर्ण सूक्तके साथ संगति नहीं लगती तबतक इनका विशेष महत्व प्रकट नहीं होता। उलटी यहांपर निरर्थकता सिद्ध होती है। अथवा यह मानना पडता है कि मंत्रोंके क्रम की व्यवस्था में कोई विशेषता नहीं है।

मंत्र ३७ व ३८ ऋग्वेद मं. ८। सू. २४ के प्रथम व द्वितीय मंत्र हैं। देवता इन्द्र है।

सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे।
स्तुष ऊ षु नृतमाय धृष्णवे॥

अथर्व० १८।१।३७॥

अर्थ- (सखायः) परस्पर प्रेम भावसे मित्र बने हुए हम (नृतमाय) उत्तम नेता, (धृष्णवे) शत्रुओं के धर्षक-नाशक, (वज्रिणे) वज्रधारक (इन्द्राय) इन्द्र के लिए अर्थात् इन्द्र की (स्तुषे) स्तुति करनेके लिए (ब्रह्म आ शिषामहे) ब्रह्मज्ञान की इच्छा करें।

भावार्थ- हम परस्पर मित्र बने हुए नानागुण विशिष्ट इन्द्र की स्तुति के लिए ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा करें। अर्थात् इस प्रकार के इन्द्र की स्तुति कैसे करनी चाहिए इस विषयक ज्ञान उपलब्ध करें।

अब अगले मंत्र में स्तुति किस प्रकार करें यह दर्शाते हैं-

शवसाह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा।
मघैर्मघोनो अति शूर दाससि ॥
अथर्व० १८।१।३८॥

अर्थ- हे इन्द्र ! जिस प्रकार तू (वृत्रहत्येन) वृत्र को मारने से (वृत्रहा) वृत्रहन् के नाम से (श्रुतः) विख्यात है उसी प्रकार (हि) निश्चयसे (शवसा) बल से भी प्रसिद्ध है। अर्थात् तू अत्यन्त बलवान् होने से भी प्रसिद्ध है। हे अति शूर ! तू (मघैः मघोनः) धनों से धनवान् हुए हुए जनसे भी (अति) बढकर (दाससि) स्तुति करनेवाले को देता है। अर्थात् अत्यन्त धनी भी दानमें तेरा मुकाबला नहीं कर सकता।

भावार्थ- इन्द्र वृत्र को मारने से जिस प्रकार वृत्रहन् के नामसे प्रसिद्ध है उसी प्रकार बलवान् होने से भी प्रसिद्ध है। उसके समान कोई भी दानशूर नहीं है। वह स्तोता को खूब दान करता है।

इस प्रकार यह ३० मंत्रोंका ऋग्वेद का सूक्त है जिसमें कि इन्द्र की स्तुति है पर यहांपर उस सूक्त से केवल दोही मंत्र लिए गए हैं।

अगला मंत्र ३९ वां ऋग्वेद (१०। ३१।९) में कुछ पाठ भेदके साथ आया हुआ है। वहां इसका 'विश्वे देवाः' देवता है।

स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवीं मही नो वाता इह
वान्तु भूमौ। मित्रो नो अत्र वरुणो युज्यमानो
अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम् ॥ अथर्व. १८।१।३९

अर्थ- (स्तेगः क्षाम् न) जिस प्रकार स्तेग अर्थात् नाना विध द्रव्य संग्रह कर्ता पुरुष पृथिवीपर भ्रमण करता है उसी प्रकार तू (मही पृथिवीं) इस बडी भारी पृथिवी पर (अति एषि) बहुतायत से विचरण करता है। 'अति' यहां पर 'अभि'के अर्थ में मानना चाहिए। (नः) हमारे लिए (इह भूमौ) इस भूमिपर (वाताः वान्तु) सुखदाई हवायें बहें। और (वरुणः) दुःख निवारक (मित्रः) मित्र भूत (युज्यमानः) हमारे कष्ट निवारण करने में लगा हुआ (नः शोकं) हमारे शोक को (व्यसृष्ट) दूर करे, (वनं अग्निः न) जिस प्रकार से कि वन में दावानाम अग्नि घास फूंस आदि को जलाकर दूर करती है।

भावार्थ- जिस प्रकारसे द्रव्य संग्रह करनेवाला पुरुष पृथिवीपर भ्रमण करता है उसी प्रकार यह मित्रभूत राजा सारी पृथिवीपर भ्रमण करे ताकि जनता की दशा का ज्ञान होवे। भूमि पर सुखदाई वायु चले व राजा मित्र होकर प्रजाके कष्टोंको इस प्रकारसे दूर करे कि जिस प्रकार से अग्नि वन में से तमाम घास फूंस झाडी झुंडों को दूर करती है। अगला मंत्र ४० वां ऋग्वेद (२।३३।११) में है।

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम्। मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् ॥ अथर्व. १८।१।४०॥

अर्थ-[देवता रुद्र है।] हे स्तुतिकरने वाले(श्रुतं) विख्यात (गर्तसदं) रथपर सवार होनेवाले, (जनानां राजानं) जनोंके राजा (भीमं) भयङ्कर, (उपहत्नुम्) समीप जा जाकर मारनेवाले (उग्रम्) कठोर स्वभाव वाले रुद्रकी (स्तुहि) स्तुति कर। और (रुद्र) हे रुद्र ! तू (स्तवानः) स्तुति किया गया (जरित्रे) तेरी स्तुति करने वाले के लिए (मृड) सुख देनेवाला हो। (ते सेन्यं) तेरी सेनायें (अस्मत् अन्यं) हम स्तुति करने वालों से भिन्न दूसरेको (निवपन्तु) काट डालें, मार डालें।

भावार्थ- हे जनो ! उस प्रसिद्ध, भयङ्कर शत्रुनाशक आदि गुण विशिष्ट रुद्र की स्तुति करो। वह रुद्र स्तुति किया हुआ तुह्मारे लिए सुख दायी होवे।

उसकी सेनायें शत्रुओंका ही विनाश करें। तुह्मारा न करें।

गर्तसत्= रथारूढ। रथोऽपि गर्त उच्यते, गृणातेः स्तुति कर्मणः स्तुततमं यानम्। निरु० ३।५॥ 'सेन्यं' में बहुवचनार्थक एकवचन है।

अब यहांसे आगे पुनः यम व पितर संबन्धी मंत्र प्रारंभ होते हैं। इनमेंसे बहुत से मंत्र पूर्व दिए गए ऋग्वेद के सम्पूर्ण सूक्तों में आचुके हैं। उन्हीं सूक्तों मेंसे इन मंत्रों को लेकर अथर्व वेद के इस सूक्तमें उद्धृत किया गया है। एक तरह से ऋग्वेदके ही सूक्त व फुट कर मंत्रोंका संग्रह ही यह सूक्त है। कहीं कहीं थोडासा पाठ भेद है और कहीं पर मंत्र क्रममें फर्क है। बीच बीचमें कुछ मंत्र स्वतंत्र भी हैं। इस सूक्तके अपने मंत्रों की संख्या बहुत थोडी है।

अब आनेवाले मंत्रों (४१, ४२, ४३) की देवता सरस्वती है। ऋग्वेद (१०।१७।७-९) में ये मंत्र हैं।

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने। सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥ अथर्व० १८।१।४१॥

अर्थ- (देवयन्तः) देव बननेकी कामना करते हुए लोक (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वती को बुलाते हैं। और (तायमाने अध्वरे) विस्तृत हिंसा रहित कार्यमें यज्ञमें (सरस्वतीं) सरस्वतीको बुलाते हैं। (सुकृतः) श्रेष्ठ कर्म करने वाले सज्जन (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वती को बुलाते हैं। (सरस्वती दाशुषे) सरस्वती दानी मनुष्यके लिए (वार्यं) वरणीय अभिलषित वस्तु को (दात्) देती है।

भावार्थ- जिनको देव बनना हो उन्हें सरस्वती का आह्वान करना चाहिए। सुकृत् जन सरस्वती का आह्वान करते हैं। सरस्वती का जो दान करता है उसे अभिलषित पदार्थों की उपलब्धि होती है।

इस मंत्रमें सरस्वती की महिमा का वर्णन है। वाणी की देवता का नाम सरस्वती है। इसप्रकार वाणीका महत्व यहांपर दर्शाया गया है।

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः। आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आधेह्यस्मे॥ अथर्व० १८।१।४२॥

अर्थ- (दक्षिणा) दक्षिण दिशासे आकर (यज्ञं अभिनक्षमाणाः पितरः) यज्ञको सब ओरसे प्राप्त करते हुए पितर (यां सरस्वतीं हवन्ते) जिस सरस्वतीको बुलाते हैं, ऐसी हे सरस्वती! तू तथा पितर (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) यज्ञमें (आसद्य) बैठकर (मादयध्वं) प्रसन्न होवो। (अस्मे) हमें (अनमीवाः इषः) रोगरहित अन्नों को अर्थात् जिनके खानेसे किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नों को (आधेहि) दे।

पितरोंकी दक्षिण दिशा है यह हमें अन्य वेद मंत्र दर्शाते हैं अतः हमने ऊपर दक्षिणाके साथ (आगत्य) आकर इतना अध्याहार करके अर्थ किया है। इस मंत्रमें पितर सरस्वतीको यज्ञमें बुलाते हैं यह दर्शाया गया है।

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभि र्देवि पितृभिर्मदन्ती। सहस्तार्धमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ अथर्व० १८।१।४३

अर्थ- (सरस्वति देवि) हे सरस्वती देवी (या) जो तू (पितृभिः स्वधाभिः मदन्ती) पतरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई (सरथं) पितरोंके साथ समान रथ पर आरोहण करती हुई (ययाथ) आई है। हे सरस्वती! तू (अत्र) इस यज्ञमें (यजमानाय) यजमानके लिए (सहस्त्रार्घ इडः भागं) हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और (रायस्पोषं) धनकी पुष्टिको (धेहि) दे।

इस मंत्रमें सरस्वतीका पितरोंके साथ समान रथपर चढना, स्वधा खाना व यज्ञमें आना दर्शाया गया है।

अब अगले ३ मंत्र अर्थात् ४४, ४५, व ४६ ऋग्वेद (१०।१५।१-३) में हैं। उन का देवता 'पितर' है। ये मंत्र यजुर्वेद (१९॥४९, ५६, ६८) में भी आए हुए हैं।

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञा स्तेनोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ अथर्व० १८।१।४४॥

अर्थ- हे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (अवरे) निकृष्ट, (उत् परासः) और उत्कृष्ट (उत्) तथा (मध्यमाः) मध्यम (पितरः) पितरो!

(उदीरतां) उन्नति को प्राप्त होओ। (ये अवृकाः) जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने (असुं ईयुः) प्राण को प्राप्त किया है अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं (ते) वे (ऋतज्ञाः) सत्य व यज्ञको जाननेवाले (पितरः) पितर (हवेषु) बुलाए जानेपर (नः) हमारी (रक्षन्तु) रक्षा करें।

निरुक्त०

सोम्यासः- सोम संपादन करनेवाले।

अवृकाः- अनमित्राः- शत्रुरहित।

उदीरतां= उत् ईरताम्। उत् उपसर्ग पूर्वक ईर गतौ धातु। ऊपर गति करना अर्थात् उन्नति करना।

भावार्थ- सब प्रकार के उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट पितर अपनी उन्नति करें। हमारे सहायतार्थ बुलानेपर आकर हमारा रक्षण करें।

'असुं य ईयुः' पदसे यह ज्ञात होता है कि इस में जीवित पितरों से प्रार्थना की गई है।

आहं पितॄन्त्सुविदत्रॉं आविित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः। बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥ अथर्व १८।१।४५

अर्थ- (सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम धनसंपन्न पितरों को (आ आवित्सि) अच्छी प्रकार प्राप्त करता हूं। (विष्णोः नपातं विक्रमणं च) और सर्व व्यापक परमात्मा के न गिरानेवाले अर्थात् उन्नति करनेवाले शौर्य को प्राप्त करता हूं। (बर्हिषदः पितरः) कुशासन पर बैठनेवाले पितर जो कि (स्वधया) स्वधाके साथ (सुतस्य पित्वः) उत्पादित अर्थात् तैयार किए हुए अन्नका (भजन्त) सेवन करते हैं, यानि खाते हैं (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमिष्ठाः) आवें।

भावार्थ - धनधान्य संपन्न पितरों को व व्यापक परमात्मा के शौर्य को मैं प्राप्त करता हूं। स्वधा के साथ पक्व अन्न को खानेवाले पितरो! इस यज्ञमें आओ।

सुविदत्र- सुविदत्रः कल्याणविद्यः। निरु० अ० ६। पा० ३। खं० १४। सुविदत्र का अर्थ निघण्टु में धन भी है। निघ० ७।१०

पित्वः=पितु + अस् =पित्वः= अन्नका। नपात=न पातयति = जो गिरावे।

इस मंत्र में पितर का निर्णय करना जरा कठिन है। तथापि 'आहं सुविदत्रान् पितॄन् आवित्सि' से जीवित पितर प्रतीत होते हैं। क्यों कि सुविदत्र पितरों को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कि उनके यहां उनसे जन्म लिया जावे। और जन्म जीवित पितरों से ही मिलता है।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अपरास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु॥ अथर्व० १८।१।४६

अर्थ- (अद्य) आज (पितृभ्यः) पितरों के लिए (इदं नमः अस्तु) यह नमस्कार हो। किन पितरों के लिए? (ये) जो कि (पूर्वासः) पूर्वकालीन पितर (ईयुः) स्वर्ग को गए हुए हैं और (ये) जो कि (अपरासः) अर्वाचीन काल के पितर स्वर्गको गए हुए हैं। और (ये) जो कि पितर (पार्थिवे रजसि) पार्थिव रजस् पर अर्थात् पृथिवीपर (आ निषत्ताः) स्थित हैं, (वा) अथवा (ये) जो कि (नूनं) निश्चय से (सुवृजनासु विक्षु) उत्तम बल वा धन युक्त प्रजाओं में स्थित हैं।

भावार्थ- पुरातन कालके, अर्वाचीन कालके जो पितर हैं और जो इस समय पृथिवी लोकपर विद्यमान हैं अथवा उत्तम धनधान्य संपन्न प्रजाओं में विद्यमान हैं उन सब पितरों के लिए नमस्कार है।

विश् शब्द निघण्टु में मनुष्यवाची नामोंमें पठित है। देखो निघण्टु २। ३॥

वृजन का अर्थ निघण्टु में बल ऐसा किया गया है। निघण्टु २। ९॥

इस मंत्र में सर्व प्रकार के पितरों का अर्थात् प्राचीन, अर्वाचीन, जीवित, मृत सबके लिए नमस्कार का निर्देश है। पूर्वासः अर्थात् प्राचीन काल के पितर इस वखत मृत ही हैं। जो पार्थिव लोक पर विद्यमान हैं वे ही जीवितों में गिने जा सकते हैं। अतः इसके सिवाय शेष दोनों अर्वाचीन व प्राचीन पितर निःसंदेह मृत पितर ही हैं यह मंत्र से स्पष्ट है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि मृत पितरों को भी नमस्कार करना चाहिए।

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋ-
क्वभिर्वावृधानः। याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवां
स्तेनोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ अथर्व० १८।१।४७॥

अर्थ — (मातली) इन्द्र (कव्यैः) कव्यों से,(यमः अङ्गिरोभिः) यम अङ्गिरसों से और (बृहस्पतिः ऋक्वभिः) बृहस्पति ऋचाओं से अर्थात् ऋचा संबन्धी ज्ञान रखनेवालों से (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। (यान् देवाः वावृधुः) जिनको देवों ने बढाया है तथा (ये देवान्) जो देवों को बढाते हैं, (ते) वे अर्थात् मंत्रोक्त कव्य, अङ्गिरस् आदि जो पितर हैं वे हमारी आह्वान करनेपर रक्षा करें।

कव्य- पितरों को प्रायः बहुत से मंत्रों में कवि के नाम से कहा गया है। और अतएव उन्हें जो हवि दी जाती है उसका नाम कव्य है। देवों के लिए दी जाती हवि हव्य के नाम से कही जाती है। दोनों हवियों का भेद करने के लिए पितरों की हवि को कव्य के नाम से कहा गया है। तथापि कई स्थानों-पर पितरों के लिए हवि शब्द से भी हव्यका विधान है ही। यहां पर कव्य शब्दसे कव्य खानेवाले पितरों का ग्रहण है। इस मंत्रका पूर्वार्ध अभी विशेष विचारणीय है। इनका एक दूसरे से बढने का क्या अभिप्राय है यह पता नहीं चलता है।

अगला मंत्र ४८ वां ऋग्वेद (६।४७।१) में है। इसका देवता सोम है।

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं
रसवाँ उतायम्। उतोऽन्वस्य पपिवांसमिन्द्रं
न कश्चन सहते आहवेषु ॥

अथर्व० १८।१।४८ ॥

अर्थ- (अयं) यह सोम रस (किल) निश्चय से (स्वादुः) स्वादिष्ट है। यह सोमरस (मधुमान्) माधुर्य गुणों से युक्त है। (उत) और (अयं) यह सोम (किल) निश्चय से (तीव्रः) पीनेसे स्वादमें तेज लगनेवाला है। (उत) और (अयं) यह सोम (रसवान्) उत्तम रसवाला है। (उतः) और (नु) निश्चय से (अस्य पपिवांसम्) इसके पान करने की इच्छा रखनेवाले (इन्द्रं) इन्द्र को (आहवेषु) संग्रामों में (कः चन) कोई भी (न सहते) नहीं सहता अर्थात् उसके सामने संग्राम में कोई भी टिक नहीं सकता।

भावार्थ- मंत्रोक्त नाना माधुर्य आदि गुणोंवाले सोम को पीनेवाले का कोई भी पराभव नहीं कर सकता।

इस मंत्रमें सोम के स्वाद आदि पर प्रकाश डाला गया है तथा उसकी महिमा का दिग्दर्शन कराया गया है।

अगले दो मंत्र अर्थात् ४९ तथा ५० ऋग्वेद (१०। १४।१-२) में हैं। उनका देवता यम है।

परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थाम-
नुपस्पशानम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां
यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥

अथर्व० १८।१।४९॥

अर्थ – (प्रवतः) प्रकृष्ट कर्म करनेवालों को, उत्तम कर्म करने वालोंको तथा निकृष्ट कर्म करने वालोंको (महीः इति) भूमि प्रदेशोंको (परेयिवांसं) प्राप्त कराते हुए तथा (बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानं) बहुतों के लिए मार्गको दिखलाते हुए और (जनानां सङ्गमनं) जिसमें मनुष्य जाते हैं ऐसे (वैवस्वतं) विवस्वान् के पुत्र (यमं राजानं) यम राजाकी (हविषा सपर्यत) हविदान पूर्वक पूजा करो। 'प्रवतः महीः अति परेयिवांसं' इसका अभिप्राय यह है कि सबको उन उनके कर्मानुसार उचित स्थान पर जन्म देता है। जैसे कोई भारत वर्षमें जन्म लेता है तो कोई अन्यत्र। भारतवर्षमें भी जीव स्वकर्मानुसार भिन्न भिन्न प्रान्तमें जन्म लेता है। इस जन्मस्थानकी व्यवस्था यम करता है ऐसा इसका भाव प्रतीत होता है। अथवा इस मंत्र भाग का अर्थ यूं भी किया जा सकता है-(प्रवतः महीः इति परेयिवांसं) प्रकृष्ट, उत्कृष्ट तथा निकृष्ट योनिस्थ जीवोंके उद्देश्य से पृथिवी पर आए हुए यमको ... इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है कि अन्तमें नाना योनिस्थ जीवोंको यमने यम लोकमें ले जाना है अतः वह पृथिवी पर आया हुआ है। और उसका यह कार्य है। इसकी पुष्टि आगे 'जनानां संगमनं' यह कर रहा है।

बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानम्- इसका अभिप्राय यह है कि नाना योनिस्थ जीवोंमेंसे जिस जिसकी

आयु संपूर्ण होती जाती है उस उसको वह यमलोकका रस्ता दिखाता जाता है। इस प्रकार इन कर्मों के करनेवाले यम राजाको हवि देकर उसकी पूजा करनी चाहिए यम मंत्रका आशय है।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः॥ अथर्व० १८। १। ५०

अर्थ- (यमः नः गातुं प्रथमः विवेद) यमने हमारा मार्ग सबसे पहिले जाना। (एषा गव्यूतिः न अपभर्तवै) यह मार्ग अपहरणके लिए नहीं है अर्थात् इस मार्गसे छुटकारा पाया नहीं जा सकता। वह मार्ग कौनसा है यह मंत्र के उत्तरार्धसे दर्शाते हैं- (यत्र नः पूर्वे पितरः परेताः) जहां पर हमारे पूर्वज पितर गए हुए हैं। और (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) जात प्राणीमात्र (स्वाः पथ्याः अनु) अपने अपने पथ्योंके अनुसार जाते हैं।

इस मंत्रको प्रथम मंत्रोक्त ' जनानां सङ्गमनं यमं राजानं ' का स्पष्टीकरण कहा जा सकता है। अन्त में यमलोकमें सब प्राणियों के जानेके लिए जो मार्ग है उसका यहां निर्देश है। यम हमारा यमलोकमें जानेका मार्ग सबसे पहिले जानता है क्यों कि वह उस मार्गका अधिष्ठाता है। इस मार्ग से छुटकारा पाना कठिन है क्यों कि जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरेगाही। इसी भावको, और भी अधिक स्पष्ट मंत्र के उत्तरार्ध से करते हुए कहा गया है कि उस मार्ग में से हमारे पूर्वज गए और जात प्राणीमात्र भी अपने अपने कर्मानुसार जायगा।

इस प्रकार इस मंत्र में यमलोकके जानेके मार्गका वर्णन है। उस मार्गसे सबको जाना होगा। कोई भी इससे बच नहीं सकता। अतएव यमको पूर्व मंत्रमें ' जनानां संगमनं ' कहा है। ' पथ्याः ' का भाव विशेष रूपसे स्पष्ट नहीं होता है।

बर्हिषदः पितरः ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्। त आ गतावसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात॥ अथर्व० १८।१।५१॥

अर्थ— हे। (बर्हिषदः पितरः) हे बर्हिषत् पितरो! (अर्वाक्) हमारे प्रति (ऊति) रक्षणार्थ आओ। (वः) तुम्हारे लिए (हव्या) हव्यों को (चकृम) करते हैं उनका (जुषध्वम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करो। (ते) वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साथ (आगत) आओ। (अथ) और तब (नः) हमें (अरपः) पाप रहित आचरण, (शं) कल्याण और (योः) दुखवियोग (दधात) दो।

भावार्थ— बर्हिषत् पितर हमारा रक्षण करें और उसके बदले में हम उनका हव्यादि प्रदान द्वारा सत्कार करें। वे हमारे रोग तथा भयोंको दूर करते हुए हमारा संरक्षण करें।

बर्हिषदः- बर्हिष् में अथवा बर्हिष् पर बैठनेवाले। निघण्टु में बर्हिष् शब्द अन्तरिक्ष एवं जलवाची है। अंतरिक्षमें जल रहता है अतः जलका भी नाम बर्हिष् पडगया ऐसा प्रतीत होता है।

बर्हिष्=अंतरिक्ष। निघण्टु १। ३॥ बर्हिष्=जल। निघण्टु- १। १२॥

अंतरिक्ष में पितर रहते हैं ऐसा हमें वेद मंत्रोंसे (जैसा कि हम पूर्व दर्शा आए हैं) पता चलता है। तदनुसार ' बर्हिषदः पितरः ' का अर्थ हुआ अन्तरिक्षस्थ पितर। निघण्टु- ३। ३। में बर्हिषत्, महत् वाची नामों में भी पठित है। तदनुसार महान् पितर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है। बर्हिष् कुशाघास का भी नाम है। तदनुसार इसका अर्थ कुशाघास के आसनपर बैठनेवाले ऐसा भी हो सकता है। वेदमें बर्हिष् यज्ञ के लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है अतः यज्ञ में बैठनेवाले ऐसा अर्थ भी हम कर सकते हैं। प्रसङ्गानुसार उचित अर्थ लेना चाहिए। बर्हिषत् पितरों के विषय में विशद विवरण हम अन्यत्र प्रकाशित करेंगे।

शंयोः- शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्॥
निरुक्त० ४। ३। २४॥

अरपः- रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः॥
निरुक्त० ४।३। २४॥ न रपः = अरपः-पापरहित।

इस मंत्रमें बर्हिषत् पितर जीवितों के लिए प्रयुक्त हुआ है वा मृतों के लिए, इसका निर्णय करना कठिन है। मंत्र में कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जिस के आधारपर कोई परिणाम निकाला जावे। यह मंत्र यजुर्वेद (१९। ५५) है।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ अथर्व० १८।१।५२ ॥

अर्थ- (विश्वे) तुम सब पितरो ! (जानु आच्य) दांयां घुटना टेककर (दक्षिणतः निषद्य) दांई और बैठकर (इमं यज्ञं) इस यज्ञका (अभि गृणीत) स्वीकार करो। (पितरः) हे पितरो ! (यत् वः आगः) जो तुम्हारा अपराध (पुरुषता कराम) पुरुषत्व के कारण अर्थात् मनुष्यत्व के कारण हम करते हैं ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराध के कारण (मा हिंसिष्ट) हमारी हिंसा मत करो।

भावार्थ- हे पितरो दांई और दांयां घुटना टेककर इस यज्ञमें बैठो। यदि हम मनुष्यों से किसी प्रकार का अपराध अनजाने हो जाए तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो।

जानु आच्य- इसका अर्थ हमने 'दांयां घुटना टेककर' ऐसा किया है जिसका आधार भूत शतपथ ब्राह्मण का निम्न वचन है- 'अथैनं पितरः। प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीत् ....' इत्यादि। शतपथ २।४।२।२॥

इस मंत्रमें जिन पितरोंका उल्लेख है वे जीवित पितर हैं ऐसा 'आच्याजानु' से प्रतीत होता है। मृत पितर देह रहित होनेसे यज्ञमें घुटना टेककर नहीं बैठ सकते। देहधारी पितरोंके लिए ही यह करना संभव है और देहधारी पितर जीवित पितर ही हो सकते हैं मृत पितर नहीं। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।६२) में है।

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति। यमस्य माता पर्युह्यमाना महोजाया विवस्वतो ननाश ॥

अथर्व० १८।१।५३॥

अर्थ- (त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) त्वष्टा अपनी पुत्री का विवाह रचता है (इति) इस कारण (इदं विश्वं भुवनं) यह सारा भुवन (समेति) इकट्ठा होता है। परि (उह्यमाना) व्याही जाती हुई (यमस्य माता) यम की जननी व (महः विवस्वतः जाया) महान् विवस्वान् की पत्नी (ननाश) नष्ट हो जाती है।

इसी सूक्त के प्रथम मंत्रसे पता चलता है कि त्वष्टा की पुत्री का नाम सरण्यू है और उस का त्वष्टा विवस्वान् के साथ विवाह करता है। इस मंत्र से हमें यह पता चलता है कि त्वष्टा की पुत्री सरण्यु यमकी माता है व विवस्वान् की पत्नी है अर्थात् विवस्वान् यम का पिता है। अब हमें यह देखना है कि यम का पिता यह विवस्वान् कौन है।

यास्काचार्य इस मंत्र के उत्तरार्ध की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि 'यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश, रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते।' अर्थात् यम की माता व्याही जाती हुई जो कि महान् विवस्वान् की जाया है नष्ट हो गई। आगे 'जाया विवस्वतो ननाश' का स्पष्टीकरण करते हैं कि- 'रात्रि सूर्य की जाया, सूर्य के उदय होनेपर छिप जाती है।'

इस प्रकार विवस्वान् का अर्थ हुआ आदित्य अर्थात् सूर्य। इस उपरोक्त विवेचन से हम निम्न परिणाम पर पहुंचते हैं- यम की माता का नाम सरण्यू है व पिता का नाम विवस्वान् अर्थात् सूर्य है अर्थात् यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है अतएव उसे वेदमंत्रों में 'वैवस्वत' के नाम से पुकारा गया है। वैवस्वत यम का ही सर्वत्र विशेषण है अन्य का नहीं, अत एव वैवस्वत के साथ यम न भी प्रयुक्त हुआ हुआ हो, तो भी उसीका ग्रहण होता है।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैः येना नः पूर्वे पितरः परेयुः। उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥

अथर्व० १८।१।५४॥

अर्थ—हे मृत पुरुष ! (यत्र) जिस लोकमें (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्वज पितर (परेयुः) गए हुए हैं, उस लोकमें (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिले के मार्गोंद्वारा (प्रेहि प्रेहि) अवश्य जा। उस लोक में जाकर (स्वधया मदन्तौ) स्वधासे आनन्दित होते हुए अथवा तृप्त होते हुए (उभा राजानौ) दोनों राजा (यमं वरुणं देवं च) यम तथा वरुण देव को (पश्यासि) देख।

इस मंत्र में प्रथम दो मंत्रों के भाव को बिलकुल व्यक्त कर दिया है। सबसे प्रथम यहां यह बात पूर्ण रूपसे स्पष्ट हो जाती है कि जिस लोक में हमारे पितर गए हुए हैं वह लोक यम लोक है अथवा उस लोक में यम का राज्य है क्यों कि यम उस लोक का राजा है ऐसा उत्तरार्ध में कहा है। दूसरी बात यम भी स्वधासे तृप्त होता है यह यहांपर स्पष्ट होती है। तीसरी बात यम के साथ ही वरुण भी रहता है। चौथी बात यम लोक में जानेके मार्ग पितृयाण कहलाते हैं। इस प्रकार प्रथम दो मंत्रों के भाव को किस प्रकार अधिक स्पष्ट किया गया है यह पाठक स्वयं देख सकते हैं।

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्। अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै ॥ अथर्व० १८।१।५५॥

अर्थ- (अपइत) हे विघ्नकारी जनो! यहांसे चले जाओ। (वीत) भाग जाओ। (वि सर्पतातः) सर्वथा वह स्थान छोडकर हट जाओ।(अस्मै) इस प्रेतके लिए (पितरः) पितरोंने (एतं लोकं अक्रन्) यह स्थान किया है। (अस्मै) इस मृतके लिए (यमः) यमने (अहोभिः) दिनोंसे व (अद्भिः) पेय जलोंसे तथा (अक्तुभिः) रात्रियों से (व्यक्तं अवसानं) स्पष्ट समाप्ति (ददातु) दी है।

इस मंत्रमें शव को अंत्येष्टि क्रिया के लिए स्थान को पितर निर्धारित करते हैं ऐसा उल्लेख है। यहां शरीरसे प्राणों के निकल जाने के बादका वर्णन है ऐसा उत्तरार्धसे प्रतीत हो रहा है। उत्तरार्ध में यह स्पष्ट कहा है कि इसके लिए अब दिन रात आदि की समाप्ति हो चुकी है अर्थात् यह मर गया है। अब पूर्वार्धानुसार मरने पर पितर इसके लिए स्थान बनाते हैं इसके दो ही अभिप्राय हो सकते हैं (१) या तो जो पितर स्थान बनाते हैं वह स्मशान भूमिका हो सकता है अथवा (२) वह यम लोक का हो सकता है। प्रथम विकल्पके पक्षमें हमें अन्य मंत्र भी मिलते हैं जिनको कि हम अंत्येष्टि के प्रकरणमें दर्शा आए हैं। यदि दूसरा विकल्प माना जाए जिसकेकि विषयमें अभीतक हमारे पास कोई प्रमाण नहीं तो इससे यम लोक पर थोडासा प्रकाश अवश्य पड सकता है और वह यह कि जैसा उत्तरार्ध में दर्शाया है यम लोकमें दिन व रात नहीं होते और वहां जल भी नहीं है।

अवसान =समाप्ति।

उशन्तस्त्वेधीमह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
अथर्व० १८।१।५६॥

अर्थ— हे अग्नि! (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (त्वा) तेरी (धीमहि) स्थापना करते हैं। और (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (समिधीमहि) तुझे प्रदीप्त करते हैं। (उशन्) हमारी कामना करती हुई हे अग्नि! तू (हविषे अत्तवे) हविके खानेके लिए (उशतः पितॄन्) कामना करते हुए पितरोंको (आवह) प्राप्त करा-ले आ।

भावार्थ-हे अग्नि! हम यज्ञादिमें तेरी कामना करते हुए तेरी स्थापना करें व तुझे प्रकाशित करें। तू हमारे यज्ञोंमें पितरोंको हवि खानेके लिए ले आया कर।

इस मंत्रमें अग्नि पितरोंको यज्ञादिमें हवि भक्षणार्थ ले आती है ऐसा हमें निर्देश मिलता है। अग्नि पितरोंको यज्ञादिमें हवि भक्षणार्थ किस प्रकार ले आती है यह एक विचारणीय समस्या है। पाठक इस पर विचार कर प्रकाश डाल सकेंगे तो बडा अनुग्रह होगा। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।७०) में है।

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
अथर्व० १८।१।५७॥

अर्थ- हे अग्नि! (द्युमन्तः) दीप्तिमान होते हुए हम (त्वा इधीमहि) तुझे प्रकाशित करें। (द्युमन्तः और दीप्तिमान हम (समिधीमहि)तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करें। (द्युमान्) दीप्त हुआ हुआ तू (द्युमतः पितॄन्) प्रकाशमान् पितरों को (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (अवाह) ले आ। उपरोक्त मंत्रके भाव का ही यह मंत्रभी समर्थन कर रहा है।

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वणो भृगवः सोम्यासः । तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥

अथर्व० १८।१।५८॥

अर्थ- (नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरसः पितरः) हमारे नवग्व, अथर्वा, भृगु, सोमसंपादन करनेवाले अङ्गिरस् पितर हैं। (तेषां यज्ञियानां) उन यज्ञार्ह अङ्गिरस् पितरों की (सुमतौ) उत्तम सलाहों में तथा (भद्रे सौमनसे) शुभ संकल्पों में (स्याम) होवें ।

वेदमें नवग्व तथा दशग्व शब्द कई स्थानोंपर आते हैं । नवग्व तथा दशग्व शब्दवाले मंत्रों का समन्वय करके अर्थ निश्चय करना चाहिए । यह शब्द अभी शोध के लिए अवकाश रखता है निरुक्तकार यास्काचार्यने इस मंत्र में आए हुए नवग्व आदि शब्दों के निर्वचन निम्न लिखित किए हैं-

नवग्व- नवगतयो नवनीतगतयो वा ।

नि० । ११।१८॥

अर्थात् नव प्रकार की गतिवाले अथवा नवनीत अर्थात् मक्खन की तरह गतिवाले । नव प्रकार की गतिवाले अथवा मक्खन कीसी गतिवाले का अभिप्राय व्यक्त नहीं होता । महर्षि स्वामी दयानन्दजी ने इसका अर्थ नवीन गतिवाले ऐसा किया है । सायणाचार्य अपने भाष्यमें इस शब्द का अर्थ इस प्रकार करते हैं- ' नवग्वाः नवभिर्मासैः सत्रमनुतिष्ठवन्तः । ' अर्थात् नव मासका सत्र याग करने से इनका नाम नवग्व है ।

अथर्वा- अथर्वाणोऽथनवन्तः, थर्वतिश्चरति कर्मातत्प्रतिषेधः । निरु० ११।२।१८॥

अथर्वा स्थिर अर्थात् निश्चल प्रकृतिवाला होता है । चलनार्थक थर्व धातु से थर्वन् शब्द बनता है । जिसका अर्थ है अस्थिर-चलायमान । इससे उलटा अथर्वा-निश्चल ।

भृगु— अर्चिषि भृगुः संबभूव । भृगुः भृज्यमानः, न देहे । निरु० ३ । ३॥ भृगु अग्निकी ज्वालाओं में पैदा हुआ था । भृगु का अर्थ है आगमें भुना हुआ हो, जिसकी शरीरमें आस्था न हो। सोम्यासः- सोम संपादिनः । निरु० । ॥ जो यज्ञ में सोम रस तैयार करते हैं वे सोम्य कहलाते हैं ।

इस प्रकार इन विशेषणों से पूर्व मंत्रोक्त ' वैरूपैरिह मादयस्व ' में अङ्गिरस् पितरों को जो वैरूप कहा था उसका इस मंत्रमें स्पष्टीकरण करके दिखाया है कि अङ्गिरस् पितर वैरूप किस प्रकार से हैं। मंत्र के उत्तरार्ध में उनकी नेक सलाह में रहने को कहा गया है । यह मंत्र यजुर्वेद (१९ । ५०) में आया हुआ है ।

अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व । विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥ ऋ० १० । १४ । ५ ॥

अर्थ— हे यम ! (वैरूपैः) विविध स्वरूपवाले, (यज्ञियेभिः) यज्ञ के योग्य पूजनीय (अङ्गिरोभिः) अङ्गिरस् पितरों के साथ (इह आ गहि) इस हमारे यज्ञ में आ । यज्ञमें आकर दी गई हवि को खाकर (मादयस्व) आनन्दित हो । (विवस्वन्तं हुवे) विवस्वान् (सूर्य) को मैं बुलाता हूं (यः) जो कि विवस्वान् (ते पिता) तेरा पिता है । वह विवस्वान् (अस्मिन् यज्ञे बर्हिषि आ निषद्य) इस यज्ञ में आकर आसनपर बैठकर दी हुई हवि को खाकर आनन्दित होवे ।

यज्ञ में यम व अङ्गिरस् पितरों को बुलाकर उन्हें हवि दी जाती है, यह यहांपर हमें स्पष्ट रूप से पता चलता है। यम का पिता विवस्वान् (सूर्य) है, उसे भी साथ में यज्ञ में बुलाया जाता है व हवि खाने के लिए दी जाती है । अङ्गिरस् पितर नाना रूपवाले हैं अर्थात् उनके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं । इस भिन्न भिन्न स्वरूपका अगले मंत्रमें स्पष्टीकरण किया गया है ।

इमं यम प्रस्तर मा हि सीदाङ्गिरोभिः संविदानः । आ त्वा मंत्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व ॥

अथर्व० १८ । १ ।६०

अर्थ- (अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः) अंगिरस् पितरों के साथ एकमत हुआ हुआ हे यम ! तू (इमं प्रस्तरं) इस विस्तृत फैले हुए आसनपर (आसीद) बैठ । (त्वा) तुझे (कविशस्ताः मंत्राः) क्रान्त दर्शीयों द्वारा स्तुति किए गए मंत्र (आ वह-

न्तु) बुलावें। (एना) इस (हविषा) हविद्वारा (मादयस्व) प्रसन्न हो।

इस मंत्र में यम का अङ्गिरस् पितरों के साथ यज्ञ में विस्तृत आसनपर बैठजाने का वर्णन है। उसकी मंत्रों द्वारा स्तुति करके उसे यज्ञमें हवि दी जाती है। ये अङ्गिरस् पितर कौन हैं इस पर स्वतंत्र विचार करेंगे। इन तीन चार मंत्रों से उनका व यम का संबन्ध दिखाया गया है। यह मंत्र ऋग्वेद (१०।१४।४) में आया हुआ है।

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामंगिरसो ययुः॥

अथर्व० १८।१।६१

इस मंत्र का देवता ' पितरः ' है। उन्हीं का इसमें वर्णन है। अर्थ इस प्रकार है।—

(एते) ये पितर (इतः) यहांसे (उत् आ अरुहन्) ऊपर को चढते हैं। (दिवः पृष्ठानि आरुहन्) और द्युके पृष्ठोंपर- प्रष्ठ्य स्थानोंपर -चढते हैं। (यथा पथा) जिस प्रकारके मार्गसे कि (भूजयः) भूमि जीतनेवाले (अंगिरसः) अंगिरस पितर (द्यां) द्युलोक को (प्रययुः) गए हुए हैं।

भावार्थ- अङ्गिरस् पितर यहांसे उपर जाकर द्यु लोकमें स्थित होते हैं। उनके जानेका मार्ग वही है जो कि वीर गणों का द्यु लोकमें जानेका है।

इस प्रकार यह सूक्त यहांपर समाप्त होता है। इस सूक्तमें आए हुए प्रायः सबके सब मंत्र ऋग्वेद के भिन्न भिन्न सूक्तों में हैं। अतः इस सूक्त को दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि यह ऋग्वेद के मंत्रोंका संग्रह है। यह संग्रह किस दृष्टिसे किया गया है अर्थात् इन मंत्रों की परस्पर संगति किस प्रकार से की जा सकती है यह कहना कठिन है। इन मंत्रोंकी संगति यम व पितर में जहां जहां लग सकती थी वहां वहां लगाकर हम पहिले दे आए हैं। यहांपर संपूर्ण सूक्त देने का प्रयोजन यही है कि पाठकों को उन सूक्तों का ज्ञान हो जावे, जिनमें कि मुख्यतया यम व पितर के मंत्र विद्यमान हैं।

अथर्व० काण्ड १८। सूक्त- २॥

यह सूक्त भी प्रथम सूक्त की तरह ऋग्वेद के मंत्रों का संग्रह है। ऋग्वेद के किसी सूक्तमें से दो मंत्र तो किसी में से चार इस प्रकार लेकर कहीं कहीं पर कुछ पाठ भेद के साथ तो कहीं पर क्रम भेदके साथ इस सूक्तका संग्रह किया गया है। इस सूक्तके प्रायः सभी मंत्र यम व पितरमें आए हुए हैं। यहांपर इन मंत्रों की संगति लगाई गई है और उसके अनुसार जो परिणाम निकलते हैं वे भी दे आए हैं।

इस सूक्तके पहिले ३ मंत्र (१,२,३)ऋग्वेद (१०। १४। १३,१५,१४) में आ चुके हैं। देवता-यम है।

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरङ्कृतः॥

अथर्व० १८।२।१

अर्थ— (यमाय सोमः पवते।) यमके लिए यज्ञमें सोमको पवित्र किया जाता है। (यमाय हविः क्रियते) यमके लिए हवि प्रदान की जाती है (अरङ्कृतः) नाना प्रकारके द्रव्यों के डालनेसे जो अलङ्कृत किया हुआ, (अग्निदूतः) अग्निको अपना दूत बना करके (ह) निश्चय से (यज्ञः) यज्ञ (यमं गच्छति) यम को प्राप्त होता है।

भावार्थ— यमके लिए सोम, हवि आदि यज्ञ में देने चाहिए। यज्ञ यम को निश्चय से प्राप्त होता है।

यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पथिकृद्भ्यः॥

अथर्व १८।२।२

अर्थ- (यमाय) यम के लिए (मधुमत्तमं) अत्यन्त मधुर हव्य का (जुहोत) प्रदान करो। और हवि देकर (प्र तिष्ठत) प्रतिष्ठा को प्राप्त करो अथवा दीर्घ जीवन का लाभ करो। (पथिकृद्भ्यः) रस्ता बनानेवाले मार्ग प्रदर्शक (पूर्वजेभ्यः) जो सबसे पूर्व उत्पन्न हुए हैं व (पूर्वेभ्यः) हमसे पूर्वके हैं ऐसे (ऋषिभ्यः) ज्ञानियों के लिए (इदं नमः) यह नमस्कार है।

इस मन्त्रमें यम राजा के लिए मधुरतम हवि देने का व प्राचीन ऋषियों के लिए नमस्कार का विधान है।

[टिप्पणी-प्रतिष्ठित-ऐसा प्रतीत होता है कि यम के लिए मधुरतम हवि देनेसे मनुष्य की सांसारिक व पारलौकिक स्थिति उत्कृष्ट हो सकती है ।]

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन ।
स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्रजीवसे ॥
अथर्व० १८ । २ । ३

अर्थ- (यमाय राज्ञे) यम राजा के लिए (घृत-वत् पयः) घीसे मिश्रित दूध तथा (हविः) हवि का (जुहोतन) प्रदान करो । (सः) वह यम (प्रजीवसे) प्रकृष्टतया जीने के लिए (जीवेषु) जीवों में अर्थात् संसारमें (नः) हमें (दीर्घ आयुः)दीर्घ जीवन (आ यमेत्) देवे ।

भावार्थ— यम राजा को हवि आदि देनेसे वह हमें संसारमें दीर्घ जीवन प्रदान करता है ।

अब अगले दो मंत्र ऋग्वेद (१०।१६। १, २) में कुछ पाठभेदके साथ हैं । देवता-अग्नि है ।

मैनमग्ने विदहो माभिशूशुचो मास्य त्वचं चि-
क्षिपो मा शरीरम् । शृतं यदा करसि जातवे-
दोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृँ रुप ॥
अथर्व० १८।२।४

अर्थ— (अग्ने) हे अग्नि ! (एनं मा विदहः) इस प्रेत को इस प्रकार से मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट प्रतित हो । (मा अभि शूशुचः) इसे शोकाकुल मत कर । (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इस की त्वचा अर्थात् चमडी को मत फैंक । इस के शरीर में विद्यमान त्वचा मांस आदि को इस प्रकार से जला दे कि कोई भी भाग अवशिष्ट न रहने पावे। (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं करसि) जब तू इस प्रेत को परिपक्व बना दे अ-र्थात् पूर्णतया जलादे (अथ) तब (एनं) इस प्रेतकी आत्मा को (पितॄन् उप प्रहिणुतात्)पितरोंके पास भेज दे अर्थात् पितृलोक में इस प्रेतकी आत्मा चली जावे ।

प्रेत दहन के समय अग्नि से किस प्रकार की प्रार्थना करनी चाहिए इस बातका इस मंत्र में उल्लेख है । इस मंत्र के उत्तरार्ध से एक महत्व पूर्ण बातका निर्देश मिलता है और वह यह है कि जब तक देह संपूर्णतया जल नहीं जाती अथवा संपूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती तबतक आत्मा उस देह को छोडकर स्थानान्तर में नहीं जाती । उस देह के आसपासही मंडलाती रहती है । उस देहका मोह उसे खींचे रखता है । इस निर्देशानुसार आत्मा को देहसे शीघ्र मुक्त कराने के लिए व उसके लिए निर्धारित भावी स्थानपर शीघ्रतासे पहुंचाने के लिए शरीर का शीघ्र दहन करना ही अधिक उत्तम है, क्यों कि अग्निदहन के सिवाय शरीर को संपूर्णतया शीघ्र नष्ट करनेका अन्य कोई सुगम उपाय नहीं है ।

मंत्र के चतुर्थ पाद से यह भी पता चल रहा है कि मृतात्मा शरीर से पृथक् होकर पितृलोक में जाती है । अग्नि आत्मा को पितृलोक में भेजती है । इस मंत्र से जो महत्व पूर्ण निर्देश मिलते हैं वे विशेष विचारणीय हैं ।

यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेममेनं परिदत्तात् ।
पितृभ्यः । यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथ
देवानां वशनीर्भवाति ॥ अथर्व० १८।२।५ ॥

अर्थ— (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेत को पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे, (अथ) तब (एनं पितृभ्यः परि दत्तात्) इसको पितरों के लिए सौंप दे । (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणों के नयन को प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं (अथ) तब प्राणों के निकल जानेपर प्रेत (मृत शरीर),(देवानां वश-नीः भवाति) देवोंके वश हो जाता है ।

भावार्थ- अग्नि शरीर को पूर्णतया दग्ध करके आत्मा को पितृलोक में भेज देती है । अग्निद्वारा पृथक् पृथक् हुएहुए शरीर के तत्व अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं ।

इस मंत्रका पूर्वार्ध प्रथम मंत्रके उत्तरार्ध के स-मान है । आत्मा से युक्त शरीर के, जिस समय आत्मा शरीर से पृथक् होती है जिसे कि हम लौ-किक भाषा में मरना कहते हैं, शरीर व आत्मा इस प्रकार दो विभाग हो जाते हैं । उन दो विभागों का आगे चलकर क्या होता है अर्थात् वे कहां कहां जाते हैं यह बात इस मंत्र में दर्शाई गई है । मंत्रके पूर्वार्ध में आत्मा का क्या होता है यह दर्शाया गया

है तथा उत्तरार्ध में शरीर का क्या होता है यह दर्शाया गया है। पूर्वार्ध स्पष्ट है।

उत्तरार्ध में कही गई बातका स्पष्टी करण अगला मंत्र ७ वां स्वयं करता है। यहां पर सिर्फ इतना ही कहा गया है कि जब प्राण निकल जाते हैं तब यह मृत देह देवोंके वश हो जाती है। अब अगला मंत्र ६ ठा ऋग्वेद (१०।१४।१६) में है। देवता यम है।

त्रिकद्रुकेभिः पवते षळुर्वीरेकमिद् बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता ॥
अथर्व० १८।२।६ ॥

अर्थ- (एकं इत् बृहत्) अकेला ही वह सर्वनियन्ता महान् यम (त्रिकद्रुकेभिः) तीन कद्रुकों से (षट् उर्वीः) छहों उर्वियों को (पवते) प्राप्त होता है अर्थात् व्याप्त करके स्थित है। (त्रिष्टुप् गायत्री) त्रिष्टुप् गायत्री आदि (ता सर्वा छंदांसि) वे सब छन्द (यमे) उस नियन्ता परमात्मा में (आहिता) स्थित हैं।

षट् उर्वी- द्यु, पृथिवी, आप, ओषधी, दिन व रात ये छह उर्वियां हैं।

त्रिकद्रुक का क्या अभिप्राय है यह कुछ ठीक ठीक पता नहीं चलता। सायणाचार्य ने इन्हें याग विशेष करके लिखा है। पं. क्षेमकरण दासजीने उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयको त्रिकद्रुक कहा है।

यद्यपि त्रिकद्रु का अर्थ निश्चय न होनेसे मंत्र के पूर्वार्ध का भावार्थ ठीक ठीक पता लगना कठिन है तथापि छहों उर्वियों में वह यम व्याप्त है इतना अवश्य पता चलता है। उत्तरार्ध स्पष्ट है। त्रिष्टुप् गायत्री आदि सर्व उस यम (नियामक परमात्मा) में स्थित हैं।

अगला मंत्र ७ वां जैसा कि पूर्व निर्देश किया जा चुका है ५ वें मंत्रके उत्तरार्धका एक रीतिसे स्पष्टीकरण है। यह ऋग्वेद (१०।१६।३) में है।

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ
पृथिवीं च धर्मभिः। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते
हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ॥
अथर्व० १८। २। ७॥

अर्थ- हे प्रेत! तू (चक्षुषा सूर्यं गच्छ) आंख से सूर्य को जाना। (आत्मना वातं)आत्मासे (प्राणसे) वायु को जा। और हे प्रेत! (धर्मभिः) धर्म से अर्थात् कर्म फल जन्य धर्म से अथवा पार्थिवादि तत्वों के धर्म से अर्थात् जो पार्थिव तत्व हैं वे पृथिवी में जा मिलें, जो जलीय हैं वे जल में जा मिलें, इत्यादि प्रकार से (द्यां च पृथिवीं च) द्यु व पृथिवी लोक को जा अर्थात् पार्थिव तत्व पृथिवी में जा मिले और जो द्युलोकका अंश हो वह द्युलोक में जा मिले। जहां जहां से जो जो अंश तेरे शरीर में आया हो, वहां वहां वह वह अंश चला जावे। (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलोंमें जलीय अंश जावे। (यदि तत्र ते हितं) यदि वहां का कोई अंश तेरे में विद्यमान हो। और इसी प्रकार ओषधियों में शरीरांशों से स्थित हो अर्थात् ओषधिका अंश ओषधि में चला जावे।

भावार्थ-मरनेपर शरीर में विद्यमान तत्व अपने अपने स्थानपर जहां से आए हुए होते हैं वहां चले जाते हैं। सूर्यादि देवों के अंश उन उनमें वापिस चले जाते हैं। हरेक देव अपना अपना अंश शरीर से खींच लेता है।

इस प्रकार इस मंत्र में तृतीय मंत्रके चतुर्थ पाद ' अथ देवानां वशनीर्भवति ' का स्पष्टीकरण किया गया है। अगला मंत्र ८ वां ऋग्वेद (१०। १६। ४) में है।

अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः। यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥
अथर्व० १८।२।८॥

अर्थ- हे अग्नि! इस प्रेतका जो (अजः भागः) अज अर्थात् न जन्म लेनेवाला भाग (आत्मा) है (तं) उसको तू (तपसा तपस्व) अपने तप से तपा। (तं) उस अज भाग को (ते शोचिः) तेरी दीप्यमान ज्वाला (तपतु) तपावे। (तं) उस अज भागको (ते अर्चिः) भासमान तेरी ज्वाला (तपतु) तपावे। और फिर (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (याः ते शिवाः तन्वः) जो तेरे कल्याणकारी ज्वालायें रूपी तनू अर्थात् शरीर हैं

(ताभिः) उन शरीरों द्वारा इस अज भाग को (सुकृतां लोकं) सुकर्म करनेवालों के लोक में (वह) प्राप्त करा।

भावार्थ- हे अग्नि ! तू इस शरीर के अज भाग आत्मा को अपनी नाना गुण विशिष्ट ज्वालाओं से शुद्ध करके पुण्यलोकमें ले जा।

जैसा कि हम उपर दर्शा आए हैं कि मरन पर शरीर दो विभागोंमें विभक्त हो जाता है जिसमेंसे एक भाग तो मृत शरीर तथा दूसरा भाग अज आत्मा है। मृत शरीर को क्या करना चाहिए तथा अग्निदाह के अनन्तर वह किस किस रूपमें कहां कहां जाता है यह ७ वें मंत्रमें स्पष्टरूपसे दर्शाया जा चुका है। पंचम मंत्रमें संकेतरूपसे अज भाग आत्मा के लिए भी निर्देश किया जा चुका है। इस मंत्रमें उसीका विशदरूपसे वर्णन या स्पष्टी करण है। वस्तुतस्तु सप्तम व अष्टम मंत्र पंचम मंत्रके ही स्पष्टीकरण हैं। जैसा कि पाठक स्वयं देख सकते हैं। इस मंत्रसे भी यही पता चलता है कि अग्नि ही मृतात्माको सुकृतोंके लोकमें ले जाती है।

अगला मंत्र इसी मंत्रके भावको ही पुष्ट कर रहा है।

> यास्ते शोचयो रंहयो जातवेदो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम्। अजं यन्तमनु ताः समृण्वतामथेतराभिः शिवतमाभिः शृतं कृधि॥
>
> अथर्व० १८।२।९॥

अर्थ- (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (याः ते) जो तेरे (शोचयः) पवित्र करनेवाले, (रंहयः) वेगवाले ज्वालारूपी शरीर हैं, (याभिः) जिनसे कि तू (दिवं) द्युलोक को व (अंतरिक्षं) अन्तरिक्ष लोकको (आ पृणासि) परिपूर्ण करता है (ताः) वे तेरे ज्वालारूपी तनू अर्थात् शरीर (यन्तं) द्युलोक को जाते हुए (अजं अनु) शरीर के अज भाग (आत्मा) के पीछे (समृण्वताम्) जावें। (अथ) और (इतराभिः शिवतमाभिः) दूसरे कल्याणकारी शरीरों से इस पीछे रह गए मृत देह को (शृतं कृधि) परिपक्व कर अर्थात् पूर्णतया जला दे।

भावार्थ-शरीर के अज भाग आत्माका अनुसरण करती हुई अग्नि की कुछ ज्वालाएं उसे उचित स्थानपर ले जाती हैं व पीछे रहे मृत देहको अन्य ज्वालाएं भस्म कर डालती हैं।

इस प्रकार यह मंत्र भी पूर्व मंत्रके कथन को विशद कर रहा है।

अगला मंत्र १० वां ऋग्वेद (१०।१६।५) में कुछ पाठ भेद से है। देवता अग्नि है।

> अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान्। आयुर्वसान उपयातु शेषः सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः॥ अथर्व० १८।२।१०॥

अर्थ- (अग्ने) हे अग्नि ! (यः) जो (ते आहुतः) तेरे में अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ (स्वधावान् चरति) स्वधाओंसे युक्त विचरण करता है उसको (पुनः) फिर (पितृभ्यः) पितरोंके लिए लाकर (अवसृज) छोड अर्थात् वह पुनर्जन्म ले। अथवा 'पितृभ्यः' को पंचमी मानकर भी अर्थ कर सकते हैं, और वह इस प्रकार कि फिर पितृलोकमें विद्यमान पितरोंसे लाकर इस संसारमें छोड। दोनो प्रकारके अर्थोंका भाव एकही है। दोनों प्रकारके अर्थोंमें विरोध नहीं है। इस प्रकार यह पुनर्जन्म लिया हुआ (शेषः) अपत्य (संतान) (उपयातु) कुटुंबियों को प्राप्त करे, तथा (सुवर्चाः) तेजस्वी होकर हे अग्नि ! (तन्वा संगच्छतां) यह अपत्य शरीरसे भली भांति संगत होवे अर्थात् उत्तम शरीर संपत्ति से संपन्न बने।

अथवा इस मंत्रका अर्थ निम्न लिखित प्रकारसे भी किया जा सकता है-

हे अग्नि ! जो मृत पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंवाला होकर विचरण कर रहा है। उसे पितरोंके लिए दे अर्थात् उसे पितृलोकमें विद्यमान पितरोंके पास लेजाकर छोड। क्यों कि इस भावके अन्य मंत्र मिलते हैं जिनमें कि अग्निका मृत को पितृलोकमें पहुंचानेका उल्लेख है अतः यह अर्थ भी हो सकता है। यहां शेष अर्थात् पीछे शेष रह गई मृतकी संतान दीर्घायुको प्राप्त हुई हुई घरोंको वापिस जाए। वह संतान सुंदर शरीर

को प्राप्त करे।

इस अर्थानुसार मंत्रके पूर्वार्धमें मृत पुरुष के लिए प्रार्थना की गई है व उत्तरार्धमें उस पुरुषकी जीवित संततिके लिए दीर्घायु आदिकी प्रार्थनाका उल्लेख है। 'शेष' नाम संतान का है। 'शेष इत्यपत्य नाम शिष्यते इति'। नि० ३।२॥

इस मंत्रसे अग्निके एक और विशेष कार्य का पता चलता है और वह यह कि पुनर्जन्मके लिए जीवात्माको पितरोंके पास पहुंचानेका कार्य भी अग्नि का ही है।

अगले मंत्र ११, १२, तथा १३ का देवता श्वानौ है। ये मंत्र ऋग्वेद (१०।१४।१०-१२) में कुछ भेद से हैं।

इनमें यम के दूत दो श्वानोंका वर्णन अगले तीन मंत्रों में अर्थात् मंत्र ११ से लेकर १३ तक में है।

अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ अपीहि यमेन ये साधमादं मदन्ति॥

अथर्व० १८।२।११॥

अर्थ- हे पितृ लोक में जाते हुए जीव! (सारमेयौ चतुरक्षौ) सारमेय, चार आंखोंवाले (शबलौ) चितकबरे (श्वानौ) दो कुत्तोंसे (अति) बचकर के (साधुना पथा) कल्याण कारी उत्तम मार्गसे (द्रव) जा। (अथ) तब (सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम धन वा ज्ञान से युक्त पितरों को (अपि इहि) भी प्राप्त हो। (ये) जो कि पितर (यमेन सधमादं मदन्ति) यमके साथ आनन्दित होते हुए तृप्त होते हैं।

सारमेय- सायणाचार्यने सारमेयका अर्थ किया है कि सरमा नामकी देवोंकी कुत्ती है। उसका बच्चा सारमेय। सरमा शब्द सृगतौ धातुसे बाहुलकसे अम करनेपर बनता है,जिसका अर्थ है बहुत दौडने वाली। उसका पुत्र सारमेय। स्त्रीभ्यो ढक् से ढक्। सारमेय का अर्थ हुआ बहुत दौडनेवाली का पुत्र। लौकिक साहित्यमें सारमेय का अर्थ कुत्ता प्रचलित है।

यमके कुत्तों का वर्णन इस मंत्रमें किया गया है। उनकी चार आंखें हैं तथा चितकबरे रंगके हैं। इस मंत्र में यम व पितरों का संबन्ध भी व्यक्त हो रहा है।

अगले मंत्र में यम से कहा गया है कि वे इस जीव को उन कुत्तोंसे कल्याण तथा आरोग्य प्रदान करे!

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदी नृचक्षसा। ताभ्यां राजन् परि धेह्येनं स्वस्ति चास्मा अनमीवञ्च धेहि॥

अथर्व० १८।२।१२॥

अर्थ- हे यम! (ते) तेरे (यौ) जो (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले (पथिषदी) यम लोकमें जानेके मार्ग में बैठनेवाले तथा (नृचक्षसौ) मनुष्योंके देखनेवाले (श्वानौ) दो कुत्ते हैं, हे राजन्! (ताभ्यां) उन दोनों कुत्तों द्वारा (एनं) इस जीवको (स्वस्ति) कल्याण (धेहि) प्रदान कर। (च) और (अस्मै) इस जीवके लिए (अनमीवं) रोग रहितता अर्थात् आरोग्य (धेहि) धारण कर। इसे निरोगी बना।

इस मंत्रमें जीवित पुरुषके लिए यमके कुत्तोंसे कल्याण व आरोग्य मांगा गया है ऐसा प्रतीत होता है।

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु। तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥

अथर्व० १८।२।१३

अर्थ- (उरूणसौ) लम्बी नाकवाले, (असुतृपौ) प्राणोंके खानेसे तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनुचरतः) मनुष्योंके पीछे पीछे विचरण करते हैं। (तौ) इस प्रकारके वे यम दूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिए (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीवन धारण करने के लिए (अद्य) आज (इह) इस संसारमें (भद्रं असुं) कल्याणके देनेवाले प्राणको (पुनः) फिर (दाताँ) देवें।

इस मंत्रमें यमके कुत्तोंका थोडासा और अधिक वर्णन इसमें मिलता है। वे लम्बी नाकवाले, प्राणोंको

खाकर तृप्त होनेवाले, अत्यंत बलशाली हैं। वे सर्वदा मनुष्योंके पीछे लगे रहते हैं।

इस मंत्र का उत्तरार्ध पुनर्जन्म विषयक निर्देश कर रहा है। 'सूर्याय दृशये' से ऐसा पता चलता है कि संभवतः इस लोकमें रहकर ही सूर्य दर्शन हो सकता है अन्यत्र नहीं।

अब अगले ५ मंत्र अर्थात् १४से लेकर १८पर्यन्त, ऋग्वेदके दसवें मण्डल का १५४ वां सूक्तमें हैं। कहीं कहीं पर थोडासा पाठ भेद है।

ये मंत्र अंत्येष्टि संस्कार-विषयक हैं। इनमें प्रेत से कहा गया है कि तू किन किन को प्राप्त हो, जैसा कि मंत्रों को देखने से पाठकों को स्वयं स्पष्ट हो जायगा। इन मंत्रोंका ऋषि विवस्वान् की दुहिता यमी है। म्रियमाण यजमानादियों का वर्तन इसमें प्रतिपादित किया जाएगा, अतः वे इन मंत्रोंके देवता हैं।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥
अथर्व० १८।२।१४॥

अर्थ—(एकेभ्यः) कईयों के लिए (सोमः पवते) सोमरस बहता है। और (एके) कई (घृतं उपासते) आज्य का उपभोग करते हैं। इनको व (येभ्यः मधु प्रधावति) जिनके लिए मधु धारा रूपसे बहता है (तान् चित् अपि) हे प्रेत! उनको भी तू (गच्छतात्) प्राप्त हो।

भावार्थ- जिनके लिए सोम रस बहता रहता है व जो आज्य का उपभोग करते रहते हैं तथा जिन के लिए मधु की कुल्यायें बहती रहती हैं ऐसे यज्ञ कर्ताओं को हे प्रेत तू प्राप्त हो। ※

शव दहनादि अंत्येष्टि क्रिया प्रेतकी आत्मा के प्रति इस सूक्त की ऋचाओं के अनुसार उसके संबंधी आदियों का कथन है।

ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः।
पितृन्तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥
अथर्व० १८।२।१५॥

अर्थ -(ये चित्) और जो (पूर्वे) पूर्व पुरुष (ऋतसापः) सत्य का पालन करनेवाले अथवा यज्ञों के नित्य नियमपूर्वक करनेवाले,(ऋतावानः)सत्य वा यज्ञसे युक्त और इसीलिए (ऋतावृधः) सत्य व यज्ञके वर्धक थे, तथा (तपस्वतः) तपसे युक्त(पितृन्) पूर्व पितरों को (तान् चित् अपि) इन सबको भी हे (यम)नियमवान् प्रेतात्मा तू प्राप्त हो। ❀

भावार्थ- जो पितर सत्यके रक्षक हैं, यज्ञादि नित्यनियमसे करने वाले हैं तथा तपस्वी हैं ऐसे पितरों को हे मृतात्मा तू परलोकमें जाकर प्राप्त हो।

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥
अथर्व० १८।२।१६॥

अर्थ- (ये) जो लोक (तपसा) कृच्छ्रचांद्रायणादि नानाविध तप करने कारण से (अनाधृष्याः) किसी भी प्रकार से कष्टों को नहीं पहुंचाए

※ टिप्पणी—सायणाचार्य ने इस मंत्र की व्याख्या करते हुए यह दर्शाया है कि जिनके गोत्रज ब्रह्मयज्ञ के समय साम पढते हैं उनके लिए सोम कुल्या रूप में बहता रहता है। इसी प्रकार जिनके गोत्रज ब्रह्मयज्ञ के समय यजु को पढते हैं उनके लिए घृतकी कुल्या बहती रहती है। इसी तरह जिनके गोत्रज ब्रह्मयज्ञ के समय आथर्वण मंत्रों को पढते हैं उनके लिए मधुकी कुल्या बहती रहती है।

❀ इस मंत्र में यम प्रेतात्माके लिए आया है अतः इसका अर्थ नियममें स्थित ऐसा प्रतीत होता है। ग्रिफित आदि युरोपियन अनुवादकों ने यमका यहांपर क्या अर्थ है इस पर कुछभी प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं किया है। इससे ऐसा पता चलता है कि उन्हें यहांपर यमका क्या अर्थ है यह पता ही नहीं चला है। डा. जे. मूर नेभी. Oriental Sanskrit Texts Volume V, पृ. ३१०में यह सूक्त अर्थ सहित दिया है पर उन्होंने भी यम के स्थान पर यम ही रहने दिया है। सायणाचार्यने यम का अर्थ 'नियत' ऐसा किया है।

जा सकते, जिनको पाप नहीं सता सकते, व (ये) जो लोक (तपसा) तपके कारणसे (स्वः ययुः) स्वर्ग को गए हुए हैं, और (ये) जिन्हों ने (महः तपः चक्रिरे) महान् तप किया है, हे प्रेत ! इन (तान् चित् अपि गच्छतात्) उन तपस्वियों को भी तू जाकर प्राप्त हो अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे ।

भावार्थ- हे प्रेत जो तप के कारण किसी भी प्रकार पराभूत नहीं हो सकते, व जो तप ही के कारण स्वर्ग को प्राप्त हुए हुए हैं तथा जिन्होंने महान् तप किया है उनको तू यहांसे जाकर प्राप्त हो।

प्रथम मंत्र में यज्ञादि कर्म काण्ड का माहात्म्य दर्शाकर प्रेत को सत्कर्म करनेवालोंमें जाने को कहा है । व इस मंत्रमें तपः प्रभाव दिखलाकर तपस्वियों में जानेका निर्देश किया गया है ।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
अथर्व० १८।२।१७ ॥

अर्थ- हे प्रेत ! (ये शूरासः) जो शूरवीर गण (प्रधनेषु) संग्रामों में (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं और (ये) जो उन संग्रामों में (तनूत्यजः) शरीरों का त्याग करते हैं अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, (वा) अथवा (ये) जो लोक (सहस्रदक्षिणाः) हजारों दान करते हैं (तान् चित् अपि) उनको भी तू (गच्छतात्) प्राप्त हो ।

भावार्थ-जो शूरवीर गण युद्धोंमें अपने प्राण देकर वीर गति को प्राप्त हुए हुए हैं वा जो लोक नानातरह के दानों को देकर अपने को संसार में अमर कर गए हैं ऐसे लोकों को हे मृतात्मा तू प्राप्त हो, तेरे सद्गति होवे ।

इस मंत्र से यह स्पष्ट होता है कि दानी व शूरवीर गण भी मृत्युके पश्चात् सद्गति को प्राप्त करते हैं। गीता में ' हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्ग ' आदि युद्ध में मरने से सद्गति होती है ऐसे द्योतक वाक्यों की यह वेद मंत्र पुष्टि करता है। शूरवीरता से युद्धमें शरीर त्याग करनेवाले को परलोक में सुख मिलता है यह आर्य लोकों का बडा पुराना दृढ विश्वास चला आता है, उस विश्वास के मूलभूत ऐसे ऐसे वेद मंत्र ही हैं ।

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥
अथर्व० १८।२।१८॥

अर्थ- (ये) जो (कवयः) क्रांतदर्शी ज्ञानी लोक (सहस्रणीथः) हजारों प्रकारों की नीतियोंवाले हैं और जो (सूर्यं गोपायन्ति) इस सूर्यका रक्षण करते हैं ऐसे (तपस्वतः ऋषीन्) तप से युक्त ऋषियोंको जो कि (तपोजान्) तप से ही उत्पन्न हुए हुए हैं- ऐसोंको भी हे नियममें स्थित प्रेतात्मा ! तू यहां से जाकर प्राप्त हो ।

भावार्थ- जो क्रान्तदर्शी ऋषिगण नाना प्रकार के विज्ञानों से परिपूर्ण हैं व जो तपस्वो तथा तपसे उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसों को हे प्रेतात्मा तू इस लोक से जाकर प्राप्त हो । उनमें जाकर तू स्थित हो । निकृष्ट लोकों में मत जा ।

इस सूक्त के मंत्रों पर दृष्टि पात करनेसे साधारणतया हमें पता चलता है कि इस संसार में रहकर कैसे अर्थात् किस प्रकारके कर्मों को करने से मृत्युके अनन्तर उत्तम गति, उत्तम लोक वा उत्तम स्थान-स्वर्ग प्राप्त होता है । इस सूक्तमें ५ मंत्र हैं । पांचों मंत्रों में भिन्न भिन्न कर्म करनेवाले लोकों को गिनाया गया है और प्रेतात्मा से कहा गया है कि इन इन को तू इस लोकसे जाकर प्राप्त कर । अर्थात् इन ५ प्रकारके जनोंमें से ही किसो को तू जाकर प्राप्त हो । इन से हीन इतरों को प्राप्त मत हो । ये पांच प्रकार के जन इस लोक के नहीं, अपितु पर लोक के हैं, ऐसा मंत्रों से पता चलता है । अतः 'तान् चित् अपि गच्छतात्' का अर्थ यह नहीं किया जा सकता कि इन ५ प्रकार के इस लोकमें स्थित जनोंमें जाकरके तू पुनर्जन्म ले । सद्गति की प्राप्तिके लिए इस सूक्तमें यज्ञादि करना, तप करना,लडाईमें पराक्रम के साथ शरीरत्याग करना, नानाविध दान

करना, सत्याचरण इत्यादि कई साधन बताए गए हैं। यह संपूर्ण सूक्त अथर्व वेद (काण्ड १८। सूक्त २। मं. १४ से १८) में ऐसा का ऐसा है।

इन मंत्रोंका सारांश।

मंत्र १।

१-यज्ञ करने से सद्गति, उत्तम लोक प्राप्त होता है।

मंत्र २।

२-तप करनेसे पराभव नहीं होता व तपस्वी को स्वर्ग मिलता है।

मंत्र ३।

३-जो संग्रामों में युद्धकर शरीर छोडते हैं, उन्हें भी स्वर्ग उपलब्ध होता है।

४-जो अत्यन्त दानी हैं वे भी स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।

मंत्र ४।

५-तपस्वी सत्यरक्षक उत्तम गतिका लाभ करतेहैं।

मंत्र ५।

६-हजारों प्रकारकी नीतियों वाले व सूर्य रक्षक ऋषिगण स्वर्गको प्राप्त करते हैं।

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी।
यच्छास्मै शर्म सप्रथाः॥ अथर्व० १८।२।१९॥

अर्थ— हे पृथिवि ! (अस्मै) इसके लिए (स्योना) सुखकारिणी (अनृक्षरा) कांटोंसे रहित अर्थात् न पीडा देनेवाली,(निवेशनी) प्रवेश करने योग्य (भव) हो। (सप्रथाः) विस्तृत हुई हुई (अस्मै) इसके लिए (शर्म) सुखको (यच्छ) दे।

भावार्थ—पृथिवी,इस के लिए सुखकारी व पीडा रहित होवे ! इस को किसी प्रकार का कष्ट न हो। पृथिवी इसको सदा सुख प्रदान करती रहे।

असंबाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्व।
स्वधा याश्चकृषे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुतः॥
अथर्व० १८।१।२०॥

अर्थ— (असंबाधे) ऊंचा नीचा जो नहीं है अर्थात् जो एक सरखा है ऐसे (पृथिव्याः उरौ लोके) पृथिवीके विस्तृत स्थानमें (निधीयस्व) स्थित हो। (जीवन्) जीते हुए अर्थात् जीवित अवस्था में तूने (याः स्वधाः) जो स्वधायें (चकृषे) की थी (ताः) वे स्वधायें (ते) तेरे लिए अब (मधुश्चुतः) मधुके बरसाने वाली (सन्तु) होवें।

उपरोक्त ये दोनों मंत्र १९ तथा २०स्मशानमें शव दहनके स्थान का वर्णन करते हुए प्रतीत होते हैं। २० वां मंत्र इस बातको विशेष पुष्ट कर रहा है। १९ वें मंत्रमें तो सिर्फ पृथिवीसे प्रार्थना की गई है पर२० वेंमें जो शब्द प्रयोग है उससे उपरोक्त बातका निश्चय होता हुआसा जान पडता है।

मंत्रके पूर्वार्धमें शव दहनके स्थानका वर्णन है तथा उत्तरार्धमें उसने जो जीते हुए स्वधाओंका संग्रह किया था वे उसके लिए मधुर हों ऐसी प्रार्थना है। इसके सिवाय इस बातके माननेमें दूसरा कारण सूक्तका चालु प्रकरण है। इन दो मंत्रोंसे पूर्वके ५ मंत्र अंत्येष्टिके हैं जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है। अतः उनके साहचर्यसेभी यही मानना उचित व संगत प्रतीत होता है।

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उप जुजुषाण एहि। सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु शग्माः॥
अथर्व० १८।२।२१॥

अर्थ- (ते मनः) तेरे मनको (मनसा)मन द्वारा बुलाता हूं। (इह) यहां (इमान् गृहान्) इन घरों से (जुजुषाणः उप एहि) प्रीति करता हुआ समीप आ। तू (पितृभिः) पितरों के (संगच्छस्व) साथ विचरण कर। (यमेन सं)यमके साथ विचरण कर। (स्योनाः) सुखदायक (शग्माः) शक्तिशाली (वाताः) वायुयें (त्वा उपवान्तु) तेरे लिए बहें।

इस मंत्र के चतुर्थपाद के भाव को और भी अधिक पुष्ट करता हुआ अगला मंत्र कहता है कि-

उत् त्वा वहन्तु मरुत उदवाहा उदप्रुतः।
अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति॥
अथर्व० १८।२।२२॥

अर्थ- (उदवाहाः) जलका वहन करनेवालीं (उदप्रुतः) जलमें संचार करनेवालीं (मरुतः) वायुयें (त्वा) तुझे (उत् वहन्तु) उपर पहुंचावें! और वे वायुयें (अजेन शीतं कृण्वन्तः) अजसे शीतलता देतीं हुई (वर्षेण उक्षन्तु) वृष्टि द्वारा सींचें। (बाल् इति) यह तेरा जीना है, अर्थात्

इसीसे तू जीवत रह सकता है।

टिप्पणी- बाल् इति-भिन्न भिन्न भाष्यकारों ने इसके भिन्न भिन्न अर्थ किए हैं। सायणाचार्य इसका अर्थ करते हैं कि- बाल् इस प्रकार से जैसे शब्द हो वैसे वायुयें तुझे वृष्टि द्वारा सींचें। पं. क्षेमकरण दासजी इसका अर्थ करते हैं कि- यही बल है। इन्होंने बाल् शब्द निम्न प्रकारसे निष्पन्न किया है- बल दाने जीवने वधे च- क्विप्। वचि प्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वांदीर्घोऽसंप्रसारणं च। उ० २।५७॥

मंत्रसे व प्रकरण से ऐसा जान पडता है कि द्यु लोक को जाती हुई प्रेतात्मा से यह कहा जा रहा है कि तेरे लिए रस्ते में वायु सुख दाई हों, तुझे वे ठण्डक पहुंचावें इत्यादि।

दोनों मंत्रों का अभिप्राय पूर्ण रूपसे स्पष्ट नहीं होता है। दूसरे मंत्र (२२) में आए हुए अज शब्द का क्या उचित भाव है यह भी पता नहीं चलता है। अन्त्येष्टि का प्रकरण चला आ रहा है अतः उसीको दृष्टिमें रखते हुए इनके भाव का पता लगाना चाहिए।

उदह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
स्वान् गच्छतु ते मनो अधा पितॄँरुप द्रव॥
अथर्व० १८।२।२३॥

अर्थ- (आयुषे) दीर्घायु धारण करने के लिए, (क्रत्वे) कर्म करने के लिए (दक्षाय) बल के लिए तथा (जीवसे) उत्तम जीवन धारण करने के लिए हे मृतात्मा ! मैं तुझे (उदह्वम्) बुलाता हूं। (ते मनः) तेरा मन (स्वान्) तेरे सबन्धियों में (गच्छतु) जावे (अध) और तू (पितॄन् उपद्रव) पितरों को प्राप्त हो।

भावार्थ- हे मृतात्मा ! तू दीर्घायु, बल, जीवन आदि धारण करने के लिए पुनः इस संसारमें आ तथा अपने संबन्धियों में ही आकर जन्म ले।

इस मंत्र में मृतात्मा को पुनर्जन्म लेनेके लिए बुला गया है ऐसा जान पडता है। इसके अनुसार इस मंत्रमें जीवित पितरों का उल्लेख है।

मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते।
मा ते हास्त तन्वः किंचनेह॥ अथर्व० १८।२।२४॥

(इह) इस संसार में रहते हुए (ते) तेरा (मनः) मन (मा हास्त) तुझे छोडकर मत चला जावे। (असोः) प्राणोंका (किंचन) कुछभी अंश (मा) मत चला जावे अर्थात् तेरे प्राण ठीक ठीक बने रहें। (ते रसस्य मा) तेरे शरीरस्थ रुधिर आदि रसका कुछ भी अंश मत चला जावे। और (ते तन्वः किंचन मा हास्त) तेरे शरीर का कुछभी अंश मत चला जावे।

भावार्थ- हे पुरुष ! तू संसार में सर्वाङ्गपूर्ण बना रह। तेरे शरीर आदिका कोई भी अंश नष्ट न होवे।

इस मंत्र से पूर्व के मंत्रमें मृतात्मा को पुनर्जन्म के लिए बुलाया गया था। इस मंत्रमें उससे कहा गया है कि तू पुनर्जन्म लेने के बाद इस संसारमें सर्वाङ्गपूर्ण हुआ हुआ रह। तेरे शरीरका कोई भी अंश तुझसे अलग न होवे।

मंत्र २१ तथा २२ में पितृ लोक में जाती हुई प्रेतात्मा के लिए सुखद वायु चलने के लिए कहा गया था। अब अगले मंत्र २५ वें में वृक्षादि के न बाधने के लिए कहा गया है-

मा त्वा वृक्षः संबाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यम राजसु॥
अथर्व० १८।२। २५॥

अर्थ- (त्वा वृक्षः मा संबाधिष्ट) तुझे वृक्ष बाधा मत पहुंचाए। वृक्ष यहां वनस्पतिका उपलक्षण है। (देवी मही पृथिवी) दिव्य गुणों वाली विस्तृत पृथिवी भी तुझे (मा) मत बाधा पहुंचाए। (यमराजसु पितृषु लोकं वित्त्वा) यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंमें स्थान प्राप्त करके (एधस्व) वृद्धि को प्राप्त कर।

भावार्थ द्युलोकमें जाते हुए तुझ को वृक्षादि वनस्पतियां तथा अन्य पार्थिव पदार्थ बाधा न पहुंचावें। तू यमराजावाले पितरोंमें जाकर वृद्धिको प्राप्त कर।

निम्न मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि पितर मृतको पुनरुज्जीवित करते हैं। मंत्र इस प्रकार है।

यत्ते अङ्गं प्रतिहितं पराचैरपानः प्राणो य
उ वा ते परेतः। तत्ते संगत्य पितरः सनीडा
घासाद् घासं पुनरावेशयन्तु॥ अथर्व० १८।२।२६

अर्थ- (ते यत् अङ्गं पराचैः अतिहितम्) (तेरा जो अंग उलटा होकर हट गया है, और(यः ते प्राणः, अपानः परेतः) जो तेरा प्राण वा अपान दूर चला गया है- शरीर से निकल गया है, (तत् ते) उस उपरोक्त तेरे अङ्ग वा प्राण या अपान को (सनीडाः पितरः) साथ रहनेवाले पितर (संगत्य) मिलकर (घासाद् घास इव)(यहां लुप्तोपमा प्रतीत होती है) जैसे घाससे घास बांधी जाती है उसी प्रकार (पुनः आवेशयन्तु) फिर प्रविष्ट करावें अर्थात् फिरसे प्राण अपान आदि तुझे दें यानि पुनरुज्जीवित करें।

प्राणों के निकल जानेपर शरीर चेष्टारहित हो जाता है। वह उस हालतमें शव वा मृत देह कहलाता है। इस मंत्रमें निकले हुए प्राणों का पुनः समावेश करनेका वर्णन है। इससे मृत को पुनरुज्जीवित करनेका निर्देश इस मंत्रमें मिलता है। इस के सिवाय कोई शरीर का अवयव उलटा हो गया हो वा टूट गया हो तो उसे भी पितर ठीक ठीक यथा स्थान बैठाते हैं ऐसा ज्ञात होता है।

सायणाचार्यने ' घासाद् घासं ' का अर्थ इस प्रकार किया है-'अद्यते भुज्यते अस्मिन्निति घासः। भोगायतनं शरीरम्। घासात् भोजनादिकरणशरीरात् घासं अन्यत् शरीरं पुनः आवेशयन्तु।' अर्थात् जिसमें खाया जावे उसका नाम है घास। भोगायतन शरीर का नाम घास है क्यों कि इसमें भोग भोगे जाते हैं। अतः घासात् अर्थात् भोजनाधिकरण शरीरसे घासं यानि दूसरे शरीर को फिर देते हैं। मरने के बाद एक शरीर छुडाकर दूसरा शरीर देते हैं यह अभिप्राय है।

स्मशान का ग्रामसे बाहिर होना।

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परिग्रामादितः। मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार ॥

अथर्व० १८।२।२७॥

अर्थ- (जीवाः) प्राणधारी लोकोंने (इमं इस) प्रेतको (गृहेभ्यः) घरोंसे (अप अरुधन्) बाहिर कर दिया है (तं) उसको तुम लोक (इतः ग्रामात्) इस ग्रामसे (परि निर्वहत) बाहिरकी ओर स्मशान भूमिमें ले जाओ। क्योंकि (यमस्य मृत्युः दूतः आसीत्) यमका जो मृत्यु दूत है उस(प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञानी मृत्युने इसके (असून्) प्राणोंको (पितृभ्यः गमयां चकार) पितरोंके लिए अर्थात् पितरोंके पास पितृलोकमें (गमयां चकार) भेज दीए है। अतः क्योंकि यह विगतप्राण हो चुका है इस लिए इसके शवको ग्रामसे बाहिर दहनादि क्रियाके लिए ले जाओ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया है कि शरीरसे प्राण छूटने पर उसे घरसे बाहर कर देना चाहिए व तदनन्तर ग्रामसे बाहिर लेजाना चाहिए। स्मशान भूमि ग्रामसे बाहिर होनी चाहिए ऐसा इसका अभिप्राय है।

अप पूर्वक रुध धातुका अर्थ बाहिर करना (to exclude) है। यहां पर मृत्यु को यमका दूत बताया गया है।

पितरोंमें दस्यु।

२८ वें मंत्र में अग्नि का पितरों में प्रविष्ट हुए हुए दस्युओं का यज्ञ से हटाना बतलाया गया है। मंत्र इस प्रकार है।-

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्र धमाति यज्ञात् ॥ अथर्व० १८।२।२८॥

अर्थ- (ज्ञातिमुखाः) ज्ञातियों के सदृश मुखवाले अर्थात् जो सजातीय हैं और जो कि (अहुतादः) अहुत अर्थात् न दिए हुए को खानेवाले हैं यानि जबरदस्ती जो छीनकर खा जानेवाले हैं ऐसे (ये दस्यवः) जो उपक्षय करनेवाले (पितृषु प्रविष्टाः) पितरों में प्रविष्ट हुए हुए (चरन्ति) विचरण करते हैं, और (ये) जो (परापुरः) पुत्रों को तथा (निपुरः) पौत्रों को (भरन्ति) हरण करते हैं (तान्) उन दस्युओं को (अग्नि) अग्नि (अस्मात् यज्ञात्) इस यज्ञसे (प्र धमाति) दूर भगा

देता है, यज्ञमें आने नहीं देता।

भरन्ति = हरन्ति। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' से ह को भ हो गया है।

इस मंत्र से यह प्रतीत होता है कि अन्य ज्ञाति गण जिनकी कि पितरों में गिनती नहीं है और जो हमारा व हमारे संतति का चुपके चुपके नाश करते रहते हैं, और जो हमारे न जानते हुए हवियों को जो कि पितरोंके उद्देश से दी गई हैं खाते रहते हैं। पर जब यज्ञमें वे आकर देखा करते हैं तो अग्नि उन्हें यज्ञसे दूर भगा देती है, उन्हें पितरों में बैठकर हवि खाने नहीं देती। इससे यह भी परिणाम निकाला जा सकता है कि पितरों के लिए जो भी कुछ देना हो वह अग्नि द्वारा अर्थात् यज्ञ करके ही देना चाहिए ताकि वह पितरों को ही मिले। अग्नि ज्ञाति मुख लोकों को न लेने देगी।

सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः। तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः॥
अथर्व० १८।२।२९।

अर्थ- (इह) इस यज्ञमें (नः) हमारे (स्वाः पितरः) ज्ञातिके पितृगण (स्योनं कृण्वन्तः) सुख उत्पन्न करते हुए (सं विशन्तु) प्रविष्ट होवें। और (आयुः प्रतिरन्त) आयुष्यकी वृद्धि करें। और उसके बदलमें (नक्षमाणाः) गतिशील अर्थात् सर्वदा कार्य तत्पर हम (ज्योक् पुरूचीः शरदः) निरन्तर बहुतसे वर्षोंतक (जीवन्तः) जीवन धारण करते हुए (तेभ्यः) उन दीर्घ आयु देनेवाले पितरोंकी (हविषा) हविद्वारा (शकेम) परिचर्या करने समर्थ बने रहें।

इस मंत्र में पितरों को बुलाया गया है व दीर्घ कालतक जीते हुए उनकी हविदान द्वारा सेवा करने की इच्छा प्रकट की गई है।

यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम्।
तेना जनस्यासो भर्ता योऽत्रासदजीवनः॥
अथर्व० १८।२।३०॥

अर्थ- (ते) तेरे लिए (यां धेनुं) जिस गायको (निपृणामि) देता हूं और (क्षीरे) दूधमें (यं ओदनं)जिस भातको देता हूं अर्थात् दूध मिश्रित जो भात देता हूं (तेन) उस द्वारा तू (जनस्य भर्ता असः) मनुष्यका पोषक हो। (यः) जो कि मनुष्य (अत्र) इस संसारमें (अजीवनः) निर्जीव—मृत (असत्) है।

इस मंत्रमें दूध मिश्रित भात वा गाय द्वारा मृत मनुष्यके भरण का उल्लेख प्रतीत होता है।

अश्वावतीं प्रतर या सुशेवार्क्षाकं वा प्रतरं नवीयः। यस्त्वा जघान वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद् विदत भागधेयम्॥ अथर्व० १८।२।३१॥

अर्थ- (अश्वावतीं) जिसमें घोडे हैं ऐसी सेनाको (प्रतर) भली भांति बढा अर्थात् घुड सवार सेना बढा, (या) जो कि (सुशेवा) उत्तम सुख देनेवाली है और फिर इस सेना द्वारा (प्रतरं नवीयः ऋक्षाकं प्रतर) बढे हुए, अद्भुत, रींछ आदि जंगली जानवरोंवाले स्थान को पार कर। (यः त्वा जघान) जो तुझे मारे (सः) वह (वध्यः अस्तु) मारडालने लायक होवे अर्थात् उसे मार डाला जावे। (सः) वह तेरा हिंसक (अन्यत् भागधेयं मा विदत्) उसे अन्य भाग मत मिले अर्थात् उसे मारही डाला जावे। अन्य भोग्य वस्तुएं उसे न मिलें।

भावार्थ- घुडसवार सेना बढाकर हिंसक प्राणियोंवाले स्थानोंको दूर करना चाहिए। और ऐसे कार्य करनेवालेका जो कोई वध करे तो उसे मार डालना चाहिए।

में पतिके विषयमें आदर भरा रहे। इसी प्रकार स्त्री का भी ऐसा व्यवहार हो कि जिससे पतिके मनमें स्त्रीका आदर बढे। इस प्रकार दोनों परस्पर आदर रखती हुई सुखसे गृहस्थाश्रम का कार्य करें।

नवम सूक्त में कहा है पति स्त्रीको और स्त्री पतिको आत्म सर्वस्व अर्पण करे। एक दूसरेके वियोगसे दुखी हो और सूख जावे और साथ रहनेसे दोनों सुखी हों। स्त्री और पुरुष परस्परके कार्योंमें एक दूसरेकी सहायता करें और परस्पर की अनुकूलतासे चलें। परस्परकी अनुकूलतासे अपने सब व्यवहार करें। स्त्रियोंसे धर्मपूर्वक मिलना सुखदायी है, क्यों कि उत्तम स्त्रियों के हृदयोंमें प्रेम भरा हुआ रहता है, पतिके घर की गौवें स्त्रियोंको आकर्षित करें।

इस प्रकार व्यवहार करके स्त्री पुरुष सुखसे गृहस्थाश्रम के कार्य करें और परस्परकी अनुकूलतासे सुखी हों।

अष्टम सूक्तके प्रथम मंत्रके साथ अथर्व १।३४।५ और २।३०।१ ये मंत्र तुलना करके देखिये। कुछ आशय समान है

बाह्यशक्तियोंसे अन्तःशक्तियोंका संबंध।

[१०]

(ऋषिः– शन्तातिः। देवता–नानादेवताः, अग्निः, वायुः, सूर्यः)

पृथिव्यै श्रोत्रा॑य वन॒स्पति॑भ्यो॒ऽग्नयेऽधि॑पतये॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥
प्रा॒णाया॒न्तरि॑क्षाय॒ वयो॑भ्यो वा॒यवेऽधि॑पत॒ये स्वाहा॑ ॥ २ ॥
दि॒वे चक्षु॑षे॒ नक्ष॑त्रेभ्य॒ः सूर्या॑याधि॑पतये॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— पृथ्वी, (श्रोत्राय) कान, वनस्पति तथा पृथ्वीके अधिपति अग्निके लिये (स्व-आह) प्रशंसा कहते हैं ॥ १ ॥ अन्तरिक्ष, प्राण,(वयोभ्यः) पक्षी तथा अन्तरिक्षके अधिपति वायु के लिये हमारी स्तुति हो ॥ २ ॥ द्युलोक, आंख, नक्षत्र और द्युलोक के अधिपति सूर्यकी मैं प्रशंसा करता हूं ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें बाह्य सृष्टीसे व्यक्तिके अन्दरकी शक्तियोंका संबंध बताया है—

बाह्यलोक	उसमें प्राप्त पदार्थ	लोकाधिपति	व्यक्तिके शरीरमें इंद्रिय
पृथिवी	वनस्पति	अग्नि	कान (शब्दग्रहण)
अन्तरिक्ष	पक्षी	वायु	प्राण
द्युलोक	नक्षत्र	सूर्य	आंख

इस प्रकार व्यक्तिके इंद्रियोंका बाह्य जगतके लोकों और देवोंके साथ संबंध है। यह संबंध जानकर सूर्य प्रकाशसे आंखकी, शुद्ध वायुसे प्राणकी, और अग्निसे श्रवण शक्तिकी शक्ति बढावें। यहां अग्निसे श्रवणशक्तिका संबंध खोजका विषय है।

पुंसवन।

[११]

(ऋषिः— प्रजापतिः। देवता-रेतः, मन्त्रोक्तदेवता)

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥ १ ॥
पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तद् प्रजापतिरब्रवीत् ॥ २ ॥
प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥ ३ ॥

अर्थ— (अश्व-त्थः) अश्वत्थ वृक्ष (शमीं आरूढः) शमी वृक्षपर जहां चढा होता है (तत्र पुंसवनं कृतं) वहां पुंसवन किया जाता है। वह ही (पुत्रस्य वेदनं) पुत्र-प्राप्तिका निश्चय है। (तत् स्त्रीषु आभरामसि) वह स्त्रियोंमें हम भर देते हैं ॥ १ ॥

(पुंसि वै रेतः भवति) पुरुषमें निश्चयसे वीर्य होता है (तत् स्त्रियां अनुषिच्यते) वह स्त्रियोंमें सींचा जाता है, (तत् वै पुत्रस्य वेदनं) वह पुत्र प्राप्तिका साधन है, (तत् प्रजापतिः अब्रवीत) यह प्रजापतिने कहा है ॥ २ ॥

(प्रजापतिः अनुमतिः) प्रजापालक पिता अनुकूल मति धारण करे और (सिनी-वाली अचीक्लृपत्) गर्भवती स्त्री समर्थ होवे,ऐसा होने पर (पुमांसं उ इह दधत्) पुत्र गर्भ ही यहां धारण होता है, (अन्यत्र स्त्रैपूयं दधत्) अन्य परिस्थितिमें स्त्रीगर्भ धारण होता है ॥ ३ ॥

निश्चयसे पुत्रकी उत्पत्ति ।

निश्चयसे पुत्र की उत्पत्ति होने के लिये एक उपाय इस सूक्तमें कहा है, वह औषधि प्रयोग का उपाय यह है—

शम्यां अश्वत्थ आरूढः तत्र पुंसवनं कृतम् ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं, तत् स्त्रीष्वाभरामसि ॥ (मं० १)

" (१) शमी वृक्षपर उगा और बढा हुआ पीपलका वृक्ष होता है, वह पीपल पुत्र रूप गर्भकी धारणा करानेवाला होता है । अर्थात् इस का औषध बनाकर यदि स्त्री सेवन करेगी तो वह स्त्री पुत्र उत्पन्न करनेवाली बनेगी । (२) यह पीपल निश्चयसे पुत्र उत्पन्न करनेवाला है, (३) इसके सेवनसे निश्चयसे पुत्र उत्पन्न होता है, (४) पुत्र उत्पत्तिके लिये इस पीपलके औषध को स्त्रियोंको देना चाहिये ।

शमीके वृक्षपर उगे पीपल वृक्षके पश्चाङ्ग का चूर्ण करके मधुके साथ सेवन किया जावे अथवा अन्य दूध आदिद्वारा सेवन किया जावे। इसके सेवनसे स्त्रीका गर्भाशय पुरुष गर्भ बनानेमें समर्थ होता है । जिस स्त्रीको लडकीयांही होती हैं उस स्त्रीको यह औषध देनेसे उसको, गर्भाशयमें परिवर्तन होकर, पुरुष गर्भ उत्पन्न करनेकी शक्ति आसकती है ।

पुंसवन और स्त्रैपूय ।

पुरुष पुत्र उत्पन्न होनेका नाम ' पुंसवन ' और लडकी उत्पन्न होनेका नामन ' स्त्रै-पूय ' है । ये दोनों नाम इस सूक्तमें प्रयुक्त हुए हैं । जो पुरुष संतान निश्चयसे चाहते हैं वे इस औषधी का उपयोग करें। इस मंत्रके श्लेष अर्थसे और भी एक आशय व्यक्त होता है, वह देखने योग्य है—

१ अश्व+त्थः – अश्वका अर्थ वाजी है। वाजीकरणका अर्थ पुरुषको पुरुष शक्तिसे युक्त करना है। अश्व शब्दका अर्थ यहां घोडेके समान पुरुष धर्मसे युक्त और समर्थ पुरुष । (अश्व) घोडेके समान जो (त्थ, स्थः) रहता है ऐसा बलवान पुरुष ।

२ शर्मी – मनकी वृत्तियां उछलने न देनेवाली स्त्री, अर्थात् जो धर्मानुकूल गृहस्थ-धर्मनियमोंका पालन करनेवाली स्त्री।

ऐसे स्त्रीपुरुषोंके संबंधसे निश्चित पुरुष संतान होती है। पाठक इसमें देखें कि इस स्त्रीपुरुषसंबंधमें वीर्यका बल अधिक होने और रजकी न्यूनता रखनेका विधान किया है इसी कारण निश्चयसे पुत्र संतान होती है। अर्थात पुरुष अधिक बलशाली हुआ तो पुरुषसंतान और स्त्री बलशालिनी हुई तो स्त्रीसंतान होती है। यहां बलका अर्थ पुरुष-वीर्य और स्त्रीरजका भाव लेना योग्य है।

द्वितीय मंत्र गर्भाधान परक है और स्पष्ट है। तृतीय मंत्रमें फिर श्लेषार्थसे कुछ वि-शेष आशय कहा है। वह अब देखिये—

१ प्रजापतिः = अपने संतानोंका उत्तम रीतिसे पालन करनेमें समर्थ गृहस्थी पुरुष।

२ अनुमतिः = परस्पर अनुकूल प्रेमपूर्ण मन रखनेवाले स्त्री या पुरुष।

३ सिनीवाली= सिन का अर्थ है चन्द्रकला, उसका बल बढानेवाली स्त्री सिनीवाली है। जिस प्रकार शुक्लपक्षकी रात्रीमें चन्द्रकी कलायें बढती हैं,उस प्रकार जिस स्त्रीके गर्भाशयमें गर्भकी कलाएं बढती हैं।

ये शब्द बडे विचारणीय हैं। सन्तान उत्पन्न वही करे कि जो उनके पालन पोषण का भार सहन करनेमें समर्थ हो। सन्तानोत्पत्ति करना है तो स्त्री पुरुष परस्पर अनुकूल संमति रखें, तो ही समानगुणवाला पुत्र होगा। उनमें विरोध होगा तो संतानभी विरुद्ध गुणधर्मवाली होगी। गर्भवती स्त्री समझे की मेरे अन्दर चंद्रमा जैसा अपनी कलाओंसे बढनेवाला गर्भ रहा है और उसकी सुवृद्धीका प्रबंध करना मेरा कर्तव्य है। इस प्रकार व्यवस्था होनेसे पुरुष सन्तान होती है। इसके विपरीत अवस्था होनेसे स्त्री सन्तान होती है अथवा नपुंसक सन्तान होगी।

अर्थात् पुरुष वीर्य की न्यूनता, स्त्री रजकी अधिकता, पुरुष और स्त्रीके मनोवृत्तियोंमें विरोध इत्यादि कारणसे स्त्री सन्तान और रजवीर्यकी समानतासे नपुंसक सन्तान होती है।

उत्तम वैद्य इस सूक्तका अधिक विचार करें और वास्तविक रीतिसे प्रयोग करके देखें और इस पुंसवन और स्त्रैपूय के शास्त्रका निश्चय करें।

सर्प-विष-निवारण।

[१२]

(ऋषिः—गरुत्मान् । देवता—तक्षकः)

परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम् ।
रात्री जगदिवान्यद्धंसात् तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥
यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद् देवैर्विदितं पुरा ।
यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥ २ ॥
मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयो मधु ।
मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥ ३ ॥

अर्थ—(सूर्यः द्यां इव) जिस प्रकार सूर्य द्युलोक को जानता है, उस प्रकार मैं (अहीनां जनिम परि अगमं) सर्पोंके जन्मवृत्तको जानता हूं। (रात्री हंसात् अन्यत् जगत् इव) रात्री जैसी सूर्यसे भिन्न जगत् को आवरण करती है (तेन ते विषं वारये) उसी प्रकार तेरे विष का मैं निवारण करता हूं ॥ १ ॥

(ब्रह्माभिः ऋषिभिः देवाभिः) ब्राह्मणों ऋषियों और देवोंने (यत् पुरा विदितं) जो पूर्वकालमें जान लिया था (तत् भूतं भव्यं आसन्वत) वह भूत भविष्य कालमें रहनेवाला ज्ञान है (तेन ते विषं वारये) उससे तेरा विष दूर करता हूं ॥ २ ॥

(मध्वा पृञ्चे) मधुसे सिंचन करता हूं, (नद्यः, पर्वताः, गिरयः मधु) नदियां, पर्वत, पहाड सब मधु देवें। (परुष्णी शीपाला मधु) परुष्णी और शीपाला मधुरता देवे। (आस्ने शं अस्तु) तेरे मुखके लिये शान्ति और (हृदे शं) हृदयके लिये शान्ति मिले ॥ ३ ॥

इस मंत्रमें नदियों और पर्वतों के झरनों आदिके जलकी धारासे सर्पविष उतारने का विधान प्रतीत होता है। परंतु निश्चय नहीं है। इसकी खोज सर्पविषचिकित्सक को करनी चाहिये। जलधारासे सर्पविष दूर करनेका विधान वेदमें अन्यस्थानमें भी है। परंतु उसका तात्पर्य क्या है, यह समझनें नहीं आता। यदि बिछूका विष चढ

रहा हो तो उसपर जलकी धारा एक वेगसे गिरानेसे बिछूका विष उतरता है। यह अनुभव हमने लिया है। परंतु इससे सर्पविष उतरता है, ऐसा मानना कठिन है। इसी प्रकार इस सूक्तके अन्य विधान भी विचारणीय हैं। अर्थात् इस सूक्तका विषय अन्वेषणीय है। जो इस की चिकित्सा जानते हों वे इसका अधिक विचार करें।

मृत्यु।

[१३]

(ऋषि— अथर्वा। (स्वस्त्ययनकामः)। देवता-मृत्युः)

नमो देववधेभ्यो नमो राजवधेभ्यः।
अथो ये विश्यानां वधास्तेभ्यो मृत्यो नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥
नमस्ते अधिवाकाय परावाकाय ते नमः।
सुमत्यै मृत्यो ते नमो दुर्मत्यै त इदं नमः ॥ २ ॥
नमस्ते यातुधानेभ्यो नमस्ते भेषजेभ्यः।
नमस्ते मृत्यो मूलेभ्यो ब्राह्मणेभ्य इदं नमः ॥ ३ ॥

अर्थ- (देववधेभ्यः नमः) ब्राह्मणोंके शस्त्रोंको नमस्कार, (राजवधेभ्यः नमः) क्षत्रियोंके शस्त्रोंको नमस्कार (अथो ये विश्यानां वधाः) और जो वैश्योंके शस्त्र हैं उनको नमस्कार है और हे मृत्यो! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार होवे ॥ १ ॥

(ते अधिवाकाय नमः) तेरे आशीर्वादको नमस्कार और (ते परावाकाय नमः) तेरे प्रतिकूल वचनको भी नमस्कार हो। हे मृत्यो! (ते सुमत्यै नमः) तेरी उत्तम मतिके लिये नमस्कार और (ते दुर्मत्यै इदं नमः) तेरी दुष्टमतिको भी यह नमस्कार है ॥ २ ॥

(ते यातुधानेभ्यः नमः) तेरे यातना देनेवाले रोगोंको नमस्कार और (ते भेषजेभ्यः नमः) तेरे औषध उपायोंके लिये भी नमस्कार हो। हे मृत्यो! (ते मूलेभ्यः नमः) तेरे मूल कारणोंको नमस्कार और (ब्राह्मणेभ्यः इदं नमः) ब्राह्मणोंकोभी मेरा नमस्कार है ॥ ३ ॥

मृत्युके प्रकार।

इस सूक्तमें मृत्युके कई प्रकार कहे हैं, देखिये—

१ देवबधः = देवोंके द्वारा होनेवाला वध अथवा मृत्यु। अग्नि वायु सूर्यादि देव हैं, ब्राह्मणभी देव हैं। इनके कारण होनेवाला मृत्यु। अग्नि प्रकोप, वायु बिगडने, सूर्य के उत्ताप, तथा ब्राह्मणादिकों के कारण जो मृत्यु होते हैं।

२ राजवधः = लडाई में होनेवाला वध, अथवा राजपुरुषों के व्यवहारोंसे होने वाला मृत्यु।

३ विश्यानां वधः = वैश्यों, पुंजीपतियों अथवा धनवानोंके कारण होने-वाला मृत्यु।

इन तीन कारणोंसे मृत्यु होते हैं। अतः इनका सुधार होना चाहिये। तथा-

४ अधिवाकः = अनुकूल वचन,

५ परावाकः = प्रतिकूल वचन,

६ सुमतिः = उत्तम बुद्धि, और

७ दुर्मतिः = दुष्टबुद्धि।

ये भी चार कारण हैं जिनसे मृत्यु होती है। अनुकूल वचन का अतिरेक होनेसे भी अविवेक होकर मृत्यु होती है, प्रतिकूल वचन से निराशा होकर मृत्यु होती है। उत्तम बुद्धि होनेसे केवल बौद्धिक कार्यों का ही ध्यान करनेके कारण शारीरिक निर्बलता उत्पन्न होकर मृत्यु होती है और दुर्मतिसे तो मृत्यु होती ही है। तथा—

८ यातुधानः = यातना देनेवाले रोग मृत्यु करते हैं, और

९ भेषजं = औषधि उपाय भी किसी किसी समय मृत्यु लानेवाले होते हैं।

ये और इससे भिन्न जो भी मृत्युकी जडें हैं, उन सब को दूर करना चाहिये।

यही ब्राह्मणों अर्थात् ज्ञानियोंका कार्य है। इस कारण उनको नमस्कार है। सबको प्रयत्न करके इन सब मृत्युके कारणोंको दूर करके अपने आपको दीर्घ जीवी बनानेका यत्न करना चाहिये।

क्षयरोगका निवारण ।

[१४]

(ऋषिः— बभ्रुपिंगलः । देवता-बलासः)

अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम् ।
बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ॥ १ ॥
निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा ।
छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव ॥ २ ॥
निर्बलासेतः प्र पताशुंगः शिशुको यथा ।
अथो इट इव हायनोप द्राह्यवीरहा ॥ ३ ॥

अर्थ— (अस्थिस्रंसं परुस्रंसं) हड्डियों और जोडोंमें ढीलापन लानेवाले (आस्थितं हृदयामयं) शरीरमें रहनेवाले हृदयके रोगको अर्थात् (सर्वं बलासं) सब क्षय रोगको और (यः अंगेष्ठाः च पर्वसु) जो अवयवों और जोडोंमें रहता है, उस सब रोगको (नाशय) नाश कर दे ॥ १ ॥

(बलासिनः बलासं निःक्षिणोमि) क्षयरोगीसे क्षयरोगको दूर करता हूं (यथा मुष्-करं) जिस प्रकार चोरी करनेवालेको दूर किया जाता है। (अस्य बंधनं छिनाद्मि) इस रोगके संबंधको छेद डालता हूं, (उर्वार्वाः मूलं इव) जैसे ककडी जडको काटते हैं ॥ २ ॥

हे (बलास) क्षयरोग ! (इतः निः प्रपत) यहांसे हट जा। (यथा आशुंगः शिशुकः) जिस प्रकार शीघ्रगामी बछडा जाता है । (अथो अ-वीरहा अप द्राहि) और वीरोंका नाश न करनेवाला तूं यहांसे भाग जा। (हायनः इटः इव) जैसा प्रतिवर्ष उगनेवाला घास नाश को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

कफक्षय ।

इस सूक्तमें ' बलास ' शब्द है, इस का अर्थ कफ और कफक्षय है । यह शरीरके पर्वों,जोडों, हृदय और अन्यान्य अवयवों में रहता है और रोगीका नाश करता है।इस को दूर करने का वर्णन इस सूक्तमें है। इसमें जिस उपाय का वर्णन है, उसका पता नहीं चलता । इस लिये क्षयरोग निवारण का जो उपाय इस सूक्तमें कहा है उसके विषयमें

कुछ अधिक कहना, विना अधिक खोज किये, कठिन है। पाठकोंमें जो वैद्य, और मानसचिकित्सक होंगे वे इसका अधिक मनन करेंगे तो कुछ पता चल सकता है। हमारे विचारसे तो यह सूक्त मानसचिकित्सा का सूक्त है। अपने मनके स्वास्थ्यप्रभावपूर्ण विचारोंसे रोगीके रोग दूर होते हैं। इस का यहां संबंध प्रतीत होता है। इस दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका विचार करें।

मैं उत्तम बनूंगा ।

[१५]

(ऋषिः- उद्दालकः । देवता—वनस्पतिः)

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः ।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥ १ ॥
सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥
यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः ।
तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ— (ओषधीनां उत्तमः असि) तू औषधियोंमें उत्तम है। (वृक्षाः तव उपस्तयः) अन्य वृक्ष तेरे समीपवर्ती हैं। अतः (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें दास बनाकर हमारा नाश करनेका इच्छुक है (सः अस्माकं उपस्तिः अस्तु) वह हमारा अनुगामी होवे ॥ १ ॥

(सबन्धुः च असबन्धुः च) बन्धुवाला अथवा बन्धुरहित, (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमारा नाश करता है (वृक्षाणां सा इव) वृक्षोंमें जिस प्रकार वह उत्तम है उस प्रकार (अहं तेषां उत्तमः भूयासं) मैं उनसे उत्तम होऊंगा ॥ २ ॥

(यथा सोमः हविषां ओषधीनां उत्तमः कृतः)जिस प्रकार सोम हविके पदार्थों और ओषधीयोंमें उत्तम बनाया है और (वृक्षाणां तलाशा इव) वृक्षोंमें जिस प्रकार तलाश वृक्ष उत्तम होता है उस प्रकार (अहं उत्तमः भूयासं) मैं उत्तम बनूंगा ॥ ३ ॥

मैं श्रेष्ठ बनूंगा।

" मैं उत्तम बनूं, मैं श्रेष्ठ बनूं " यह महत्त्वाकांक्षा मनुष्यमें होनी चाहिये। मनुष्य का अभ्युदय और निःश्रेयस इसी इच्छापर निर्भर है। शत्रुको नीचे दबानेसे भी उनसे अपनी अवस्था उच्च बन सकती है, परंतु यहां कहा है कि ऐसा प्रयत्न करो, कि तुम अन्योंसे श्रेष्ठ बनोगे। अन्योंको नीचे गिराना नहीं है, परंतु अपनी योग्यता सबसे अधिक करना है।

यः अस्मान् अभिदासति सः अस्माकं उपस्तिः अस्तु। (मं० १)

" जो हमारा नाश करना चाहता है वह हमारे पास उपस्थित होनेवाला होवे " तथा-

तेषां अहं उत्तमः भूयासम्। (मं० २)

"उनसे मैं सबसे उत्तम बनूंगा"। मैं अपनी योग्यता ऐसी बढाऊंगा कि जिससे मेरे सब शत्रु मेरे आश्रयसे रहनेवाले बनें।

अपनी उन्नति करनेकी इच्छा हरएक मनुष्य अपने मनमें धारण करे। और जगत्में जो उन्नतिके साधनके नियम हैं, उनको जानकर, सबसे श्रेष्ठ बने।

सूचना-इस सूक्तमें आये "उत्तम, तलाशा" ये औषधियोंके भी नाम होंगे। परंतु इन औषधियोंका पता आजकल नहीं लगता। "सोम" भी आजकल प्राप्त नहीं है।

औषधिरसका पान।

[१६]

(ऋषिः- शौनकः। देवता-चन्द्रमाः, मन्त्रोक्तदेवताः)

आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो।
आ ते करम्भमद्मसि ॥ १ ॥
विहल्हो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता।
स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ २ ॥
तौविलिकेऽवेलयावायमैलब ऐलयीत्।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥
अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा।
नीलागलसाला ॥ ४ ॥

अर्थ—(हे आबयो, आबयो, अनाबयो) फैलनेवाली और न फैलनेवाली औषधि ! (ते रसः उग्रः) तेरा रस उग्र है। (ते करंभं आ अद्मसि) तेरे रसका हम पेय बनाते हैं ॥ १ ॥

(ते पिता विहल्हः) तेरा पिता विहल्ह है और (ते माता मदावती नाम) तेरी माता मदावती नामक है। (सः हिन त्वं असि) वही उनसे-ही तू बनता है। (यः त्वं आत्मानं आवयः) जो तू अपने आत्माकी रक्षा करता है ॥ २ ॥

(तौविलिके अव ईलय) प्रगतिके कार्यमें हमें प्रेरित कर। (अयं ऐलबः अव ऐलयीत्) यह भूमि के संबंधमें कार्य करनेवाला प्रेरणा करता है। हे (आल) समर्थ! (बभ्रुः च बभ्रुकर्णः च) भूरा और भूरे कानवाला (निः अप इहि) हमसे दूर रह ॥ ३ ॥

(पूर्वा अलसाला) पहिले तू आलसियोंको रोकनेवाली है, (उत्तरा सिलांजाला) दूसरी तू अणुओंतक पंहुंचने वाली है। तथा (नीलागलसाला) घर घरमें उपयोगी है ॥ ४ ॥

रसपान।

इस सूक्तमें " करंभ " शब्द है। दही और सत्तूका आटा मिलाकर बडा उत्तम पेय रस बनता है उसका यह नाम है। यह कब्जीको हटानेवाला और बडा पुष्टि करने-वाला होता है। इसमें कई औषधियोंके रस मिलानेसे इसके गुण अधिक बढ जाते हैं।

' विहल्ह ' (पिता) वृक्षका ' मदावती ' नामक (माता) औषधिपर कलम करनेसे जो औषधि बनती है वह (आत्मानं आवयः) आत्माकी-अपनी-रक्षा करनेवाली होती है। यह द्वितीय मंत्रका कथन है। यह मातापिताके स्थानकी औषधियां इस समय अप्राप्त हैं।

इसी प्रकार इस सूक्तमें आये अन्यान्य नाम किन वनस्पतियोंके हैं, इसका पता नहीं चलता। आबयु, अनाबयु, विहल्ह, (पिता) मदावती (माता), तौविलिका, ऐलब, बभ्रु, बभ्रुकर्ण, आल, अलसाला, (पूर्वा) सिलाञ्जाला, (उत्तरा) नीलागलसाला, इत्यादि नाम इस सूक्तमें आये हैं। इनका पता नहीं लगता। इस लिये इनपर अधिक लिखना असंभव है।

गर्भधारणा।

[१७]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता-गर्भदृंहणम्)

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ १ ॥
यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ २ ॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ ३ ॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ ४ ॥

अर्थ—(यथा इयं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (भूतानां गर्भं आदधे) भूतोंका गर्भ धारण करती है, (एव ते गर्भः) इस प्रकार तेरा गर्भ (सूतुं अनु सवितवे ध्रियतां) संतान को अनुकूलतासे उत्पन्न करने के लिये स्थिर होवे ॥ १ ॥

(यथा इयं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (इमान् वनस्पतीन् दाधार) इन वनस्पतियोंका धारण करती है। इसी प्रकार संतान उत्पन्न होनेके लिये तेरे अंदर गर्भ स्थिर होवे ॥ २ ॥

जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (पर्वतान् गिरीन् दाधार) पर्वतों और पहाडोंको धारण करती है, उस प्रकार तेरे अंदर यह गर्भ सुखसे प्रसूति होनेके लिये स्थिर रहे ॥ ३ ॥

जिस प्रकार यह बडी पृथिवी (विष्ठितं जगत्) विविध प्रकारसे रहनेवाला जगत् धारण करती है, उस प्रकार तेरे अंदर यह गर्भ सुख प्रसूति के लिये स्थिर रहे ॥ ४ ॥

स्त्रीको अपने गर्भाशयमें गर्भ स्थिर रखनेकी इच्छा होती है, वह सफल करनेके लिये यह आशीर्वाद है ।

ईर्ष्या-निवारण ।

[१८]

(ऋषिः - अथर्वा । देवता - ईर्ष्याविनाशनम्)

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम् ।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि ॥ १ ॥
यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा ।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥ २ ॥
अदो यत् ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम् ।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥ ३ ॥

अर्थ— (ते ईर्ष्यायाः प्रथमां ध्राजिं) तेरी ईर्ष्या-डाह-के पहिले वेगको (उत प्रथमस्याः अपरां) और पहिलेकी आगेकी गतिको तथा (हृदय्यं तं शोकं अग्निं) हृदयमें रहनेवाले उस शोक रूपी अग्निको (निर्वापयामसि) हम हटा देते हैं ॥ १ ॥

(यथा भूमिः मृतमनाः) जैसी भूमि मरे मनवाली है अथवा (मृतात् मृतमनस्तरा) मरेसे भी अधिक मरे मनवाली है, (उत यथा मम्रुषः मनः) और जैसा मरनेवालेका मन होता है (एव ईर्ष्योः मनः मृतं) उस प्रकार ईर्ष्या-डाह-करनेवालेका मन मरा होता है ॥ २ ॥

(अदः यत् ते हृदि श्रितं) जो तेरे हृदयमें रहा हुआ (पतयिष्णुकं मनस्कं) गिरनेवाला अल्प मन है, (ततः ते ईर्ष्यां निः मुञ्चामि) वहांसे तेरी ईर्ष्याको मैं हटाता हूं । (दृतेः ऊष्माणं इव) जिस प्रकार धोंकनीसे वायुको निकालते हैं ॥ ३ ॥

डाहको दूर करना ।

दूसरे की उन्नति देख न सकनेका नाम " ईर्ष्या " अथवा डाह है । यह मनमें तब उत्पन्न होता है कि जब दूसरेका उत्कर्ष सहा नहीं जाता । यह ईर्ष्या कितनी हानी करती है, इस विषयमें देखिये-

(१) हृदय्यं शोकं अग्निं = हृदयके अंदर शोक उत्पन्न करती है, शोकसे हृदय जलने लगता है और यह आग आयुका क्षय करती है । (मं० १)

(२) ईर्ष्योः मृतं मनः = ईर्ष्या करनेवालेका मन मरे हुए समान हो जाता है,

मनमें कोई शुभ विचार नहीं आते, जीवनहीन मन होता है। इस लिये उसको "मृत-मनाः" मुर्दा मनवाला कहते हैं। वह (मृतात् मृतमनस्तरः) मुर्देसे भी अधिक मरा होता है। (मं० २)

(३) पतयिष्णुकं मनस्कं = उसका मन गिरनेवाला होता है और छोटा संकुचित वृत्तिवाला होता है।

देखिये यह ईर्ष्या कितनी घातक होती है, हृदयको जलाती है, मनको मार देती है और सबका पतन कराती है। इस लिये यह ईर्ष्या मनसे दूर करना चाहिये। ईर्ष्या दूर होनेसे हृदय शान्त होगा, मनमें सजीव चैतन्य कार्य करेगा और मन भी ऊपर उठाने वाले विचारोंसे परिपूर्ण होगा। इस कारण ईर्ष्या दूर होनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है और ईर्ष्या मनमें रहनेसे हानी होती है। इस लिये जहां तक हो सके वहां तक प्रयत्न करके मनुष्य ईर्ष्यासे अपने आपको दूर रखे॥

आत्मशुद्धिके लिये प्रार्थना।

[१९]

(ऋषिः- शन्तातिः। देवता- चन्द्रमाः, नानादेवताः)

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ १ ॥
पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये ॥ २ ॥
उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥ ३ ॥

अर्थ— (देवजनाः मा पुनन्तु) दिव्य जन मुझे शुद्ध करें। (मनवः धिया पुनन्तु) मननशील अपनी बुद्धिसे पवित्र करें। (विश्वा भूतानि पुनन्तु) सब भूत मुझे पवित्र करें और (पवमानः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला देव मुझे पवित्र करे ॥ १ ॥

(क्रत्वे दक्षाय जीवसे) कर्म, बल और दीर्घ आयुके लिये (अथो अरिष्ट-तातये) और कल्याणके विस्तारके लिये (पवमानः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला देव मुझे पवित्र करे ॥ २ ॥

हे (देव सवितः) सबके उत्पादक देव! (चक्षसे) तेरे दर्शन होनेके लिये (उभाभ्यां पवित्रेण) दोनों पवित्र विचार और (सवेन च) यज्ञसे (अस्मान् पुनीहि) हम सबको पवित्र कर ॥ ३ ॥

अपनी कर्मशक्ति, शारीरिक तथा मानसिक शक्ति दीर्घ आयु बढानेके लिये और कल्याण की प्राप्ति होनेके लिये विचार व आचार की पवित्रतासे अपने आपकी पवित्रता करना हरएक को उचित है । उस कार्य के लिये यह उत्तम ईश्वरप्रार्थना है। जो मनोभावसे यह प्रार्थना करेगा, उसकी पवित्रता होगी, इसमें संदेह नहीं है ।

क्षयरोगनिवारण ।

[२०]

(ऋषिः— भृग्वङ्गिराः । देवता – यक्ष्मनाशनम्)

अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपायति ।
अन्यमस्मदिच्छतु कं चिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने ॥१ ॥
नमो रुद्राय नमो अस्तु तक्मने नमो राज्ञे वरुणाय त्विषीमते ।
नमो दिवे नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः ॥ २ ॥
अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि ।
तस्मै तेऽरुणाय बभ्रवे नमः कृणोमि वन्याय तक्मने ॥ ३ ॥
॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (दहतः शुष्मिणः अस्य अग्नेः इव) जलानेवाले इस बलवान अग्निके तापके समान यह ज्वर (एति) व्यापता है । (उत मत्तः इव विलपन् अपायति) और उन्मत्तके समान बडबडाता हुआ चला जाता है । (अव्रतः अस्मत् अन्यं कं चित् इच्छतु) यह अनियमवाले मनुष्यको आनेवाला ज्वर हमसे भिन्न किसी दूसरे मनुष्यको ढूंढ लेवे । (तपुः-वधाय तक्मने नमो अस्तु) तपाकर वध करनेवाले इस ज्वरको नमस्कार होवे ॥१॥

रुद्र, (तक्मने) ज्वर, (त्विषीमते) तेजस्वी राजा वरुण (दिवे पृथिव्यै ओषधिभ्यः नमः) द्युलोक भूलोक और औषधियाँ, इन सबके लिये नमस्कार हो ॥ २ ॥

(अयं यः अभिशोचयिष्णुः) यह जो शोक बढानेवाला है, (विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि) सब रूपोंको पीले और निस्तेज बनाता है, (तस्मै ते अरुणाय बभ्रवे) उस तुझ लाल, भूरे और (वन्याय तक्मने नमः कृणोमि) वनमें उत्पन्न ज्वरको नमस्कार करता हूं ॥ ३ ॥

ज्वरके लक्षण और परिणाम ।

इस सूक्तमें ज्वर के लक्षण और परिणाम कहे हैं देखिये उनके सूचक शब्द ये हैं—

१ अग्निः इव दहन्=अग्निके समान जलाता है, ज्वर आनेके बाद शरीर अग्निके समान उष्ण होता है और वह उष्णता रक्तको जलाती है (मं०१)

२ शुष्मिन्=शोष उत्पन्न करता है, सुखादेता है। शरीर को सुखाता है। (मं०१)

३ मत्त इव विलपन्=पागल जैसा रोगीको बनाता है, इस कारण वह रोगी मन चाहे बातें बडबडता रहता है। (मं० १)

४ अव्रतः=यह ज्वर व्रतहीन अर्थात् नियम पालन न करनेवालेको ही आता है। अर्थात् नियमानुकूल व्यवहार करनेवाले को नहीं सताता। (मं०१)

५ तपुः वधः=यह ज्वर तपाके वध करता है। (मं० १)

६ तक्मा=बडे कष्ट देता है। (मं० १)

७ रुद्रः=यह रुलानेवाला है। (मं० २)

८ अभिशोचयिष्णुः=शोक बढानेवाला है। (मं० ३)

९ विश्वा रूपाणि हरिता कृणोति=शरीरको हरा पीला अर्थात् निस्तेज बनाता है। ज्वर आनेवालेका शरीर फीका होता है। (मं०३)

१० वन्यः=वनमें इसकी उत्पत्ति है। (मं०३)

इस सूक्तमें इतने ज्वरके कारण, लक्षण और परिणाम कहे हैं। व्रत पालन अर्थात् नियम पालन करनेसे यह ज्वर नहीं आता और आया हुआ हट जाता है। इसलिये इसको ' अव्रत ' कहा है। पृथ्वी-भूमी, ओषधी, वरुणराजाके सब जलस्थान, रुद्रके रुद्रसूक्तोक्त स्थान और रूप इनकी सुव्यवस्थासे यह ज्वर हटजाता है।

रुद्र सूक्तमें रुद्रका जो वर्णन है उसका विचार करनेसे पता लगता है कि यह ज्वर रुद्रका रूप है। रुद्रके दो प्रकारके रूप हैं, एक घोर (उष्ण) और एक शिव (शान्त)। इनके सम रहनेसे मनुष्यको आरोग्य प्राप्त होता है और विषम होनेसे रोग सताते हैं। इस प्रकार योजना द्वारा ज्वर दूर करनेका उपाय जाना जा सकता है। यह वैद्योंका विषय है, इसलिये वैद्य लोग इसका अधिक मनन करें।

केशवर्धक औषधी।

[२१]

(ऋषिः- शन्तातिः । देवता-चन्द्रमाः)

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥ १ ॥
श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम् ।
सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥ २ ॥
रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ ।
उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥ ३ ॥

अर्थ— (इमाः याः तिस्रः पृथिवीः) ये जो तीन लोक हैं (तासां भूमिः उत्तमा) उनमें यह भूमि उत्तम है । (तासां त्वचः अधि) उनमें त्वचाके विषयमें (भेषजं अहं उ सं जग्रभं) यह औषध मैंने प्राप्त किया है ॥ १ ॥

(भेषजानां श्रेष्ठं असि) औषधोंमें यह श्रेष्ठ है, (वीरुधानां वसिष्ठं) वनस्पतियों को यह बसानेवाला अर्थात् श्रेष्ठ है । (यथा यामेषु देवेषु) जैसे चलनेवाले देवोंमें (सोमः भगः वरुणः) सोम, भग और वरुण श्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥

हे (रेवतीः अनाधृषः सिषासवः) सामर्थ्य युक्त, अहिंसित और आरोग्य देने वाले रेवती औषधियो! (सिषासथ) आरोग्य देनेकी इच्छा करो । (उत केशदृंहणीः स्थ) और बालोंको बलवान करनेवाली हो (अथो ह केशवर्धिनीः) और बालोंको बढानेवाली हो ॥ ३ ॥

"रेवती" औषधी केश बढानेवाली और बालोंको दृढ करनेवाली है । यह त्वचा के रोगोंके लिये भी उत्तम है । यह औषधि आजकल नहीं मिलती, इसलिये इसकी खोज करनी चाहिये ।

वृष्टि कैसी होती है ?

[२२]

(ऋषिः– शन्तातिः । देवता– आदित्यरश्मिः, मरुतः)

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।
त आववृत्रन्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥ १ ॥
पयस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः ।
ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु ॥२॥
उदप्रुतो मरुतस्तां इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति ।
एजाति ग्लहा कन्येव तुन्नैरुं तुन्दाना पत्येव जाया ॥ ३ ॥

अर्थ—(अपः वसानाः) जलको अपने साथ लेते हुए (सु-पर्णाः हरयः) उत्तम गतिशील सूर्य किरण (कृष्णं नियानं दिवं) सबका आकर्षण करने वाले सबके यानरूप द्युलोकस्थ सूर्यके प्रति (उत् पतन्ति) चढते हैं। (ते ऋतस्य सदनात्) वे जलके स्थानरूप अन्तरिक्षसे (आववृत्रन्) नीचे आते हैं (आत् इत घृतेन पृथिवीं वि ऊदुः) और जलसे पृथ्वीको भिगाते हैं॥१॥

हे (रुक्मवक्षसः मरुतः) चमकनेवाले हृदयवाले वायुदेवो! (यत् एजथ) जब तुम वेगसे चलते हो तब (अपः ओषधीः) जलों और औषधियोंको (पयस्वतीः शिवाः कृणुथ) रसवाली और हितकारिणी करते हो ! हे (नरः मरुतः) नेता मरुतो! (यत्र च मधु सिंचत) और जहां मधुर जल सींचते हो (तत्र ऊर्जं सुमतिं च पिन्वत) वहां बल देनेवाला अन्न और उत्तम बुद्धि स्थापित करते हो ॥ २ ॥

हे (मरुतः) मरुतो! (तान् उदप्रुतः इयर्त) उन उदकसे भरपूर करने वाले मेघोंको भेजो । (या वृष्टिः) जिनसे होनेवाली वृष्टि (विश्वाः निवतः पृणाति) सब निम्न स्थानोंको भर देती है। (ग्लहा) मेघोंका शब्द (एजाति) सबको कंपित करता रहे, (तुन्ना कन्या इव) जिस प्रकार दुःखित कन्या पिताको कंपित कर देती है तथा वह शब्द (एरुं तुंदाना) मेघको प्रेरित करे, (पत्या जाया इव) जैसी पतिके साथ रहनेवाली धर्मपत्नी गृहस्थीके संसारमें प्रेरणा करती है ॥ ३ ॥

मेघ कैसे बनते हैं ?

सूर्य किरण पृथ्वीके ऊपरका जल हरण करते हैं इस कारण उनको (हरिः,हरयः) ये नाम दिये हैं। वे सब स्थान को पूर्ण करते हैं, इसलिये सूर्य किरणोंको (सु-पर्णाः सुपूर्णाः) कहते हैं अथवा उनकी विशेष गतिके कारण उनको यह नाम मिला है। ये किरण (अपः वसानाः) जलको अपने साथ लेते हैं, मानो जलका वस्त्र पहनते हैं और (दिवं उत्पतन्ति) द्युलोक में— ऊपर आकाशमें— ऊपर जाते हैं। अर्थात् पृथ्वी के ऊपरका जलांश लेकर ये सूर्य किरण ऊपर जाते हैं और (ऋतस्य सदनं) जलके स्थान अन्तरिक्षमें रह कर वहां मेघरूपमें परिणत होकर उन मेघोंसे पृथ्वीपर फिर वृष्टिरूपमें वही जल आता है। अर्थात् जो जल सूर्य किरणसे ऊपर खींचा जाता है वही जल वृष्टिरूपसे फिर पृथ्वीपर आता है। यह कार्य सूर्यकिरणों का है।

यह सूर्यकिरणोंका कार्य सदा होता रहता है, वे समुद्रसे पानी ऊपर खींचते हैं, मेघ बनते हैं और वृष्टि होती है, इस प्रकार जलकी शुद्धि होती है। पृथ्वीपर का जो जल ऊपर बाष्परूपसे खींचा जाता है वह वहां शुद्ध बनकर वृष्टिरूपसे फिर पृथ्वीपर गिरता है, मानो, यह (मधु सिंचथ) मीठे शहद की ही वृष्टि होती है। इस वृष्टिसे (ओ-षधीः शिवाः) हितकारक औषधियां बनती हैं और (पयस्वतीः) उत्तम रसवाली भी बनती हैं। ये औषधियां रोगियोंके शरीरोंमें रहनेवाले दोषोंको (दोष-धीः) धोती हैं और उनको नीरोग बनाती हैं, इन औषधियों और विविध रसपूर्ण अन्नको खानेसे मनुष्य (ऊर्जं सुमतिं च) बल और उत्तम बुद्धिको प्राप्त करते हैं। यदि वृष्टि न हुई तो इन पदार्थोंकी उत्पति नहीं होती और अकाल होता है, इस लिये मनुष्य निर्बल और मतिहीन बनते हैं। इस प्रकार वृष्टिका महत्व कितना है यह देखिये।

पानीसे भरे बादल वायुके द्वारा लाये जाते हैं और उनसे जो वृष्टि होती है वह पृथ्वीपर के तालाव, कूवे, नदियां आदिकों को भर देती है और इस कारण सर्वत्र आनंद फैलता है।

सारांशसे यह इस सूक्तका सार है। पाठक इसका विचार करके वृष्टिके विषयका विज्ञान जानें।

जल।

[२३]

(ऋषिः- शन्तातिः । देवता - आपः)

सस्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्रुषीः ।
वरेण्यक्रतुरहमपो देवी रुप ह्वये ॥ १ ॥
ओता आपः कर्मण्या मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये ।
सद्यः कृण्वन्त्वेतवे ॥ २ ॥
देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

अर्थ— (वरेण्यक्रतुः अहं) प्रशंसित श्रेष्ठ कर्म करनेवाला मैं (तत् सस्रुषीः) उन प्रवाहयुक्त जलधाराओं और (दिवा नक्तं च अपसः सस्रुषीः) दिन रात जलकी धाराओंके प्रवाहोंमें बहनेवाले (देवीः आपः) दिव्य जलको (उपह्वये) पास बुलाता हूं ॥ १ ॥

(ओताः कर्मण्याः आपः) सर्वत्र व्यापक और कर्म करानेवाला जल (प्रणीतये इतः मुञ्चन्तु) उत्तम गतिको प्राप्त करनेके लिये इस निकृष्ट अवस्थासे मुझे छुडावें और (सद्यः एतवे कृण्वन्तु) शीघ्रही प्रगतिको प्राप्त करें ॥ २ ॥

(सवितुः देवस्य सवे) सबकी उत्पत्ति करनेवाले ईश्वरकी इस सृष्टिमें (मानुषाः कर्म कृण्वन्तु) मनुष्य पुरुषार्थ करें। और (अपः ओषधीः) जल और जलसे उत्पन्न हुई औषधियां (नः शं शिवाः च भवन्तु) हमारे लिये कल्याण करनेवाली होवें ॥ ३ ॥

वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला और प्रवाहोंमें बहनेवाला जल सब मनुष्योंको सुख और शान्ति देवे और उस जलसे हृष्ट पुष्ट हुए मनुष्य उत्तम पुरुषार्थ करके उन्नतिको प्राप्त करें।

जल।

[२४]

(ऋषिः-शन्तातिः। देवता—आपः)

हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समह सङ्गमः।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्योत-भेषजम् ॥ १ ॥
यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत्।
आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ २ ॥
सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्य १ स्थन।
दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै ॥ ३ ॥

अर्थ—(आपः हिमवतः प्रस्रवन्ति) जल धारायें हिमालयसे बहती हैं। हे (स-मह) महिमाके साथ रहनेवाले ! (सिन्धौ संगमः) उन का संगम समुद्रमें होता है। वह (देवीः) दिव्य जलधाराएं (मह्यं तत् हृद्योत—(भेषजं ददन्) मुझे वह हृदयकी जलन का औषध देती हैं ॥ १ ॥

(यत् यत् मे अक्ष्योः पार्ष्ण्योः प्रपदोः च) जो जो मेरे दोनों आंखों, एडियों और पावोंमें दुःख (आद्द्योत) प्रकट होता है, (तत् सर्वं) उस सब दुःखको (भिषजां सुभिषक्तमाः आपः) वैद्योंसे भी उत्तम वैद्य रूपी जल (निष्करत्) हटाता है ॥ २ ॥

(सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः) समुद्रकी पत्नियां और सागर की राणियां (याः सर्वाः नद्यः स्थन) जो सब नदियां हैं, वे तुम (नः तस्य भेषजं दत्त) हमें उसकी औषधि दो (तेन वः भुनजामहै) उससे तुम्हारा हम उपभोग करें ॥ ३ ॥

जलचिकित्सा ॥

इस सूक्तमें जलका चिकित्सा धर्म लिखा है। यहां जिस जलका वर्णन है वह जल हिमालय जैसे बर्फवाले पहाडोंसे बहनेवाला है, अन्य नहीं। यह हिमपर्वतोंसे बहनेवाले नद नदि और अन्य झरने बहते हुए समुद्रमें मिल जाते हैं। यह जल हृदयकी जलनको दूर, करनेवाला है।

आंख, पीठ, एडी, पांव आदि स्थानकी पीडा भी इस जलसे दूर होती है। यह जल (भिषजां सुभिषक्तमाः) वैद्योंसे भी उत्तम वैद्य, और औषधोंसे भी उत्तम औषधी है।

ये सब नदियां महासागरकी स्त्रियां हैं, इनके जलप्रवाहोंमें औषध भरा पडा है, इसका उपयोग मनुष्योंको करना उचित है। यह नदीके जलप्रवाहका तथा सागरके जलका भी गुण हो सकता है।

जलका उपयोग किस प्रकार करना चाहिये यह बात इसमें स्पष्ट नहीं हुई है। तथापि जलचिकित्साके विषयकी खोज करते समय इस सूक्तका बहुत उपयोग हो सकता है।

कष्टोंको दूर करनेका उपाय।

[२५]

(ऋषिः— शुनःशेपः। देवता-मन्त्रोक्ताः)

पञ्च च या पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ १ ॥
सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ २ ॥
नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ ३ ॥

अर्थ— (पंच च याः पञ्चाशत् च) पांच और पचास जो पीडाएं (मन्याः अभि संयन्ति) गलेके भागमें होती हैं, (सप्त च याः सप्ततिः च) सात और सत्तर जो पीडाएं (ग्रैव्याः अभि संयन्ति) कण्ठके भागमें होती हैं तथा (नव च याः नवतिः च) नौ और नव्वे जो पीडाएं (स्कंध्याः अभि संयन्ति) कन्धेके ऊपर होती हैं (इतः ताः सर्वाः) यहांसे वे सब पीडाएं (नश्यन्तु) नष्ट हो जावें (अपचितां वाकाः इव) जिस प्रकार पूजनीय सज्जनोंके सन्मुख साधारण लोकोंके वचन नष्ट होते हैं॥ १-३ ॥

मनुष्य शुद्ध बने और अपनी शुद्धतासे अपने कष्टों, आपत्तियों और दुःखोंको दूर करें। जिस प्रकार ज्ञानीके सन्मुख मूर्खकी वक्तृता नहीं ठहरती, उसी प्रकार पवित्र मनुष्यके पास रोग और दुःख नहीं ठहरते।

पापी विचारका त्याग करो।

[२६]

(ऋषिः—ब्रह्मा। देवता-पाप्मा)

अव॑ मा पाप्मन्त्सृज व॒शी सन् मृ॑डयासि नः ।
आ मा॑ भ॒द्रस्य॑ लो॒के पा॑प्मन् धे॒ह्यवि॑ह्रुतम् ॥ १ ॥
यो नः॑ पाप्म॒न् न जहा॑सि॒ तमु॑ त्वा जहिमो व॒यम् ।
प॒थाम॑नु व्या॒वर्त॑ने॒ऽन्यं पा॒प्मानु॑ पद्यताम् ॥ २ ॥
अ॒न्यत्रा॒स्मन्न्यु॑च्यतु सहस्रा॒क्षो अम॑र्त्यः ।
यं द्वेषा॑म॒ तमृ॑च्छतु॒ यमु॑ द्वि॒ष्मस्तमिज्ज॑हि ॥ ३ ॥

अर्थ—हे (पाप्मन्) पापी विचार ! (मा अवसृज) मुझे छोड दे। (वशी सन् नः मृडयासि) वशमें करता हुआ तू हमें सुख देता है, ऐसा प्रतीत होता है। हे (पाप्मन्) पापी विचार (भद्रस्य लोके) कल्याणके स्थान में (मा अविन्हुतं आधेहि) मुझे अकुटिल अवस्थामें रख ॥ १ ॥

हे (पाप्मन) हे पापी विचार ! (यः नः न जहासि) जो तू हमें नहीं छोडता है, (तं त्वा उ वयं जहिम) उस तुझको हम छोड देते हैं। (पथां अनु व्यावर्तने) मार्गोंके अनुकूल घुमाव पर (पाप्मा अन्यं अनु पद्यतां) पापी विचार दूसरेके पास चला जावे ॥ २ ॥

(सहस्र-अक्षः अमर्त्यः) हजार आंखवाला और न मरनेवाला यह पापी विचार (अस्मत् अन्यत्र नि उच्यतु) हमसे भिन्न दूसरे स्थानमें चला जावे। (यं द्वेषाम तं ऋच्छतु) जिसका हम द्वेष करते हैं, उसकेपास जावे, (यं उ द्विष्मः तं इत् जहि) जिसका हम द्वेष करते हैं उसका नाश कर ॥ ३ ॥

पापी मन ।

पापी मन होनेसे सब प्रकारके शारीरिक, इंद्रिय संबंधी तथा मानसिक आदि कष्ट होते हैं। इसलिये मनसे पापी संकल्प सबसे प्रथम दूर करने चाहिये, मन शुद्ध हुआ तो सब दुःख दूर होसकते हैं।

पापी विचार मनमें उत्पन्न होते हैं, मनुष्यको वशमें करते हैं और थोडे प्रयत्नसे अधिक सुख प्राप्त करा देनेके प्रलोभनसे, अर्थात् सुख देनेके प्रलोभनसे फंसाते हैं। इस लिये इनसे बचना चाहिये।

यदि पापी विचार मनसे स्वयं दूर नहीं हुआ, तो उसको प्रयत्नसे दूर करना चाहिये ऐसा करनेसेही प्रगतिके मार्गकी अनुकूलता होसकती है। तात्पर्य पापी विचार दूर करके चित्तको शुद्ध करनेसेही उन्नतिका सच्चा मार्ग खुला हो सकता है।

पापी विचार हजार आंखवाला है, इसलिये वह हमारी न्यूनता और कमजोरी झटपट जानता है और उस मार्गसे अन्दर प्रविष्ट होता है। शरीर क्षीण होनेपर भी वह पापी विचार क्षीण नहीं होता, इसलिये उसको प्रयत्नसे दूर करना चाहिये। पापी विचारको दूर करनेसे अन्दरकी पवित्रता होगी और पवित्रतासे सब कष्ट दूर होंगे। यह आत्म-शुद्धिद्वारा उन्नति प्राप्त करनेका मार्ग है।

कपोत-विद्या।

[२७]

(ऋषिः—भृगुः। देवता–यमः, निर्ऋतिः)

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन् दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१॥
शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥२॥
हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने।
शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु।
मा नो देवा इह हिंसीत् कपोतः ॥३॥

अर्थ- हे (देवाः) देवो! (इषितः निर्ऋत्याः दूतः कपोतः) भेजा हुआ दुर्गतिका दूत कपोत (यत् इच्छन् इदं आजगाम) जिस की इच्छा करता हुआ इस स्थानके प्रति आया है। (तस्मै अर्चाम) उसकी हम पूजा करते हैं और उससे (निष्कृतिं करवाम) दुःखनिवारण हम करते हैं। (नः द्विपदे चतुष्पदे शं अस्तु) हमारे दो पांववालों और चार पांव वालों के लिये शान्ति होवे ॥ १ ॥

(इषितः कपोतः नः शिवः अनागाः अस्तु) भेजा हुआ कपोत हमारे लिये कल्याणकारी और निष्पाप होवे। हे (देवाः) देवो! (नः गृहं शकुनः)

हमारे घरके प्रति वह शुभसूचक होवे। (विप्रः अग्निः हि नः हविः जुषतां) ज्ञानी अग्नि हमारा हवि लेवे और (पक्षिणी हेतिः नः परि वृणक्तु) पंख-वाला यह हथियार हमसे दूर होवे ॥ २ ॥

(पक्षिणी हेतिः अस्मान् न दभाति) पंखवाला यह हथियार हमें न दबावे। (आष्ट्री अग्निधाने पदं कृणुते) अगटीके अग्निके पास यह अपना पांव रखता है। (नः गोभ्यः उत पुरुषेभ्यः शिवः अस्तु) हमारे गौओं और मनुष्योंके लिये यह कल्याणकारी होवे। हे (देवाः) देवो! (कपोतः इह नः मा हिंसीत्) यह कपोत यहां हमारी हिंसा न करे ॥ ३ ॥

कबूतर दूरदूर देशसे वार्ता लानेका कार्य करता है। यह हानिकारक वार्ता न लावे। शुभ वार्ता लावे, इस विषयमें यह प्रार्थना है। कबूतर के अंदर यह गुण है कि वह सिखानेपर कहांसे भी छोडा जाय तो सीधा घरपर आता है। प्रवासी लोग ऐसे शिक्षित कबूतर अपनेपास रखते हैं और जहां जाना होता है, वहां जाकर उस कबूतर के गलेमें चिट्ठी बांधकर उसको छोड देते हैं। वह छोडा हुआ कबूतर घर आता है और घर-वालोंको प्रवासीका संदेश पहुंचाता है।

इस सूक्तके निर्देशोंसे पता लगता है कि, इस कपोतविद्यामें और भी अधिक बातें हैं, जिनसे यह कबूतर बुरा और भला भी बन सकता है। परंतु इसका पता अभीतक नहीं लगा है। यह सूक्त कुछ पाठभेदसे ऋ० १०।१६५। १—३ में है, परंतु वहां देखनेसे भी इसपर विशेष प्रकाश नहीं पडता है। अतः खोज करनेवाले पाठकोंको उचित है कि इस विषयकी खोज वे करें और इस विद्याका आविष्कार करें।

इसी विषयका अगला सूक्त है वह अब देखिये—

[२८]

(ऋषिः— भृगुः । देवता-यमः, निर्ऋतिः)

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः ।
सं लोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात् पथिष्ठः ॥ १ ॥
परीमे ऽग्निमर्षत परीमे गामनेषत ।
देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति ॥ २ ॥
यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः ।
यो ऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥

अर्थ— (ऋचा प्र-नोदं कपोतं नुदत) मंत्रके द्वारा भेजने योग्य कपोत को भेजो। हम तो (इषं मदन्तः) अन्नको प्राप्त करके आनंदित होते हुए (दुरिता पदानि संलोभयन्तः) और पापके चिन्हरूपी इसके अशुभ पादचिन्होंको मिटाते हुए (गां परिनयामः) गौको चारों ओर ले जाते हैं। (ऊर्जं हित्वा) जल स्थानको छोडकर (पथि-ष्ठः प्रपदात्) मार्गमें स्थित प्रवासी आगे चला जावे ॥ १ ॥

(इमे अग्निं परि अर्षत) इन्होंने अग्निको प्राप्त किया है, (इमे गां परि अनेषत) इन्होंने गौको प्राप्त किया है। और (देवेषु श्रवः अक्रत) देवोंमें यश संपादन किया है। अब (कः इमान् आ दधर्षति) कौन इन लोगोंको भय दिखा सकता है ? ॥ २ ॥

(यः प्रथमः) जो पहिला (बहुभ्यः पंथां अनुपस्पशानः) अनेकोंके लिये मार्गोंका निश्चय करता हुआ (प्रवतं आससाद) योग्यमार्ग प्राप्त करता है (यः अस्य द्विपदः) जो इसके दो पांववालों और (यः चतुष्पदः ईशे) जो चार पांव वालोंके ऊपर स्वामित्व करता है, (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उस मृत्यु देनेवाले यमको नमस्कार है ॥ ३ ॥

वार्ताहर कबूतरको मंत्रका पवित्र उच्चार करके और ईश्वरकी प्रार्थना करके पवित्र इच्छासे भेजो। कभी घातक इच्छासे न भेजो। हम गौओंको पालते हैं, उत्तम अन्नके सेवनसे आनंदित होते हैं और पापवासनाओंको दूर करते हैं; इस लिये हमारा प्रवासी सुखपूर्वक आगे बढता जायगा। इसमें संदेह नहीं है।

जो प्रतिदिन अग्निमें हवन करते हैं, गायका सत्कार करते हैं और यश बढानेवाला पुण्यकर्म करते हैं, उनको डरानेका सामर्थ्य किसीमें भी नहीं होता है। इस लिये मनुष्य इस उपायसे अपने आपको कष्टोंसे बचा सकता है।

यमका अधिकार द्विपाद और चतुष्पाद सबपर समान है। वह सब लोगोंके मार्गको अर्थात् जीवनके मार्गोंको यथावत् जानता है। इसलिये उस यमको सब मनुष्य नमस्कार करें।

यह आशय इन तीनों मंत्रोंका है। इसमें बीचके मंत्रमें जो कहा है कि सत्कर्म करने वालोंको कोई डरा नहीं सकता, वह बात हरएकको विशेष लक्ष्यमें रखनी चाहिये। अगला सूक्तभी इसी विषयका है, वह अब देखिये—

[२९]

(ऋषिः- भृगुः। देवता—यमः, निर्ऋतिः)

अमून् हेतिः पतत्रिणीन्येतु यदुलूको वदति मोघमेतत्।
यद् वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति ॥ १ ॥
यौ ते दूतौ निर्ऋत इदमेतोऽप्रहितौ प्रहितौ वा गृहं नः।
कपोतोलूकाभ्यामपदं तदस्तु ॥ २ ॥
अवैरहत्यायेदमा पपत्यात् सुवीरताया इदमा ससद्यात्।
पराङेव परा वद पराचीमनु संवतम्।
यथा यमस्य त्वा गृहेऽरसं प्रतिचाकशानाभूकं प्रतिचाकशान् ॥३॥

अर्थ- (पतत्रिणी हेतिः अमून् नि एतु) पंखवाला हथियार इन शत्रुओंको नीचे करे। (उलूकः यत् वदाति मोघं एतत्) जो उल्लू बोलता है वह व्यर्थ है। (यत् वा कपोतः अग्नौ पदं कृणोति) अथवा जो कबूतर अग्निके पास पांव रखता है वह भी व्यर्थ है, अर्थात् उससे कोई अशुभ नहीं होगा ॥ १ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (यौ प्रहितौ अप्रहितौ ते दूतौ) जो भेजे हुए अथवा न भेजे हुए तेरे दोनों दूत (नः इदं गृहं आ इतः) हमारे घरको आते हैं; (कपोतोलूकाभ्यां तत् अपदं अस्तु) कपोत और उल्लूके द्वारा वह पद रखने योग्य न होवे, अर्थात् कोई अशुभ की सूचना देनेवाले प्राणी हमारे घरोंमें पांव न रखें ॥ २ ॥

(अ-वैरहत्याय इदं आपपत्यात्) हमारे वीरोंकी हत्या न होनेकी सूचना देनेवाला यह होवे। (सुवीरतायै इदं आ ससद्यात्) हमारे वीरोंके उत्साहके लिये यह सुचिन्ह होवे। (पराङ् पराची अनुसंवतं) नीचे अधोवदन करके अनुकूल रीतिसे (परा एव वद) दूरसे बोल। (यथा यमस्य गृहे) जिस प्रकार यमके घरमें (अरसं त्वा प्रतिचाकशान) निर्बल हुआ तुझे लोक देखें। (आभूकं प्रति चाकशान) केवल आया हुआ ही तुझे देखें अर्थात् तू शत्रुदूत असमर्थ होकर यहां रह ॥ ३ ॥

ये सभी सूक्त बडे दुर्बोध हैं। कबूत, उल्लू आदिकों से किस प्रकार अनिष्ट सूचनाएं मिलती हैं यह कहना कठिन है। परंतु इन सूक्तोंमें ऐसा प्रतीत होता है कि अपने वीर शत्रुपर हमला करनेको जब जाते हैं तब वे अपने साथ कबूतर लेजाते हैं और वहांका

संदेश अपने घरमें अथवा अपने राष्ट्रमें भेज देते हैं। यह शुभ संदेश प्राप्त होवे और अपने वीरोंके मृत्यु आदिका, अथवा अपने पराजयका संदेश न प्राप्त हो। इस विषयकी प्रार्थनाएं इन मंत्रोंमें हैं। परंतु इन सूक्तोंका विषय खोजकाही विषय है। इसलिये इन सूक्तोंपर अधिक लिखना असंभव है।

शमी औषधि।

[३०]

(ऋषिः—उपरिबभ्रव। देवता—शमी)

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ १ ॥
यस्ते मदोऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि।
आरात् त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह ॥ २ ॥
बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि।
मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि ॥ ३ ॥

अर्थ—(देवाः मधुना संयुतं इमं यवं) देवोंने मधुरतासे युक्त इस यव धान्यको (सरस्वत्यां अधि मणौ अचर्कृषुः सरस्वतीके तटपर मणि जैसी उत्तम भूमिमें बोनेके लिये बार बार हल चलाया। वहां (शतक्रतुः इन्द्रः सीरपतिः आसीत्) शतक्रतु इन्द्र हलका स्वामी था और (सुदानवः मरुतः कीनाशाः आसन्) उत्तम दानी मरुत् किसान थे ॥ १ ॥

हे (शमि) शमी औषधि! (यः ते मदः) जो तेरा आनन्ददायक रस (अवकेशः विकेशः) विशेष केश बढानेवाला है (येन पुरुषं अभिहस्यं कृणोषि) जिससे तू पुरुषको बडा हर्षित करती है। इस लिये (त्वत् अन्या वनानि आरात् वृक्षि) तेरेसे भिन्न दूसरा जंगल मैं तेरे समीपसे हटाता हूं, (त्वं शतवल्शा विरोह) तू सेकडों शाखावाली होकर बढती रह ॥२॥

हे (बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्धे शतावरि शमि) बडे पत्तोंवाली उत्तम तेजस्वी, वृष्टिसे बढी, शतावरि शमि! (माता पुत्रेभ्य इव) माता पुत्रोंके लिये प्यार करनेके समान (केशेभ्यः मृड) केशोंके लिये सुख दे ॥ ३ ॥

खेती ।

प्रथम मंत्रमें जौ नामक धान्य बोनेके लिये भूमी को उत्तम हल चलाकर तैयार करनेका विधान है । यह तो सर्वसाधारण खेतीके लिये ही उपदेश है ऐसा समझना चाहिये । जहां इंद्र हल चलाता है और मरुत् खेत करते हैं; वहां वह कार्य मनुष्योंको करनेमें कोई संकोच नहीं होना चाहिये । अर्थात् खेतीका कार्य दिव्य कार्य है वह मनुष्य अवश्य करें ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि शमी का रस आनंद देता है और बालोंको बढाता है इसलिये इससे लोग बडे हर्षित होते हैं । अतः शमी वृक्षके आसपास उगनेवाले अन्य वृक्ष हटाने चाहिये जिससे शमीका वृक्ष अच्छी प्रकार बढ जावे । यहां उद्यान का एक उत्कृष्ट नियम कहा है । जो वृक्ष बढाना हो उसके आसपास कोई जंगल बढाने नहीं देना चाहिये । इससे उसकी उत्तम वृद्धि होती है ।

तृतीय मंत्रमें शतावरी और शमी की प्रशंसा है । इससे केशोंको बडा लाभ होता है । इस सूक्तका विचार वैद्य अवश्य करें । इनसे बालोंकी रक्षा और वृद्धि किस प्रकार होती है इसी बातका विचार होना चाहिये ।

चन्द्र और पृथ्वीकी गति

[३१]

(ऋषिः-उपरिबभ्रवः । देवता-गौः)

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥
अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः ।
व्यख्यन्महिषः स्वः ॥ २ ॥
त्रिंशद् धामा वि राजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत् ।
प्रति वस्तोरहद्युभिः ॥ ३ ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ- (अयं गौः) यह गतिशील चन्द्रमा (मातरं पुरः असदत) अपनी माता भूमिको आगे करता है और (पितरं स्वः च प्रयन्) अपने पिता

रूपी स्वयं प्रकाशी सूर्यकी चारों ओर घूमता हुआ (पृश्निः आ अक्रमीत्) आकाशमें आक्रमण करता है ॥ १ ॥

(अस्य रोचना) इसकी ज्योती (प्राणात् अपानतः) प्राण और अपान करनेवालोंके (अन्तः चरति) अंदर संचार करती है और वह (महिषः स्वः वि अख्यत्) बडे स्वयं प्रकाशी सूर्य को ही प्रकाशित करती है ॥ २ ॥

(वस्तोः त्रिंशत धामा) अहोरात्रके तीस धाम अर्थात् मुहूर्त्त (अहः द्युभिः प्रतिविराजति) निश्चयसे इसके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं। उसकी प्रशंसाके लिये (वाक् पतंगः अशिश्रियत्) हमारी वाणी सूर्यका आश्रय करती है ॥ ३ ॥

चंद्र भूमिकी चारों ओर भ्रमण करता है और भूमिसहित चन्द्र सूर्यकी चारों ओर घूमता है। इस प्रकार भूमिसहित चन्द्र सूर्यकी प्रदक्षिणा करता है और अपने मार्गसे आकाशमें संचार करता है।

इसके किरण सब स्थावरजंगमके ऊपर प्रकाशित होते हैं और वे सूर्य प्रकाशके महत्त्व को व्यक्त करते हैं।

अहोरात्रके तीस मुहूर्तोंमें इसीका प्रकाश सबको तेजस्वी बनाता है। इसलिये इस सूर्यकी प्रशंसा हमारी वाणीको करनी योग्य है ॥

रोगक्रिमिनाशक हवन।

[३२]

(ऋषिः— १,२ चातनः; ३ अथर्वा। देवता–अग्निः)

अ॒न्त॒र्दा॒वे जु॑हु॒ता स्वे॑३॒॑तद् या॑तुधा॒न॒क्षय॑णं घृ॒तेन॑ ।
आ॒राद् रक्षां॑सि॒ प्रति॑ दह॒ त्वम॑ग्ने॒ न नो॑ गृ॒हाणा॒मुप॑ तीतपासि ॥ १ ॥

रु॒द्रो वो॑ ग्री॒वा अश॑रैत् पिशाचाः पृ॒ष्टीर्वोऽपि॑ शृणातु यातुधानाः ।
वी॒रुद् वो॑ वि॒श्वतो॑वीर्या य॒मेन॒ सम॑जीगमत् ॥ २ ॥

अभ॑यं मित्रावरुणावि॒हास्तु॑ नो॒ऽर्चिषा॒त्त्रिणो॑ नुदतं प्र॒तीचः॑ ।
मा ज्ञा॒तारं॒ मा प्र॑ति॒ष्ठां वि॑दन्त मि॒थो वि॑घ्ना॒ना उप॑ यन्तु मृ॒त्युम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (एतत् यातुधानक्षयणं) यह पीडा देनेवालोंका नाश करनेवाला हवि (अन्तः दावे) अग्निकी प्रदीप्त अवस्थामें (सु जुहुत) उत्तम प्रकार हवन करो। हे अग्ने! (त्वं रक्षांसि आरात् प्रतिदह) तूं राक्षसोंको समीपसे और दूरसे जला दे। और (नः गृहाणां न उप तीतपासि) हमारे घरोंको न ताप दे ॥ १ ॥

हे (पिशाचाः) पिशाचो! (रुद्रः वः ग्रीवाः अशरैत्) रुद्रने तुम्हारी गर्दनोंको तोड डाला है। हे (यातुधानाः) यातना देनेवालो! (वः पृष्टीः अपि शृणातु) वह तुम्हारी पसलियोंको भी तोड डाले। (विश्वतोवीर्या वीरुत्) अनंत वीर्योंवाली औषधिने (वः यमेन समजीगमत्) तुमको यम के साथ संयुक्त किया है ॥ २ ॥

हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण! (नः इह अभयं अस्तु) हमारे लिये यहां अभय होवे। (अर्चिषा अत्रिणः प्रतीचः नुदतं) अपने तेजसे भक्षक शत्रुओंको दूर हटा दो। (मा ज्ञातारं) ज्ञानीको वे न प्राप्त करें। कहीं भी वे (मा प्रतिष्ठां विन्दत) स्थिरताको न प्राप्त हों। वे (मिथः विघ्नानाः मृत्युं उपयन्तु) आपसमें एकदूसरेको मारते हुए वे सब मृत्युको प्राप्त हों ॥ ३ ॥

रोगनाशक हवन।

रोगके कृमियोंका नाश करनेवाला हवन प्रदीप्त अग्निमें उत्तम विधिपूर्वक करनेका उपदेश इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें किया है। इस से शरीरभक्षक सूक्ष्म रोगक्रिमि नाशको प्राप्त होते हैं! क्रिमी ये हैं—

१ (पिशाचाः) मांसकी क्षीणता करनेवाले, रक्त की क्षीणता करनेवाले,

२ (यातुधानाः) शरीरमें यातना, पीडा उत्पन्न करनेवाले,

३ (राक्षसः=क्षरासाः) क्षीणता करनेवाले, और

४ (अत्रिणः=अदन्ति इति) शरीर भक्षण करनेवाले ये रोगजन्तु अग्निमें किये हवनसे तथा—

५ (विश्वतो वीर्या वीरुत) अत्यंत गुणवाली वनस्पतीके प्रयोगसे क्षीण होते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं।

ईश्वरका प्रचण्ड सामर्थ्य ।

[३३]

(ऋषिः—जाटिकायनः । देवता—इन्द्रः)

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः ।
इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥ १ ॥
नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः ।
पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शवः ॥ २ ॥
स नो ददातु तां रयिमुरुं पिशङ्गसंदृशम् ।
इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा ॥ ३ ॥

अर्थ- हे (जनाः) लोगो! (अस्य तुजे) इस प्रभुके बलमें (इदं रजः) यह लोकलोकान्तर, (वनं स्वः) यह वन अर्थात् पृथ्वी और यह स्वर्ग (आ युजः) संयुक्त हुआ है। इतना (इन्द्रस्य बृहत् रन्त्यं) इस प्रभुका बडा रमणीय सामर्थ्य है ॥ १ ॥

(धृषितः) पराजित हुआ शत्रु (धृषाणः शवः न आधृषे) हरानेवाले के बलकी बराबरी नहीं कर सकता और न (आदधृषे) उसको हरा सकता है। (यथा पुरा व्यथिः) जिस प्रकार पहिले पीडासे थका हुआ शत्रु (इन्द्रस्य श्रवः शवः न आधृषे) प्रभुके प्रशंसनीय बलको गिरा नहीं सकता ॥ २ ॥

(इन्द्रः जनेषु तुविष्टमः पति आ) ईश्वर सब जन्म लेनेवालोंसे भी बडा समर्थ प्रभु है। (सः नः तां रुरुं पिशङ्गसदृशं रयिं ददातु) वह हम सबको उस बडे सुवर्णसदृश धनको देवे ॥ ३ ॥

इसके सामर्थ्यसे यह भूलोक, अन्तरिक्ष लोक और स्वर्ग लोक रहे हैं। ऐसा प्रचण्ड सामर्थ्य उस प्रभुका है। कोई शत्रु उस प्रभुका पराजय नहीं कर सकता, क्यों कि उसकी शक्ति ही विलक्षण प्रभावशाली है। सब उत्पन्न हुए पदार्थोंसे वह प्रभु अधिक समर्थ है, इसलिये वह हमें उत्तम धन देवे ॥

योगमीमांसा

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्र

संपादक—श्रीमान् कुवलयानंद जी महाराज।

कैवल्यधाम आश्रममें योग शास्त्र की खोज हो रही है जिस खोजका परिणाम आश्चर्यजनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होता है। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र रहते हैं।

वार्षिक चंदा ७); विदेशके लिये १२ शि० प्रत्येक अंक २) रु.

श्री. प्रबंधकर्ता-योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट लोणावला, (जि. पुणे)

ईश उपनिषद

ईश उपनिषद् की सरल और सुबोध व्याख्या इस पुस्तकमें है। प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका है। पश्चात् काण्व और वाजसनेयी संहिताके पाठ दिये हैं। पश्चात् मंत्रका पद पदार्थ और विस्तृत टिप्पणी है और तत्पश्चात् विस्तृत विवरण है। अन्तमें ईशोपनिषद् के मंत्रोंके साथ अन्य वेदमंत्रोंके उपदेश की तुलना की है। इस प्रकार ईशोपनिषद् का स्वाध्याय करनेके लिये जितने साधन इकट्ठे करने चाहिये उतने सब इस पुस्तकमें इकट्ठे किये हैं। इतना होनेपर भी मूल्य केवल १) है और डा. व्य.।) है। जिल्द अच्छी बनाई है।

मंत्री— स्वाध्याय मंडल,
औंध
(जि. सातारा)

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में

प्रत्येक का मूल्य २॥

रखा गया है। उत्तम लेखों और चित्रों से पूर्ण ...ी रू देखनेलायक है। नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता। व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है। ज्यादह हकीकत के लिये लिखो.।

मैनेजर— व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

वैदिक उपदेश माला

जीवन शुद्ध और पवित्र करनेके लिये बारह उपदेश हैं। इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगी मूल्य ॥) आठ आने डाकव्यय -) एक आना)

मंत्री- स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	,, ।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	,, १।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	,, ।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	,, १)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	,, ॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	,, ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।)	" ।)
१२ राजधर्मपर्व	[७७–८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)

कुल मूल्य ४५) कुल डा. व्य. ८ =

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, जि० सातारा

R. NO. B. 1463

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ११
अंक २
क्रमांक १२२

माघ
संवत् १९८६
फर्वरी
सन १९३०

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष ११

अंक २

क्रमांक १२२

माघ संवत् १९८६

फर्वरी सन १९३०

वैदिक धर्म.

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

सबका चालक देव।

तव स्याम पुरुवीरस्य शर्मन्नुरुशंसस्य वरुण प्रणेतः ।

यूयं नः पुत्रा अदितेरदब्धा अभिक्षमध्वं युज्याय देवाः ॥

ऋग्वेद २।२८।३

" हे (प्र-णेतः वरुण) सबको चालना देनेवाले श्रेष्ठ देव ! (पुरुवीरस्य उरुशंसस्य तव शर्मन् स्याम) अतिशूर और विशेष प्रशंसनीय ऐसे तेरे आश्रयसे हम रहें। हे अन्य (देवाः) देवो ! (यूयं अदितेः अदब्धाः पुत्राः) तुम अदीनताके न दबनेवाले सुपुत्र हो, इसलिये (युज्याय अभिक्षमध्वं) तुम्हारी मित्रता करनेके हेतु हमारे दोषोंके लिये हमें क्षमा करो। "

सब जगत्को चालना देनेवाला एक श्रेष्ठ देव सबसे श्रेष्ठ है। वह सबसे श्रेष्ठ, समर्थ, शूर और प्रशंसाके योग्य है। सब लोग उसी के आश्रयसे रहें और उसी को अपना आधार समझें। इसके अतिरिक्त उसकी शक्तिसे कार्य करनेवाले सूर्यादि अनेक देव हैं। वे स्वयं अदीन हैं और दूसरों की दीनता दूर करनेवाले हैं। इन सब देवोंसे मित्रता करनेके जो इच्छुक हैं वे अपना आचरण शुद्ध रखें। यदि किसी समय अशुद्धियां हो गईं तो उनके दोष निवारणार्थ मनसे प्रभुकी क्षमा प्रार्थना करनी योग्य है। प्रार्थना करनेपर वह देव क्षमा करेगा और आगे का मार्ग भी बतावेगा।

ठगोंसे सावधान !

सर्व सज्जनोंको और खास करके स्वाध्याय मंडलके प्रेमियोंको सूचना दी जाती है कि वे किसी भी ऐसी व्यक्तिपर, जोकि स्वाध्याय मंडल के नामसे वा मेरे नामसे धन वा अन्य किसी पदार्थकी सहायता मांगती हो, तब तक विश्वास न करें, जब तक कि आप सीधा मेरेसे पत्र व्यवहार करके उसके विषयमें पूरा पूरा पता न कर लें। आज कल कई ठक अपने आपको झूठमूठ स्वाध्याय मंडल का सहायक वा वैदिक धर्मका संपादक बताते हुए लोगोंको ठग कर स्वाध्यायमंडलको बदनाम करनेमें लगे हुए हैं।

हालमें हमारे पास अंबाला शहर निवासी श्री. पं. रामचंद्र जी, हेडमास्तर आर्य हैस्कूल का पत्र आया है तथा जलंधर शहर निवासी श्री. पं. रामचन्द्र शर्माजी M. A. प्रोफैसर डी. ए. वी. कॉलेज जलंधर का भी पत्र आया है, और भी कई पत्र आगये हैं जिनसे पता चलता है कि कोई " वासुदेव सदाशिव जोशी M. A. " नामकी व्यक्ति अपने आपको " वैदिकधर्म " मासिक का संपादक बताता हुआ लोगोंसे धन और पुस्तकें ठगता फिरता है। इससे पूर्व भी इस प्रकारका कार्य किसी अन्य व्यक्तिने किया था। उसके बाद यह दूसरा उदाहरण है।

इसलिये हम सब सज्जनोंसे स्पष्ट रूपसे बता देना चाहते हैं कि हमारा इस व्यक्तिसे कोई संबंध नहीं है और हमें यह भी मालूम नहीं कि यह व्यक्ति कौन है। यहां औंधमें इस नामकी व्यक्ति कभी थी नहीं और न किसी समय स्वाध्याय मंडलमें इस नामकी व्यक्ति थी। अतः सर्व सज्जनोंसे और स्वाध्याय मंडलके प्रेमियोंसे प्रार्थना है कि वे ऐसी व्यक्तियोंसे सावधान रहें और ऐसी व्यक्तियोंके फन्दोंमें भविष्यमें न फंसे।

परमेश्वर ऐसी दुष्ट व्यक्तियोंसे सज्जनोंको बचावें।

(२)

वी० पी० का डर।

लोग वी. पी. से पुस्तकें मंगवाकर वी. पी. वापस क्यों करते हैं यह हमारे समझमें नहीं आता। हमने उनका कोई नुकसान इस जन्ममें किया नहीं है, पूर्व जन्मका पता हमें नहीं है, जिसका बदला वे लेते हों तो उनका परमेश्वर भला करे। परंतु स्वाध्याय मंडल संस्थाको तो पूर्व जन्म था ही नहीं, फिर इस धार्मिक संस्थाका ये सज्जन क्यों नुकसान करते हैं, यह हमारे समझमें नहीं आता। यदि किसी को पता हो तो वे कृपा करके हमें बतावें। इस मास में ये वी. पी. यां वापस आगई हैं-

१ श्री. चौ० ...... मथुरा। पुस्तकोंका मूल्य १० ॥=) डा. व्यय १)

२ पं. सा०...... सिमला। पुस्तकोंका मूल्य२ ॥) डा. व्य. ॥)

३ म. गिर० ...... लखनौ। " ५।) " ॥)

४ बाबु B. S. ...... बिलासपुर। " ३=) " ।=)

५ म. द्वार० ...... हरदा। " ३=) " ।=)

६ म बल० ... ... रायपुर। २।=) ।-)

इनके अतिरिक्त छोटी वी. पी. यां करीब १५ वापस आगई हैं। किसीके पूर्ण नाम और पते हमने दिये नहीं है क्यों कि हमारा नुकसान करने पर भी उनकी बेइज्जती करना हमें अभीष्ट नहीं है, परंतु इनके नामोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग बडे हैं। वी. पी. वापस करनेका कारण इनसे पूछा, परंतु इन्होंने उत्तर देनेकी भी कृपा नहीं की।

अब पाठक कहें कि हम क्या करें ?

प्रबंधकर्ता-स्वाध्यायमंडल, औंध.
जि. सातारा.

अमेरिका को खोजनेवाला प्रथम हिन्दी धर्मवीर।

(ले०- श्री· मोहिनीराज मुले M. A. औंध)

देड हजार वर्ष पूर्व भारतीय धर्मप्रचारकने अमेरिका को सर्व प्रथम ढूंढ निकाला था !

भाग्य का वसतिस्थान ;

रुक्मिणीने भाग्य देवताले पूछा; "हे भाग्य-देवता, तूं कहां रहती है ?"

भाग्य-देवताने निम्नलिखित नितांत मननीय और रमणीय उत्तर दिया—

" वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे।
दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने।
अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे।
जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्वे।
न अकर्मशीले पुरुषे वसामि।
न नास्तिके सांकरिके कृतघ्ने। "
(लक्ष्मीरुक्मिणीय संवाद)

" अच्छे और बुद्धिमान मनुष्यों में मेरा निवास है। कुशल तथा स्व-कर्तव्यों में तत्पर ऐसे मनुष्य-मेरा वास है। जो क्रोधी नहीं है, जो कृतज्ञ है, जो देवतापर श्रद्धा रखता है, जो जितेन्द्रिय है, और जो शक्तिमान है ऐसे मनुष्यों में मेरा नित्य निवास रहता है। मैं उन मनुष्यों में निवास नहीं करती जो कर्तव्यको नहीं जानता; जो नास्तिक हैं, जो संकर से उत्पन्न हुआ है और कृतघ्न है। "

पुरुषार्थ का इतिहास।

प्राचीन साहसी और सच्चे पुरुषार्थी आर्य लोगों ने अपनी अतुल कर्तव्य-क्षमता से और सत्कृती-से जो कुछ इतिहास रख छोडा है,और पृथ्वी माता द्वारा विलक्षण अध्यवसाय से जिसकी रक्षा हुई है वह पुरुषार्थ का इतिहास एक दृष्टि से वास्तव में अपौरुषेय एवं अलौकिक है। प्रत्यक्ष परमेश्वर ने जिसके लिए स्फूर्ति दी थी और जिसे प्राचीन आर्योंने अप्रतिम कर्तृत्वशक्ति से घटित किया उसको पृथ्वी माताने बडे प्रयत्न से इस प्रकार सुरक्षित रखा कि चंगीजखां, तैमूरलंग जैसे सैंकडों विध्वंसक राजा हो गए; परन्तु उन्हे अपने राक्षसी दुष्ट कृतियों से भी वह इतिहास मिटाते न बना !! प्राचीन भारतवासियों के ऐसेही साहस पराक्रमों का इतिहास अमेरिका के मेक्सिको देशमें उपलब्ध होने लगा है —

अमेरिका का खोजकारी प्रथम आर्य धर्म वीर।

अर्वाचीन इतिहास बतलाता है कि अमेरिका महाद्वीप कोलंबस ने ढूंढ निकाला। कोलंबस का उचित बडप्पन तो मानना ही होगा। परन्तु" कोलंबस से भी हजार वर्ष पूर्व साहसी भारतीय बौद्ध भिक्षुओं ने अमेरिका का पता चलाया, वहां उपनिवेश स्थापित किया, वहां के धर्मानभिज्ञ लोगों में अपने धर्म का प्रसार किया, उनकी जंगली रीतिरस्मों को नष्ट किया, किसीका भी खून न बहा कर केवल भूतदयासे और मनुष्यता से उन अपढ एवं उजड्ड अमेरिकनों का सच्चा सुधार किया। "

इस प्रकार का सुसंबद्ध इतिहास यदि पूर्णतया उपलब्ध हो जावे- जैसा की वह आज दैवयोग से उपलब्ध हुआ है -तो हम लोगों को तथा सारे संसार को भी उस समय के कर्तृत्ववान, साहसी पराक्रमी, और सौजन्य से प्रेरित हुए " भारतीय धर्म प्रचारकों का " बडप्पन उतने ही किंबहुना उससे भी अधिक खुले दिलसे मानना आवश्यक है।

भूमिसेन का मार्ग।

आजकल इटली तथा स्पेन के इतिहासज्ञों में एक मजे का विवाद हो रहा है। इटालियन इतिहासज्ञ कहते हैं कि " कोलंबस इटालियन था "। स्पॅनिश इतिहासज्ञ तारस्वर से प्रतिपादन करते हैं कि "कोलंबस निःसंदेह स्पॅनिश था "। इटलीने निश्चय किया है कि कोलम्बस का जन्मस्थान ' जिनोआ ' था और उसका कुटुम्ब ' लिग्यूरियन ' था। इसके विपरीत स्पेन ने प्रमाणसहित सिद्ध किया है कि कोलंबस का जन्म " पाण्टे वेड्रा " गांव में " कॅस्टीलीयन " कुटुम्बमें हुआ। माँ मेरी आन्द्रे नामक फ्रेंच इतिहासज्ञ लिखते हैं कि कोलंबसने अमेरिका को ढूंढ निकालाही नहीं।

अमेरिका के शोधक के संबंध में इस प्रकार का विवाद एक ओर यूरप में जारी है और उधर अमेरिका में खोज करने से प्रकट हो रहा है कि अमेरिकाका पहलेपहल पता चलानेवाला एक भारतीय था। उस खोज का स्वरूप इस प्रकार है -

भारतीय धर्म-प्रचारक।

' जॉन फ्रायर ' नामके एक विख्यात मेक्सिकन इतिहास संशोधक हैं। इतिहास संशोधन करते करते उन्हे मेक्सिको और मध्य अमेरिका में कुछ बौद्ध धर्मीय अवशेष मिले हैं जो अतीव महत्व के हैं। इन अवशेषों का अवलोकन करके और सूक्ष्म अभ्यास करके आपने एक निर्णयात्मक ऐतिहासिक सिद्धान्त निकाला है कि कोलंबस के पूर्व करीब हजार वर्ष याने इसवी सन की पांचवीं शताब्दि में ' हूई सेन ' (भूमिसेन) नाम के विद्वान, साहसी भारतीय धर्म भिक्षुने अमेरिका महाद्वीप को प्रथम ढूंढ निकाला और उसने इस संबंध का सुसंबद्ध इतिहास भी लिख रखा है।

'हूईसेन' (भूमिसेन) उस समय के अहिगणस्थान (अफगानिस्थान) में स्थित काबुल नगर का निवासी था। उस समय अफगानिस्थान में आर्यधर्मीयों का राज्य था। गांधार देश में भी आर्यों का ही निवास था। बौद्धधर्मप्रसार का पवित्र कार्य करते हुए "भूमिसेन' सारे संसार में घूमा। इस भ्रमण में उसे अमेरिका महाद्वीप का पता चला। वहां भी उसने बौद्धधर्म का जयध्वज फहराया। चीन के 'लीआंग' घराने में जो प्राचीन ऐतिहासिक कागजात अबतक रक्षित हैं उनके आधार पर तथा सुप्रसिद्ध चीनी इतिहास लेखक "माशूअन लिंग" के लेख से भी इस भारतीय भूमिसेन की यही बात सिद्ध होती है।

छोटी और मामूली जहाज में ही ' भूमिसेन' ने अपनी यात्रा की थी। 'कुराइल' और 'अल्यूशिन' द्वीपोंके रास्ते से ही भूमिसेन अमेरिका पहुंचा था। जापान और अमेरिकाके बीचमें स्थित ये द्वीप, ईसवी की पांचवीं शताब्दि के पूर्वसे ही, भारतीय और चीनी लोगोंको विदित थे। बहुत लम्बे स्थलमार्गसे अर्थात् मध्य एशिया में से प्रायः कामश्चाटका द्वीपमें से बेरिंग का मुहाना लांघ कर अमेरिका में जाने के अपेक्षा 'कूराइल अल्यूशियन 'के जलमार्ग से अमेरिका को जाना अधिक पास का एवं अधिक सुखावह था। प्रायः उसी सुगम मार्ग से उस समय के भारतीय धर्मवीर आर्य भिक्षु यात्रा करते थे। मालूम होता है अमेरिका महाद्वीप के अस्तित्व का पता 'कूराइल' और 'अल्यूशियन' द्वीपके निवासियोंने ही प्रथम इन भिक्षुओं को दिया होगा।

मेक्सिको के पेसिफिक किनारेपर तथा मध्य में जो प्राचीन लेख मिले हैं उनमें, चीनके प्राचीन ऐतिहासिक कागजातों में, तथा चीन के प्राचीन पुराण कथाओं में भी इस प्रकार उल्लेख मिलता है कि "चीन देश के पूर्वमें बीस हजार 'ली' के अंतर पर अर्थात् करीब छः हजार मैल की दूरीपर अथवा तीन हजार कोस की दूरीपर एक बडा महाद्वीप है"। यह महाद्वीप अमेरिका ही है। अमेरिका महाद्वीप का प्राचीन चीनी नाम 'फूशांग' (पुष्पांग) महाद्वीप आहे।

भूमिसेन भिक्षुने स्वतः जो वर्णन लिखा है उससे मालूम होता है कि चीन सम्राट् 'जंग जुवन्' के राजत्वकाल में अर्थात् सन् ४९९ में भूमिसेन ने पृथ्वीपर्यटन किया था। इस यात्रा में उसने चार वर्ष व्यतीत किए। इस बीचमें चीन में एक राज्यक्रांति हुई। सन ५०३ ई० में कुछ मूल्यवान रेशमी वस्त्र और कुछ आइने लेकर भूमिसेन स्वदेश को लौटा।

मालूम होता है भूमिसेन के पहले याने सन४५८ के करीब पांच बौद्ध भिक्षु अहिगणस्थानसे(अफगानिस्थान से) चलकर फूशांग महाद्वीप-पुष्पांगदेशको-अर्थात् अमेरिका को गए थे। उन्होंने मूलनिवासियों को बौद्धधर्म की दीक्षा दी, लिखना पढना सिखलाया, धर्मग्रंथ का प्रसार किया, बुद्ध की मूर्ति की स्थान स्थान में स्थापना की और बुद्ध की उपासना सिखलाकर वहां के गँवार लोगों की रीतिरस्मों में तथा व्यवहार में बहुत ही सुधार किए।

"भूमिसेन" का लिखा हुआ अतिप्राचीन पुष्पांग-अमेरिकन- लोगों का वर्णन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। भूमिसेन लिखता है:— "पुष्पांग देश के लोग केकताड के तंतुओं से रेशम निकालते हैं और उस वनस्पतिजन्य रेशम के सुन्दर वस्त्र बुनते हैं। पुष्पांग महाद्वीपमें तांबा बहुतायत से मिलता है। वहाँ लोहा नहीं मिलता। वहाँ सोना और चांदी की संपत्ति वा विनियोग के नाते कोई कीमत नहीं है। बाजार खुले में लगते हैं और वहां सब पदार्थ मिलते हैं। परंतु पदार्थ की कोई निश्चत कीमत या निश्चित 'मोल-मान' नहीं है। पुष्पांग लोगों के बडे बडे नगर तो है ही नहीं और वे किले भी नहीं बनवाते।" स्मरण रहे की भूमिसेन का किया हुआ यह प्राचीन मेक्सिको का वर्णन आजकल मेक्सिको में खोज के पश्चात् मालूम हुए वर्णन से पूर्णतया मिलता है।

मेक्सिकोके निवासियों में एक दंतकथा प्रचलित है। इस दंतकथा से भी निश्चित होता है कि भूमिसेन सचमुच पुष्पांग (अमेरिका) महाद्वीप को गया था वह दंतकथा इस प्रकार है:—

"एक गौरवर्ण का अलौकिक व्यक्ति देश में आया। वह पैर तक लंबा गेरुए रंग का चोगा पहिने

था । उस पर एक उत्तरीय था । इस बडे धर्मगुरूने शिक्षा दी कि दुष्कर्मों से परावृत्त होओ और संपूर्ण जीवन सात्विकतासे और सत्कृतिसे बिताओ। इतिहास के नियम के अनुसार जल्द ही इस विभूति का छल होने लगा। एकबार तो इस महात्माके जान पर भी बीती । तब वह साधु पुरुष अपने लोकोत्तर सामर्थ्य से एकाएक अदृश्य हुआ । आगे चलकर लोगों को अपने दुष्ट कार्यों का पछावा हुआ। और बहुत दुःखित हो उन्होने उस धार्मिक पुरुषकी खोज आरंभ की । उस पुरुष का तो पता न चला परन्तु पासही के—आजकल के दक्षिण केलिफोर्निया के ' मॅगडॅलेन ' गांव के पास पर्वत- शिखर पर उसका पदचिन्ह दिखाई दिया । उस स्थान पर लोगों ने उसके उपकारों का स्मरण रखने के लिए उस सत्पुरुष की एक मूर्ति खडी की । "

शब्द सादृश्य ।

मेक्सिको के प्राचीन पुरुषों के, वस्तुओं के, और स्थानोंके नामों का सूक्ष्म अवलोकन करें तो विदित होगा कि वे नाम भारतीय हैं । उदाहरणः "गौतम" और " शाक्य " ये भगवान बुद्ध के भारतीय नाम हैं । इन्हीं नामों की ध्वनि अनेक मेक्सिकन नगरों के प्राचीन नामों से निकलती है ।

' ग्वातिमाला ' अर्थात् ' गौतमालय ' है ।

' ओआ-शक ' शब्द से " शाक्य " ध्वनि निकलता है ।

' शाकामट्सिन' में 'शक्यमती' दिखाई देती है ।

' शाकापुलुस ' याने ' शाक्यपुरी ' है ।

' शकटेशस् ' से 'शकदेश ' मालूम होता है ।

' टेशाक ' वह ' तीर्थशाक ' होना संभव है ।

ऐसेही अनेक शब्दसाम्य और अर्थसाम्य दिखाई देंगे । अस्तु । भारतीय प्राचीन इतिहास-संस्कृति-संशोधकों को इन उपरोक्त विधानों का तथा शब्दार्थसाम्य का सूक्ष्म विचार करके अपना ऐतिहासिक निर्णय प्रसिद्ध करना चाहिए ।

मेक्सिको के ' पलेंक ' ग्राम के पास एक बुद्ध की मूर्ति मिली है । मूर्ति के नीचे भाग में ' शाकमूल ' (Chaac mol) नाम खुदा है " शाकमूल" से " शाक्यमुनी " की मूर्ति स्पष्ट दिखाई देती है । तिब्बत में धर्मगुरू को लामा कहते हैं । प्राचीन मेक्सिकन भाषा में ' धर्मवर्चस' को 'लामा '(Tiama ही शब्द है । प्राचीन मेक्सिकन मंदिर,उसकी मूर्तियां, समाधि, उनके लेख और शिल्पावशेष आदि से विदित होता है कि देड हजार वर्ष पूर्व मेक्सिको में बौद्ध धर्म का खासा प्रचार था । ' पलेंक' नगर के पास दो सिंहोंपर आसन लगाए और एक सिंह की मूर्ति मिली है । ' चंपेश ' (Campache) गांव के पास एक बडी भारी बुद्धमूर्ति दिखाई दी है । मंगल अवसर पर बौद्ध-धर्म-गुरु जिस प्रकार का परिवेश धारण करते हैं ठीक वैसा ही परिवेश इस मूर्तिपर पूर्णतासे दिखलाया है । ' उष्मल (Uxmal) गांव के प्राचीन मंदिर के आरों में भी नाना प्रसंग की और विलक्षण रीति से खुदी हुई अनेक बुद्ध-मूर्तियां मिली हैं । पेरिस के एनोंग्रेफिकल (मानव-वंश-शास्त्रकी) संस्था के पदार्थ-संग्रहालय में इसी प्रकार की एक प्राचीन मेक्सिकन बुद्धमूर्ति रखी हुई है ।

करीब देड हजार वर्ष पूर्व के, अहिगणस्थानमें जो भारतवर्ष का एक प्रमुख भाग माना जाता था, स्थित काबूल के ' भूमिसेन ' का उपरोक्त अक्रोधन साहन, जितेंद्रिय कर्तव्यदक्षता और हिन्द-भू तथा हिन्दी बौद्धधर्म की कर्मशील सेवा आधुनिक उत्साही युवक भारतीयों को उत्तेजना दे रही है। भारतीय नवयुवक उससे उचित उपदेश अवश्य लेंगे । भाग्यदेवताने रुक्मिणी को जो भाग्य रहस्य बतलाया वह भूमिसेन की जीवनी में हम निःसंदेह देख रहे हैं । उस गौरवपूर्ण प्राचीन काल में भूमिसेन जैसे लाखों भारतीय युवक साहस और पराक्रम निरसलता से करते थे । इसीसे हिन्दभूमाता उस समय भाग्यशाली थी ।

—o—

पाण्डवोंकी उत्पत्ति।

(लेखकः— श्री० अ० शं० कोल्हटकर; मेढा.)

इस लेखमें पाण्डवोंकी उत्पत्तिपर विचार कर, उससे कौनसा बोध लेना उचित है यह प्रदर्शित किया जायगा।

पांडु को शाप।

एक समय पाण्डु मृगयाके लिये वनमें गया। घूमते फिरते उसने एक मैथुनमें आसक्त मृगयुग्मको देखा और पांच शरोंसे दोनोंको विद्ध किया। वह मृग एक रूपांतरित ऋषिकुमार था। उसने मरणोन्मुख दशामें पांडुको शाप दिया कि " हे राजा मैथुनावस्थामें भी तूने मुझे निर्दयतासे मारा है। अतः तूभी मैथुनमें आसक्त होतेही मर जायगा।"

ऋषिपुत्रका मृगरूप धारण करना यह काव्यमें तो संभव है, इतिहासमें नहीं। यह शाप पण्डुके मृत्युका काव्यमय कारण था न कि वास्तविक। पाण्डवोंके चरित्रका पण्डुकी रुग्णावस्थासे आरंभ है और परीक्षित् की मृत्यु उसकी समाप्ति है। इस अवधीमें आदिसे अंततक की सब महत्त्वपूर्ण घटनाएं शाप-वरादि दैवी कारणोंसे घटित हुई हुई, अद्भुत और असामान्य थी ऐसा महाभारतकर्ता को दिखाना था। रुग्णावस्थाके पूर्व और उस समय भी असंयमी होनेके कारण पण्डु मर गया था। मृग-शापका वृत्तान्त, पण्डुके मृत्युका दैवी कारण दर्शानेवाली कवी की रचना है। पण्डु और परीक्षित् दोनों के शापवृत्तान्तका एकही हाल है।

क्षयरोगसे ग्रस्त होनेके कारण पुनः आरोग्य प्राप्त करनेको पंडु हिमालयपर आकर रहा था। अबतक वो पांडु संतानहीन था ही, किंतु इसके आगे भी स्वयं संतान निर्माण करना उसके लिये रोगके कारण असंभव था। पण्डु भली भांति जानता था कि पुत्र संतानहीन पुरुष के लिए स्वर्गद्वार नहीं खुल सकता, वह पितृ-ऋणसे मुक्त नहीं हो सकता, और अतएव उसे मरणोत्तर सद्गति की आशा न थी। अपुत्रक राजाको नियोगसे क्षेत्रज पुत्र पैदा करनेकी प्रथाका पण्डु स्वयंही उदाहरण बना। उसी का स्मरण कर पण्डु अपनी धर्मपत्नी कुन्ती को कहता है— " हे कुन्ति, लोकोंमें प्रतिष्ठा पानेका एक मात्र साधन अपत्य ही है ऐसे धर्मज्ञ-जन कहते हैं। असंयमी होनेके कारण मेरी स्वीय जनन- शक्ति तो नष्ट हुई है। अतः तू किसी श्रेष्ठ तपस्वी ब्राह्मणसे मिलकर मेरे लिये सुयोग्य पुत्रसंतान पैदा कर।" पण्डु का समय पांच हजार वर्ष के पूर्वकालका था। एक राजा को वीर पुत्र पानेके लिए अपनी धर्मपत्नी को ऐसी नियोगके लिये आज्ञा देनी तत्कालीन नीति कल्पनाके विरुद्ध नहीं थी। विचारने की बात तो यह है कि उस कालके राजे लोगोंको पुत्रप्राप्ति की इतनी बडी इच्छा क्यों हुआ करती थी? मानवी जीवन के विकासकी दृष्टिसे औरस संतान का महत्त्व है ही, और राजाको अपने पश्चात् राजाका राष्ट्र रक्षणका कर्तव्य करनेके लिये वीर पुत्रोंकी आवश्यकता भी है। किंतु येन केन प्रकरेण एक पौनर्भव वा कानीन, दत्त वा क्रीतसरिखा एक पुत्र पानेसे क्या हो सकता है? हां, यज्ञों के द्वारा देवोंकी सहायता करनेवाला एक प्रतिनिधि पैदा कर, निवास भूमि स्वर्ग लोकमें स्थान पाना' उसके भोग भोगना' एक ऐसा प्रयोजन दीख पडता है कि जिससे तत्कालीन राजाओंके पुत्रप्राप्तिके लिए लालायित होना समझमें आ सकता है।

कुन्तीका उत्तर, एक आदर्श आर्य स्त्रीके सदृश उचित है। देखिए। " हे नरेश, अपने अनुरक्त धर्मपत्नी को ऐसा कहना आपको युक्त नहीं। आपके सिवाय अन्य पुरुषका संग मैं कल्पना में भी नहीं सह सकती।" पर पाठक! ध्यानमें रखिए कि यह भावप्रदर्शन महाभारतकर्ताका है न कि ऐतिहासिक कुन्तिका। उसने तो इसके बिलकुलही विरुद्ध आचरण किया था। इसके लिये पूर्वेतिहास देखिए।

कुन्ति राजा शूरकी औरस और कुन्तिभोजनकी कृतक कन्या थी। विवाहके पूर्व कुन्ति भोजके यहां वह अतिथि-सत्कार-क्रिया में नियुक्त हुई हुई रहती थी। एकदा अतिथि होकर आये हुए दुर्वास को उसने संतुष्ट किया और उससे देवोंको बुला लेनेका अभिचार-मंत्र प्राप्त किया। एक मूर्ख ब्राह्मणने कुमारी राजकन्या को अभिचार-कर्म सिखाया और उससे जो हानि हो सकती थी वह हुई। कुन्तीकी उस समयकी अवस्था का वर्णन उद्योगपर्व अध्याय १४४, २० से २४ श्लोकों में देखिये। " कुन्तीभोजके अंतःपुरमें मैं पुनः पुनः अनेक प्रकार सोचती थी, किन्तु मेरा हृदय (कामविकार की पीडासे) फूट रहा था। दुर्वासके मंत्रका कोई प्रभाव होगा या नहीं इस विषयमें मुझे संशय था। मेरी इच्छा पूर्ण होनेपर भी पिताका चारित्र्य कलंकित न हो, यह मैं पुनः पुनः सोचती थी। मेरी विस्रब्ध धात्री सब कुछ गुप्त रखेगी और मेरा सखीजन मुझे उचित सहाय देगा यह मैं जानती थी। सो आखिर मेरा बालपनका स्त्रीभाव प्रबल हो उठा और मैंने सूर्य देव को बुला लिया। इस संबंधसे कुन्ती को कौमार्यावस्था में ही वसुषेण (कर्ण) प्राप्त हुवा और लोक लज्जाके कारण उसने उसे एक संदूक में रखकर नदी में बहा दिया। पाठक! यह दोष तो है ही। फिर भी कुन्तीकी अपेक्षा उसके यौवनावस्था का और सापेक्ष स्वाधीनता का यह प्रमाद था ऐसा कहना अनुचित न होगा। कन्या को यदि अविवाहित अवस्थामें यौवन प्राप्त हो और यदी वह स्वतंत्र भी हो, तो ऐसा प्रमाद होना अपरिहार्यसा होता है।

कुन्तीका उत्तर सुनकर पण्डूने उसे श्वेतकेतूके पूर्व कालकी स्त्रियां कैसा बर्ताव करती थीं, श्वेतकेतुने एक पतित्व, एक पत्नीत्व और पुत्र प्राप्त्यर्थ नियोग ये तीन मर्यादाएं कैसी निर्माण की, और उसके अनुसार सौदास के नियोग से उसकी पत्नी मंदयंतीने वसिष्ठसे अश्मक नामक पुत्र पूर्व कालमें कैसे पाया था यह विस्तरशः कहा। कुरुवंश की वृद्धिके लिये अपना भी जन्म नियोग से ही हुवा इसका स्मरण दिया। और किसी तपस्वी श्रेष्ठ ब्राह्मणसे सुयोग्य पुत्र पानेकी अपनी पूर्व प्रार्थना पुनः हाथ जोडकर दुहराई। इसपर कुन्तीने दुर्वासासे वर पाने की कथा सुनाई और कहा आप चाहे तो मैं देवोंसे वीरपुत्र पा सकती हूं। पतीके आज्ञानुसार किसी तपस्वी भू देवसे संतान पाने की अपेक्षा खुद देवोंसे ही वीरपुत्र पैदा करना कुन्तीको पूर्वानुभवके कारण अधिक पसन्द आया। पाठक अब देखिए। धर्म विमानमें बैठ कर आता है (योगमूर्तिधर) कुन्तीसे मिलता है और युधिष्ठिर की उत्पत्ति होती है। वायुदेव मृगपर आरूढ होकर आता है, और इन्द्र भी वैसे ही आता है। इधर आकाशस्थ सूर्य, श्रुति स्मृति पुराणोक्त धर्म, विश्वव्यापी वायु और वेदोंमें वर्णित इन्द्र ये मनुष्यरूप धारण करते हैं और पुत्रोत्पत्ति करते है ऐसा समझना एक बडी भारी भूल होगी। पांच हजार वर्षोंमें नीतिकल्पनामें कोई भी परिवर्तन न होना असंभव है। और उस कालकी एक घटना इसने दीर्घ अनुभवसे अनुचित ठहरी तो भी आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु काव्य कल्पनाके भ्रम में रहना उचित नहीं। क्यों कि उससे महाभारत सरीखा इतिहास ग्रंथ पढकर भी पूर्वानुभवसे सुधार कर वर्तमान काल में बर्ताव करना और भावी उत्कर्ष जोडना यह इतिहास के अध्ययन का फल ही विफलसा होता है।

अब देखना है कि पाण्डवोंके उत्पत्ति प्रकार का परिणाम क्या हुआ। बालपन से ही धार्तराष्ट्रों की अपेक्षा पाण्डवों में एक विशेषतासी दिखाई देती थी। जिसका कारण महाभारत कर्ताने नहीं बताया है। किन्तु है उनका देववीर्यसे निर्माण होनेमें। इसी हेतुसे धृतराष्ट्र और धार्तराष्ट्र उनका घोर विद्वेष करते थे। अन्यथा पाण्डवोंने उनका वैसा कोई भी अन्याय नहीं किया था, जिसके लिये वे उनको लाक्षागृहमें जलानेका और खाण्डव प्रस्थमें असुरादिकोंको उनका बलि देनेका प्रयत्न करें। सारांश धार्तराष्ट्रों और पाण्डवोंके विद्रोह का और परिणामतः भारतीय युद्ध द्वारा अखिल क्षत्रियोंके घोर क्षयका मूल कारण था पाण्डवोंके उत्पत्तिमें। जो पण्डूने वंशवृद्धिके लिये किया वह राष्ट्रक्षयको कारण हुवा। क्या पाठक इससे कोई उचित बोध ले सकते हैं?

---o---

जय इतिहास का महत्त्व।

पूर्वानुसन्धान।

यह ' जय ' नामक इतिहास कुन्ती देवीने धर्मराजको साम्राज्य प्राप्त करनेका उपदेश करनेके लिये कहा था। युधिष्ठिर आदि पांडव वीर शत्रुओंके शुष्क वचनोंपर विश्वास न करें, प्रत्युत अपने बाहुबलसे शत्रुओंका पराजय करके अपना छीना हुआ साम्राज्य पुनः प्राप्त करें, यह कुन्ती देवीके इस उपदेशका तात्पर्य था। अर्थात् इसी हेतुसे यह जय इतिहास कहा गया था। भगवान् श्रीकृष्ण पांडवोंकी ओर से साम्राज्यमदसे घमंडी बने हुए कौरवोंसे अन्तिम बातचीत करनेके लिये हस्तिनापुर राजधानीमें आये थे। कौरवोंने पांडवोंसे वस्तुतः कपटनीतिसे ही राज्य छीन लिया था, और राज्य छीन लेनेके समय पांडवोंसे कहा ही था कि, आपकी प्रतिज्ञा पूर्ण होते ही आपका राज्य आपको वापस दिया जायगा। भोले पांडव समझ रहे थे कि, सम्राट् दुर्योधन अपने वचनानुसार प्रतिज्ञा पूर्ण होनेके पश्चात् अपना राज्य वापस देंगे। इस विश्वाससे वे अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेमें तत्पर रहे थे। राज्य छीना जानेके पश्चात पाण्डव प्रथम " द्वैतवन " (आपसके कलह रूपी जंगल) में कुछ समय व्यतीत करते रहे। इस द्वैतभावसे कुछ लाभ नहीं होगा, इस आपसी द्वेष के कारण तो शत्रुकाही बल बढ जायगा, यह अनुभवसे जानकर वे द्वैतवनसे उठे और " अद्वैतवन " (आपसकी एकता के रमणीय वन) में विराजे। वहां उन्होंने आपस की संघटना की, आपस के विरोध किसी न किसी प्रकारसे हटादिये और अपनी शक्ति बढाने लगे। अर्जुन ने अपूर्व शस्त्रास्त्र प्राप्त करने का उद्योग किया, भीमने बल बढाया, नकुलसहदेव ने

अपना शासनकौशल्य बढाया और धर्मराजने यज्ञयागोंमें ब्राह्मणोंका अत्यधिक सत्कार करके अपने मित्रोंकी संख्या बढाई। यदि पाण्डव " अद्वैतवन " में न आकर " द्वैतवन " में अपना सब समय व्यतीत करते, तो उनको यह लाभ प्राप्त न होता। इस प्रकार अपनी संघटना करके बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासकी कठोर प्रतिज्ञा पूर्ण करके पांडव प्रकट हुए।

जिनका साम्राज्य छीना जाता है, उनमें प्रायः प्रथम आपस के कलह बढते हैं। बहुत समय के पश्चात् उनको पता लगता है कि, आपस का कलह अपना ही नाश करता है, तब वे लोग आपसकी संघटना करने लग जाते हैं और आपसके विद्वेष हटा देते हैं। इसके पश्चात् जिस प्रमाणमें उनमें अपना बल बढ जाता है, उसी प्रमाणसे उनके पास स्वराज्य आने लगता है। पाण्डवोंके इतिहास में भी यही बात हम देखते हैं।

जब प्रतिज्ञा पूर्ण हुई तब कईयों को विश्वास था कि, दुर्योधन और उनके मंत्रीगण पांडवोंको राज्यभाग वापस करेंगे। कईयोंका मत था कि, युद्धके विना साम्राज्य कभी वापस नहीं मिल सकता। इसका निश्चय करनेके लिये ही श्रीकृष्णभगवान दुर्योधनकी राजसभामें आये थे और वहां उन्होंने कहा कि " पाण्डवोंने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की है, आप अब अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेके लिये पाण्डवोंका राज्य उनको वापस दीजिये।"

सम्राट् दुर्योधन से राजसभामें उत्तर मिला कि " युद्धके विना रतिभर भी भूमि नहीं मिलेगी " यहां सब जनता को पता लगा कि सम्राटोंके वचन कुछ और ही माने रखते हैं। जैसा हाथीके दांत दिखानेके अलग और खानेके अलग होते हैं, ठीक उस प्रकार सम्राटोंके तथा उनके मंत्रियोंके वचनोंका दिखावटी अर्थ कुछ और होता है और उसका असली आशय कुछ अन्य ही होता है। " प्रतिज्ञा पूर्ण होने के पश्चात् राज्य वापस किया जायगा। " यह सम्राट का वचन था, इसका अर्थ ऐसा था कि– " प्रतिज्ञा पूर्ण की जावे या न की जावे, साम्राज्य वापस मिलेगा नहीं, युद्ध के विना कभी स्वराज्य नहीं मिलता। जो समझते हैं कि सम्राटोंके वचन अटल वचन हैं, वे भ्रममें हैं। सम्राट् अपना साम्राज्य बढानेके लिये समयानुसार मीठे वचन बोलते ही हैं, परंतु वे पालन करनेके लिये बाधित नहीं हैं। "

इस कौरव सम्राट्के वचनभंग से उस समयकी भोली जनताको राजनीतिका एक

महत्त्वपूर्ण पाठ मिल गया । यह पाठ लेकर श्रीकृष्णभगवान् वापस युधिष्ठिरके पास जा रहे थे । वापस होनेके पूर्व माता कुन्ती देवीजीसे मिले और पूछा कि " तुम्हारा संदेश युधिष्ठिर के लिये क्या है?" इस समय यह जय इतिहास कुन्ती देवीने कहा और श्रीकृष्णसे कहा कि " यही मेरा सन्देश है, यह धर्मराजसे कहो, धर्मराज इस के अनुसार आचरण करें और युद्ध करके अपना स्वराज्य अपने बल से कमावे ।"

जय इतिहासका सारांश ।

सौवीर देशका एक राजा था, उसकी महाराणी विदुला थी, उसका एक पुत्र था जो पिताके पश्चात् राजगद्दीपर आया था । सिंधुदेशमें दूसरा एक राजा था, उसने अपने प्रबल सैन्यके साथ सौवीर देशपर चढाई करके, सौराष्ट्र राजाका पराभव किया और उसका राज्य अपने साम्राज्यमें मिला दिया। इस कारण सौवीरके राजवंशके लोग, रानियां, तथा राजनिष्ठ मंत्रीगण सब वहांसे भागे और जहां स्थान मिला, वहां छिप गये । राष्ट्र पराधीन होगया, सज्जन लोग दुःखी हुए, और सर्वत्र उदासीनता छाई गई। स्वराज्य प्राप्त करनेका कोई उपाय विचारमें भी नहीं आता था । सिंधु राजाका सैन्यबल बडा, उसके वीर बडे शूर, उसका इंतजाम कडा था, इसकारण उसका साम्राज्य उलटा देना अशक्य बात है, ऐसा सब मानने लगे । सिंधुपतिराजाने सौवीर का संपूर्ण राज्य अपने आधीन कर लिया था, इसलिये ओहदेदारीके मिषसे, व्यापारके निमित्तसे, कला कुशलताके हेतुसे, तथा अन्यान्य कार्योंके मिषसे सिंधु देशके लोग सौवीरमें आकर कार्य करने लगे थे, और उस कारण सौराष्ट्र प्रतिदिन निर्धन होता जाता था और सिंधुदेश धनवान होता था । पहिले पहिले सौवीर देशके वीरोंने कुछ स्वराज्य स्थापनेके लिये प्रयत्न किये, परंतु वे सब विफल होगये । पश्चात् सभी सौवीरके जन मानने लगे 'चलो, स्वराज्य होना अब मुष्कील है, इसलिये सिंधुदेशके साम्राज्यके नीचे रहकर सुराज्यका लाभही हम लेंगे।' ऐसा विचार करके स्वराज्यप्राप्तिका यत्न करनाभी उन्होंने छोड दिया था । जो पूर्ण स्वातंत्र्यप्राप्तिके इच्छुक थे, वे विदेशमें जा फंसे थे, क्योंकि स्वदेशमें रहना उनके लिये असंभव हुआ था । सिंधुराजाके कडे कानूनोंके कारण और कठोर प्रबंधके कारण वे अपने देशमेंभी सुखसे रह नहीं सकते थे। जो दुर्बल थे वे तो सिंधुराजासे खुशामद करके रहते थे, अथवा जो भी कुछ नौकरी मिल जाती थी, उसीपर संतुष्ट रहते थे । सिंधुराजाने सौवीरके कई लोगोंको धन देकर वश किया था, कईयोंको अपने भृत्यकार्य देकर खुश किया था, कईयोंको भूमी देकर

संतुष्ट किया था, कईयोंको सिंधुदेशकी कुमारियोंके जालमें फंसा दिया था और शेष रहे मनुष्योंको कडे प्रबंधसे दूर रखा था ! सिंधुदेशकी सुंदर कन्याओंके साथ विहार करना भाग्यका चिन्ह है, ऐसा सौवीर देशके लोग मानने लगे थे, यहांतक सौवीर देशकी गिरावट होचुकी थी। विदेशी राज्य होनेसे ऐसा हुआही करता है। सिंधुवीरोंके पीछे हाथ जोडकर चलना और जो कुछ उनसे प्राप्त हो उसमें संतुष्ट होना, सौवीर देशके लोगोंका कार्य हुआ था। परराज्य होनेसे जो जो हानियां होना संभव थी, वह सब हानियां सौवीर देशके लोग अनुभव कर रहे थे। इतना होनेपर भी वे आपसका संगठन करनेमें दत्तचित्त न थे और स्वराज्य प्राप्तिका प्रयत्नभी जितने स्वार्थत्यागसे करना आवश्यक था, उतने त्यागसे वे करते नहीं थे। महाराज्ञी विदुलादेवीका पुत्र जो वास्तवमें सौवीर देशका राजा था, हताश और निरुत्साह होकर उदासीनतामें अपना समय बिता रहा था। ऐसी अवस्थामें विदुला देवीने अपने पुत्रको पास बुलाकर जो उपदेश किया था, वही यह "जय इतिहास" है। इस दृष्टिसे देखनेसे इस उपदेशका महत्त्व ध्यानमें आसकता है। यह जय इतिहास जब विदुलाकी ओजस्वी वाणीसे उसके पुत्रने सुना, तब वह स्वराज्यप्राप्ति के लिये प्रयत्न करनेके उद्देश्यसे कटिबद्ध हुआ और सिंधुपतिका पराभव करके, स्वराज्य प्राप्त करके आनंदका भागी बना। स्वराज्य प्राप्त होनेसे सौवीर देशके लोग पूर्ववत् सुखी होगये। यह जय इतिहास श्रवणका फल है। ग्रंथ लेखकके शब्दोंमें ही इस फल का वर्णन देखिये—

जय इतिहास सुनने सुनानेका फल ।

इदमुद्धर्षणं भीमं तेजोवर्धनमुत्तमम् ।
राजानं श्रावयेन्मन्त्री सीदन्तं शत्रुपीडितम् ॥ १७ ॥
जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ।
महीं विजयते क्षिप्रं श्रुत्वा शत्रूंश्च मर्दति ॥ १८ ॥
इदं पुंसवनं चैव वीराजननमेव च ।
अभीक्ष्णं गर्भिणी श्रुत्वा ध्रुवं वीरं प्रजायते ॥ १९ ॥
विद्याशूरं तपःशूरं दानशूरं तपस्विनम् ।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमानं साधुवादे च संमतम् ॥ २० ॥
अर्चिष्मन्तं बलोपेतं महाभागं महारथम् ।
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ॥ २१ ॥

नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम् ।
ईदृशं क्षत्रिया सूते वीरं सत्यपराक्रमम् ॥ २२ ॥
जय इति० अ० ४

" यह जय इतिहास उत्साह बढानेवाला, वीरता उत्पन्न करनेवाला और तेजस्विता वृद्धिंगत करनेवाला है, इस लिये शत्रुसे पीडित हुए राजाको उसका मंत्री यह जय इतिहास सुनावे। जिस समय राजा यह आख्यान सुनेगा, उसी समय वह विजय प्राप्ती के लिये यत्न करनेके लिये कटिबद्ध हो जायगा। इतना उत्साह उस राजामें भर देनेका सामर्थ्य इस इतिहासमें है। जो जय प्राप्त करनेका इच्छुक है उसको यह इतिहास अवश्य सुनना चाहिये। जो सुनता है, वह शत्रुको परास्त करनेका उत्साह प्राप्त कर सकता है और स्वप्रयत्नसे यशस्वी भी हो सकता है। इस जय इतिहास के सुननेसे वीर पुत्र तथा वीर पुत्री उत्पन्न हो सकती है, इस लिये गर्भिणी स्त्रीको यह इतिहास अवश्य सुनना चाहिये। जो गर्भिणी स्त्री इस को पढेगी या सुनेगी उसको वीर संतान उत्पन्न होगी। विद्वान, तपस्वी, दानी, ब्राह्मतेजसे युक्त, सज्जनों द्वारा संमानित, तेजस्वी, बलिष्ठ, महाभाग्यशाली, महारथी, महावीर, धैर्यशाली, न डरनेवाला, विजयी और पराजित न होनेवाला, दुष्टोंका दमन करनेवाला, धार्मिक पुरुषोंकी रक्षा करने वाला पुत्र गर्भिणी स्त्रीके उदरसे उत्पन्न होता है, जो गर्भवती रहनेकी अवस्थामें इस आख्यान का श्रवण करती है।"

यह इस इतिहास के श्रवण का महात्म्य है। यह इतिहास पराधीन लोगोंको स्वतंत्रता देनेवाला, भीरुओंको निडर बनानेवाला, पराजित हुए लोगोंको पुनः विजय देनेवाला है, इस कारण जो लोग पारतंत्र्यके कीचडमें फंसे हैं, वे इसका योग्य मनन करें और उचित बोध प्राप्त करके स्वाधीनताके भागी बनें।

पुरातन इतिहास।

यह जय इतिहास अतिपुरातन है। पांडवोंके समय भी यह इतिहास पुरातन कहा जाता था, हम पांडवोंके इतिहास को पुराणा इतिहास कहते हैं, और पाण्डव इस जय इतिहास को पुराणा इतिहास कहते थे !! इससे इस कथा की प्राचीनता का पता लग सकता है। इस विषयमें यह श्लोक देखिये-

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विदुलायाश्च संवादं पुत्रस्य च परन्तप ॥
जय० अ० १।१

" विदुलाका पुत्रके साथ हुआ यह संवाद है और यह " जय " नामक इतिहास अतिप्राचीन है ।" इसमें प्राचीनतम आदर्श आर्य राणीका इतिहास है, जिसने अपने पुत्रको उपदेश करके पुरुषार्थको प्रवृत्त किया और गया हुआ राजवैभव पुनः प्राप्त कराया । प्राचीन आर्य स्त्रियोंकी योग्यताका भी पता इस जय इतिहाससे लग सकता है । विदुला देवी पट्टराणी थी, उसके तारुण्यमें राज्यवैभव था, पतिकी मृत्यु होनेके पश्चात् राजगद्दीपर उसका पुत्र आया, परंतु शत्रुने उसको हरा दिया और उस का राज्य छीन लिया । अर्थात् विदुला देवी और उसका पुत्र दोनों राज्यवैभवसे भ्रष्ट हुए। एसी विपन्न दशामें प्राचीन समय की आर्य स्त्रियां कैसा वीरतापूर्ण उपदेश देती थीं और राष्ट्रका कार्य करती थी, यह बात इस जय इतिहाससे ज्ञात होती है ।

विदुलारानीकी योग्यता ।

निम्नलिखित श्लोकोंमें विदुलाकी योग्यताका वर्णन किया है—

यशस्विनी मन्युमती कुले जाता विभावरी ॥ २ ॥
क्षत्रधर्मरता दान्ता विदुला दीर्घदर्शिनी ।
विश्रुता राजसंसत्सु श्रुतवाक्या बहुश्रुता ॥ ३ ॥
विदुला नाम राजन्या जगर्हे पुत्रमौरसम् ।
निर्जितं सिन्धुराजेन शयानं दीनचेतसम् ॥ ४ ॥

जय० अ० १

इन श्लोकोंमें विदुलाकी विद्वत्ता और प्रभावशालिता का वर्णन है । आजकलकी स्त्रियोंको और पुरुषोंको भी इस वर्णन का अवश्य विचार करना चाहिये । (१) यशस्विनी— यशवाली विदुला थी, जिसने अपनी बुद्धिमत्तासे यश प्राप्त किया था । (२) मन्युमती-क्रोध करनेवाली, अर्थात् अपमान कदापि सहन न करनेवाली, और अपमान का बदला लेनेतक प्रयत्न करने वाली । मन्युका दूसरा अर्थ ' उत्साह ' है । इस अर्थको लेनेसे उत्साहवाली ऐसा अर्थ होगा । विदुला विलक्षण उत्साहवाली थी, यह बात इस जय इतिहास के पढनेसे स्पष्ट होती है । इसके उत्साहके कारणही इसका पुत्र पुनः अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर सका । (३) कुले जाता—उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई । अर्थात् जिस कुलमें उत्तम क्षत्रिय उत्पन्न हुए हैं और जिस कुलमें संकर नहीं हुआ है, ऐसे कुलमें यह विदुला उत्पन्न हुई थी । इस लिये इसमें उत्तम क्षात्रगुण जन्मसे ही प्राप्त हुए थे । यह कुलीनता सद्गुणवृद्धी के लिये अत्यंत

आवश्यक है। जिस कुलमें व्यभिचार आदि दोषोंसे मलीनता उत्पन्न होती है, उस में शुद्ध गुणोंकी वृद्धि नहीं होती, मलिन वृत्तिसे हीनदुर्गुण बीचमें घुसते हैं। (४) विभावरी-विदुला तेजस्विनी थी। (५) क्षत्रधर्मरता-क्षत्रियोंके धर्ममें प्रवीण थी, क्षत्रियके कर्तव्य क्या हैं और क्षत्रियोंको किस समय क्या करना चाहिये, यह उसको पूर्णतया ज्ञात था। (६) दान्त-इन्द्रियोंका शमन करनेवाली विदुला थी। अपने इंद्रिय स्वैर गतिसे संचारित करनेवाली नहीं थी। स्त्री स्वैरिणी कभी नहीं होनी चाहिये, स्त्रियोंके स्वैराचारसे ही कुल भ्रष्ट हो जाता है। और कुलीन-ता नष्ट हो जाती है। (७) दीर्घदर्शिनी—विदुला दूरदर्शिनी थी। दूरदर्शी उस को कहते हैं कि, जिसको दूरका परिणाम प्रत्यक्ष दिखाई देता है, यह गुण विद्या और विचारसे प्राप्त होता है। राजशासनमें और विशेषतः स्वतंत्रताप्राप्तीके व्यवसायोंमें इस गुणकी अत्यंत आवश्यकता है। (८) राजसंसत्सु विश्रुता-राजसभाओंमें जिसकी प्रशंसा होती है, ऐसी विदुला थी। अर्थात् इस विदुलाकी मंत्रणा राजसभाओंमें विशेष महत्त्वकी समझी जाती थी। इससे उस समय की स्त्रियां भी कितनी राजकार्यधुरंधर होती थी, इसका पता लग सकता है। इतनी योग्यता विना विद्याप्राप्तीके नहीं हो सकती, इसलिये अनुमान होता है कि, विदुला बडी विदुषीभी थी। (९) श्रुतवाक्या-बहुत उपदेश जिसने सुने हैं और (१०) बहुतश्रुता— बहुत विद्या जिसने प्राप्त की है, ये दो शब्द उस विदुलाकी विद्वत्ता बता रहे हैं। (११) राजन्या— यह क्षत्रिया थी। गुण, कर्म और जन्मसे क्षात्रतेज इसके अंदर था।

द्वितीय अध्यायमें स्वयं विदुला अपनी योग्यता कहती है, वे श्लोक भी यहां देखने योग्य हैं—

> अहं हि क्षत्रहृदयं वेद यत्परिशाश्वतम्।
> पूर्वैः पूर्वतरैः प्रोक्तं परैः परतरैरपि।
> शाश्वतं चाव्ययं चैव प्रजापतिविनिर्मितम् ॥ ३७ ॥
>
> जय० अ० २

"प्रजापतिद्वारा निर्मित सनातन और शाश्वत नियमोंको बतानेवाला सब प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानोंको संमत क्षत्रहृदय नामक सनातन शास्त्रको मैं जानती हूं।"

क्षत्रियकी शासननीतिका यह शास्त्र था, जो क्षत्रहृदय नामसे प्रसिद्ध था, प्रजापतिका रचा हुआ यह शास्त्र बहुतही प्राचीन समयसे सर्वमान्य था। इसका अध्ययन विदुला-देवीने किया हुआ था। क्षत्रिय कन्याओंका अध्ययन कितना होता था, इसकी कल्पना

इससे ज्ञात हो सकती है। यह ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं है, लुप्त हुआ है। जिस प्रकार चाणक्य कौटिल्य का अर्थशास्त्र आज है, उसीप्रकार का यह ग्रंथ प्राचीन समयमें था और क्षत्रियोंके स्त्रीपुरुषोंको इसका अध्ययन आवश्यक था, क्यों कि इससे क्षत्रियका हृदय क्षात्रकर्म के लिये जैसा चाहिये, वैसा बनता था। विदुलाके अध्ययन का पता इस वर्णनसे ज्ञात हो सकता है। अब उस विदुला की मनःस्थितिका वर्णन देखिये—

अहं महाकुले जाता ह्रदाद् ध्रदमिवागता।
ईश्वरी सर्वकल्याणी भर्त्रा परमपूजिता ॥ १४ ॥
महार्हमाल्याभरणां सुमृष्टाम्बरवाससम्।
पुरा हृष्टः सुहृद्वर्गो मामपश्यत्सुहृद्गताम् ॥ १५ ॥
नेति चेद्ब्राह्मणं ब्रूयां दीर्येत हृदयं मम।
न ह्यहं न च मे भर्ता नेति ब्राह्मणमुक्तवान् ॥ १९ ॥
वयमाश्रयणीयाः स्म न श्रोतारः परस्य च।
साऽन्यमासाद्य जीवन्ती परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ २० ॥
जय० अ० २

"मैं विदुला बडे कुलमें उत्पन्न हुई हूं और बडे कुलमें व्याही हूं। मैं स्वामिनी हूं और सबका कल्याण पूर्णकल्याण, करनेवाली हूं। पति के द्वारा भी मेरा सत्कार होता था। उत्तम पुष्प उत्तम आभूषण और उत्तम वस्त्र धारण करके उत्तम श्रेष्ठ मित्रजनोंमें मैं रहती थी। ब्राह्मण आगये तो उनको मैं दान देकर संतुष्ट करती थी, ब्राह्मणोंको दान न देनेका शब्द उच्चार करनेसे मेरा हृदय फट जाता था, मैंने या मेरे पतिने ब्राह्मणोंको नकार कभी नहीं कहा। हम दूसरोंको आश्रय देनेवाले ही रहे थे, परंतु कभी दूसरे की आज्ञा सुननेवाले नहीं थे। आज वह मैं दूसरेके आश्रयसे जीवित रहती हूं इस कारण अब जीवित रहना मेरेलिये अशक्य हुआ है।" ये विदुलाके शब्द उसकी योग्यता बता रहे हैं। यह सच्ची क्षत्रिया और बडी राजकार्यकुशल महाराज्ञी या सम्राज्ञी थी। विदुषी थी और योग्य मंत्रणा देनेवाली थी। अतिप्राचीन कालमें यह योग्यता स्त्रियोंकी थी और राजाकी रानियां ऐसी हुआ करती थीं। इसी कारण आर्योंका राज्य यशसे संपन्न था। जबसे स्त्रियोंका विद्याध्ययन बंद हुआ, तबसे आर्योंका अधःपात हुआ है।

क्षात्रधर्म।

सम्राज्ञी विदुला देवीने जो क्षात्रधर्मका उपदेश इस जय इतिहासद्वारा दिया है, उसका सारांशसे अब निरीक्षण करते हैं।

युद्धकर्म ।

युद्ध के लिये ही क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है, इस विषयमें निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

> युद्धाय क्षत्रियः सृष्टः सञ्जयेह जयाय च ।
> जयन्वा वध्यमानो वा प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम् ॥ १३ ॥
> न शक्रभवने पुण्ये दिवि तद्विद्यते सुखम् ।
> यदमित्रान्वशे कृत्वा क्षत्रियः सुखमेधते ॥ १४ ॥
> मन्युना दह्यमानेन पुरुषेण मनस्विना ।
> निकृतेनेह बहुशः शत्रून्प्रतिजिगीषया ॥ १५ ॥
> आत्मानं वा परित्यज्य शत्रुं वा विनिपात्य च ।
> अतोऽन्येन प्रकारेण शान्तिरस्य कुतो भवेत् ॥ १६ ॥
>
> जय० अ० ३

" युद्ध के लिये ही क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है, विशेषतः युद्धमें जय प्राप्त करनेके लिये। युद्धमें जय मिलनेसे अथवा युद्धमें मृत्यु प्राप्त होनेसे इन्द्रलोक की प्राप्ति होती है। स्वर्गस्थ इन्द्रके घरमें वह सुख नहीं है, जो सुख शत्रुको वशमें करनेसे क्षत्रियको प्राप्त होता है। क्रोधसे जलनेवाले बुद्धिमान पुरुषको शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेसे जो सुख प्राप्त होता है, वह स्वर्गसुखसे श्रेष्ठ होता है । शत्रुको जीतने अथवा अपने आपको मृत्युके वशमें करनेसे ही क्षत्रियको शान्ति मिल सकती है । क्षत्रियको शान्ति मिलनेकी कोई दूसरी रीति नहीं है । "

ये श्लोक स्पष्ट बता रहे हैं कि, क्षत्रियका स्वभाव कैसा होना चाहिये । क्षत्रिय कभी दूसरेके सन्मुख नम्र न होवे, सदा अपने उग्र स्वरूप में रहे, इस विषयमें निम्नलिखित श्लोक देखिये—

क्षत्रिय नम्र न बने ।

> यो वै कश्चिदिहाऽऽजातः क्षत्रियः क्षत्रकर्मकृत् ।
> भयाद्वृत्तिसमीक्षो वा न नमेदिह कस्यचित् ॥ ३८ ॥
> उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ।
> अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ॥ ३९ ॥
> मातङ्गो मत्त इव च परीयात्स महामनाः ।

ब्राह्मणेभ्यो नमेन्नित्यं धर्मायैव च सञ्जय ॥ ४० ॥
नियच्छन्नितरान्वर्णान्विनिघ्नन्सर्वदुष्कृतः ।
ससहायोऽसहायो वा यावज्जीवं तथा भवेत् ॥ ४१ ॥
जय० अ० २

"जो कोई क्षत्रिय क्षत्रियोंके कर्मको जाननेवाला हो, वह भय धारण न करे और कभी किसी दूसरेके सामने नम्र न होवे। सदा उग्रतापूर्वक उद्यम करे, कभी नम्र न होवे, इसीका नाम पौरुष है। चाहे बीचमें टूट जावे, परंतु कदापि नम्र न होवे। जैसा मदोन्मत्त हाथी अपने बलसे चारों ओर जाता है, वैसा क्षत्रिय जाये। केवल धर्मके कारण ब्राह्मणोंके सामने सिर झुकावे, और किसीके सन्मुख सिर न झुकावे। सब अन्य वर्णोंका उत्तम नियमन करे और दुराचारियोंको दण्ड देवे, चाहे सहाय्यक हों, चाहे न हों, क्षत्रिय अपना जीवित समाप्त होनेतक इसी प्रकारका वर्ताव करे।"

क्षत्रियके भयभीत होनेसे अनर्थ ।

नैव राज्ञा दरः कार्यो जातु कस्यांचिदापदि ।
अथ चेदपि दीर्णः स्यान्नैव वर्तेत दीर्णवत् ॥ १ ॥
दीर्णं हि दृष्ट्वा राजानं सर्वमेवानुदीर्यते ।
राष्ट्रं बलममात्याश्च पृथक्कुर्वन्ति ते मतीः ॥ २ ॥
शत्रूनेके प्रपद्यन्ते प्रजहत्यपरे पुनः ।
अन्ये तु प्रजिहीर्षन्ति ये पुरस्ताद्विमानिताः ॥ ३ ॥
य एवात्यन्तसुहृदस्त एनं पर्युपासते ।
अशक्तयः स्वस्तिकामा बद्धवत्सा इला इव ॥ ४ ॥
शोचन्तमनुशोचन्ति पतितानिव बान्धवान् ।
अपि ते पूजिताः पूर्वमपि ते सुहृदो मताः ॥ ५ ॥
ये राष्ट्रमभिमन्यन्ते राज्ञो व्यसनमीयुषः ।
मा दीदरस्त्वं सुहृदो मा त्वां दीर्णं प्रहासिषुः ॥ ६ ॥
जय० अ० ४

" कितनी भी कठिन कष्टकी अवस्था आनेपर राजाको भयभीत होना उचित नहीं है। और यदि किसी कारण राजा भयभीत हुआ तो भी भयभीत होनेके समान आचरण नहीं करना चाहिये। क्योंकि राजाको भयभीत हुआ देखकर सबही डर जाते

हैं, राष्ट्र, सैन्य, मंत्रीगण सब डरते हैं और उनमें भिन्न भिन्न विचार शुरू होते हैं। कई तो शत्रुको मिल जाते हैं, कई इस डरपोक राजाको छोड देते हैं, तीसरे बदला लेनेका यत्न करते हैं, जो पहिले कभी अपमानित हुए हों। जो अत्यंत सच्चे मित्र होते हैं वेही इसके पास रहते हैं। राजाको कष्टकी अवस्था प्राप्त होनेपर भी जो सन्मित्र अभिमानसे उनके पास रहते हैं और उसकी उन्नतिके लिये यत्न करते हैं वे मित्रही सन्मान करने योग्य होते हैं।"

राजाको भय प्राप्त होनेसे राष्ट्रकी सब व्यवस्था बिगड जाती है। इसलिये क्षत्रियको किसी भी आपत्तिमें भय धारण करना योग्य नहीं। डरजानेपर भी बेडर रहनेके समान कार्य करे और यशका भागी बने।

जीवन त्यागनेकी तैयारी।

यदि राजकीय उन्नति चाहिये, तो उस उन्नतिके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण करने की तैयारी चाहिये। जीवनतक समर्पण करनेकी तैयारी न हुई तो यश प्राप्त नहीं हो सकता, इस विषयमें निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

यदैव शत्रुर्जानीयात्सपत्नं त्यक्तजीवितम्।
तदैवाऽस्मादुद्विजते सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ ३६ ॥
तं विदित्वा पराक्रान्तं वशे न कुरुते यदि।
निर्वादैर्निर्वदेदेनमन्ततस्तद्भविष्यति ॥ ३७ ॥
निर्वादादास्पदं लब्ध्वा धनवृद्धिर्भविष्यति।
धनवन्तं हि मित्राणि भजन्ते चाश्रयन्ति च ॥ ३८ ॥
स्खलितार्थं पुनस्तानि संत्यजन्ति च बान्धवाः।
अप्यस्मिन्नाश्वसन्ते च जुगुप्सन्ते च तादृशम् ॥ ३९ ॥
जय० अ० ३

"जब शत्रु निश्चयसे जानता है कि, अपना प्रतिस्पर्धी अपने जीवनपर उदार हो चुका है, तब वह उससे डरने लगता है, जिस प्रकार घरमें प्रविष्ट सर्पसे डरते हैं। यदि शत्रु बहुत प्रबल होगया हो और उसको वशमें करना असंभव प्रतीत होता हो, तो उसके साथ सामसे वर्ताव करना चाहिये। अन्तमें इस सामप्रयोगसे भी वही बात बन जायगी। शांतिके उपायोंसे कुछ स्थान प्राप्त हुआ तो अपना बल बढेगा और पश्चात् धनभी प्राप्त होगा। धन और स्थान मिलनेपर मित्र बढ जांयगे और आगे स्वराज्य-

प्राप्तिका साधन बनता जायगा। परंतु यदि स्थान और धनसे हीन अवस्था होगई, तो बंधुगण भी उसको छोड देते हैं और निंदा भी करते हैं।" इसलिये शत्रुके साथ उचित व्यवहार करके उसका बल कम करने और अपना बल बढानेका प्रयत्न होना चाहिये, तब अन्तमें स्वराज्य प्राप्त होगा। जो स्वराज्यप्राप्तीके लिये प्रयत्न नहीं करता वह कुपुत्र है, उसकी निंदा निम्नप्रकार इस जय इतिहासमें की है—

कुपुत्रनिंदा।

अनन्दन ...... द्विषतां हर्षवर्धन ॥ ५ ॥
निर्मन्युश्चाप्यसंख्येयः पुरुषः क्लीबसाधनः।
यावज्जीवं निराशोऽसि .... ॥ ६ ॥
मात्मानमवमन्यस्व मैनमल्पेन बीभरः।
मनः कृत्वा सुकल्याणं मा भैस्त्वं प्रतिसंहर ॥ ७ ॥
उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा शेष्वैवं पराजितः।
अमित्रान्नन्दयन्त्सर्वान्निर्मानो बन्धुशोकदः ॥ ८ ॥
सुपूरा वै कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः।
सुसंतोषः कापुरुषः स्वल्पकेनैव तुष्यति ॥ ९ ॥
त्वमेवं प्रेतवच्छेषे कस्माद्वज्रहतो यथा।
उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा स्वाप्सीः शत्रुनिर्जितः ॥ १२ ॥
मास्तं गमस्त्वं कृपणो विश्रूयस्व स्वकर्मणा।
मा मध्ये मा जघन्ये त्वं माऽधो भूस्तिष्ठ गर्जितः॥१३॥
मा तुषाग्निरिवाऽनर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः ॥ १४ ॥
मा ह स्म कस्यचिद्गेहे जनि राज्ञः खरो मृदुः ॥ १५ ॥
जय० अ० १

"हे पुत्र! तू कुपुत्र है, क्योंकि तू शत्रुको आनंद देता है और स्वकीय लोगोंका दुःख बढाता है। तुझे क्रोध नहीं आता, तेरे अंदर उत्साह नहीं है, तेरे पास उन्नतिके साधन कुछ भी नहीं हैं, बडे लोगोंमें तेरी गिनती नहीं होती और तू सदा निराश रहता है, इस लिये तू कुपुत्र है। अरे कुपुरुष! तू अपने आपका अपमान न कर, अल्प-लाभसे संतुष्ट न हो, मनमें कल्याणके विचार धारण कर और डर छोड कर शत्रुका संहार कर। यह कार्य जबतक तू नहीं करता तब तक तू कुपुत्र ही कहलायेगा। अरे

कुपुरुष ! तू उठ ! ऐसा पराजित होकर मत सोता रह ! तू अपने आचरणसे शत्रुओंका आनन्द बढा रहा है और स्वयं अपमानित होकर अपने ही बांधवोंका शोक बढा रहा है। थोडेसे जलसे छोटा नाला भर जाता है, चूहेकी अञ्जली थोडेसे पदार्थसे भर जाती है, इसी प्रकार जो कुपुरुष होता है, वह अल्प लाभसे ही संतुष्ट हो जाता है। वज्रघातसे मरे हुए मुर्देके समान तूं क्यों सोया रहता है, हे कुपुरुष ! उठ, शत्रुसे पराजित होकर इस प्रकार मत सोता रह। उठकर स्वराज्यप्राप्तिके लिये प्रयत्नशील हो। अपने पुरुषार्थसे अपना यश फैला, दीन होकर विनाशको मत प्राप्त हो। अपनी अवस्था नीची न होने दो। भूंस की अग्निके समान ज्वालारहित होता हुआ केवल धूंवाही उत्पन्न न कर, इस प्रकार केवल जीवित रहना ही क्या लाभ करेगा ? राजाके घरमें तेरे जैसा नरम स्वभाववाला पुत्र उत्पन्न होना योग्य नहीं है।" कुपुत्रके और लक्षण देखिये–

इष्टापूर्तं हि ते क्लीब कीर्तिश्च सकला हता।
विच्छिन्नं भोगमूलं ते किंनिमित्तं हि जीवसि ॥१९॥
यस्य वृत्तं न जल्पन्ति मानवा महदद्भुतम्।
राशिवर्धनमात्रं स नैव स्त्री न पुनः पुमान् ॥ २२ ॥
दाने तपसि सत्ये च यस्य नोच्चरितं यशः।
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः ॥ २३ ॥
न त्वेव जाल्मीं कापालीं वृत्तिमेषितुमर्हसि।
नृशंस्यामयशस्यां च दुःखां कापुरुषोचिताम् ॥ २५ ॥
यमेनमभिनन्देयुरमित्राः पुरुषं कृशम्।
लोकस्य समवज्ञातं निहीनासनवाससम् ॥ २६ ॥
अहो लाभकरं हीनमल्पजीवनमल्पकम्।
नेदृशं बन्धुमासाद्य बान्धवः सुखमेधते ॥ २७ ॥
अवल्गुकारिणं सत्सु कुलवंशस्य नाशनम्।
कलिं पुत्रप्रवादेन सञ्जय त्वामजीजनम् ॥ २९ ॥

जय० अ० १

"अरे निर्बल कुपुत्र ! तेरी सब कीर्ति नष्ट हुई और सब पुण्य मारा गया। भोग प्राप्त करनेका मूलही नष्ट हुआ इसलिये अब तू क्यों जीता है ? जिस मनुष्यके उत्तम अद्भुत आचरणकी प्रशंसा लोग नहीं करते वह न तो स्त्री है और न पुरुष है, वह केवल माताका भारही है। दान, तप, सत्य, विद्या और धनके विषयमें जिसका यश गाया

नहीं जाता वह पुत्र नहीं परंतु माताका मलही है, यश घटानेवाली और दुःख बढाने-वाली इस दुष्ट मनःप्रवृत्तिको एकदम फेंक देना तुमको उचित है। जबतक यह तुम्हारी वृत्ति रहेगी तब तक तुमको कुपुत्रही कहा जायगा। जिस दुर्बल पुरुषके हीन आचारके कारण शत्रुओंको आनंद होता है। वह कुपुत्र तो लोगोंमें अपमानका ही भागी होता है। ऐसे निरुत्साही दीन क्षुद्र अल्पशक्तिवाले पुरुषको प्राप्त कर कभी बांधवोंको सुख नहीं मिल सकता है। हीन कर्म करनेवाले, कुल और वंशका नाश करनेवाले तेरे जैसे पुत्रके नामसे प्रत्यक्ष कलिकोही मैंने जन्म दिया है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है।" कुपुत्रकी निंदा और देखिये—

> निरमर्षं निरुत्साहं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ।
> मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ॥ ३० ॥
> क्षमावान्निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान् ॥ ३२ ॥
> संतोषो वै श्रियं हन्ति तथाऽनुक्रोश एव च ।
> अनुत्थानभये चोभे निरीहो नाश्नुते महत् ॥ ३३ ॥
> तमाहुर्व्यर्थनामानं स्त्रीवद्य इह जीवति ॥ ३५ ॥
> भृत्यैर्विहीयमानानां परपिण्डोपजीविनाम् ।
> कृपणानामसत्त्वानां मा वृत्तिमनुवर्तिथाः ॥ ४१ ॥
>
> जय० अ० १

"जिसके मनमें क्रोध नहीं है और उत्साह भी नहीं है, जो निर्वीर्य है और जो शत्रुका आनंद बढानेवाला है, ऐसे कुपुत्रको कोई स्त्री कदापि उत्पन्न न करे। सदा शत्रुके अपराधोंको क्षमा करनेवाला और क्रोधहीन जो होता है, वह न तो स्त्री है और न पुरुष है। संतोषसे धनका नाश होता है तथा दयासे भी नाश होता है। चढाई न करना और मनमें भय धारण करना, ये दोनों दुर्गुण जिसके मनमें रहते हैं, उसको बडा महत्त्वका स्थान कभी प्राप्त नहीं होता। जो स्त्रीके समान यहां आचरण करता है उसका पुरुष नाम बिलकुल व्यर्थ है! अरे कुपुत्र! नौकर जिसका आश्रय छोड देते हैं, दूसरेके दिये अन्नपर जिसकी उपजीविका होती है, इस प्रकारके दीन और बलहीनोंके समान तू वर्ताव न कर।" कुपुरुषके लक्षण और देखिये--

> अथैतस्यामवस्थायां पौरुषं हातुमिच्छसि ।
> निहीनसेवितं मार्गं गमिष्यस्यचिरादिव ॥ १ ॥
> यो हि तेजो यथाशक्ति न दर्शयति विक्रमात् ।

क्षत्रियो जीविताकाङ्क्षी स्तेन इत्येव तं विदुः ॥ २ ॥
दासकर्मकरान्भृत्यानाचार्यर्त्विक्पुरोहितान् ।
अवृत्त्यास्मान्प्रजहतो दृष्ट्वा किं जीवितेन ते ॥ १७ ॥
यदि कृत्यं न पश्यामि तवाद्याहं यथा पुरा।
श्लाघनीयं यशस्यं च का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १८ ॥
सर्वे ते शत्रवः शक्या न चेज्जीवितुमर्हसि ।
अथ चेदीदृशीं वृत्तिं क्लीबामभ्युपपद्यसे ॥ २२ ॥
निर्विण्णात्मा हतमना मुञ्चैतां पापजीविकाम् ।
एकशत्रुवधेनैव शूरो गच्छति विश्रुतिम् ॥ २३ ॥
अस्मदीयैश्च शोचद्भिर्नदद्भिश्च परैर्वृतम् ।
अपि त्वां नानुपश्येयं दीनादीनमिवाऽऽस्थितम् ॥३१॥
जय० अ० २

" यदि तू पुरुषार्थ प्रयत्न न करेगा तो हीन और दिन बनेगा। क्षत्रिय होकर समय-पर पुरुषार्थ प्रयत्नसे अपना तेज प्रकट नहीं करता, और जीव बचानेके लिये युद्धसे भागता है वह चोर कहलाता है। हमारे नौकर चाकर, तथा आचार्य ऋत्विज और पुरोहित आदि हमारी निर्धनताके कारण हमें छोडते हैं और दूसरे स्थानपर वृत्तीके लिये यत्न करते हैं, यह देख कर हमारे जीवित रहने में लाभ कौनसा है ? यदि तू पूर्ववत पुरुषार्थ न करेगा तो मेरे हृदयको शान्ति किस प्रकार मिल सकती है ? यदि तू यह नपुंसक के समान जीवन व्यतीत करेगा, तो उससे क्या लाभ होगा। यदि तू अपने जीवनको त्यागनेका निश्चय करोगे, तो तुम्हारे शत्रु दूर करना संभव है। शत्रुका वध करनेसे ही यश मिलता है। अपने लोग दुःख करें और शत्रु आनन्द करे, यह तुम्हारी दीनता का कार्य मैं देखना नहीं चाहती हूं।" तथा और देख—

युवा रूपेण संपन्नो विद्ययाऽभिजनेन च ।
यस्त्वादृशो विकुर्वीत यशस्वी लोकविश्रुतः ।
अधुर्यवच्च वोढव्ये मन्ये मरणमेव तत् ॥ ३३ ॥
यदि त्वामनुपश्यामि परस्य प्रियवादिनम् ।
पृष्ठतोऽनुव्रजन्तं वा का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ ३४ ॥
जय० अ० २

" तरुण, सुरूप, विद्वान और अनुयायीयोंके समेत रहनेवाला तेरे जैसा पुरुष यदि

दूसरोंके पीछे पीछे चले, तो मैं समझती हूं कि वह जीवन नहीं, परंतु मरण ही है। यदि तुझे शत्रुके पीछे पीछे चलता हुआ और उसके साथ मीठा भाषण करनेवाला अर्थात् उसकी हां में हां मिलाता हुआ देखूंगी, तो मेरे अन्तःकरणको शान्ति किस प्रकार मिलेगी?"

कुलका अभिमान।

नास्मिन् जातु कुले जातो गच्छेद्योऽन्यस्य पृष्ठतः।
न त्वं परस्यानुचरस्तात जीवितुमर्हसि ॥ ३९ ॥

जय० अ० २

"अरे पुत्र! इस हमारे कुलमें ऐसा कोई नराधम नहीं हुआ था, कि जो शत्रुके पीछे पीछे चलता रहे। यदि तू शत्रुकाही सेवक बननेवाला है तो तेरे जीवित रहने का कोई प्रयोजन नहीं है।" अर्थात् अपने कुल का अभिमान धारण करके कुलकी तेजस्विता के अनुरूप परम पुरुषार्थ करके यशका भागी बन। इस प्रकार शत्रुका अनुचर बनकर जीवित रहनेमें भला कौनसा लाभ है?

अकुर्वन्तो हि कर्माणि कुर्वन्तो निन्दितानि च।
सुखं नैवेह नामुत्र लभन्ते पुरुषाधमाः ॥ १२ ॥

जय० अ० ३

"जो पुरुषार्थ प्रयत्न करते नहीं और निन्दित कर्म करते हैं, वे अधम मनुष्य इस लोकमें और परलोकमें कदापि सुख प्राप्त नहीं कर सकते।" यदि सुख चाहिये तो उत्तम पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये।

इस प्रकार कुपुत्रकी अत्यन्त निन्दा इस जय इतिहासमें की है। जिसके पढनेसे सुपुत्र बननेका ज्ञान तत्कालहीमें प्राप्त हो सकता है। हरएक मनुष्यको यह कुपुत्रकी निंदा पढकर अपना आचरण देखना चाहिये और परीक्षा करनी चाहिये, कि अपना आचरण कैसा हो रहा है। यदि किसी प्रकार अपने आचरणमें त्रुटी होती हो, तो उसको उसी समय ठीक करना चाहिये और सुपुत्र बननेकी पराकाष्ठा करनी चाहिये। इस प्रकार अपने पुत्रको चेतावनी देकर शत्रुका भय न करनेके विषयमें इस प्रकार कहा है—

शत्रुकी अवस्था।

सन्ति वै सिन्धुराजस्य सन्तुष्टा न तथा जनाः।
दौर्बल्यादासते मूढा व्यसनौघप्रतीक्षिणः ॥ ४ ॥

सहायोपचितिं कृत्वा व्यवसाय्य ततस्ततः।
अनुदुष्येयुरपरे पश्यन्तस्तव पौरुषम् ॥ ५ ॥
तैः कृत्वा सह संघातं गिरिदुर्गालयं चर।
काले व्यसनमाकाङ्क्षन्नैवायमजरामरः ॥ ६ ॥ जय० अ० २

"अरे पुत्र ! सिन्धुराजकी राजनीतिसे भी कई लोग बिलकुल असन्तुष्ट हैं, वे सिंधु-राजके कष्टके समयकी प्रतीक्षा करते हैं। ऐसी अवस्थामें यदि तू साधनसामग्री इकट्ठी करके अपनी स्वतंत्रता पुनः स्थापित करनेके लिये यत्न करेगा, तो वे असन्तुष्ट लोगभी उठेंगे, इससे तेरा लाभ अवश्य होगा। उनके साथ सन्धि करके यदि तू पर्वतों और कीलोंका आश्रय करेगा, और योग्य समयकी प्रतीक्षा करेगा, तो तुम्हें अवश्य यश प्राप्त होगा। वह तुम्हारा शत्रु सिंधुराज कोई जरामृत्युसे रहित नहीं है।" अर्थात् वह कभी न कभी नष्ट होगा ही, इसलिये उसके कष्टके अवसरसे लाभ लेनेका यत्न तू अवश्य कर। अपनी स्वाधीनता पुनः प्राप्त करनेवालोंको ऐसा प्रयत्न करना योग्य है।

दुःख न कर।

अपनी बुरी अवस्थाके कारण रोते बैठना योग्य नहीं है। देखिये इस विषयमें विदुलादेवी क्या कहती है—

पुत्र नात्मावमन्तव्यः पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
अभूत्वा हि भवन्त्यर्था भूत्वा नश्यन्ति चापरे।
अमर्षेणैव चाप्यर्था नारब्धव्याः सुबालिशैः ॥ २५ ॥
जय० अ० ३

"अरे पुत्र ! असमृद्धि अर्थात् विपत्ति प्राप्त होनेपर भी अपने आपके विषयमें शोक करते रहना योग्य नहीं है। धन न होनेपर भी प्राप्त होता है और होनेपर भी नष्ट होता है। इसलिये क्रोधी और दुःखी बनकर धनप्राप्तिके उपायोंका अवलंबन करना योग्य नहीं है।" परंतु मनकी शान्तिवृत्ति के साथ अपने यशके लिये प्रयत्न करना चाहिये। तभी उन्नति होगी। दुःख करते बैठनेसे कुछभी लाभ नहीं होगा।

शत्रुपर विश्वास न कर।

शत्रु मीठे वचन बोलता ही रहेगा, परंतु उन्नति चाहनेवाले पुरुषको उचित है कि, वह शत्रुके मीठे वचनोंपर कभी विश्वास न करे, इस विषयमें विदुलादेवीका स्पष्ट उपदेश देखिये—

शत्रुं कृत्वा यः सहायं विश्वासमुपगच्छति ।
अतः संभाव्यमेवैतद्यद्राज्यं प्राप्नुयादिति ॥ ४० ॥

जय० अ० ३

" शत्रुको अपने देशमें घुसनेके लिये सहायता करके जो उसपर विश्वास करता है और मानता है कि शत्रुही स्वयं अपना राज्य वापस देगा और मैं फिर शत्रुकी कृपासे अपने राज्यका स्वामी बनूंगा, तो वह निःसन्देह भ्रमही है।" ऐसा कभी न होगा। कोई शत्रु ऐसा नहीं करता। शत्रु मीठे वचन इसीलिये बोलता रहता है कि, असन्तुष्ट लोग अपना राज्य वापस लेनेका प्रयत्न न करें, अतः शत्रुपर विश्वास रखना कदापि उचित नहीं है।

शत्रुकी कुमारिकाओंसे विवाह न कर।

शत्रुदेशकी कुमारिकाओंसे प्रेमसंबंध करना अथवा उनसे शादी करना सर्वथा अनुचित है, इसविषयमें विदुला राणीका वचन सदा स्मरण रखना योग्य है—

हृष्य सौवीरकन्याभिः श्लाघ स्वार्थैर्यथा पुरा ।
मा च सैन्धवकन्यानामवसन्नो वशं गमः ॥ ३२ ॥

जय० अ० २

" अपने देशकी कुमारिका के साथ प्रेम कर और उनसेही पूर्ववत् संतुष्टता प्राप्त कर। कदापि तुम्हारा शत्रुदेश जो सिंधुदेश है, उस देश की कुमारिकाओंके प्रेमके वशमें न हो जाओ।" विशेष कर परतंत्र देशके पुरुषोंको उचित है कि वे कदापि अपने देशको पराधीन करनेवाले देशकी कुमारिकाओंसे प्रेम न करें। इसका करण यह है कि, परतंत्र देशवालोंको अपनी स्वाधीनताके लिये कभी न कभी शत्रुदेशोंसे लडना ही होगा उस समय उस देशकी स्त्रियां शत्रुको मदत करेंगी, या अपनेको सहायता करेंगी, इसका नियम नहीं है। अतः पराधीन देशके पुरुषोंको शत्रुदेशकी कन्याओंसे प्रेम करना कदापि उचित नहीं है।

दारिद्र्यही दुःख है।

नातः पापीयसीं कांचिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत् ।
यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ॥ १२ ॥
पतिपुत्रवधादेतत्परमं दुःखमब्रवीत् ।
दारिद्र्यमिति यत्प्रोक्तं पर्यायमरणं हि तत् ॥ १३ ॥

जय० अ० २

"शंबर ऋषिका मत है कि दोपहरके भोजनकी चिन्ता उत्पन्न होने योग्य विपत्ति प्राप्त होना यह अत्यंत पापपूर्ण अवस्था है। इससे अधिक पापी अवस्था दूसरी नहीं है। पति और पुत्रके मरणसे भी दारिद्र्य बडा दुःखदायी है। जिसको दरिद्रता कहते हैं,वह एक प्रकारका मरण ही है।" राष्ट्रीय परतंत्रतासे इस प्रकारकी दरिद्रता प्राप्त होती है, इसलिये राष्ट्रीय पराधीनता सबसे अधिक कष्टप्रद है। देखिये—

राष्ट्रीय पारतंत्र्यसे कष्ट।

अवृत्त्यैव विपत्स्यामो वयं राष्ट्रात्प्रवासिताः।
सर्वकामरसैर्हीनाः स्थानभ्रष्टा अकिंचनाः ॥ २८ ॥

जय० अ० १

"जिसके हाथसे स्वराज्य नष्ट होता है अर्थात् जो राष्ट्र पराधीन होता है, और जो लोग दूसरेके अंकित हो जाते हैं, वे (अकिंचनाः) निर्धन होते हैं, (स्थानभ्रष्टाः) अपने अधिकारसे भ्रष्ट होते हैं, (हीनाः) दीन, हीन, सब उपभोगोंसे हीन और सब आनंदोंसे हीन होते हैं, (अ-वृत्तिः) उपजीविका का साधन उनके लिये नहीं होता है, इतनाही नहीं अपितु वे अपनेही देशसे निकाले जाते हैं।" राष्ट्रीय पराधीनतासे कितनी हानि होती है, देखिये। हरएक पराधीन राष्ट्रकी यह अवस्था होती है। इसलिये कोई भी परतंत्र राष्ट्र कभी सुखभोग नहीं भोग सकता। इसी कारण हरएकको अपनी स्वाधीनता सुरक्षित करना चाहिये और पराधीनता दूर करनेका ही यत्न करना चाहिये। कभी पराधीनतामें संतुष्ट नहीं होना चाहिये। देखिये—

अविद्या वै महत्यस्ति यामिमां संश्रिताः प्रजाः ॥ ९ ॥

जय० अ० ३

" बडी अविद्या है जिसमें जनता फंसी है," इस कारण प्रजाजनोंको पराधीनतामें भी सुख है ऐसा प्रतीत होने लगता है, परंतु वह बडा भारी अज्ञान है। स्वाधीनता ही सुखकी जननी है और पराधीनता दुःखकी खान है। इस कारण हरएकको उचित है कि वह राष्ट्रीय स्वाधीनताके लिये प्रबल पुरुषार्थ करे और स्वकीय राष्ट्रका उत्कर्ष करे। इस उद्देश्यसे विदुला देवी कहती है—

स समीक्ष्य क्रमोपेतो मुख्यः कालोऽयमागतः।
अस्मिंश्चेदागते काले कार्यं न प्रतिपद्यसे ॥
असंभावितरूपस्त्वमानृशंस्यं करिष्यसि ॥ ६ ॥

तं त्वामयशसा स्पृष्टं न ब्रूयां यदि सञ्जय ।
खरीवात्सल्यमाहुस्तन्निःसामर्थ्यमहेतुकम् ॥ ७ ॥
जय० अ० ३

" अपनी स्वाधीनता प्राप्त करनेका समय अब प्राप्त हुआ है । यदि तू इस समय योग्य कार्य न करेगा, और स्वाधीनताके लिये यत्न न करेगा, तो तू स्वयं अपमानित होकर अपनी ही भयानक हानि करेगा । तू इस प्रकार यशकी हानि करता है इसलिये मैं यह चेतावनीकी बात तुझे कहती हूं ! यदि मैं इस प्रकार तुम्हें चेतावनी न दूंगी, तो मेरा वात्सल्य गधीकी प्रीतिके समान निरर्थक सिद्ध होगा।" इसी लिये विदुलाने अपने पुत्र-को बडे कठोर शब्दोंद्वारा उत्तेजित किया और स्वराज्यकी प्राप्ति करनेके लिये प्रेरित किया । प्राचीन कालकी विदुषी स्त्रियें इसी प्रकार अपने पुत्रोंको सन्मार्गपर लाती थीं, और पुरुषार्थके लिये प्रेरित करती थीं ।

प्रयत्नकी दिशा ।

किमद्यकानां ये लोका द्विषन्तस्तानवाप्नुयुः ।
ये त्वादृतात्मनां लोकाः सुहृदस्तान्व्रजन्तु नः ॥ ४० ॥
जय० अ० १

"आजका दिन किस प्रकार गुजारें यह विचार शत्रुके लोगोंमें रहे, अर्थात शत्रुकी ऐसी विपन्न दशा होवे; और अपने लोग आदरकी अवस्थाको प्राप्त हों" साधारण मनुष्य इस प्रकारकी इच्छासे कार्य करें, तब उनको कार्य करनेकी चेतना प्रबलतासे होती है । मुख्य बात अपनी उन्नतिके लिये निश्चयपूर्वक प्रयत्न करनेकी है। शत्रुका नाश करनेकी इच्छासे प्रयत्न किया, अथवा अपनी उन्नत्तिके लिये प्रयत्न किया, तो भी प्रयत्न स्वयं करना चाहिये । अपने प्रयत्नसे ही अपनी उन्नति होनी चाहिये। कई कहते हैं कि पुरुषार्थ करनेपर फल अवश्य मिलता है ऐसा नियम नहीं है, किसी समय मिलता है और किसी समय नहीं मिलता । ऐसा होनेपर भी प्रयत्न तो अवश्यही करना चाहिये, इसलिये कहा है—

सर्वेषां कर्मणां तात फले नित्यमनित्यता ।
अनित्यमिति जानन्तो न भवन्ति भवन्ति च ॥ २६ ॥
अथ ये नैव कुर्वन्ति नैव जातु भवन्ति ते ।
ऐकगुण्यमनीहायामभावः कर्मणां फलम् ॥ २७ ॥

अथ द्वैगुण्यमीहायां फलं भवति वा न वा।
यस्य प्रागेव विदिता सर्वार्थानामनित्यता।
नुदेद्वृद्धिसमृद्धी स प्रतिकूले नृपात्मज ॥ २८ ॥

जय० अ० ३

" कर्म करनेसे फल होगा अथवा न होगा, यह संदेह ठीक है, परंतु प्रयत्न न करने पर लाभ निःसन्देह नहीं होगा, अर्थात् पुरुषार्थ न करनेपर लाभ की संभावना भी नहीं है। परंतु पुरुषार्थ करनेपर लाभ कदाचित होगा, कदाचित न होगा, यह शंका होनेपर भी कदाचित लाभ होने की संभावना होती ही है। इसलिये प्रयत्न न करनेकी अपेक्षा प्रयत्न करना अधिक लाभदायक है। " इसमें कोई संदेह नहीं है। इसलिये विदुला कहती है—

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ॥ २९ ॥

" उठना चाहिये, जागते रहना चाहिये, योजनापूर्वक उन्नतिके कर्मोंमें लगना चाहिये, और यश अवश्य ही मिलेगा ऐसा मनका निश्चय करके दुःख न करते हुए सतत प्रयत्न करना चाहिये। " यह उन्नति के लिये पुरुषार्थ करनेका नियम है। जो इसकी पालना करेंगे, वे यशस्वी होंगे और जो नहीं पालना करेंगे, वे पीछे पडे रहेंगे। इस प्रकार विचार करके विदुला अपने पुत्रसे कहती है—

मङ्गलानि पुरस्कृत्य ब्राह्मणांश्चेश्वरैः सह।
प्राज्ञस्य नृपतेराशु वृद्धिर्भवति पुत्रक ॥ ३० ॥
अभिवर्तति लक्ष्मीस्तं प्राचीमिव दिवाकरः ॥ ३१ ॥
निदर्शनान्युपायांश्च बहून्युद्धर्षणानि च।
अनुदर्शितरूपोऽसि पश्यामि कुरु पौरुषम् ॥ ३२ ॥
पुरुषार्थमभिप्रेतं समाहर्तुमिहार्हसि।

"मंगल चिन्होंको आगे करके और ब्राह्मणोंके साथ देवतोंका आदर करके जो राजा अपनी उन्नतिके लिये पुरुषार्थ करता है उसकी वृद्धि निःसंदेह होती है। जिस प्रकार सूर्य पूर्व दिशा को प्राप्त होता है, उस प्रकार उसको यश मिलता है। इसलिये हे पुत्र! तू भी उस प्रकार उत्साहपूर्वक प्रयत्न कर, तू पुरुषार्थ करेगा, तो अवश्य यशस्वी होगा।"

लोगोंको वश करनेका उपाय।

जनता की अनुकूलता होनेके विना राष्ट्रीय उन्नति हो नहीं सकती। इसलिये विदुला देवी अपने पुत्रको कहती है कि, इस निम्नलिखित प्रकार मनुष्योंको अपने अनुकूल कर और स्वराज्यको प्राप्त कर। यह उपदेश मनन करने योग्य है, देखिये—

क्रुद्धांल्लुब्धान्परिक्षीणानवलिप्तान्विमानितान्।
स्पर्धिनश्चैव ये केचित्तान्युक्त उपधारय ॥ ३३ ॥
एतेन त्वं प्रकारेण महतो भेत्स्यसे गणान्।
महावेग इवोद्भूतो मातरिश्वा बलाहकान् ॥ ३४ ॥
तेषामग्रप्रदायी स्याः कल्पोत्थायी प्रियंवदः।
ते त्वां प्रियं करिष्यन्ति पुरो धास्यन्ति च ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

जय० अ० ३

"लोगोंमें कई लोग तो क्रोधी होते हैं, कई लोभी, कई क्षीण अर्थात् निर्धन आदि होते हैं, कई घमंडी होते हैं और कई अपमानित होते हैं। इन सबको युक्तिसे मिलाना चाहिये। अर्थात् क्रोधियोंका क्रोध शमन करना चाहिये, लोभियोंको कुछ प्रलोभन देना चाहिये, क्षीण हुओंको कुछ धन आदि देकर समर्थ बनाना चाहिये, जो घमंडी हों उनको भी व्यवस्थासे संमानित करना और जो अपमानित हुए हों उनका आदर करना चाहिये। इस प्रकार योग्य व्यवहार करनेसे सब लोग अनुकूल होंगे और तुम अपना गया हुआ राज्य प्राप्त कर सकोगे। इस प्रकार योग्य व्यवहार करनेसे सब कार्यकर्ता लोग तेरे अनुगामी होंगे और वेगवान वायु मेघोंको हटा देनेके समान तू अपने शत्रुओंको भगा देनेमें समर्थ होगा। नौकरोंका वेतन योग्य समयपर देते रहो, उनके साथ मीठा भाषण करो और योग्य समयपर उठकर अपना कार्य करो, तथा शत्रुपर चढाई भी योग्य समय देखकर ही करो। यदि तू ऐसा कार्य करेगा, तो वे सब लोक तुझे अनुकूल होंगे और तुझे अग्रभागमें रखकर तेरा हित करनेमें तत्पर होंगे।" इसलिये—

पुरुषार्थ कर।

एभ्यो निकृतिपापेभ्यो प्रमुञ्चात्मानमात्मना।
आयसं हृदयं कृत्वा मृगयस्व पुनः स्वकम् ॥ ३४ ॥

जय० अ० १

" तू इन आलस आदि पाप अवस्थाओंसे अपने आपको छुडाओ और लोहेका हृदय बनाकर अपना गया हुआ स्वराज्य प्राप्त करो। " यदि तू स्वयं अपने उद्धार के लिये प्रयत्न न करेगा, तो कोई दूसरा तुह्मारा उद्धार नहीं करेगा। स्वराज्यके विषय में किस रीतिसे प्रयत्न करना चाहिये, इस विषयमें विदुलाका उपदेश स्मरण रखनेयोग्य है, वह उपदेश अब देखिये—

> नाम विश्राव्य वै संख्ये शत्रूनाहूय दंशितान्।
> सेनाग्रं चापि विद्राव्य हत्वा वा पुरुषं वरम् ॥ २५ ॥
> यदैव लभते वीरः सुयुद्धेन महद्यशः।
> तदैव प्रव्यथन्तेऽस्य शत्रवो विनमन्ति च ॥ २६ ॥
> त्यक्त्वात्मानं रणे दक्षं शूरं कापुरुषा जनाः।
> अवशास्तर्पयन्ति स्म सर्वकामसमृद्धिभिः ॥ २७ ॥
>
> जय० अ० २

" युद्धमें खडा होकर शत्रुको अपना नाम सुनाकर, शत्रुओंको वेगसे आह्वान देकर, शत्रुसेनाका नाश करके और शत्रुके प्रमुख वीरोंका नाश करके, जब उत्तम युद्धसे वीर बडा यश प्राप्त करता है, तभी इसके शत्रु त्रस्त होते हैं और इसके सन्मुख नम्रभी होते हैं। जो पुरुष साधारण होते हैं, वे युद्धमें अपने आपकी रक्षा नहीं करते, वे दक्ष और शूर वीरको युद्धमें प्राप्त होकर परास्त होते हुए अपनी सब समृद्धि उसको समर्पण करते हैं। इसलिये तू युद्धमें दक्ष रहकर अपने शौर्यकी पराकाष्ठा कर और शत्रुका पराभव करके यश और समृद्धि प्राप्त कर। " तथा और देख—

> राज्यं चाप्युग्रविभ्रंशं संशयो जीवितस्य वा।
> न लब्धस्य हि शत्रोर्वै शेषं कुर्वन्ति साधवः ॥ २८ ॥
> स्वर्गद्वारोपमं राज्यमथवाऽप्यमृतोपमम्।
> रुद्धमेकायनं मत्वा पतोल्मुक इवारिषु ॥ २९ ॥
> जहि शत्रून्रणे राजन्स्वधर्ममनुपालय।
> मा त्वादृशं सुकृपणं शत्रूणां भयवर्धनम् ॥ ३० ॥
>
> जय० अ० २

" उत्तम लोगोंकी नीति यह है कि वे चाहे राज्य प्राप्त होवे अथवा चाहे जीवित ही चला जावे, हाथमें आये हुए शत्रुको शेष नहीं रहने देते। राज्य यह स्वर्गद्वारके समान है अथवा अमृत के समान है। इसलिये शत्रुओंके ऊपर जलती हुई आगके

समान हमला कर, जिससे शत्रु परास्त होवे और तुम्हारा विजय होवे । अपने क्षात्रधर्मका स्मरण करके युद्धमें शत्रुका नाश कर । शत्रुका भय बढानेवाला तू दीन बना हुआ मेरे सन्मुख न रह ॥ " इस प्रकार उपदेश विदुला देवीने अपने पुत्रको किया है । इसी विषयमें देखिये—

अप्यहेरारुजन्दंष्ट्रामाश्वेव निधनं व्रज ।
अपि वा संशयं प्राप्य जीवितेऽपि पराक्रमेः ॥ १० ॥
अप्यरेः श्येनवच्छिद्रं पश्येस्त्वं विपरिक्रमन् ।
विवदन्वाथवा तूष्णीं व्योम्नीवापरिशङ्कितः ॥ ११ ॥
जय० अ० १

" अरे पुत्र ! यदि तू पराक्रम न करेगा तो सांपके मुखमें हाथ रख कर शीघ्र ही मर जा, नहीं तो जीवनके विषयमें संशय उत्पन्न होनेतक पराक्रम कर । दोनोंमें से एक कार्य तो अवश्य कर । देखो, जिस प्रकार श्येनपक्षी आकाशमें घूमता हुआ, शत्रुका छिद्र देखता है और वहीं पर ही हमला करता है, उसी प्रकार तू भी शत्रूका छिद्र देख और उसमें हमला करके यश प्राप्त कर ।" इस प्रकार चुपचाप बैठनेसे तुम्हारा क्या बनेगा ! देखो—

कृत्वा मानुष्यकं कर्म सृत्वाजिं यावदुत्तमम् ।
धर्मस्यानृण्यमाप्नोति न चात्मानं विगर्हते ॥ १६ ॥
उद्भावयस्व वीर्यं वा तां वा गच्छ ध्रुवां गतिम् ।
धर्मं पुत्राग्रतः कृत्वा किंनिमित्तं हि जीवसि ॥ १८ ॥
शत्रुर्निमज्जता ग्राह्यो जङ्घायां प्रपतिष्यता ।
विपरिच्छिन्नमूलोऽपि न विषीदेत्कथंचन ॥ २० ॥
उद्यम्य धुरमुत्कर्षेदाजानेयकृतं स्मरन् ।
कुरु सत्वं च मानं च विद्धि पौरुषमात्मनः ॥
उद्भावय कुलं मग्नं त्वत्कृते स्वयमेव हि ॥ २१ ॥
मा धूमाय ज्वलात्यन्तमाक्रम्य जहि शात्रवान् ।
ज्वल मूर्धन्यमित्राणां मुहूर्तमपि वा क्षणम् ॥ ३१ ॥
मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् ॥ १५ ॥
जय० अ० १

"जहांतक होसके वहांतक उत्तम कर्म करके, शत्रुके साथ घनघोर युद्ध करके मनुष्य

धर्मके ऋणसे मुक्त हो सकता है। इसलिये अपने आत्माकी निन्दा कदापि करना योग्य नहीं है। अरे पुत्र! धर्मको अपने सन्मुख रखते हुए या तो पराक्रम कर अथवा मर जा। यदि इसमेंसे कुछभी न करना है तो तूं जीवित क्यों रहा है, ऐसे पुरुषार्थहीन जीवनसे भला क्या लाभ हो सकता है। उद्योग करके धुराको उठा, अर्थात् कार्यका नेतृत्व अपने हाथमें पकड, और अपार पौरुष करके दिखा। और अपने पराक्रमसे अपने गिरे हुए कुलको ऊपर उठा। यह समझ कि यह कुलका अधःपात तुम्हारे लिये ही हुआ है, इसलिये तुम्हें ही इसके उद्धार का यत्न करना चाहिये। अरे पुत्र! अग्निके समान जलता रह, शत्रुओंका नाश कर, शत्रुओंके सिरपर घडीभर तो अच्छी प्रकार जल। जो अग्नि जलती नहीं और जिससे धूवां ही होता रहता है, उससे क्या लाभ होगा? इसलिये तू धूवां उत्पन्न करनेवाली अग्निके समान न बन, परंतु प्रदीप्त होकर उत्तम अग्निके समान जलता रह। क्षणभर जलना अच्छा है, परंतु बहुत देरतक धूवां उत्पन्न करना अच्छा नहीं है।" जो अपना पौरुष इस प्रकार प्रकाशित करता है, वही इस जगत्में यशका भागी होता है। और देख—

कल्याणाय धुरं वह ॥ ६ ॥
मात्मानमवमन्यस्व मैनमल्पेन बीभरः।
मनः कृत्वा सुकल्याणं मा भैस्त्वं प्रतिसंहर ॥ ७ ॥

जय० अ० १

"हे पुत्र! तू अपना कल्याण करनेके लिये आगे बढ। अपने आपका स्वयंही अपमान न कर, अल्पमें संतुष्ट न हो। मन उत्तम प्रकारके कल्याणके विचारोंसे युक्त करके मत डरता हुआ, तू अपने शत्रुओंको परास्त कर।" क्योंकि—

श्रुतेन तपसा वापि श्रिया वा विक्रमेण वा।
जनान्योऽभिभवत्यन्यान्कर्मणा हि स वै पुमान् ॥ २४ ॥

जय० अ० १

"अध्ययन, तप, संपत्ति, पराक्रम आदिसे जो अन्योंसे बढकर होता है, वही पुत्र कहलाने योग्य होता है।"

पुरुषका लक्षण।

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ॥ ३२ ॥
परं विषहते यस्मात्तस्मात्पुरुष उच्यते ॥ ३५ ॥

जय० अ० १

"जो शत्रुके अपराधकी क्षमा नहीं करता, और जो शत्रुसे क्रुद्ध होता है वही पुरुष है। (परं विषहते) शत्रुको जो परास्त करता है वह पुरुष कहलाता है।" ऐसे पुरुषके पराक्रमसे सब लोग आनंदित होते हैं, इसविषयमें देखिये—

शूरस्योर्जितसत्त्वस्य सिंहविक्रान्तचारिणः।
दिष्टभावं गतस्यापि विषये मोदते प्रजा ॥ ३६ ॥
य आत्मनः प्रियसुखे हित्वा मृगयते श्रियम्।
अमात्यानामथो हर्षमादधात्यचिरेण सः ॥ ३८ ॥
जय० अ० १

"जो शूर, पराक्रमी, शेरके समान प्रतापी होता है वह मर जानेपर भी उसकी प्रजा उसकी मृत्युके पश्चात् सुखसे रहती है। जो अपना सुखका विचार छोडकर धनप्राप्तिकी इच्छा करता है वह मंत्रियोंका हर्ष निःसंदेह बढाता है।" तथा—

यमाजीवन्ति पुरुषं सर्वभूतानि सञ्जय।
पक्कं द्रुममिवासाद्य तस्य जीवितमर्थवत् ॥ ४३ ॥
यस्य शूरस्य विक्रान्तैरेधन्ते बान्धवाः सुखम्।
त्रिदशा इव शक्रस्य साधु तस्येह जीवितम् ॥ ४४ ॥
स्वबाहुबलमाश्रित्य योऽभ्युज्जीवति मानवः।
स लोके लभते कीर्तिं परत्र च शुभां गतिम् ॥ ४५ ॥
जय० अ० १

अपारे भव नः पारमप्लवे भव नः प्लवः।
कुरुष्व स्थानमस्थाने मृतान्संजीवयस्व नः ॥ २१ ॥
जय० अ० २

"हे पुत्र संजय! जिसप्रकार परिपक्क फलोंसे युक्त वृक्षके आश्रयसे अनेक पक्षिगण आनंदसे रहते हैं, उस प्रकार जिसके आश्रयसे सब लोग रहते हैं, उसी पुरुषका जीवन सार्थ हुआ। जिस शूर पुरुषके पराक्रमोंसे सब बांधव गण सुखी होते हैं, जिसप्रकार इन्द्रके पराक्रमसे देव सुखी होते हैं, उसीका जीवन उत्तम करके समझना चाहिये। अपने बाहुओंके बलका आश्रय करके जो वीर महान पराक्रम करके श्रेष्ठ होता है, वह इस लोकमें कीर्ति और परलोकमें शुभ गतिको प्राप्त करता है। हे पुत्र! अपार समुद्रमें पार दिखानेवाला, जहां नौका नहीं है, वहां नौकाके समान तैरानेवाला, और जहां

आश्रय नहीं है, वहां आश्रय देनेवाला होकर मरे हुओंको संजीवित कर। अर्थात् अपने पुरुषार्थके द्वारा सब अन्य लोगोंमें पुरुषार्थी जीवन उत्पन्न कर।

जय इतिहास का मनन।

इस समयतक जय इतिहास का मनन किया। जो पाठक इस विदुलादेवीके बोधका अच्छी प्रकार मनन करेंगे, वे ही जान सकते हैं कि इसमें तेजस्विता कितनी है। यदि इस प्रकारका उपदेश विद्यार्थी पढेंगे तो उनके अन्तःकरणमें आत्मविश्वासयुक्त तेज उत्पन्न होगा यदि स्त्रियां इसका पाठ करेंगी, तो उनके अंदर वीर पुत्र उत्पन्न करनेकी शक्ति आ-सकती है, अर्थात् उनके अन्दर जो वीरताके संस्कार होंगे, उनसे होनेवाली संतानपर भी वेही संस्कार निःसंदेह हो सकते हैं। इसलिये श्रेष्ठ लोगोंका कहना है कि यह जय इतिहास गर्भवती स्त्रियोंको अवश्यमेव पढना अथवा सुनाना चाहिये। गर्भधारण करने-की अवस्थामें इस जय इतिहासके प्रभावशाली संस्कार गर्भवती स्त्रीके मनपर पडें, तो उनके हितकारक परिणाम गर्भपर अवश्यही होंगे। इसलिये जो लोग वीर संतान पैदा करनेके इच्छुक हैं, वे इसका पाठ करें और स्त्रियोंसे भी इसका पाठ करावें। घरके अन्य लोगभी इसका श्रवण मनन और विचार करें, जिससे घरका वायुमंडल वीरतायुक्त बने और अपने परिवारमें कोई भी स्त्री पुरुष वीरत्वहीन न बने।

जय इतिहास पढने और सुननेका जो फल इस लेखके प्रारंभमें वर्णन किया है वह फल निःसंदेह पढने और सुननेवालोंको होगा, ऐसा हमारा निश्चय है। वीर पुरुषोंके घरोंमें येही विचार जीवित और जाग्रत रहने चाहिये। और जहां ये उत्साही विचार जाग्रत रहेंगे, वहां वीर पुरुष अवश्य होंगे।

यह जय इतिहास पाण्डवोंके भी कई शताब्दियोंके पूर्व हुआ था और जब कोई वीर उत्साहहीन होता था, उस समय उसको धीरज देनेके लिये यह इतिहास कहा करते थे। इसी प्रकार पाण्डवोंको धीरज देनेके लिये कुन्ती देवीने यह इतिहास कहा था, और इसका परिणाम भी पाण्डवोंपर योग्यही हुआ। जो पाण्डव पहिले युद्धके लिये सिद्ध न थे, वे इसके सुननेपर सिद्ध हुए। इस घटनाका विचार करनेपर भी निःसंदेह कहना पडता है कि, इस जय इतिहासका परिणाम शौर्य बढानेके कार्यमें बहुत उत्तम हुआ है।

हम भी जिस समय इसका पाठ करते हैं, उस समय अन्दरकी उत्साहशक्ति जाग्रत होनेका अनुभव होता है, क्यों कि इसमें उद्बोधक विचार प्रारम्भसे अन्ततक भरे हैं। इसलिये जगत्के व्यवहार के अन्दर यश चाहनेवाले लोग इसका अवश्य पाठ करें।

आर्य -स्त्री-शिक्षा ।

इस जय इतिहासमें उपदेश देनेवाली एक स्त्री है । यह देखनेसे प्राचीन आर्यस्त्रियों के विषयका आदर बढता है । जिस समय विदुला जैसी स्त्रियां आर्योंमें होंगी उस समय उनका विजय हुआ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है । जिन स्त्रियोंके रोमरोममें स्वजातीका उत्कर्ष, आत्मसंमान और विजयके भाव होंगे, वे स्त्रियां समाजका उत्कर्ष करनेका कार्य अवश्य करेंगी, इसमें कोई संदेह नहीं है । विदुला देवीके समय उत्तम प्रकारकी स्त्रीशिक्षा आर्योंमें थी, इसलिये इस प्रकारकी स्त्रियां उस समय अपने समाज को जाग्रत करनेका कार्य करनेकेलिये समर्थ होती थीं । यह स्त्रीशिक्षा की महिमा है । जिस समय आर्यशिक्षा स्त्रियोंको प्राप्त होगी, उस समय ऐसी ही स्त्रियाँ होंगी और उनके दक्षतापूर्ण उपदेशसे सब जनता उत्तम प्रभावसे संपन्न होगी ।

ईश्वर करे और ऐसी वीरशिक्षा हमारे राष्ट्रमें जाग्रत हो और सब देशवासी वीर-वृत्तीसे युक्त बनें ।

[उद्योगपर्वमें अध्याय १३३—१३६ तक यह जय इतिहास है ।]

जो राष्ट्र अपनी उन्नतिके लिये उद्योग करता है वही पूर्ण स्वराज्य प्राप्त कर सकता है ।

❀ ❀ ❀

अपने उद्धारके लिये स्वयं प्रयत्न करो । जितना प्रयत्न होगा, उतनाही स्वराज्य मिलेगा, कदापि अधिक नहीं मिलेगा ।

तुलसी का उपयोग।

तुलसी के पौधे में हवा शुद्ध करनेके तथा अन्य महत्त्व के गुण हैं। तुलसी की परिक्रमा करने में स्त्रियों के स्वास्थ्यपर बहुत लाभकारी परिणाम होता है। अपने देश में प्रथा है कि ऊंचा चबूतरा बनाकर उसमें तुलसी का पौधा लगाया जाता है। इसका उद्देश यह है कि तुलसी की उँचाई परिक्रमा करनेवाली स्त्रीके नाकतक आजावे ताकि तुलसीसे निकलनेवाली हवा का उस स्त्री को पूरा पूरा लाभ मिले। तुलसी के पौधे से निकली हुई शुद्ध वायु तुलसी की सेवा करते समय तथा उसकी परिक्रमा करते समय करनेवालेके शरीरपर आती है। तुलसी में ऐसा अद्भुत गुण है कि विष पेटमें जाकर बिलकुल मरणोन्मुख हुआ मनुष्य भी तुलसी के रस से चंगा हो सकता है। कफ नाश करनेमें तुलसीके बराबर दूसरी औषधि नहीं है। वैद्य लोग औषधि के लिए तुलसीका उपयोग बहुत करते थे और अब भी करते हैं।

ठण्ड देकर यदि बुखार आया हो तो तुलसी के पत्तों का रस थोडा नमक मिलाकर तथा गरम गरम दिया जाय तो अन्य किसी भी औषधि की आवश्यकता नहीं है। अब तो डाक्टर लोग भी मलेरिया ज्वरके लिए तुलसी का उपयोग करने लगे हैं। वे अब सलाह देते हैं कि तुलसी का पौधा प्रत्येक मनुष्यको अपने घरमें लगाना चाहिए।

विषहरे जंतु के दंश से उत्पन्न होनेवाली कष्टकारक वेदना कम करने के लिए तुलसीका बहुत उपयोग होता है। बैंर्या मच्छर आदि काटें तो उस स्थानमें तुलसीका रस लगाते हैं। शरीरमें चट्टे पड गए हों तो वे तुलसी के रस से अच्छे हो जाते हैं। बिच्छू की वेदना घटाने के लिए तुलसी की पत्ती के रसमें थोढा नमक मिलाकर दिया जाय।

छोटे बालकों के कान में दर्द हो जाय या उन्हे सर्दी हो जाय तो औषधि देते समय स्त्रियों को तुलसी का पौधा कल्पवृक्ष के समान लगता है। कान में दो एक बूंध रस डाला जाय और थोडा रस बच्चे को खाने को दिया जाय। अधिक उष्णता अथवा धूपमें घूमने से एक प्रकार का विकार उत्पन्न होता है। उस पर तुलसी का उपयोग बहुत ही लाभकारी है।

ढोर या मनुष्यके घावमें जब कीडे पड जाते हैं तब भी तुलसी अच्छा लाभ पहुँचाती है।

तुलसी की पत्ती का कषाय या तुलसी के सूखे पत्तों का चूर्ण यदि मकान में डाल दें तो मच्छर कम हो जाते हैं। बन-तुलसी का मच्छरों के नाश करने में अधिक उपयोग होता है। इसीसे मकान के चारों ओर नानारंग के फूलों के वृक्ष न लगाकर भिन्न प्रकारके तुलसी के पौधे लगाने की अतीव आवश्यकता है।

भोजन के पश्चात् मुखशुद्धि के लिए तुलसी के पत्तों का उपयोग करना चाहिए। तुलसी की पत्ती में एक प्रकार का सुवास रहता है। इससे मुह स्वच्छ होकर दुर्गंधि भी हो तो निकल जाती है। तुलसी वातहारक और उद्दीपक होने से अग्निमांद्य, अपचन, अरुची आदिपर तुलसी के रस का अच्छा उपयोग होता है। इस रस के साथ ही अद्रक का रस, पुदीना, काली मिर्च, अकलकारा, पीपरी भी देते हैं। छोटे बालक तथा गर्भवती के कफपर भी तुलसी का उपयोग होता है।

तुलसी का, बन-तुलसी का तथा सब्जाका बीज दस्त, अतिसार, आँवके लिए दिया जाता है। छोटे बालकों के दस्तों पर तुलसीके रस का अच्छा उपयोग होता है। ठण्ड लगती हो तो तुलसी, गवती चा, तथा पीपरी का कषाय देते हैं। तुलसी की चाय से पसीना आकर बुखार जल्दी उतर जाता है। इस प्रकार तुलसीके अनेक उपयोग हैं।

ग्रंथोंका परिचय।

१ तत्त्वचिन्तामणि।

[लेखक— श्री. जयदयालजी गोयन्दका। प्रकाशक— श्री. घनश्यामदासजी, गीताप्रेस, गोरखपुर, मूल्य ॥|-]

श्रीमद्भगवद्गीताके विषय सुबोध करनेके लिये लेखकने इस पुस्तकमें बडा यत्न किया है। जो पाठक इस ग्रंथको पढेंगे वे निःसन्देह भगवद्गीताकी शिक्षा जाननेमें समर्थ होंगे। इस प्रकारका सुबोध और हृदयाल्हादकारी पुस्तक लिखनेके कारण हम लेखकको शतशः हार्दिक धन्यवाद देते हैं। गीताप्रेस, गोरखपुर, भगवद्गीताका तत्त्वज्ञान जनतामें फैलानेके लिये जो विशेष प्रयत्न कर रहे हैं, उसके लिये उनका जितना गौरव किया जाय, उतना थोडा है। हरएक गीताप्रेमीको यह पुस्तक अवश्य पढने योग्य हैं।

२ गीता— दैनन्दिनी। (गीता-डायरी)

[प्रकाशक—श्री. घनश्यामदासजी, गीताप्रेस गोरखपुर मूल्य।)] सन १९३० ई० की यह "गीता डायरी" है। अन्य डायरियोंमें जो बातें होती हैं वे सब इसमें हैं, और इसके अतिरिक्त प्रतिदिन गीताके दो श्लोक सम्मुख रखे हैं। पाठक इस डायरीसे स्वार्थके साथ परमार्थ का साधन भी कर सकते हैं। जो लोग डायरी रखते हैं वे इस डायरीको ही अवश्य रखें।

३ श्रद्धानन्द दलितोद्धारसभा. देहली.

प्रचार तथा शिक्षाविभाग का वार्षिक रिपोर्ट। प्रकाशक—श्री. स्वा. रामानंद संन्यासी इस रिपोर्टको देखनेसे श्रद्धानंद दलितोद्धार सभाका प्रशंसनीय कार्य कितना उत्तम हो रहा है यह ज्ञात हो सकता है। इस कार्यको देखकर जनताको अपने तनमनधनसे इस कार्यकी सहायता अवश्य करनी चाहिये।

किसी धर्मसे सम्बन्ध न रखनेवाले गोवधका चिट्ठा।

प्रत्येक प्रान्तके मुख्य २ शहरोंमें एक वर्षमें कमसे कम कितना गोवध होता है?

वम्बई ९२२९७, कराची १७५२२५, कराची फौज २९२२, कराची टाटा कस्सावखाना ५८५६। ३२, हैदरावाद (सिंध) १०१२३०, सक्कर ४८९५८, अहमदनगर व खानदेश ५८०३९, नासिक (तीर्थ) ८०९०, पूना-सतारा १७८४७, वेलगांव-वीजापुर धारवार-कनारा लरकाना नवावशा ७६३९८, थार-पारकर १५७८८, उत्तरीय सिन्धसीमा ७४०, अहमदावाद १४१२८, कैरा-पंचमहाल १९५४१, बडोच ३०७६, सूरत ३८४०, थाना १३०९२, [मीजान ६१७१०९]

बिहारप्रान्त,

आरा २६५४, वालासोर १४४०, भागलपुर १२०४६, वकसर-छैवासा १६७५, छपरा २५५५, कटक (तीर्थ) ६०००, दाउदनगर दरभंगा डाल्टेनगंज ३३३९, गया १५०७३, हजारीवाग (तीर्थ) ६४८०, हाजीपुर-जगदीशपुर झालदा १४६७, केन्दापाडा २०००, किसनगंज १५६०, मधुवनी६२७८, मुंगेर १४९९, मुतिहारी-मुजफ्फरपुर ५२६०, पटनाशहर ३२८५, पुरनिया—पुरलिया २०२२ रांची ७७४५, सहसराम २२०२, साहवगंज—सम्वलपुर १८१८, भद्रक ६६७०, धामनगर १८२५, धनवाद ८१६४, आदरा स्टेशन १०५०, वभुआ १०००, शाहाबाद स. डि. २३८४, पुरनिया १२०००, डिहरी विक्रमगंज कूथ व विक्रमगंज ९१५, [मीजान ११९८४३]

संयुक्त प्रान्त (यू. पी.)

आगरा ६६०५४, अलीगढ ३०२२६, अलाहाबाद १४७११, अमरोहा ६५२५, अल्मोडा २०७, आजमगढ २१३६, वराइच ४३९०, वलिया बुलन्दशहर वारावंकी २२८१, वरेली १६२२६, वदायूं५७८५, विलासपुर १४११, कानपुर १७१०१, देववन्द १८४७, चन्दौसी २०९२, एटा१९०६, इटावा २९१५, फतेहपुर १७४४, फैजावाद (अयोध्याके पास) ३०१०, गाजियावाद ३५७०, गाजीपुर ८५७२, गोन्डा १४१४, गोरखपुर ४०३७, हापुड १११६, जौनपुर ३७९७, कन्नौज२३५८, झांसी ८३८३, कासगंज १८२३, जलेसर १५०३ खुरजा ३४४४, लखितपुर ६११३, लखिनऊ ११५००, मेरठ ८३५६, मिरजापुर २४९७, मुरादावाद १३६२५, मसौरी ४३०१, मथुरा (तीर्थ) ४१९५, मुजफ्फर नगर २५७३, नगीना १५८७, नैनीताल २७१५, कैराना १४०९, रायबरेली १४४४, सहारनपुर १२५७३, शाहाबाद १७७२, सिकन्दरावाद १४५२, सुलतानपुर टांडा १७५६, तिलहर ३३०३ उझानी १५४७, उन्नाव १७८२, नौपारा २६६४, रसरा २१७४, कान्डला १२१०, कैराना १४०९, वासी १०८५, भवाना राजपूर १०५०, सरधाना-कर्नलगढ २६३७, शिकोवावाद १३४१, वंगरमान १६१०, पुर्नी १५७४, अब छावनीमें देखिये—

छावनीमें.

बरेली २८६१, लखनऊ ६६७८, दीगरजगहोंपर १००१७, अल्मोडा २०७, परतापगढ ४००, उरई ६५१, कोसी ५४५, नैनीताल ५३७, शाहजहांपुर ४३४, [यू. पी. का मीजान ३४९६१९,]

मध्यप्रदेश व बराड.

(अपूर्ण.)

अकोला ४३४४, आकोट १६०४, अमरावती २९४३, आरवी ११६४, वासिम २६६७, बिलासपुर १४००, बुलढाना ८००, बुरहानपुर २३२२, छिन्दवाडा ११६३, बालाघाट-बैतूल भन्डारा १३००, एलिचपुर ३७९२, आमगांव गोन्दिया वगैरह १४६५७, हिंगनघाट ३२४९, होशंगाबाद जिला १८००, जबलपुर १०१७९, करंजा २११६, खामगांव २०६० खन्डुवा ३२९६, मुर्तिजापुर १०३८, नागपुर ६७४२, नागपुर जिला ३४५०, पुलगांव आदि ९००, रायपुर शहर १२६२, सिवनी ८०१, शेगांव १४७८ वर्धा ७३९, यवतमाल ३०८, सागर जबलपुर व दमोह जिला ६७०००, [मीजान १५३५६६]

पंजाब.

(अपूर्ण.)

अम्बाला २२९४, अम्बाला छावनी (नहीं मालूम,) चिनिओट १२७६, फीरोजपुर झिरका १२१६, गुजरानवाला १३३५, गुजरात १७६०, हिसार २१२३ होशियारपुर १२२१, जालंधर ३२४३, कैथल १०२५, कसूर ६७५४, लाहोर १२७७६, लुधियाना ३८१९, लायलपुर १८४०, पानीपत ५१७३, रायकोट २१७० रिवाडी ३३८२,रुपड १६१३,सियालकोट ५७६९, वजीराबाद २३३०, झप्प जलगा ५०००, फीरोजपुर २४६१, फीरोजपुर छावनी (नहीं मालुम,) दीगर जगहों पर ८८००, [मीजान ७७४०००]

बंगाल.

कलकत्ता १६४६५२, आसनसोल ५४७५, बांकुरा ७२८, बजबज १६४४, वर्दवान ५०४०, ढाका १०४४५, गार्डनरीच १६४५२, कुरसियाग २३४३, सुरी १०००, अलीपुर ११३१६, बैरकपुर १३११, जलपाड १०६४, बाकरगंज १००००, बोरभूमि ४२००, दीनाजपुर ७०००, बारीसाल १०००, दीगरस्थान ३८००, [मीजान २४८४७०]

मद्रास प्रान्त.

	बैल व सांड.	गाय.	बछडे.
म्यूनसिपल हदमें	७८१३१	१४३३१३	११४२९
लोकल बोर्ड हदमें	नहीं मालूम	९०६३३७	१३५०९—
कुल मीजान	७८१३१	२३३९५०	२४९४८

सर्वयोग =२२७०१९

यम और पितर।

यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किंचन। यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान॥ अथर्व० १८।२।३२॥

अर्थ- (यमः परः) यम परे है अर्थात् दूर है और (विवस्वान्) सूर्य उससे (अवरः) समीप है। (ततः परं) उस यम से परे मैं (किंचन न अति पश्यामि) कुछ भी दूर स्थित हुआ हुआ नहीं देखता हूं। वा नहीं समझता हूं (यमे मे अध्वरः अधिनिविष्टः)यमके अन्दर मेरा अध्वर अर्थात् हिंसा रहित यज्ञ स्थित है (विवस्वान् भुवः अनुआततान) सूर्यने द्युलोकको अपने प्रकाशसे फैला रखा है।

इस मंत्र में पिता पुत्र यम व विवस्वान् की स्थान की दृष्टिसे तुलना की गई है। यम का स्थान सूर्यसे परे है और उससे परे कोई नहीं है। हमने यमलोक नामक प्रकरण में देखा था कि तीन प्रकार की द्युमें से दो सूर्यके समीप हैं तथा तीसरी यम के राज्य में है। उसको दृष्टीमें रखते हुए इस मंत्र के यम विवस्वान् से परे है इस कथन का अभिप्राय यह हुआ कि यम जिस द्युमें है वह सब से परे है अर्थात् वह द्युलोककी समाप्ति पर है। उसके आगे द्युलोक समाप्त हो जाता है। हमारी समझमें यहां पर स्थान की दृष्टिसे ही तुलना है। पर का अर्थ उत्कृष्ट भी हो सकता है और अवर का अर्थ अधम भी हो सकता है पर ऐसा अर्थ करने से उस का भाव ध्यानमें आना कठिन है। उपरोक्त अर्थ की पुष्टि करनेवाले मंत्र हम पूर्व देख आए हैं और अतः उस दृष्टि से इस मंत्र का अर्थ विशेष संगत प्रतीत होता है। भुवः-इस का अर्थ द्युलोक है जैसा कि 'भु-र्भुवः स्वः' इस में भुवः का अर्थ है।

अपा गूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते। उताश्विनाभरद् यत् तदासीद जहादुद्वा मिथुना सरण्यूः॥ अथर्व० १८।२।३३॥

अर्थ— (मर्त्येभ्यः) मरणधर्मा मनुष्योंसे (अमृतां अपागूहन्) अमरताको छिपाया। और (विवस्वते) विवस्वान् के लिए (सवर्णां) सवर्णा

(कृत्वा) बना करके (अदधुः) धारण किया- दिया। (उत) और (यत् तत्) उस समय जो वह स्वरूप था उसने (अश्विनौ अभरत्) अश्विनौ को धारण किया। और (सरण्यूः) सरण्यूने (द्वौ मिथुनौ) दो जोडी (यम व यमी) (अजहात्) उत्पन्न किए।

सरण्यूसे यम व यमीकी उत्पत्ति पूर्व दर्शाई गई है, और बृहद्देवताकार द्वारा दी गई गाथासे यह भी पता चलता है कि सरण्यूने जब घोडीका रूप धारण किया, तब उससे जो संतान हुई उनका नाम अश्विनौ पडा। इस प्रकार के सर्व मंत्रोंका संग्रह करके इन पर विचार करना चाहिए व इन अलंकारोंसे वस्तुतः किसका वर्णन है यह पता करना जरूरी है। कोई भाष्यकार सरण्यूका अर्थ व्यापक प्रकृति करता है तो कोई रात्रि करता है। वस्तुतः इसका अर्थ अन्वेषणीय है।

६- प्रेतको जलाना, गाडना आदि।

प्रेतके स्मशान भूमिपर पहुंच जानेके अनन्तर उसे गाडने, बहाने, जलाने वा हवा में खुला छोडने की क्रिया की जाती है। नीचे लिखे मंत्रमें इन चारों क्रियाओंका उल्लेख पाया जाता है। -

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्ने आवह पितॄन् हविषे अत्तवे॥

अर्थ- (अग्ने) हे अग्नि ! (ये निखाताः) जो पितर जमीन में गाडे गए हैं और (ये परोप्ताः) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो जला दिए गए हैं (च) और (ये उद्धिताः) जो पितर जमीन के ऊपर हवामें रखे गए हैं, (तान् सर्वान्) उन सब पितरों को तू (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आ वह) ले आ। अथर्व० १८।२।३४

यहांपर चार प्रकारके स्मशान कर्म दर्शाए गए हैं। (१) गाडना, (२) बहाना, (३) जलाना और (४) हवामें जमीनपर खुला छोडना।

(१) गाडना- कुछ प्रेत जमीन में गाडे जाते हैं जिनका कि अंत्येष्टि संस्कार अग्नि द्वारा नहीं किया

जाता। ये कौन हैं इसपर हमने थोडासा विचार करना है। जो मनुष्य संन्यासी होकर अपना देह त्याग करते हैं उनके देहको न जलानेके लिए स्मृतियों में कहा गया है, क्यों कि संन्यासाश्रम में प्रवेश करते हुए पुरुषको सर्वमेध याग करना पडता है। इस यागमें वह अग्नि संबन्धी सर्व कार्यों से मुक्त हो जाता है। अतएव उसे मरने पर अग्नि द्वारा नहीं जलाया जाता। संन्यासी के शरीर को जलाना चाहिए वा नहीं इस विषय में अभीतक हमें श्रुतिका निश्चय ज्ञान नहीं है, पर स्मृति इनकार करती है। अतः 'निखात' से संन्यासी का भी ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समयमें खास करके मुसलमान व ईसाई लोक मुर्दोंको न जलाते हुए गाडते हैं। अतः उनके प्रेतों का भी निखात से ग्रहण किया जा सकता है। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं। मुर्दे की चार अवस्थायें हो सकती हैं उनमें से एक निखात है।

(२) जलाना वा
(३) जलमें बहाना] ये दो अवस्थायें खास

कर हिन्दुओंमें पाई जातीं हैं।

(४) जमीनपर वायुमें रखना-यह चौथी अवस्था पारसीओंमें पाई जाती है।

इस प्रकार ये चारों अवस्थायें वर्तमान समयमें हमें मिलती हैं। वेदमें मृतों के दो विभाग मिलते हैं (१) अग्निदग्ध अर्थात् जो अग्नि में जलाए जाते हैं तथा (२) अनग्निदग्ध अर्थात् जो अग्निमें नहीं जलाए जाते। अनग्निदग्ध में जलाने की अवस्था को छोडकर शेष अवस्थायें आ सकती हैं।

यदि हम सूक्ष्म रीतिसे हिन्दुओंके अंत्येष्टि संस्कार का अवलोकन करें तो हम देखेंगे कि उपरोक्त चारों अवस्थायें चिन्ह रूपमें उनके अंत्येष्टि संस्कार में विद्यमान हैं। इससे यह अनुमान भी किया जा सकता है कि किसी न किसी समय ये चारों प्रथायें हिन्दुओंमें प्रचलित होंगी। यद्यपि इस समय वे संकेत रूपमें ही अवशिष्ट रह गई हैं। इस समयका हिन्दुओंका प्रेत संस्कार इन संकेतों सहित इस प्रकारसे होता है। इसे देखनेसे ऊपरका परिणाम स्पष्ट प्रतीत होगा।

(१) प्रायः आजकल हिन्दुलोक मुर्दा अग्नि में जलाते हैं और जलानेके बाद तीसरे दिन (२) एक अश्मा (पत्थर) लेकर उसको जमीनमें रख देते हैं। इसी प्रकार मृतकी हड्डियां चुनकर एक मिट्टीके बरतनमें रखते हैं अथवा वृक्षपर लटका देते हैं। अथवा (३) बहुतसे लोक समीपस्थ नदी या समुद्रमें बहा देते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोक सीधा मुर्देकोही नदीमें बहा देते हैं। यदि इतनाभी न हो सका तो चावलों वा आटेका पिण्ड बनाकर उसके ऊपर मृत पितरोंकी पूजाकर उस पिण्डको बहा देते हैं। (४) मरनेके बाद दसवे दिन उपरोक्तानुसार पिण्ड बनाकर घरके बाहिर खुला रख देते हैं ताकि उसे कौवा स्पर्श करे। जबतक कौवा स्पर्श नहीं करता तबतक अंत्येष्टि पूर्ण नहीं हुई ऐसा समझा जाता है। यह संकेत हवामें मुर्देको पारसियोंकी तरह खुला छोडने की क्रिया का है।

इस प्रकार ये चारों विधियां केवल हिन्दुओंमें भी किसी रूपमें पाई जाती हैं यह हम देख सकते हैं।

उपरोक्त मंत्रमें जो चार विधियां दर्शाई गई हैं वे ये ही हैं ऐसा हम कह सकते हैं। अतएव 'ये उद्धिताः' अर्थात् जो ऊपर रख दिए हैं यानि जो हवामें जमीनके ऊपर रख दिए हैं, यही प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'ये परोप्ताः' का अभिप्राय जो जल द्वारा दूर बहा दिए हैं यही प्रतीत होता है। अस्तु इसमें कही गई अवस्थाओंपर हमने यथाशक्ति प्रकाश डालनेकी कौशिश की है। पाठक इसपर विशेष विचारकर उचित निष्कर्ष निकालें।

इसके अतिरिक्त इस मंत्रमें इन चार प्रकारके पितरों को हवि खानेके लिए बुलाया गया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मृतों के लिए हविर्दान करना चाहिए।

> ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः
> स्वधया मादयन्ते। त्वं तान् वेत्थ यदि जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥
> अथर्व० १८।२।३५॥

अर्थ- (ये) जो ३४ मंत्रोक्त (अग्निदग्धाः) अग्निद्वारा जलाए गए और जो (अनग्निदग्धाः)

अग्नि द्वारा न जलाए गए पितर (दिवः मध्ये) द्यु लोकके बीचमें (स्वधाया) स्वधा द्वारा (मादयन्ते) तृप्त हो रहे हैं, (तान्) उन्हें (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि (त्वं यदि वेत्थ) तू निश्चय से जानती है । वे (स्वधया) स्वधाके साथ (स्वधितिं यज्ञं) स्वधावाले यज्ञका (जुषन्ताम्) सेवन करें।

इस मंत्रमें भी ३४ मंत्रोक्त पितरों के लिए यज्ञ सेवन करनेका उल्लेख है ।

शं तप मातितपो अग्ने मा तन्वं तपः ।
वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यद्धरः ॥
अथर्व० १८।२।३६॥

अर्थ—हे अग्नि ! (तन्वं) इस मृत शरीर को (शं तप) सुखसे तपा अर्थात् इसे कष्ट हो इस प्रकार से मत तपा । (मा अति तपः) बुरी तरहसे इसे मत तपा तेरा जो तपानेका (जलाने का) (शुष्मः) बल है वह (वनेषु अस्तु) वनों में होवे । और (यत्) जो (ते हरः) तेरा हरण करनेवाला तेज है वह (पृथिव्यां अस्तु) पृथिवी पर होवे।

इस मंत्रका भाव ऋग्वेद मं. १० । सू. १६ । मं. १ से मिलता है । प्रेत दहन के समय की यह प्रार्थना प्रतीत होती है ।

निम्न लिखित मंत्रमें यम का आए हुए मृत पुरुष को अपने राज्यमें स्थान देनेका उल्लेख है —

ददाम्यस्मा अवसानमेतद्य एष आगन्
मम चेदभूदिह। यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह
ममैष राय उपतिष्ठतामिह ॥ अथर्व० १८।२।३७॥

अर्थ- (अस्मै) इस मृत पुरुष के लिए (एतत् अवसानं) इस स्थानको (ददामि) मैं देता हूं। क्योंकि (एषः यः) यह जो है वह (आगन्) यम लोकमें आया है और (इह) यहांपर आकर (मम चेत्) मेराही (अभूत्) होगया है अर्थात् क्योंकि यह यहां आकर मेरी ही प्रजा बन गया है, अतः मैं इसे स्थान देता हूं। अपने राज्य से नहीं निकालता। इस उपरोक्त प्रकार से (चिकित्वान् यमः) ज्ञानवान् यम (एतत्) यह उपरोक्त 'ददाम्यस्मै' इत्यादि वाक्य (प्रति आह) यमलोक में आए हुए के प्रति कहता है । और यह भी कहता है कि (एषः) यह आगन्तुक (मम राये) मेरे धनके लिए (इह) यहां यम राज्यमें (उप तिष्ठताम्) उपस्थित होवे अर्थात् उसे भी इस मेरे धन का भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजाजनकी तरह मेरे धन का भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजाजनकी तरह मेरे लिए दिया जानेवाला उचित कर प्रदान करे ।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमकी यमराज्यमें आए हुए के प्रति उक्ति है ।

इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।
शते शरत्सु नो पुरा॥ अथर्व० १८।२।३८॥

अर्थ- (इमां मात्रां) इस मर्यादा-परिमाण को इस प्रकार से (मिमीमहे) हम नापते हैं । (यथा) जिस प्रकारसे कि (अपरं) अन्य कोई (पुरा) आगामी (शते शरत्सु) सौ वर्षों में भी (न मासातै) नहीं माप सकता ।

पुरा यह अव्यय निम्न अर्थोंमें प्रयुक्त होता है—
"प्रबन्ध चिरातीत निकटाऽऽगामिषु ।"

प्रेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ अथर्व० १८।२।३९॥

अर्थ- (प्र मिमीमहे) अच्छी प्रकार से मापते हैं। शेष पूर्ववत् ॥

अपेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।
शते शरत्सु नो पुरा । अथर्व० १८।२।४०

अर्थ- (अप) जिसमें से दोष निकल गए हैं इस प्रकारसे अर्थात् पूर्ण शुद्ध रूपसे (मिमीमहे) मापते हैं । शेष पूर्ववत् ।

वीमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ अथर्व० १८।२।४१॥

अर्थ-(वि मिमीमहे) विशेष ढंगसे मापते हैं। शेष पूर्ववत् ॥

निरिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ अथर्व० १८।२।४२॥

अर्थ-(निः मिमीमहे) निश्चित रूपसे वा निःशेष रूपसे मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥

उदिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ अथर्व० १८।२।४३॥

अर्थ- (उत् मिमीमहे) उत्तम रूपसे मापते हैं। शेष पूर्ववत् ।

समिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ अथर्व० १८।२।४४॥

अर्थ- (सं मिमीमहे) अच्छी तरह से-भली भांति मापते हैं। शेष पूर्ववत्।

अमासि मात्रां स्वरगामायुष्मान् भूयासम् ।
यथापरं न मासातै शते शरत्सु नो पुरा ॥
अथर्व० १८।२।४५

अर्थ—(मात्रां अमासि) मैंने मात्रा को मापूं और इससे (स्वः अगाम्) सुख को प्राप्त होऊं। (आयुष्मान्) दीर्घायुवाला (भूयासम्) होऊं। शेष पूर्ववत् ।

इस मंत्र में मात्रा मापनेका फल दर्शाया गया है। इन मंत्रों (३८ से ४५) तक का प्रकृत सूक्त के प्रकरण से क्या संबन्ध है यह एक विचारणीय विषय है। प्रकृत विषयके साथ मात्रा नापने का क्या अभिप्राय है यह जाने सिवाय मंत्रों के भाव को समझना कठिन है। ' आगामी सौ वर्षों में कोई माप नहीं सकता ' इस मर्यादा देनेका विशेष अभिप्राय अन्वेषणीय है।

प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय।
अपरि परेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ ॥
अथर्व० १८।२।४६ ॥

अर्थ— (प्राणः) प्राण, (अपानः) अपान, (व्यानः) व्यान, (आयुः) आयु और (चक्षुः) आंख (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनके लिए अर्थात् इस संसारमें जीवन धारण करनेके लिए होवें। और आयुके पूर्ण होने पर देहका त्याग करनेपर हे मनुष्य ! तू (अपरिपरेण पथा) अकुटिल मार्ग द्वारा (यमराज्ञः पितॄन्) यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंको (गच्छ) जा-प्राप्त हो। 'अपरिपरः-परि परितः सर्वतः परः परभावः कुटिलभावः अथवा शत्रुः न विद्यते यस्मिन् सः अपरिपरः।' अर्थात् जिसमें सर्वथा कुटिलता वा शत्रु नहीं है वह अपरिपर।

भावार्थ— हे मनुष्य तेरे प्राण अपानादि आजीवन उत्तम बने रहें तथा मरने पर तू उत्तम मार्गसे यमलोकस्थ पितरों को प्राप्त हो। यम पितरोंका राजा है यह इससे पता चलता है।

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः। ते द्यामुदित्या विदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः ॥ अथर्व० १८।२।४७ ॥

अर्थ- (ये) जो (अग्रवः) अग्रगामी, (शशमानाः) प्रशंसा प्राप्त किए हुए अथवा उद्यमशील, (अनपत्यवन्तः) अपत्य-संतान रहित अथवा ऐश्वर्यवाले पुरुष (द्वेषांसि हित्वा) द्वेष भावका त्याग करके (परेयुः) मरे हैं (ते) उन पुरुषोंने (द्यां उदित्य) द्युलोकको प्राप्त करके (अधिदीध्यानाः) अत्यन्त दीप्यमान होकर (नाकस्य पृष्ठे लोकं अविदन्त) स्वर्गमें स्थान पाया है।

भावार्थ- जो लोक अग्रगामी, प्रसिद्ध तथा द्वेषों का त्याग करते हैं वे मरने पर द्युलोकस्थ स्वर्गमें जाते हैं।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि मरने पर स्वर्गमें कौन जाते हैं। इसके साथ साथ यहां पर यह भी पता चलता है कि स्वर्ग द्युलोकमें है।

अब अगले मंत्र ४८ वें में यह दर्शाया गया है कि मृतपितरोंका निवास किस द्युमें है-

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते॥
अथर्व० १८ । २ । ४८ ॥

अर्थ- (अवमा द्यौः उदन्वती) सबसे नीचे की द्यौ ' द्युलोक ' वह है जिसमें कि जल रहता है। जिस द्युलोक में बादल रहते हैं वह सब से नीचेका द्युलोक है। (पीलुमती इति मध्यमा) और जिसमें ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं वह बीच का द्युलोक है। (ह) निश्चय से (तृतीया) तीसरा (प्रद्यौः इति) प्रद्यु नामका द्युलोक है (यस्यां) जिसमें कि (पितरः आसते) पितर स्थित होते हैं।

इस मंत्रमें यह बतलाया गया है कि द्युलोक तीन प्रकारका है। एक तो वह जो कि तीनों प्रकार के द्युलोकों में से सबसे नीचा है और उसमें मेघ मण्डल स्थित है। दूसरा इस से ऊपर है और उस में पीलु अर्थात् ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं। यह बीचका द्युलोक है। तीसरा इस से ऊपर है जो कि प्रद्यौ के नामसे प्रख्यात है और यही द्युलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आविविशु-
र्वन्तरिक्षम्। य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां
तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम॥

अथर्व० १८।२।४९

(ये) जो (नः पितुः पितरः) हमारे पिताके पितर हैं, (ये) और जो (पितामहाः) उनके भी पितामह हैं, (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं आविविशुः) विशाल अंतरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं, और (ये) जो (पृथिवीं उत द्यां) पृथिवी तथा द्युलोक में (आक्षियन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः पितृभ्यः) उन पितरों के लिए (नमसा विधेम) नमस्कार पूर्वक पूजा करते हैं।

भावार्थ- जो हमारे पितरादि पूर्वज अंतरिक्ष, द्यु तथा पृथिवीमें रहते हैं उनकी हम ' नमः ' द्वारा पूजा करते हैं।

इस मंत्र से यह स्पष्ट हो रहा है कि पितर तीनों लोकोंमें अर्थात् पृथिवी, अंतरिक्ष व द्युमें रहते हैं।

अब अगले तीन मंत्रों (५०, ५१, ५२) में शवको जमीनमें गाडने का उल्लेख प्रतीत होता है। इनका देवता- भूमि है।

इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम्।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि॥

अथर्व० १८।२।५०॥

अर्थ-- हे मृत पुरुष (इदं इत् वा उ) यही है (न अपरं) दूसरा नहीं है। (दिवि सूर्यं पश्यसि) जो द्युलोकमें तू सूर्य देखता है। (यथा पुत्रं माता सिचा) जिसप्रकार पुत्र को माता अपने आंचलसे ढांपती है उस प्रकार हे (भूमे) पृथिवी तू (एनं) इस मृत पुरुषको (अभि ऊर्णुहि) चारों ओर से ढांप।

भावार्थ-- हे प्रेत ! यही सब कुछ है जो कि द्युलोकमें सूर्य दिख रहा है। हे भूमि ! तू इस प्रेत को इस प्रकार से ढकले जिस प्रकार से कि माता पुत्र को अपने आंचलसे ढांपती है। इस मंत्रके पूर्वार्धका भाव कुछ विशेष रूपसे स्पष्ट नहीं होता। और अत एव उत्तरार्धसे उसकी संगति लगानी जारा विचारणीय है। उत्तरार्ध स्पष्ट ही है।

इदमिद् वा उ नापरं जरस्यन्यदितोऽपरम्॥
जायापतिमिव वाससाभ्येनं भूम ऊर्णुहि॥

अथर्व० १८।२।५१॥

अर्थ-- (जरसि) वृद्धावस्था के बादमें (इदं इत् वाउ अपरं) यही दूसरा स्मशानोचित कार्य है (अन्यत् इतः अपरं न) दूसरा इससे भिन्न कोई कार्य नहीं। अतः हे (भूमे) भूमि (जाया पतिं वाससा इव) जिस प्रकार पत्नी पतिको वस्त्रसे ढांपती है उस प्रकार तू (एनं) इस प्रेत को (अभि ऊर्णु हि) रूपसे ढांप।

भावार्थ- वृद्धावस्थाके अनन्तर देहके लिए सिर्फ स्मशान कार्य ही बाकी रह जाता है दूसरा कोई नहीं। अतः हे भूमि उस कार्यार्थ लाए गए इस शवको ऐसे ढांपले जैसेकि पत्नी अपने वस्त्रसे पतिको ढांप लेती है।

अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि॥

अथर्व० १८।२।५२॥

अर्थ-- हे प्रेत ! (त्वा) तुझे (मातुः पृथिव्याः) माता पृथिवीके (भद्रया वस्त्रेण) कल्याणकारी वस्त्रसे (अभि ऊर्णोमि) आच्छादित करता हूं अर्थात् जमीनमें तुझे गाडता हूं। (जीवेषु भद्रं तत् मयि) जीवितोंमें जो कल्याण है वह मेरेमें हो अर्थात् मुझे प्राप्त हो और (पितृषु स्वधा) जो पितरोंमें स्वधा है (सा त्वयि) वह तेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो। यहां पर स्पष्ट शब्दोंमें प्रेतके गाडनेका निर्देश है।

भावार्थ- हे प्रेत ! तुझे पृथिवी माताके कल्याणकारी वस्त्रसे ढकता हूं। संसार में जो कल्याण है उसका मैं भागी बनूं और जो पितरोंमें स्वधा है वह तुझे प्राप्त हो अर्थात् पितृलोक में जाकर तुझे स्वधा मिले। इस प्रकार हम दोनों सुखी हों। तू परलोक में सुखी हो मैं इस लोकमें सुखी होऊं।

अग्नीषोमा पथिकृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं
दधथुर्विलोकम्। उप प्रेष्यन्तं पूषणं यो वहा-
त्यञ्जोयानैः पथिभिस्तत्र गच्छतम्॥

अथर्व० १८।२।५३॥

अर्थ—(पथिकृता) मार्ग बनानेवाले (अग्नीषोमा) अग्नि व सोम (देवेभ्यः) देवों के लिए (स्योनं) सुखकर (रत्नं) रमणीय-सुन्दर वा रत्नोंवाला (लोकं) स्थान (विदधथुः) देवें। (यः) जो कि स्थान (उप प्रेष्यन्तं पूषणं)समीप में आते हुए पूषा (सूर्य) का (वहाति) वहन करता है। (तत्र) ऐसे उस स्थानमें (अंजोयानैः) सीधा चलनेवाले-सरल (पथिभिः) मार्गोंसे (गच्छतम्) विचरण करो। अथवा (गच्छतं=गमयतं) विचरण कराओ।

भावार्थ—हे मार्ग बनानेवाले अग्नि व सोम! तुम देवोंके लिए उत्तम स्थान दो। जिस स्थानमें कि सूर्य विचरण करता रहता है। ऐसे स्थान में तुम दोनों सरल मार्गोंसे आए हुए को चलाओ। अगले मंत्र ५४ से ऐसा पता चलता है कि अग्नि मृतात्मा को पितरों के पास पहुंचाती है।

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः। स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ ऋ. १०।१७।३॥
तथा अथर्व. १८।२।५४॥

अर्थ- (अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः पूषा) हे मृत मनुष्य ! निरन्तर प्रकाशमान प्राणिमात्रका रक्षक पूषा, (विद्वान् त्वा इतः प्रच्यावयतु) जानता हुआ अपनी रश्मियों द्वारा तेरी आत्माको इस पृथिवी लोकसे प्रकृष्ट मार्गकी ओर ले जावे। (सः अग्निः) वह अग्नि (त्वा) तुझे (एतेभ्यः पितृभ्यः) इन पितरोंके लिए या (सुविदत्रियेभ्यः देवेभ्यः) उत्तम धनवाले देवोंके लिए (परि ददत्) देवे।

भावार्थ—संसार का पोषक आदित्य तुझ प्रेतकी आत्मा को यह संसार छुडाकर उत्कृष्ट मार्गकी ओर ले जावे व अग्नि तुझे पितरों व देवों के पास पहुंचावे।

यास्काचार्यने पूषाका अर्थ आदित्य किया है। (निरु० ७।३।९). तदनुसार सूर्य मृत पुरुषकी आत्माको अपनी रश्मियोंसे ले जाता है ऐसा प्रतीत होता है।

आयुर्विश्वायुः परि पातु त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्। यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥ अथर्व० १८।२।५५

अर्थ—(आयुः विश्वायुः) और विश्वायु (त्वा परिपातु) तेरी रक्षा करें। और (पूषा) पोषक आदित्य (त्वा) तेरी (प्रपथे) प्रकृष्ट मार्गमें (पुरस्तात्) सामनेसे (पातु) रक्षा करे (यत्र) जहांपर-जिस स्थानमें (सुकृतः आसते) उत्तम कर्म करनेवाले स्थित हैं, (यत्र) जिस स्थान में (ते) वे सुकृत् लोक (ईयुः) गए हुए हैं (तत्र) उस स्थानमें (त्वा) तुझे (देवः सविता) प्रकाशमान आदित्य (दधातु) स्थापित करे।

भावार्थ- हे प्रेतात्मा! तेरी आयु व विश्वायु रक्षा करें। सूर्य तेरी रक्षा करे, व सुकृतों के लोकमें ले जाकर स्थापित करे।

यह मंत्र ५४ मंत्रके पूर्वार्ध के भाव को व्यक्त कर रहा है उस उत्तरार्ध की ही यह मंत्र एक तरह से व्याख्या है।

आयुः=अन्न निघण्टु, २।७।
विश्वायुः=सर्वव्यापक।] परन्तु इन दोनों का यहां क्या अभिप्राय है यह विचारणीय है।

अगले मंत्र ५६ में बैल गाडी द्वारा शव को स्मशान भूमि में ले जानेका वर्णन है ऐसा सायणाचार्यका अभिप्राय है। यह मंत्र सायणाचार्य के भाष्य समेत इस प्रकारसे है।

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात्॥
अथर्व० १८।२।५६॥

अर्थ- हे मृतपुरुष! (वह्नी) वहन करनेवाले इन दो बैलोंको (ते वोढवे) तेरे वहन करनेके लिए (युनज्मि) बैलगाडीमें जोडता हूं। किस लिए? (असुनीताय) जिसमेंसे प्राण निकाल लिए गए हैं उस असुनीत अर्थात् गत प्राण देहके वहन करनेके लिए। अथवा असुनीतका अर्थ है जो कि सुखपूर्वक न लेजाया जा सके। जिसके उठानेमें तकलीफ होती हो। (ताभ्यां) उन बैलोंसे (यमस्य सदनं इति) यह यमका घर है इस प्रकार (सं अवगच्छतात्) भली भांति जान।

शरीरसे प्राणोंके छूट जानेपर स्नान आदि करा कर वस्त्र बदलकर उसे स्मशान भूमिमें ले जाने की वारी आती है। हिन्दुलोक शवको, बांसोंको शय्या बनाकर उस पर घास फूस डालकर उसे चार आदमी कंधे पर रखकर स्मशानमें ले जाते हैं। मुसलमान लोक भी इसी प्रकारसे ले जाते हैं। ईसाई लोक गाडीमें शव डालकर स्मशान भूमिमें ले जाते हैं। नीचे दिए गए तीन मंत्रोंके सायण भाष्यसे शव को बैलगाडीमें लेजाना चाहिए ऐसा पता चलता है। चाहे इन मंत्रोंके अर्थ बदल कर हम कोई और परिणाम निकालें तथापि इतना जरूर मानना पडेगा कि सायणाचार्यके समयमें शवको बैल गाडीमें ले जानेका रिवाज होगा या कमसे कम सायणाचार्य यही मानते हैं कि शवको बैलगाडीसे स्मशान भूमि में ले जाना चाहिए।

स्नानके बाद वस्त्र पहिनाना।

स्नान करनेके बाद नवीन स्मशानोचित वस्त्रके पहिनानेका निम्न मंत्रमें निर्देश है—

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहा-
बिभः पुरा। इष्टापूर्तमनु संक्राम विद्वान् यत्र ते
दत्तं बहुधा विबन्धुषु ॥ अथर्व० १८।२।५७॥

अर्थ-हे मृत पुरुष! (एतत् प्रथमं वासः) यह स्मशानोचित मुख्य वस्त्र (त्वा नु आ अगन्) तुझे प्राप्त हुआ है। (यत् इह पुरा अबिभः) जिस वस्त्र को पहिले यहांपर तू पहिना करता था (तत्) उस वस्त्रको (अप ऊह) छोडदे। (यत्र) जहां (ते बहुधा विबन्धुषु दत्तं) तेरा प्रायः विबन्धुओंमें जो दान है उसको (विद्वान्) जानता हुआ (इष्टापूर्तं) इष्टापूर्तको अर्थात् तज्जन्य फलको (अनुसंक्राम) प्राप्त हो। विबन्धु = जिसका बन्धु नहीं रहा है अर्थात् अनाथ, गरीब आदि।

इस मंत्रमें मरनेपर पुराने वस्त्रोंको त्यागकर शव को नवीन स्मशानोचित वस्त्र पहिनानेका उल्लेख है।

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व मेदसा
पीवसा च। नेत्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो
दधृग् विधक्षन् पर्यङ्खयाते ॥ अथर्व० १८।२।५८

अर्थ- हे प्रेत! (गोभिः) घृतसे उत्पन्न हुई हुई (अग्नेः वर्म) अग्निकी ज्वाला रूपी कवचसे (परि व्ययस्व) अपनेको चारों ओरसे ढक ले। अर्थात् अग्निकी ज्वालाओंके बीचमें तू हो जा जिससे कि तेरा पूर्ण रूपसे दहन हो सके। (सः) वह तू (पीवसा मेदसा) अपने अन्दर विद्यमान स्थूल चर्बीसे (प्रोर्णुष्व) अपने आपको आच्छादित कर। इस प्रकार करनेसे (हरसा धृष्णुः) अपने तेजसे धर्षण करनेवाला, (दधृक्) प्रगल्भ, (जर्हृषाणः) अत्यन्त प्रसन्न हुआ हुआ अतएव (विधक्ष्यन्) तुझ प्रेतको विविधरूपसे जलाता हुआ अग्नि (त्वां) तुझे (नेत्) नहीं (पर्यङ्खयाते) इधर उधर बखेरेगा अर्थात् पूर्णरूपसे जलाकर भस्माव-शेष कर डालेगा।

भावार्थ—मुरदेको जलाते हुए घी पर्याप्त मात्रामें डालना चाहिए ताकि अग्नि खूब जोरसे प्रज्वलित होकर उसे जला डाले। उसका कोईभी भाग जले बिना रहने न पावे।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें अग्निसे कहा गया है कि हे अग्नि! तू 'मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्' अर्थात् इस प्रेतकी चमडी तथा शरीरको बिना जलाए हुए इधर उधर मत बखेर। संपूर्णतया इसे जलादे। यहां पर उसी संपूर्ण दहन को लक्ष्यमें रखते हुए मुरदेसे कहा गया है कि तू अग्निकी ज्वाला रूपी कवच को पहिन ले व अपने अंदर विद्यमान चर्बीसे अपने आपको लपेट ले जिससे कि अग्नि तुझे पूर्णतया जलादे। मंत्रका अभिप्राय यह है कि प्रेतका पूर्णरूपसे दहन होना चाहिए व उसके लिए पर्याप्त घृतका उपयोग करना चाहिए।

गो-घी। वेदमें गौसे उत्पन्न पदार्थोंका नाम भी गो शब्दसे कहा गया है। देखो निरुक्तमें गो शब्दकी व्याख्या। निरु० अ० २। पा. २॥

दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण
वर्चसा बलेन। अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा
विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम॥ अथर्व० १८।२।५९

अर्थ— (गतासोः) जिसके प्राण चले गए हैं अर्थात् जो मर गया है ऐसेके (हस्तात्) हाथसे

(दण्डं आददानः) दण्डको लेता हुआ (श्रोत्रेण) श्रवण सामर्थ्य (वर्चसा) तेजसे तथा (बलेन सह बलके साथ (त्वं) तू (अत्रव) इसी संसारमें स्थित हो। (इह) इस संसार में (वयं) हम (सुवीराः) उत्तम वीर बने हुए (विश्वाः मृधः) संपूर्ण संग्रामों को तथा (अभिमानीः) अभिमानी शत्रुओं को (जयेम) जीतें।

भावार्थ-मृतके हाथसे दण्ड लेकर तू अपने इन्द्रियादि सामर्थ्यों व साहस, तेज, बल आदिसे युक्त हो। हम सुवीर होकर शत्रुओं पर विजयलाभ करें।

यह मंत्र नवीन राजाको राज्याभिषेक करनेके समयका प्रतीत होता है। राज्याभिषेक के समय प्रजा उससे कहा रही है कि तू मृत राजाके राजदण्ड को स्वीकार कर व अपने में सामर्थ्य धारण कर। हम तेरे शासनमें रहते हुए वीर बनकर शत्रुओंका नाश करें। अगला मंत्रभी इसी संबन्धका है।

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन। समा गृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम् ॥ अथर्व० १८।२।६० ॥

अर्थ- (मृतस्य) मृत राजाके (हस्तात्) हाथसे प्रजा रक्षणार्थ (धनुः आददानः) धनुष लेता हुआ (क्षत्रेण वर्चसा बलेन सह) क्षात्र तेज व बलके साथ (पुष्टं) पुष्टि कारक (भूरि वसु) बहुत धन (सं आ गृभाय) संग्रह कर। और फिर (त्वं) तू (जीवलोकं उप) जीवलोक अर्थात् हम प्रजाजन को लक्ष्य करके (अर्वाङ् एहि) हमारे सामने आ।

भावार्थ- मृत राजाके हाथसे रक्षार्थ अस्त्र शस्त्र लेकर अपने क्षात्रतेज व बल द्वारा बहुतसा धन प्राप्त कर व उस धनसे प्रजाको पुष्ट बना। प्रजामें धन बांट। प्रजाके लिए उस धन का व्यय कर।

इस प्रकार यह द्वितीय सूक्त यहांपर समाप्त होता है। इस सूक्तके सम्पूर्ण मंत्रोंकी परस्पर संगति लगाना पर्याप्त कठिन है तथापि जहां जहां संगति लग सकती है वहां वहां लगाने की कोशिश की गई है। प्रथम सूक्तकी तरह इसमें भी ऋग्वेदस्थ मंत्रोंको उद्धृत किया गया है जो कि हमने यथा स्थान दर्शाने का प्रयत्न किया है।

अथर्व० काण्ड १८। सूक्त ३

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनु पालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ अथर्व० १८।३।१ ॥

अर्थ— (इयं नारी) यह स्त्री (पतिलोकं वृणाना) पति कुलकी कामना करती हुई (मर्त्य) हे मनुष्य (प्रेतं) मृत पतिको (छोडकर) (पुराणं धर्मं अनुपालयन्ती) पुरातन धर्मका अनुपालन करती हुई अर्थात् धर्ममें स्थित हुई हुई (त्वा उप निपद्यते) तेरे पास आई है। (तस्यै) उस धर्ममें स्थित नारीके लिए (इह) इस संसारमें (प्रजां) संततिको (द्रविणं च) और धनको (धेहि) दे।

भावार्थ— पतिके मर जानेपर सन्तानकी कामना करने वाली स्त्री धर्मानुकूल पर पुरुष को पति बनाकर धन व संतानकी प्राप्ति करे। वह पुरुषभी उसे पत्नी बनाकर संतान व धनसे उसका पालन पोषण करे। अगले मंत्र दूसरेको दृष्टिमें रखते हुए इस मंत्रमें (प्रेतं) का अर्थ 'विहाय' का अध्याहार करके 'मृत पतिको छोडकर' ऐसा ही करना उचित प्रतीत होता है। इसके सिवाय ऐसा करनेसे 'प्रेतं'की मंत्रके साथ संगति भी लग जाती है। सायणाचार्यने इस मंत्रका अर्थ करते हुए 'स्त्री को मृत पतिके पीछे सती होना चाहिए' ऐसा भाव दर्शाया है पर इसी मंत्रका चतुर्थ पाद इस भाव का विरोध करता है क्यों कि मृत पति· नारीको इस संसार में सन्तान धन आदि कैसे दे सकता है? जीवित पतिही यह कर सकता है। अतः इस मंत्रसे सती प्रथाकी पुष्टि दर्शाना अनुचित प्रतीत होता है।

यह मंत्र विधवा विवाहका पोषक है जैसाकि मंत्रस्थ पद दर्शा रहे हैं। पहिले पतिके मरने पर जा स्त्री पति कुलकी कामना करती है अर्थात् पति चाहती है ऐसी का पुनर्विवाह होना चाहिए यह मंत्रके पूर्वार्धसे स्पष्ट है। पुरातन धर्मका पालन

करती हुई का यह अभिप्राय है कि जिस पत्नी धर्म का वह प्रथम पतिके समय पालन करती थी उसी पत्नी धर्मका पालन करती हुई अर्थात् पत्नी बनकर रहना चाहती हुई जो स्त्री है उसके साथ हे मनुष्य तू पुनर्विवाह कर व उसका संतान, धन आदिसे पालन कर; यह उत्तरार्धका अभिप्राय है। सारांश यह है कि जिस स्त्रीको प्रथम पतिके मरनेपर दूसरे मनुष्यके साथ पतिपत्नी भावसे रहनेकी इच्छा है उस विधवा स्त्रीको पुनर्विवाह के लिए यह वेद मंत्र आज्ञा देता है।

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि। हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि संबभूथ॥ अथर्व० १८।३।२॥

अर्थ- (नारि) हे स्त्री ! (गतासुं एतं उपशेषे) जो तू गत प्राण अर्थात् इस मृत पतिके पास सो रही है वह तू (आ इह) उस मृत पतिके पाससे चली आ, और (जीवलोकं अभि) इस जीवलोक अर्थात् संसारके प्रति (उत् ईर्ष्व) उठकर गमन कर अर्थात् संसारमें चली आ। संसार में आकर (हस्तग्राभस्य) विवाहमें तेरा पाणिग्रहण करनेवाले (दधिषोः) व तेरा रक्षण पालनादि रूपसे धारण करनेवाले (तव पत्युः) तेरे पति की (जनित्वं) संतानको (संबभूथ) प्राप्त हो।

भावार्थ - हे नारि ! तू इस मृत पतिके लिए शोक करना छोडदे और संसारमें आकर यथावत् रह। तेरे पाणिग्रहण करनेवाले पतिकी संतान को प्राप्त कर।

मरनेके बाद सती होनेकी बातका इस मंत्रका पूर्वार्ध स्पष्ट शब्दोंमें खण्डन करता है। मृतको छोडकर उसके पीछे न जाते हुए संसारमें वसनेके लिए स्त्रीसे कहा गया है। और यदि वह निःसंतान हो तो उसे संतान प्राप्त करनेके लिए मंत्रका उत्तरार्ध आज्ञा देरहा है। इस प्रकार इस मंत्रमें सती होने का निषेध व संतानके लिए नियोग की आज्ञा दी गई है।

जिस विधवा स्त्रीको पतिपत्नी रूपसे रहनेकी इच्छा हो ऐसी स्त्रीको प्रथम मंत्र पतिपत्नी भावसे रहने के लिए यानि पुनर्विवाहके लिए आज्ञा देता है और

जिस स्त्रीको पति पत्नी भावसे रहने की इच्छा नहीं है पर संतानकी इच्छा है तो उसके लिए नियोग द्वारा संतान प्राप्त करनेकी यह दूसरा मंत्र आज्ञा देता है। इस प्रकार प्रथम मंत्र विधवा का पुनर्विवाह करनेके लिए व यह दूसरा मंत्र संतान प्राप्त्यर्थ नियोग करनेके लिए आज्ञा देता है। स्त्री व पुरुषमें से किसी एकको ऐसी आज्ञा मिलनेपर दूसरेको (स्त्री वा पुरुषको) बिना कहे ही आज्ञा मिल गई यह बात स्वयं सिद्ध है। नियोगके लिए मनुस्मृतिभी आज्ञा देती है। देखो मनुः अध्याय ९। वर्तमान समयमें नियोग की अपेक्षा विधवा विवाह ही उत्तम है ऐसी हमारी सम्मति है। वेद द्वारा नियोग की आज्ञा होने पर भी इस समय वह अनुचित व हानिकारक है व इसके प्रतिकूल विधवा विवाह श्रेयस्कार व उचित है। यद्यपि नियोग व विधवा विवाह वेदने स्त्री वा पुरुषकी इच्छा पर छोडे हैं पर वर्तमान परिस्थिति को लक्ष्य में रखते हुए विधवा विवाह ही सर्वांश में उचित है।

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्। अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम्॥

अथर्व० १८।३।३

अर्थ — (जीवां) जीवित (नीयमानां) स्मशानकी ओर लेजाई गई, व (मृतेभ्यः) मरेहुए मनुष्योंसे (परिणीयमानाम्) पुनः वापिस घरको लेजाई गई (युवतिं) जवान स्त्रीको (अपश्यं) मैंने देखा है। (यत्) क्यों कि वह स्त्री (अन्धेन तमसा) शोक जन्य गहरे अंधकार से (प्रावृता आसीत्) ढकी हुई थी अर्थात् अत्यन्त शोक पूर्ण थी। (तत्) इस लिए (एनां) इस (अपाचीं) पीछे की तरफ अर्थात् घरकी ओर जानेवाली को (प्राक्तः) यहां सामने (अनयम्) लाया हूं।

प्रतिकूल अर्थमें परि के साथ णी धातुसे यहां परिणीयमान शब्द बना है। अतएव इसका अर्थ है विरुद्ध दिशाकी ओर लाया गया। मृतेभ्यः परिणीयमान जो मृतोंसे विरुद्ध दिशाकी ओर लेजाया गया हो। स्मशानसे वापिस आना अथवा संसारमें वापिस आना।

अपाची = अपाच् का अर्थ है- पीछे जाना वापिस जाना।

भावार्थ- मृत पुरुष के पीछे पीछे स्मशान भूमिमें जाती हुई स्त्रीको वापिस लौटा लाया हूं। यह शोक से व्याकुल थी अतः इसे यहां पर (घर पर) ले आया हूं।

इस मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों को स्मशान भूमिमें अथवा मृतके पीछे साथमें नहीं ले जाना चाहिए। क्यों कि वे अत्यन्त शोकाकुल हो जाती हैं व अपना भानभी भूल जाती हैं। यह मंत्रभी सती होनेका विरोध दर्शा रहा है क्यों कि स्त्री को तो मृत पतिके शवके साथभी जानेके लिए अनुमति नहीं दी गई है।

प्रजानत्यघ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनु संचरन्ती। अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम्॥ अथर्व० १८।३।४॥

अर्थ- (अघ्न्ये) हे मारनेके अयोग्य स्त्री! (जीवलोकं प्रजानती) संसारको भली भांति जानती हुई और (देवानां पन्थां अनुसंचरन्ती) देवोंके मार्ग का अनुसरण करती हुई अर्थात् देवोंके मार्ग पर चलती हुई (अयं) यह जो (ते) तेरा (गोपतिः) गोपति है (तं जुषस्व) उससे प्रीति कर। और इस प्रकार (एनं) इस गोपतिको (स्वर्गं लोकं अधि रोहय) स्वर्गलोकमें पहुंचा।

भावार्थ — हे स्त्री तू संसारको भली प्रकारसे जानती हुई तथा देवजनोंके मार्गोंका अनुसरण करती हुई इस तेरे पतिसे प्रीति कर व उसकी संतान' त्यागादि कर्मोंमें सहायक होकर उसे स्वर्गलोक प्राप्त करा।

गोपति- यहां पर पतिको गोपतिसे कहा गया है क्यों कि विवाह के बाद स्त्री की इन्द्रियों (शरीर) पर पतिका स्वामित्व होता है। यहां पर गोका अर्थ इन्द्रियां है।

इस मंत्रमें स्त्री को न मारने योग्य बताया गया है। ऐसी हालत में स्त्रीको जबरदस्ती सती बनाना सिवाय अत्याचारके और कुछ नहीं कहा जा सकता। यह मंत्रभी प्रकरणानुसार विधवा विवाह वा नियोग का समर्थन कर रहा है यद्यपि इसमें इस विषयक कोई स्पष्ट शब्द नहीं है। परंतु जिस प्रकरण में है उस प्रकरणको दृष्टिमें रखनेसे ऐसा अर्थ किया जा सकता है और अतएव हमने इसे विधवा विवाह वा नियोग का समर्थक बताया है।

उपद्यामुप वेतसमवत्तरो नदीनाम्।
अग्ने पित्तमपामसि॥ अथर्व० १८।३।५॥

इस मंत्र का अभिप्राय पता नहीं चलता है। सायणाचार्यने इस का निम्न लिखित अर्थ किया है- (नदीनां) शब्द करते हुए-गर्जना करते हुए (अपां) जलोंकी संबन्धिनी (द्यां उप) द्युके समीप, [यहां द्यो शब्द अवका का वाची है। जल के ऊपर उगी हुई जमीनके स्पर्श से सहित (काई) का नाम अवका है] तथा (वेतसं उप) नडों के समीप (नदीके किनारे उगने वाले नडोंका नाम वेतस है) समीप, अथवा उप शब्द सप्तम्यर्थ प्रतिपादक है। अवका में तथा वेतस में (अवत्तरः) अत्यन्त रक्षक सारभूतांश है। वेतस व अवका का जलीय सार होना तैत्तिरीय में कहा गया है। ' अपां वा एतत् पुष्पं यद् वेतसः। अपां शरोऽवका। वेतस शाखया चावकाभिश्च विकर्षति' इति (तै० सं. ५।४।४।२) (अग्ने) हे अग्नि! तूभी (अपां पित्तम्) जल संबन्धी पित्त धातु है। (' शुचिरग्पित्तं और्वस्तु ' इति अभिधानकारः)। भावार्थ यह है कि हे अग्नि! क्यों कि तू जलोंका संबन्धी है अतः तुझे जलसे संबन्ध रखने वालों अवका वेतस आदि औषधियोंसे शांत करता हूं।

अगले मंत्रमें स्मशानभूमिके उस स्थानका वर्णन प्रतीत होता है जहां कि मुरदा जलाया गया हो।

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः।
कियाम्बूरत्र रोहतु शाण्डदूर्वा व्यल्कशा॥
अथर्व. १८।३।६॥

अर्थ-(अग्ने) हे अग्नि! (यं) जिस प्रेत को तूने (समदहः) जलाया है (तं उ) उसे (पुनः) फिर सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर (निर्वापय) बुझा डाल। (अत्र) इस मुर्दे के जलनेके स्थान पर (कियाम्बूः) कितना जल छिडकना चाहिए कि जिससे (व्यल्कशा) विविध शाखाओं वाली (शाण्डदूर्वा) दुःखनाशक दूर्वा घास (रोहतु) उगे।

भावार्थ-शवके सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर आग को बुझा डालना चाहिए व वहां पर इतना पानी छिडकना चाहिए कि जिस से फिर से वहां पर दूर्वा घास निकल आवें ।

इस मंत्र से ऐसा ज्ञात होता है कि शव का पूर्ण दहन हो चुकने पर उस आग को बुझाकर ही घर वापिस लौटना चाहिए । अग्नि को बिना बुझाए जलती अवस्थामें ही स्मशान भूमि से नहीं जाना चाहिए । आगको भी इतना पानी डालकर बुझाना चाहिए कि उस आगसे जो जमीनपर परिणाम हुआ है वह दूर हो जावे और उसपर पुनः नाना शाखाओं वाली दूर्वाघास उग सके और जमीन वैसीकी वैसी ही फिरसे हरीभरी हो जावे। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि जिस स्थानपर एक शवको जलाया गया हो वहांपर पुनः दूसरा शव नहीं जलाना चाहिए । इस मंत्र से स्मशान भूमि संबन्धी वैदिक कल्पना की जा सकती है और इस कल्पना के अनुसार वर्तमान समय की स्मशान भूमियों के विषयमें विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं व स्मशान भूमिके वास्तविक स्वरूप को समझ सकते हैं । इस प्रकार यह मंत्र अंत्येष्टि क्रिया की समाप्ति किस प्रकार से होनी चाहिए इस बातपर विशेष प्रकाश डाल रहा है ।

इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व । सं वेशने तन्वा चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सधस्थे ॥ अथर्व. १८ । ३। ७ ॥

अर्थ- (ते) तेरे लिए (इदं एकं) यह एक ज्योति है (उ) और (परः) आगे (ते एकं) तेरे लिए एक ज्योति है । तू (तृतीयेन ज्योतिषा) तीसरी ज्योति से(सं विशस्व) अच्छी प्रकार प्रविष्ट हो । अर्थात् उस तीसरी ज्योतिमें प्रविष्ट हो और उस तीसरी ज्योतिमें (संवेशने) अच्छी प्रकार प्रविष्ट होनेपर (परमे सधस्थे) उस उत्तम सबके रहनेके स्थान में (देवानां प्रियः) देवों का प्यारा हुआ हुआ (तन्वा चारु) शरीर से उत्तम हुआ हुआ (एधि) बढ ।

सायणाचार्य तथा म० ग्रिफित के अनुसार प्रेत को संबन्ध न करके यह मंत्र कहा गया है और अतएव सायणाचार्य के मतानुसार प्रथम ज्योति गार्हपत्य अग्नि,दूसरी ज्योति अन्वाहार्य पचन तथा तृतीय आहवनीय अग्नि है। म० ग्रिफितके अनुसार प्रथम ज्योति अंत्येष्टि की अग्नि, दूसरी ज्योति द्युस्थ अग्नि तथा तृतीय द्यु से भी उपर स्वर्ग में विद्यमान। पं० क्षेमकरण दासजीके मतानुसार प्रथम कार्य जगत्, दूसरी कारण जगत, तथा तीसरी पर ब्रह्म। यह मंत्र अभी विचाराधीन है । अभीतक अस्पष्ट है ।

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे। तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः ॥ अथर्व. १८ ।३ ।८॥

अर्थ-(उत् तिष्ठ) उठ, (प्रेहि) जा, (प्रद्रव) दौड। (सधस्थे) जहां सब इकट्ठे रहते हैं ऐसे (सलिले) अंतरिक्षमें (ओकः) घर (कृणुष्व) बना । (तत्र)वहां अंतरिक्षमें (त्वं) तू (पितृभिः संविदानः) अन्य पितरों के साथ मिला हुआ ऐकमत्य को प्राप्त हुआ हुआ(सोमेन) सोमसे (संमदस्व) अच्छी तरह आनन्दित हो और(स्वधाभिः) स्वधाओंसे (सं)अच्छी प्रकार तृप्त हुआ हुआ आनन्दित हो ।

इस मंत्र में स्पष्ट रूपसे अंतरिक्ष लोक में किसी को भेजा जाने का और वहां स्थित पितरों के साथ स्वधा आदिसे आनन्दित होने का निर्देश है । अतः यह मंत्र भी पितरोंका स्थान अंतरिक्ष बता रहा है ।

उपरोक्त सब मंत्रों में हम यह स्पष्टरूपसे पाते हैं कि पितर अन्तरिक्ष में भी रहते हैं अर्थात् अन्तरिक्ष भी पितरोंके लोकों में से एक लोक है जहां पितर निवास करते हैं ।

प्रच्यवस्व तन्वं संभरस्व मा ते गात्रा विहायि मो शरीरम् । मनो निविष्टमनु संविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ॥ अथर्व० १८।३।९॥

अर्थ-(प्रच्यवस्व) आगे बढ-उन्नति कर । (तन्वं) शरीर का (सं भरस्व) उत्तम तया पालन पोषण कर । (ते गात्रा) तेरे हाथ पैर आदि गात्र (मा विहाय) मत छूटें तुझे छोडकर मत चले जावें । (मो शरीरं) और तेरा शरीरभी मत छूटे । (मनः निविष्टं) जहां तेरा मन निविष्ट हो अर्थात् जहां तेरा मन चाहे वहां (अनुसं विशस्व) मन की इच्छानुसार प्रवेश कर-जा । और (यत्र) जहां (भूमेः जुषसे) भूमिसे प्रीति करता है अर्थात् जिस देश से तेरा मन

प्यार करता है (तत्र) उस देशमें (गच्छ) जा।

भावार्थ- हे मनुष्य तू उन्नति कर । अपने शरीर का ठीक ठीक पालन कर जिससे तेरी आकस्मिक मृत्यु व शीघ्र मृत्यु न होवे। संसारके जिस भूमि भागमें तेरा मन जानेको करे वहां तू आनन्दसे जा। जो देश तुझे अच्छा मालूम दे वहां तू जा।

इस मंत्रानुसार वेद प्रत्येक मनुष्य को आज्ञा देता है कि वह अपनी उन्नति के लिए चाहे वहां जा सकता है। उसकी इच्छा हो उस देशमें बिना रोकटोक के जावे। उसके लिए किसी भी प्रकारके पास पोर्ट की जरूरत नहीं। परन्तु वर्तमान समयमें हम इस के बिलकुल प्रतिकूल पा रहे हैं।

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन। चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥ अथर्व० १८।३।१०

अर्थ- (सोम्यासः पितरः मां वर्चसा अञ्जन्तु) सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे तेजसे व्यक्त करें। (देवाः मधुना घृतेन) देव मुझे माधुर्योपेत घृत से व्यक्त करें। (चक्षुषे मां प्रतरं तारयन्तः) देखने के लिए मुझे अच्छी तरह तराते हुए अर्थात् समर्थ बनाते हुए, (जरदष्टिं मां) जिसका खान पान शिथिल हो गया है ऐसे मुझको (जरसे) वृद्धावस्था तक (वर्धन्तु) बढावें अर्थात् जिस बुढापेमें खाने पीने की शक्ति जीर्ण हो जाती है उस बुढापेतक मुझे पहुंचाएं। यथा संभव दीर्घायुवाला मुझे बनाएं, उससे पूर्व मैं क्षीण न होऊं।

इस मंत्रमें पितरों से दीर्घायुष्यके लिए कहा गया है। दीर्घायु देना व प्रत्येक को उसकी पूर्णावस्थातक पहुंचाना पितरों का कार्य है ऐसा इस मंत्र से पता चलता है।

वर्चसा मां समनक्त्वग्निर्मेधां मे विष्णुर्न्यनक्त्वासन्। रयिं मे विश्वे नि यच्छन्तु देवाः स्योना मापः पवनैः पुनन्तु ॥ अथर्व० १८।३।११॥

अर्थ- (अग्निः) अग्नि (मां) मुझे (वर्चसा) तेजसे (समनक्तु) अच्छी प्रकार से युक्त करे। (विष्णुः) व्यापक परमात्मा (मे आसन्) मेरे मुख में (मेधां नि अनक्तु) बुद्धिको उत्तमतया स्थापित करे। (विश्वे देवाः) सब देव (मे रयिं) मेरे लिए धन (नियच्छन्तु) प्रदान करें। (स्योनाः आपः) सुखकारी जल (मा) मुझे (पवनैः) पवित्र पवनों के साथ (पुनन्तु) पवित्र करें।

भावार्थ- अग्नि से मुझे तेज प्राप्त होवे। विष्णु परमात्मा मुझे अत्यन्त बुद्धिमान् बनावे। देवगण मुझे धन धान्य सम्पन्न करें तथा जल मिश्रित पवन मुझे सदा पवित्र करता रहे जिससे कि मैं सुख पूर्वक जीवन बिताऊं।

मित्रा वरुणा परि मामधातामादित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु। वर्चो म इन्द्रो न्यनक्तु हस्तयोर्जरदष्टिं मा सविता कृणोतु ॥ अथर्व० १८।३।१२

अर्थ- (मित्रावरुणौ) रात व दिन (मा) मुझे (परि अधाताम्) चारों ओरसे धारण करें अर्थात् मेरी सब ओर से रक्षा करें। (स्वरवः) शत्रुओंको उपताप पहुंचानेवाले अथवा जयशब्द करते हुए (आदित्याः) अदिति के पुत्र देवगण (मा वर्धयन्तु) मुझे बढावें। (इन्द्रः) ऐश्वर्य शाली (मे हस्तयोः) मेरे दोनों हाथोंमें (वर्चः व्यनक्तु) तेज स्थापित करे। और (सविता) सर्व प्रेरक वा सबका उत्पादक देव (जरदष्टिं कृणोतु) मुझे दीर्घायु बनावे।

भावार्थ - रात व दिन मेरी सब ओर से रक्षा करें। अन्य अखण्ड शक्तिमान् देवगण मेरी वृद्धि करें। इन्द्र मेरे हाथोंमें बल देवे व सविता देव मुझे दीर्घायु प्रदान करे। इस प्रकार सर्व देव मेरेपर अनुग्रह करें जिससे कि मैं सुख से जीवन व्यतीत कर सकूं।

यम कौन है?

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतत्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥ अथर्व० १८।३।१३

अर्थ— (यः) जो (मर्त्यानां प्रथमः ममार) मनुष्यों में सबसे प्रथम मरा और (यः) जो (एतं लोकं प्रथमः प्र ईयाय) इस लोक यम लोक को सब से पहिले गया उस (जनानां संगमनं) जनों के संगमन (वैवस्वतं यमं राजानं) विवस्वान् के पुत्र यम राजाकी (हविषा सपर्यत) हवि द्वारा पूजा करो।

इस मंत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्योंमें से सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान् का पुत्र,सबसे पहिले इस लोकमें आकर मरा और फिर सबसे पहिले यम लोक में गया अतः उस लोक का नाम उसके नामसे यमलोक ऐसा पडा। इस का अभिप्राय यह हुआ कि जो मनुष्य सबसे प्रथम मरता है वह इस कल्पमें यम बनता है।

संगमनका अर्थ है जिसमें प्राणी जाकर जमा होते हैं। यमराजकी हवि द्वारा पूजा करनेका भी यहां निर्देश है। अर्थात् यम को भी हवि देनी चाहिए।

परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः। दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात॥ अथर्व० १८।३।१४

अर्थ- (पितरः) हे पितरो ! (परायात) यज्ञ समाप्ति पर वापस लौटा जाओ। (च) और फिर (आयात) आओ क्यों कि (अयं यज्ञः वः मधुना समक्तः) यह यज्ञ तुम्हारे लिए (मधुना समक्तः) मधुर आज्यसे तैयार किया हुआ है। (इह) इस यज्ञमें (द्रविणा) धनों को (दत्तो) दो। (भद्रं सर्ववीरं रयिं च) और कल्याण कारी तथा सर्व वीरतासे युक्त रयि अर्थात् सम्पत्ति-समृद्धि से (नः)हमें (दधात) पुष्ट करो। मधु का अर्थ है मधुरसपूर्ण आज्य। देखो- ऐ. ब्रा.२। २। - 'एतद् वै मधु दैव्यं यद् आज्यम्'।

भावार्थ- पितरों को यज्ञमें मधुर आज्य देना चाहिए जिससे कि वे आज्य दाताओं को धनधान्य देवें व उत्तम वीर संतान से युक्त करें।

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः। विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः॥ अथर्व० १८।३।१५

अर्थ- (कण्वः) बुद्धिमान्, (कक्षीवान्) शासन करनेवाला, (पुरुमीढः) बहुधनवाला (अगस्त्यः) पापका नाश करनेवाला, (श्यावाश्वः) काले घोडोंवाला वा ज्ञानी, (सोभरी) ऐश्वर्यवाला, (अर्चनानाः) पूजनीय रथवाला वा उत्तम जीवनवाला, (विश्वामित्रः) सबका मित्र तथा (अयं जमदग्निः) यह, यज्ञ में जिसकी सदा अग्नि प्रज्वलित रहती ऐसा, (कश्यपः) सूक्ष्मदर्शी तथा (वामदेवः) उत्तम व्यवहारवाला, ये सब (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें।

भावार्थ- मंत्रोक्त नाना गुण विशिष्ट पितर हमारी सर्वदा रक्षा करें

विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव। शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः॥ अथर्व० १८।३।१६॥

अर्थ- हे (विश्वामित्र) सबके मित्र, (जमदग्ने) हे अग्निके प्रकाशक, (वसिष्ठ) हे अतिशय श्रेष्ठ, (भरद्वाज) हे अन्नबल धारक, (गोतम) हे उत्तम स्तोता, (वामदेव) हे प्रशंसनीय व्यहारवाले, (सुसंशासः) उत्तम तथा स्तुति करने योग्य(पितरः) पितरो ! तुम (नः मृडत) हमें सुखी करो क्योंकि (शर्दिः अत्रिः) बलविशिष्ट अत्रिने (नमोभिः) अन्नोंसे हमें (अग्रभीत्) ग्रहण किया है अर्थात् वह हमें अन्न देता है !

अथवा शर्दिः = छर्दिः = घर। शर्दिका अर्थ घर करने पर छर्दिका विभक्ति व्यत्यय करना पडेगा। शर्दिः= शर्दिम् इस अवस्था में तृतीय पादका अर्थ होगा कि क्यों कि अत्रिने हमारे घरोंको अन्नों से भर दिया है अतः हे उपरोक्त विशेषण विशिष्ट पितरो हमें सुखी करो। अत्रिका अर्थ है जिसके तीनों ताप नहीं रहे। (निरु० ३। १७।)

इस मंत्रमें विश्वामित्र, जमदग्नि आदि शब्द पितरों की विशेषता दर्शाते हैं।

कस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः। आप्यायमानाः प्रजाया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु॥ अथर्व० १८।३।१७

अर्थ- (कस्ये) ज्ञान में (मृजानाः) पवित्र होते हुए (प्रतरं) दीर्घ (नवीयः) नवीन (आयुः) आयुको (दधानाः) धारण करते हुए (रिप्रं) पापका (अतियन्ति) अतिक्रमण करते हैं,पापसे बचते हैं। और इस प्रकार पापसे बचकर (प्रजया) प्रजा द्वारा व (धनेन) धनद्वारा (आप्यायमानाः) बढते हुए (गृहेषु) घरोंमें (सुरभयः) सुन्दर गन्धवाले अर्थात् प्रशंसनीय गुणोंवाले (स्याम) होवें।

भावार्थ- हम ज्ञान द्वारा अपनेको शुद्ध करते हुए पापसे बचें व दीर्घ जीवन प्राप्त करें। हम प्रजा संपत्ति आदि से संपन्न हुए हुए सुन्दर गुणों से पूर्ण होवें।

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते । सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपानाः पशुमासु गृह्णते ॥ अथर्व० १८।३।१८॥

अर्थ- (क्रतुं) यज्ञको (मधुना) मधुर आज्यसे (अञ्जते) संयुक्त किया जाता है। (वि अञ्जते) विशुद्ध किया जाता है। (सं अञ्जते) मिलकर प्राप्त किया जाता है, (अभि अंजते) चारों और विस्तार किया जाता है तथा सब मिल कर उसकी (रिहन्ति) अर्चना करते हैं। अथवा यज्ञशेष (रिहन्ति = लिहन्ति) खाते हैं। (हिरण्यपावाः) सुर्वणादि धनके रक्षक वा हिरण्यसे पवित्र करने वाले, (सिन्धोः उच्छ्वासे) समुद्रकी वृद्धिके समय (पतयन्तं) जाते हुए (उक्षणं) वृद्धि करनेवाले वा सिंचन करनेवाले (पशुं) सबको देखनेवाले को (आसु) इनमें (गृह्णते) लेते हैं।

इस मंत्रका भाव पता नहीं लगता है। सायणाचार्यने इस मंत्रको सोम व चन्द्रमा पर लगाया है।

यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च ते नो सचध्वं स्वयशसो हि भूत ॥ ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥
अथर्व० १८। ३ ॥ १९ ॥

अर्थ- (पितरः) हे पितरो !(वः यत् मुद्रं सोम्यं च) तुम्हारा जो हर्षप्रद व सौम्य कार्य है (तेनो) उस द्वारा (सचध्वं) हमें सेवित करो अर्थात् युक्त करो। (हि) निश्चयसे तुम (स्वयशसः) अपने यशसे ही यशस्वी (भूत) होते हो। (अर्वाणः) गतिवाले अर्थात् निरालसी, (कवयः) क्रान्तदर्शी तथा (सुविदत्राः) उत्तम धनवाले, (हूयमानाः) बुलाए गए (ते) वे तुम (विदथे) यज्ञमें हमारी उपरोक्त प्रार्थनायें (आश्रृणोत) आकर सुनो।

अबतकके मंत्रोंसे हमने देखा कि पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है और वहां पर उन्हें हवि देकर प्रसन्न किया जाता है। प्रसन्न हुए हुए वे आयु, धनादि की इच्छा पूर्ति करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पितरोंसे कामपूर्ति करानेके लिए यज्ञ साधन भूत है।

ये अत्रयो अङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधानाः। दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥ अथर्व.१८।३।२०

अर्थ- (ये) जो तुम (अत्रयः) सदा प्राप्तिके योग्य, (अङ्गिरसः) ज्ञानी, (नवग्वाः) नवग्व, (इष्टावन्तः) दर्श पौर्णमास आदि करनेवाले, (रातिषाचः) दान देनेवाले, (दधानाः) पालन पोषण करनेवाले (दक्षिणावन्तः) दान युक्त, (सुकृतः) उत्तम कर्म करने वाले (स्थ) हो वे तुम (अस्मिन् बर्हिषि) इस यज्ञमें (आसद्य) बैठकर (मादयध्वम्) आनन्दित होओ। हवि खाकर तृप्त होओ। नवग्व- नव मासका सत्रयाग करनेवाले।

भावार्थ- जिनके तीनों ताप नष्ट हो चुके हैं ऐसे ज्ञानी, सत्रयाग करनेवाले, इष्टापूर्त करनेवाले, दानी, उत्तम कर्म करने वाले पितर हमारे यज्ञमें आवें व हवि खाकर तृप्त होवें- आनन्द मनावें।

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशशाना। शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन्॥ अथर्व. १८।३।२१

अर्थ- (यथा नः परासः प्रत्नासः पितरः) जैसे हमारे श्रेष्ठ पुराने पितरोंने (ऋतंआशशानाः) सत्य वा यज्ञको व्याप्त करते हुए (शुचि इत् अयन्) प्रकाशमान- दीप्त स्थान को ही प्राप्त किया व (दीध्यतः) दीप्यमान होते हुए, (उक्थशासः) उक्थोंसे प्रशंसा- स्तुति करते हुए (क्षामा = क्षाम) क्षयकारी अंधकारको (भिन्दन्तः) नष्ट करते हुए (अरुणीः) उषाओंकी किरणोंको (अपव्रन्) प्रकाशित किया था उसी प्रकार हे अग्नि ! तूभी उषाको प्रकाशित कर।

भावार्थ- जिस प्रकार यज्ञादिसे तेज प्राप्त करके प्रकाशित होते हुए हमारे पुरातन पितरोंने अंधकारका विनाश करके उषाको प्रकट किया था उसी प्रकार अग्नि तूभी हमारे लिए उषा प्रकट कर।

इस प्रकार इस मंत्रमें पितर उषाका उदय करते हैं यह दर्शाया गया है। उषा प्रकट करने का साधन ऋत है जिसका अर्थ सत्य व यज्ञ है।

उक्थ वेदोंके खास सूक्तोंका नाम है। ब्राह्मणों व उपनिषदोंमें उक्थ शब्द प्राणके लिए भी आता है। कहीं अन्न, प्रजा आदिके लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है।

क्षामा = क्षाम। 'संहितायां' से दीर्घ हुआ हुआ है। यहां पर इसका अर्थ अंधकार है।

अरुणीका अर्थ उषा कालकी किरणें ऐसा है। 'अरुण्यः गावः उषसाम्' अर्थात् उषाओं की किरणोंका नाम अरुणी है। निघण्टु १।१५॥

इस मंत्रके भावको पुष्ट करने वाले और भी मंत्र हैं। यथा. ऋ. ४।१।१३।, ऋ. ७।७६।४, ऋ. १।७१।२ ऋ. ९।९७।३९।, ऋ.१०।६८।१। व अथर्व० २०।१६।११। इत्यादि।

इन मंत्रोंमें आए हुए पितृ पदसे 'सूर्य किरण' का अभिप्राय है ऐसा जान पडता है।

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः। शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुर्वीं गव्यां परिषदं नो अक्रन्॥ अथर्व. १८।३।२२

अर्थ- (सुकर्माणः) उत्तम कर्म करने वाले, (सुरुचः) उत्तम कान्तिवाले (देवयन्तः) देवत्वकी कामना करते हुए (अयः न) जिस प्रकार कि सुवर्णकार तपाकर सोनेको शुद्ध करते हैं उसी प्रकार (जनिमा धमन्तः) अपने जन्मोंको तपरूपी तापसे तपाकर शुद्ध करते हुए (देवाः) देव गण (अग्निं) अग्निको (शुचन्तः) दीप्त करते हुए, (इन्द्रं वावृधन्त) इन्द्रको अर्थात् नाना भूत ऐश्वर्य की वृद्धि करते हुए (नः) हमारे लिए (उर्वीं) बडी भारी विस्तृत (गव्यां) गौओंके समूह वाली (परिषदम्) परिषत् (अक्रन्) बनाते हैं।

परिषत् = परितः सीदन्ति यस्यां सा, अर्थात् जिसमें चारों ओरसे आकर जमा हों उसका नाम परिषत्; सभा, Meeting। अयः- सोना। निघण्टु. १।२॥

भावार्थ- उत्तम कर्म करनेवाले देव गण प्रथम अपने जन्मको तपादिसे शुद्ध करके अनन्तर अग्निको प्रदीप्त करते हैं। अग्निका अभिप्राय तीनों प्रकार की अग्निसे है। इस तीनों प्रकारकी अग्निको प्रदीप्त करके ऐश्वर्यको बढाते हैं व हम सांसारिक लोकोंके लिए गौओंके समूह वाली परिषत् बनाते हैं। गौओंके समूह वाली परिषत् का मतलब यह है कि हमारे लिए अनेक प्रकारकी गौयें प्रदान करते हैं ताकि सांसारिक सुख बढ सके अथवा गौका अर्थ है वाणी तदनुसार इसका अभिप्राय यह है कि सभाएं भर भरके हमें नाना प्रकारके उपदेश देते हैं। देव गण हमारे लिए क्या करते हैं उसका यहांपर दिग्दर्शन कराया गया है।

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां जनिमान्त्युग्रः। मर्तासश्चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः॥ अथर्व० १८।३।२३॥

अर्थ- (उग्रः) तेजस्वी (अग्नि) (देवानां जनिमा) देवोंके जन्मोंको-उत्पत्तिको (अन्ति) समीपसे (आ अख्यत्) देखता है। अर्थात् देवोंकी उत्पत्तिके विषयमें अग्निको अच्छी तरहसे मालूम है। इसमें दृष्टान्त देते हैं कि- (क्षुमति पश्वः यूथा इव) अर्थात् जिस प्रकार घासादि अन्नयुक्त स्थानमें चरते हुए पशुओं के समूहों को उनका चरानेवाला ग्वाला जानता है। (मर्तासः चित्) मनुष्यभी (उर्वशीः अकृप्रन्) विस्तृत क्रियाओंको करते हैं और (अर्यः) स्वामी (उपरस्य आयोः) समीपस्थ मनुष्य की वृद्धिके लिए क्रिया करता है।

इस मंत्र का उत्तरार्ध अस्पष्ट है। इसका भाव समज नहीं पडता। तृतीय व चतुर्थ पाद की परस्पर संगति तथा पूर्वार्ध की व उत्तरार्ध की परस्पर संगति नहीं लगती है। आशा है पाठक गण विचार करके मंत्र के भाव खोलनेमें सहायक बनेंगे।

अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः। विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः॥ अथर्व० १८।३।२४॥

अर्थ- (ते) तेरे लिए (अग्नि के लिए) हमने (अकर्म) पूजा, स्तुति आदि उत्तम कर्म किए हैं इसलिए हम (स्वपसः) श्रेष्ठ कर्मोंवाले (अभूम) हुए हैं। इस वास्ते हमारे लिए (विभातीः) विविध प्रकारसे प्रकाशित होती हुई (उषसः) उषायें (ऋतं अवस्रन्) सत्यमें निवास करती हैं अर्थात् सत्य नियमों में आश्रित हुई हुई नित्यप्रति बाकायदा उदित होती रहती हैं। (यत् देवाः अवन्ति) जिस जि-

सकी देव गण रक्षा करते हैं (तत् विश्वं) वह सब हमारे लिए (भद्रं) कल्याणकारी हो। हम (सुवीराः) उत्तम बलशाली हुए हुए (विदथे) यज्ञमें (बृहत् वदेम) सुनने लायक बहुत बोलें।

भावार्थ- अग्नि के लिए कर्म करनेसे ही हम श्रेष्ठ कर्म वाले हो सकते हैं व तभी हमारे लिए उषा आदि प्रकाशमान पदार्थ सत्य नियम में स्थित होकर प्रकाशित होते रहते हैं। देवोंसे रक्षित पदार्थ भी उसी हालतमें हमारे लिए कल्याण कारी होते हैं। हमें चाहिए कि हम नित्यप्रति स्तुति उपासना आदि प्रभूत मात्रा में करते रहें।

अब अगले कुछ मंत्रोंमें स्तुति प्रार्थना आदि करनेका प्रकार दर्शाते हैं —

इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥
अथर्व. १८। ३। २५॥

अर्थ- (मरुत्वान् इन्द्रः) मरुतोंवाला इन्द्र (मा) मेरी (प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशासे अर्थात् पूर्व दिशासे आनेवाली आपत्तियोंसे (पातु) रक्षा करे। (बाहुच्युता पृथिवी) बाहुओंसे दी गई अथवा बाहुओं में प्राप्त हुई अर्थात् हाथोंसे दीगई वा हाथोंसे ली गई पृथिवी (इव) जिस प्रकार से कि (उपरि) उपर (द्यां) द्युकी रक्षा करती है। (लोककृतः) लोकोंके बनाने वालों तथा (पथिकृतः) मार्गों को बनानेवालों की हम (यजामहे) पूजा करते हैं (ये) जो कि तुम (इह) यहांपर (देवानां) देवों के बीचमें (हुतभागाः) जिनके लिए कि भाग दिया गया है ऐसे (स्थ) हो।

भावार्थ- मरुतों से युक्त इन्द्र मेरी पूर्व दिशासे आनेवाली आपत्तियोंका निवारण करके रक्षा करे जिस प्रकारसे कि पृथिवी द्युकी। हमारे लिए लोकों व मार्गों के बनाने वाले देवजनों की हम पूजा करते हैं व हविदान करते हैं जो कि देवजन इस संसार में विद्यमान हैं।

इस मंत्रमें दी गई उपमा 'बाहुच्युता पृथिवी द्यां इव उपरि' का भाव स्पष्ट नहीं होता। शायद इसका अभिप्राय यह हो कि जिस प्रकार बाहुच्युत अर्थात् हाथोंसे दान दी गई पृथिवी, दान देनेवाले की द्युकी अर्थात् स्वर्ग की रक्षा करती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि पृथिवीका दान स्वर्ग दिलाने वाला है। अस्तु तथापि यह उपमा विशेष विचारणीय है।

धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः०॥
अथर्व० ॥१८।३।२६॥

अर्थ- (धाता) सबका धारण करनेवाला (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशाकी (निर्ऋत्याः) निर्ऋति से अर्थात् कष्टआपत्तियोंसे (मा पातु) मेरी रक्षा करे। शेष पूर्ववत्।

अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः॥
अथर्व० १८।३।२७॥

अर्थ- (अदितिः) अखण्डनीय शक्ति-अदीन शक्ति (आदित्यैः) आदित्यों द्वारा (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशासे आनेवाली विपत्तियों से (मा पातु) मेरी रक्षा करे। शेष पूर्ववत्॥
आदित्य अदिति का पुत्र-जो अदीन हो व अखण्डनीय शक्ति वाला हो।

सोमो मा विश्वै देवैरुदीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृत०॥ अथर्व० १८।३।२८॥

अर्थ-(सोमः) सोम (विश्वैः देवैः) सब देवों केसाथ (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशासे आने वाली आपत्तियोंसे (मा पातु) मेरी रक्षा करे। शेष पूर्ववत्॥

धर्ता ह त्वा धरुणो धारयाता ऊर्ध्वं भानुं सविता द्यामिवोपरि। लोककृतः०॥
अथर्व० १८।३।२९॥

अर्थ- (ह) निश्चयसे (धरुणः धर्ता) सबसे धारण किया जाने वाला धारक (त्वा) तुझे (ऊर्ध्वं धारयातै) ऊंचा धारण करे। (सविता) सूर्य (भानुं द्यां इव उपरि) प्रकाशमान द्युको जिस प्रकारसे कि ऊपर धारण किए हुए है। शेष पूर्ववत् ॥ धरुणः-ध्रियते इति धरुणः। जो धारण किया जावे।

प्राच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः
अथर्व० १८।३।३०॥

तेजस्वी ईश्वर।

[३४]

(ऋषिः- चातनः । देवता-अग्निः)

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ १ ॥
यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ २ ॥
यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते ।
स नः पर्षदतिद्विषः ॥ ३ ॥
यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४ ॥
यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥

अर्थ—(क्षितीनां वृषभाय अग्नये) पृथ्वी आदि सब लोकोंके महाबलवान तेजस्वी ईश्वर के लिये (वाचं प्र ईरय) स्तुतीरूप अपनी वाणीको प्रेरित करो। (यः अग्निः) जो तेजस्वी प्रभु (तिग्मेन शोचिषा रक्षांसि निजूर्वति) अपने तीक्ष्ण प्रकाशसे राक्षसोंको नष्ट करता है। (यः परस्याः परावतः धन्व) जो दूरसे दूरवाले स्थानको (तिरः अतिरोचते) पार करके चमकता है। (यः विश्वा भुवना अभिविपश्यति) जो सब भुवनोंको अलग अलगभी देखता है और (सं पश्यति) मिले जुले भी देखता है। (यः शुक्रः अग्निः) जो तेजस्वी प्रकाशका देव (अस्य रजसः पारे अजायत) इस लोकलोकान्तर के परे प्रकट रहता है (सः नः द्विषः अति पर्षद्) वह हमें सब शत्रुओंसे दूर करके परिपूर्ण बनावे ॥ १—५ ॥

ईश्वर सबसे महाबलवान् है, वह अपने तेजसे ही सब दुष्टोंको नष्टभ्रष्ट कर देता है। वह जैसा पास है उसी प्रकार दूरसे दूरवाले स्थानपर भी है। वह सब पदार्थमात्रको अलग अलग और मिलीजुली अवस्थामें भी यथावत् जानता है। वह अत्यंत तेजस्वी है और इस दृश्य जगत्के परे विराजमान है। वह सब उपासकोंको शत्रुओंसे बचाकर परिपूर्ण बनाता है।

विश्वका सञ्चालक देव।

[३५]

(ऋषिः- कौशिकः। देवता-वैश्वानरः)

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः।
अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ १ ॥

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप।
अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥ २ ॥

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत्।
एषु द्युम्नं स्वर्यमत् ॥ ३ ॥

अर्थ— (वैश्वानरः) विश्वका नेता ईश्वर (ऊतये) हमारी रक्षा करनेके लिये (परावतः नः प्र आयातु) अपने श्रेष्ठ स्थानसे हमारे पास आवे और वह (अग्निः नः सुष्टुतीः उप) प्रकाश का देव हमारी उत्तम स्तुतियां स्वीकार करे ॥ १ ॥

(उक्थेषु अंहसु) स्तुती करनेके समयमें (अग्निः सजूः वैश्वानरः) वह तेजस्वी विश्वका चालक प्रेमपूर्ण ईश्वर (इमं नः यज्ञं उप आगमत्) इस हमारे यज्ञके पास आवे ॥ २ ॥

(वैश्वानरः) विश्वका चालक देव (अंगिरसां स्तोमं उक्थं च) ज्ञानी ऋषियोंके स्तुतिस्तोत्रोंको (अ चाक्लृपत्) समर्थ करता आया है। और वह (एषु द्युम्नं स्वः आयमत्) इनमें प्रकाशित होनेवाला आत्मतेज स्थिर करता है ॥ ३ ॥

विश्वका संचालक देव जो विश्वके संपूर्ण पदार्थोंका संचालन करता है, वह एक तेजस्वी प्रेममय प्रशंसनीय और श्रेष्ठ देव है। वह उपासकोंको श्रेष्ठ आत्मतेज देता है।

जगत् का एक सम्राट्।

[३६]

(ऋषिः—अथर्वा स्वस्त्ययनकामः। देवता—अग्निः)

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्।
अजस्रं घर्ममीमहे ॥ १ ॥
स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत्सृजते वशी।
यज्ञस्य वय उत्तिरन् ॥ २ ॥
अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य।
सम्राडेको वि राजति ॥ ३ ॥

अर्थ— (ऋतावानं) सत्ययुक्त, (ऋतस्य ज्योतिषः पतिं) सत्यप्रकाश के स्वामी, और (अजस्रं घर्मं वैश्वानरं) निरंतर प्रकाशवाले सब विश्वके चालक ईश्वर की (ईमहे) हम प्राप्ति करते हैं ॥ १ ॥

(सः विश्वा प्रति चाक्लृपे) वह सबको समर्थ बनाता है। (वशी ऋतूं उत् सृजते) और वह सबको अपने वशमें करनेवाला बसंत आदि ऋतुओंको बनाता है। और (यज्ञस्य वयः उत्तिरन्) यज्ञके लिये उत्तम अन्न बनाता है ॥ २ ॥

(भूतस्य भव्यस्य कामः) भूत भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले जगत् की कामना पूर्ण करनेवाला (एकः सम्राट् अग्निः) एक सम्राट् प्रकाशमय देव (परेषु धामसु विराजति) दूरके स्थानों में भी विराजता है।

सबका एक ईश्वर।

ईश्वर संपूर्ण जगत्का " एक सम्राट् " है यह बात इस सूक्तमें बडी उत्तमतासे कही है। वह ईश्वर (परेषु धामसु विराजति) दूरसे दूर जो स्थान हैं उन स्थानोंमें भी विराजमान है। पास तो है ही परंतु अति दूर भी है। अर्थात् वह सर्वत्र है। सब (भूतस्य भव्यस्य) भूत कालमें उत्पन्न हुए पदार्थोंका जैसा वह सम्राट् था, उसी प्रकार इस वर्तमान समयमें दिखाई देनेवाले सब जगत्का वह स्वामी है, इतनाही नहीं परंतु भविष्य कालमें उत्पन्न होनेवाले जगत्का भी वह स्वामी रहेगा। अर्थात् संपूर्ण जगत् का सब कालोंमें वह स्वामी है। और इससे भिन्न दूसरा कोई स्वामी नहीं है।

वह सबसे अधिक सामर्थ्यवान है और इसीलिये वह (विश्वा चाक्लृपे) सबको सामर्थ्यवान् बनाता है। वह समर्थ है इसीलिये सबको (वशी) अपने वशमें रखता है, उसके शासनसे बाहर कोई नहीं है। वही सब प्रकारके अन्न और विविध ऋतुओंमें होने वाले यजनीय पदार्थ और भोग्य पदार्थ उत्पन्न करता है।

वह त्रिकालमें (ऋतावान)सत्यस्वरूप है और (ऋतस्य पति) सत्य नियमोंका पालन करनेवाला है, वही सब (वैश्वानर) विश्वका संचालक, विश्वको चलानेवाला है, सबको वही उपास्य और प्राप्त करने योग्य है॥

इस सूक्तमें एकेश्वरकी उत्तम उपासना कही है, इसलिये उपासनाके लिये यह उत्तम सूक्त है।

शापसे हानि।

[३७]

(ऋषिः- अथर्वा स्वस्त्ययनकामः। देवता-चन्द्रमाः)

उप प्रागात् सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम्।
शप्तारमन्विच्छन् मम वृक इवाविमतो गृहम्॥ १॥
परि णो वृङ्धि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन्।
शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः॥ २॥
यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्।
शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे॥ ३॥

अर्थ— (सहस्राक्षः शपथः) हजार आंखवाला शाप (रथं युक्त्वा) अपना रथ जोतकर (मम शप्तारं अन्विच्छन्) मेरे शाप देनेवालेको ढूंढता हुआ (उप प्र अगात्) उसके समीप आता है,(वृकः अवि-मतः गृहं इव) जिस प्रकार भेडिया भेडवालेके घरके प्रति आता है॥ १॥

हे (शपथ) दुष्ट भाषण! (नः परिवृङ्धि) हमें छोड दे (दहन् अग्निः ह्रदं इव) जिस प्रकार जलनेवाला अग्नि जलस्थानको छोड देता है। (अत्र नः शप्तारं जहि) यहां हमारे शाप देनेवालेका नाश कर (दिवः अशनिः वृक्षं इव) आकाशकी बिजुली जिस प्रकार वृक्षका नाश करती है॥ २॥

(अशपतः नः यः शपात्) शाप न देनेवाले हमको जो शाप देवे, (यः च शपतः नः शपात) और जो शाप देनेवाले हमको शाप देवे,(अवक्षामं तं मृत्यवे प्रति अस्यामि) उस हीनको मैं मृत्युके स्वाधीन करता हूं। (पेष्ट्रं शुने इव) जिस प्रकार टुकडा कुत्तेके सामने फेंकते हैं ॥ ३ ॥

शापसे हानि।

शाप देनेसे, दूसरेको कटु वचन कहनेसे जो हानि होती है, उसका वर्णन इस सूक्तमें किया है। शाप हजार आंखवाला अर्थात् महाक्रोधी अथवा महाक्रोधसे उत्पन्न होता है। जो शाप देता है, क्रोधके वचन कहता है, दूसरेको क्रोधसे बुरा कहता है, उसीका शाप उसको हजार गुणा नाशक होकर उसको ढूंढता हुआ उसीपर वापस आता है देखिये—

सहस्राक्षः शपथः शप्तारं अन्विच्छन् उपागात्। (मं० १)

" हजार गुणा शाप बनकर शाप देनेवालेको ढूंढता हुआ उसीके पास जाता है। " इसलिये शाप देनेवालेकी हानि हजार गुणा होती है। अतः कोई किसीको शाप न देवे।

शपथ ! नः परिवृङ्ग्धि। (मं० २)

" शाप हमारे पास न आवे " अर्थात् हमारे मुखसे कभी बुरा वचन न निकले, और कोई दूसरा हमारे उद्देश्यसे बुरा वचन न कहे। अर्थात् हम कभी बुरा वचन न कहें और कभी हम बुरे शब्द भी न सुनें।

शपथ ! शप्तारं जहि। (मं० २)

" शाप शाप देनेवालेका ही नाश करे। " अर्थात् जिसका जो कटु वचन होता है वह उसीका नाश करता है। इसलिये कोई कभी कटु वचन न बोले। कटु वचनसे अपनाही अधिक नाश होता है। इसलिये क्रोधी मनुष्य अपने आपको बडी सावधानीसे बचा लेवे।

अवक्षामं मृत्यवे अस्यामि। (मं० ३)

" शाप देनेवाले हीन मनुष्यको मृत्युके प्रति भेजा जाता है। " अर्थात् शापदेनेसे आयुका नाश होता है इस कारण कोई किसीको शाप न देवे और बुरा वचनभी न कहे।

' स्वस्त्ययन ' अर्थात् (स्वस्ति-अयनं) " उत्तम कल्याण प्राप्त करते हुए जीवन व्यतीत करना" इस सूक्तका उद्देश्य है। इस उद्देश्य की सिद्धीके लिये मनुष्यको उचित है कि वह कभी कटु वचन न बोले। इस नियमका पालन करता हुआ मनुष्य उन्नत होवे और अपना जीवन कल्याणयुक्त बनावे।

तेजस्विताकी प्राप्ति।

[३८]

(ऋषिः-अथर्वा वर्चस्कामः। देवता—त्विषिः, बृहस्पतिः)

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ १ ॥
या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ २ ॥
रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ ३ ॥
राजन्ये दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ ४ ॥

अर्थ-(या त्विषिः) जो तेज (सिंहे, व्याघ्रे, उत पृदाकौ) सिंह, बाघ, और सांपमें हैं और (या अग्नौ, ब्राह्मणे, सूर्ये) जो तेज अग्नि, ब्राह्मण, और सूर्य में है,(या सुभगा देवी इन्द्रं जजान) जो भाग्ययुक्त दैवी तेज इन्द्रको अर्थात् राजाको उत्पन्न करता है (वर्चसा संविदाना सा नः एतु) अन्न और बलसे युक्त होकर वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

(या त्विषिः) जो तेज (हस्तिनि द्वीपिनि) हाथी और बाघमें है (या हिरण्ये, अप्सु, गोषु, पुरुषेषु) जो तेज सोना, जल, गौवें और मनुष्योंमें होता है, जिस भाग्ययुक्त तेजसे राजा उत्पन्न होता है, वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ २ ॥

जो तेज (रथे अक्षेषु ऋषभस्य वाजे) रथ, अक्ष, और बैलके बलमें है, और (वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे) वायु पर्जन्य और वरुणके सामर्थ्यमें है और जिस से राजा उत्पन्न होता है वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

जो तेज (राजन्ये आयतायां दुन्दुभौ) क्षत्रियमें और खेंची हुई दुन्दुभीमें होता है, और (अश्वस्य वाजे, पुरुषस्य मायौ) घोडेके बलमें और मनुष्यके पित्तमें जो बल होता है, जिस से राजा उत्पन्न होता है वह तेज मुझे प्राप्त हो ॥ ४ ॥

तेजके स्थान ।

इस सूक्त में तेज कहां कहां रहता है, इसका उत्तम वर्णन है। मनुष्यको ये गुरु करने चाहिये और इनसे तेज का पाठ सीखना चाहिये, देखिये—

१ सिंह- सिंहमें तेज है इसीलिये उसको वनराज कहते हैं । सिंहके सामने उसकी उग्रता देखकर साधारण मनुष्य नहीं ठहर सकता ।

२ व्याघ्र- वाघ भी बडा तेजस्वी होता है, उसकी उग्रता प्रसिद्ध है ।

इसी कारण अधिक तेजस्वी मनुष्यको " नरसिंह, नरव्याघ्र" कहते हैं । क्यों कि ये पशु अन्य पशुओंसे बडे तेजस्वी होते हैं ।

३ पृदाकु— सांप भी बडा तेजःपुञ्ज होता है, चपल और उग्र होता है ।

४ अग्नि- अग्निका तेज, उष्णत्व और प्रकाश सब जानते हैं।

५ ब्राह्मण- ब्राह्मणमें ज्ञान और विज्ञानका बल रहता है ।

६ सूर्य-सूर्य तो सब तेज का केन्द्र है हि। इसके समान कोई तेजस्वी पदार्थ नहीं है ।

७ हस्ती-हाथी में गंभीरता का तेज होता है, उसकी शोभा महोत्सवोंमें दिखाई देती है, इसकी शक्ति भी बडी होती है ।

८ द्वीपी— यह नाम तरक्षु या व्याघ्रका है यह बडा उग्र और तेजस्वी होता है ।

९ हिरण्य— सोनेका तेज सब जानते हैं ।

१० आपः- जलभी तेजस्वी होता है, 'उसमें जीवन नहीं अर्थात् जल नहीं,' ऐसा भाषाका भी व्यवहार होता है । जलमें तेज होनेके कारण जीवन के लिये भी यह शब्द प्रयुक्त होता है ।

११ गौ- गायमें भी तेज है । पाठक म्हैंस का शैथिल्य और गायकी चपलता का विचार करेंगे तो उनको गाय के तेज का पता लगजायगा ।

१२ पुरुष- मनुष्यमें भी तेज होता है ।

१३ रथ, अक्ष, वृषभ- इनके तेजका अनुभव सबको है। मनुष्योंमे जो श्रेष्ठ होता है उसको " नरर्षभ " अर्थात् " मनुष्योंमें बैल " ऐसा कहते हैं। बैल बडा बलवान और तेजस्वी होता है ।

१४ वायु, पर्जन्य— यद्यपि वायु अदृश्य है तथापि वह प्राणके द्वारा शरीरमें तेज स्थापित करता है, प्राणके विना मनुष्य निस्तेज बनता है । पर्जन्य जलके द्वारा सबको जीवन देता है ।

१५ क्षत्रिय— क्षत्रियमें अन्य मनुष्योंसे उग्रता और तेज होता है इसी कारण क्षत्रिय राज्यका शासन कर सकता है।

१६ दुन्दुभी, अश्व,— ढोल बजतेही मनुष्यमें बडा उत्साह बढता है और घोडा भी बडा प्रभावशाली होता है।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इनमें अलग अलग प्रकारका तेज है और ये सब प्रकारके तेज मनुष्यमें स्थिर होने चाहिये। भिन्न तेजोंकी कल्पना आनेके लिये देखिये सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि इनमें तेज है, परंतु वह परस्पर भिन्न है। हरएक पदार्थके तेजमें भिन्नता है। वाघका तेज और गौका तेज परस्पर भिन्न है। मनुष्यको विचार करके इनके तेजोंको अपने अंदर धारण करना चाहिये। देखिये—

अग्निमें तेज है, उसकी गति उच्च दिशाकी ओर होती है, वह स्वयं जलकर दूसरोंको प्रकाशित करता है, वह सदा उग्र अवस्थामें रहता है, इसी प्रकार मनुष्यको अपनेमें तेज बढाना चाहिये। अर्थात् मनुष्य तेजस्वी बने, उच्च अवस्थाकी ओर अपनी प्रगति करे, स्वयं कष्ट सहन करके दूसरोंको प्रकाशित करे और सदा उग्र बना रहे। अग्निके तेजसे यह उपदेश मनुष्य ले सकता है। उसी प्रकार सब अन्य तेजोंके विषयमें जानना चाहिये। पाठक इस प्रकार विचार करके हरएककी तेजस्वितासे प्राप्त करने योग्य बोध लें और स्वयं तेजस्वी बनें।

इस जगत्में हरएक पदार्थ मनुष्यको बोध देनेके लिये तैयार है, परंतु मनुष्यही बोध लेनेके लिये तैयार होना चाहिये। यदि पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करेंगे तो उनको इस सूक्तसे बहुत बोध प्राप्त हो सकता है। बोध लेनेकी दृष्टिसे यह सूक्त बडा महत्त्व पूर्ण है।

यशस्वी होना।

[३९]

(ऋषिः-अथर्वा वर्चस्कामः। देवता-त्विषिः, बृहस्पतिः)

यशो॑ ह॒विर्व॑र्धता॒मिन्द्र॑जूतं स॒हस्र॑वीर्यं सु॒भृ॑तं॒ सह॑स्कृतम्।
प्र॒सर्स्रा॑ण॒मनु॑ दी॒र्घाय॒ चक्ष॑से ह॒विष्म॑न्तं मा वर्धय ज्ये॒ष्ठता॑तये ॥ १ ॥
अच्छा॑ न॒ इन्द्रं॑ य॒शसं॒ यशो॑भिर्यश॒स्विनं॑ नमसा॒ना वि॑धेम।
स नो॑ रास्व रा॒ष्ट्रमिन्द्र॑जूतं॒ तस्य॑ ते रा॒तौ य॒शसः॑ स्याम ॥ २ ॥

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ-(इन्द्रजूतं सहस्रवीर्यं सुभृतं) ईश्वरसे प्राप्त, सहस्रों वीर्योंसे युक्त उत्तम भरपूर, (सहस्कृतं हविः यशः वर्धतां) बलसे प्राप्त किया हुआ यज्ञरूप मेरा यश बढे। इससे (दीर्घाय ज्येष्ठतातये) बडी श्रेष्ठता को फैलानेवाली (चक्षसे) दृष्टि प्राप्त होनेके लिये (प्रसर्स्राणं हविष्मन्तं मा अनुवर्धय) प्रगति करनेवाले अन्नयुक्त मुझको अनुकूलतासे बढा ॥१॥

(यशोभिः यशसं यशस्विनं इन्द्रं) अनेक यशोंसे युक्त होनेके कारण यशस्वी प्रभुको (नमस्यानाः नः अच्छ विधेम) नमस्कार करते हुए हमारे उदयके हेतुसे हम उत्तम प्रकार उसको पूजते हैं। (सः इन्द्रजूतं राष्ट्रं नः रास्व) वह तूं प्रभुके द्वारा दिया हुआ राष्ट्र अथवा तेज हमें दे। (तस्य ते रातौ यशसः स्याम) उस तेरे दानमें हम यशस्वी होवें ॥ २ ॥

(इन्द्रः यशाः) प्रभु यशस्वी है, (अग्निः यशाः) अग्नि यशस्वी है, (सोमः यशाः अजायत) सोम भी यशस्वी हुआ है। (विश्वस्य भूतस्य यशाः) संपूर्ण भूतमात्रके यशसे (अहं यशस्तमः अस्मि) मैं यशवाला हूं ॥ ३ ॥

हजारों सामर्थ्य।

मनुष्यको हजारों सामर्थ्य (सहस्रवीर्यं) प्राप्त करना चाहिये। क्यों कि मनुष्यकी उन्नति सामर्थ्यसे ही होती है। सामर्थ्यहीन मनुष्य निकम्मा होता है। यह सामर्थ्य (सहस्कृतं) अपने बलसे ही प्राप्त करना चाहिये। दूसरेके बलसे प्राप्त हुई उच्च अवस्था उसका बल दूर होनेके पश्चात् स्वयं दूर होगी, इस कारण अपना बल बढाकर उससे अपने यशकी वृद्धि करनी चाहिये। यह यश (हविः यशः) हवन के समान, यज्ञ रूपी यश है। अर्थात् सबकी भलाई के लिये आत्मसमर्पण करनेसे प्राप्त होनेवाला है। जब कोई मनुष्य सब जनताकी भलाई के लिये आत्म सर्वस्व का त्याग करता है, तब उसको (इन्द्रजूतं यशः) प्रभुसे यह यश प्राप्त होता है।

यशका स्वरूप।

दीर्घाय ज्येष्ठतातये चक्षसे। (मं० १)

" दीर्घ दृष्टी और श्रेष्ठता का विस्तार इस यशसे होता है " संकुचित दृष्टि यशकी हानि करनेवाली है और लघुता क्षीणत्वकी द्योतक है। इस कारण यशके साथ दीर्घ-

दृष्टि और श्रेष्ठता अवश्य रहनी चाहिये अर्थात् वही यश प्राप्त करना चाहिये कि जिस के साथ दीर्घदृष्टि और श्रेष्ठता रहती है।

प्रभुकी भक्ति।

यश प्राप्त होनेके लिये प्रभुकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये—

यशस्विनं इन्द्रं नमस्यानाः विधेम। (मं० २)

'यशस्वी प्रभुको नमस्कार करते हुए हम उसकी भक्ति करें।' यह भक्ति जो करते हैं उनका अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र होता है और वे यशके भागी होते हैं। उससे प्रार्थना करनी चाहिये कि—

नः राष्ट्रं रास्व। (मं० २)

"हे प्रभो! हमें राष्ट्र अथवा तेज दे।" हमें ऐसा राष्ट्र दे कि जो हमारे यशवर्धन करनेमें सहायक होवे।

इस जगत् में इन्द्र, अग्नि, सोम, भूतमात्र ये सब अपने अपने यशसे यशस्वी हुए हैं उन सबका तेज प्राप्त होकर मैं यशस्वी बनूंगा, यह इच्छा मनमें धारण करनी चाहिये। देखिये—

अहं यशस्तमः अस्मि। (मं० ३)

"मैं यशस्वी होऊंगा।" अर्थात् जिस प्रकार ये सब अपने यशसे यशस्वी हुए हैं उस प्रकार मैं भी अपने तेजसे तेजस्वी बनूंगा। इस प्रकारकी इच्छा हरएक मनुष्य अपने मनमें धारण करे और अपने प्रयत्नसे उच्च अवस्था प्राप्त करे और चारों पुरुषार्थ सिद्ध करे।

निर्भयता के लिये प्रार्थना।

[४०]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता-मन्त्रोक्ताः)

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु।
अभयं नोऽस्तूर्व१न्तरिक्षं सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु॥ १॥
अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु।
अशत्र्विन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभि यातु मन्युः ॥ २॥

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात् ।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे द्यावापृथिवी ! (इह नः अभयं अस्तु) यहां हमारे लिये अभय होवे । (सोमः सविता नः अभयं कृणोतु) सोम और सविता हमारे लिये निर्भयता करे । (उरु अन्तरिक्षं नः अभयं अस्तु) यह बडा अन्तरिक्ष हमारे लिये अभयदायी होवे । और (सप्त-ऋषीणां च हविषा नः अभयं अस्तु) सप्त ऋषियोंकी हविसे हमारे लिये अभय प्राप्त होवे॥१॥

(सविता) सबकी उत्पत्ति करनेवाला देव (अस्मै नः ग्रामाय) इस हमारे नगर के लिये (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओंमें (ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति कृणोतु) बल, ऐश्वर्य और कल्याण करे । (इन्द्रः नः अशत्रु अभयं कृणोतु) प्रभु हम सब के लिये शत्रु रहित निर्भयता करे । (राज्ञां मन्युः अन्यत्र अभियातु) राजाओंका क्रोध औरोंपर चला जावे ॥ २ ॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (नः अधरात् अनमित्रं) हमारे लिये नीचेसे शत्रु दूर होवे । (नः उत्तरात् अनमित्रं) हमारे लिये उच्च भागसे निर्वैरता होवे । (नः पश्चात् अनमित्रं) हमारे लिये पीछेसे निर्वैरता होवे और (नः पुरः अनमित्रं कृधि) हमारे सामने निर्वैरता कर ॥ ३ ॥

भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक, सोम, सविता, सप्तऋषि, दिशा, इन्द्र, राजा, इन सबसे हम सब लोगोंको अभयता प्राप्त होवे । यह प्रार्थना इस सूक्तमें है । अभय प्रार्थना के लिये यह बडा उत्तम सूक्त है ।

ये सब देव अपने अंदर भी हैं, सप्त इंद्रियोंके रूपमें हमारे शरीरमें हैं, सूर्य आंखमें रहा है, चन्द्र मनमें है, दिशाओंनें कानोंमें स्थान लिया है, इन्द्र मनमें रहा है, भूमि स्थूल शरीरके घनभागमें है, अन्तरिक्ष का अन्तःकरण बना है, द्युलोक का मस्तक बना है, इस प्रकार अपने शरीरमें अंशरूपसे रहे ये देव हमारे शरीरके अन्दर निर्भयता स्थापित करें । अर्थात् शत्रुरूपी रोगों और कुविचारोंको दूर करके हमें अंदरसे शत्रु-रहित करें । यह तब होगा जब कि हमारे अंदरके ये देवतांश शत्रुओंके वशमें न होंगे। अर्थात् सबके सब इंद्रिय सत्कर्ममें प्रवृत्त हों और असन्मार्गसे निवृत्त हों । इस प्रकार विचार करनेसे निर्भय होनेका मार्ग ज्ञात हो सकता है । पाठक स्मरण रखें की निर्भयता प्राप्त करनेके लिये आन्तरिक शुद्धता होनी चाहिये । निर्भयता अन्दरसे होनी है, बाहरसे नही ।

अपनी शक्तिका विस्तार।

[४१]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता-चन्द्रमाः, बहुदेवत्यम्)

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये ।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥
अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे ।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥ २ ॥
मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः ।
अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः॥३॥
॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ- (मनसे, चेतसे, धिये) मन, चित्त, बुद्धि, (आकूतये चित्तये) संकल्प, स्मृति, (मत्यै, श्रुताय, उत चक्षसे) मति, श्रवण और दर्शनशक्ति की वृद्धि के लिये (वयं हविषा विधेम) हम हविसे यज्ञ करते हैं ॥ १ ॥

अपान, व्यान, (भूरि-धायसे प्राणाय) बहुत प्रकारसे धारण करने वाले प्राण और (उरुव्यचे सरस्वत्यै) बहुत विस्तृत प्रभावशाली विद्या-देवी की वृद्धि के लिये (वयं हविषा विधेम) हम हविसे यज्ञ करते हैं॥२॥

(ये तनूपाः) जो शरीरकी रक्षा करनेवाले हैं वे (ये नः तन्वः तनू-जाः) जो हमारे शरीरमें उत्पन्न हुए हैं वे (दैव्याः ऋषयः) वे दिव्य ऋषि (नः मा हासिषुः) हमें न छोडें । ये (अमर्त्याः मर्त्यान् नः अभि सचध्वं) अमर देव हम मरनेवालों से मिलकर रहें । (नः प्रतरं आयुः जीवसे धत्त) हमें उत्कृष्ट आयु दीर्घ जीवनके लिये धारण करें ॥ ३ ॥

अपनी शक्तियाँ।

मन, चित्त, धारणावती बुद्धि, संकल्प शक्ति, स्मृति, मति, श्रवणशक्ति, दृष्टी, प्राण, अपान, व्यान, विद्या-ज्ञानविज्ञान इत्यादि अनंत शक्तियां मनुष्यके अन्दर हैं । इनका विकास करना चाहिये । मनुष्यका विकास तब ही होगा, जब इसकी इन शक्तियोंकी वृद्धि हो और वे शक्तियां प्रशस्ततम सत्कर्ममें लग जांय । प्रथम मंत्रमें अन्तःकरण की शक्तियां कहीं हैं और ज्ञानेन्द्रियोंका भी उल्लेख है । द्वितीय मंत्रमें

प्राणोंका वर्णन है और विद्याका उल्लेख है। यद्यपि इन मंत्रोंमें कर्मेंद्रिय आदि अनेक शक्तियों का उल्लेख नहीं है, तथापि उल्लिखित इंद्रियशक्तियोंके अनुसंधानसे अन्य इंद्रियों अवयवों और शक्तियोंका भी ग्रहण यहां करना उचित है। अर्थात् अपने अन्दरकी संपूर्ण शक्तियोंका उत्कर्ष करनेका यत्न करना चाहिये।

ऋषि।

इस सूक्तके तीसरे मंत्रमें ऋषियोंका निश्चित पता दिया है। इससे ऋषियोंका आश्रम कहां है इसका उत्तम पता लग सकता है, देखिये—

तनूजाः तनूपाः दैव्याः ऋषयः। (मं० ३)

" शरीरमें उत्पन्न होकर शरीरकी रक्षा करनेवाले ये इंद्रिय रूपी ऋषि यहां हैं। " और यह शरीर ही उनका आश्रम है। इस आश्रममें ये रहते हैं, और यहांका सब कार्य करते हैं। ये इंद्रिय शक्तियां—

अमर्त्याः दैव्याः ऋषयः। (मं० ३)

" ये इंद्रियरूपी ऋषि दैवी शक्तिसे युक्त हैं और इनमें जो शक्ति है, वह अमर शक्ति है। " ये दैवी शक्तियां मनुष्यके शरीरमें विकसित हों और इन विकसित शक्तियोंके साथ मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करे, इस विषयमें उपदेश देखिये—

अमर्त्याः दैव्याः ऋषयः नः मर्त्यान् अभिसचध्वम्। (मं० ३)

" ये अमर शक्तिसे युक्त दिव्य ऋषि अर्थात् इंद्रिय शक्तियां हम सब मर्त्य मनुष्यों को चारों ओर से प्राप्त हों " और—

प्रतरं आयुः जीवसे नः धत्त। (मं० ३)

" उत्तम आयु दीर्घजीवनके लिये हमें प्राप्त हो। अर्थात् हमारी इंद्रियोंमें वह दैवी शक्ति उत्तम प्रकार कार्य करनेमें समर्थ होवे।

सप्तऋषि शब्द मनुष्य शरीरके इंद्रियोंका वाचक है, दो नेत्र दो कान, दो नाक, एक मुख (वागिंद्रिय) ये सात ऋषि हैं अथवा—त्वचा, नेत्र, कान, जिव्हा, नाक, मन, और बुद्धि ये भी सप्त ऋषि हैं। इनमें दैवी शक्ति है यह जानकर इनको देवतारूप बनानेका यत्न मनुष्य करे और सब प्रकारसे समर्थ होकर कृतकृत्य बने।

परस्परकी मित्रता करना।

[४२]

(ऋषिः— भृग्वंगिराः परस्परं चित्तैकीकरणकामः। देवता-मन्युः)

अव॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नो म॒न्युं त॑नोमि ते हृ॒दः।
यथा॒ संम॑नसौ भू॒त्वा सखा॑यावि॒व॒ सचा॑वहै ॥ १ ॥
सखा॑यावि॒व सचाव॒हा अव॑ म॒न्युं त॑नोमि ते।
अ॒धस्ते॒ अश्म॑नो म॒न्युमु॒पास्या॑मसि॒ यो गु॒रुः ॥ २ ॥
अ॒भि ति॑ष्ठामि ते म॒न्युं पार्ष्ण्या॒ प्रप॑देन च।
यथा॑व॒शो न वा॑दि॒षो मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ ३ ॥

अर्थ— (धन्वनः ज्यां इव) धनुष्यसे डोरीको उतारनेके समान (ते हृदः मन्युं अवतनोमि) तेरे हृदयसे क्रोधको हटाता हूं। (यथा संमनसौ भूत्वा) जिससे एक मनवाले होकर (सखायौ इव सचावहै) मित्रके समान हम परस्पर मिलकर रहें ॥ १ ॥

(सखायौ इव सचावहै) हम दोनों मित्र बनकर रहें इसलिये (ते मन्युं अव तनोमि) तेरा क्रोध हटाता हूं। (यः गुरुः) जो बडा क्रोध है उस (ते मनुं) तेरे क्रोधको (अश्मनः अधः उप अस्यामसि) पत्थरके नीचे दबा देते हैं ॥ २ ॥

(ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च अभितिष्ठामि) तेरे क्रोधको एडीसे और पांवकी ठोकरसे मैं दबाता हूं। (यथा मम चित्तं उपायसि) जिससे तू मेरे चित्तके अनुकूल होओगे और (अवशः न अवादिषः) तू परतंत्रताकी बात न कहोगे ॥ ३ ॥

क्रोध।

क्रोध ऐसा है कि, वह दिलोंको फाड देता है, विरोध उत्पन्न करता है और द्वेष बढाता है। इस क्रोधको मनसे हटाना चाहिये। जिस समय क्रोध हट जाता है, उस समय दिल साफ होजाता है और परस्पर मेल होनेकी संभावना होती है। इस लिये हरएक मनुष्यको उचित है कि, वह अपने मनसे क्रोधको इस प्रकार हटावे जिस प्रकार युद्धसमाप्तिके समय वीर पुरुष अपने धनुष्य से रस्सीको हटा देते हैं। क्रोधको दूर

करके उसको दूर ही दबाकर रखें, जिससे वह फिर अपने मन पर चढ न सके। यदि क्रोध फिर पास आने लगा, तो उसको ऐसी ठोकर मारनी चाहिये कि जिससे वह फिर उपर न चढने पावे। मनुष्यको उचित है कि वह कभी क्रोधके आधीन न होवे और क्रोधी वचन न बोले।

इस प्रकार क्रोध को दूर करके शान्ति धारण करनेसे परस्पर मिलाप होता है और संगठन होनेसे शक्ति बढ जाती है।

क्रोधका शमन।

[४३]

(ऋषि- भृग्वंगिराः परस्परं चित्तैकीकरणकामः। देवता—मन्युशमनम्)

अ॒यं द॒र्भो विम॑न्युकः॒ स्वाय॒ चार॑णाय च।
म॒न्योर्वि॑म॑न्युकस्या॒यं म॑न्युशम॑न उच्यते ॥ १ ॥
अ॒यं यो भूरि॑मूलः समु॒द्रम॑व॒तिष्ठ॑ति।
द॒र्भः पृ॑थि॒व्या उत्थि॑तो मन्यु॒शम॑न उच्यते ॥ २ ॥
वि ते॑ हन॒व्यां॑ श॒रणिं॒ वि ते॒ मुख्यां॑ नयामसि।
यथा॑व॒शो न वादि॑षो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ ३ ॥

अर्थ- (अयं दर्भः स्वाय चारणाय च विमन्युकः) यह दर्भ अपने लिये और अन्यके लिये भी क्रोधको हटानेवाला है, (अयं मन्योः विमन्युकस्य) यह क्रोधीके क्रोधको दूर करनेवाला और (मन्युशमनः उच्यते) क्रोधको शान्त करनेवाला कहा जाता है ॥ १ ॥

(यः अयं भूरिमूलः) जो यह बहुत जडोंवाला (समुद्रं अवतिष्ठति) समुद्रके समीप होता है (पृथिव्याः उत्थितः दर्भः) भूमीसे उगा हुआ दर्भ (मन्युशमनः उच्यते) क्रोधको शान्त करनेवाला कहा जाता है ॥ २ ॥

(ते हनव्यां शरणिं वि) तेरे हनुके आश्रयसे रहने वाला क्रोधका चिन्ह दूर करते हैं, (मुख्यां विनयामसि) तेरे मुखमें जो क्रोध है उसको भी हम दूर करते हैं (यथा मम चित्तं उपायसि) जिससे तू मेरे चित्तके अनु-

कूल होगा और (अवशः न अवादिषः) परवश होकर क्रोधी भाषण न करेगा ॥ ३ ॥

दर्भ।

यहां इस सूक्तमें दर्भ को क्रोध शान्त करनेवाला कहा है। यह खोजका विषय है। वैद्यकग्रंथोंमें दर्भका यह गुण नहीं लिखा है। यदि वैद्यलोग इसका अधिक विचार करेंगे, और समुद्रतीरपर उगनेवाले दर्भ नामक घास की जडोंके रसमें यह गुण है, या और किस वनस्पतिमें यह गुण है इसका निश्चय करेंगे, तो क्रोधी मनुष्योंको शान्त स्वभावी बनानेका उपाय ज्ञात हो सकता है।

कौशीतकी सूत्र (कौ० सू० ४।१२) में " अयं दर्भ इत्यौषधिवत् " ऐसा कहा है। इससे पता लगता है कि समुद्र तीर पर उगनेवाले दर्भका मूल निकालकर उसको सिर पर अथवा शरीरपर धारण करने अथवा रसके सेवन करने का विधान इस सूक्तमें है। संभव है दर्भकी जडोंमें मस्तिष्कको शान्त करने द्वारा क्रोधको हटानेमें सहायक होनेका गुणधर्म हो। यह सब विधिपूर्वक करके देखने योग्य बात है। जो कर सकते हैं वे वैद्यकी सलाहसे करके अनुभव लें और अपना अनुभव प्रकाशित करें।

रक्तस्रावकी औषधी।

[४४]

(ऋषिः — विश्वामित्रः। देवता-वनस्पतिः, मन्त्रोक्तदेवता)

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत्।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥ १ ॥
शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च।
श्रेष्ठमास्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥ २ ॥
रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः।
विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी ॥३॥

अर्थ— (द्यौः अस्थात्) द्युलोक ठहरा है, (पृथिवी अस्थात्) यह सब जगत् ठहरा है, (ऊर्ध्व-स्वप्नाः वृक्षाः अस्थुः) खडे खडे सोनेवाले वृक्षभी ठहरे हैं। इसी प्रकार (अयं तव रोगः तिष्ठात्) यह तेरा रोग ठहर जावे ॥ १ ॥

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	,, ।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	,, १।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	,, ।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	,, १)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	,, ॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	,, ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	॥) बारह आ.	।.)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ राजधर्मपर्व	[७७–८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)

कुल मूल्य ४५) कुलडा. व्य.८ =)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध, (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

R. NO. B. 1463

ॐ

वर्ष ११

अंक ३

वैदिक धर्म

वैदिक तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

फाल्गुन

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवलेकर.

वर्ष ११

अंक ३

क्रमांक १२३

फाल्गुन

संवत् १९८६

मार्च

सन १९३०

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) [illegible])

वर्ष ११

अंक ३

क्रमांक १२३

फाल्गुन

संवत् १९८६

मार्च

सन १९३०

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

तेजस्वी ईश्वर।

दिवश्चिदा ते रुचयन्त रोका उषो विभातीरनु भासि पूर्वीः।
अपो यदग्न उशधग्वनेषु होतुर्मन्द्रस्य पनयन्त देवाः॥ ११॥

ऋग्वेद ३।६।७

" हे (अग्ने) प्रकाशमान ईश्वर ! जिस प्रकार (वनेषु उशधक्) वन में अग्नि प्रदीप्त होता है और वही वनको प्रकाशित करता है,उसी प्रकार (दिवः चित् ते रोकाः आरुचयन्त) द्युलोकसे तेरे प्रकाश किरण इस सब जगत् को प्रकाशित करते हैं। तथा (विभातीः पूर्वीः उषः अनुभासि) तेजस्वी पूर्वदिशा की उषाओं को तूही अपने तेजसे प्रकाशित करता है। इस कारण ये (देवाः) सब देव भी (यत् मन्द्रस्य होतुः अपः पनयन्त) स्तुती करने योग्य दान देनेवाले तेरे सब कार्योंकी प्रशंसा करते हैं।"

जिस प्रकार वनमें जलनेवाला अग्नि वन को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार इस जगद्रूपी वनमें प्रदीप्त रहनेवाला ईश्वर इस जगत् को प्रकाशित करता है। उषःकाल को प्रकशित करनेवाले सूर्य का प्रकाश भी उसी ईश्वर से सूर्यमें आता है। इसी लिये सब देव भी उसी ईश्वरके सामर्थ्य की सदा प्रशंसा करते हैं अतः सबके प्रकाशक इस ईश्वर की भक्ति सब मनुष्यों को करना योग्य है और उसी के तेजकी धारणा भी अपने अंदर करना उचित है।

विद्यार्थी क्या सीखें ?

विद्यार्थि गण ! आज अपने को विचार करना है कि ' विद्यार्थि क्या सीखें ' । इस कारण पहले यह देखें कि विद्यार्थी किसे कहेंगे । ' विद्यार्थी ' उसका नाम है जिसका अर्थ 'विद्या ' ही है। अर्थात् जिसे विद्या प्राप्त करनी होती है वही विद्यार्थी है । विद्यार्थि को विद्या चाहिए । इस विद्या में कितनी बातें शामिल हैं ? इसे जानने के लिए निम्न लिखित की ओर सावधानी से ध्यान दो—

' विद् ' धातु का अर्थ	विद्या का नाम	विद्यार्थी	गुरु
१ होना, (अस्तित्व)	आन्वीक्षिकी	ज्ञानी	अतिथि
२ जानना (ज्ञान)	त्रयी	जिज्ञासु	आचार्य,
३ विचार करना (विचारणा)	वार्ता	अर्थार्थी	पिता
४ मिलना (प्राप्ति)	दण्डनीति	आर्त	माता

' विद्या ' शब्द ' विद् ' धातु से बना है । भगवान् पाणिनी महाराज इस ' विद् ' धातु के चार अर्थ बतलाते हैं, यथा (१) विद् = सत्तायाम् (होना, अस्तित्व रहना) ; (२) विद् = ज्ञाने (जानना); (३) विद् = विचारणे (विचार करना); (४) विद् = लाभे (प्राप्त करना) । ये चार अर्थ चार विद्याओं के सूचक हैं।

ये चार विद्याएँ अस्तित्व, ज्ञान, विचार और लाभसे संबंध रखती हैं । उन्हें क्रमसे आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, और दण्डनीति कहते हैं। अपने को विचार करके देखना चाहिए कि, अपना अस्तित्व कैसा है, ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, कार्य और अकार्यका विचार करना चाहिए और लाभ प्राप्ति कर लेनी चाहिए । इन्ही बातों के लिए ये चार विद्याएं हैं । जब इस दृष्टि से विचार करके देखेंगे तभी इन चार विद्याओं की विशेषता एवं महत्ता विदित होगी।

जब अपन विचार करना आरंभ करते हैं तब सर्व प्रथम अस्तित्व का विचार करना पडता है । इस प्रकार का विचार करनेवाली विद्या " आन्वीक्षिकी " है । इसमें ' अनु-ईक्षण ' करना होता है । अन्वीक्षण का अर्थ है शास्त्रप्रतीति एवं गुरुप्रतीतिके अनुकूलता से निरीक्षण । जगत् के अस्तित्व के संबंधमें शास्त्र कहता है कि "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" याने ' ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है । ' यह हुई शास्त्रप्रतीति । परन्तु अपना अनुभव भी देखना चाहिए । अपना अनुभव तो यही है कि जगत् प्रत्यक्ष है । और आप सब इस बात को एक मत से कह सकेंगे । क्यों कि अपन प्रत्यक्ष देखते हैं कि यह घर है, यह रास्ता है, वृक्ष, सूर्य, चंद्रमा आदि हैं । इस प्रकार जिसे अपन प्रत्यक्ष देखते हैं उसीको शास्त्र ' मिथ्या ' कहता है । तब किसका अनुभव सत्य है, हम लोगों का या कि शास्त्र का ? जब हम कहते हैं कि अमुक मनुष्य ' मिथ्या बोलता है, ' तब उससे यह मतलब तो नहीं होता कि वह बिलकुल ही नहीं बोलता । वह जो बोलता है सो मिथ्या है । सत्य बोलना भिन्न है और मिथ्या बोलना भिन्न है । सत्य बोलना उसी को कहते हैं, जो सदैव एक ही वस्तुस्थिति बतलाता है। और मिथ्या बोलना वह है जो भिन्न समय में भिन्न भिन्न कहा

जाता है। लोग जब कहते हैं कि यह गवाह सत्यवादी है और वह मिथ्यावादी है, तब उसका मतलब क्या ? उसका मतलब यही कि सत्यवादी गवाह आरंभ से अंत तक एकहीसा हाल बतलाता है और मिथ्यावादी गवाह हर समय अलग अलग हाल बतलाता है। यह मतलब तो कोईभी नहीं समझता कि मिथ्यावादी गवाह बिलकुल ही नहीं बोलता। अब आप समझ गए होंगे कि 'मिथ्या' शब्द का अर्थ क्या है। जगत् मिथ्या है का मतलब यह नहीं कि जगत्का अस्तित्व बिलकुल नहीं है। किन्तु उसका मतलब यह है कि वह जैसे कल था वैसे आज नहीं है और जैसे आज है, वैसे कल न रहेगा। जगत् की प्रतिदिन की गवाह भिन्न है, अतएव उसे मिथ्या कहा है। इसी का विचार और भी दूसरी प्रकार से करेंगे।

जगत् का निरीक्षण करने के अपने पास पांच ही साधन मौजूद हैं। वे पांच ज्ञानेंद्रियां हैं। ये पांच संवाददाता अपने को संसार की खबर पहुंचाते हैं। परन्तु इन पांचों की गवाह भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। किसीका भी दूसरे से मेल नहीं होता। आंखें रंगरूप का वर्णन करते हैं; कान शब्द बतलाते हैं. जीभ रुची बतलाती है. नाक गंध बतलाता है और त्वचा स्पर्शका वर्णन करती है। परन्तु शब्द, स्पर्श, रुप, रस और गंध याने जगत् नहीं है। इसी प्रकार यह भी सम्बन्ध निश्चित रीतिसे नहीं बतलाया जा सकता कि अमुक रंग का अमुक स्पर्श होता है। अतः ये पांच गवाह जगत् का जो वर्णन करते हैं वह परस्पर विसंगत होता है। इसी लिये इस जगत् को मिथ्या बतलाया है। अर्थात् एक तो यह जगत् एक क्षणमें रहता है और दूसरे क्षणमें नहीं रहता और दूसरा यह कि हरएक इंद्रिय उसके विषयमें भिन्न भिन्न अनुभव कहता है। इस लिये इसका एकरूप अस्तित्व नहीं। मिथ्या शब्द का अर्थ 'अभाव' नहीं, परंतु 'बदलनेका स्वभाव'। परंतु ब्रह्म ऐसा नहीं है। वह सर्वत्र एकसा है। उसके सम्बन्ध का सबका अनुभव एकसा है। वह सर्वत्र एकरस है और सब को एकसा आधारभूत है। वह जैसा प्रथम था वैसा ही अब भी है। इत्यादि प्रकारोंसे विदित होता है कि ब्रह्म सर्वदा एकसा है अतएव वह सत्य है और जगत् सदैव बदलता है अतएव वह मिथ्या है। हमारी आन्वीक्षिकी विद्या जगत् और ब्रह्म के अस्तित्व का विचार इस प्रकार करती है। इसके संबंध में कहा हैः—

आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात्सुखदुःखयोः।
ईक्षमाणस्तया तत्त्वं हर्षशोकौ व्युदस्यति॥

कामं० ॥ २।११

" आन्वीक्षिकी आत्मविद्या है। इस विद्याके अनुशीलन से द्वंद्वों की विजय कर सकते हैं। " इस विद्या को सीखने के लिए 'ज्ञानी' शिष्य की आवश्यकता होती है। हर कोई उसे सीख नहीं सकता तथा उसके सिद्धान्त समझ नहीं सकता। अतएव यह आन्वीक्षिकी विद्या थोडे, विशेषज्ञ लोगों के सीखने योग्य विद्या है। इसकी शिक्षा देनेवाला गुरु 'अतिथि' है। जो सत्पुरुष कब मिलेगा इसका भरोसा नहीं होता। जो संत महात्मा केवल परोपकार के लिए ही जीवित रहता है और जिसका बोलना इस आन्वीक्षिकी विद्या के सिद्धान्त ही होते हैं, उसे अतिथि कहते हैं। आत्मानुभव प्राप्त किया हुआ और प्रत्यक्ष ज्ञानदीप स्वरूप यह गुरु उसी मनुष्य को मिलता है जो उत्तम अनुरक्त तथा ज्ञानी होता है। और वह गुरु उसे उचित उपदेश करके अपने ही समान बना देता है।

इससे नीचे की अवस्था है 'ज्ञानी' बनने की। 'विद्' धातु का अर्थ है 'जानना'। इस अवस्था का मुख्य कार्य है ज्ञान प्राप्ति। अतएव यह विद्या सीखने वाला विद्यार्थी 'जिज्ञासु' होना चाहिए। जो ज्ञान पाने की इच्छा करता है उसे जिज्ञासु कहते हैं। जो सच्चे हृदय से सोचता है कि मुझे ज्ञान प्राप्त होना आवश्यक है, और ज्ञान के विना मुझमें बडी भारी न्यूनता है तथा जो अथक परिश्रम से जितना बन सकता है सब ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही सच्चा, 'जिज्ञासु' है। इस का गुरु आचार्य है। अब देखिए आचार्य किसे कहते हैंः-

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।

मनु० २।१४०

" जो शिष्यों को अपने पास रख लेता है और उन्हे त्रयीविद्याका रहस्यपूर्ण ज्ञान सिखलाता है उसे आचार्य कहते हैं। " इस प्रकार के आचार्य गुरुकुलों से शिष्यों को वेदविद्या का ज्ञान देते हैं। एक एक आचार्य के पास हजारों शिष्य शिक्षा पाते थे और ज्ञान प्राप्त करते थे । इन आचार्यों का कार्य-आजकल जैसा केवल शाब्दिक ज्ञान देने का न था। क्यों कि आचार्यों का कार्य इससे अत्यन्त पवित्र है -

आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्,
आचिनोति बुद्धिमिति वा ॥ निरुक्त १ । २

" जो आचार्य शिष्यों को सदाचार की शिक्षा देता है, अर्थों का प्रकाश शिष्यों के अंतःकरण में कराता है अथवा शिष्यों में स्थित बुद्धि को बढाता है, उसे आचार्य कहते हैं। "

सदाचार की शिक्षा देना ही आचार्य का मुख्य कार्य है। आचार कैसा करना चाहिए, योग्य आचार कौनसा और अयोग्य कौनसा आदि बातों को अच्छी तरह समझा कर जो शिष्यों को सदाचार सम्पन्न बना देता है वही आचार्य है। वह जिज्ञासू शिष्य को अपने-पास लाता है और उसकी जिज्ञासा को पूर्ण कर उसे सदाचार सम्पन्न कर देता है। यह आचार्य शिष्यों को जो ज्ञान देता है उसी को ' त्रयी विद्या ' नाम है। त्रयी विद्यामें तीन बातें शामिल हैं सद्वचन, सत्कर्म और शान्तिस्थापना। यह त्रयी विद्या वेदत्रय के अध्ययन से आती है। इसी से आचार्य शिष्यों को वेदों का ज्ञान कराता है तथा उनका रहस्य समझाकर उन्हे ऊँची सीढी पर पहुँचाता है।

इस के पश्चात् व्यवहार आता है। व्यवहार में प्रत्येक मनुष्य को ' अर्थ' अर्थात् द्रव्य की आवश्यकता होती है। इस धनकी अभिलाषा को ही 'अर्थार्थी " पन कहते हैं। जिसे मालूम होता है कि मुझे धन चाहिए वही अर्थार्थी है। इस अर्थार्थी मनुष्य को ' वार्ता ' नामकी विद्या सीखना आवश्यक है। ' वार्ता' के माइने ' जनवार्ता या गप्पें ' नहीं हैं। वार्ता का अर्थ है वृत्ति या आजीविका। वार्ता याने 'पेटपालन का व्यवसाय " जिस व्यवसाय से अपने को खाने पीने को मिलता है, रोजमर्रा की आवश्यकताएं पूरी होती हैं, अपने को सुख एवं सुविधाएं प्राप्त होती हैं उसे संस्कृत में वार्ता कहते हैं। धन की अभिलाषा करनेवाले मनुष्य को यह योगक्षेम की विद्या सीखना आवश्यक है। आन्वीक्षिकी और त्रयी विद्याएं कितनी ही श्रेष्ठ क्यों न हों, पर वे इस अवस्था में योग्य नहीं हैं। अर्थार्थी मनुष्य उन्हे बर्दाश्त न कर सकेगा। और न उन्हे हजम ही कर सकेगा। अतएव ऐसे मनुष्य को 'वार्ता' नाम की विद्याका ही अध्ययन करना चाहिए। ऐसे मनुष्य को वही विद्या सीखना आवश्यक है जिससे धन मिलेगा और योगक्षेम उत्तमता से चलेगा।

धनार्थी मनुष्य को अपनी उपजीविका का विचार सदैव सताता है। उसके मनमें सदासर्वदा यही विचार रहता है किस उपाय से मेरी संसारयात्रा सुखमय होगी। यहाँ पर ' विद् ' धातु का तीसरा अर्थ चरितार्थ होता है। इस वार्ता विद्या में अनेक प्रकार की कलाएँ, अनेक उद्योगधन्धे इत्यादि सब प्रकार के उद्यम शामिल हैं। ये सब धन्धे अनुवंशिक हैं। अतएव वार्ता विद्या का गुरु 'पिता' ही होता है। बढई का लडका बढई का काम बाप से ही सीखता है। अन्य धन्धे करनेवाले लोग भी प्रायः बाप से ही इन कामों को सीखते हैं। अतएव जो कहा है कि उपजीविका की विद्या सिखानेवाला गुरु बाप है सो ठीक ही है।

यदि कोई कहे कि नौकरी करनेवाला पिता क्या पुत्र को नौकरी की ही शिक्षा दे ? तो इसका उत्तर यह है कि कुलपरंपरागत धंधा छोडकर नौकरी का शौक रखना भिखारी बननेका चिन्ह है। परंपरागत धंधा चलाना और उस में कुशलता प्राप्त कर नाम तथा यश पाना ही गौरव की बात है। यह सत्य है कि आजकल कुल-परंपरागत व्यवसाय को छोड नौकरी करने का ही शौक बढ रहा है। परन्तु यह बात कदापि न भूलना चाहिए कि इसी प्रवृत्तिने हमारी भारी हानि की है और इसीसे हम लोगों का नाश होनेवाला है।

बढई का बालक बालपन ही से बढई के औजारों से खेलता है और धन्धे की शिक्षा पाता रहता है।

अतएव उसका सब समय धन्धे की शिक्षा प्राप्त करने ही में व्यतीत होता है। अर्थात् उसका समय तनिक भी फजूल खर्च नहीं होता। उसका घर ही धन्धे की शिक्षा की शाला बन जाती है। और वह बालक पिता को सहायता करते करते जिविका उपार्जन का व्यवसाय सीखता जाता है। अभाग्यवश यदि घर के कमाने वाले पुरुष का देहान्त हो जावे तब भी पुत्र उस व्यवसाय को चलाता है। अतएव घरके कमाई करनेवाले पुरुष के न रहते भी बालबच्चे एवं घर के लोग असहाय नहीं हो जाते। सब आनुवंशिक व्यवसायों में यही लाभ होता है। यह लाभ नौकरी में नहीं होता। यदि नौकरी करनेवाला मर जावे तो उसके बालबच्चे एवं घर के लोग असहाय हो जाते हैं और वे सब भारी विपत्तिमें फँस जाते हैं। इसीलिए राष्ट्र के लिए हितकारी यही है कि लोग आनुवंशिक धन्धे चलाए रखें। इसी लिए 'वार्ता' नाम की विद्या का गुरु 'पिता' बतलाया गया है।

यदि पिता का व्यवसाय पुत्र नहीं करता तो पिता की जमाई हुई साधन सामग्री अकारज जाती है परन्तु यदि बालक वही व्यवसाय उठा लेता है, तो उन साधनों का उसे सहजही में उपयोग होता है। यदि इस दृष्टि से विचार करेंगे तो पता चलेगा कि आनुवंशिक व्यवसाय करने से कितना अधिक लाभ होता है। यह भी समझेगा कि 'वार्ता' विद्या का गुरु 'पिता' किस प्रकार है।

अब चौथी विद्या का विचार करेंगे। यह विद्या 'दण्डनीति' है। इसमें अपराधों के लिए दण्ड देते देते लोगों को पुचकारते हुए उन्हे सत्पथपर लाना होता है। घरमें यह काम माता करती है और बडे प्रमाणपर राष्ट्र में यही कार्य राजा करता है। माता का कर्तव्य है कि बालकों को न्यूनाधिक अपराध के लिए उचित दण्ड देना तथा उन्हे प्रेम से सत्पथ पर लाना। दण्ड देना और नीति के पाठों की शिक्षा देना प्रेमका ही कार्य है। वह माता के सिवा दूसरा कैसे कर सकेगा? राष्ट्र की दण्डनीति अर्थात् दीवानी और फौजदारी के कार्य तभी ठीक रीतिसे चल सकते हैं जब कि प्रजा के प्रति हृदय में मातृवत् वत्सलता होवे। उसके अभाव में राजशासन योग्य रीति से चलना असंभव है।

इस प्रकार की शिक्षा पानेके लिए मनुष्य 'आर्त' होना चाहिए। 'आर्त' से मतलब है 'आतुर' का उस की आतुरता के कारण ही वह जान लेगा कि दण्ड क्यों हुआ और किन नीतिनियमों से चलने पर हित होगा। तथा यदि मनुष्य आतुर है। तो वह एकबार पढा हुआ पाठ भूलता नहीं है।

इस प्रकार की चार विद्याएँ हैं। विद्यार्थी को इन सब विद्याओं का अध्ययन आवश्यक होता है। आन्वीक्षिकी विद्या मोक्ष देनेवाली अतएव सर्वश्रेष्ठ है। जब यह विद्या प्राप्त होती है और मोक्ष मिलजाता है तब विद्यार्थि-दशा समाप्त होती है। परंतु जबतक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती तबतक हम सब विद्यार्थी ही हैं। हम कोई भी विद्या क्यों न सीखते हों, चाहे कोई पेटपालन की विद्या सीखता हो या अन्य कोई, वह विद्यार्थी है यह बात निःसंदेह है। इससे स्पष्ट होगा कि विद्यार्थी दशा कैसी विस्तृत है और प्रायः सभी मनुष्य किस प्रकार विद्या संपादन कर रहे हैं। इससे यह भी ज्ञात होगा कि अपन किस कक्षा में हैं अर्थात् अपने को क्या सीखना आवश्यक है जिससे कि हम उस कक्षा का कार्य पूर्ण कर सकेंगे और आगे की कक्षा के योग्य हो सकेंगे। शिक्षा संपादन का कार्य उन्हीं लोगोंका समाप्त हुआ है जिन्हे मोक्ष प्राप्त हुआ है। इतर जन, फिर वे चाहे कितनी ही उमर के क्यों न हों विद्या सीखते ही हैं।

अब अपन देखें कि हमें क्या सीखना चाहिए। उक्त विद्याओं में से किसी एक विद्या सीखना हमारे लिए आवश्यक है। पाठशालाओंमें हमलोग जो कुछ सीखते हैं वह विद्या नहीं है वे केवल 'शब्द' हैं। और 'शब्द' सीखने का मतलब विद्या सीखना नहीं है। शब्दों की समझ तो पशु पक्षियों में भी रहती है 'हट्' कहते ही कुत्ता भाग जाता है अर्थात् कुत्ता इस शब्द को समझता है। उससे अधिक शब्द तुम लोग जानते हो। पर इससे अधिक क्या हुआ? 'नहीं, न, नो no, not, नाहीं, नथीं' आदि अनेक शब्द याद भी करलिए तबभी उन सबसे 'कुछ नहीं' का ही बोध होगा।

यह बोध कोई गूंगा मनुष्य सिर हिलाकर शब्दों को बिना कहे ही व्यक्त कर सकता है। और पशु अपना मुह फेर कर यही बात दर्शा सकता है। अर्थात् केवल शब्दों को सीखना विद्या सीखना नहीं है। आप भूगोल सीखते हैं। परंतु गायें भी भूगोल ही के ज्ञानसे रास्ता बिना भूले जंगलसे घर लौटती हैं। बदक भी अपने मालिक के घर बहुत दूर से लौट आते हैं, कबूतर तो दूर देश से भी अपने मालिक के घर लौट आते हैं। कुत्तों को भी अपना मालिक और मालिक के संबंध का सब इतिहास विदित रहता है। वह तुर्त ही पहिचानता है कि अमुक मित्र है और अमुक शत्रु। आप लोग इन्हीं बातों को सीखते हैं पर कुछ अधिक विस्तार से। इसमें विशेष पुरुषार्थ नहीं है। इसीसे मैं कहता हूं कि ये अक्षर सीखना विद्या सीखना नहीं है। जो बातें मनुष्येतर प्राणी नहीं कर सकते, वे बातें कर दिखाना चाहिए। तभी वह शिक्षा कहलावेगी और इसी सत्य शिक्षा से मनुष्य मात्र की उन्नति हो सकेगी। नवीन कृत्रिम सृष्टि उत्पन्न करते बननी चाहिए। कृत्रिम पदार्थ नये सिलसिलेसे और नए प्रकार से करते बनने चाहिए। नवीन योजनाओं की रचना करनी चाहिए। जिससे ये बातें करती बन सकेंगी उसी को शिक्षा कह सकेंगे। शिक्षा की प्रगति का लक्षण यह नहीं है कि अक्षर और शब्द सीखें तथा हरएक आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर रहने की जरुरत बढती ही जावे।

दो बातें सीखनी होती हैं। एक विद्या और दूसरी कला। विद्या केवल वही सीख सकता है जो बोल सकता है क्यों कि उसमें वाणी का प्रयोग करना पडता है और कला तो गूंगा भी सीख सकता है।

यद्यस्याद्वाचिकं सम्यक् कर्म विद्येति संज्ञितम्।
शक्तो मूकोऽपि यत्कर्तुं कलासंज्ञं हि तत्स्मृतम्।
(शिल्पशास्त्र)

विद्या और कला की परिभाषा इस प्रकार है। कला सीखकर अपने देश का हुनर बढाना आवश्यक है। आज कल यह शिक्षा नष्ट हो गई है। इसीलिए चारों ओर बेकारी दिख रही है। इसी लिए जो कुछ सीखना है वह यह कला- शिक्षा है। विद्या की परिभाषा ऊपर दी ही है। उसके संबंध में मनुस्मृतिका निम्न लिखित श्लोक भी मनन करने योग्य है। -

अज्ञेभ्यो ग्रंथिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः॥
मनु० १२।१०३

अर्थात् " अज्ञ लोगों की अपेक्षा ग्रंथ पाठ करनेवाले श्रेष्ठ हैं। ग्रंथ पाठ करनेवालों से उनका स्मरण करनेवाले। अर्थात् कभी न भूलनेवाले श्रेष्ठ हैं। इन ग्रंथ-धारक लोगों की अपेक्षा उन ग्रंथों का अर्थ समझने वाले श्रेष्ठ हैं और ज्ञानी लोगों की अपेक्षा व्यवसाई अर्थात् उस विद्या को प्रयोग से प्रत्यक्ष सिद्ध करनेवाले सबमें श्रेष्ठ हैं। " इसका मतलब यही कि केवल अक्षर की विद्या सीखना बिलकुल निम्न श्रेणी का है। वह विद्या प्रत्यक्ष प्रयोग से सिद्ध करते बननी चाहिए। विद्या सीखने का मतलब है व्यवसाई बनाना और कला सीखने का मतलब है हुनर को अपनाना।

एक समय विद्या गुरु के पास आई और उनसे बोली-

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥ १॥ यमेव विद्या शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥ २ निरुक्त २। १। ४

मनुस्मृति में येही श्लोक इस प्रकार हैं:-

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥११४
यमेव तु शुचिं विद्या नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाऽ—
प्रमादिने॥ १५॥ मनु० अ. २

ब्राह्मणों का बडा भारी खजाना यह विद्या है। उसे चाहिए कि इस खजाने की अच्छी प्रकार से रक्षा करे। मायी, निंदक, मत्सर करने वाले, कुटिल विचारों के, जिन्होंने इंद्रियजय नहीं किया ऐसे शि-

ष्य को कदापि विद्या न देनी चाहिए। तभी विद्या का तेज बढता है। कुटिल वृत्ति के मनुष्य के पास विद्या जावे तो वह निर्वीर्य हो जाती है। जो शुद्ध, अप्रमत्त, बुद्धिमान है, जो ब्रह्मचर्यादि नियमों का पालन करनेवाला हो, जो भूल नहीं करता, द्वेष नहीं करता और जो विद्या की उत्तम प्रकार से रक्षा करके उसकी वृद्धि करता है, उसे विद्या देवें तो वह कल्याणकारी होती है।

विद्या सीखनेवाले को भी यही बात ध्यान में रखनी चाहिए। इन नियमों की ओर ध्यान न देकर यदि शिक्षा इसी गरज से ली जावे कि कुछ तो भी सीखना है इस लिए सीखा, तो विशेष लाभ नहीं होता। इसीसे जो कुछ सीखना है वह इसी रीति से सीखना चाहिए।

मधुकरी वृत्ति से रहकर ही विद्या सीखनी चाहिए। मधुकरी वृत्ति का मतलब केवल यही नहीं है कि पकाया हुआ अन्न भीख मांगकर लाना और उसी को खाकर निर्वाह करना। यदि ऐसा करें तो वह सच्ची मधुकरी नहीं है। मधुमक्खी जैसे थोडा थोडा शहद अनेक फूलों से इकट्ठा करके जमा करती है उसी प्रकार जहां कहीं से ज्ञान मिलेगा वहां से इस मधुकर वृत्ति से उसे प्राप्त करना और उसका अपने पास सिलसिले से संग्रह करना। इस वृत्ति से रहने से अपने पास ज्ञानरूपी शहद बहुत इकट्ठा हो जावेगा और उसका उपयोग अपने को तो होगा ही परंतु दूसरों को भी होगा। विद्यार्थियों को सदैव अपने पास एक छोटी वही रखनी चाहिए। जो कुछ विशेष ज्ञान मिलेगा उसे उस किताब में तुर्त ही लिख लेना चाहिए। इसके अनंतर घर लौट आने पर उस ज्ञान को विषय के अनुक्रम से अच्छी तरह लिख रखना चाहिए। यही 'मधुकरी' है। जो इस प्रकार मधुकर वृत्ति धारण करेगा वही सच्चा विद्यार्थि है और वही कुछ ज्ञान प्राप्त करके यश पावेगा। विद्यार्थियों को चाहिए कि वे इस वृत्ति को धारण करें और ऊपर बतलाई हुई विद्या तथा कला प्राप्त करके यश कमावें।

* वैदिक राष्ट्र-गीत। *

(ले०- वैदिक धर्मविशारद पं० सूर्य देवशर्माजी साहित्यालंकार एम. ए.)

(१)

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ॥
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १२।१।

रुचिरा छन्द

सत्य सनातन ज्ञान बृहत्तप क्षात्र तेज व्रत बलधारी।
पृथ्वी को धारण करते हैं कर्मवीरवर नर नारी॥
भूत भविष्यत् वर्तमान में भूपालन करनेहारी।
बने विश्व में मही हमारी विमल कीर्ति भरनेहारी॥ १॥

(२)

असम्बाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बुहु॥
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्त्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥

जिस पृथ्वी के पुत्र पूर्णतः प्रेम परस्पर करते हैं।
उन्नति पथ में असम्बाध हो आगे ही नित बढते हैं॥
जो पृथ्वी बल वीर्य शालिनी ओषधि वर धरने हारी
वही मही हो पूज्य हमारी विमल कीर्ति करने हारी॥ २॥

(क्रमशः)

ग्रंथ-रत्न।

१ अथर्ववेद भाषाभाष्य।

(भाष्यलेखक श्री० पं० जयदेव जी शर्मा, विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ। अथर्ववेद भाषाभाष्य प्रथम, द्वितीय और तृतीय खंड, प्रत्येक खंडका मूल्य रु. ४)

श्री० पं० जयदेव शर्माजीका वेदभाष्य सुप्रसिद्ध है। आपका सामवेद भाष्य जनताके सन्मुख है। उसके पश्चात् आपने अथर्ववेदका भाष्य मुद्रित किया है। इन तीन खंडोंमें अथर्ववेदके १७ काण्ड संपूर्ण हुए हैं। इस भाषाभाष्यमें वेदमंत्रोंका सरल और सुबोध अर्थ दिया है। वेद मंत्रोंका अक्षरार्थ समझनेके लिये ये ग्रंथ उत्तम हैं। जो लोग वेदमंत्रोंका सरल अर्थ जानना चाहते हैं वे इन ग्रंथों को पढें। हमारे मतसे ये ग्रंथ बडे अच्छे हैं। आजकल कई लेखक पं० जयदेव शर्माजीके इस भाष्यपर बुराभला लिखनेमें प्रवृत्त हुए हैं। इन सिद्धान्तोंके ठेकेदारों के विषयमें कुछ भी न लिखना ही अच्छा है। क्यों कि ये लोग नुक्ताचीनी करनेकी अपेक्षा अधिक उपयोगी कार्य करही नहीं सकते। हमारे पास भी 'वैदिक धर्म' कार्यालयमें इस प्रकारके लेख आचुके हैं, परंतु हमारा विचार यह है कि इन लेखकोंने नुक्ताचीनीके ये लेख लिखकर अपने लेखोंसे उन कागजोंका मूल्य कम किया है जिनपर कि उन्होंने अपनी नुक्ताचीनी लिखी है। हम पं. जयदेव शर्माजीसे सानुरोध कहना चाहते हैं कि, वे इन द्वेष बुद्धिसे लिखे लेखोंकी ओर न देखें और अपना वेदभाष्य करनेका कार्य करते रहें। ऐसे लेखोंका उत्तर देनाभी अनुचित है। इस समय वेदभाष्य करनेवालोंपर एक बडी जिम्मेवारी है। वे जनमत के प्रवाहमें प्रवाहित होकर वेद मंत्रोंको न मरोडें। वेदको 'स्वतः प्रमाण' ही रहने दें। 'जनमत प्रमाण' वेदमंत्रोंको बनानेसे जो पाप होगा वह कभी धोया नहीं जासकेगा। हमें पूर्ण आशा है कि पं० जयदेव शर्मा अपने भाष्यको जनमतके प्रवाहमें कभी बहने न देंगे।

२ प्रेम योग।

(ले० श्री. वियोगी हरि, प्र०- गीताप्रेस गोरखपुर। मूल्य १।) यदि इस जगत् में कुछ दिव्य वस्तु है तो केवल प्रेमही है। यदि इस स्थूल जगत् में रहते हुए चैतन्य जगत् का अनुभव लेना है तो अपने अंदर प्रेम की वृद्धि करनी चाहिये। सच्चा उच्च और दैवी प्रेम कौनसा है और घातक मोह कौनसा है, यह साधारण मनुष्य नहीं जान सकता। यह तो प्राज्ञ मनुष्योंका विषय है। परंतु जो यह 'प्रेमयोग' पुस्तक पढेंगे वे उच्च प्रेम और हीन मोह का अंतर जान सकते हैं। पुस्तक गीताप्रेस गोरखपुरसे प्रकाशित हुई है, इतना कहने मात्र से इसकी उत्तमता का निश्चय हो सकता है।

३ मानव धर्म।

(ले० श्री. हनुमानप्रसादजी पोद्दार, प्र० गीताप्रेस गोरखपुर। मू० ≡) मनुमहाराजने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इंद्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, और अक्रोध ये धर्मके दस लक्षण कहे हैं। इस पुस्तकमें इन दश लक्षणोंकी सुबोध व्याख्या की गई है। धर्म जिज्ञासुओंके लिये यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी है।

४ साधनपथ।

(ले०-श्री० हनुमान प्रसादजी पोद्दार, प्र० गीताप्रेस गोरखपुर मू० =)॥ आत्मा के उद्धारका साधन मार्ग इस पुस्तकमें बताया है। पुस्तक छोटी है तथापि आत्मोन्नतिके लिये अत्यंत सहायक है। आत्मोन्नतिके साधक इस पुस्तक को एक वार मननपूर्वक अवश्य पढें।

५ सद्बोधशतक।

(कर्ता- श्री. वल्लभदास भगवानजी गणात्रा। प्र०-श्री. नन्दलाल छगनलाल सोलिसिटर, मुंबई नं० २ 'विनामूल्य') बोधप्रद सौ संस्कृत श्लोक और उनका गुजराती भाषामें अनुवाद इस पुस्तकमें है। श्लोक निःसन्देह बोध देनेवाले हैं।

वाक् और सरस्वती।

वाक् और सरस्वतीमें थोडासा भेद है। वाक् शब्द केवल वाचा अथवा वाणी अर्थात् बोलनेमें प्रचलित "मातृभाषा" का बोधक है। परंतु 'सरस्वती' शब्दसे किसी जातिमें अनादिकालके प्रवाहद्वारा प्राप्त हुई संस्कृति, सभ्यता आदिका बोध होता है। जैसी संस्कृत भाषा मनुष्य मात्रके लिये उत्तम भाषा है, वैसीही यह सरस्वती केवल भारतीय आर्योंके लिये ही है, अन्य देशवासियोंके लिये नहीं है। क्यों कि अनादिकालसे सभ्यताके प्रवाहके साथ यह भारतीय आर्योंके पास ही रही है। इस लिये संस्कृत सारस्वत के साथ ही भारतीय आर्योंका एकरूपताका संबंध है। यह भेद ध्यानमें धारण करनेसे वाक् और सरस्वतीका भेद ध्यानमें आ सकता है। इस दृष्टीसे वेद कह रहा है कि-

> इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
> बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ ऋ० १। १३। ९

"मातृभाषा, मातृसभ्यता और मातृभूमि ये तीन देवताएं कल्याण करनेवाली हैं, ये सदा सर्वदा अंतःकरणमें वास करें।"

हरएक मनुष्यके अन्तःकरणमें इन तीन देवताओंके विषयमें उत्कट भक्ति रहनी चाहिये, क्यों कि इनसेही मनुष्योंका उद्धार होना है। इनका महिमा देखिये-

> सहस्रधा महिमानः सहस्रं
> यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥ ऋ० १०। ११४। ८

"हजार गुणा हजार प्रकारका इसका महत्त्व है, क्यों कि यह वाणी उतनी ही फैली है, जितना ज्ञान फैला है!"

मनुष्यके ज्ञानका जितना विस्तार है उतनाही उसकी वाणी का भी फैलाव है। तथा और देखिये—

गुहा चरन्ती मनुषो न योषा
सभावती विदथ्येव संवाक् ॥ ऋ० १० । १६७ । ३

" मनुष्यकी धर्मपत्नीके समान यह (वाक्) वाणी (विदथ्या) वक्तृत्वपूर्ण और (सभावती) सभामें जाने योग्य तथापि (गुहा चरन्ती) हृदयमें गुप्त संचार करनेवाली है । " इसी विषयमें और निम्नलिखित मंत्र देखिये—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा
ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं
वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ ऋ० १ । १६४ । ४५

"वाणीके चार पाद हैं उनको ज्ञानी बुद्धिमान् ही जानते हैं । उनमेंसे तीन पाद (गुहा) हृदयमें हैं जो प्रकट नहीं हैं, केवल चतुर्थ पादहीसे सब मनुष्य वक्तृत्व करते हैं ।"

यहां स्पष्ट कहा है कि वाणीके चार भाग माने गये, तो मुखसे उच्चारी हुई वाणी केवल एकपादमात्र है । क्योंकि शेष वाणीकी तीन पाद शक्ति अंदरही अंदर रहती है । अर्थात् आत्मा जिस शक्तिको प्रेरित करता है, उसके तीन भाग हृदयमें रहते हैं और एक भागही प्रकट वाणीमें परिणत होता है । इस प्रकार यह वाणी, सरस्वती आदि देवताएं — अध्यात्मशक्तियां — मनुष्यमें देखने और अनुभव करने योग्य हैं ।

इस समयतक हमने 'ॐ, ओम्, ब्रह्म, ज्ञान, सोम, श्रद्धा, ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, सरस्वान्, सरस्वती, वाक्' आदि देवताएं देखीं, उनके मनुष्यके अंदरके आध्यात्मिक स्वरूपका पता लगाया, उनके व्यापक पारमार्थिक रूपका निरीक्षण किया, तब हमें वैदिक देवताओंके विभूतियोगका थोडासा पता लगा । और इस पर्यालोचनसे विदित होने लगा कि, इन देवताओंका अंशरूप अस्तित्व मनुष्यके अंदर जीवात्माके साथ भी है । परमात्माका अंशावतार जीवात्मा है,परमात्माका यह अमृत पुत्र है, इस लिये परमात्माके संपूर्ण अंशभूत देवताओं का निवास अल्पांशरूपसे इसमें होना भी चाहिये । जिस प्रकार पिताके आंख नाक कान आदि संपूर्ण शक्तियां पुत्रमें अंशरूपसे आती हैं उसी प्रकार परमपिता परमात्माकी संपूर्ण शक्तियोंकी अंशरूप उत्पत्ति उसके पुत्रमें होना संभवनीय ही है । वेद परमात्माका वर्णन निःसंदेह करता है, और उसी वर्णनके प्रसंगमें हमने देखा कि वही वेद उन्ही सूक्तोंके अंदर अंदरसे कई स्थानोंमें उसके अमृतपुत्रकी शक्तियोंका भी वर्णन करता है । और वेदकी शब्दयोजना ऐसी है कि बहुत स्थानोंमें एकही

शब्दद्वारा दोनोंका वर्णन सहज हीमें होता है। हमने इतने वर्णनसे देखा कि एकही शब्द किस प्रकार जीवात्माकी अध्यात्मशक्ति और परमात्माकी अनंत व्यापक शक्तिका वर्णन कर रहा है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि, इस प्रकारके वर्णनसे किस देवताका वर्णन करना होता है, इस शंकाके उत्तरके लिये ही वेदमें हमारे सन्मुख "कः" देव आता है। 'कः' का अर्थ "कौन" है। यह देव कौनसा है जिसका कि वर्णन वेदमें किया गया है, कौनसी देवताकी पूजा हम करें, इसका उत्तर 'प्रजापति' देवताकी पूजा सब करें और उससे भिन्न किसी देवताकी न करें, यह है और इसीलिये 'कः' शब्दका अर्थ "प्रजापति, परमात्मा" माना गया है। इसका उदाहरण देखिये—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
ऋ० १०।१२१।२

"जो आत्माको देनेवाला, बल देनेवाला है, जिसके आज्ञाका पालन सब देव करते हैं, जिसका आश्रय अमृत है और जिसका अनाश्रय मृत्युरूप है, इसको छोडकर किस देवकी हम पूजा करें। अथवा इस प्रकारके प्रजापति देवकी ही हम पूजा करें।"

यह वर्णन निःसन्देह परमात्माका है, परंतु यदि सूक्ष्म रीतिसे देखा जाय तो इसीमें जीवात्माका भी वर्णन है। देखिये—"जो आत्मिक बल देनेवाला अर्थात् बुद्धि मन आदिकी शक्ति जिसके कारण कार्य करती है, तथा जो शारीरिक बल भी देनेवाला है, जिसकी आज्ञा सब आंख, नाक कान आदि शरीरस्थ देवतांश पालन करते हैं, जो इस शरीरमें रहनेसे यह शरीर जीवित रहता है और जिसका दूर होना प्रत्यक्ष मृत्यु है, इसी आत्मदेवका हमको आदर करना चाहिये।" यदि पाठक सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करेंगे, तो उनके विचारमें यह बात उसी समय आजायगी कि यह मंत्र विशेष कर जीवात्माका वर्णन कर रहा है। "उसके रहनेसे जीवन और न रहनेसे मृत्यु (यस्य छाया अमृतं, यस्य अच्छाया मृत्युः)" यह बात तो प्रत्यक्ष अपने शरीरमें ही देखनेमें आती है। जीवात्माकी स्थिति यहां जितनी होती है उतने समय तक ही इस शरीरका जीवन होता है, एक बार आत्माकी छाया इस शरीरपरसे हट गयी तो उसी समय मृत्यु होता है। और शरीर जलानेके लायख समझा जाता है। यह जीवात्माका प्रत्यक्ष प्रभाव यहां देखने योग्य है। इस मंत्रके विचारसे कई वेदमंत्र परमात्माका वर्णन करते हुए साथ साथ जीवात्माका वर्णन करते हैं यह बात विशेष दृष्टिगोचर हो सकती है। इस सूक्तमें यह दूसरा मंत्र है। आगेके मंत्रोंमें विशेष कर स्पष्ट रूपसे परमात्माका वर्णन है

और अस्पष्ट रूपसे जीवात्मापर घटता है । परंतु इस मंत्रका वर्णन स्पष्ट रूपसे जीवात्मपरक है और साधारण रीतिसे परमात्मपरक भी होसकता है । साधारण नियम यह है कि सूक्तके प्रारंभके मंत्रोंमें विशेष कर जीवात्माका वर्णन और सूक्तके शेष भागमें परमात्माका विशेष वर्णन दिखाई देता है । इसीको अन्य शब्दोंमें अध्यात्म और अधिदैवत वर्णन भी कह सकते हैं । यही प्रजापति देव 'क्षेत्रपति' है देखिये—

क्षेत्रपति ।

" क्षेत्रका पति " अर्थात् खेतका स्वामी । इस संपूर्ण जगद्रूपी विश्वव्यापक खेतका स्वामी परमात्मा है और इस शरीररूपी लघु क्षेत्रका स्वामी जीवात्मा है । श्रीमद्भगवद्गीता (अ० १३) में इस क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के विषयमें ही बहुत कुछ कहा है, देखिये—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥
भ० गीता १३।१

" यह शरीर क्षेत्र है और इसको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ यहां जीवात्मा है !" इस क्षेत्र का वर्णन देखिये—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥
भ० गीता १३

" पञ्चमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति, दश इंद्रिय, एक मन, पञ्च इंद्रियोंके विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, (शरीर और इंद्रियोंका योग), चेतना, धृति, इन सबको सविकार क्षेत्र कहते हैं । " इस क्षेत्रका जो पति है वह क्षेत्रपति है । पाठक जानगये होंगे कि, इस क्षेत्र का पति जीवात्माही है । क्योंकि वही इस क्षेत्रका स्वामी है । इसीका वर्णन वेदने किया है इस विषयमें देखिये–

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
भ० गीता १३।४

" इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन ऋषियोंने बहुत प्रकार किया है और छन्दोंद्वारा अर्थात् वेदमन्त्रोंद्वारा विविध प्रकारसे हुआ है । " अर्थात् वेदके विविध मन्त्रोंमें

जीवात्मा और उसके क्षेत्रका वर्णन है। यही बात क्षेत्रपतिके मंत्रोंमें वेदमें अधिक स्पष्ट रीतिसे कही गई है देखिये –

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।

ऋ० ४।५७।१

" क्षेत्रका पति हित करनेवाला हुआ तो हम विजय प्राप्त करेंगे।" अर्थात् यदि वह हित करनेवाला न हुआ तो हमारा जय नहीं होगा। सब विजय अपने आत्मिक बलसे होता है, यह जो जानते हैं उनको इस मन्त्रका कथन सहजही समझमें आसकता है। अपने आत्माकी शुभ प्रवृत्ति हुई तो जय और अशुभ प्रवृत्तिसे पराजय होता है। इसी भावको मन्त्रमें (हितेन जयामसि) क्षेत्रपति हितकारी हुआ तो जीतेंगे, इस वर्णन से व्यक्त किया है।

" क्षेत्रपति " और " वास्तोष्पति " ये दो शब्द वस्तुतः एकही अर्थके द्योतक हैं। क्षेत्रका पति और वास्तुका पति करीब करीब एक ही हैं। जो भेद है वह क्षेत्रकी मर्यादा का है। देखिये–

वास्तोष्पतिः।

' वास्तु ' का अर्थ ' घर ' है। घरका स्वामी ऐसा इसका अर्थ है। जीवात्माका घर यह " शरीर " है और परमात्माका घर यह ' जगत् ' है। इससे ये दोनों वास्तु-पति अथवा वास्तोष्पति हुए। अर्थात् जहां वास्तोष्पतिके सूक्त या मंत्र आवेंगे वहां इन दोनोंका भाव प्रकाशित होना स्वाभाविक है–

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्।
सखा सुशेव एधि नः॥ ऋग्वेद ७।५५।१

" हे (वास्तोष्पते) वास्तुके स्वामी! तू (विश्वा रूपाणि आविशन्) सब रूपोंमें घुसता है और वहां (अमीव-हा) रोगोंका नाश करता है, यह तू (नः सुशेवः सखा एधि) हमारे लिये उत्तम मित्र हो।" यहां का वास्तोष्पति विशेष कर जीवात्माका वर्णन है क्यों कि नाना प्रकारके रूपोंमें वह प्रविष्ट होता है ऐसा कहा है। विश्वमें जो नाना प्रकारके प्राणियोंके रूप हैं, उनमें यह जीवात्मा प्रविष्ट हुआ है और वहां उनके शरीरोंमें रहकर वहांका सब कार्य करता और कराता है। विशेष कर आरोग्य रक्षणका कार्य करता है इसीलिये उसको इस मंत्रमें (अमीव-हा) अर्थात् रोगोंको दूर करने-वाला कहा है। पाठक यह अनुभवसे अपने अंदर ही देखेंगे कि जबतक जीवात्मा इस

शरीरमें रहता है तबतक दवाइयां इष्ट कार्य करती हैं और जिस समय यह जीवात्मा इस शरीरसे प्रस्थान करने लगता है, तबसे कोई दवाई कार्य नहीं करती । अर्थात् सब रोगोंको दूर करके यहां आरोग्य स्थापन करनेका कार्य यह आत्मा ही कर रहा है; इससे पाठकोंके मनमें यह विचार स्थिर होजायगा, कि 'वास्तोष्पति' शब्दसे अध्यात्म पक्षमें जीवात्माके गुण वर्णन होते हैं । सब विश्वका पति होनेसे परमात्मा 'वास्तोष्पति' है, इस विषयमें किसीको शंका ही नहीं हो सकती । इस कारण इस विषयके उदाहरण देनेकी कोई आवश्यकताही नहीं है । क्यों कि यह बात स्वयंसिद्ध है ।

प्रजापतिः ।

'कः' शब्दका अर्थ 'प्रजापति' इसके पूर्व दिया है । यदि 'कः' शब्दसे कई मंत्रोंमें जीवात्माका ग्रहण होता है, तो उसी आधारसे 'प्रजापति' शब्दसेभी जीवात्मा का ग्रहण होना उचित है । क्यों कि जिस प्रकार संपूर्ण प्रजाओंका पालक होनेके कारण परमात्मा प्रजापति है, उसी प्रकार संतानोंका पालन करनेके कारण यह संसारी जीवभी प्रजापति है हि । इसका उदाहरण देखिये—

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमाः ।

अथर्व० ७ । १९ । १

"प्रजापति इन प्रजाओंको अथवा इन संतानोंको उत्पन्न करता है ।" इस प्रकारके मंत्र जीवात्माका बोध समान रीतिसे करते हैं । इसलिये पाठक इस देवताके मंत्रोंका अध्यात्मपक्षमें विचार इस सूचनाके अनुसार करें ।

पुरुषः ।

अब 'पुरुष' शब्दभी वेदोंमें देवतावाचक है । यह जीवात्मा और परमात्मा वाचक समानरूपसे है । इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है 'पुरि शेते, पुरि वसति,' अर्थात् नगरमें रहता है । यह शरीर जीवात्माका नगर है, और परमात्माका नगर यह संपूर्ण विश्व है । इस कारण "पुरुष" शब्द जीवात्मा-परमात्माका वाचक समानतया होता है । इस पुरुषके संबंधमें परमात्मपरक वर्णन पुरुषसूक्तमें स्पष्ट है—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १२ ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १३ ॥
ऋग्वेद १०।९०

" विराट पुरुषके मन, चक्षु, मुख, प्राण, नाभी, सिर, पाद, श्रोत्र आदि अवयवोंके स्थानमें चन्द्र, सूर्य, इंद्राग्नी, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, भूमि, दिशा और अन्य लोक हैं।" उस परमात्माके इन अवयवोंके स्थानोंमें इन लोकोंकी कल्पना की है। यह परमात्माकी कल्पना अत्यंत स्पष्ट है। ये मंत्र पुरुषसूक्तके हैं और इन मंत्रोंका देवता पुरुषही है। यह सूक्त अतिप्रसिद्ध होनेसे इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। अब पुरुष शब्दसे जीवात्माका ग्रहण होनेवाला वैदिक वर्णन देखिये—

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषा वृतः ॥३१ ॥
अथर्व० १०।२

"जो अमृतमय ब्रह्मपुरी को जानता है,उसको स्वयं ब्रह्म और ब्रह्मसे उत्पन्न सब देव दीर्घ आयु, उत्तम शरीर और उत्तम औरस संतान देते हैं। जो इस ब्रह्मपुरीको जानता है, उसका प्राण वृद्धावस्थाके पूर्व जाता नहीं,अर्थात् वह अकालमृत्युसे मरता नहीं। यह ब्रह्मपुरी आठ चक्रोंवाली और नौ द्वारोंवाली है, यह प्रत्यक्ष देवोंकी नगरी है। इसमें देवताओंका निवास है। इसमें जो हिरण्मय कोश है वह तेजस्वी स्वर्गही है।"

यह वर्णन शरीरका है। यही ब्रह्मकी नगरी है। इसमें संपूर्ण तैतीस कोटी देव रहते हैं। यह जीवात्माका वैभव है। इस "पुरीमें निवास करनेके कारण ही इस जीवात्माको पुरुष कहते हैं।" इस वर्णनको देखनेसे स्पष्ट पता चलता है कि ऐसे स्थानोंमें पुरुष शब्द जीवात्माका ही वाचक है। इस सूक्तमें कहा है कि इस ब्रह्मपुरीमें सूर्यचन्द्रादि तैतीस कोटी देव रहते हैं। यह " देवानां पूः " देवताओंकी नगरी है, देवताओंका निवासस्थान यही है। यही देवताओंका मंदिर है। यही देवनगरी है। वेदमें अनेक स्थानपर तैंतीस देवताओंका वर्णन है,वह यहांके देवोंका भी हो सकता है। इस विषयमें उदाहरणके लिये एक दो मंत्र देखिये—

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १३ ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥
अथर्व० १० । ७

" जिसके अंगमें तैतीस देव ठीक प्रकार रहे हैं, वही सबको आधार देनेवाला देव है । जिसके शरीरके अवयवोंमें तैतीस देव रहे हैं, उन तैतीस देवोंको अकेले ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं । " पाठक स्वयं जानगये होंगे कि यह वर्णन जीवात्माके इस देहका है । इसमें आंख नाक कान के स्थानोंमें विविध दैवी अंशोंका निवास है । परमात्माके इस ब्रह्माण्ड देहमें सब तैतीस देव हैं हि । परंतु हरएक जीवात्माके देहमें भी हैं । यह बात यहां सिद्ध होगई है । अब पाठकोंको एक बात सहजहीमें समझेगी कि, पूर्व स्थानमें " चन्द्रमा मनसो जातः " आदि मंत्रोंको देकर जो परमात्माका रूपके वर्णन कहा है, वह अध्यात्म पक्षमें जीवात्माका भी है । इस नरदेहमें मनके स्थानमें चन्द्रमाका अंश, नेत्रके स्थानमें सूर्यका अंश है, इत्यादि भाव यहां समझनेसे वही परमात्माका वर्णन जीवात्माका ही वर्णन है, यह बात स्वयं स्पष्ट होगी । अर्थात् जो केवल परमात्माका वर्णन है ऐसा स्पष्ट दिखता है, वह भी पक्षान्तर से और अर्थकी कुछ मर्यादा मानकर नरदेह का भी वर्णन हो सकता है । पाठक इससे यह समझलें कि, " नर और नारायण " में विस्तारका और महत्वका फरक है, शेष वर्णन दोनोंका समान ही है । नर छोटा है और नारायण बडा है, नरका छोटापन और नारायण का बडापन विचार में न लिया, तो दोनोंकी गुणधर्मोंसे समानता है । जिस प्रकार पिता पुत्र, वृक्ष बीज आदिमें समानता होती है उसी प्रकार यहां समझना उचित है । इसी लिये ' नर का ' नारायण ' होता है, पुत्रका पिता बनता है, और बीजका वृक्ष होता है, ऐसा कहते हैं । वेदकी यह संमति सब पाठकोंको अपने विचार में स्थिर करना उचित है ।

रथी ।

रथके ऊपर सवार होनेवालेको रथी कहते हैं, इस जगत् रूपी रथपर चढनेवाला होनेके कारण परमात्माका नाम रथी है और इस शरीर रूपी रथपर सवार होनेसे जीवात्माका नाम भी रथी है । इस विषयमें उपनिषद्का वचन सबसे प्रथम विचारणीय है—
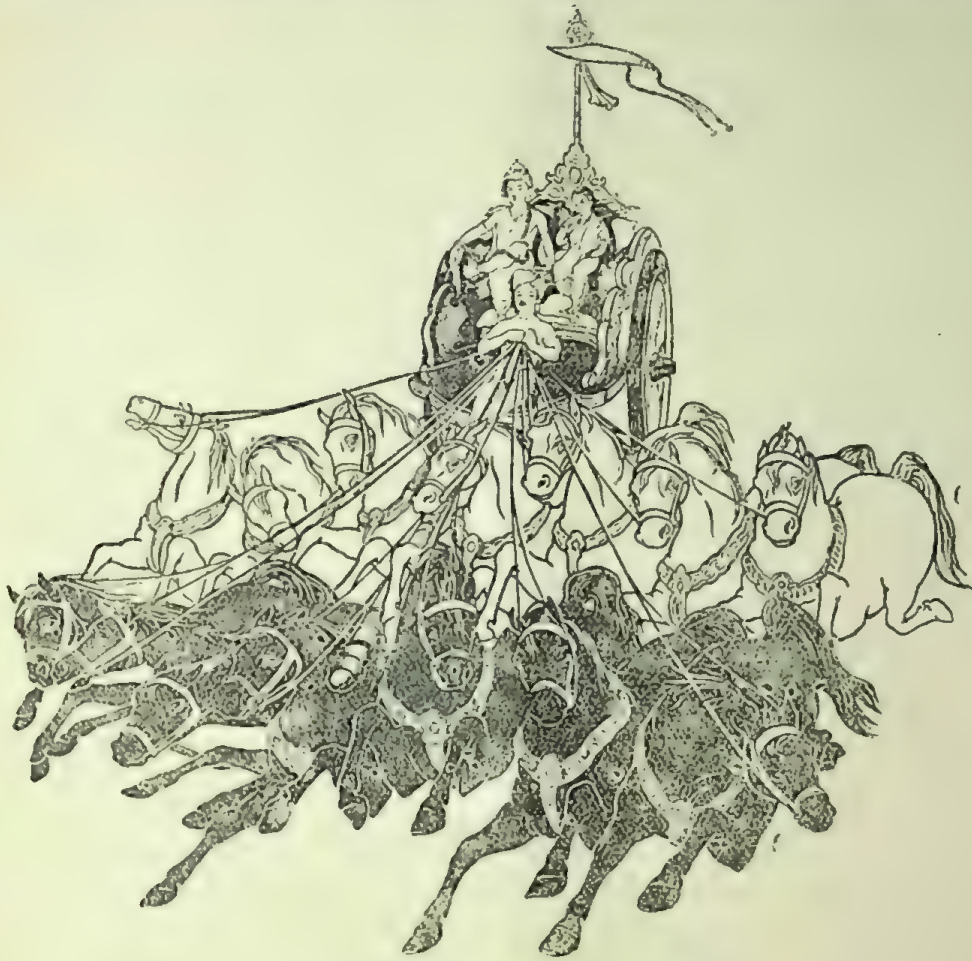
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।

कठ उ० ३

रथः शरीरं मनो नियन्ता। मैत्री उ० २।६

" आत्मा रथी है, शरीर उसका रथ है, बुद्धि सारथी है और मन लगाम है, इंद्रियां इस रथके घोडे हैं और वे विषयोंके क्षेत्रमें दौड रहे हैं। शरीर रथ है और मन उस रथका नियन्ता है। " इत्यादि उपनिषद्वचनोंमें शरीरको रथ करके कहा है। यह मूलतः वेदकी ही कल्पना है। आंख कान नाक आदि इंद्रियां देवताओंके अंश हैं और वे इस शरीरमें स्थित हैं। यह वेदमंत्रोंमें कई स्थानोंपर आता है, इसी आशयको लेकर यह कथन उपनिषदोंमें किया है। वेदमें " सप्तवाजी, सप्ताश्व " ऐसे नाम आते हैं। ये रथके सात घोडे सात इंद्रियां है। दो आंख, दो नाक, दो कान, एक वागिंद्रिय, ये

सात इंद्रिय हैं । अर्थात् इंद्रियां ही घोडे हैं । इस शरीर रूपी रथमें बैठकर यह जीवात्मा इस जगत्में आता है इस विषयमें देखिये—

इन्द्रेण देवैः सरथं सबर्हिषि सीदन्निहोता
यजथाय सुक्रतुः ॥ ऋ० ५।११।२

इस मंत्रमें इन्द्रके साथ सब देवोंका एक रथपर बैठकर यज्ञमें आनेका वर्णन है । यह इसी शरीरका वर्णन है । इसी शरीरमें जीवात्मा सब देवतांशोंको रख कर इस जीवन-यज्ञमें आता है और यहां सौ वर्ष सौ क्रतु करके शतक्रतु बनता है । विश्वात्मा परमात्मा तो इस जगत् रूपी विशाल रथपर अधिष्ठित होकर इस विश्वरूपी महायज्ञमें विराजता है । इस विश्वशकटका वर्णनभी अब देखिये—

मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत छदिः ।
शुक्रावनड्वाहावास्ताम ...... ॥ १० ॥
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः । ॥११॥
शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः ॥ १२ ॥
ऋ० १० । ८५

" इस रथका विश्वव्यापी मन अर्थात् महत्तत्त्व रथ है, उसका ऊपरका भाग द्युलोक है, प्राण और अपान बैल हैं, श्रोत्र अर्थात् दिशा इसके चक्र हैं और इसका मार्ग अन्तरिक्षमें है । इसमें व्यान वायु अक्ष है । " इस प्रकारका यह वर्णन है । यह वर्णन दोनों-पर घटता है । अर्थात् देहरूपी रथपरक भी यह हो सकता है । और विश्वरूपी रथपरक भी होसकता है । इस प्रकार रथ और रथी ये दोनों शब्द वेदमें जीवात्मापरमात्मापरक प्रयुक्त हुए हैं । रथके " सप्ताश्व, सप्तवाजी, सप्तचक्र " आदि अनेक नाम पूर्वोक्त इंद्रियोंके रूपकालंकारसे वर्णनके लिये हैं । यह रूपक ध्यानमें रखनेसे पाठकोंको इन मंत्रोंका अर्थ स्वयं स्पष्ट हो सकता है ।

वेदमें "अश्व, वाजी" आदि शब्द इस प्रकार इंद्रियोंके वाचक हैं । आत्माकी उन्नतिके लिये "अश्वमेध और वाजिमेध" यज्ञ करनेका अर्थ आत्मोन्नतिके लिये इंद्रियोंको शुभ कार्योंमें समर्पण करना है । ऐसे कार्योंमें इंद्रियोंको लगाना कि जिनसे आत्माकी शक्ति बढे । इन्द्रियोंको स्वेच्छाचारमें न लगाना और आत्मोन्नतिके कार्योंमें ही समर्पित करना यहां मेध अथवा यज्ञका कार्य और उद्देश्य है । पूर्वोक्त संगतिसे यह बात पाठकोंके समझमें आगई होगी । यदि 'अश्व' शब्द पाठकोंको ठीक प्रकार समझमें आचुका है, तो 'अश्विन्' शब्द भी उनके ध्यानमें आसकता है । ये अश्व जिसके पास

हैं उसका यह नाम है। इंद्रियरूपी अश्वोंको अपनेपास रखनेवाला 'अश्वी' है, अर्थात् यह नाम अध्यात्मपक्षमें जीवात्मा का नाम है और परमात्मपक्षमें भी इसका अर्थ सूर्यादि अश्व जिसके पास हैं, ऐसा होकर यह शब्द परमात्मपक्षमें भी सार्थ हो सकता है। जीवात्मा और परमात्मा ये समान गुणधर्मवाले हैं, यह दर्शानेके लिये ही 'अश्विन्' शब्द सदा द्विवचनमें प्रयुक्त होता है और उसके रूप "अश्विनौ" ऐसे होते हैं। अश्वी शब्द आत्मावाचक होनेसे जीवात्मपरमात्मा का बोध करनेके लिये इसका द्विवचन होना अत्यंत स्वाभाविक है।

"अश्विनौ" का दूसरा नाम "नासत्यौ" है। इस शब्दका अर्थ वास्तवमें "नासा-त्यौ" अर्थात् 'नासिका स्थानमें रहनेवाले' ऐसा होता है। नासिका स्थानमें प्राण और अपान ये दो देव संचार कर रहे हैं। ये देवताएं ठीक अपने देहमें ही रहनेवाली हैं। ये दो देव नित्य साथ साथ रहते हैं इसलिये इनका द्विवचनी प्रयोग होता है। यहां हमने बताया कि अध्यात्मपक्षमें "अश्विनौ" का अर्थ प्राण और अपान भी है। येही देव अर्थात् प्राण रोगोंका निवारण करते हैं इसलिये इनको देवोंके वैद्य कहा है। ये प्राणही शरीर-स्थानीय सब देवोंको सदा रोगमुक्त करते हैं। इससे पाठक जान गये होंगे कि केवल अध्यात्मपक्षमें अश्विनी देव कौनसे हैं और अन्य अवस्थामें कौनसे हैं। वेदमंत्रोंमें इनके बहुतसे अर्थ हैं परंतु सबका विचार करनेके लिये यहां स्थान नहीं है। यहां केवल वैदिक देवताओंका स्वरूप अध्यात्मपक्षमें किस रीतिसे जाना जाता है, इतनाही विचार करना है; इसलिये इसविषयमें इतना विवरण पर्याप्त है।

पूषा।

सबका पोषण करनेवाली देवता वेदमें 'पूषा' नामसे कही जाती है। कौन किस का पोषण करता है? ऐसा प्रश्न करनेपर परमात्मा इस जगत्का धारण पोषण करता है, यह उत्तर हर एक आस्तिक व्यक्तिसे मिल सकता है, और यह सत्य भी है। जिस प्रकार परमात्मा संपूर्ण जगत् का पालन और पोषण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा इस शरीररूपी स्वल्प जगत् को उत्पन्न करता है, जबतक इसमें रहता है तबतक इसका पालन करता है और पोषण भी करता है; इसी लिये इसके छोड जानेपर इस देहका पालन पोषण नहीं होता है। इस घटनाको देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि, यह जीवात्मा भी इस देहका पोषक है अत एव यह 'पूषा' है। इस विषयमें मंत्र देखिये—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥
वा० यजु० अ० ४० । १५

" सुवर्णके पात्रसे सत्यका मुख ढका हुआ है, हे पुष्ट होनेवाले मनुष्य ! सत्य धर्म देखनेके लिये उसे तू खोल दे । " अर्थात् हे पुष्ट होनेवाले मनुष्य सत्यका पालन करनेके लिये, तू धनका मोह दूर कर । धनके लोभके कारण ही सत्यका दर्शन नहीं होता है । इसलिये उन्नत होनेवाले, पुष्ट होनेवाले मनुष्यको संबोधन करके कहा है कि ' तू यह सुवर्णका ढक्कन दूर कर और सत्यका दर्शन कर । ' इसके पश्चात् परमात्माको संबोधन करके कहा है कि—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्
समूह, तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥
वा० यजु० अ० ४० । १६

" हे पोषक ईश्वर ! नियामक प्रकाशक श्रेष्ठ प्रजापालक ! हे देव ! तू अपने किरणोंको एक ओर कर, मैं तेरा रूप देखना चाहता हूं । " तेरे प्रकाशके कारण तेरा रूप देखनेमें असमर्थ हुआ हूं । इसलिये कृपा कर और अपने प्रकाशकिरण एक ओर करके परम कृपासे अपना कल्याणकारक रूप दिखा ।

इन दो मंत्रोंमेंसे पहिले मंत्रमें पूषा शब्द पुष्ट होनेवाले जीवात्माका वाचक और दूसरे मंत्रमें सबको पुष्ट करनेवाले परमात्माका वाचक है । पाठक इसका विचार करें । कुछ अर्थान्तर से ये शब्द अन्य अर्थोंमें भी लगाये जा सकते हैं । यह विप्रतिपत्ती हरएक शब्दके विषयमें हो सकती है । इसलिये इसका अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

क्रतु, यज्ञ ।

क्रतु, यज्ञ, यज्ञपुरुष ये शब्दभी आत्मा परमात्माके वाचक समानतया है । क्रतुका अर्थ कर्म करनेवाला है, यज्ञका अर्थ पूज्य, सत्कारके योग्य, संगति करनेवाला है । कर्म करनेवाला तो जीवात्मा भी है और परमात्माभी है, इस शरीरमें जीवात्मा कर्म करता है और इस जगत् में परमात्मा कर्म करता है । जीवात्मा इस शरीर के क्षेत्रमें यज्ञ करता है और परमात्मा संपूर्ण जगत्में यज्ञ कर रहा है । इस प्रकार दोनोंका यज्ञ अपने अपने कार्यक्षेत्रमें हो रहा है । इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

ॐ क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर।

वा० यजु० अ० ४०।१७

" हे (क्रतो) कर्म करनेवाले पुरुष! (ओं स्मर) ओंकार से बताये जानेवाले ईश्वर का स्मरण कर। (कृतं स्मर) अपने किये हुए कर्मका स्मरण कर। हे कर्म करनेवाले पुरुष! परमेश्वरका स्मरण कर, और अपने किये हुए कर्म का स्मरण कर।"

यह उपदेश मनुष्यके लिये ही है, क्यों कि ओंकारवाच्य परमेश्वर का स्मरण करना जीवात्माके उद्धार के लिये ही है। और वही क्रतु शब्दसे यहां कहा गया है। बीसवें वर्ष यह प्रबुद्ध होता है और उसके पश्चात् प्रतिवर्ष एक एक क्रतु करनेसे यह पूर्णायुषी अर्थात् विंशोत्तरी रीतिसे १२० वर्षकी पूर्ण आयुवाला हुआ, तो इसकी आयुमें इसके प्रयत्न से सौ क्रतु होते हैं। इस प्रकार यह "शतक्रतु" होता है। जीवात्माका इस रीतिसे शतक्रतु नाम है। 'क्रतु' नाम तो है ही, परंतु शतक्रतु नामभी इस ढंगसे जीवात्मा का है। इस का मंत्रमें उदाहरण ऊपरके स्थानमें दिया है। परमात्मा विषयमें उदाहरण अब देखिये-

त्वां स्तोमा अवीवृधन्त्वामुक्था शतक्रतो।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः॥ ८॥

ऋ० १।५

"हे सैंकडों कर्म करनेवाले परमेश्वर! सब स्तुतियां और सब स्तोत्र तेरी महिमा का वर्णन करें और हमारी वाणियां तेरा वर्णन करें।" परमेश्वरका महत्त्व गानेमें वाणीका प्रयोग हो। इस प्रकार क्रतु, यज्ञ, शतक्रतु आदि शब्द जीवात्मा और परमात्माके वाचक वेदमें हैं। अध्यात्म पक्षका विचार करनेवालोंको इस प्रकार विचार करके अध्यात्म ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

मित्र और विश्वामित्र।

मित्र शब्द मान्य करनेवालेका वाचक है। और विश्वामित्र शब्द विश्वका अर्थात् संपूर्ण जगत्का हित करनेवालेका वाचक है। मित्र शब्द जीवात्मा परमात्माका वाचक है क्योंकि जीवात्मा भी सत्यमार्गसे जानेपर जगत् का हित करता है और परमात्मा तो सबका हित करता ही है। जीवात्मपक्षमें विश्वामित्र शब्दका प्रयोग अर्थका संकोच करनेसे ही क्वचित प्रसंगमें होता है। इस प्रसंगमें एक मंत्र विशेष देखने योग्य है—

मित्रो विश्वाभिरूतिभिः। करतां नः सुराधसः ॥ ९॥
ऋ० १। २३

" मित्र अपनी सब रक्षक शक्तियोंके द्वारा हमें संपूर्ण सिद्धियोंसे युक्त करे।" यह मंत्र उपदेशकी दृष्टिसे जीवात्मा परमात्माके विषयमें समान है, क्यों कि यह मंत्र परमात्मा अपनी संपूर्ण रक्षक शक्तियोंसे जगत्को सिद्धिसंपन्न करता है, यह उपदेश देता है और साथ साथ मनुष्य अपनी शक्तियोंसे अपने परिवारको और स्वजातीयोंको उत्तम सिद्धिसे युक्त करे, यह उपदेश भी इसमें मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद्में इसी उद्देश्यसे अपने शरीरमें स्थित नेत्रादि आत्मशक्तिको भी विश्वामित्र कहा है, देखिये—

अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निः।
बृ० उ० २। २। ४

" यह विश्वामित्र और यह जमदग्नि है।" अर्थात् इस शरीरमें कार्य करनेवाली जीवात्माकी शक्ति ही विश्वामित्र और जमदग्नि है। इस प्रकार वैदिक वाङ्मयमें मित्र और विश्वामित्र शब्दोंसे अध्यात्म शक्तियोंका बोध होता है। इसी प्रकार वसिष्ठ, अत्रि, वामदेव आदि शब्दोंके आध्यात्मिक अर्थ अपने ही अंदर देखे जाते हैं। यह बात अब स्पष्ट हो चुकी है। इसलिये अब इसका अधिक विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस विषयमें देखिये—

प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः। शा० ब्रा० ८। १। १। ६
वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यते। श० ब्रा० १। ४। ५। १३
श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः। श० ब्रा० ८। १। २। ६
वाग्वै विश्वामित्रः॥ कौ० ब्रा० १०। ५

इस प्रकार ये ऋषि अपनेही शरीरमें ' प्राण, वाणी, श्रोत्र ' आदि हैं। अर्थात् इनका एक अर्थ अध्यात्मपक्षमें भी होता है। यह बात ब्राह्मणग्रंथोंमें भी कही है।

अज।

' अज ' शब्दका अर्थ ' अ–ज ' अर्थात् ' अ–जन्मा ' है। जो जन्म लेता नहीं वह ' अज ' है। ' अज् ' धातुका अर्थ ' गति करना ' भी है। (अजति इति अजः) जो गति उत्पन्न करता है, अचेतनोंसे चेतन जैसे कार्य कराता है, इसलिये इस आत्माको अज कहते हैं। यह नाम परमात्मा और जीवात्मा दोनोंके लिये समान है। अर्थात् परमात्मा भी अज है, और जीवात्मा भी अज है। देखिये भगवद्गीतामें—

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो ।
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ भ० गी० २ । २०

' यह जीवात्मा अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है और शरीरका नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता है । ' इस श्लोकमें तथा इसी प्रकारके वर्णनपरक अन्य श्लोकों में अज शब्द ' अजन्मा जीवात्मा ' इस अर्थ में आता है । परमात्माके विषयमें अज शब्द प्रसिद्ध ही है, देखिये-

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।
भ० गीता १०।१२

" शाश्वत दिव्य आदिदेव विभु पुरुष अजन्मा परमात्मा है । " इस के सदृश श्लोकोंमें वही अज शब्द परमेश्वरका वाचक है इस प्रकार अज शब्द जीवात्मपरमात्मा का वाचक स्पष्ट है । अब वेदमंत्रमें देखिये—

अजो नाकमाक्रमतां तृतीयम् ॥ अथर्व० ९ । ५ । १

''अजन्मा तृतीय स्वर्ग पर चढे ।' अर्थात् सुकृत करके यह जीवात्मा स्वर्गको प्राप्त हो । यह जीवात्माके विषयमें वचन है, अब परमात्मा के विषयमें वर्णन देखिये—

अजो दिवोधर्ता० ॥ ऋ० १० । ६५ । १३

'यह अजन्मा द्युलोकका धारण करनेवाला है ।' ऐसे मंत्रोंमें अज शब्द परमात्माका वाचक है । इस प्रकार विचार करनेसे पाठक जान सकते हैं, कि वेदमें अज,अजर आदि शब्द जीवात्मा और परमात्माके वाचक हैं ।

यम ।

'यम' शब्दका अर्थ नियमन करनेवाला 'नियामक' है । जो नियमन करता है वह यम है । परमात्मा संपूर्ण सृष्टि का नियमन करता है अर्थात् संपूर्ण सृष्टिको अपने अटल नियमोंमें रखता है, इसलिये वह 'यम' कहलाता है । इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र यहां देखने लायख है-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
ऋ० १ । १६४ । ४६

"एकही सत्य आत्माको ज्ञानी लोग बहुत नामोंसे पुकारते हैं, उसीको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं ।"

इस मंत्रसे ' यम ' नाम उस परमात्माका होता है। इसी प्रकार अग्नि आदि अन्यान्य नामभी उसी देवताके समझने चाहिये। इसी विषयमें और एक मंत्र उदाहरण रूप देखिये-

त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रवल्शमभि संचरन्ति ।
यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उपसेदुर्वसिष्ठाः ॥
ऋ० ७।३३।९

(ते इत् वसिष्ठाः) वे ही वसिष्ठ (हृदयस्य प्रकेतैः) हृदयके प्रकृष्ट ज्ञानोंसे (निण्यं सहस्रवल्शं) छिपे हुए हजारों शाखावाले संसारमें (अभिसंचरन्ति) संचार करते हैं। और वे वसिष्ठ (यमेन ततं परिधिं वयन्तः) नियामक परमात्मा द्वारा फैलाए गये जन्मादि प्रवाहरूपी वस्त्र को बुनते हुए (अप्सरसः उपसेदुः) अप्सराओंके समीप बैठते हैं।

इस मंत्रमें 'यम' शब्द नियामक परमात्मा का वाचक है तथा और देखिये—

स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम् ।
अर्यो गयं मंहमानं वि दाशुषे ॥ ऋ. ८ । २४ । २२

'(अनूर्मिं वाजिनं यमं) जिसकी हिंसा नहीं की जाती, जो बलवान् है और नियामक है उस (इन्द्रं व्यश्ववत् स्तुहि) उस प्रभुकी स्तुति कर जो (अर्यः दाशुषे मंहमानं गयं वि) सबका स्वामी दाताके लिये बडा प्रशंसनीय घर देता है।' इस मंत्रमें 'यम' शब्द नियामक ईश्वरका वाचक स्पष्ट है। यद्यपि यह शब्द यहां इन्द्रका विशेषण है तथापि 'इन्द्र और यम' ये दोनों शब्द एक दूसरेके विशेषण हैं। इसलिये इन शब्दोंके परमात्म परक होनेमें कोई संदेह नहीं है। अब इसी विषयमें और एक मंत्र देखिये—

त्रिकद्रुकेभिः पतति षळुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता ॥
ऋ. १० । १४ । १६

(एकं इत् बृहत्) अकेलाही सर्व नियन्ता महान् यम (त्रिकद्रुकेभिः षड् उर्वीः) तीन लोकोंको और छः भूमिभागोंको (पतति) प्राप्त होता है अर्थात् व्याप्त करके स्थित है। त्रिष्टुब् गायत्री आदि सब छन्द (यमे आहिता) उस नियामक परमात्मामें समर्पित हैं ' अर्थात् इन छन्दोंद्वारा होनेवाला वर्णन परमात्मामें सार्थ होता है ' इस प्रकार यम शब्द परमात्माका भाव वेदमंत्रोंमें बताता है। अब यही यम शब्द जीवात्मापरक वेदमंत्रमें देखिये—

अर्थ- (पुरा संवृतः) शरीरसे ढका हुआ अर्थात् सशरीर मैं अथवा सर्व प्रकार की पूर्त्तिसे परिपूर्ण मैं (प्राच्यां दिशि) पूर्व दिशामें (स्वधायां) स्वधामें (त्वा) तुझे (आदधामि) रखताहूं-स्थापित करता हूं। किस प्रकार से ? जिस प्रकारसे कि बाहुच्युत पृथिवी ऊपर द्यु लोकको स्थापित करती है। शेष पूर्ववत् ॥

इस मंत्र ३०से लेकर ३५ तक के मंत्रों का भावार्थ विचारणीय है।

दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः० ॥ अथर्व० १८। ३। ३१ ॥

अर्थ- (दक्षिणायां दिशि) दक्षिण दिशामें ...... इत्यादि पूर्ववत् ॥

प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः ० ॥ अथर्व० १८। ३। ३२॥

अर्थ- (प्रतीच्यां दिशि) पश्चिम दिशामें... इत्यादि पूर्ववत् ॥

उदीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः० । अथर्व० १८। ३ । ३३ ॥

अर्थ- (उदीच्यां दिशि) उत्तर दिशामें...... इत्यादि पूर्ववत् ॥

ध्रुवायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोक कृतः ० ॥ अथर्व० १८। ३ । ३४ ॥

अर्थ- (ध्रुवायां दिशि) स्थिरनीचेकी दिशा में ...... इत्यादि पूर्ववत् ॥

ऊर्ध्वायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः ० ॥ अथर्व० १८। ३ । ३५ ॥

अर्थ- (ऊर्ध्वायां दिशि) उपर की दिशामें... ... इत्यादि पूर्ववत् ॥

इन मंत्रोंपर विशेष विचार अपेक्षित है। प्रकरण के साथ इन मंत्रों की संगति विचारणीय है। इन मंत्रोंका भाव भी स्पष्ट नहीं है। ये मंत्र किसको संबोधन करके कहे गए हैं यह भी स्पष्ट नहीं होता।

धर्तासि धरुणोसि वंसगोसि॥ अथर्व० १८। ३। ३६

अर्थ- हे परमात्मन् ! तू (धर्ता असि) सबका धारण करनेवाला है। तू (धरुणः) सबसे धारण किया जानेवाला है। तू (वंसगः) संभजनीय पदार्थोंका प्राप्त कराने वाला है।

उदपूरसि मधुपूरसि वातपूरसि ॥

अथर्व० १८। ३। ३७

अर्थ- तू (उदपूः असि) सर्व संसारको जल पहुंचानेवाला है। तू (मधुपूः असि) माधुर्य गुणोपेत रसों का पहुंचाने वाला है व तू (वातपूः असि) सबको प्राणवायु पहुंचाने वाला है।

भावार्थ- हे परमात्मा तू ही सबको जल, मधुर रस तथा प्राणवायु,जिसके बिना संसार की स्थिति कठिन है, देता है।

पूः = पूरयिता = पूर्ण करनेवाला-पूरक।

अब अगले चारमंत्र ऋग्वेद (१०। १३) में कुछ पाठभेद व क्रमभेद से हैं। वहां इनका देवता-हविर्धाने- है।

इतश्च मामुतश्चावतां यमे इव यतमाने यदैतम्। प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तो आ सीदतां स्वमु लोकं विदाने ॥ अथर्व० १८।३।३८॥

अर्थ (यत्) क्यों कि हे हविर्धाने ! तुम दोनों (यमे इव) युगलोत्पन्न संतान की तरह (यतमाने) संसारका पोषण करनेके लिए साथ साथ प्रयत्न करनेवाले होकर (ऐतम्) विचरण करते हो इसलिए(मां) मेरी (इतश्च अमुतश्च) इस लोकसे व परलोकसे अर्थात् इन दोनों लोकों में आने वाली विपत्तियोंसे (अवतां) रक्षा करो। (मानुषाः) मनुष्यगण (देवयन्तः) देव बनने की कामना करते हुए (वां) तुम दोनोंका (प्रभरन्) अच्छी प्रकारसे भरण पोषण करें। तुम दोनों (स्वं लोकं विदाने) अपने स्थान को जानते हुए (आसीदतां) उस स्थान पर बैठो।

भावार्थ- इस मंत्रमें ' हविर्धाने' से कहा गया है कि तुम मेरी दोनों लोकों में आने वाले विघ्नों से रक्षा करो। क्यों कि तुम दोनों इसी कार्य के लिए इधर उधर विचरण करते रहते हो। तुम्हारा भरणपोषण हम करते रहें व तुम दोनों अपने कर्तव्यको ध्यानमें रखते हुए कार्य करते रहो ॥

यह मंत्र ऋग्वेदमें कुछ पाठभेदके साथ है॥ देखो ऋ. १०।१३।२॥

स्वासस्थे भवत मिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः॥ वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत्॥ अथर्व० १८।३।३९॥

अर्थ— हे हविर्धाने! (नः इन्दवे) हमारी ऐश्वर्य-वृद्धि के लिए तुम दोनों (स्वासस्थे) सुखासन-उत्तमासन पर बैठनेवाले (भवतम्) हो ओ। मैं (नमोभिः) नमस्कारों के साथ (वां) तुम दोनों के (पूर्व्यं ब्रह्म युजे) पुरातन स्तोत्र को करता हूं अर्थात् नमस्कारपूर्वक मैं वेद मंत्रोंसे तुम्हारी स्तुति करता हूं। (श्लोकः) यह किया हुआ स्तुति समूह (वि एति) तुम दोनोंको विशेष रूपसे प्राप्त होता है। इसको दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं कि (पथ्या सूरिः इव) जिस प्रकार से कि उत्तम धर्ममार्ग से विद्वान् इच्छित पदार्थको प्राप्त होता है उसी प्रकार से यह हमसे की गई स्तुति तुम को प्राप्त होती है। (एतत्) इस हमारे द्वारा किए गए उपरोक्त स्तोत्र को (विश्वे अमृतासः) सर्व अमृत लोक (शृण्वन्तु) सुनें।

भावार्थ— हे हविर्धाने! तुम दोनों हमें ऐश्वर्य दिलाने वाले हो ओ। मैं उसके बदलेमें तुम्हारी वेदमंत्रों से स्तुति करूं। मेरी स्तुति तुमको ऐसे पहुंचे जैसे कि विद्वान् सन्मार्गसे अपने अभिलषित स्थान को पहुंचता है। अर्थात् जिस प्रकार विद्वान् सन्मार्ग से अवश्य ही वांछित फल लाभ करता है उसी प्रकार यह स्तुतिभी तुम्हें अवश्यमेव प्राप्त होती है। मेरी इस स्तुतिको सर्व अमृतगण सुनें अर्थात् वे मेरी स्तुति के लिए साक्षीभूत होवें।

त्रीणि पदानि रुपो अन्वरोहच्चतुष्पदीमन्वैतद् व्रतेन। अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति॥ अथर्व० १८।३।४०॥

अर्थ- (रुपः) रुप (त्रीणि पदानि अन्वरोहत्) तीन स्थानों पर चढता है क्यों कि (व्रतेन) अपने यज्ञादि कर्मद्वारा (चतुष्पदीं अनु ऐतत्) चतुष्पदीका अनुसरण करता है। और (अक्षरेण) अपने अक्षय कर्मद्वारा (अर्कं प्रति मिमीते) सूर्यके सदृश प्रकाशमान अपने को बनाता है। अथवा अपने अविनश्वर कर्मद्वारा पूजनीय बनता है। उसकी कीर्ति प्रलय तक बनी रहती है। वह अपने आपको (ऋतस्य नाभौ) यज्ञके मध्यमें अथवा सत्य नियमों के बीचमें (अभि संपुनाति) चारों ओर से अच्छी प्रकार शुद्ध करता है। यज्ञ करके वा सत्यनियमोंके अनुसार आचरण करके वह मनुष्य अपने आपको शुद्ध करता है। इस मंत्रमें आएहुए पद 'रुपः, त्रीणि पदानि तथा चतुष्पदी' विचारणीय हैं। आशा है पाठक गण इनका भाव खोलने में प्रयत्नशील होकर अर्थ करने में सहायक बनेंगे। यह मंत्र ऋग्वेद (१०।१३।३) में पाठभेद से है।

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत। बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वमारिरेच॥ अथर्व० १८।३।४१॥

अर्थ-(देवेभ्यः कं मृत्युं न अवृणीत) देवोंमेंसे कौन मरता न था? अर्थात् देवभी सब मरते थे। तब (बृहस्पतिः ऋषिः यज्ञं अतनुत) देवोंमेंसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवों के लिए (अमृतं अवृणीत) अमरताको प्राप्त किया पर (प्रजायै) प्रजाके लिए (किं अपि अमृतं) कोई भी अमरता न प्राप्त की अतएव (यमः) प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंसे (प्रियां तन्वं) उनकी प्यारी देह (आरिरेच) छीन लेता है अर्थात् प्रजाकी मृत्यु होती है।

यहां पर आलंकारिक रूपसे देवोंकी अमरता व मनुष्योंकी नश्वरता का वर्णन किया गया है।

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड् ढव्यानि सुरभीणि कृत्वा॥ प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥

अथर्व० १८।३।४२॥

अर्थ- हे (जातवेदः अग्ने) जातवेदस् अग्नि! (ईळितः त्वं) स्तुति किया गया तू (हव्यानि) हव्योंको (सुरभीणि कृत्वा) सुगंधित बनाकर (अवाट्) बहनकर (पितृभ्यः) उन हव्योंको पितरोंके लिए (प्रादाः) दे। (ते) वे पितर (स्वधया अक्षन्) उन हव्योंको स्वधाके साथ खावें। (देव) हे प्रकाशमान अग्नि! (त्वं) तूभी (प्रयता हवींषि) दी गई हवियोंको (अद्धि) खा।

भावार्थ- अग्निकी स्तुति करने पर वह पितरोंके लिए हविको सुगंधित बना कर ले जाती है। और पितरोंको ले जाकर देती है ताकि वे खावें।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि दूरस्थ पितरोंके पास हवि पहुंचानेका साधन अग्नि है। अतः अग्निद्वारा दूरस्थ पितरोंको हवि पहुंचाना चाहिए।

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात ॥ अथर्व० १८।३।४३॥

अर्थ- (अरुणीनां उपस्थे आसीनासः) यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल लाल ज्वालाओंके समीपमें बैठे हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरो! (दाशुषे मर्त्याय) दानी मनुष्यके लिए (रयिं धत्त) धनको दो। (तस्य) उस दानीके (पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत) पुत्रोंके लिए धनका दान करो। (ते) वे तुम (इह) यहांपर उस दानी व दानीके पुत्रोंके लिए (ऊर्जं) अन्नसे (दधात) पुष्ट करो।

भावार्थ—हे पितरो! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अन्नका दान करके उन्हें पुष्ट करो।

अरुणी-यद्यपि निघण्टु १। १५॥ में उषाकी किरण ऐसा अर्थ है तथापि यहां पर प्रकृत प्रकरण में यज्ञका वर्णन होनेसे यज्ञकी रक्तवर्ण ज्वालाओंसेही अभिप्राय है। ऊर्जः—अन्न। निघण्टु २।७॥

इस मंत्रमें जिन पितरोंका उल्लेख है उनका निर्णय करना कठिन है।

यह मंत्र यजुर्वेद (१९। ६३) में आया है।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥

अथर्व० १८।३।४४॥

अर्थ— हे (सुप्रणीतयः) उत्तम प्रकारसे ले जानेवाले (Leaders) (अग्निष्वात्ताः पितरः) अग्निष्वात्त पितरो! (इह) इस यज्ञ में (आगच्छत) आओ। (सदः सदः सदत) घर घर में स्थित होओ। (अथ) और (बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त) यज्ञमें दी गई हवियोंको खाओ। और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सर्व प्रकार की वीरतासे परिपूर्ण पुत्ररूपी धन दे कर पुष्ट करो।

भाव— हे अग्निष्वात्त पितरो! घर घरमें आओ। यज्ञों में तुम्हारे उद्देश्य से दी गई हवियों को खाओ तथा उसके बदले में वीर संतति का प्रदान करो।

अग्निष्वात्त शब्दपर पहिले पर्याप्त कहा जा चुका है।

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु। त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ अथर्व० १८।३।४५॥

अर्थ- (ते) वे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (पितरः) पितर (प्रियेषु बर्हिष्येषु) प्रीतिकारक यज्ञसंबन्धी निधियों में (उपहूताः) बुलाए गए हैं। (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमन्तु) आवें। (ते अधिश्रुवन्तु) वे पितर हमारी प्रार्थनायें ध्यान देकर सुनें, (अधिब्रुवन्तु) हमें उपदेश करें तथा (अस्मान् ते अवन्तु) हमारी वे रक्षा करें।

भावार्थ- याज्ञिक कार्यों में पितर हमारे बुलाए-जानेपर आवें। आकर हमें उपदेश दें, हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करें।

बर्हिष्य- बर्हिष् नाम यज्ञका है। उसमें होनेवाला बर्हिष्य अर्थात् यज्ञसंबन्धी।

सोम्यासः— यास्काचार्यने निरुक्तमें सोम्यासः' का अर्थ 'सोम का संपादन करनेवाले' ऐसा किया है।

निधि— निधिः शेवधिरिति। निरु० अ० २। पा. १। खं० ४। अर्थात् सुख का भण्डार।

इस मंत्र में भी जीवित पितरों के प्रति निर्देश है अथवा मृत पितरों के प्रति इसका निर्णय करना कठिन है। मंत्र से किसी भी प्रकार का निर्देश उपलब्ध नहीं होता। यह मंत्र यजुर्वेद (१९। ५७) में है।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। ते भिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ अथर्व० १८। ३। ४६॥

अर्थ—(ये) जिन (नः) हमारे (पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः) पुरातन सोमसंपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् उत्तम धनवाले पितरोंने (सोम पीथं) सोमपान को यज्ञमें (अनु ऊहिरे) प्राप्त कियाथा,

(तेभिः) उन (उशद्भिः) यमके साथ सोमपान करने वा हवि खाने की कामना करते हुए वसिष्ठ पितरोंके साथ (उशन्) पितरोंके साथ सोमपान करने वा हवि खानेकी कामना करता हुआ, (संरराणः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ (यमः) यम (हवींषि) हवियोंको (प्रतिकामं) इच्छानुसार (अत्तु) खावे।

भावार्थ— हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान कियाथा उन पितरोंके साथ मिल कर यम हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खावे। हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें पर्याप्त मात्रामें हवि देनी चाहिए।

वसिष्ठ- यद्वैनु श्रेष्ठः तेन वसिष्ठो अथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः। श० ८।१।१।६ ॥

इस वचनानुसार वसिष्ठ का अर्थ उत्तम वास करानेवाला अर्थात् उत्तम आश्रय दाता ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है। वसु नाम धनका भी है। तदनुसार उत्तम धनवाले ऐसा अर्थ भी हो सकता है।

इस मंत्रके वर्णन से यहां मृत पितरोंका उल्लेख है ऐसा मालूम होता है। यम के साथ हवि खानेवाले पितर जीवित नहीं हो सकते।

ये तातृषु र्देवत्रा जेहमाना होत्रा विदः स्तोम तष्टासो अर्कैः। आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभि ऋर्षिभिर्घर्मसद्भिः ॥

अथर्व. १८।३।४७॥

अर्थ— (देवत्रा जेहमानाः) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए (होत्राविदः) यज्ञोंके जानने वाले (स्तोम तष्टासः) स्तोमोंके बनानेवाले (ये) जो पितर (अर्कैः) अर्चनीय स्तोत्रोंसे (तातृषु) इस संसारसागर से सर्वथा तर गए हैं ऐसे (सहस्रं देववन्दैः) हजारों वार देवोंसे स्तुति किए गए (सत्यैः कविभिः ऋषिभिः) सत्यवचनी, क्रान्त दर्शी तथा ज्ञानी व (घर्मसद्भिः) यज्ञमें बैठनेवाले पितरों के साथ (अग्ने) हे अग्नि! तू (आयाहि) यज्ञमें आ।

भावार्थ- देवत्वको प्राप्त हुए हुए पितरोंको अग्नि के साथ यज्ञमें बुलाया जाता है व अग्नि उन पितरों के साथ यज्ञमें आतीहै अर्थात् पितर अग्निके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं।

घर्म-यज्ञ। निघण्टु. ३। १७॥

* अर्क- मंत्र-स्तोत्र।

इस मंत्रके 'देवत्रा जेहमानाः' के भावको अगला मंत्र विशेष रूपसे स्पष्ट करता है। उसमें भी अग्निद्वारा देवयोनिमें गए हुए पितरोंकाही आह्वाहन किया गया है।

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेण। आग्ने याहि सुविदत्रेभि रर्वाङ् परैः पूर्वै ऋर्षिभि र्घर्मसद्भिः ॥

अथर्व० १८।३।४८॥

अर्थ- (ये) जो पितर (सत्यासः) सत्यवचनी, (हविरदः) हविके खाने वाले, (हविष्पाः)हविकी रक्षा करनेवाले तथा (तुरेण इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः) वेगवान् इन्द्र व देवों के साथ समान रथपर आरूढ होते हैं ऐसे (सुविदत्रेभिः) उत्तम धनवाले अथवा कल्याणकारी विद्यावाले (पूर्वैः परैः) पुरातन व अर्वाचीन (ऋषिभिः) ज्ञानी (घर्मसद्भिः) यज्ञमें बैठने वाले पितरों के साथ (अर्वाङ्) हमारे प्रति (अग्ने) अग्नि ! तू (आयाहि) आ।

भावार्थ- देवों के साथ समान रथारूढ अर्थात् देवोंके साथ एकही रथपर विचरण करनेवाले पितरों को यज्ञमें हे अग्नि! तू ले आ। अग्नि पितरोंको यज्ञमें ले आती है ऐसा इस मंत्र से जान पडता है।

यह मंत्र पूर्वमंत्रकेही आशय को स्पष्ट कर रहा है। प्राचीन पितर तथा देवोंमें विचरण करनेवाले पितर जीवित पितर नहीं हो सकते। इसके सिवाय

---

* टिप्पणी- अर्कके अनेक अर्थ हैं 'अर्को देवो भवति, यदेनमर्चति। अर्को मंत्रो भवति, यदनेनार्चन्ति। अर्कमन्नं भवति, अर्चति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति संवृत्तः कटुकिम्ना। निरुक्त. ५।१।५॥ सुविदत्रः- सुविदत्रः कल्याणविद्यः। निरु० ६।३।१४ इसका अर्थ धनभी है। निरु० ७।४।९॥

यहां एक और भी महत्वपूर्ण बातका पता चलता है और वह यह कि मरने के बाद जीव एकदम पुनर्जन्म नहीं लेता, कमसे कम सबके सब जीव तो एकदम नहीं ही लेते। यदि यह कहा जाए कि इस मंत्रमें मुक्त पितरोंका वर्णन है तो इस बातका मानना पडेगा कि मुक्त जीवोंका भी सांसारिक जीवोंसे संबंध रहता है व वे बुलानेपर हमारे कार्योंमें शामिल होते हैं। दूसरे शब्दोंमें इसे यूं भी कह सकता हैं कि परलोकवासी जीवोंका इस लोकवासी जीवोंसे संबंध बना रहता है। वे इस लोकमें आकर यहांके जीवोंके कार्योंमें हिस्सा बटोरते है व समय समय पर रक्षा आदिके कार्य भी करते हैं। उनको हमारे समाचार पहुंचाने वाली अग्नि है। अतः जिवित पितरों की तरह उनका भी समय समय पर सत्कार करना चाहिए ऐसा इसका अभिप्राय हुआ। इस विषय में विशेष प्रकाश डालनेवाले मंत्रोंको मूल लेखमें उद्धृत किया जा चुका है। उन मंत्रोंपर विशेष विचार करना जरूरी है।

अब अगले ४ मंत्रोंमें (४९ से ५२) पृथिवी माता से प्रार्थना की गई है कि वह पृथिवीपर निवास करने वाले मनुष्य की सर्व प्रकारसे रक्षा करे व उसे सुख पहुंचाए। सायणाचार्य ने इन मंत्रों को प्रेतके गाढने के संबन्ध में लगाए हैं पर मंत्रगत कई पद ऐसे हैं जिनसे कि सायणाचार्यका अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता है। मंत्रोंपर साधारण दृष्टि डालनेसे सायणाचार्यका अर्थ ही संगत प्रतीत होता है पर जरा ध्यानपूर्वक बारीकी से अवलोकन करने पर वह अर्थ ठीक नहीं जंचता। पाठक स्वयंभी इस बातका अनुभव कर सकेंगे। हम प्रत्येक मंत्रके अर्थ करने के बाद कहां कहां सायणाचार्य का अर्थ ठीक नहीं जंचता अर्थात् कौनसे कौनसे ऐसे वाक्य वा पद हैं जिनसे कि सायणाचार्य का अर्थ असंगत प्रतीत होता है, उनका दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न करेंगे। ये चारों मंत्र ऋग्वेद (१०।१८।१० से १३) में हैं। वहां इनका देवता मृत्यु है।

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्। ऊर्णम्रदाः पृथिवी दक्षिणावत एषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्॥ अथर्व० १८।३।४९॥

अर्थ- हे मनुष्य! (एतां) इस (उरुव्यचसं) बडे विस्तारवाली अतएव (पृथिवीं) फैली हुई, (सुशेवां) अति सुख देनेवाली (मातरं भूमिं) माताभूत भूमिके (उप सर्प) समीप जा। (समीप जा का अर्थ यहां पर यह है कि भूमिका बारिकीसे अवलोकन कर, क्यों कि भूमिपर रहनेवाला मनुष्य भूमिके तो समीप है ही, फिर भी समीप जा कहनेका यही अभिप्राय हो सकता है। भूमिके जो सुशेवा आदि विशेषण हैं वेभी इसी अभिप्रायको पुष्ट करते हैं। भूमिका बारिकी से अवलोकन करके उससे लाभ उठाने से बडा सुख होता है।) (दक्षिणावते) दान देनेवालेके लिए (ऊर्णम्रदः) ऊनके समान नरम-कोमल (एषा पृथिवी) यह पृथिवी (त्वा) तेरी (प्रपथे) इस संसारसागर के विस्तृत मार्गमें (पुरस्तात्) आगे से रक्षा करे।

भावार्थ—इस अत्यन्त विस्तृत भूमिका बारिकीसे अवलोकन करो क्योंकि यह बडा सुख देनेवाली है। जो पृथिवीपर रहकर नानाविध दान करता रहता है उसके लिए यह पृथिवी ऊनके सदृश कोमल होती हुई सुख देती है व प्रत्येक कार्यमें उसकी रक्षा करती रहती है।

इस मंत्रमें पृथिवीको ऊर्णम्रदाः अर्थात् ऊनके सदृश कोमल कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि ऊनका वस्त्र पहिनने वाले की ऊन ठण्डी आदिसे रक्षा करती हुई जैसे शरीरको नरम प्रतीत होती है, उसको पहिरनेमें किसी प्रकार कष्ट नहीं अनुभव होता ठीक उसी प्रकार दानीके लिए पृथिवी होती है। पृथिवी दुःख द्वन्द्वसे तो बचाती ही है पर इसके साथ साथ उसको कोमल भी प्रतीत होती है यानि दानी को पृथिवीपर रहने में आनन्द अनुभव होता है। उसे संसारदुःखसागर प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार इस उपमा पर पाठक जितना अधिक विचार करेंगे उतना इसका अधिक महत्व अनुभव हो सकेगा।

इस मंत्रमें कोई ऐसी बात नहीं है जिससेकि सायणाचार्य के अर्थ पर किसी प्रकारकी विप्रतिपत्ति उठाई जा सके। अगले मंत्र ५० व ५१ मंत्रमें कुछ विप्रत्तिपत्तिजनक पद हैं।

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा निबाधथाः सूपाय-
नास्मै भव सूपसर्पणा। माता पुत्रं यथा सि-
चाम्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ अथर्व० १८।३।५० ॥

अर्थ- (पृथिवि) हे पृथ्वी ! तू (उच्छ्वञ्चस्व) पुलकित हो। इस तेरे समीप आए हुए मनुष्यको (मा निबाधथाः) किसीभी प्रकारकी पीडा वा कष्ट मत पहुंचा। (अस्मै) इसके लिए (सूपायना) अच्छीतरह प्राप्त करने योग्य अर्थात् बिना किसी भय वा कष्ट के समीप आने योग्य तथा(सूपसर्पणा) सुखपूर्वक विचरण करने योग्य (भव) हो। (एनं) इस पुरुषको (भूमे) हे भूमि (अभि ऊर्णुहि) चारों तरफसे इस प्रकारसे ढांपले (यथा) जिस प्रकारसे कि (माता) माता (सिचा पुत्रं) अपने आंचलसे पुत्र को ढांप लेती है।

भावार्थ-हे पृथिवी ! तू सदा प्रसन्न बनी रह। तेरे पर वास करनेवाले को किसी प्रकारका भी कष्ट न पहुंचे। वह आनन्दसे सर्वत्र विचरण कर सके। तू मनुष्यको नाना विध पदार्थों से ढांपे रख जैसे कि माता अपने आंचलसे पुत्रको ढांपे रखती है। अर्थात् जैसे माता अपने वस्त्र से बडे स्नेहके साथ पुत्रको ढांप कर ठण्डी गरमी आदि कष्टसे बचाती है उसी प्रकार हे पृथिवी ! तू भी उतने ही स्नेह के साथ तेरे पर निवास करने वाले मनुष्य को नाना विध द्रव्य दान से ढांपकर दुःखद्वन्द्वों से बचा।

इसमंत्रके उत्तरार्ध से यह आशंका उठ सकती है कि संभव है यह मंत्र प्रेतके जमीन में गाढने के विषय का प्रतिपादन कर रहा हो। जैसा कि हम पहिले देख भी आए हैं। वहांपर प्रेत गाढनेके प्रकरण में ऐसे दो एक मंत्र हैं जिनका कि उत्तरार्ध वही है जो कि इस मंत्रका है। परन्तु इस मंत्रके पूर्वार्ध में पृथिवीका जो ' सूपसर्पणा ' विशेषण दिया है उसको देखनेसे इस आशंका का निवारण हो जाता है। क्योंकि मुरदे के लिए यह कहना कि हे पृथिवी तू इस मुरदेके लिए 'सूपसर्पणा भव' अर्थात् सुखपूर्वक विचरण करनेके योग्य बन यह बात सर्वथा असंगत है। अतः सायणाचार्यका अर्थ हमारी दृष्टिमें सर्वथा असंगत प्रतीत होता है। सुज्ञ पाठक इस पर स्वयं विचार कर सकते हैं। इसके सिवाय प्रेतके लिए इन मंत्रों को मानने पर मंत्रों का महत्व कुछ भी नहीं रहता। जीवित मनुष्यके लिए मंत्रोंमें कही गई बात जितनी उपयोगी व सार्थक है उतनी मृतके लिए नहीं है।

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित
उप हि श्रयन्ताम्। ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना
विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ॥
अथर्व० १८।३।५१॥

अर्थ- (उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी) पुलकित होती हुई पृथिवी (सु तिष्ठतु) अच्छी प्रकार स्थित होवे। और (सहस्रं) हजारों (मितः) मित उस पृथिवी को प्राप्त होकर (उपश्रयन्ताम्) आश्रित होवें। (ते घृतश्चुतः) वे घीसे परिपूर्ण अतएव (स्योनाः) सुखकारी (गृहासः) घर तथा (विश्वाहा) सब दिन (अस्मै) इस मनुष्यके लिए (अत्र) यहांपर (शरणाः सन्तु) शरण देनेवाले आश्रय देनेवाले होवें।

भावार्थ- पृथिवी स्थिर बनी रहे। भूचाल आदि से विचलित न होवे। नाना विध पदार्थ इसका आश्रय लेकर स्थित होवें। उस पृथिवीपर वास करते हुए मनुष्यके लिए घृतादि से पूर्ण सुखकारी घर तथा सब दिन आश्रयदाता होवें। किसीभी दिन किसीभी घरमें इसे कष्ट न होवे।

मितः- इस शब्दका क्या अर्थ है यह ठीक ठीक पता नहीं चलता है। सायणाचार्यने मितः की जगह मिथः रख करके ओषधियां ऐसा अर्थ किया है।

यह मंत्र भी प्रेतके लिए नहीं घट सकता कारण कि मंत्रोक्त कोईभी बात प्रेतके लिए उपयोगी नहीं है।

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥
अथर्व० १८।३।५२ ॥

अर्थ- (ते) तेरे लिए (पृथिवीं) पृथ्वीको (उत् स्तभ्नामि) थामता हूं। (त्वत् परि) तेरे चारों ओर (इमं लोगं) इस निवासस्थानको (निदधत्) रखता हुआ अर्थात् तेरे लिए निवासस्थान बनाता हुआ (अहं) मैं (मो रिषम्) मत नष्ट होऊं। (तत्र) वहां अर्थात् इस निवास स्थान

में (ते) तेरे लिए (एतां स्थूणां) इस नींव(Foundation) को (पितरः) पितृगण (धारयन्ति) धारण करें अर्थात् तेरे आवासस्थान की नींव पितर रखें और (तत्र) उस नींवपर (ते) तेरे लिए (यमः) यम (सादना) घरोंको (कृणोतु) बनावे।

इस मंत्र का भावार्थ स्पष्ट नहीं होता है। पृथिवी को थाम रखनेका क्या अभिप्राय है यह पता नहीं चलता। यहांपर आया हुआ यम कौन है यह भी विचारणीय है।

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवाना-
मुत सोम्यानाम्। एष यश्चमसो देवपानस्त-
स्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम्। अथर्व० १८।३।५३

अर्थ— (अग्ने) हे अग्नि ! (इमं चमसं) इस शरीररूपी चमसको (मा वि जिह्वरः) मत विचलित कर। क्योंकि यह चमस (देवानां उत सोम्यानां) देवों और सोम संपादन करने वालोंका (प्रियः) प्यारा है। (एषः) यह (यः) जो (चमसः) चमस है वह (देवपानः) देवपान है अर्थात् इसमें देव पान करने योग्य द्रव्यको पीते हैं। (तस्मिन्) उस चमसमें (अमृताः देवाः) अमरणशील देव (मादयन्तां) पान करके प्रसन्न होवें।

भावार्थ—यह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है। यह देवोंका प्रिय है। इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि! इस शरीर की दुर्दशा मत कर।

चमस- चमचा। यज्ञमें जिस पात्रमें सोम रस डालकर पान किया जाता है उसका नाम चमस है।

अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभ वाजिनीवते।
तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम्॥　　　　अथर्व० १८।३।५४

अर्थ- (अथर्वा) निश्चल मतिवालेने (यं पूर्णं चमसं) जिस भरेहुए पूर्ण चमसको (वाजिनीवते) अन्नबलादिसे पूर्ण (इन्द्राय) ऐश्वर्यशालीके लिए (अबिभः) धारण कियाथा (तस्मिन्) उस चमस में (सुकृतस्य भक्षं) अच्छे कर्मों का भोग (कृणोति) करता है। और (तस्मिन्) उस चमस में (विश्वदानीं) सर्वदा (इन्दुः) ऐश्वर्य (पवति) बहता रहता है।

इस मंत्रका भावार्थ विचारणीय है। अथर्वा, चमस, इन्द्र आदि शब्दों द्वारा आलंकारिक वर्णन प्रतीत होता है। हमारी समज में इन्द्र आत्मके लिए आया है। चमस शरीर के लिए आया है जैसा कि ऊपर के मंत्रमें भी हैं। और इस कल्पनानुसार मंत्र का आलंकारिक वर्णन कुछ कुछ समज में आता है। इस के अनुसार इस मंत्र का भाव इस प्रकार हो सकता है कि निश्चल परमात्मा यह सर्वांशमें पूर्ण शरीररूपी चमसको बलवान आत्माके लिए प्रदान करता है। वह आत्मा अपने सुकृत कर्मोंका फल इस शरीररूपी चमसमें खाती है। कर्म फल शरीरके बिना नहीं भोगे जा सकते। इसी चमस रूपी शरीरमें तमाम ऐश्वर्य बहता रहता है। अस्तु, तथापि इस पर विशेष विचार अपेक्षित है।

यत्ते कृष्णः शकुनः आततोद पिपीलः सर्प उत
वा श्वापदः। अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सो-
मश्च यो ब्राह्मणाँ आ विवेश॥ अथर्व० १८।३।५५।

अर्थ— हे प्रेत ! (ते) तेरे (यत्) जिस अंगको (कृष्णः शकुनः) काले अनिष्टकारी पक्षीने (आततोद) पीडा पहुंचाई है, (उत वा) अथवा (पिपीलः, सर्पः श्वापदः) कीडी की जातिके जन्तुओंने वा, सर्पने या जंगली हिंसक पशुने तुझे पीडा पहुंचाई है, तो (अग्निः) अग्नि (विश्वात्) इन उपरोक्त सबसे (तत्) उस तेरे अंगको (अगदं कृणोतु) रोगरहित करे। (सोमः च) और सोम भी तेरे उस अंगको नीरोग करे। (यः) जो कि सोम (ब्राह्मणान् आविवेश) ब्राह्मणोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है।

भावार्थ— काले अनिष्टकारी पक्षी वा कीडी मकोडे आदि जन्तु, सर्पादि विषयुक्त प्राणियों व जंगली जनावरों से पहुंचाए गए कष्ट को अग्नि व सोम दूर करें।

जिनकी मृत्यु सर्पादि मंत्रोक्त प्राणियोंसे होती है उनकी अंत्येष्टिमें इस मंत्रका विनियोग होता है ऐसा इस मंत्रका अभिप्राय प्रतीत होता है। मंत्रके शब्दार्थ स्पष्ट हैं।

इन प्राणियोंसे काटे गए अंगोंको अग्नि नीरोग करती है इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि

वह उन प्राणियों के विषसहित उस अंगको ऐसा जला देती है कि फिरसे वह रोग औरोंमें नहीं जा सकता। उस शवकी भस्म में इन प्राणियोंके विषके जन्तु किसीभी अवस्थामें बचने नहीं पाते।

इस मंत्रमें सर्पादि विषैले प्राणी व जंगली हिंसक जानवरोंसे आक्रांत देह सोमसे भी नीरोग की जासकती है ऐसा कहा गया है।

पयस्वती रोषधयः पयस्वान्मामकं पयः। अपां पयसो यत् पयस्तेन मा सह शुम्भतु ॥
अथर्व० १८। ३। ५६ ॥

अर्थ- (ओषधयः) औषधियां सेवन की जानेपर हमारे लिए (पयस्वतीः) सारवाली होवें। (मामकं पयः) मेरेमें जो सार है वहभी (पयस्वान्) सारवाला होवे। (अपां) जलादि रसों के (पयसः) सारभूतांश का (यत् पयः) जो उत्कृष्ट सार है (तेन) उस सारभूतांश के (सह) साथ (मा) मुझे (शुंभतु) शोभायमान करे।

भावार्थ- ओषधि, जल आदि सर्व पदार्थों का जो सारभूत अंश है वह मुझे प्राप्त होवे जिससे कि मैं संसारमें शोभायमान होऊं। ओषधि आदि सारवान् पदार्थों का सेवन करके मनुष्य को सुन्दर बनना चाहिए।

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संस्पृशन्ताम्। अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥
अथर्व०१८।३।५७

अर्थ— (इमाः) ये (अविधवाः) जीवित पतियों वालीं, (सुपत्नीः) श्रेष्ठ पतियों वालीं (नारीः) नारियां (आञ्जनेन सर्पिषा) अंजनसंबन्धी घृतसे (संस्पृशन्ताम्) अच्छी तरह संयुक्त होवें अर्थात् घृतवाले अंजन का उपयोग करें। अंजन का प्रयोग सधवाका चिन्ह है ऐसा यहां से जान पडता है। (अनश्रवः) वे नारियां आंसुओंसे रहित हुई हुई अर्थात् शोकरहित हुई हुई (अनमीवाः) रोगरहित हुई हुई (सुरत्नाः) उत्तम रत्नादि आभूषणों को धारण कीहुई (जनयः) संतानोत्पत्ति करनेवालीं होती हुई (अग्रे) सबसे पहिले (योनिं आरोहन्तु) घरमें प्रवेश करें।

सायणाचार्यके मतानुसार श्मशान से लौट कर सबसे पहिले स्त्रियां घरमें प्रवेश करें ऐसा इस मंत्रका अभिप्राय है। यह मंत्र ऋग्वेद (१०।१८।७) में आया है। वहां इसका देवता-पितृमेध-है। उस प्रकरण के साथ इस मंत्रपर विशेष विचार करनेसे इस मंत्रका विनियोग का संभव है पता चल सके। अंजनमें घी मिलाकर उसका प्रयोग किया जाता है ऐसा यहांसे निर्देश मिलता है।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ अथर्व० १८।३।५८ ॥

अर्थ— हे मृत पुरुष! (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योम में अर्थात् स्वर्गमें (पितृभिः सं गच्छस्व) पितरों के साथ जा। (यमेन सं) यमके साथ जा। (इष्टापूर्तेन) इष्टापूर्त के साथ अर्थात् अपने उपार्जित कर्मों के साथ जा। (अवद्यं हित्वाय) निन्दित कर्मों का त्याग करके अर्थात् सुकर्मों के साथ (पुनः) फिर (अस्तं एहि) अपने घरको वापस आ अर्थात् पुनर्जन्म लेकर आ और तब (सुवर्चाः) उत्तम तेज कान्ति से युक्त हुआ हुआ तू (तन्वा सं गच्छस्व) शरीर को धारण करके संसार में विचरण कर।

इस मंत्र से हमें कई बातें पता चलती हैं। सबसे प्रथम यह मंत्र मृत पुरुष को संबोधन करके कहा गया है। मंत्रका उत्तरार्ध इस बातकी पूर्ण रूप से पुष्टि कर रहा है। दूसरी बात स्वर्ग में जानेके लिए पितर तथा यम मृत पुरुष की आत्मा को पृथिवी पर लेने आते हैं। तीसरी बात 'परमे व्योमन्' से यम लोक उत्कृष्ट लोक है। उसमें अच्छे कर्म करनेवाले जाते हैं। अथवा यम लोक में कई विभाग हैं और उनमें कर्मानुसार जीव जाता है। इष्टापूर्त के साथ जाने का कथन इसी बातकी पुष्टि कर रहा है। इष्टापूर्त का लक्षण निम्नलिखित है-

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आविविशुरु-र्वन्तरिक्षम् । तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ अथर्व० ॥ १८।३।५९॥

अर्थ- (ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिताके पितर और (ये) जो (पितामहाः) पितामह (दादा) (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं) विस्तृत अंतरिक्षमें (आविविशुः) प्रविष्ट हुए हुए हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान (असुनीतिः) प्राणदाता परमात्मा (नः) हमारे (तन्वः) शरीरोंको (यथावशं) कामना के अनुकूल (कल्पयाति) समर्थ करता है ।

इस मंत्र में पिता, पितामह तथा प्रपितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्पष्टरूपसे दर्शाया गया है ।

शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वाव शीयताम् । शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ॥ मण्डूक्यप्सु शं भुव इमं स्वग्निं शमय ॥

अथर्व० १८।३।६० ॥

अर्थ- (ते) तेरे लिए (नीहारः) कुहरा (शं भवतु) सुखकारी होवे । (ते) तेरे लिए (प्रुष्वा) वृष्टि (शं) सुखरूप हुई हुई (अवशीयताम्) नीचे गिरे । (शीतिके) हे शैत्ययुक्त ! (शीतिकावति) हे शैत्यगुणसंपन्न ओषधि ! (ह्लादिके) हे हर्षित करनेवाली तथा (ह्लादिकावति) आनन्दित करनेवाले गुणोंवाली औषधि ! (अप्सु) जलमें जिस प्रकार (मण्डूकी) मेंडकी शान्त होती है अर्थात् जैसे जल मेंडकी को शांति पहुंचाने वाला होता है उसी प्रकार तू (शं भुव) सुखकारी हो और (इमं अग्निं) इस आगको अर्थात् जलनेसे जो शरीरमें दाह (जलन) पैदा होता है उसको (सुशमय) अच्छी प्रकारसे शान्त कर दे ।

यह मंत्र ऋग्वेद (१०।१६।१४) में पाठभेदके साथ आया है ।

विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः । इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥ अथर्व० १८।३।६१ ॥

अर्थ- (विवस्वान्) सूर्य (नः अभयं कृणोतु) हमें अभय बनावे । (यः) जो कि विवस्वान् (सुत्रामा) अच्छी तरह सबसे रक्षा करनेवाला, (जीरदानुः) जीवनदाता व (सुदानुः) उत्तम दाता है । (इह) इस संसारमें (इमे) ये (वीराः) पुत्रपौत्रादि (बहवः भवन्तु) बहुत हो जावें । अर्थात् हमारे पुत्रपौत्रादि खूब होवें । और (गोमत्) गौओंवाला तथा (अश्ववत्) घोडोंवाला (पुष्टं) पोषण (मयि अस्तु) मेरे में होवे । अर्थात् मैं गौघोडोंसे संपन्न होऊं ।

भावार्थ- सब प्रकारसे रक्षा करनेवाला व जीवनदाता सूर्य हमें अभय बनावे । हमारी संतति खूब बढे व हम गौघोडों आदियोंसे परिपूर्ण होवें ।

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न एतु । इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मोष्वेषामसवो यमं गुः ॥ अथर्व० १८।३।६२ ॥

अर्थ (विवस्वान्) सूर्य (नः) हमें (अमृतत्वे) अमरतामें (दधातु) स्थापित करे अर्थात् सूर्य हमें अमर बनावे । (मृत्युः परा एतु)मृत्यु परे भाग जावे। (नः अमृतं एतु) और हमें अमरता प्राप्त होवे। वह विवस्वान् (इमान् पुरुषान्) इन पुरुषोंकी (आ जरिम्णः) वृद्धावस्थापर्यन्त (रक्षतु) रक्षा करे । (एषां असवः) इन पुरुषोंके प्राण (मा यमं गुः) यमको मत जावें अर्थात् ये मत मरें ।

भावार्थ- सूर्य हमें अमर बनावे । मृत्यु दूर भाग जावे व हमें अमरता प्राप्त होवे । हमारे सब पुरुषोंकी सूर्य वृद्धावस्थातक रक्षा करता रहे हमारेंमेंसे कोईभी वृद्धावस्थासे पूर्व न मरे ।

यो दध्रे अंतरिक्षे न मह्ना पितृणां कविः प्रमतिर्मतीनाम् । तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥

अथर्व० १८।३।६३ ॥

अर्थ- (यः) जो (प्रमतिः) प्रकृष्ट बुद्धिवाला (कविः) क्रान्तदर्शी (मतीनां पितृणां) उत्तम मतिमान पितरोंको (मह्ना न) मानो अपनी महिमासे ही (अंतरिक्षे) अंतरिक्षमें (दध्रे) धारण करता है, (विश्वमित्राः) हे सबके मित्र मनुष्यो ! (तं) उस यमकी (हविर्भिः अर्चत) हवियोंसे पूजा करो । (सः यमः) वह यम (नः) हमें (जीवसे) दीर्घायुके लिए (प्रतरं धात्) अच्छी तरहसे धारण करे ।

भावार्थ— वह क्रान्तदर्शी यम विचारशील पितरोंको अपनी महिमासे अंतरिक्षमें धारण किए हुए है। हे मनुष्यो! तुम सबके मित्र हुए हुए उसकी हवियोंसे पूजा करो जिससे कि वह तुह्मारे लिए दीर्घायु प्रदान करे।

आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन।
सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म
ज्योतिरुत्तमम् ॥ अथर्व० १८।३।६४ ॥

अर्थ— (ऋषयः) हे मंत्रद्रष्टा जनो! (उत्तमां दिवं आरोहत) उत्तम द्यु अर्थात् स्वर्गको चढो। अर्थात् स्वर्गमें जाओ। (मा बिभितन) मत डरो। हे (सोमपाः) सोमपान करनेवाले तथा (सोमपायिनः) अन्योंको सोमपान करानेवाले जनो! (वः) तुह्मारे लिए (इदं हविः क्रियते) यह हवि हम करते हैं। (उत्तमं ज्योतिः) जिससे कि हम उत्तम ज्योतिको (अगन्म) प्राप्त होवें।

भावार्थ- ऋषिगण निर्भय होकर स्वर्ग को जाते हैं। सोमपान करनेवालों व दूसरों को करानेवालोंके लिए हवि देनेसे उत्तम ज्योतिका लाभ होता है।

प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो
रोरवीति । दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामु-
पस्थे महिषो ववर्ध ॥ अथर्व० १८।३।६५ ॥

अर्थ- (अग्निः) अग्नि (बृहता केतुना) अपने बडे भारी केतुसे अर्थात् ज्वालारूपी झंडोंसे (प्रभाति) अच्छी तरह चमकता है। और वही अग्नि (रोदसी) द्यावापृथिवीमें (वृषभः) वर्षादि द्वारा कामनाओंकी पूर्ति करता हुआ (रोरवीति) मेघ बिजली आदिके रूपमें गरजता है। वह (दिवः अन्तात्) द्युके अन्तसे (माम् उप) मेरे तक अर्थात् द्यु तथा पृथिवीमें सर्वत्र (उत् आनट्) अच्छी तरहसे व्याप्त हुआ हुआ है। (महिषः) महान् अग्नि (अपां उपस्थे) जलोंकी गोदमें (ववर्ध) बढता है। अर्थात् बादलके रूपमें विद्यमान जलोंमें बिजलीरूपमें यह अग्नि बढता रहता है।

भावार्थ- यह अग्नि पृथिवीपर ज्वालाओंसे चमकता रहता है। द्यावापृथिवीमें वर्षा करने वाला हुआ हुआ सूर्य विद्युत् आदिके रूपमें गर्जता रहता है। द्यु तथा पृथिवी दोनोंमें यह व्याप्त है। अंतरिक्षमें विद्यमान जलोंमें विद्युत् रूपमें यह बढता रहता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि यह अग्नि भिन्न भिन्न स्वरूपोंमें द्यावापृथिवीको व्याप्त किए हुए है।

नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यच-
क्षत त्वा। हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य
योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥ अथर्व० १८।३।६६ ॥

अर्थ- (नाके उप पतन्तं सुपर्णं इव) आकाशमें उडते हुए उत्तम पंखवाले पक्षीको जैसे सर्वजन देखते हैं उसी प्रकार हे सूर्य! आकाशमें गति करते हुए (त्वा) तुझे (हिरण्यपक्षं) सोने जैसे चमकीले पंखों वालेको, (सूर्यका प्रकाश सुवर्णीय पीला होता है) और (वरुणस्य दूतं) वरुण जलकी देवता है,उसको प्राप्त करानेवाले अर्थात् वृष्टि-देनेवाले तुझको, (सूर्यका वृष्टि देना वेदमें कई स्थानोंपर आया है) और (यमस्य योनौ) यमके घरमें अर्थात् अंतरिक्षमें, (यमका, अंतरिक्षमें स्थान है यह पहिले आ चुका है) (शकुनं) शक्तिशाली होकर विद्यमान व (भुरण्युम्) वर्षा प्रकाश आदिके देनेद्वारा सबके पालक तुझको विद्वान् गण (हृदा वेनन्तः) हृदयसे ध्यान करते हुए (अभ्यचक्षत) भली प्रकार देखते हैं। यद्यपि हमने इस मंत्रको सूर्यपरक लगानेका प्रयत्न किया है तथापि अभी इसपर विशेष विचार की आवश्यकता है।

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा। शि-
क्षाणो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योति
रशीमहि ॥ अथर्व० १८।३।६७॥

अर्थ- (इन्द्र) हे ऐश्वर्यशाली ! (नः क्रतुं आभर) तू हमें कर्म व कर्मज्ञान इस प्रकार से दे (यथा)जिस प्रकार से कि (पिता पुत्रेभ्यः) पिता अपनी संतानों को देता है। (पुरुहूत) हे बहुत प्रकारसे बुलाए गए इन्द्र। (अस्मिन् यामनि) इस संसारसागर पार करनेके मार्गमें (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दे। अर्थात् संसारसागर तरनेका उपाय सिखा। जिससे कि (जीवाः) हम जीवलोग (ज्योतिः अशीमहि) ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करें।

भावार्थ- हे इन्द्र! जिस प्रकार पिता पुत्रों को उपदेश करता है उस प्रकार तू हमें कर्ममार्ग व तत्संबन्धी ज्ञानका उपदेश कर ताकि हम सुखपूर्वक

जीवन व्यतीत कर सकें।

अब यहांसे अर्थात् ६८ वें मंत्रसे इस सूक्तकी स-माप्तिपर्यंत एकही विषय चलता हुआ जान पडता है और वह प्रेतसंबन्धी है ऐसा मंत्रों से पता चलता है।

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन्।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः।
अथर्व० १८।३।६८॥

अर्थ- (यान्) जिन (अपूपापिहितान्) मालपूओंसे ढके हुए (कुम्भान्) घडोंको (देवाः) देवोंने (ते) तेरे लिए (अधारयन्) धारण किया है अर्थात् तुझे दिया है (ते) वे घडे (ते) तेरे लिए (स्वधावन्तः) स्वधावाले, (मधुमन्तः) मधुरतायुक्त तथा (घृतश्चुतः) घीसे परिपूर्ण (सन्तु) होवें।

यद्यपि यह मंत्र स्पष्ट है तथा इसमें ऐसा कोई वर्णन नहीं जिससे इसको परलोकवासी जीवके लिए कहा गया है ऐसा माना जावे तथापि अगले मंत्रके साहचर्य से यहभी उसीके लिए है ऐसा मानना पडता है।

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः। तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम्॥ अथर्व० १८।३।६९॥

अर्थ-(ते) तेरे लिए (याः तिलमिश्राः स्वधावतीः धानाः) जिन तिलोंसे मिश्रित अर्थात् तिल मिले हुए स्वधावाले धानों को (अनुकिरामि) अनुकूलता से फैंकता हूं, (ताः) वे धान (ते) तेरे लिए (विभ्वीः) नानाप्रकारवाले व (प्रभ्वीः) प्रभूत मात्रामें यानि बहुत मात्रा में (सन्तु) होवें। (ताः) उन्हें (ते) तुझे देने के लिए (यमः राजा) यम राजा (अनुमन्यतां) अनुमति देवे। यम के राज्यमें बिना यम की अनुमतिके किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता अतः उसकी अनुमति मांगी है।

इस मंत्र में यमलोक में गए हुए के लिए अर्थात् मृतके लिए तिलमिश्रित धान देने का उल्लेख है।

इस मंत्रमें यम राजासे आज्ञा मांगी गई है कि वह इन दीए गए धानों को उसके राज्यमें आए हुए को लेनेदे। इस प्रकार यमके राज्यमें गए हुए व्यक्तिके लिए इन चीजों को दिया गया है यह स्पष्ट है। अगले सूक्त चतुर्थ में भी इस विषयक उल्लेख किया गया है।

पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि।
यथा यमस्य सादन आसातै विदथावदन्॥
अथर्व० १८।३।७०॥

अर्थ (वनस्पते) हे वनस्पति! (यः एषः) जो यह (त्वयि निहितः) तेरे में रखा है उसे (पुनः) फिर वापिस (देहि) दे। (यथा) जिस से (यमस्य सादने) यमके घरमें यह (विदथा वदन्) विज्ञानों को (वदन्) बोलता हुआ (आसातै) स्थित होवे।

इस मंत्र का आशय क्या है यह व्यक्त नहीं होता।

आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते। शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके॥
अथर्व० १८।३।७१॥

अर्थ- (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (आरभस्व) जलना प्रारंभ कर। (ते) तेरा (हरः) हरनेका सामर्थ्य (तेजस्वत् अस्तु) तेजवाला होवे अर्थात् जिसको जलाना शुरु करें उसे शीघ्र जलाकर भस्मीभूत करनेवाला तेरा सामर्थ्य होवे, जलानेमें देर न लगे। (अस्य) इस मृतका (शरीरं संदह) शरीर अच्छी तरह जला डाल। (अथ) जलानेके बाद एनं इसकी आत्माको (सुकृतां लोके) श्रेष्ठजनोंके लोकमें (धेहि) धारणकर अर्थात् वहांपर पहुंचा।

मंत्र स्पष्ट है। यह मंत्र प्रेतदाहके समय चिता में अग्नि प्रज्वलित करने के समय का प्रतीत होता है। अग्नि प्रदीप्त करते हुए इस मंत्रका विनियोग चाहिए ऐसा मंत्रार्थ से प्रतीत होता है।

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती॥
अथर्व० १८।३।७२

अर्थ— (ते) वे (ये पूर्वे परागताः) जो पूर्वकालीन पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और (ये अपरे पितरः) जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं (तेभ्यः) उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरों के लिए (शतधारा व्युन्दती) सैंकडों धाराओं वाली उमडती हुई (घृतस्य कुल्या) जलकी कुल्या- क्षुद्र नदी (एतु) प्राप्त होवे। कुल्याका अर्थ निघण्टु में 'कृत्रिमा सरित्' अर्थात्

बनावटी नदी यानि नरह ऐसा दिया है। पितरोंको जलसे तर्पण करनेके लिए नरह बहानी चाहिए ऐसा भाव इस मंत्र का मालूम पडता है।

एतदारोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदुदीदयन्ते। अभि प्रेहि मध्यतो मापहास्थाः पितृणां लोकं प्रथमो यो अत्र॥ अथर्व० १८।३।७३

अर्थ- (उन्मृजानः) अपने को शुद्ध करता हुआ (एतद् वयः आरोह) इस अंतरिक्षमें चढ। (इह) यहां (स्वाः) तेरे बन्धुबांधव (बृहत् उदीदयन्ते) बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं- अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं, उनकी तू चिन्ता मत कर। (मध्यतः अभिप्रेहि) उन बन्धुबांधवों के मध्यसे जा। (पितृणां लोकं) पितरोंके लोकका (मा अपहास्थाः) त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे। (यः) जोकि पितृलोक (अत्र) यहां (प्रथमः) मुख्य प्रसिद्ध है।

इस प्रकार यहां पर यह सूक्त समाप्त होता है। पाठकोंने देखा होगा कि इस सूक्तमें भी बीच बीचमें भिन्न भिन्न विषय चल पडते हैं। पहिले दो सूक्तों की तरह इस सूक्तमें भी ऋग्वेद के मंत्र पर्याप्त आए हुए हैं। इन भिन्न भिन्न विषयों का तथा इस सूक्तके अन्य मंत्रों में वर्णित विषयों का एकी करण करना पर्याप्त कठिन प्रतीत होता है। एकीकरणके विना मंत्रार्थनिर्णय बडा कठिन हो जाता है। और अतएव सब भाष्यकारों के अर्थ भिन्न भिन्न होते हैं। अस्तु तथापि पाठक इन पर विचार करके वस्तुस्थितिका पता कर सकते हैं।

अथर्व० काण्ड १८। सूक्त-४॥

यज्ञ-माहात्म्य। (मंत्र १ से २४)

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि। अव्याड् ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्तलोके॥ अथर्व० १८।४।१॥

अर्थ- (जातवेदसः) हे अग्नियो! तुम (जनित्रीं आरोहत) अपनी उत्पन्न करनेवाली के पास पहुंचो। मैं (वः) तुम्हें (पितृयाणैः) पितृयाणमार्गोंसे (सं आरोहयामि) अच्छी प्रकार पहुंचाता हूं। (इषितः हव्यवाहः) प्रिय हव्यों का वाहक अग्नि (हव्या = हव्यानि) हव्योंको (अव्याट्) वहन करता है। हे अग्नियो! (युक्ताः) तुम मिलकर (ईजानं) यज्ञ करनेवाले को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ कर्म करनेवालों के लोकमें (धत्त) धारण करो अर्थात् वहां उसे ले जाओ।

भावार्थ- यज्ञ करनेवालों को अग्नि उत्तम कर्म करनेवालोंके लोकमें पहुंचाती है। अतः सुकृतोंके लोककी प्राप्तिके लिए यज्ञ करना जरूरी है।

देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि। तेभि र्याहि पथिभि र्देवयानै र्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् अथर्व० १८।४।२

अर्थ- (देवाः) देवगण तथा (ऋतवः) वसन्त आदि षट् ऋतुएं (यज्ञं) यज्ञ अर्थात् दैनिक,पाक्षिक मासिक आदि नाना प्रकारके होम (कल्पयन्ति) रचते हैं- करते हैं। और इस यज्ञके करनेके लिए (हविः) यज्ञमें डालनेलायक पदार्थ घृत आदि, (पुरोडाशं) घृत आदिसे बनाए हुए पदार्थ, (स्रुचः) इन घृत आदि पदार्थोंको डालनेके लिए साधनभूत यज्ञके लिए उपयुक्त चमचेकी आकृति जैसे स्रुवे तथा अन्य (यज्ञायुधानि) यज्ञसंबन्धी हथियार बनाते हैं। (तेभिः देवयानैः पथिभिः) उन ऊपर दर्शाए गए यज्ञ करनेके देवयानमार्गोंसे हे मनुष्य! तू (याहि) विचरण कर अर्थात् तूभी उनकी तरह नित्य प्रति यज्ञको यथाविधि कर।(यैः) जिन देवयानमार्गोंसे कि (ईजानाः) यज्ञ करनेवाले लोक (स्वर्गलोकं यन्ति) स्वर्गलोक को जाते हैं।

भावार्थ- देवगण ऋतुके अनुसार नानाविध यज्ञसामग्री तैयार करके यज्ञ करते हैं। उनका अनुकरण करनेवाले लोक स्वर्ग को प्राप्त होते हैं अतः यथाविधि दररोज यज्ञ करना चाहिए जिससे कि स्वर्ग लोक उपलब्ध हो सके।

प्रथम मंत्रमें जो यह कहा है कि यज्ञ करनेवाले स्वर्गको प्राप्त होते हैं, उसीका इस मंत्रमें विशद रूप से स्पष्टीकरण है। इस प्रकार दोनों मंत्रों में यज्ञका महत्व दर्शाया गया है।

ऋतस्य पन्थामनुपश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति। तेभि र्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधिविश्रयस्व॥ अथर्व० १८। ४। ४॥

अर्थ- (ऋतस्य पन्थां) यज्ञके मार्गको (साधु) (अनुपश्य) अच्छीतरहसे जान। और (येन) जिस यज्ञसंबन्धी मार्गसे (सुकृतःअङ्गिरसः) उत्तम कर्म करनेवाले अङ्गिरस् जन (यन्ति) जाते हैं, (तेभिः पथिभिः) उन मार्गोंसे (स्वर्गं याहि) स्वर्ग को जा, (यत्र)जहां कि अर्थात् जिस स्वर्गमें कि(आदित्याः) अखण्डनीय सामर्थ्यवाले श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन (मधु भक्षयन्ति) अमृत को खाते हैं अर्थात् आनन्द भोगते हैं। (तृतीये नाके) तीसरा जो स्वर्ग लोक है उसमें जाकर (विश्रयस्व)विश्रान्ति ले-आराम कर।

मंत्र स्पष्ट है। यहांपर भी यज्ञही का माहात्म्य दर्शाया गया है। इस मंत्रमें थोडासा स्वर्ग लोक पर प्रकाश डाला गया है। तीन लोकोंमें से एक लोक स्वर्ग है ऐसा यहांसे जान पडता है।

नाक — क= सुख। अक= दुःख। न+अक = नाक=न दुःख अर्थात् सुख। जहां दुःख नहीं है उस लोक का नाम नाक।

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः। स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम् ॥ अथर्व० १८।४।४॥

अर्थ-(सुपर्णाः त्रयः) तीन उत्तम गति करनेवाले अथवा उत्तमतया पालन करनेवाले तथा (उपरस्य) मायू) मेघके सबन्धसे शब्द करनेवाले दो, ये सब (विष्टपि) अंतरिक्षमें (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्ग के ऊपर (अधि श्रिताः) स्थित हैं। (स्वर्गाः लोकाः) स्वर्ग लोक (अमृतेन विष्ठाः) अमरतासे व्याप्त हैं अर्थात् वे मरणरहित हैं। ये सब (यजमानाय) यज्ञ करनेवालेके लिए (इषं) अन्न तथा (ऊर्जं) बलको (दुह्राम्) देवें।

इस मंत्रका पूर्वार्ध विचारणीय है। तीन सुपर्ण तथा दो मेघके संबन्धसे शब्द करनेवाले कौन हैं इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता है। सायणाचार्यने अग्नि, सूर्य व सोम को तीन सुपर्ण कहा है तथा वायु व पर्जन्यको ' उपरस्य मायू ' बतलाया है। यास्काचार्यने नि० २।२२में एक ऐसेही मंत्र ऋ० १०। २७।२३) की व्याख्या करते हुए तीनसे पर्जन्य, वायु व आदित्य का तथा दोसे वायु आदित्य का ग्रहण किया है।

जुहूर्दाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम्। प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामं कामं यजमानाय दुह्राम्।
॥ अथर्व० १८।४।५॥

अर्थ— (जुहूः) जुहूने (द्यां दाधार) द्युलोकको धारण किया हुआ है। और (उपभृत्) उपभृत्ने (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्षको धारण कर रखा है। (ध्रुवा प्रतिष्ठां पृथिवीं) ध्रुवाने आश्रयस्थान पृथिवीको (दाधार) धारण कर रखा है। (इमां प्रति) इस पृथिवीको ओर लक्ष्य करते हुए (घृतपृष्ठाः) चमकीली पीठोंवाले अर्थात् प्रकाशमान (स्वर्गाः लोकाः) स्वर्गलोक (यजमानाय) यज्ञकर्ता के लिए (कामं कामं) प्रत्येक कामनाको (दुह्राम्) पूर्ण करें।

इस मंत्रमें भी आए हुए ' जुहू, उपभृत् तथा ध्रुवा' शब्दोंका अभिप्राय विचारणीय है। सायणाचार्यने यज्ञमाहात्म्यका प्रकरण होनेसे इनके निम्न लिखित अर्थ किए हैं- जूहू=होम करनेके लिए साधनभूत कोई विशेष पात्र। उपभृत् = जूहूके पासमें धारण किया जानेवाला पात्रविशेष। ध्रुवा इस नामकी का कोई स्रुवा।

मंत्रका भाव यह है कि स्वर्गलोक यज्ञकर्ता की सर्व कामनायें पूर्ण करते हैं।

ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्व भोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व। जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं स्रुवेण वत्सेन दिशः प्रपीनाः सर्वा धुक्ष्वाहृणीयमानः ॥ अथर्व० १८।४।६ ॥

अर्थ—(ध्रुवे) हे ध्रुवा! (विश्व भोजसं पृथिवीं) सबको खिलानेवाली अर्थात् पालक पृथिवी पर (यजमानेन साकं) यजमान के साथ (आरोह) चढ स्थित हो। (उपभृत्) हे उपभृत्! तू यजमानकेसाथ(अंतरिक्षं आक्रमस्व)अंतरिक्ष में संचार कर। (जुहु)हे जुहू! तू(यजमानेन साकं) यजमानके साथ (द्यां गच्छ) द्युलोकको जा। हे यजमान! इस प्रकार तू (अहृणीयमानः) निःसंकोच हुआ हुआ (वत्सेन स्रुवेण) बछडेरूपी स्रुवासे (सर्वाः) सब (प्रपीनाः) अच्छी तरह वृद्धिको प्राप्त हुई हुई (दिशः) दिशाओंका (धुक्ष्व) दो। अर्थात् यज्ञद्वारा अभिलषित

पदार्थों को प्राप्त कर।

भावार्थ—यज्ञद्वारा यजमान सब जगह अव्याहत गति से जाता है। यज्ञद्वारा सर्व दिशाओं से वांछित फल प्राप्त करता है।

इस प्रकार इस मंत्रमें यज्ञ के माहात्म्य की पराकाष्ठा दर्शाई गई है। इससे यज्ञका कितना महत्व है यह बात पाठकोंके ध्यानमें आ सकती है।

> तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति। अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त॥ अथर्व० १८।४।७॥

अर्थ—(यज्ञकृतः) यज्ञों के करनेवाले (सुकृतः) श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन(येन यन्ति)जिस मार्गसे विचरण करते हैं उस मार्ग पर चलनेसे (तीर्थैः) तरनेके साधन यज्ञादिद्वारा (प्रवतः महीः) बडी बडी आपत्तियां भी (तरन्ति) तर जाते हैं। (यत्) यदा (दिशः)दिशायें तथा (भूतानि) भूतोंको अर्थात् प्राणियों को (अकल्पयन्त)निर्माण करते हैं उस समय (यजमानाय)यजमानके लिए(लोकं अदधुः) स्थान देते हैं।

भावार्थ-यज्ञकरनेवाले सुकृत् लोकमें जिस उत्तम मार्गसे जाते हैं उस मार्ग पर चलते हुए यज्ञादिद्वारा बडी बडी विपत्तियां भी तरी जा सकती हैं। यज्ञ करनेवाले को सृष्टिनिर्माण के समय भी उत्तम लोक की प्राप्ती होती है। सारांश यह है कि यज्ञ करनेवाले को कभीभी कष्ट नहीं होता।

> अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः। महिमानमग्ने विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः॥ अथर्व० १८।४।८॥

अर्थ- (अङ्गिरसां) अङ्गिरसोंका (अयनं) मार्ग (पूर्वः अग्निः) पूर्वका अग्नि है। (आदित्यानां) आदित्यों का (अयनं) मार्ग (गार्हपत्यः) गार्हपत्य अग्नि है। (दक्षिणानां) कार्यमें दक्षोंका (अयनं) मार्ग (दक्षिणाग्निः) दक्षिणाग्नि है। (ब्रह्मणा) वेदमंत्रों द्वारा(विहितस्य) यज्ञमें स्थापित की गई अग्नि की (महिमानं) महिमाको, (समङ्गः) दृढ अंगोंवाला होकर, (सर्वः) सर्व अवयवों से युक्त हुआ हुआ अर्थात् पूर्ण शरीरवाला होकर, और इसीलिए (शग्मः) सुखी हुआ हुआ तू (उपयाहि) प्राप्त कर।

मंत्रका शब्दार्थ स्पष्ट है परन्तु पूर्वार्ध का अभिप्राय सर्वथा अस्पष्ट है। जबतक पूर्वार्ध का भाव नहीं खुलता तबतक संपूर्ण मंत्रके भाव व महत्वका समझना कठिन है। पाठक इसपर विचार करें। संभव है इसका भाव किसीके ध्यान में बैठ जाए। सायणाचार्य अयन का अर्थ करते हैं कि 'अयन यह सत्रात्मक क्रतुविशेष का नाम है'। और इस प्रकार 'अङ्गिरसां अयनं पूर्वः अग्निः' का अर्थ करते हैं कि 'अङ्गिरसों को जो सत्रात्मक क्रतुविशेष है वह पूर्व दिशामें वर्तमान आहवनीय अग्नि है'। इसी प्रकार शेष मंत्रका भी अर्थ किया है।

> पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः। दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद् दिशो दिशो अग्ने परि पाहि घोरात्॥ अथर्व० १८।४।९॥

अर्थ— (पूर्वः अग्नि) पूर्व की अग्नि (त्वा) तुझे (पुरस्तात्) आगेसे (शं तपतु) सुखपूर्वक तपावे। (गार्हपत्यः) गार्हपत्य अग्नि (पश्चात्) पीछेसे (शं तपतु) तुझे सुखपूर्वक तपावे। (दक्षिणाग्निः) दक्षिणाग्नि (ते) तेरे लिए (शर्म) सुखरूप हुई हुई व (वर्म) कवचरूप हुई हुई तुझे (तपतु) तपावे। (अग्ने)हे अग्नि! तू हमें (उत्तरतः) उत्तर दिशासे (मध्यतः)दिशाओंके बीचसे(अन्तरिक्षात्)अंतरिक्षसे(दिशः दिशः) प्रत्येक दिशासे आनेवाले(घोरात्) क्रूर-हिंसकसे (परिपाहि चारों ओरसे संरक्षण कर।

भावार्थ— अग्निसे प्रार्थना की गई कि तू हमारी सब ओरसे रक्षा कर। सब घोर कर्मोंसे हमारा संरक्षण कर।

> यूयमग्ने शंतमाभिस्तनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम्। अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं मदन्ति॥ अथर्व० १८।४।१०

अर्थ— (अग्ने= अग्नयः) हे गार्हपत्यादि अग्नियो! (यूयं) तुम (पृष्टिवाहः अश्वाः भूत्वा) पीठ से ले जानेवाले घोडों की तरह बनकर (शंतमाभिः तनूभिः) अपने सुखकारी शरीरोंसे (ईजानं) जिसने यज्ञ किया है ऐसे को (स्वर्गं लोकं अभि) स्वर्गलोककी ओर (वहाथ) ले जाओ। (यत्र)

जहां स्वर्गमें यज्ञकर्ता जन (देवैः सधमादं) देवों के साथ आनन्द को (मदन्ति) भोगते हुए तृप्त होते हैं ।

भावार्थ— यज्ञकर्ता को अग्नियों घोडों की तरह अपनी पीठपर बैठाकर स्वर्गमें ले जाती हैं जहां कि स्वर्ग में वे देवोंके साथ मिलकर आनन्द भोगते हैं। अतः स्वर्गप्राप्त्यर्थ यज्ञ करना परमावश्यक है ।

शमग्ने पश्चात् तप शं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमध-
रात् तपैनम् । एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्य
गेनं धेहि सुकृताम् लोके ॥ अथर्व० १८।४।११॥

अर्थ- (अग्ने) हे अग्नि ! तू (एनं) इस यज्ञकर्ताको (शं) सुखपूर्वक (पश्चात्) पीछेसे, (शं) सुखपूर्वक (पुरस्तात्) आगेसे (तप) तपा । (उत्तरात्) उत्तरसे (शं) सुखपूर्वक तपा और (अधरात्) नीचे की दिशासे (शं) सुखपूर्वक तपा । (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों में रहनेवाले अग्नि ! तू (एकः) एक होता हुआ भी (त्रेधा) तीन प्रकारसे अर्थात् पूर्वाग्नि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि के रूपसे (विहितः) स्थापित किया जाता है । तू (एनं) इस यजमान को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ जनों के लोकमें (सम्यक्) अच्छी तरहसे (धेहि) स्थापित कर अर्थात् वहांपर इसे पहुंचा दे ।

भावार्थ- अग्नि सब ओरसे सुख पूर्वक हमारा रक्षण करती है । वस्तुतः वह एकही है पर व्यवहार में उसकी तीन रूपों से स्थापना की जाती है । यज्ञकर्ता को वह स्वर्ग में पहुंचाती है ।

शमग्नयः समिद्धा आरभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं
जातवेदसः । शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन्।
अथर्व० १८।४।१२॥

अर्थ - (समिद्धाः) यथाविधि प्रकाशित की हुई (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थोंमें वर्तमान (अग्नयः) अग्नियां (प्राजापत्यं) प्रजापति देवतावाले (मेध्यं) पवित्र इस यजमानको (शं) सुखपूर्वक यज्ञके कार्यमें (आरभन्तां) उत्सुक बनावें । (इह) यहां पर यज्ञ कार्य में वे अग्नियां यजमान को (शृतं कृण्वन्तः) पक्व अर्थात् पूर्ण बनावें । उसे इस कार्यसे (मा) मत (अव चिक्षिपन्) गिरने देवें ।

भावार्थ—यज्ञादि कार्यों में प्रज्वलित अग्नियां यजमानको उत्साहित करके पूर्ण मनोरथवाली बनाती हैं। वह अपने कार्य में सफल बनता है क्यों कि अग्नियां उसे कर्तव्यपथसे गिरने से बचा लेती हैं ।

यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानमभि लोकं
स्वर्गम् । तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं
मेध्यं जातवेदसः शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन्
अथर्व० १८।४।१३॥

अर्थ- (विततः यज्ञः) विस्तृत यज्ञ (कल्पमानः) समर्थ हुआ हुआ (ईजानं) यज्ञ किए हुए को (स्वर्ग लोकं) स्वर्गलोक को (अभिएति) पहुंचाता है। (तं) उस (सर्वहुतं) जिसने अपना सर्वस्व होम कर दिया है ऐसे यज्ञकर्ताको (अग्नयः) अग्नियां (जुषन्तां) संतुष्ट करें । शेष अर्थ ऊपरके मंत्र के समान है ।

भावार्थ- विस्तृत रूपमें किया गया यज्ञ यजमानको स्वर्गलोकमें पहुंचाता है। अग्नियां उसे अभिमत फलप्रदानद्वारा संतुष्ट करती हैं व कर्तव्यपथसे गिरने नहीं देतीं।

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्प-
तिष्यन्। तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्त्स्व-
र्गः पन्थाः सुकृते देवयानः ॥अथर्व० १८।४।१४॥

अर्थ— (नाकस्य पृष्ठात्) स्वर्ग के ऊपरसे (दिवं उत्पतिष्यन्) द्युको जानेकी इच्छा करता हुआ (ईजानः) यज्ञ किया हुआ पुरुष (चितं अग्निं) चयन की हुई अग्नि को (अरुक्षत्) प्रकट करता है प्रज्वलित करता है । (तस्मै सुकृते) उस उत्तम कर्मकरनेवाले के लिए(नभसः) आकाशका(ज्योतिषीमान्) प्रकाशवाला (देवयानः) देव जिससे जाते हैं ऐसा (स्वर्गः) सुखदायी (पन्थाः) मार्ग (प्रभाति) प्रकाशित होता है ।

भावार्थ — स्वर्गसे द्युको जानेके लिए चयन की हुई अग्निको प्रदीप्त करना चाहिए । और जो चयन की हुई वह्नि को प्रदीप्त करता है उसके लिए आकाशका सुखदायी देवयान मार्ग खुल जाता है ।

इस मंत्रके द्वितीय पाद ' नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ' का भाव व्यक्त नहीं होता। यह पाद विचारणीय है ।

अग्नि होताध्वर्युष्टे बृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिण-तस्ते अस्तु । हुतोयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम् ॥ अथर्व० १८।४।१५ ॥

अर्थ- (ते) तेरा (अग्निः होता) अग्नि होता अर्थात् स्वाहापूर्वक आहुति देनेवाला (अस्तु) होवे । (बृहस्पतिः) बडों बडों का पालक तेरा (अध्वर्युः) यज्ञ कराने वाला होवे । और (इन्द्रः) इन्द्र (ब्रह्मा) ब्रह्मा बनकर (ते दक्षिणतः अस्तु) तेरी दाहिनी ओरमें होवे । (अयं) यह (हुतः) आहुति दिया गया और (सं स्थितः) अच्छीतरह किया गया (यज्ञः) यज्ञ (एति) वहां जाता है (यत्र) जहां कि (पूर्वं) पहिले (हुतानां) आहुति दिए गए यज्ञोंका (अयनं) जाना होता है ।

भावार्थ-जिस यज्ञका अग्नि होता है, बृहस्पति अध्वर्यु है और इन्द्र ब्रह्मा है व यज्ञ अवश्य ही सफल होकर यथास्थान पहुंचता है व यजमान को उचित फल प्रदान करवाता है ।

इस प्रकार अबतकके मंत्रोंमें यज्ञ व अग्नि का माहात्म्य दर्शाया गया है । पाठकोंने देखा होगा कि यज्ञ करनेका कितना महत्व है । अब अगले मंत्रोंमें नाना पदार्थोंसे निर्माण किए गए चरुसे लोककृत् व पथिकृत् लोकोंकी पूजा करनेका उल्लेख है ।

अपूपवान् क्षीरवाँश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ अथर्व० १८।४।१६ ॥

अर्थ— (अपूपवान्) मालपूए आदि घेहूंके आटेसे व घीकी सहायतासे बनाए हुए पदार्थोंवाला तथा (क्षीरवान्) दूधवाला (चरुः) यज्ञके लिए तैयार किया गया पाक (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोक बनानेवालों तथा (पथिकृतः) मार्गोंके बनानेवालोंकी हम (यजामहे) उस उपरोक्त चरु द्वारा पूजा करते हैं- सत्कार करते हैं । (ये) जो कि लोककृत् व पथिकृत् तुम (इह) यहांपर यज्ञमें (देवानां) देवोंके बीचमें (हुतभागाः) जिनके लिए कि भाग दिया गया है ऐसे (स्थ) स्थित हो ।

भावार्थ— जो संसारके उद्धारक व मार्गदर्शक लोक हैं उनका यज्ञमें नाना प्रकारसे निर्माण किए हुए चरुसे सत्कार करना चाहिए ।

लोककृत् लोग वे हैं जो कि इहलोक व परलोक को प्राप्त करानेवाले हैं । पथिकृत् वे लोग हैं जोकि इह लोक व परलोक का मार्ग दर्शानेवाले हैं । मंत्रका उत्तरार्ध पहिले आ चुका है । देखो अथर्व० १८।३।२५ से ३५ ॥

अपूपवान् दधिवाँश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः० ॥ अथर्व० १८।४।१७ ॥

अर्थ— (अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त तथा (दधिवान्) दहींमिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ।

अपूपवान् द्रप्सवाँश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः० ॥ अथर्व० १८।४।१८ ॥

अर्थ - (अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त तथा (द्रप्सवान्) अन्य मुग्ध करनेवाले द्रव्योंसे युक्त (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ।

द्रप्सका अर्थ सायणाचार्य ने ' दहीके कण ' ऐसा किया है ।

अपूपवान् घृतवाँश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः० ॥ अथर्व० १८।४।१९ ॥

अर्थ- (अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त तथा (घृतवान्) घीमिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकोंके बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥

अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः० ॥ अथर्व० १८।४।२० ॥

अर्थ- (अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त तथा (मांसवान्) मांसवाला (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ।

इसमंत्रमें मांसवाला चरु देनेका उल्लेख है । परन्तु यहां मांसका अर्थ क्या है इसका निर्णय करना कठिन है जबतक कि यह पता न कर लिया जावे कि वेदमें मांस शब्द किन किन अर्थोंमें आया है। सायणाचार्य तो मांस का अर्थ जो प्रचलित है वही मानते हैं।

पंडित क्षेमकरणदासजी यौगिक अर्थ करके 'मननसाधक बुद्धिवर्धक वस्तु' ऐसा करते हैं। अस्तु तथापि वेदमें आए हुए मांस शब्दवाले मंत्रों का संग्रह करके अर्थनिर्णय करना अधिक विश्वसनीय व निर्विवाद होगा ऐसा हमारा मानना है। पाठक इस पर विचार करेंगे ऐसी आशा है।

अपूपवानन्नवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः० ॥ अथर्व० १८।४।२१ ॥

अर्थ– (अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त तथा (अन्नवान्) अन्न अर्थात् नाना तरहके धान्योंवाला (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥

अपूपवान् मधुमांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः० ॥ अथर्व० १८।४।२२ ॥

अर्थ- (अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त (मधुमान्) मधु अर्थात् शहद अथवा मीठे पदार्थोंसे युक्त (चरुः) चरु (इह) यहां (आ सीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥

अपूपवान् रसवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः० । अथर्व० १८।४।२३ ॥

अर्थ- (अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त (रसवान्) अनेक खट्टे मीठे आदि रसों से मिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत्॥

अपूपवानपवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः० ॥
अथर्व० १८।४।२४ ॥

अर्थ-(अपूपवान्) मालपूये आदि से युक्त (अपवान्) जलवाला अर्थात् शुद्ध जलसे बनाया हुआ (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत्।

यहांपर यज्ञप्रकरण समाप्त होता है। हमारी सम्मतिमें अबतक के मंत्रोंका प्रकृत विषय यम व पितर से कोई संबन्ध नहीं है। यद्यपि सायणाचार्य ने इन उपरोक्त मंत्रोंकाभी किसी न किसी रूपमें प्रेतके साथ संबन्ध जोडते हुए अर्थ किया है। अस्तु सुज्ञ पाठक स्वयं भी इसका निर्णय कर सकते हैं। यहांसे आगे प्रकृत विषय के मंत्रों का प्रारंभ होता है। बीच बीचमें ऐसेभी थोडेसे मंत्र आवेंगे जिनसे कि प्रकरण का तांता टूटता रहेगा। वे मंत्र प्रायः ऋग्वेदके हैं व थोडेसे पाठभेदके साथ इस सूक्त में आए हुए हैं। बीच बीच में इस प्रकार के मंत्रोंके आनेका अभिप्राय क्या है यह एक विचारणीय बात है। उनकी अन्य आगेपीछेके मंत्रों के साथ कैसे संगति लगानी चाहिए यह एक समस्या अवश्य है। परन्तु उसका हल करना पर्याप्त कठिन है।

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन्
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥
अथर्व० १८।४।२५॥ यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः। तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानुमन्यताम् ॥
अथर्व० १८।४।२६॥

ये दोनों मंत्र पहिले (अथर्व० १८।३।६८, ६९) आ चुके हैं और वहां पर इनकी व्याख्या की जा चुकी है। पाठक वहीं से आर्थादि देख लेवें।

अक्षितिं भूयसीम् ॥ अथर्व० १८।४।२७

अर्थ- मंत्र २६ में यमराजासे जो अनुमति मांगी गई है उसकी अवधि दर्शाते हुए यहां कहा गया है कि (भूयसीम्) बहुत अर्थात् (अक्षितिं) क्षयरहित अर्थात् बहुत कालपर्यन्त यम राजा अनुमति देवे।

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः। समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः। अथर्व० १८।४।२८॥

अर्थ- (द्रप्सः) सबको हर्षित करनेवाला आदित्य (यः पूर्वः) जो कि सबसे पूर्वका है ऐसा (योनिं पृथिवीं अनु) चराचर जगत् की कारणभूत पृथिवीमें (च) और (इमं द्यां अनु) इस द्युलोकमें (चस्कन्द) विचरण करता रहता है, अथवा उसने इनको व्याप्त कर रखा है। (समानं योनिं अनु संचरन्तं) सबकी समान कारणभूत इस पृथिवीमें संचार करते हुए (द्रप्सं) हर्षप्रद आदित्यको (सप्त होत्राः अनु) दिशाओंमें (जुहोमि) हविप्रदान करता हूं।

भावार्थ- आदित्य द्यु तथा पृथिवी दोनोंमें संचार करता हुआ दोनों में व्याप्त हो रहा है। ऐसे हर्षप्रद

आदित्यके लिए सर्व दिशाओंमें होम करता हूं।

यह मंत्र कुछ पाठभेदके साथ ऋग्वेद(१०।१७।११) में है तथा ऐसा का ऐसा ही यजुर्वेद (१३।५)में आया हुआ है। वाजसनेय ब्राह्मण ने इसमंत्रका अर्थ करते हुए द्रप्स का अर्थ आदित्य किया है। और शतपथ ब्राह्मणने भी ऐसा ही माना है। शतपथ ब्राह्मणका वचन इस प्रकार है-

'असौ वा आदित्यो द्रप्सः। स दिवं च पृथिवीं च स्कन्दति। इमं च योनिमनु यश्च पूर्व इति। इमं च लोकं अमुं चेत्येतत्। समानं योनिमनु संचरन्तं इति। समानं ह्येष एतं योनिमनु संचरति॥ द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्रा इति॥ असौ वा आदित्यो द्रप्सः। दिशः सप्त होत्राः॥ अमुं तदादित्यं दिक्षु प्रतिष्ठापयति' इति (श० ब्रा० ७।४।१।२०॥)

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम्। ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम्॥
अथर्व० १८।४।२९॥

अर्थ— (ते) वे (नृचक्षसः) मनुष्यों के देखनेवाले अर्थात् मनुष्यों को जाननेवाले-मनुष्योंके स्वभाव आदिको ताडनेवाले बुद्धिमान् मनुष्य (शतधारं) सैंकडों धाराओंवाले अर्थात् जो अनेक प्रकारके दानोंमें पानी की तरह बहाया जाता है ऐसे अतएव (वायुं) गतिमान्, आज एकके पास दानमें आया है तो कल दूसरेके पास, इस प्रकारसे विचरण करते हुए, (अर्कं) पूजनीय (स्वर्विदं) सुखको प्राप्त करानेवाले (रयिं) धनको (अभिचक्षते) देखते हैं अर्थात् जानते हैं प्राप्त करते हैं। (ये) जो मनुष्य (सर्वदा) सदा उस धनसे (पृणन्ति) अपनेको पूर्ण करते रहते हैं (च) और (प्रयच्छन्ति) सर्वदा सुपात्रके लिए उस धनका दान करते रहते हैं (ते) मनुष्य (सप्तमातरं दक्षिणां) सप्तमातावाली दक्षिणा(दान) को (दुह्रते) दोहते हैं- प्राप्त करते हैं।

भावार्थ- जो धन कमाकर उसका सदुपयोगमें अर्थात् दानादिमें खर्च करते हैं वे दुनियामें प्रतिष्ठा लाभ कर इहलोक व परलोक दोनोंमें सुखी होते हैं।

सप्तमाता दक्षिणा - यह विचारणीय है। सायणाचार्यने इसका अर्थ किया है कि सप्त संख्याक अग्निष्टोमादि जिसके मातृभूत हैं, अथवा सात संख्यावाले याज्ञिक कर्म करनेवाले होता आदि जिसमें हैं ऐसी। यह मंत्र कुछ भेदसे ऋग्वेद (१०।१०७।४) में आया है।

कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये। ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥ अथर्व० १८।४।३०॥

अर्थ- (स्वस्तये) कल्याणके लिए (चतुर्बिलं) चारस्तनरूपी छिद्र स्तनवाले (कोशं) मानो जो दूधका खजाना है ऐसे (कलशं) घडेसे बडे भारी ऊधवाली, (मधुमतीं) मीठे दूधवाली (इडां धेनुं) इडा नामवाली गायको (दुहन्ति) दोहते हैं (अग्ने) हे अग्नि! (जनेषु ऊर्जं मदन्ती) जन समाज में अपने दूधरूपी अन्नसे तृप्त करती हुई (अदितिं) मारनेके अयोग्य गायको (परमे व्योमन्) विश्वमें (मा हिंसीः) मत मार। अथवा यह मंत्र भूमिके पक्षमें भी लग सकता है- कल्याणके लिए धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूपी चारस्तनोंवाली नानाविध द्रव्योंके खजानोंसे भरपूर मधुर अन्नादि देनेवाली (इडां धेनु) भूमिरूपी गायको दोहते हैं। अन्नादिसे जन - समाजको तृप्ति करती हुई अखण्डनीय भूमिको हे अग्नि! परम व्योममें मत नष्ट कर।

इन उपरोक्त ३ मंत्रों (२८,२९,३०) का प्रकृत प्रकरणसे कोई संबन्ध प्रतीत नहीं होता है।

एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे। तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर॥
अथर्व० १८।४।३१॥

अर्थ— हे पुरुष! (सविता देवः) प्रेरक देव (ते) तेरे लिए (भर्तवे) पहिननेके लिए (एतत् वासः) यह वस्त्र (ददाति) देता है। (तत् तार्प्यं) उस तृप्ति करनेवाले वस्त्रको (वसानः) पहिनकर (यमस्य राज्ये) यम के राज्य में (चर) विचरण कर।

इस मंत्र में मृत पुरुष को जो कि यम लोक में पहुंच गया है उसको वस्त्र देने का विधान है।

पूर्वोक्त मंत्र २६ में जो तिलमिश्रित धान देनेका उल्लेख है वे तिलमिश्रित धान यमराज्यमें जाकर किस रूपमें परिणत हो जाते हैं यह निम्न लिखित मंत्र बतला रहा है-

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति ।
अथर्व० १८ । ४ । ३२ ॥

अर्थ- यम- लोकमें जाकर ऊपरोक्त मंत्रानुसार दिए गए (धाना) धान (धेनुः) तृप्त करनेवाली गौ (अभवत्) बनता है । (अस्याः) और इस धानरूपी गौका (वत्सः) बछडा (तिल) तिल (अभवत्) बनता है । (वै) निश्चयसे (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें वह (तां) उस धानों की बनी हुई गाय परही (उप जीवती) आश्रित हुआ हुआ जीता है ।

यहां पर धान तथा तिल यम- राज्यमें जाकर किस स्वरूप में परिणत हो जाते हैं यह दर्शाया गया है । इन दोनों मंत्रानुसार धान व तिल यम-लोकमें रहते हुए के लिए देने चाहिए क्यों कि उसके जीने के ये एकमात्र आधार हैं ।

एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु । एनीः
श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु
त्वात्र ॥ अथर्व० १८।४।३३ ॥

अर्थ— (असौ) हे अमुक नाम वाले पुरुष ! (एताः) ये गायें (ते) तेरे लिए (कामदुघाः) कामनाओंको पूर्ण करनेवालीं (भवन्तु) होवें । (एनीः) संध्या जैसे रंगवाली अर्थात् लाल रंग वालीं, (श्येनीः) सफेद, (सरूपाः) एकसे रूपवाली व (विरूपाः) विविध रूपवालीं तथा (तिलवत्साः) तिल है बछडा जिनका ऐसी गायें (अत्र) यहां जहां तेरा वास है वहां (त्वा उप तिष्ठन्तु) तेरे समीप स्थित रहें वा तेरी सेवा करती रहें ।

तिलवत्सा— इसका उल्लेख ३२ मंत्रमें किया जा चुका है ।

भावार्थ- हे अमुक नाम वाले पुरुष ! ये नाना रंगों व रूपों वालीं गायें सर्वदा तेरे समीप बनी रहें व तेरी कामनाओंको पूर्ण करती रहें ।

अब अगले मंत्र ३४ वेंमें एनी आदि ३३ मंत्रोक्त गायें कौन कौनसी हैं इसका स्पष्टीकरण करते हैं-

एनी र्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना
रोहिणी र्धेनवस्ते । तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना
विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः ॥ अथर्व० १८।४।३४॥

अर्थ- (अस्य ते) इस तेरे (हरिणीः धानाः) हरे रंग वाले धान (एनीः श्येनीःधेनवः) अरुण व सफेद गायें होवें ! (कृष्णाः धानाः) काले धान (रोहिणीः धेनवः) लाल रंगकी गायें होवें । (तिलवत्साः) तिल जिनका बछडा है ऐसी ये गायें (अनपस्फुरन्तीः) कभीभी नष्ट न होतीं हुई (अस्मै) इसके लिए (विश्वाहा) सर्वदा (ऊर्जं दुहानाः सन्तु) बलदायक रस दूधको दोहती रहें ।

भावार्थ- हरे रंगके कच्चे धान अरुण व श्वेत रंगकी गायें बनती हैं । और काले धान तिल आदि अथवा भूननेसे जो कुछ कुछ काले रंगके हो गए हैं ऐसे धान लाल गायें बनते हैं । ये सब गायें सदा अविनश्वर हुई हुई अपने सारभूत रस दूधको देती रहें ।

मंत्र ३३ वां व ३४ वां ३२ वें मंत्रका स्पष्टीकरण करते हुए प्रतीत होते हैं । इन पर विशेष विचार करना जरूरी है ।

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमु-
त्सम् । स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान्
बिभर्ति पिन्वमानः ॥ अथर्व० १८ । ४ । ३५ ॥

अर्थ- (वैश्वानरे इदं हविः जुहोमि) वैश्वानर अग्निमें यह हवि डालता हूं जो कि हवि (शतधारं साहस्रं उत्सं इव) सैंकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतके समान सैंकडों व हजारों धाराओंवाली है । (सः) वह वैश्वानर अग्नि (पिन्वमानः) उस हविसे तृप्त हुई हुई (पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति) पिताका, दादाओंका तथा परदादाओं का धारणपोषण करती है ।

यहां पर अग्निको वैश्वानरके नामसे कहा गया है । वैश्वानरका अर्थ है सब नरोंको ले जानेवाला। अग्नि सब मनुष्योंको ले जाती है । अंत्येष्टिमें सब मनुष्योंको अग्निमें जलाया जाता है और फिर अग्नि सबको पितृलोकमें ले जाती है जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं । इस प्रकार अग्नि वैश्वानर है। पित-

रोंके लिए जो कुछ देना हो वह अग्निको देना चाहिए वह उन्हें पहुंचाती है और इस प्रकार उनका धारणपोषण करती है।

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे। ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः॥ अथर्व० १८।४।३६॥

अर्थ- (शतधारं सहस्रधारं उत्सं) सैंकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतकी तरह जो हजारों व सैंकडों धाराओंसे युक्त है ऐसे, और जो (सलिलस्य पृष्ठे व्यच्यमानं) अंतरिक्षके ऊपर व्याप्त हैं ऐसे, (ऊर्जं दुहानं) अन्न व बलको देनेवाले, (अनपस्फुरन्तं) कभी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविको (पितरः) पितर (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (उपासते) सेवन करते हैं।

यहां पर हवि शब्द का अध्याहार पूर्व मंत्रसे करना पडता है क्यों कि संपूर्ण मंत्रमें आए हुए विशेषणों का कोइ भी विशेष्य नहीं है।

पितृगण स्वधा के साथ हवि खाते हैं इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि स्वधा कोई भिन्न वस्तु ही है।

इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् सजाता अव पश्यतेत। मर्त्योयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु॥ अथर्व० १८।४।३७॥

अर्थ- (इदं कसाम्बु) इस कसाम्बु को (चयनेन) चुनकर के (चितं) ढेर लगाया है-इकट्ठा किया है। (तत्) उस को (सजाताः) हे सजातीय बन्धुगण! (एत) आओ और (अवपश्यत) ध्यानसे देखो। (अयं मर्त्यः) यह मनुष्य जिसका कि कसाम्बु चयन किया गया है वह (अमृतत्व) अमरताको (एति) प्राप्त होता है। (तस्मै) उसके लिए (यावत् सबन्धु) जितने भी तुम सजातीय बन्धु हो वे सब (गृहान् कृणुत) घरों को बनाओ अर्थात् उसे घर आदि द्वारा आश्रयप्रदान करो।

भावार्थ यह कसाम्बु का संचय किया गया है उसे हे बन्धुगणो! आकर देखो। यह मनुष्य जिसका कि कसाम्बु- संचय किया गया है वह अमृत को प्राप्त होवे। उसे तुम सब आश्रय देकर सुखी करो।

इस मंत्रमें आए हुए कसाम्बु शब्दका अर्थ विचारणीय है। सायणाचार्य ने इसका अर्थ हड्डियां व जल ऐसा किया है। पं० क्षेमकरणदासजीने ' शासन का कीर्तन' ऐसा किया है।

इहैवैधि धनसनिरिहचित्त इहक्रतुः। इहैधि वीर्यवत्तरो वयोधा अपराहतः॥ अथर्व १८।४।३८॥

अर्थ- हे मनुष्य! तू (इह एव एधि) यहीं परही वृद्धि को प्राप्त कर। (इह) यहांपर (चित्तः) ज्ञानवान् हुआहुआ व (इह) यहांपर (क्रतुः) कर्मशील हुआ हुआ व (धनसनिः) हमें धन देनेवाला हो। (इह) यहां परही (वीर्यवत्तरः) अति बलवान् हुआ हुआ और अतएव (अपराहतः) शत्रुओंसे अपराजित हुआ हुआ (वयोधाः) अन्नका धारण करनेवाला व अन्नसे दूसरोंका पोषण करता हुआ अथवा दीर्घायुवाला हो कर (एधि) बढ।

भावार्थ- हे मनुष्य! तू ज्ञानी व कर्मकुशल होकर हमें धन-प्रदान करता हुआ संसार- वृद्धिको प्राप्त कर। बलवान् हुआ हुआ किसीसे भी पराजित न होकर जनसमाज की अन्नादिसे पुष्टि करके दीर्घायु होकर वृद्धिका लाभ कर।

पुत्रं पौत्रमभि तर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः। स्वधां पितृभ्यः अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु॥ अथर्व० १८।४।३९॥

अर्थ- (पुत्रं पौत्रं अभि तर्पयन्तीः) पुत्रपौत्रादियोंको पूर्णतया तृप्त करते हुए (इमाः मधुमतीः आपः) ये मधुर जल हैं। (पितृभ्यः स्वधां अमृतं दुहानाः) पितरोंके लिए स्वधा व अमृतका दोहन करते हुए (देवीः आपः) ये दिव्य जल (उभयान्) दोनों पुत्रपौत्रोंको (तर्पयन्तु) तृप्त करें।

भावार्थ- ये मधुर जल पुत्रपौत्रोंको तृप्त करते हुए पितरोंके लिए स्वधा व अमृत को दोहते हुए दोनों पुत्रपौत्र व पितरोंको तृप्त करें।

आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम्। आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नियच्छात्॥ अथर्व० १८।४।४०

अर्थ- (आपः) हे आप! तुम (अग्निं पितॄन् उपप्रहिणुत) अग्नि को पितरों के पास भेजो। (मे पितरः) मेरे पितृगण (इमं यज्ञं जुषन्ताम्) इस यज्ञका

सेवन करें। (ये) जो पितर (आसीनां ऊर्जं उपसचन्ते) उपस्थित अर्थात् हमारे से दिए गए अन्नका सेवन करते हैं (ते) वे पितर (नः) हमें (सर्ववीरं रयिं) सब प्रकारकी वीरतासे युक्त धन-संपत्ति को (नियच्छात्) निरन्तर देते रहें।

इस मंत्र में आप अर्थात् जलोंसे कहा गया है कि वे अग्नि को पितरों के पास ले जाएं जिससे कि अग्नि में होमा हुआ हवि पितरों को पहुंच सके। इस भावका दूसरा मंत्र अभीतक हमारी दृष्टिमें नहीं पडा है। जल यज्ञाग्निको पितरों के पास कैसे ले जाते हैं यह एक विचारणीय विषय है। इस मंत्रके विषयमें विशेष विचार अपेक्षित है।

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम्।
स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो
गतान् ॥ अथर्व० १८।४।४१ ॥

अर्थ- (अमर्त्यं) मरणधर्मसे रहित (घृतप्रियं) जिसको घी बहुत प्रिय है ऐसी (हव्यवाहं) हव्यों का वहन करनेवाली अग्निको पितृगण (समिन्धते) अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं। और (सः) वह अग्नि (निहितान् निधीन्) छिपेहुए खजानों की तरह [यहां लुप्तोपमा है] (परावतो गतान् पितॄन्) दूरगत पितरोंको (वेद) जानती है।

यहांपर यह बताया गया है कि छिपे हुए खजानों की तरह जो पितर सर्वथा आंखोंसे ओझल हैं अर्थात् सर्वथा अदृश्य हैं (चाहे वे दूर देशमें जानेसे अदृश्य हों या परलोकवासी होनेसे अदृश्य हों) उन्हें अग्नि जानती है। इसी लिए अग्निसे कहा गया है कि वह पितरोंको हवि पहुंचाए और इसी लिए वही पहुंचा सकती है।

यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥
अथर्व० १८।४।४२॥

अर्थ- (ते) तेरे लिए (यं मन्थं) जिस मंथ अर्थात् मथनेसे-विलोडनेसे प्राप्त पदार्थ मक्खन आदि को और (यं ओदनं) जिस भातको (यत् मांसं) जिस मांसको (ते) तेरे लिए (निपृणामि) देता हूं। (ते) वे सब (स्वधावन्तः मधुमन्तः घृतश्चुतः) स्वधावाले, मधुरतासे युक्त तथा घीसे परिपूर्ण (ते सन्तु) तेरे लिए होवें।

इस मंत्रमें आए हुए मांस शब्द पर विचार करना चाहिए। अन्य वेद मंत्रोंमें प्रयुक्त मांस शब्दके अर्थ के साथ तुलना करनी जरूरी है। इस पर विशेष लिख चुके हैं।

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्रा, स्वधावतीः। तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो
राजानुमन्यताम् ॥ अथर्व० १८।४।४३ ॥

यह मंत्र अ० १८।३।६९ में तथा ऊपर १८।४।२६ में आ चुका है। वहांपर इसकी व्याख्या हो चुकी है।

इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः
परेताः। पुरो गवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा
वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥ अथर्व० १८।४।४४ ॥

अर्थ— (इदं) यह सामने स्थित (पूर्वं) पुरातन तथा (अपरं) आज की (नियानं) बैलगाडी है। (येन) जिस पुरानी बैलगाडी से (ते पूर्वे पितरः परेताः) तेरे पुरातन पितर यहां से गए हैं। (अस्य) इस आज की बैलगाडी के (अभिशाचः) दोनों ओर जुतकर जाते हुए, (जैसा कि बैलगाडी में बैल दोनों ओर पार्श्वों में जुते हुए, होते हैं) (पुरोगवाः) अगले भागमें अर्थात् धुरा में जुते हुए जो बैल हैं (ते) वे बैल (त्वा) तुझे (सुकृतां लोकं) सुकृतों के लोकमें (वहन्ति) प्राप्त करावें।

नियानं- नीचीनं पराङ्मुखं यान्ति अनेन प्रेता इति नियानं शकटम्।

ऊपर लिखित अर्थ सायणाचार्य के अनुसार है। उन्होंने इस मंत्रद्वारा दर्शाया है कि प्रेतको स्मशान मे बैलगाडीसे ले जाना चाहिए।

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे
वार्यं दात् ॥ अथर्व० १८।४।४५

अर्थ- (देवयन्तः) देव होने की कामना करते हुए मनुष्य (सरस्वतीं) सरस्वतीके (हवन्ते) बुलाते हैं। (तायमाने) विस्तृत (अध्वरे) हिंसा-रहित यज्ञादि कार्य में बुलाते हैं। (सुकृतः) श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वती

को बुलाते हैं। (सरस्वती) सरस्वती (दाशुषे) दानी पुरुषके लिए (वार्यं) वरणीय अभिलषित पदार्थ (दात्) देती है।

भावार्थ- देवत्व की कामना करनेवाले सरस्वती को बुलाते हैं। यज्ञादि हिंसारहित कार्योंमें सरस्वतीको बुलाया जाता है। श्रेष्ठ जन सरस्वती को बुलाते हैं क्यों कि सरस्वती दानीको वांछित फल प्रदान करती है।

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः। आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आधेह्यस्मे ॥ अथर्व० ॥ १८।४।४६ ॥

अर्थ- (दक्षिणा) दक्षिण दिशासे आकर (यज्ञं अभि नक्षमाणाः पितरः) यज्ञको सब ओर से प्राप्त करते हुए जो पितर (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वतीको बुलाते हैं। वे तुम (अस्मिन् बर्हिषि) इस यज्ञमें (आसद्य) बैठकर (मादयध्वं) आनन्दित होओ। (अस्मे) हमें (अनमीवाः इषः) रोगरहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खानेसे किसीभी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको हे सरस्वती! तू (आधेहि) दे।

पितरोंकी दक्षिण दिशा है यह हमें अन्य वेद-मंत्र दर्शाते हैं अतः हमने ऊपर दक्षिणाके साथ (आगत्य) आकर इतना अध्याहार करके अर्थ किया है। इस मंत्रमें पितर सरस्वती को यज्ञमें बुलाते हैं यह दर्शाया गया है।

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभि र्देवि पितृभिर्मदन्ती। सहस्रार्धमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ अथर्व० १८।४।४७ ॥

अर्थ- (सरस्वति देवि) हे सरवस्वती देवी!(या) जो तू (पितृभिः स्वधाभिः मदन्ती) पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई (सरथं) पितरोंके साथ समान रथ पर आरोहण करती हुई (ययाथ) आई है। वह हे सरस्वती ! तू (अत्र) इस यज्ञमें (यजमानाय) यजमानके लिए (सहस्रार्धं इडः भागं) हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और (रायस्पोषं) धनकी पुष्टि को (धेहि) दे।

इस मंत्रमें सरस्वतीका पितरोंके साथ समान रथपर चढना, स्वधा खाना व यज्ञमें आना दर्शाया गया है।

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामावेशयामि देवो नो धाता प्रतिरात्यायुः। परा परैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु संभवन्तु ॥

अथर्व० १८।४।४८॥

अर्थ- (पृथिवीं त्वां पृथिव्यां आवेशयामि) मिट्टी से बने हुए हे मृतपुरुष ! तुझको मिट्टी में मिला देता हूं अर्थात् तुझे पृथिवी में गाडता हूं। (धाता देवः नः आयुः प्रतिराति) धारक देव हमारी आयु को बढावे। हे (परापरैताः) प्रकृष्टतया हम से दूर चले गए पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए धाता देव (वसुविद् अस्तु) वास करनेवाला हो-तुम्हारा आश्रयदाता हो। (अध) और (मृताः) मृत (पितृषु संभवन्तु) पितरों में अच्छीतर होवें अर्थात् पितरोंमें जा मिलें।

इस मंत्रके पूर्वार्ध में मृत देह के गाडने का निर्देश मिलता है। यह मानव देह पार्थिव तत्वों के आधिक्य से बना हुआ है, अतएव यहांपर मृतदेह को पृथिवी (मिट्टी) के नाम से पुकारा गया है।

आ प्रच्यवेथामपतन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः। अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विह भोजनौ मम ॥ अथर्व० १८।४।४९॥

अर्थ- हे प्रेतवाहक बैलो ! (युवां) तुम दोनों (आ प्रच्यवेथाम्) बैलगाडीसे वियुक्त होओ। (तत्) उस वक्ष्यमाण (जो आगे कहा जायगा) निन्दारूप वाक्य से (अप मृजेथां) शुद्ध होओ। उस निन्दारूप वाक्य को जिससे कि ऊपर शुद्ध होने को कहा गया है, कहते हैं-(अभिभाः) दोष देनेवाले पुरुषों ने (वां) तुम दोनों को 'पुंगवौ किल अस्पृश्यं अनिरीक्ष्यं प्रेतं ऊढवन्तौ' इत्यादि निन्दारूप, (यत् ऊचुः) जो वाक्य कहा है उससे शुद्ध होओ। (अघ्न्यौ) हे हिंसा करने के अयोग्य बैलो ! (अस्मात्) इस निन्दा की कारणभूत गाडी से (एतं) जो छूट आना है (तत्) वह (वशीयः) श्रेष्ठ होवे। और तब (इह)इस पितृमेध में (पितृषु दातुः मम)पितरोंका उद्देश्य करके अग्नि को देते हुए वा हविको

देते हुए मेरे (भोजनों) पालना करनेवाले होओ।

इस मंत्र में स्मशान में जाकर बैलगाडी छोडने का वर्णन है ऐसा सायणाचार्य के भाष्य का अभिप्राय है। उपरोक्त अर्थ उनके अनुसार दिया गया है।

दक्षिणा व पितर ।

एयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः । यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्यः उप संपराणयादिमान् ॥
अथर्व० १८ । ४ । ५०॥

अर्थ- (सुदुघा) उत्तमतया कामनाओं को पूर्ण करनेवाली (वयोधाः) अन्न को देनेवाली (अनेन दत्ता) इससे दी हुई (इयं दक्षिणा) यह दक्षिणा (भद्रतः नः आ आगन्) कल्याणकारी स्थान से अथवा कल्याणकारी स्वरूपसे हमें प्राप्त हुई है । इससे हमारा अकल्याण नहीं होगा । (यौवने जीवान् उपपृञ्चती जरा इव) जिस प्रकार युवावस्थाके चले जानेपर जीवों को वृद्धावस्था अवश्य आती है उस प्रकार यह दक्षिणा (इमान्) इन जीवों को (पितृभ्यः) पितरों के लिए भली प्रकार (उप संपराणयात्) प्राप्त करावे अर्थात् पितरों के पास उत्तम रीति से पहोंचावे ।

इस मंत्र में स्पष्ट शब्दों में दक्षिणा का माहात्म्य दर्शाया गया है । दक्षिणा देनेसे पितरों की प्राप्ति होती है । जिस प्रकार युवावस्थाके चले जानेपर वृद्धावस्था अवश्यं भाविनी है उसी प्रकार दक्षिणा देनेवाले को पितरों की प्राप्ति भी अवश्यं भाविनी है, ऐसा इस मंत्र में उपमाद्वारा स्पष्ट सूचित किया गया है। पाठक दक्षिणा के इस महत्वपर अवश्यमेव विचार करें ।

इदं पितृभ्यः प्रभरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि । तदारोह पुरुष मेध्योभवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ॥ अथर्व १८ ।४। ५१॥

अर्थ- (इदं बर्हि पितृभ्यः प्रभरामि) यह कुशासन पितरों के लिए रखता हूं, बिछाता हूं, (देवेभ्यः जीवं उत्तरं स्तृणामि) देवों के लिए जीवको उससे ऊंचा बिछाता हूं। (पुरुष)हे पुरुष ! (मेध्यः भवन्) पवित्र होता हुआ तू (तत् आरोह) उस पर बैठ । (परेतं त्वां पितरः प्रति जानन्तु) परेत अर्थात् परे गए हुए वा उच्चासनको प्राप्त हुए हुए तुझे पितर जानें ।

एदं बर्हिरसदो मेध्यो भूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम्। यथा परु तन्वं संभरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि ॥ अथर्व० १८।४।५२॥

अर्थ—हे पुरुष ! (इदं बर्हिः असदः) इस कुशासन पर तू बैठा है। (मेध्यः भूः) पवित्र हुआ है। (पितरः परेतं त्वां जानन्तु) इसलिए पितर परेत हुए हुए तुझको जानें । (यथा परु तन्वं संभरस्व) जोडोंके अनुसार शरीरको भर, अर्थात् जहां जोड चाहिए वहां जोड बनाता हुआ शरीरको पूर्ण कर। मैं (ते गात्राणि) तेरे अंगोंको (ब्रह्मणा) ब्रह्मद्वारा (कल्पयामि) समर्थ बनाता हूं यानि तेरे शरीरमें ब्रह्मद्वारा शक्ति देता हूं ।

उपरोक्त दोनों मंत्रों का क्या अभिप्राय है यह अभीतक हमें स्पष्ट नहीं हुआ है । अतएव इन मंत्रों का कहां विनियोग होना चाहिए इस बातका निश्चय नहीं हो सकता है।

पर्णो राजा पिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन् । आयु र्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ अथर्व० १८।४।५३॥

अर्थ—(पर्णः राजा) पालक राजा (चरूणां) चरुओंको ढक्कन है । (ऊर्जः) अन्न, (बलं)बल, (सहः) शत्रु का नाश करनेका सामर्थ्य, (ओजः) तेज ये सब (नः) हमें उस पर्ण राजासे (आ अगन्) प्राप्त होवें । (शतशारदाय दीर्घयुत्वाय) सौ वर्ष जितनी दीर्घायु के लिए (जीवेभ्यः) जीवितों के लिए (आयुः विदधत्) आयु करे अर्थात् १०० वर्ष की दीर्घायु देवे ।

भावार्थ- पर्ण राजा चरुओं का ढक्कन है। वह हमें अन्न,बल, तेज आदि देता है। वह हम जीवोंको १०० वर्ष की दीर्घायु देवे ।

' पर्ण राजा चरुओं का ढक्कन है ' इसका क्या अभिप्राय है यह विचारणीय है । सायणाचार्यने पर्ण का अर्थ पता कर के ढाक (पलाश) वृक्षके पत्तोंसे चरु के ढांकने का अभिप्राय बताया है।

चरु- इसकी व्याख्या पहिले मंत्र १६ में की जा चुकीहै ।

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम। तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात्॥ अथर्व० १८।४।५४॥

अर्थ- (यः) जिस (ऊर्जःभाग) अन्नके विभाग करनेवालेने (इमं) इस अन्नको (जजान) पैदा किया है और जो(अश्मा)अश्मा होनेसे(अन्नानां आधिपत्यं) अन्नों के स्वामीत्वको (जगाम)प्राप्त हुआ है ऐसे(तं) उसको हे सबके मित्रो! (हविर्भिः) हवियोंद्वारा(अर्चत) पूजा करो। (सः) वह (यमः) यम (नः) हमें (प्रतरं जीवसे धात्) बहुत जीनेके लिए धारण करे अर्थात् दीर्घायु देवे।

इसमंत्रमें यम से दीर्घायु देनेके लिएप्रार्थना की गई है। 'अश्मा अन्नानां आधिपत्यं जगाम' इसका अभिप्राय विचारणीय है। भाव व्यक्त नहीं होता है॥

यथा यमाय हर्म्यमवपन् पंचमानवाः॥ एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत॥
अथर्व० १८।४।५५॥

अर्थ- (यथा) जिस प्रकार(पंचमानवाः)पांच मानवोंने (यमाय) यमके लिए (हर्म्यं) घरको (अवपन्) बनाया है (एव) उसी प्रकार मैं भी (हर्म्यं वपामि) घर बनाता हूं (यथा) जिससे कि (मे) मेरे(भूरयः) बहुत से घर (असत)हो जावें॥

पंचमानवाः- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण व पांचवा निषाद। अथवा देव मनुष्यादि पूजन, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है- 'सर्वेषां वा एतत् पंचजनानां उक्थं देव मनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां पितृणां च। एतेषां वा एतत् पंचजनानां उक्थाम्' इति। ऐ० ब्रा० ३।३१॥

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि जिसको अपने घरोंके बढानेकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बंधवावे। पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं।

मनुष्य- देहसे प्राणके निकल जानेपर उसकी प्रेत संज्ञा होती है। जब प्राण निकल जानेको हों उस समय क्या करना चाहिए यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है।

इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा। स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम्॥
अथर्व० १८।४।५६

अर्थ—हे मरणासन्न पुरुष! (इदं हिरण्यं बिभृहि) इस सोने को धारण कर, (यत्)जिस सोनेको कि (पुरा) पहिले(ते पिता अबिभः) तेरे पिता ने धारण किया था। इस प्रकार हे मनुष्य! (स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणं हस्तं निर्मृड्ढि) स्वर्ग को जाते हुए पिताके दांये हाथको सुशोभित कर।

निर्मृड्ढि- 'मृज् शौचालङ्कारयोः' से बना है। मृज् धातुका अर्थ शुद्ध करना व सुशोभित करना है।

इस मंत्रमें दर्शाई गई क्रिया हम अभीतक कई हिंदु जातियों में पाते हैं। मरनेसे पूर्व मरणासन्न के दांये हाथमें सोनेकी अंगूठी पहनाई जाती है। सायणाचार्यने 'हिरण्य' का अर्थ सोनेकी अंगुठी किया है अतः संभव है उनके समय में यह रिवाज हिन्दुजाति में सर्वसाधारण होगा।

इस मंत्र पर उनका भाष्य भी इसी बातका समर्थन कर रहा है।

ये च जीवा ये च मृताः ये जाता ये च यज्ञियाः। तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती॥
अथर्व० १८।४।५७

अर्थ- (ये च जीवाः) जो जीवित हैं और (ये च मृताः) जो मर गए हैं, (ये जाताः) और जो उत्पन्न हुए है, (ये च यज्ञियाः)और जो कि पूजनीय, संगति करने योग्य हैं (तेभ्यः) उन उपरोक्तों के लिए (मधुधारा) मधुरधारावाली (व्युन्दती) उमडती हुई (घृतस्य) घी वा जल की (कुल्या) छोटी नदी (एतु) प्राप्त होवे।

भावार्थ- जीवित, मृत, उत्पन्न तथा अन्य पूजनीयों को मधुरधारावाली बहती हुई छोटीसी जल वा घी की नदी प्राप्त होवे।

इस मंत्र में क्या जीवित और क्या मृत, सबके लिए जल वा घृत की कुल्या प्राप्त होने का उल्लेख है। यह मंत्र विशेष विचारणीय है। पाठक इस पर विचार करेंगे ऐसी आशा है।

वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः। प्राणः सिन्धूनां कलशां अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया॥ अथर्व० १८।४।५८

अर्थ- (विचक्षणः) विशेषतया देखनेवाला (वृषा) अभिमत कामनाओं का वर्षक (मतीनां पवते) मतियोंका पवित्र करनेवाला है। (सूरः) सूर्य (अह्नां) दिनरातका, (उषसां) उषाओंका तथा (दिवः) द्युलोकका (प्रतरीता) बढानेवाला है। (सिन्धूनां प्राणः) नदियोंका प्राण (कलशान्) घडों को जलधाराओं से (अचिक्रदन्) गुंजाता है। (मनीषया) मनकी इच्छानुसार (इन्द्रस्य) इन्द्रके (हार्दिं) हृदयमें (आविशन्) प्रवेश करता है। भावार्थ—स्पष्ट है।

त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षंछुक्र आततः।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥
अथर्व० १८।४।५९ ॥

अर्थ- (पावक) हे पवित्र करनेवाली अग्नि ! (ते) तेरा (शुक्रः) शुद्ध (आततः) सब तरफ फैला हुआ (त्वेषः) प्रकाश (दिवि) द्युलोकमें (धूमः) धूंए की तरह (ऊर्णोतु) सबको ढकले। (द्युता) अपने प्रकाशसे (सूरः न) सूर्य की तरह (त्वं) तू (कृपा) कृपा करके (रोचसे) दीप्त होता है।

भावार्थ— हे अग्नि ! तेरा तेज सर्वत्र इस प्रकारसे फैलकर सबको ढकले जिस प्रकार कि धूंआ सबको ढक लेता है। जिस प्रकार सूर्य स्वप्रकाशसे चमकता है उसी प्रकारसे तू भी हमारे पर कृपा करती हुई चमकती रह।

यह मंत्र ऋग्वेद (६।२।६) में कुछ भेदसे है।

प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः। मर्य इव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा ॥ अथर्व०१८।४।६०

अर्थ— (इन्दुः) ऐश्वर्य देनेवाला सोम (इन्द्रस्य निष्कृतिं) इन्द्र अर्थात् यज्ञ करनेवाला ऐश्वर्यशाली पुरुष निष्कृतिको (प्र एति) अच्छी तरहसे प्राप्त होता है अर्थात् इन्द्र सोम को अच्छी तरहसे निचोडता है। जैसे कि (सखा) मित्र (सख्युः) मित्रकी (संगिरः) उत्तम वाणियोंको (न प्रमिनाति) नहीं तोडता अर्थात् अवश्य ही उसके वचनानुसार काम करता है उसी प्रकार इन्द्रभी अवश्य ही सोम का रस निचोडता है। और इस प्रकार सोम-रस निचोडने पर (मर्यः योषाः इव) जिस प्रकार पुरुष स्त्रीसे संगत होता है उसी प्रकार (सोमः) सोम तू (कलशे) सोम निचोडनेके पात्र घडेमें (शतयामना पथा) सैंकडों प्रकारकी गतिवाले मार्गसे अर्थात् निचोडने पर कई धाराओंसे (सं अर्षसे) अच्छी प्रकारसे आता है।

भावार्थ— इन्द्र सोमको निचोडनेके कार्यको नहीं टालता जैसे कि मित्र मित्रकी वाणीको नहीं टालता। सोम निचोडा जानेपर कई धाराओंमें घडेमें इस प्रकारसे आकर प्राप्त होता है जिस प्रकारसे कि पुरुष स्त्री को प्राप्त करता है।

निष्कृति= निष्कर्ष= निचोड। यह मंत्र ऋग्वेद (९।८६।१६) में है। ऋग्वेद का संपूर्ण नवम मण्डल सोम पर है। उसमें इस याज्ञिक सोमका वर्णन है।

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियां अधूषत। अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥
अथर्व० १८।४।६१ ॥

इस मंत्रका देवता ' पितरः ' है।

अर्थ— (स्वभानवः) स्वयं प्रकाशमान, (विप्राः) मेधावी पितर (अक्षन्) यज्ञमें दी गई हवियोंको खाते हैं। (अमीमदन्त) खाकर अत्यन्त आनन्दित होते हैं और (हि) निश्चयसे (प्रियान्) अपने प्रियजनोंको (अव अधूषत) कान्तिमान् बनाते हैं। उनकी (अस्तोषत) प्रशंसा करते हैं। (यविष्ठाः) अत्यन्त युवा अर्थात् सामर्थ्यशाली हम (ईमहे) उन पितरोंसे यज्ञादिमें आनेके लिए प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ— पितरोंको यज्ञमें बुलाना चाहिए व हवि देकर तृप्त करना चाहिए। ऐसा करनेसे यजमान की कीर्ति बढती है।

आ यात पितरः सोम्यासो गंभीरैः पथिभिः पितृयाणैः। आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥
अथर्व० १८।४।६२ ॥

अर्थ— (सोम्यासः पितरः) हे सोमपान करनेवाले पितरो ! (गंभीरैः) गंभीर (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाण मार्गों से (आ यात) आओ। (अस्मभ्यं आयुः, प्रजां च रायः च दधतः) हमारे

लिए आयुष्य, प्रजा तथा धनसंपत्ति दो। (पोषैः) अन्य पुष्टियों से (नः) हमें (अभिसवध्वं) चारों ओर से युक्त करो।

भावार्थ- पितरो! गंभीर जो पितृयाण मार्ग हैं उनसे बुलाने पर हमारे यज्ञमें आओ व हमें संतति, सम्पत्ति आदि देकर पुष्ट करो।

इस मंत्रमें पितरोंके पितृयाणसे आकर आयु, प्रजा आदि देनेका उल्लेख है।

निम्न मंत्रमें पितरों के लिए मासिक यज्ञका विधान है।

परा यात पितरः सोम्यासो गंभीरैः पथिभिः पूर्याणैः। अधा मासि पुनरायात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः॥ अथर्व० १८।४।६३॥

अर्थ— (सोम्यासः पितरः) हे सोम संपादक पितरो! (गंभीरैः पूर्याणैः पथिभिः) गंभीर पूर्याण मार्गोंद्वारा (परायात) वापस चले जाओ। जहां से आए थे वहां पर लौट जाओ। (अथ पुनः) और फिर (सुप्रजसः सुवीराः) हे उत्तम प्रजावाले तथा सुवीर पितरो! (मासि) मासके अन्तमें यानि महीने महीने के बाद (नः गृहान्) हमारे घरोंमें (हविः अत्तुं) हवि के खाने के लिए (आयात) आओ।

'पूर्याण-पुरं यातीति पूर्याणः।' नगरको जानेवाले रस्ते का नाम पूर्याण है।

प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा उसमें देश देशान्तर व ग्राम ग्रामान्तर में स्थित पितरों को आमन्त्रित करना चाहिए ऐसा इस मंत्र का भाव है।

निम्न मंत्रमें अग्निका पितरोंको पितृलोकमें पहुंचानेका निर्देश है।

यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः। तद् व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्।
अथर्व० १८।४।६४॥

अर्थ- हे पितरो! (वः यत् एकं अङ्गं) तुम्हारे जिस एक अङ्गको (पितृलोकं गमयन् जातवेदाः अग्निः) पितृलोकमें ले जाती हुई जातवेदस् अग्निने (अजहात्) छोड दिया है (वः तत् एतत्) तुम्हारे उस इस अङ्ग को मैं (पुनः) फिर (आप्याययामि) पूर्ण करता हूं। (साङ्गाः पितरः) अपने सब अङ्गों से युक्त हुए हुए पितरो! (स्वर्गे मादयध्वम्) स्वर्ग में आनन्दित होओ।

इस मंत्र से ऐसा पता चलता है कि अग्नि मरने के अनन्तर पितरों को पितृलोक में ले जाती हुई उनके शरीर के किसी अवयव को यहांपर छोड जाती है। परन्तु इस कथन का क्या अभिप्राय है यह कुछ समझमें नहीं आता। अंत्येष्टि- संस्कार में शवको अग्नि से दाह करने पर प्रत्यक्ष रूपमें तो कोई भी अङ्ग अवशिष्ट नहीं रह जाता! इस मंत्र का कोई अवश्य गूढार्थ होना चाहिए। और जबतक इस विषय में कुछ पता नहीं चलता तबतक यह एक समस्या के रूपमें हमारे सामने उपस्थित है। पाठक विचार कर इस समस्या को हल करनेका प्रयत्न करेंगे ऐसी आशा है।

अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ अथर्व० १८।४।६५

अर्थ- (सायं न्यह्ने) सायंकाल और प्रातःकाल (नृभिः उपवन्द्यः) नरों से वन्दना की जाती हुई (जातवेदाः) जातवेदस् अग्नि (प्रहितः दूतः अभूत्) भेजा हुआ दूत है। क्यों कि तू भेजा हुआ दूत है अतः हे (देव) प्रकाशमान अग्नि! (प्रयता हवींषि) हमारे से दी गई हवियों को (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों के लिए दे जिस से कि (ते) वे पितर जिन्होंने कि तुझे दूत बना कर भेजा है, (स्वधया अक्षन्) स्वधा के साथ हमारे द्वारा दी गई हवियों को खावें। (त्वं अद्धि) तू भी उन हवियों को खा। इस मंत्र से हमें पता चलता है कि जिस अग्नि की सायं व प्रातः वंदना की जाती है उस अग्नि को पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पास से हवियों को ले जाकर पितरों को पहुंचाती है। हमारे से दी गई हवियों को पितरों तक पहुंचाने के लिए अग्नि माध्यम है यह यहां पर स्पष्ट होता है।

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः। अभ्येनं भूम ऊर्णुहि॥ अथर्व० १८।४।६६॥

अर्थ- (असौ) हे फलाने नामवाले प्रेत ! (इह ते मनः) यहां तेरा मन है । हे (भूमे) पृथिवी ! (जामयः कुत्सलं इव) जिस प्रकार स्त्रियां अपने बच्चेको वस्त्रसे ढांपती हैं या कुल स्त्रियां अपने सिरको ढांपती हैं उस प्रकार (एनं) इस प्रेतको (अभि ऊर्णुहि) भली प्रकार ढांप ।

इस उपरोक्त मंत्रमें प्रेतके जमीन में गाढने का उल्लेख है ।

निम्न मंत्रमें सिर्फ पितृलोकका निर्देश मिलता है-

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः ।
पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥
अथर्व० १८।४।६७ ॥

अर्थ— (पितृषदनाः लोकाः शुम्भन्ताम्) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (शुम्भन्तां) शोभायमान हों। (त्वा) तुझे (पितृषदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) बिठलाता हूं ।

इस मंत्र से पता चलता है कि कोई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक नवीन व्यक्तिको भी किसी अवस्थाविशेषमें बिठलाया जाता है ।

येऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि॥ अथर्व० १८।४।६८

अर्थ- (ये) जो (अस्माकं पितरः) हमारे पितर हैं (तेषां) उनका (बर्हिः) आसन (असि) है।

कुशाघासका नाम बर्हि है। बर्हिको संबोधन करके कहा गया है । यज्ञमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशाघासनिर्मित आसन होना चाहिए, ऐसा इससे पता चलता है ।

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय । अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ अथर्व० १८।४।६९ ॥

अर्थ- (वरुण) हे वरणीय श्रेष्ठ ! तेरे (उत्तमं) उत्तम (पाशं) पाशको (अस्मत्) हमसे (उत् श्रथाय) ऊपर से खोल दे । (अधमं) और जो तेरा अधम पाश है उसको (अव श्रथाय) नीचेकी ओरसे खोल दे । (मध्यमं) और जो तेरा मध्यम पाश है उसको (विश्रथाय)विविध रीतिसे खोल दे। (अध) इस प्रकार तेरे तीनों प्रकारके पाशोंसे विमुक्त होनेके बाद (अनागसः) पापरहित हुए (वयं) हम (आदित्य) हे अखण्डनीय शक्तिवाले ! (ते) तेरे (व्रते) व्रत अर्थात् नियममें (अदितये) अदीनताके लिए अर्थात् समृद्ध हुए हुए (स्याम) होवें ।

भावार्थ— हे वरुण ! तू तेरे दुष्टोंको बांधनेवाले तीनों प्रकारके उत्तम, मध्यम व अधम पाशोंसे हमें मुक्त कर । हम पापरहित हुए तेरे नियमों में रहते हुए शक्तिशाली होकर नाना प्रकारकी समृद्धि का लाभ करें ।

वरुणके तीन प्रकारके पाशोंका वर्णन अथर्व०७।८३।४में भी वर्णित हैं। यह मंत्र अ. ७।८३।३॥में भी आया है।

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् यैः समामे बध्यते यैर्व्यामे। अधा जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः ॥ अथर्व० १८ । ४ ।७०

अर्थ- (वरुण) वरुण राजन् । (अस्मत्) हम से (सर्वान् पाशान्) तेरे सर्व पाशों (फन्दों) को (प्रमुञ्च) अच्छी तरह से खोल दे । (यैः) जिन फन्दोंसे कि (समामे) समाम में और (यैः) जिन से कि (व्यामे) व्याम मे (बध्यते) प्राणी बांधा जाता है । (अध) तेरे उपरोक्त पाशों से छूट कर हम (राजन्) हे वरुण राजन्! (त्वया गुपिताः) तेरे से रक्षा किए गए अत एव (रक्षमाणाः) दूसरों की रक्षा करते हुए हम (शतानि शरदं)सैकडों बरस (जीवेम) जीवें ।

भावार्थ—हे वरुण राजन् ! तू अपने उन फन्दोंसे हमें मुक्त कर जिन से कि विविध रोग मनुष्य पर आक्रमण करते हैं । तेरी रक्षा से रक्षित हुए हुए सैंकडों बरस जीवें ।

समाम- छूतसे होनेवाला रोग चेचक आदि ।
व्याम- विशेष रोग क्षय आदि ।

सायणाचार्य ने व्याम का अर्थ किया है कि दोनों हाथ फैलानेसे जितना अंतर होता है उस अन्तर जितने प्रदेश का नाम व्याम है । और- इस व्याम प्रदेश से कुछ कम परिमाणवाले प्रदेश का नाम समाम है ।

इन दोनों मंत्रों में वरुण से प्रार्थना की गई है कि वह अपने तीनों प्रकारके पाशों से हमारी रक्षा करता रहे जिससे कि हम सैंकडों बरस जी सकें ।

निम्न मंत्र में अग्नि का कव्यवाहन के नाम से कहा गया है।

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः ॥

अथर्व० १८।४।७१

अर्थ—(कव्यवाहनाय अग्नये) कव्य का वहन करनेवाली अग्नि के लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे।

पितरों के लिए दी जाती हविका नाम कव्य है और देवों के लिए दी जाती हवि का नाम हव्य है।

सोमाय पितृमते स्वधा नमः ॥

अथर्व० १८।४।७२॥

श्रेष्ठ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो। यहां सोमके लिए स्वधा व नमः देनेका उल्लेख है।

पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः ॥

अथर्व० १८।४।७२॥

सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो। इन मंत्रों के देखने से इतना स्पष्ट होता है कि सोम व पितरोंका परस्पर विशेष संबंध है। यह सोम कौन है यह कहना कठिन है जबतक कि संपूर्ण सोमविषयक मंत्रोंका समन्वय न किया जावे।

यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ अथर्व० १८।४।७४॥

अर्थ- (पितृमते) उत्तमपितावाले (यमाय) यमके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवें।

इस मंत्र में यम के लिए स्वधा व नमस्कार का उल्लेख है।

एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥

अथर्व० १८।४।७५॥

अर्थ- हे (प्रततामह !) प्रपितामह ! (ते एतत्) तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ (स्वधा) स्वधा होवे। (ये च त्वां अनु) और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो।

तत शब्द पितृवाचक है। इसमें निम्न ऐतरेय आ० का प्रमाण है- ' एतां वाव प्रजापतिः प्रथमां वाचं व्याहरद् एकाक्षर द्व्यक्षरां ततेति तातेति। तथैवैतत् ततवत्या वाचा प्रति पद्यते। ' इति ऐ० आ० १।३।३ ॥ आश्वालायनने भी ' अपने पितरों का नाम न जानता हुआ पुत्र तत शब्द का प्रयोग करे ' इस आशयवाला सूत्र बनाया है- ' नामान्यविद्वांस्तत पितामहप्रपितामहेति '। आश्व० २।६ ॥ इस मंत्र में प्रपितामह के लिए स्वधा का विधान है।

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥

अथर्व० १८।४।७६॥

अर्थ- (ततामह) हे पितामह! (ते एतत् स्वधा) तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ (हवि) स्वधा होवे। (ये च त्वां अनु) और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे।

एतत् ते तत स्वधा ॥ अथर्व० १८।४।७७॥

अर्थ- हे (तत) पिता! (ते एतत् स्वधा) तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे।

इन उपरोक्त अथर्व-वेदके ३ मंत्रों से पता चलता है कि प्रपितामह, पितामह तथा पिता, इन तीनों में से प्रत्येक के नामपर अलग अलग स्वधा दी जाती है।

स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः ॥

अथर्व० १८।४।७८ ॥

अर्थ- (पृथिवीषद्भ्यः) पृथिवीपर बैठनेवाले (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

पृथिवीस्थ पितरों के लिए स्वधा का वर्णन यहां पर है। पूर्वोक्त बहुतसे पितृलोकोंमेंसे एक पृथिवीलोक है जहां कि पितर बैठते हैं ऐसा इस मंत्र से प्रतीत होता है।

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥

अथर्व० १८।४।७९ ॥

अर्थ- (अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः) अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पितरों के लिए (स्वधा) स्वधा हो।

इस मंत्रमें अंतरिक्ष में बैठनेवाले पितरोंका वर्णन है।

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ अथर्व० १८।४।८०

अर्थ- (दिविषद्भ्यः पितृभ्यः) द्युलोक में बैठनेवाले पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

इस मंत्रमें ऐसे पितरोंका वर्णन है जो कि द्युलोक में बैठते हैं, और वहां बैठकर स्वधा लेते हैं।

पितरोंके ऊर्ज, रस आदिके लिए नमस्कार

नमो वः पितरः ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥
अथर्व० १८।४।८१ ॥

अर्थ- (पितरः) हे पितरो ! (वः ऊर्जे नमः) तुम्हारे अन्न वा बलके लिए नमस्कार है। (पितरः) हे पितरो ! (वः रसाय नमः) तुम्हारे रस-अन्नरस (दुग्ध आदि) के लिए नमस्कार है।

नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे।
॥ अथर्व० १८।४।८२ ॥

अर्थ- (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे (भामाय) क्रोधके लिए (नमः) नमस्कार हो। (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे (मन्यवे) मन्यु के लिए (नमः) नमस्कार हो।

भाम तथा मन्यु दोनों क्रोधके विशेष भेद हैं। भाम साधारण क्रोधका नाम है। मन्यु को हम सात्विक क्रोध कह सकते हैं।

नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै ॥ अथर्व० १८।४।८३ ॥

अर्थ-(पितरः) हे पितरो!(वः)तुम्हारा(यत् घोरं) जो घोर कर्म हैं (तस्मै) उनके लिए (नमः) नमस्कार है। (पितरः) हे पितरो! (वः)तुम्हारा (यत् क्रूरं) जो क्रूर कर्म है, (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है।

नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै॥ अथर्व० १८।४।८४ ॥

अर्थ- (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत्) जो (शिवं) कल्याणमय कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है। (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् स्योनं) जो सुखमय कर्म है (तस्मै नमः) उसके लिए (नमः) नमस्कार है।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंके विविध कर्मोंके लिए नमस्कार किया गया है।

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः॥ अथर्व०१८।४।८५

अर्थ- हे (पितरः) पितरो! (वः) तुम्हारे लिए (नमः) नमस्कार होवे। (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए (स्वधा) स्वधा होवे।

इस मंत्र में पितरों के लिए स्वधा व नमस्कार दोनों के देने का उल्लेख है।

पितरोंसे मिलकर श्रेष्ठ होना।

येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्माँस्ते नु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ ॥ अथर्व० १८।४।८६॥

अर्थ- (ये पितरः अत्र) ये अन्य पितर यहां हैं और (ये) जो (यूयं पितरः) तुम पितृगण (अत्रस्थ) यहां पर हो, (ते) वे अन्य पितर (युष्मान् अनु) तुम्हारे अनुकूल होवें और (यूयं) तुम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्थ) उन में श्रेष्ठ होवो।

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्माँस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म ॥ अथर्व० १८।४।८७॥

अर्थ-(ये) जो (पितरः) पितृगण (इह) यहां है उनके अनुग्रहसे (वयं) हम (इह) यहां (जीवाः स्मः) जीवित हैं। (ते पितरः अस्मात् अनु) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें। (वयं) हम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म) उन में श्रेष्ठ होवें। अथवा वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके। दोनों मिलकर परस्पर श्रेष्ठ होवें।

इन मंत्रों में पितरों के साथ पारस्परिक अनुकूल व्यवहारोंसे श्रेष्ठ बननेका उल्लेख है।

आ त्वाग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्। यद् घ सा ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवि। इषं स्तोतृभ्य आभर ॥ अथर्व० १८। ४। ८८॥

अर्थ- (देव) हे प्रकाशमान (अग्ने) अग्नि ! हम (द्युमन्तं) चमकती हुई (अजरं) जरारहित (त्वा) तुझे (इधीमहि) प्रकाशित करते हैं। (यत् ते) जिस तेरी (सा) वह (पनीयसी) अत्यन्त प्रशंसनीय (समित्) दीप्ति-चमक (प्रकाश) (द्यवि) अंतरिक्ष में अथवा सूर्यमें (दीदयति) प्रकाशित हो रही है। अर्थात् तू ही सूर्य रूप से प्रकाशित हो रही है। वैसी हे अग्नि ! तू (स्तोतृभ्यः) तेरी स्तुति करनेवालों के लिए (इषं) अन्न वा इष्ट फल को (आभर) दे।

भावार्थ- हम सदा प्रकाशमान अजर अग्नि को प्रकाशित करते रहें। उसी की ज्योति द्युलोकको व सूर्यादिको प्रकाशित कर रही है। वह स्तुति करनेवालों को अन्नादि इष्ट पदार्थों का प्रदान करती है।

उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा की ही अग्नि भी एक शक्ति होनेसे जो मंत्र इस अग्नि पर लगते हैं वे परमात्मा पर लग सकते हैं यह बात पाठकों को ध्यान में रखनी चाहिए। परन्तु फिर भी बहुतसे मंत्र ऐसे हैं जो की यज्ञसंबंधी हैं। वे सिर्फ इस याज्ञिक अग्निपरक ही हैं ऐसा उन मंत्रों को देखनेसे पता चलता है। उदाहरणार्थ 'अग्नि व पितर' इस शीर्षक में आए हुए मंत्र प्रायः भौतिक अग्निपरक ही हैं जैसा कि पाठक स्वयं देख सकते हैं। यह मंत्र ऋ० ५।६।४ में हैं।

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि। न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ अथर्व० १८।४।८९॥

अर्थ– (सुपर्णः) सुन्दर चालवाला अथवा सुन्दर रश्मियोंवाला (चन्द्रमाः) चन्द्र(अप्सु अन्तः) जलों के अन्दर रहता हुआ (दिवि) अंतरिक्ष में (धावते)दौडता रहता है। (रोदसी)हे द्यावापृथिवी! (वः) तुम्हारी (पदं) स्थितिको (हिरण्यनेमयः) सोने जैसी चमकी ले प्रान्तभाग-सीमा वाली(विद्युतः) बिजलियां अथवा प्रकाशमान पदार्थ (न विदन्ति) नहीं प्राप्त करते। अर्थात् तुम इतनी लंबी चौडी हो की कोई भी प्रकाशमान पदार्थ घूम घूम करके भी तुम्हारे अंतका पता नहीं कर सकता।(मे) मेरी (अस्य) इस उपरोक्त स्तुतिको (वित्तं) तुम दोनों जानो।

भावार्थ- सुन्दर गतिवाला चन्द्रमा जो कि जलोंके आवरणके बीचमें रहता हुआ द्युलोकमें बराबर दौड रहा है वह तथा अन्य अत्यन्त चमकनेवाले पदार्थ जो इस द्यावापृथिवी के बीचमें रातदिन बराबर समान गतिसे दौड रहे हैं वे इस द्यावापृथिवी की स्थितिको अर्थात् आदि व अन्तको नहीं पाते।

इस मंत्र से यह पता चलता है कि चन्द्र जलों के बीचमें है। उसके चारों ओर जलीय आवरण है। इन पिछले दो मंत्रों का भी प्रकृत विषयसे कोई विशेष संबन्ध प्रतीत नहीं होता। यह मंत्र ऋग्वेद (१।१०५।१) में कुछ भेद से आया हुआ है।

यहांपर यह चतुर्थ सूक्त समाप्त होता है व इन के साथ साथ उक्त विषय भी समाप्त होता है। अथर्व- वेद १८ वें काण्ड के चारों सूक्तों में आए हुए सबके सब मंत्रों की परस्पर संगति लगानी पर्याप्त कठिन है। इन मंत्रोंके क्रम में अथा कोई विशेष रहस्य है वा नहीं यह एक समस्या है। सूक्तोंमें आए हुए क्रम की अपेक्षा समान विषय प्रतिपादक मंत्रों की एक साथ संगति लगाने से हम किसी विशेष परिणाम पर पहुंच सकते हैं जैसा कि पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। इस काण्ड में मुख्य रूपसे एकही विषयका प्रतिपादन होते हुए भी बीच बीचमें ऋग्वेद के मंत्र आ जाते हैं जिनका कि प्रकृत से संबन्ध लगाना असंभवसा हो जाता है। कहीं कहीं परतो ऋग्वेद का संपूर्ण सूक्तका सूक्त इस काण्ड के सूक्तों में उद्धृत हुआ हुआ मिलता है। अस्तु तथापि जो कुछ है वह पाठकों के सामने रख दिया है। पाठक इस पर विशेष विचार कर स्वयं योग्य निर्णय पर पहुंच सकते हैं। इस संपूर्ण लेख से हमें क्या क्या पता चला है उसका दिग्दर्शन हम पाठकों को उपसंहार के रूपमें आगे कराते हैं।

उपसंहार।

पितृलोक ।

इस प्रकरण का आदि से अन्ततक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि ५पितृलोक हैं जिनमें कि पितर रहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं। (१) पृथिवी, (२) अंतरिक्ष (३) द्युलोक (४) पिताका कुल वा घर, (५) पितरों का देश अर्थात् जिस देशमें प्राचीन काल से हमारे पूर्व पितर रहते चल आए हैं वह देश। इसको अंग्रेजी भाषामें Fatherland के नाम से कहा जाता है। इन सब लोकोंमें हमारे पितर निवास करते हैं ऐसा हमें इस प्रकरण से स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है।

पितृयाण ।

पितर जिस मार्गसे जाते हैं उस मार्ग का नाम पितृयाण है। इस मार्गको एक तो अग्नि जानता है (देखो वै. ध. पृ. २१०. ऋ. १०।२।७) और दूसरा वह मनुष्य, जो कि अतिथि आदियों के सत्कारमें सर्वदा तत्पर रहता है। जो मनुष्य देव हिंसक है वह कभी भी पितृयाण मार्ग को प्राप्त नहीं

करता। यह पितृयाण मार्ग 'सूर्य किरणें' भी हैं ऐसा वै. ध. पृ. २११ ऋ० १।१०९। ७ से पता चलता है। अर्थात् अन्तरिक्ष व द्युलोक में रहनेवाले पितर इस मार्ग से जाते हैं ऐसा इससे जान पडता है। ऊपर जो ५ पितृलोक दर्शा आए हैं उनमें से इन दो अंतरिक्ष व द्युमें जानेका मार्ग सूर्यकिरणें होनीं चाहिए। हमने ऊपर देखा है कि अग्निभी पितृयाण मार्ग को जानती है। हम आगे चलकर यह भी देखेंगे कि अग्नि सर्व प्रकारके पितरोंको चाहे वे हमारे सामने हों व अदृश्य हों किसीभी रूपमें कहीं पर भी हों, जानती है उनके लिए हवि पहुंचाती है। इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि पृथिवीसे अन्तरिक्ष व द्युलोकस्थ पितरों के पास जानेका जो पितृयाण मार्ग है वह पृथिवीकी हद तक तो जो अग्नि जाने का मार्ग है वह है और आगे जो सूर्यकिरणों के जाने का है वह है।

पितरों के कार्य।

पितरों के अनेक कार्य हैं जिनमें से मुख्य मुख्य कार्य ये हैं। (१) शत्रुओंसे, सर्पादिकुटिल जंतुओंसे तथा अन्य आकस्मिक आपत्तियोंसे रक्षा करना। (२) सूर्यप्रकाश देना, (३) पापसे छुडाना, (४)सुख देना व कल्याण करना, (५) गर्भधारण करना, (६) मनके प्रत्यावर्तन, व पुनर्जन्म में सहायता करना, (७) नाना प्रकारके स्तोत्र बनाना, (८) दीर्घायु देना, (९) मृत का पुनरुज्जीवित करना (देखो. वै. ध. पृ. २३३, अथर्व०१८।२।२६) इत्यादि।

(क) पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य।

हमें पितरोंके लिए क्या करना चाहिए अर्थात् हमारे पितरोंके प्रति जो कर्तव्य हैं वे इस प्रकार हैं। (१) नित्य प्रति पितरोंको अन्नदानपूर्वक नमस्कार करना चाहिए। (२) उनको स्वधा देनी चाहिए। स्वधा क्या चीज है यह नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मण स्वधा को पितरोंका अन्न बताते हैं। इससे अधिक और कुछभी पता नहीं चलता। कहीं कहीं स्वधा का अर्थ आत्मधारण-शक्तिभी होता है। (३) पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए। किन पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए। इस विषयमें अथर्ववेद काण्ड १८। सू. ४। मंत्र ५७ स्वयं निर्णय करता है। मंत्र इस प्रकार है—

> ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियः।
> तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती॥

अर्थ स्पष्ट है। यहांपर सर्व प्रकारके पितरोंका जलद्वारा तर्पण करनेका उल्लेख है। (४) पितरों के शर्म (Fatherland) का विस्तार करना-हमें चाहिए कि हम हमारी जन्मभूमि के नित्यप्रति विस्तार करने के कार्य में लगे रहें। पराधीन होकर न रहें। इत्यादि और भी अनेक कार्य हैं।

(ख) पितर और यज्ञ।

पितर बुलाने पर यज्ञमें आते हैं और दांया घुटना टेक कर बैठते हैं। वे हमारी प्रार्थनायें सुनते हैं, हमारी कामनायें पूर्ण करते हैं व सर्वदा हमारी रक्षा करते हैं। पितरों के लिए मासिक यज्ञ करना चाहिए। यज्ञमें 'अग्निष्वात्त' पितरभी आते हैं। स्वधाके साथ हविका भक्षण करके हमें वीरतायुक्त धनादि देते हैं। यजु० अ. ३५। २० तथा अथर्व० १८।४।२० तथा अ. १८।४।४२ ये तीनों मंत्र विचारणीय हैं क्यों कि इनमें पितरोंके लिए वपा व मांसवाले चरु देनेका विधान पाया जाता है। अस्तु तथापि इस प्रकरणसे इतना पता अवश्यमेव लगता है कि सर्व प्रकारके पितरोंके लिए यज्ञ करना चाहिए व उनको हविसे तृप्त करना चाहिए। इसके सिवाय प्रत्येक मासमें पितरों के लिए दान करना चाहिए जैसा कि अथर्व० ८।१२। ३ व ४ से पता चलता है।

अग्नि और पितर।

इस प्रकरणको देखनेसे हमें निम्न बातोंका स्पष्ट पता चलता है। (१) अग्नि यज्ञमें पितरोंको हविभक्षणार्थ ले आती है। (२) अग्नि पितरोंको हवि पहुंचाती है। और अत एव अग्निका नाम कव्यवाहनभी है। पितरोंके निमित्तसे दी गई हवि कव्य कहलाती है। (३) अग्नि दूरगत छिपे हुए पितरोंको जानती है इतनाही नहीं अपितु जो यहां हैं व जो यहां नहीं है और जिनको हम जानते हैं वा नहीं जानते उन सबको अग्नि जानती है। (४ अग्नि पितरोंको पितृलोकमें भिजवाती है। (५) अग्नि प्रेतात्माको पितरोंके पास पहुंचाती है। (देखो० वै० ध० पृ०

२४६ व २४७, ऋ० १०।१७।३ और ऋ० १०।१६।१)। (६) अग्नि उषा देती है। जीवितोंकी आयु बढाती है। और मरे हुए पितरोंके लोकमें जाते हैं। (वै० ध० पृ० २४७, अथर्व० १२।२।४५)। (७) अग्नि पितरोंमें प्रविष्ट ज्ञातिमुख दस्युओंको यज्ञसे भगाती है। (८) अग्नि अपने शरीरसे पितरोंमें प्रवेश करती है।

क्रव्यात् अग्नि

संभवतः जिस अग्निका अंत्येष्टिमें विनियोग होता है उस अग्निका नाम क्रव्यात् अग्नि है। इस प्रकरण से निम्न लिखित बातोंका पता चलता है—

क्रव्यात् अग्निको यमके राज्यमें भेजदिया जाता है क्योंकि वह देवोंकी हविके वहन करनेके लिए अनुपयुक्त है। क्रव्यात् अग्निका संबन्ध यम-लोकसे है। उसका शवदहन जैसे कार्योंमें प्रयोग होता है। क्रव्यात् अग्निपर शासन करनेसे पितृलोकमें भाग मिलता है। पितर क्रव्यात् अग्निके साथ दक्षिण दिशामें जाते हैं। पितरोंके रहनेकी दक्षिण दिशा है।

अग्निष्वात्त पितर।

अग्निष्वात्त पितर वे पितर हैं जिनका कि अंत्येष्टि संस्कार अग्निद्वारा होता है जैसा कि हमें शतपथ ब्राह्मण २।६।१।७ से पता चलता है इसी बातको यजु० अ० १९।६० व ऋ० १०।१५।४ भी पुष्ट करते हैं। (देखो० वै० ध० पृ० २५२ व २५३) अग्निष्वात्त पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है, हवि खिलाई जाती है व उनसे धन मांगा जाता है। अग्निष्वात्त पितर यज्ञमें आकर स्वधासे तृप्त होते हैं व उपदेश करते हैं। उनको यज्ञमें सोमपान करनेके लिए बुलाया जाता है।

प्रेत व अंत्येष्टि।

इस प्रकरणमें हमें निम्न बातें मिलती हैं- (१) मरनेसे पूर्व मरणासन्नके दांये हाथमें सुवर्णका आभूषण अंगूठी आदि कुछ पहिनाया जाता है। (२) प्राण निकलनेपर शवको जलस्नान कराया जाता है। (३) स्नानके बाद स्मशानोचित वस्त्र पहिनाया जाता है। (४) स्मशान ग्रामसे बाहिर होना चाहिए। (५) शवको बैलगाडीसे लेजाया जाता है। (६) स्मशान-भूमिसे विघ्न- कारियोंको दूर भगाना चाहिए (७) प्रेतको जलाया जाता है (८) प्रेतको जलमें बहाया जाता है (९) प्रेतको जमीनमें गाडा जाता है। (१०) हवामें खुला छोड दिया जाता है (११) अंत्येष्टि की समाप्तिपर प्रार्थनायें की जाती हैं।

भिन्न भिन्न अर्थमें पितर।

उत्पन्न करनेके अर्थके अतिरिक्त अन्य निम्न लिखित अर्थोंमें भी बहुवचनान्त पितृ शब्दका प्रयोग वेदमें पाया जाता है। (१) हिंसा अर्थ में। (२) ज्ञानी अर्थ में (३) राजसभाके सभासद के अर्थ में (४) सैनिक अर्थ में। (५) प्राण अर्थ में (६) पालक-रक्षक आदि अर्थोंमें। (७) इषु अर्थमें। (८) ऋतु अर्थ में।

यम।

इस प्रकरणों को देखने से हमें यम के सम्बन्धमें निम्न लिखित बातों का पता चलता है (१) यम मृत्यु की अधिष्ठात्री देवता है अर्थात् प्राणियों के प्राणापहरण का कार्य यम करता है। (२) विष्टारी ओदन पाचक का यम कुछ भी बिगाड नहीं सकता (३) अग्नि यम का कर्ता है। पर इस मंत्र में यम संभवतः वायु के लिए आया है। (देखो· वै. ध. पृ. २९५, ऋ· १० । ५२ । ३)। (४) यम विवस्वान् का पुत्र है : (५) यम की माता का नाम सरण्यू है जो कि त्वष्टा की पुत्री है। (देखो. वै. ध· पृ.२९६ ऋ० १० । १७ । १)

यमलोक व यमराज्य।

इस प्रकरण में यमलोक के विषयमें जहां कि यम का राज्य है निम्न लिखित बातों का पता चलता है। (१) यमलोक में यमका राज्य है अर्थात् वह वहां का राजा है। (२) मृत पितर कहने से मृत नानी, दादी, माता आदिका भी ग्रहण होता है। (३) वशा गौके दान से यम के राज्यमें किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होता। (४) यमलोकस्थ के लिए वस्त्र, तिलमिश्रित धान आदि देना चाहिए ऐसा अथर्व० १८। ४। ३१ व १८। ४। ४३ से पता चलता है। (देखो वै. ध. पृष्ठ २९९ व ३००) (५)

यम अपने राज्यमें आए हुए को स्थान देता है। (६) पितरों की तरह यमकी भी दक्षिण दिशा है।

द्युलोकमें यमलोक।

यमलोक कहांपर है इस बातपर यह प्रकरण प्रकाश डालता है। (१) अथर्व० ९।७।२० में जो यह कहा है कि यमकी दक्षिण दिशा है उस से इतना पता चलता है कि यमलोक दक्षिण दिशामें है। (२) यमलोक द्युलोक में दक्षिण की ओर है। (३) पितर यमराज्यमें रहते हैं अर्थात् यम पितरोंका राजा है। (४) पितृलोक यम के राज्य में हैं। (५) यमलोक दक्षिण की ओर द्युलोक की समाप्ति पर है।

यमदूत।

यम के अनेक दूत हैं, जिनमें से दो कुत्ते जैसे हैं। ये दोनों कुत्ते लम्बी लम्बी नाकवाले व चार आंखोंवाले तथा लोक के मार्ग रक्षक हैं। इनमेंसे एक कुत्ता काला है व दूसरा चितकबरा। ये दोनों निरन्तर मनुष्योंके पीछे लगेहुए हैं। ये प्राणोंसे तृप्त होने वाले हैं। संभवतः इस प्रकारके ये दोनों कुत्ते दिन व रात हैं। आलंकारिक वर्णन से दिन व रातका यह वर्णन है। यमके कुत्तों के प्रायः बहुतसे विशेषण दिन व रात में पाए जाते हैं। (देखो वै. ध. पृ. ३०८, अथर्व० ८।१।६) मृत्यु भी यम का दूत है ऐसा इस प्रकरण में आए हुए अथर्व० १८।२। २७ से पता चलता है। (वै. ध. पृ. ३०९)

यमके कार्य

यमका मुख्य कार्य तो प्राणियों को प्राणापहरण का ही है पर इसके अतिरिक्त और भी छोटेमोटे कार्योंका उल्लेख पाया जाता है॥ यम पितरों का राजा है व पितृलोक यमलोक में है यह हम ऊपर देख आए हैं। यहांपर हमें एक नई बात ज्ञात होती है कि यम पितृयाण मार्गको जानता है जिससे कि पितर जाते हैं। स्वर्ग में जाने के लिए यमकी अनुमति लेनी पडती है। यम हमें दीर्घायु देता है और मनुष्योंसे हमारा रक्षण करता है॥ यम मृत्युसे भी हमारी रक्षा करता है।

यमके प्रति हमारे कार्य।

यमके लिए हवि देनी चाहिए। यमको सोमपान कराना चाहिए। यमके लिए यज्ञ करना चाहिए; यमके लिए किया हुआ यज्ञ अग्नि को दूत बनाकर यमके पास पहुंच जाता है। (वै. ध. पृ. ३०६, ऋ० १०।१४।१३)। यमके लिए घृतवाली हवि देनेसे वह हमें देवों में जाने के लिए दीर्घायु प्रदान करता है। पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं और जो अपने घर बढानेकी इच्छा रखता हो उसे यमके लिए घर बंधवाने चाहिए। (वै. ध. पृष्ठ ३०७, अथर्व० १८॥४। ५५) इसके सिवाय यमके लिए स्वधा और नमः देने चाहिए।

यम और स्वप्न।

इस प्रकरण को पढने से हमें यह पता चलता है कि यम का स्वप्न के साथ क्या संबन्ध है, स्वप्नकी उत्पत्ति कैसे होती है इत्यादि। इस प्रकरणकी निम्न-लिखित बातें उल्लेखनीय हैं।

(१) स्वप्न का पिता यम है अर्थात् यम से स्वप्न की उत्पत्ति होनेसे वह यमका पुत्र है। अतएव बरे भयानक स्वप्नों से मृत्यु हो जानेकी संभावना बनी रहती है।

(२) स्वप्न यमलोकमें उत्पन्न हो कर वहां से इस लोकमें आकर मनुष्यों में प्रविष्ट हो गया है।

(३) स्वप्न यमका करण अर्थात् मारनेके कार्यका साधक है। (वै. ध. पृ. ३०८ व ३०९, अथर्व० ६।४६।२)

(४) स्वप्न प्राणान्त कर देनेवाला है-मार डालनेवाला है।

(५) बुरी भावनायें व भयंकर रोग जो कि निद्राको नहीं आने देते, ये सब स्वप्न् की जननीरूप हैं।

यम कौन है?

मनुष्यों में से सबसे प्रथम मनुष्य यम नामवाला जोकि विवस्वान् का पुत्र था। वह इस लोकमें जन्म लेकर सबसे प्रथम मरा और फिर यहांसे मृत्युलोकमें गया और वहां का राजा बनगया। (देखो वै. ध. पृ० ३१० अथर्व० १८।३।१३)

यम व पितरों का संबन्ध।

हम पहिले भी इस विषय पर थोडीसी नजर डाल आए हैं। वहां पर हमें जो कुछ मालूम हुआ है उसी की इस प्रकरण में विशेष रूप से पुष्टि की गई है।

(१) यम पितरों का अधिपति है। (२) पितरों पर यम का आधिपत्य राजाके रूप में है। पितर यम की प्रजा हैं व वह उनका राजा है।

यम के राज्य में पितरों का उच्च स्थान है ऐसा हमें यम व पितरों के सहकार्य-द्योतक मंत्र दर्शाते हैं। उनसे हमें पता चलता है कि पितर यम के साथ हवि खाते हैं, उसके साथ ही यत्र तत्र विचरण करते हैं। यम पितरोंकी सहमति से स्वर्ग मिलता है इत्यादि।

भिन्न भिन्न अर्थ में प्रयुक्त यम !

उपरोक्त यम के अर्थ को छोडकर निम्न-लिखित अन्य अर्थों में भी यम शब्द वेदों में प्रयुक्त हुआ हुआ है - (१) युगल अर्थ में। (२) नियम अर्थ में। (३) जीवात्मा अर्थ में (४) ज्ञानेन्द्रियों के अर्थ में। (५) आचार्य अर्थ में ॥ (६) वायु अर्थ में (७) सूर्य अर्थ में।

इस प्रकार ये उपरोक्त परिणाम प्रकृत लेखसे हमें प्राप्त होते हैं। इनपर विशेष विचार करने के लिए पर्याप्त अवकाश है। संपूर्ण सूक्तों में भी इन परिणामों की ही पुष्टि मिलती है। पाठक इन सब मंत्रों व उनसे निकलते परिणामों पर गंभीरतासे विचार करेंगे व अपनी अपनी निष्पक्षपात युक्ति व प्रमाणों से भरपूर सम्मति-प्रदान कर हमें अनुगृहीत करेंगे ऐसी आशा करते हुए हम इस लेख को यहांपर समाप्त करते हैं ॥

॥ समाप्त ॥

यम और पितर विषयक लेख।

'यम और पितर' विषय संबंध की लेखमाला इस अंकमें समाप्त होती है पं. मंगल देवजीने करीब दोवर्ष बडी महनत करके 'यम और पितर' विषयक संपूर्ण वेदमंत्र उद्धृत किये और पश्चात् उनको विषयवार लगाकर उन मंत्रोंका अक्षरार्थ लिखा और अपनी बहुत टीका टिप्पणी न करते हुए जनताके सन्मुख निष्पक्ष होकर यह विषय रखा है। वेदके किसी विषयकी खोज करनेके लिये इसी प्रकार पूर्व तैयारी करना योग्य है। गुरुकुल कांगडी से वेदालंकार उपाधि प्राप्त करके वेदान्वेषण करने का बडे कष्टका कार्य आपने अपने सिर पर लिया है, जिसका यह पहिला फल है। इतने वेदमंत्रोंका संग्रह करनेका बडा कार्य पं० मंगलदेवजीने किया है, इसलिये उनका गौरव करना सबको योग्य है। अब यह पुस्तक अगले मास में भारतवर्षके सब प्रसिद्ध विद्वानोंके पास भेजी जायगी। भारतवर्षकी सब आर्यप्रतिनिधिसभाओंसे भी प्रार्थना की गई है कि वे अपने अपने सब पंडितों द्वारा इस पुस्तकको पूर्ण आलोचना करें, और अपनी संगति तीन चार मास तक पूर्णतया लिखकर हमारे पास भेजदें। जो पंडित चार मास में संगति लगानेका भार अपने ऊपर नहीं लेंगे उनको यह पुस्तक नहीं भेजी जायगी। परंतु जो संगति लगाने में सहायता देंगे उनको यह पुस्तक विनामूल्य भेजी जायगी। अन्तमें जिनके पास पुस्तकें भेजी और जिन्होंने संगति लिखकर भेजी उन सबकी नामावली प्रकाशित की जायगी और हर एकके नामके साथ उनकी संगति प्रकाशित होगी, जिससे पता लग जायगा कि संगति लगाने के इच्छुक कौन हैं और केवल मौखिक शास्त्रार्थी कौन हैं।

कई लोग हमें पत्रद्वारा पूछ रहे हैं और कई तो अखबारों में भी बुराभला लिख रहे हैं, उनको इस समय कोई उत्तर दिया नहीं जायगा। क्यों कि यह विषय इस समय विचाराधीन है और विद्वान पंडितों के सन्मुख रखा है। आर्य समाजके विद्वान अपने समाजद्वारा अथवा अपनी प्रतिनिधि सभाद्वारा स्वाध्याय मंडलसे यह पुस्तक विनामूल्य प्राप्त कर सकते हैं। परंतु इनपर संगति लिख देनेका भार रहेगा।

प्राचीनकालमें विद्वत्परिषदें हुआ करती थी जिनमें वैदिक विषयोंकी खोज हुआ करती थी। आजकल ऐसी कोई परिषद नहीं है, इसीलिये खोजके हेतुसे ऐसी योजना की गई है। इसमें सब कार्य लेखबद्ध होने के कारण इस योजनासे अधिक लाभ होगा।

निवेदक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

(ते या शतं भेषजानि) तेरे जो सौ औषधियां और (सहस्रं संगतानि च) हजारों उनके मेल हैं उनमें यह (श्रेष्ठं आस्रावभेषजं) सबसे श्रेष्ठ रक्तस्रावका औषध है, यह (वसिष्ठं रोगनाशनं) सबको वसानेवाला और रोगका नाश करनेवाला है ॥ २ ॥

(रुद्रस्य=रुत्+रस्य=मूत्रं) शब्द करनेवाले मेघका मूत्र अर्थात वृष्टीरूपीजल (अमृतस्य नाभिः असि) अमृत रसका केन्द्र है । तथा (विषाणका नाम वा असि) यह विषाणका औषधी है जो (वातीकृतनाशनी) वात रोगको दूर करनेवाली है और (पितृणां मूलात् उत्थिता) पितरोंकी जडसे अथवा कारणसे उत्पन्न होनेवाले आनुवंशिक रोगको उखाडनेवाली है ॥ ३ ॥

रक्तस्राव और वातरोग ।

जिस प्रकार पृथ्वी और आकाश यथास्थानमें ठहरे हैं, जिस प्रकार वृक्ष ठहरे हैं, इसी प्रकार मनुष्यके रोग दूर जा कर ठहरें अर्थात् हमारे पास न आवें ।

वैद्यशास्त्रमें सेंकडों औषधियां हैं और हजारों प्रकार के उनके अनुपान हैं । इन सबमें रक्तस्राव को दूर करनेवाला और सुखपूर्वक मनुष्यको रखनेवाला जो औषध है वह सबमें श्रेष्ठ है ।

जो अमृतका केन्द्र है और जो मेघसे वृष्टिद्वारा आता है, वह जलरूपी अमृतरस है, वह सबसे श्रेष्ठ है । विषाणका नामक औषधी वातरोगको दूर करती है और पितामाता से आनेवाले आनुवंशिक रोगोंको हटाती है ।

इसमें जलचिकित्सा और विषाणका नामक औषधीसे चिकित्सा कही है । आनुवंशिक वातरोग और रक्तस्रावका रोग दूर करनेके लिये यह उपाय करना उचित है ।

वृक्षोंकी निद्रा ।

प्रथम मंत्रमें " ऊर्ध्व-स्वप्नाः वृक्षाः " कहा है । खडे खडे सोते हैं । वृक्ष खडे खडे सोते हैं, अर्थात् जिस समय नहीं सोते उस समय जागते भी हैं । यदि सोना और जागना वृक्षोंका धर्म है, तो डरना और आनंदित होना भी उनके लिये संभवनीय होगा । वृक्षोंमें मनुष्यवत् जीवन रहनेकी बात यहां वेदने कही है । पाठक इसका विचार करें ।

दुष्ट स्वप्न।

[४५]

(ऋषिः- अंगिराः प्राचेतसो यमश्च। देवता—दुष्वप्ननाशनम्)

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥१॥
अवशसा निःशसा यत् पराशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥ २ ॥
यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि।
प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ- हे (मनःपाप) मनके पाप ! (परः अप इहि) दूर हट जा। (किं अशस्तानि शंससि) क्या तू बुरी बातें कहता है ? (परा इहि) दूर जा। (त्वा न कामये) तुझको मैं नहीं चाहता। (वृक्षान् वनानि संचर) वृक्षों और वनोंमें संचार कर। (मे मनः गृहेषु गोषु) मेरा मन मेरे घरों और गौवोंमें है ॥ १ ॥

(यत् अवशसा निःशसा पराशसा) जो पाप पासकी हिंसासे, निर्दयताकी हिंसासे और दूरसे की हिंसासे अथवा (यत् जाग्रतः स्वपन्तः उपारिम) जो जागते हुए और सोते हुए हमने किया है (अग्निः विश्वानि अजुष्टानि दुष्कृतानि) प्रकाशका देव सब अकरणीय दुष्कर्मोंको (अस्मत् आरे अप दधातु) हम सबसे दूर रक्खे ॥ २ ॥

हे (ब्रह्मणस्पते इन्द्र) ज्ञानी प्रभु ! (यत् अपि मृषा चरामसि) जो भी कुछ पाप असत्याचरणसे हम करें, (अंगिरसः प्रचेताः) सबके अंगरसों के समान व्यापक विशेष ज्ञानी देव (नः दुरितात् अंहसः पातु) हमें दुराचार के पापसे बचावे ॥ ३ ॥

पापी विचार।

पाप विचार मनसे हटानेका उपदेश इस सूक्तमें कहा है। गृहस्थीका मन—

गृहेषु गोषु मे मनः। (मं० १)

" घरमें और अपने गौ आदिमें रहना चाहिये।" अन्य बातोंमें और कुविचारोंमें

मन जानेसे दुष्ट स्वप्न आते हैं और उससे कष्ट होते हैं। इस लिये मनुष्यको उचित है कि वह अपनेको शुभ संस्कारयुक्त बनावे और अपने परिवारके हितमें दक्ष रहे। यदि कुविचार मनमें आगया, तो उसको कहना चाहिये कि,—

मनस्पाप ! परा अपेहि, किं अशस्तानि शंससि ?
परेहि, न त्वा कामये। (मं० १)

"हे पापी विचार ! दूर हट, मुझे तू बुरी बातें कहता है, चला जा, मैं तेरी इच्छा नहीं करता।"

इस प्रकार उस पापी विचारको कह कर उसको दूर करना चाहिये। पापी विचार वारंवार मनमें घुसने लगते हैं, परंतु उनको घुसने देना उचित नहीं है। अपने अंदर कौनसा विचार आवे और कौनसा न आवे इसका निश्चय स्वयं अपने आपको करना चाहिये। और यह शरीर अपना कार्यक्षेत्र है, यह जानकर उस क्षेत्रमें शुभ विचारोंकी परंपरा ही स्थिर रखनी चाहिये। सबको विचार करना चाहिये कि,—

यत् जाग्रतः स्वपन्तः उपारिम। (मं० २)

"जो जागते हुए और सोते हुए हम करते हैं" वही स्वप्नमें परिणत होता है, इस लिये जाग्रतीके हमारे सब व्यवहार उत्तम हुए, तो स्वप्न निःसंदेह ठीक होंगे। और किसी प्रकार बुरे स्वप्न नहीं आवेंगे और मनमें कभी अशुभ संस्कार नहीं पडेंगे। इसी प्रकार—

मृषा चरामसि। (मं० ३)

"असत्य व्यवहार करेंगे।" तो उसकाभी बुरा परिणाम होगा। सब कुसंस्कार असत्यके कारण उत्पन्न होते हैं। यदि मनुष्य असत्यको छोडकर सत्यका आश्रय करेंगे तो वे निःसंदेह बुराईसे बच सकते हैं।।

पाठक इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके बोध प्राप्त करें। अब इसी विषयका दूसरा सूक्त देखिये—

[४६]

यो न जीवोसि न मृतो देवानाममृतगर्भोसि स्वप्न।
वरुणानी ते माता यमः पिताररुर्नामासि ॥ १ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ २ ॥

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति ।
एवा दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते सं नयामसि ॥ ३ ॥

अर्थ- हे स्वप्न! (यः) जो तू (न जीवः असि न मृतः) न तो जीवित ही है और नहीं मरा हुआ ही है, वह तू (देवानां अमृतगर्भः असि) देवों का अमृत गर्भ है अर्थात् देवोंमें सर्वदा रहनेवाला है। (ते) तेरी (वरुणानी माता) वरुणानी माता है और (यमः पिता) यम पिता है। (अररुः नाम असि) तू अररु नामवाला है ॥ १ ॥

हे स्वप्न ! (ते जनित्रं विद्मः) तेरी उत्पत्ति को हम जानते हैं। तू (देव-जामीनां पुत्रोऽसि) देवों की पत्नियों का पुत्र है। और (यमस्य करणः) यम के कार्यों का साधक है। तू (अंतकः असि) अंत करनेवाला है। (मृत्युः असि) तू मारनेवाला है। हे स्वप्न ! (तं त्वा) उस तुझ को (तथा) वैसा उपरोक्त जैसा (सं विद्म) हम जानते हैं। (सः) वह तू स्वप्न ! (नः दुष्वप्न्यात्) बुरे स्वप्न से हमारी (पाहि) रक्षा कर ॥ २ ॥

(यथा कलां यथा शफं) जिस प्रकार कला अर्थात् सोलहवां भाग और जिस प्रकार शफ अर्थात् आठवां भाग (यथा ऋणं सं नयन्ति) ऋणके अनुसार देते हैं (एवा सर्वं दुष्वप्न्यं) इस प्रकार सब दुष्ट स्वप्न (द्विषते संनयामसि) शत्रुके प्रति पंहुंचाते हैं ॥ ३ ॥

दुष्ट स्वप्न यमका पुत्र।

देवानां-यहां देवानां का अर्थ इन्द्रियोंका है। स्वप्न इंद्रियोंमें अमृत रूपसे वसा हुआ है। क्योंकि जाग्रत अवस्थामें इंद्रियोंके अनुभवों से उत्पन्न वासनाओंसे उत्पन्न होता है। हमारे अन्दर वासनायें स्थायी हैं, अतः स्वप्न उन वासनाओंसे उत्पन्न होनेसे अमृत हैं, अतएव उसे यहां अमृत गर्भसे कहा गया है।

अररुः- पीडा देनेवाला। हिंसक। ' ऋगतिहिंसनयोः ' से बना है। तै. ब्रा. ३। २ ९। ४ के अनुसार अररुनामवाला असुर।

वरुणानी-वरुण अर्थात् अंधकार की पत्नी।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमको स्वप्नका पिता कहा गया है। अर्थात् स्वप्न यमका पुत्र है। अतएव कईवार स्वप्नसे मृत्युभी हो जाती है।

दुष्ट स्वप्न का मृत्युसे संबंध है इसलिये पूर्व सूक्तमें कहा है कि दुष्ट स्वप्नसे बचनेके लिये विचारोंकी शुद्धता करनी चाहिये। पाठक इस बातका संबंध यहां अवश्य देखें।

इस मंत्रमें स्वप्नको देव पत्नियोंका पुत्र कहा गया है। पूर्व मंत्र की टिप्पणी में हमने स्वप्न की उत्पत्ति दर्शाते हुए यह बताया था कि देव अर्थात् इन्द्रियोंके विषयों से उत्पन्न वासनाओं से स्वप्नकी उत्पत्ति होती है। उसी कथन की पुष्टि इस मंत्र में 'देवजामीनां पुत्रः असि' से की गई है। देवों अर्थात् इन्द्रियोंकी पत्नियां इन्द्रिय विषयजन्य वासनायें हैं। उनका स्वप्न पुत्र है। यहां पर विशेष बात कही गई वह यह कि स्वप्नको यमका करण बताया गया है। पाणिनि मुनिने करणका लक्षण अष्टाध्यायी में किया है कि— 'साधकतमं' (अष्टा. १।४।४२) अर्थात् जो कार्य साधनेंमें समीपतम साधन है वह करण है। कार्यसाधक सब साधनों में जो साधन अधिक आवश्यक है वह करण कह लाता है। इस लक्षणानुसार यमका स्वप्न करण है, इसका अभिप्राय यह हुआ, कि यम के मारने के कार्य में स्वप्न सब से अधिक आवश्यक साधन है। पाठक स्वप्न के इस विशेषण से उसकी भयंकरता का अनुमान सहज कर सकते हैं

इसी मंत्रके भावको ही नीचे लिखे मंत्र में शब्दभेदसे कहा गया है—

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न।
स मम यः पापस्तद्द्विषते प्र हिण्मः।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम् ॥

अथर्व. १९।५७।३

हे (देवानां पत्नीनां गर्भ) देवों की पत्नियोंके गर्भरूप तथा (यमस्य कर) यमके हाथ स्वप्न! (यो भद्रः) जो कल्याणकारी तेरा अंश है (सः) वह अंश (मम) मेरा होवे। (यः पापः) और जो तेरा पापी अनिष्टकारी अंश है (तत्) उस अंशको (द्विषते) द्वेष करनेवाले के प्रति (प्रहिण्मः) हम भेजते हैं। (तृष्टानां) तृषितों—लोभियों—क्रूरों के बीचमें तू (कृष्ण-शकुनेः) काले पक्षी के-कौएके – (मुखं) मुखकी तरह तू (मा असि) हमारे लिये बाधक मत हो, अर्थात् जिस प्रकार लोभियोंको वा क्रूरों के लिए कौए का मुख अनिष्टकारी होता है उस प्रकार तू हमारे लिए अनिष्टकारी मत हो।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य
करणः। अथर्व० १६।२।१॥

हे स्वप्न! (ते जनित्रं विद्म) तेरी उत्पत्ति को हम जानते हैं। तू (ग्राह्याः पुत्रः असि) ग्राही का पुत्र है और (यमस्य करणः) यम के कार्यों का साधक है।

इस मंत्रमें स्वप्न को ग्राही का बेटा कहा गया है। गठिया आदि शरीरके जकडने-

वाले रोग ग्राही कहलाते हैं। उन रोगोंके कारण शरीर में पीडा बनी रहती है, जिससे निद्रा नहीं आती और यदि आई भी तो स्वप्नकीसी अवस्था बनी रहती है। अतएव स्वप्नको ग्राही का पुत्र कहा है। यमस्य करण की व्याख्या ऊपर कर आए हैं।

अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥

अथर्व० १६।५।२; १६।५।९॥

हे स्वप्न तू (अन्तकः असि) प्राणान्त करनेवाला है। तू (मृत्युः असि) मारनेवाला है।

निद्रा बराबर न आनेसे व रोज स्वप्न आनेसे स्वास्थ्य बिगडकर अंतमें मृत्यु हो जाती है, अतएव स्वप्न को यहां अन्तक व मृत्यु के नामसे कहा गया है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि।
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥

अथर्व० १६।५।४॥

मंत्रका अर्थ हम ऊपर दे आए हैं। यहां पर ऐसा ही मंत्र आया है। इस मंत्र में स्वप्न को निर्ऋति का पुत्र कहा गया है। निर्ऋति से स्वप्न की उत्पत्ति का अभिप्राय यह है कि निर्ऋति अर्थात् कष्ट, दुःख आदि से मनुष्यको निद्रा नहीं आती। स्वप्न वह अवस्था है जिस अवस्थामें कि गाढ निद्रा का अभाव होता है। और कष्टादि की दशा में मनुष्य को गाढ निद्रा नहीं आती। इसी अभिप्राय से स्वप्नको निर्ऋति का पुत्र कहा है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तऽकोऽसि०

अथर्व० १६।५।४ वत् ॥ अथर्व० १६।५।५

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्न को अभूति अर्थात् अनैश्वर्य- दारिद्र्य का पुत्र कहा है। दरिद्रता के परितापसे भी मनुष्यको को निद्रा नहीं आती। इस प्रकार गरीबीसे भी स्वप्न (वास्तविक निद्रा का न आने) की उत्पत्ति है। शेष व्याख्या पूर्ववत् ही समझनी चाहिए।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि०। अथर्व० १६ ५।६॥

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्न को निर्भूति का पुत्र कहा गया है। निर्भूति का अर्थ

है ऐश्वर्य-सम्पत्ति का निकल जाना-नष्ट हो जाना। सम्पत्तिशाली की सम्पत्ति नष्ट हो जानेसे उसे भी निद्रा नहीं आती। वह सुखकी निद्रासे नहीं सो सकता। इस प्रकार संपत्तिविनाशका भी स्वप्न पुत्र है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि० ॥

अथर्व० १६।५।७॥

अर्थ पूर्ववत्। इस मंत्रमें स्वप्न को पराभूतिका पुत्र कहा गया है। पराभूतिका अर्थ है पराभव अर्थात् हारजाना, तिरस्कार को प्राप्त होना। पराभवसे वा तिरस्कार से मनुष्य को इतना मानसिक कष्ट होता है कि उसके लिए निद्रा हराम हो जाती है। और इस प्रकार पराभूति से स्वप्न की उत्पति होती है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥

अथर्व० १६।५।८॥

हे स्वप्न तेरी उत्पत्ति को हम जानते हैं तू देवोंकी पत्नियोंका पुत्र है और यमके कार्योंका साधक है। इस मंत्रका भाव हम पूर्व दर्शा आए हैं। देवपत्नियोंका पुत्र स्वप्न किस प्रकार है यह वहां विशद रूपसे दर्शा आए हैं।

इस प्रकार यह अथर्ववेदके १६ वें काण्डका ५ वां सूक्त संपूर्ण यम व स्वप्न विषयक है जो कि हमने ऊपर दिया है। इस सूक्तसे व इससे व दिए गए पहिले के मंत्रोंसे यम व स्वप्नका संबन्ध स्पष्ट होता है।

वह अपने पिता यमके कार्योंका निकटतम साधक है॥ इसके अतिरिक्त स्वप्न अर्थात् वास्तविक निद्रा का अभाव किन किन कारणोंसे होती है, तथा उससे क्या दुष्परिणाम होते हैं, स्वप्न यमका करण किस प्रकार है, इत्यादि बातों का उल्लेख इस सूक्तमें स्पष्ट रूपसे हमें देखने को मिला है।

यह सूक्त बहुतसा दुर्बोध है, तथापि अथर्ववेदके अन्य सूक्तोंके साथ इसका विचार यहां करनेसे इसकी दुर्बोधता किंचित् कम हुई है। तथापि यह खोजका विषय है। जो पाठक स्वप्नका विचार करनेवाले हैं और मनकी शक्तीका मनन करते हैं, वे इस सूक्त-के विषयकी अधिक खोज करें।

अपनी रक्षाकी प्रार्थना।

[४७]

(ऋषिः-अंगिराः प्राचेतसः। देवता—१ अग्निः, २ विश्वेदेवा, ३ सुधन्वा)

अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वकृद् विश्वशंभूः।
स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम ॥ १ ॥

विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः।
आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ २ ॥

इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त।
ते सौधन्वनाः स्वरानशानाः स्विष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु ॥ ३ ॥

अर्थ—(वैश्वानरः) विश्वका चालक, (विश्वकृत्) विश्व का निर्माण कर्ता, (विश्वशंभूः) विश्वको शान्ति देनेवाला, (अग्निः) प्रकाश देव (प्रातः-सवने अस्मान् पातु) प्रातःकालके यज्ञमें हमारी रक्षा करे। (सः पावकः नः द्रविणे दधातु) वह पवित्र करनेवाला हम सबको धनके बीच रखे। और इससे हम (आयुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम) दीर्घ आयुवाले और साथ भोजन करनेवाले होवें ॥ १ ॥

(विश्वेदेवाः मरुतः इन्द्रः) सब देव, मरुत् और इन्द्र ये सब (अस्मान् अस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः) हमको इस द्वितीय यज्ञमें न दूर करें। (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयुवाले और (प्रियं वदन्तः) प्रिय बोलनेवाले होकर, (वयं एषां देवानां सुमतौ स्याम) हम इन देवोंकी सुमतिमें रहें अर्थात् उनका उत्तम आशीर्वाद हमें मिले ॥ २ ॥

(ये चमसं ऐरयन्त) जो चमसको हवन के लिये प्रेरित करते हैं (कवीनां ऋतेन) उन कवियोंके सत्यपालनसे (इदं तृतीयं सवनं) यह तृतीय यज्ञ भाग होता है। (ते सौधन्वनाः स्वः आनशानाः) वे उत्तम धनुष्य धारण करनेवाले वीर आत्माका तेज प्राप्त करते हुए (नः स्विष्टिं वस्यः अभि नयन्तु) हमारे उत्तम यज्ञको उत्तम फल के प्रति ले जावें ॥ ३ ॥

ईश्वर के गुण।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें ईश्वरके गुणबोधक शब्द हैं जो विचार करने योग्य हैं—

१ वैश्वानरः=सब विश्वका चालक, जो सब विश्वमें रहकर विश्वको आगे बढाता है

२ विश्वकृत्=सब विश्वका बनानेवाला, जगत् का निर्माण कर्ता,

३ विश्व-शं-भूः=जिससे विश्वको सुख और शान्ति मिलती है,

४ अग्निः=प्रकाश देनेवाला, चेतना देनेवाला देव।

ये सब शब्द और विशेषतः पहिले तीन शब्द सबके निर्माता एक प्रभुके द्योतक हैं। यह ईश्वर हम सबकी रक्षा करे, उसकी कृपासे हमारी आयु बढे और हमारी मंगल-कामना सिद्ध होवे। हम आपसमें (प्रियं वदन्तः) प्रिय भाषण करें और ऐसा आच-रण करें, कि जिससे (वयं देवानां सुमतौ स्याम) हम देवोंके उत्तम आशीर्वाद प्राप्त करें, हमारे विषयमें देवोंकी उत्तम बुद्धि स्थिर होवे और (स्वः आनशानाः) हमारा आत्मा प्रकाशित होवे।

इस सूक्तका यह उत्तम उपदेश पाठक नित्य स्मरणमें रखें।

कल्याण प्राप्तिकी प्रार्थना।

[४८]

(ऋषिः— अंगिराः प्राचेतसः। देवता - मन्त्रोक्ताः)

श्येनो॑ऽसि गाय॒त्रच्छ॑न्दा॒ अनु॒ त्वा र॑भे।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृचि॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥
ऋ॒भुर॑सि॒ जग॑च्छन्दा॒ अनु॒ त्वा र॑भे।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृचि॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥
वृषा॑सि त्रि॒ष्टुप्छ॑न्दा॒ अनु॒ त्वा र॑भे।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृचि॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

अर्थ— हे देव! (गायत्र-छन्दाः श्येनः असि) सबकी प्राण रक्षाका छंद धारण करनेवाला श्येनके समान गतिशील तू है। इसलिये (त्वा अनु आरभे) तेरे लिये हम सत्कार्यका प्रारंभ करते हैं। (जगत्-छन्दाः

ऋभुः असि)तू जगत्‌की भलाईका छंद धारण करनेवाला बडा कर्मकुशल है इसलिये (अनु०) तेरे लिये हम इस यज्ञका प्रारंभ करते हैं। (त्रि-ष्टुभ्-छन्दाः वृषा असि) तीनों - अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत सं-बंधी-साध्यसाधनका छन्द धारण करनेवाला तूं महाबलवान बैलके समान सामर्थ्यशाली हो। इसलिये (अस्य यज्ञस्य उदृचि) इस यज्ञकी उत्तम समाप्ति तक (मां स्वस्ति सं वह) मुझे सुखसे ले चल, (स्व-आ-हा) मैं अपनी शक्तिका सबकी भलाईके लिये त्याग करता हूं। ॥ १—३ ॥

मेघोंका संचार।

[४९]

(ऋषिः- गार्ग्यः। देवता-अग्निः)

नहि ते अग्ने तन्व१ः क्रूरमानंश मर्त्यः।
कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव ॥ १ ॥
मेष इव वै सं च वि चोर्व१च्यसे यदुत्तरद्रावुपरश्च खादतः।
शीर्ष्णा शिरोऽप्ससाप्सो अर्दयन्नंशून् बभस्ति हरितेभिरासभिः ॥२॥
सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्रितः ॥ ३ ॥

अर्थ- हे (अग्ने) प्रकाश स्वरूप देव ! (मर्त्यः ते तन्वः क्रूरं नहि आनंश) कोई मनुष्य तेरे शरीरकी क्रूरताको नहीं स्वीकार कर सकता। जिस प्रकार (कपिः तेजनं बभस्ति) क नाम उदक का पान करनेवाला मेघ प्रकाशको धारण करता है और (गौः स्वं जरायु इव) जिस प्रकार अपनी जरायुको गौ लेती है ॥ १ ॥

(मेष इव वै) निश्चय पूर्वक मेढोंके समान तू (सं अच्यसे) इकट्ठा होता है और (च वि अच्यसे) फैलता है। (यत् उत्तरद्रौ खादतः उपरः च) और उत्तम वनमें घास खाते हुए ठहरता है। (शीर्ष्णा शिरः अ-प्ससा अप्सः अर्दयन्) शिरसे सिरको और रूपसे रूपको दबाता हुआ

(हरितेभिः आसाभिः अंशून् बभस्ति) हरिद्वर्णके मुखोंसे किरणोंका धारण करता है ॥ २ ॥

(सुपर्णाः आखरे द्यवि वाचं उप अक्रत) अनेक किरण इस लोकले आकाशमें शब्द करते हैं। और (कृष्णाः इषिराः अनर्तिषुः) जलका आकर्षण करनेवाले गतिमान किरण यहां नाच रहे हैं। (यत् उपरस्य निष्कृतिं नि नियन्ति) जब ठहरनेवाले मेघ की निष्कृति अर्थात् वृष्टिरूप परिणामको निश्चित करते हैं, जब वे (पुरु रेतः दधिरे) बहुत जल धारण करते हैं ॥ ३ ॥

यह सूक्त अत्यंत दुर्बोध है, परंतु निम्नलिखित भावार्थके अनुसंधानसे कुछ भाव पाठक जान सकते हैं—

" हे ईश्वर! जिस समय तू क्रूर होता है, उस समय तेरे सन्मुख कोईभी मनुष्य ठहर नहीं सकता; तेरा क्रोध इतना असह्य है। काला मेघ भी प्रकाशका धारण कर सकेगा, अथवा गौ भी अपनी जरायुको खा जायगी, परंतु कोई मनुष्य ईश्वरका कोप होनेपर क्षणमात्रभी ठहर नहीं सकता ॥ १ ॥

जिस प्रकार मेढे या बकरे किसी समय इकट्ठे होकर और किसी किसी समय अलग अलग होकर उपजाऊ भूमीपरका घास खाते हैं, और किसी किसी समय अपने सिरसे दूसरेके सिरको टकराते हैं और अपने शरीरसे दूसरेको घर्षण भी करते हैं और इस प्रकारकी लीला करते हुए घास खाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी आपसमें मिलते और कभी लडते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, तथापि ईश्वरके क्रोधके सन्मुख कोई ठहर नहीं सकता ॥ २ ॥

ईश्वर की कृपासे ही सूर्यकिरण सब जगत्‌में नाच रहे हैं और जल का आकर्षण करते हुए वेगसे जा रहे हैं; येही मेघोंको बनाते हैं और उनसे वृष्टि करते हैं तब सब जगत् को शान्त करनेवाला जल पर्याप्त प्रमाणमें सबको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

इस प्रकार परमेश्वरके सामर्थ्यका ध्यान करना योग्य है।

धान्यकी सुरक्षा !

[५०]

(ऋषिः- अथर्वा अभयकामः। देवता - अश्विनौ)

हतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम् ।
यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्याय ॥ १ ॥

तर्द है पतङ्ग है जभ्य हा उपक्वस ।
ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान् यवानहिंसन्तो अपोदित ॥ २ ॥

तर्दापते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे ।
य आरण्या व्यद्वरा ये के च स्थ व्यद्वरास्तान्त्सर्वान् जम्भयामसि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (तर्दं समंकं आखुं हतं) नाश करनेवाले और भूमिमें बिल करके रहनेवाले चूहेको मारो। उसका (शिरः छिन्तं) सिर काटो। (पृष्टीः अपि शृणीतं) उसकी पीठ तोडो। वे चूहे (यवान् न इत् अदान) जौ को कभी न खावें, (मुखं अपि नह्यतं) उनका मुख बंद करो, (अथ धान्याय अभयं कृणुतं) और धान्यके लिये निर्भयता करो ॥ १ ॥

(है तर्द) हे हिंसक ! (है पतंग) हे शलभ ! (हा जभ्य, उपक्वस) हे वध्य और दुष्ट ! (ब्रह्मा इव असंस्थितं हविः) ब्रह्मा जिस प्रकार असंस्कृत हविको छोडता है, उस प्रकार (इमान् यवान् अनदन्तः अहिंसन्तः) इन जौको न खाते हुए और न नष्ट करते हुए (अपोदित) तुम दूर हट जाओ अर्थात् इसको छोड दो ॥ २ ॥

हे (तर्दापते) महा हिंसक ! हे (वघापते) शलभो ! हे (तृष्टजम्भाः) तीक्ष्ण दंष्ट्रावाले ! (मे आशृणोत) मेरा भाषण सुनो। (ये आरण्याः व्यद्वराः) जो जंगली और विशेष खानेवाले हैं और (ये के च व्यद्वराः स्थ) जो कोई भक्षक हो, (तान् सर्वान् जम्भयामसि) उस सबको नाश करते हैं ॥ ३ ॥

धान्यके नाशक जीव।

चूहे, पतङ्ग, शलभ आदि जन्तु ऐसे हैं कि जो धान्यका नाश करते हैं, पौधोंको नष्ट करते हैं और शलभ तो ऐसे हैं कि जो करोडोंकी संख्यामें इकट्ठे मिलकर आते हैं, धान्यों और वृक्षोंपर धावा करते हैं और उसका नाश करते हैं। इनसे धान्यादिका बचाव करना चाहिये। इसलिये चूहों और शलभोंको मारना चाहिये ऐसा प्रथम मंत्रमें कहा है।

इस सूक्तमें इनका नाश करनेकी विधि नहीं कही है, केवल नाश करना चाहिये और धान्यका बचाव करना चाहिये इतनाही कहा है। यदि किसी स्थानपर इनके नाश करनेकी विधी मिल जाय, तो किसानोंका बहुत लाभ होगा। चूहेभी हजारोंकी संख्यामें आकर खेतोंका नाश करते हैं और शलभ तो करोडोंकी संख्या में आते हैं। यदि कोई शोधक इनके नाशका उपाय निकाले, तो जगत् पर बडा उपकार होसकता है।

अन्तर्बाह्य शुद्धता।

[५१]

(ऋषिः—शन्तातिः। देवता—आपः, ३ वरुणः)

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥
आपो अस्मान् मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि ॥२॥
यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्या३श्चरन्ति।
अचित्त्या चेत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥३॥
॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (वायोः पवित्रेण पूतः) वायु के पवित्रीकरणके साधनद्वारा शुद्ध हुआ (प्रत्यङ् अति द्रुतः सोमः) प्रत्यक्ष छाना हुआ सोम (इन्द्रस्य युज्यः सखा) इन्द्र शक्तिका योग्य मित्र है ॥ १ ॥

(मातरः आपः अस्मान् सूदयन्तु) माता के समान हितकारी जल हमें

शुद्ध करे। (घृतप्वः नः घृतेन पुनन्तु) पवित्र करनेवाला जल हमें जलके द्वारा पवित्र करे। (देवीः हि विश्वं रिप्रं प्रवहन्ति) दिव्य जल सब दोष बहा देता है, (आभ्यः उत् इत् शुचिः पूतः आ एमि) इनसे ही शुद्ध और पवित्र होकर मैं आगे चलता हूं॥ २॥

हे वरुण! (मनुष्याः यत् किंच इदं अभिद्रोहं) साधारण मनुष्य जो कुछ भी दुराचार (दैव्ये जने चरन्ति) दिव्यजनों के विषय में करते हैं, (च इत् अचित्त्या तव धर्म युयोपिम) और जो विना जानते हुए तेरे बताये धर्मको तोडते हैं, हे देव! (नः तस्मात् एनसः मा रीरिषः) हम सबको उस पापसे नष्ट मत कर॥ ३॥

सोमका महात्म्य।

सोमका वर्णन प्रथम मंत्रमें है। यह सोम प्रथमतः छाना जाता है, पश्चात् उसको हवा देनेके लिये एक बर्तनसे दूसरे बर्तनमें किया जाता है; जब इस प्रकार यह सिद्ध होता है, तब यह अपने अन्दर रहनेवाली इन्द्र शक्तीको बढानेवाला होता है। अर्थात् इसके पीनेसे शरीरकी इन्द्रशक्ति बढती है।

जलका महात्म्य।

द्वितीय मन्त्रमें जलका महात्म्य कहा है। जल प्राणियोंको शान्ति देता है, पवित्र करता है, शरीरके सब दोषोंको दूर करता है और अन्तर्बाह्य शुद्ध करने द्वारा बडा आरोग्य देता है।

द्रोह न करना।

तृतीय मन्त्रमें कहा है, कि कोई मनुष्य किसीका द्रोह और अपराध न करे। न जानते हुए भी जो द्रोह हुआ होगा, उससे परमेश्वरकी प्रार्थना करके क्षमा मांगना चाहिये।

इन तीनों मंत्रोंमें शुद्धिद्वारा शक्तिवृद्धि करनेका उपदेश है। सोम शुद्ध होनेसे वह इन्द्रशक्तिकी सहायता करता है, जल शुद्धता करके आरोग्य देता है और अहिंसा वृत्तीसे आत्मशुद्धि होकर आत्मिक बल बढ जाता है। तीनों मंत्रोंका यह आशय देखने योग्य है। शुद्धिद्वारा बलकी वृद्धि होती है यह सबका तात्पर्य है।

सूर्य-किरण-चिकित्सा।

[५२]

(ऋषिः—भागलिः । देवता-मन्त्रोक्ताः)

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् ।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥
नि गावो गोष्ठे असदन् नि मृगासो अविक्षत ।
न्यूर्मयो नदीनां न्यदृष्टा अलिप्सत ॥ २ ॥
आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम् ।
आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान् नि शमयत् ॥ ३ ॥

अर्थ—(आदित्यः विश्वदृष्टः) सबका आदान करनेवाला, सब जिसको देखते हैं और जो (अ-दृष्ट-हा सूर्यः) अदृष्ट दोषोंका नाश करनेवाला सूर्य (रक्षांसि निजूर्वन) राक्षसोंका नाश करता हुआ (पर्वतेभ्यः पुरः) पर्वतोंसे आगे (दिवः उत् एति) द्युलोक में ऊपर आता है, अर्थात् उदित होता है ॥ १ ॥

(गावः गोष्ठे नि असदन्) गौवें गोशाला में ठहरी हैं । (मृगासः नि-अविक्षत) मृग अपने स्थानमें प्रविष्ट हुए हैं । (नदीनां ऊर्मयः नि) नदियोंकी लहरें चलीं गईं और अब वे (अदृष्टाः नि अलिप्सत) अदृष्ट होनेके कारण उनकी प्राप्ति की इच्छा की जाती है ॥ २ ॥

(कण्वस्य आयुः-ददं) रोगीको आयु देनेवाली, (विपश्चितं श्रुतां वीरुधं) बुद्धि बढानेवाली प्रसिद्ध औषधि (विश्वभेषजीं आ आभारिषं)सब रोगों की औषधीको मैंने प्राप्त किया है और (अस्य अदृष्टान् नि शमयत्)इसके अदृष्ट दोषोंको दूर करते हैं ॥ ३ ॥

सूर्यका महत्त्व ।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें सूर्यका महत्त्व वर्णन किया है 'सूर्य' सब जलरसोंका आदान करता है, इसलिये वह 'आदित्य' कहलाता है । (विश्व-दृष्टः) उसको सब देखते हैं, वह आंखसे प्रत्यक्ष दिखाई देता है । वह सूर्य (अ-दृष्ट-हा) अदृष्ट

दोषोंको नाश करनेवाला है। शरीरमें अथवा जगत्में जो रोग-बीज, दोष और हानि कारक रोगमूल हैं, उनको सूर्यके किरण नाश करते हैं। (रक्षांसि-क्षरांसि-निजूर्वन्) राक्षसों अर्थात् क्षीणता करनेवाले रोगजन्तुओंका नाश करता है। इस प्रकारका यह सूर्य प्रतिदिन उदयको प्राप्त होता है। सूर्यके ये गुण और चिकित्सा करनेवालोंको स्मरणमें रखने चाहिये।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि दिनमें गौवें भ्रमण करती हैं और रात्रीमें गोशालामें आ कर निवास करती हैं। मृगभी इसी प्रकार विश्रामके लिये अपने स्थानमें आते हैं। नदी की लहरें भी कभी वेगसे उठती हैं, तो दूसरे क्षणमें चली जाती हैं। अर्थात् इस जगतमें कोई अवस्था स्थिर नहीं है। रोगभी इसी कारण नाश होनेवाले हैं। रोगी यह मनमें ठीक प्रकार समझे कि इस नश्वर जगत्में रोगभी नष्ट होनेवाले हैं, स्थिर रूपसे रहनेवाले नहीं हैं। अतः रोग दूर होंगे और आरोग्य मिलेगा, यह निश्चय रखना उचित है।

रोगीकी अवस्था इस सूक्तमें 'कण्व' शब्दसे कही है। शरीरकी पीडित अवस्थामें रोगी विलक्षण शब्द करता रहता है। इसको कण्व कहते हैं। ऐसी अवस्था रोगी यदि सुप्रसिद्ध (विश्व-भेषजी) सब रोगोंकी औषधीका सेवन करेगा, तो वह निःसंदेह रोगमुक्त होगा। इस मंत्रमें जो सब रोगोंका शमन करनेवाली औषधी कही है; वह प्रथम मंत्रोक्त सूर्य-प्रकाशही है। सूर्यकिरणेंही यह वल्लीके रूपमें हमारे पास आती हैं। इस सूर्यप्रकाश में ऐसा सामर्थ्य है, कि वे दृष्ट और अदृष्ट सब प्रकारके रोगबीजोंका नाश करते हैं। जहां सूर्य-प्रकाश होता है, वहां कोई रोगबीज नहीं रह सकता। इतना प्रभाव सूर्य किरणोंमें है। इस विज्ञान का विचार करनेसे मनुष्य अपना रहन सहन योग्य प्रकार करके सूर्य देवसे आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् नंगा शरीर सूर्यप्रकाशमें रखनेसे शरीरके रोगक्रिमी दूर होंगे, घरमें सूर्यप्रकाश आनेसे घरके रोग दूर होंगे, नगरमें सूर्यप्रकाश गलीगलीमें पहुंचनेसे सब नगर आरोग्यपूर्ण होसकता है। इस प्रकार सब मनुष्य इस सूर्यके प्रकाशसे आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य किरण जिनपर गिरते हैं, ऐसी वनस्पतियां खानेसे भी यही लाभ होते हैं। सूर्यकिरणोंमें भ्रमण करनेवाली गौका दूध पीनेसेभी लाभ होते हैं। इस प्रकार योजनापूर्वक जानकर सूर्यकिरण चिकित्साका विषय सबको समझना चाहिये।

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२९	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	,, ।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	,, १।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	,, ।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	,, १)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	,, ॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	,, ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	॥।) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ राजधर्मपर्व	[७७–८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)

कुल मूल्य ४५) कुलडा. व्य.८ =)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ११

अंक ४

क्रमांक १२४

चैत्र

संवत् १९८६

एप्रील

सन १९३०

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष ११

अंक ४

क्रमांक १२४

चैत्र

संवत् १९८६

एप्रील

सन १९३०

वैदिक धर्म.

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादकः— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि० सातारा।

श्रेष्ठ ईश्वर।

शंसा महामिन्द्रं यस्मिन्विश्वा आ कृष्टयः सोमपाः काममव्यन्।
यं सुक्रतुं धिषणे विभ्वतष्टं घनं वृत्राणां जनयन्त देवाः ॥१२॥

ऋ० ३।४९।१॥

"(धिषणे देवाः) द्युलोकसे पृथ्वी लोक तक रहनेवाले दैवी शक्तिसे युक्त सूर्य-चन्द्रादि सब देव (यं सुक्रतुं) जिस उत्तम कर्म करनेवाले और (वृत्राणां घनं) आवरक शत्रुओंका नाश करनेवाले तथा (विभ्वतष्टं जनयन्त) महान् कर्मोंके लिये प्रसिद्ध एक देवका सामर्थ्य प्रकट करते हैं, तथा (यस्मिन् सोमपाः कृष्टयः) जिसके आश्रयसे रहकर सोमरस का पान करनेवाले सब लोग अपनी (कामं आ अव्यन्) मनकामना तृप्त करते हैं, उस (महां इन्द्रं शंस) बडे प्रभुके गुणोंका वर्णन कर।"

इस त्रिभुवनमें रहनेवाले सूर्यचन्द्रादि प्रकाशक शक्तिकेन्द्र जिस ईश्वरका सामर्थ्य प्रकट करते हैं, जिसने इस सृष्टिरचनाका अद्भुत कार्य उत्तम रीतिसे किया है, जो घातपात करनेवाले सब शत्रुओंका नाश करता है, जिसकी प्रसिद्धि श्रेष्ठ कर्मोंके लिये ही है और जिसके आश्रय से रहकर यज्ञ करनेवाले सब धार्मिक लोग अपनी श्रेष्ठ आकांक्षाएं तृप्त करते हैं, उस सबसे श्रेष्ठ महासामर्थ्यशाली परमेश्वर का गुणवर्णन करना सब को योग्य है, क्योंकि उसके गुणोंका चिंतन करनेसे उन श्रेष्ठ गुणोंका धारण होता है, जिससे मनुष्य श्रेष्ठ बनता है।

विदेशी मनी-आर्डर.

किसी किसी समय विदेशसे मनी-आर्डर आते हैं और उस धन का क्या करना चाहिये, इस विषयमें कोई पत्र आता नहीं है, अथवा इतनी देरीसे पत्र आता है कि उस का कोई अनुसंधान नहीं रहता। इस प्रकार के तीन म० आ० हमारे पास पडे है—

[१]

ता. ११।४।२८के दिन Mr. R. S. Burma, Siparia Trinidad से १७॥=) की म. आ. आगई। पश्चात् ता. ११।६।२९ के दिन ६॥=) की म. आ. इनहीसे दुबारा आगई। हमने दोनों वार उनको पत्र लिखे कि इस रकमकी कौनसी पुस्तकें चाहिये, सो लिखना; परंतु पुस्तकोंकी नामावली अभीतक उक्त महाशयजीसे हमें प्राप्त नहीं हुई। परंतु ता.४।११।२८ का तथा ६।२।३० का ऐसे दो पत्र उनके आगये हैं जिन पत्रों में इतनाही लिखा है कि म. आ. से रकम भेजी परंतु अबतक पुस्तकें क्यों नहीं भेजी? पुस्तकें समयपर न भेजने के कारण ये हमें दोष भी दे रहे हैं। परंतु हम क्या करें? यह हम समझ नहीं सकते क्यों कि इसमें हमारा दोष कहां है, जब पुस्तकों की नामावली न आजाय तो हम कौनसी पुस्तकें भेजें? हमारे तीनों पत्रोंका उत्तर तक नहीं है, इससे हमें पता नहीं चलता है कि हमारे पत्र उनको पहुंचे या नहीं पहुंचे?

[२]

इसी प्रकार (Mr. K. T. Dwivedi, Zanzibar से १०) दस रु० की म० आ० आगई है। किस लिये आई है इसका पत्ता अभीतक नहीं है। यदि त्रिनिदाद तथा झांझीबारमें उक्त महाशयोंसे परिचय रखनेवाले कोई सज्जन हों, तो उनसे प्रेरणा करें और उनसे आवश्यक पुस्तकोंकी नामावली यथासमय अतिशीघ्र भिजवा दें। बडी कृपा होगी।

हरएक विदेशमें रहनेवाले महाशयसे प्रार्थना है कि वे म० आ० से रकम भेजनेके समयही अपेक्षित पुस्तकों की नामावली भेजदें, और स्मरण के लिये दुबारा पत्र लिखना हो तो उस पत्रमें भी वह नामावली दुहरा दें। यहां हम उसी दिन पुस्तकें भेजते हैं जिस दिन पत्र या म० आ० आता है।

विदेशमें रहनेवाले महाशयोंसे और एक निवेदन है कि वे अपना पता अंग्रेजी में सुपाठ्य रीतिसे लिखें। भाषामें लिखे पतेसे कुछ कार्य नहीं चलता, क्योंकि अंग्रेजी मुहल्लों और ग्रामोंके नाम भाषामें कुछ और लिखे जाते हैं और अंग्रेजीमें स्पेलिंग कुछ और होता है। संभव है इसी कारण हमारे पत्र उक्त दोनों महाशयोंको न मिले हों।

स्वदेशी ग्राहक।

भारतवर्षीय कई ग्राहक ऐसे होते हैं कि जो सब पत्र भाषा में लिखते हैं परंतु पता ऊर्दू में लिखते हैं अथवा किसी किसी समय बिलकुल पता या नाम भी नहीं लिखते। ऊर्दू हम पढ नहीं सकते और न यहां इस स्थानपर कोई पढ सकता है। और पत्रपर नाम तक न लिखने से हम उस पत्रका क्या कर सकते हैं? 'पोरबंदर' से आज ऐसा एक पत्र आया है, न मालूम किससे आया है। कृपा करके हरएक ग्राहक अपना नाम और पता सुपाठ्य रीतिसे भाषामें अथवा अंग्रेजी में लिखा करें, जिससे उनको भी लाभ होगा और स्वाध्याय-मंडलके कार्यमें भी क्षती नहीं होगी।

प्रबंधकर्ता, स्वाध्याय-मंडल, औंध.

वेदों की योग्यता।
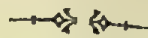
एक कोल्हापुरके महाराष्ट्रीय क्षत्रिय महाशयने वेद को न मानने के कारण प्रसिद्ध किए हैं। आपने अपना मत स्पष्ट रीतिसे जग-जाहिर किया, इससे आप निःसंशय प्रशंसा के पात्र हैं। वेद न मानने के उनके कारण इस प्रकार हैं:—

१ ऋग्वेद बिलकुल पुराना ग्रंथ है। इसमें बिलकुल पुराना इतिहास है। इससे वह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण मालूम होता है। पर उसमें आज उपयोगी होनेवाला धर्म नहीं है।

२ वैदिक—काल का समाज हम (उक्त महाशय) जैसे मनुष्योंसे ही बना था, देवों का नहीं था। उनमें भी द्वेष, मत्सर, व्यभिचार, सुरापान, द्यूत आदि व्यसन थे। अतः वेद धर्मग्रंथ न थे।

३ वेद शुद्ध और देव के मुख से निकले हुए ग्रंथ नहीं हैं।

४ यजुर्वेद में घृणित त्याज्य बातें हैं। उसमें यज्ञ का घृणित प्रकार, प्राणिवध, खून की नदियां, अश्वमेध, राजसूय यज्ञ आदि खराब बातें हैं। दया नहीं, माया नहीं, ऐसे यज्ञ चूल्हेमें जाँय!

५ आश्चर्य तो यही है कि उस समय के पांडवों जैसे ज्ञानवान, धर्मनिष्ठ क्षत्रियों को ये यज्ञ कैसे अच्छे लगते थे? मतलब यह कि सभी मूढ बन गए थे, और क्या?

६ अथर्ववेद में तो जादू-टोना, जारण, मारण, उच्चाटन, भूत लाना या भगाना, वाजीकरण, स्त्री को मोहित करना, बलि देना, इंद्रजाल आदि बताया गया है। क्या इसे धर्म कहें? उस समय के लोग गँवार, मूर्ख एवं धूर्त थे।

७ ऐसे वेदों का धर्म हम न मानेंगे। इस अधर्म का कीडाही जला देना चाहिए।

८ ब्राह्मणोंने सारे समाज की बुद्धि ही नष्ट कर डाली है। पंचगव्य पीकर और गले में हिलगा कर क्या कभी कोई धार्मिक बना है? यह सब ब्राह्मणों की धूर्तता है। इत्यादि।

ये तो हुए वेद को धर्म न मानने के कारण। इस पर प्रतिज्ञा यह है कि "हमारी (उक्त महाशय की) दृष्टि दुरभिमान से ऐसी दूर हो गई है कि जो सत्य है और हितकर है वह मानने के लिए हम एक डग भी पीछे न हटेंगे।"

ऐसे शुद्धभाव से उक्त बातें कहीं गई हैं अतः उन पर कुछ विचार करना आवश्यक है। उक्त विधान वेदों के संबंध में हैं अतः हमारा प्रश्न यह है कि आपने कौनसी वैदिक संहिता का कब और किस प्रकार अध्ययन किया था? कितने वर्ष आप का वेद पठन जारी था? अथवा वेदका व्यासंग न करके ही आप वेद से घृणा करने लगे? इन प्रश्नों का उत्तर उक्त मत की कीमत निश्चित करेगा।

हमारी समझ में उक्त महाशय को वेद की मूल संहिताका स्वतः अध्ययन करने योग्य संस्कृत का ज्ञान नहीं है। उन्होने किसी साहबका लिखा अंग्रेजी भाषान्तर कुछ कुछ पढा होगा और उसीसे अनुमान किया होगा। असली कागजाद स्वयं न देख यदि मुकदमा लडने जाँय तो बडा बुरा हाल होगा। वैसा ही हाल उक्त महाशय का हुआ है। वेदके असली कागजात स्वतः न देखकर केवल हिन्दुओं के हित-शत्रुओंके लिखे अविश्वसनीय हालसे मत निश्चित करना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। मालूम होता है सबूत पर पूर्ण विचार करने योग्य वे शान्त नहीं रह पाए। यदि उन्होने असली वेद अध्ययन किया हो तो अपने निजके कथनको सिद्ध करनेके लिए वे वेदके मंत्र उद्धृत करें।

ऊपर जो आक्षेप उद्धृत किए गए हैं उनमें से पांचवें आक्षेपमें कहा है पांडवोंके सदृश ज्ञानी क्षत्रिय भी ब्राह्मणोंकी सलाहसे बर्ताव करते थे अतः "वे सब मूर्ख बन गए थे"। युधिष्ठिर ने जो अश्वमेधादि यज्ञ किए थे सो तो श्रीकृष्णकी सलाहसे किए थे। तो उक्त महाशयके कथनानुसार भगवान् श्रीकृष्ण भी मूर्ख ही होने चाहिए!! भीष्माचार्य भी मूर्ख और अश्वमेध करने के कारण युधिष्ठिर तो मूर्ख

बना ही गया। भगवान् श्रीकृष्ण, भीष्माचार्य, युधिष्ठिर इनको अब तक किसीनेभी मूर्ख नहीं कहा था सो बात उक्त महाशयने की और अपनी हंसी करा ली। सभी लोगोंने श्रीकृष्ण को 'पूर्ण पुरुष' कहा है। सभी ग्रंथकर्ता उन्हें सब प्रकार से पूर्ण पुरुष मानते हैं। आज दिन तक भीष्माचार्यके बारेमें किसीने अनादर नहीं दिखाया। ऐसे महान् जगद्-वन्द्य लोकोत्तर पुरुषको 'मूर्ख' कहने की ढिटाई करनेवाले के मस्तिष्कमें ही कोई न कोई विकृति अवश्य होनी चाहिए।

जब कोई मनुष्य जगद्-वंद्य महान् पुरुषोंको मूर्ख कहने लगता है और खुदको ही स्याना समझता है, तब वह स्वयं ही मूर्ख है। युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंके कहनेमें आकर अश्वमेध किया और श्रीकृष्ण तथा भीष्माचार्य दोनोंने ब्राह्मणोंकी प्रेरणासे उसे अनुमति दी इस लिए वे लोग मूर्ख सिद्ध हुए और उक्त लेखक अपनी साध्वी धर्म-पत्निके श्राद्धकी दक्षिणा मुसलमानों को देते हैं और वह दक्षिणा उनके घर पर पहुंचा देते हैं इससे वे स्याने हैं !!

उक्त उद्धृत बातों में दूसरा अंश है कि "वैदिक कालके मनुष्य हमारे (उक्त महाशय के) सदृश ही थे और उनमें द्वेष, मत्सर, व्यभिचार, द्यूत, सुरा-पान आदि व्यसन थे"। यह सिद्ध करने के लिए कि वैदिक काल के मनुष्योंमें दोष थे, जो वाक्य लिखा है उसी से सिद्ध होता है कि लेखक उसी दोष से दोषी है। महान् पुरुषों को दोष लगाने से उनका तो कुछ भी नहीं बिगडता। परन्तु दोष देने-वाला ही अपनी निज की फजीहत करा लेता है। यद्यपि मान लिया जाय कि उक्त महाशय के जैसे आंख, कान, नाक आदि अवयव हैं वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण, भीष्माचार्य और युधिष्ठिर के भी थे। इस दृष्टिसे यद्यपि अवयवों में समानता थी, तब भी अंतः-शक्ति के विकास के कारण भगवान् श्रीकृष्ण को सारा संसार वंदन करता है और उक्त महाशय को उन्हीं के गांव में भी कोई नहीं पूछता। यह हाल उन प्राचीन कालके महापुरुषों को 'मूर्ख' कहने से पलट नहीं सकता। यदि पलटाना ही हो तो आत्म-शक्ति को बढानेसे ही वह पलट सकता है।

कहा जाता है कि प्राचीन काल के लोग जुआंडी थे। पर कुछ लोगों के जुआंडी होनेसे वेदोंमें दोष किस प्रकार पैदा हो जाता है? आजकल कुछ लोग चोरी करते हैं, इससे क्या आजकल का कानून दोषी हो सकता है? यदि ऐसा नहीं होता तो यदि मान भी लें कि प्राचीन काल के कुछ लोग जुआंडी थे तोभी उससे वेदको दोष लगने का क्या कारण? वेद तो स्पष्ट शब्दों में आज्ञा करता है कि-

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व।
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः॥ ऋ० १०।३४।१३॥

"पांसों से मत खेल (जुआं मत खेल,) खेती कर, जो धन मिलेगा उसीको बहुत समझकर उसी में आनन्द मानले।"

यह है वेद का उपदेश। चारों वेदों में ऐसा एक भी मंत्र नहीं है जिसमें कहा हो कि जुआं खेलो। इस मंत्र से सिद्ध होता है कि वेद तो जुआं खेलने में प्रतिबंध करता है। सुरापान का भी भयंकर परि-णाम दिखलाकर वेद ने निषेध ही किया है।

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते॥ ऋ. ८।२।१२॥

"शराब पीये हुए लोग निर्बुद्ध हो जाते हैं, उघाडे, नंगे भटकते हैं और आपस में लडते हैं।" अतएव कोई शराब न पीये। इस प्रकार वेदने शराब पीने से होने होनेवाली भयंकर बुराई का चित्र खींच दिया है और शराब पीने को मना किया है। व्यभि-चार के संबंध में कहा है-

मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः।
ऋ. ७।२१।५॥

"व्यभिचारी लोगों को यज्ञ में न लो।" और इस प्रकार व्यभिचार का निषेध किया है। इस प्रकार प्रायः सभी दुष्ट व्यवहारों का निषेध वेदने स्पष्ट शब्दों से किया है और साफ साफ कह दिया है कि कुमार्ग से मत जाओ। ऐसी दशा में जब लोग ये दोष वेदों के मत्थे मढते हैं, तब यही स्पष्ट होता है कि या तो इन्होंने वेद देखा ही नहीं है, या वे सत्यकी बिलकुल परवाह नहीं करते।

अश्वमेध और राजसूय यज्ञों के लिए प्राचीन काल के ब्राह्मणों पर क्रोध किया जाता है। पर

क्रोध करनेवाले भूल जाते हैं कि वे यज्ञ केवल क्षत्रियों के ही होते थे। ये यज्ञ ब्राह्मणों की रचना नहीं हैं वे क्षत्रियों के यज्ञ हैं। राजसूय यज्ञ में ब्राह्मणों को क्षत्रियों से नीचे के स्थान में बैठना पडता था। राजसूय (राज+सूय) यज्ञ में राजा का चुनाव होता था। राष्ट्रके सब लोग इकत्रित होते थे। और राजगद्दीपर बैठने के लिए योग्य मनुष्य का चुनाव होता था। राजसूय का मुख्य विषय यह रहता था।

राजसूयेनेष्ट्वा राजेति नामाधत्त।
गो ब्रा०पथ ५।८॥
राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति।
शत० ब्रा० ५।१।१।१२॥
राज्ञ एव राजसूयं।
शत० ब्रा० ५।१।१।१२॥

"राजसूय यज्ञ करके 'राजा' नाम धारण किया। राजसूय यज्ञ करके ही राजा होता है। केवल राजा का ही राजसूय यज्ञ है।"

राजसूय यज्ञ केवल राजा का-क्षत्रिय का-यज्ञ है। उसमें क्षत्रिय अग्रभाग में बैठता है और उसके नीचे ब्राह्मण बैठता है। देखिए-

ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये।
बृहदा० उप० १।४।११॥

"राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है।" राजा के चुनाव के लिए सब लोग इकट्ठे होते थे, उस जमाव में क्षत्रिय मुख्य स्थान में बैठाए जाते थे, और दूसरे लोग अन्यान्य स्थानोंमें बैठते थे। ये सब लोग अपने मत के अनुसार राजा का चुनाव करते थे जिसे अधिक मत मिलते थे उसी को राज्य मिलता था। इस प्रकार चुनाव हो चुकने पर ब्राह्मणों का काम आता था और वह काम था जाहिर करने का कि अमुक चुनकर आया। यह भी देखिए कि उस समय ब्राह्मण नवीन राज्य प्राप्त हुए राजा को किस प्रकार उपदेश करते थे।-

राजन्! ते विशि क्षेमं। अथर्व० ३।५॥
त्वां विशो वृणतां राज्याय।
त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः॥ अथर्व०३।४।३॥
हे राजन्! सर्वास्त्वा प्रदिशो ह्वयन्तु॥
अथर्व० ३।४।३॥
बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन्।
अथर्व. ३।४।७॥
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु। अथर्व.३।४।७॥
आ त्वागन् राष्ट्रं सह वर्चसो दिहि।
अथर्व. ३।४।१॥

"हे राजन्! समझलो कि तुझारी भलाई प्रजामें ही है। ये सब प्रजाजन राज्य चलाने के लिए तुझे चुनें। ये पांच प्रकार के लोग तुझे ही पसंद करें। सब प्रजा तुम्हारा ही जयजयकार करे। विविध प्रकार की सब प्रजाने मिलकर तुझे श्रेष्ठ बनाया है। सब प्रजा समझ-बूझकर तुझारा ही आदर करे। अब राष्ट्र तुझे मिला है। आगे चलकर अपने तेज से तुम प्रकाशित हो।"

इन राजसूय-प्रकरण के मंत्रों से विदित होगा कि यह राजा का चुनाव ही है। वास्तव में राजसूय यज्ञ का यही मुख्य काम है। इस राजसूय यज्ञमें जब उक्त आशय की, ब्राह्मणोंके नेताओं की वक्तृता हो जाती थी तब राजा की वक्तृता होती थी। इस के वाक्यों को देखिए।—

अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः।
अथर्व० ३।५।२॥
ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
............सर्वान्कृण्वभितो जनान्॥
अथर्व. ३।५।७

"मैं राष्ट्र के हितचिंतक वर्ग में अच्छी तरह अपनेपन से बर्ताव करूंगा। जो बुद्धिमान्, ज्ञानी, बढई, लुहार, सूत, गांव के नेता, सरदार और (राजकृतः king-makers) राजा का चुनाव करनेवाले हैं, वे सब मेरे पास आवें और हृदय से मुझे सहायता करें।"

ये मंत्र दिखलाते हैं कि राजसूय यज्ञ का स्वरूप कैसा था। इस में कोई भी घृणित बात नहीं है। जिसका मस्तिष्क सडा हुआ होता है उसे सारे संसार में सडागलापन दिखाई देता है। इसे दूसरे लोक क्या करें? और इसमें वेदों का क्या दोष?

अब राजालोग स्वयंभू अधिकार से राजगद्दीपर बैठते हैं। वेद इस प्रकार का स्वयंभू अधिकार नहीं मानते। राजा के लडके को भी यदि राजतिलक करना हो, तो उसे संपूर्ण राष्ट्र की संमति की आवश्यकता है। इसके संबंध की वेद की आज्ञाएं बिलकुल असंदिग्ध हैं। वेद का कथन है कि प्रजा की अनुमति से राजा को राजपद पर आना चाहिए। इस के कारण यदि उक्त महाशय वेद पर दोष रखते हैं तो उसका कारण कोल्हापूरी वायुमण्डल है।

अश्वमेध यज्ञ के संबंध में भी ऐसी ही नाराजी है। परन्तु यह यज्ञ भी तो केवल क्षत्रियों का यज्ञ है। उससे ब्राह्मणों का कोई संबंध नहीं। पहले के जिन जिन राजाओं ने यह यज्ञ किया वे सब मूर्ख बतलाए गए हैं। इससे युधिष्ठिर, भरत, नहुष, अज, भगीरथ आदि सब तेजस्वी क्षत्रिय-जो अबतक बुद्धिमान, और मार्गदर्शक माने जाते थे वे सब - अब कोल्हापूर में 'मूर्ख' सिद्ध हुए। इसका कारण यही है कि कोल्हापूर का आदर्श भिन्न ह और उन राजाओं का आदर्श भिन्न था। संसार की उत्पत्ति के समय से सब लोग मूर्ख ही हुए थे। उत्क्रांति के सिद्धान्त के अनुसार जो थोडे स्याने जन्म पाए वे सब मानो कोल्हापुर में ही इकट्ठे हुए हैं और उनमें सब से स्याने उक्त महाशय ही हैं।

प्राचीन काल में राज-संस्था के राजा, महाराजा, स्वराट्, सम्राट्, विराट् आदि भिन्न भिन्न प्रकार थे। इनमें से सम्राट् होने के लिए क्षत्रिय को अश्वमेध करना पडता था। जो छोटे प्रान्त का नियामक होता था उसे राजा (Prince) कहते थे, विस्तीर्ण देश के शासक को महाराजा (King) की उपाधि थी। जो दूसरे की सलाह न लेकर स्वयं अपने ही विचारों के अनुसार राज चलाता था उसे स्वराट् (Autocrat) कहते थे। अनेक राज्योंको पददलित करके वहां के राजाओं से जो कर वसूल करता था उसे सम्राट् (Emperor) कहते थे। और जहाँ केवल जनताका राज्य रहता था वहाँ के अधिपति या सभापति को 'वि-राट्' (विरुद्ध राजक) कहते थे। ये शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। वे विशेष शासन-पद्धति के द्योतक हैं।

जिस राजा की इच्छा होती थी कि अपना राज्य बढावें वह 'सम्राट्' होनेके लिए अश्वमेध करता था। इस समय वह अच्छेसे अच्छा घोडा छोडता था और उसके पीछे पीछे सेना जाती थी। यह घोडा प्रत्येक राजा के राज्य में जाता था। इस घोडे पर 'राजा का आह्वान खुदा हुआ ताम्रपट' रहता था। उस ताम्रपट पर इतनाही लिखा रखता था कि "जिसे युद्ध करना हो वह युद्ध करनेकेलिए तैयार हो जाय, या कर देना मंजूर कर लेवे।" यह घोडा चारों दिशाओंमें घुमाया जाता था। कई राजा युद्ध करते थे और कई कर देना मंजूर कर लेते थे। इस प्रकार वर्षभर घोडा घुमाकर तथा सब भूपालों को आज्ञांकित बनाकर सारी सेना के साथ वह घोडा वापिस जाता था। तब जिस घोडे के कारण राजा का ऐश्वर्य और यश इतना बढा उस घोडेका बडा जुलूम निकाला जाता था। तथा जिस प्रकार उस घोडेका अधिक से अधिक सत्कार किया जा सकता था उसी रीतिसे उसका सत्कार किया जाता था। जुलूस में राजा स्वयं शामिल होता था, राजस्त्रियां उसपर निछावर करतीं तथा सब लोगों को उस घोडेके बारे में ऐसा आदर एवं अभिमान हो जाता था कि कुछ कए नहीं जाता। आजकल घुडदौड में इनाम पानेवाले घोडे का जैसा आदर अब होता है उससे कई गुणा अधिक आदर राजा को सम्राट्पद दिलानेवाले घोडेका होता था। इस समय जो यज्ञ किया जाता था उसे 'अश्वमेध' कहते थे। 'पितृ-मेध' का अर्थ जैसे बडोंका सत्कार, 'गृहमेध' के माइने जैसे गृहपूजा, उसी प्रकार 'अश्वमेध' का मतलब है इस घोडे का आदर।

यह वैदिक रीति तो जिसके समझमें न आई इससे जहां तहां बद बू ही बद-बू मालूम होने लगा। अब, इसे भला प्राचीन कालके ब्राह्मण भी क्या कर सकते है। इसमें अश्वमेधका भी कोई दोष नहीं है। अश्वमेधके संबंधमें कुछ प्राचीन मत इस प्रकार हैं-

राष्ट्रं वा अश्वमेधः। शत० ब्रा० १३।१।६।३॥
श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः॥ तै० ३।९।७।१॥
एष वै ब्रह्मवर्चसी नाम यज्ञः।
एष वै तेजस्वी ... अतिव्याधी ......
ऊर्जस्वान् ...... नाम यज्ञः॥ तै०३।९।१९।२॥

"राष्ट्रोन्नति अश्वमेध यज्ञ है। अश्वमेध यज्ञ ऐश्वर्य और राष्ट्र है। अश्वमेध यज्ञ ज्ञानतेज बढानेवाला, कांति बढानेवाला, दूर तक वेध करनेवाला और बल बढानेवाला यज्ञ है।"

जिस अश्वमेध के संबंध में महान् लोग ऐसा सोचते थे और मानते थे कि अश्वमेध राष्ट्रविकास का प्रयत्न है, उसी अश्वमेध को 'घृणित' 'घृणित' कह कर आज कुछ लोग फजूल चिल्ला रहे हैं। यदि अश्वमेध राष्ट्रवृद्धि का प्रयत्न है और उसके लिए विपक्षियों से युद्ध करते समय यदि प्राणिवध या मनुष्यवध हुआ तो उसके लिए क्षत्रियकुल में जन्म लेनेवालों को क्यों बुरा लगे? एक क्षत्रिय "प्राणिवध, खून की नदियां, वे यज्ञ जल जाँय, दयाममता का बिलकुल नाम नहीं" आदि बातें कहते हुए क्यों चिल्लावे और क्यों रोवे? एक बार घोडा छोडकर जब युद्ध का आह्वान किया तब कौन कह सकता है कि कितने युद्ध करने पडेंगे, कितने मनुष्यों का वध होगा और कितनी खून की नदियाँ बहेंगी? आज भी तो देश बढाने के लिए युद्ध होते हैं; तब यदि यही बात प्राचीन काल में हुई तो दोष कहां?

कलियुग के क्षत्रिय युद्ध में होनेवाले प्राणिवध, जीवहत्या और खून की नदियों से डरने लगे! बस इसी लिए तो पुराण लेखकों ने लिखा है कि कलियुगमें क्षत्रिय नहीं हैं। राष्ट्र के उद्धार के लिए युद्ध और युद्ध में प्राणिवध और खून की नदियां आवश्यक ही हैं; अत एव अश्वमेध में प्राणिवध और खून की नदियां अपरिहार्य हैं। पर यदि कोई यह कहता हो कि हवन के लिए प्राणिवध होता था तो वह कहना सर्वथा असत्य है, क्यों कि कई सबूत दिए जा सकते हैं कि उस प्रकार का प्राणिवध अश्वमेध में प्राचीन कालमें बिलकुल ही नहीं होता था। हम यहां केवल नमूने के लिए दो एक देते हैं।

> तस्य यज्ञो महानासीदश्वमेधो महात्मनः।
> बृहस्पतिरुपाध्यायस्तत्र होता बभूव ह ॥५॥
> संभूताः सर्व संभारास्तस्मिन्यज्ञे महाक्रतौ।
> न तत्र पशुघातोऽभूत्स राजैवास्थितोऽभवत् ॥ ९
>
> महाभारत, शां. ३३६

"इस राजाने बडा अश्वमेध किया। उस समय बृहस्पति उपाध्याय था। यज्ञ के लिए सब सामान इकट्ठा किया गया। इस यज्ञ में बिलकुल पशुवध नहीं हुआ और यह यज्ञ समाप्त हुआ।" इस यज्ञ में कपिल, कठ, तैत्तरी, शालिहोत्र आदि वैदिक ऋषि थे। महाभारत से उद्धृत किया हुआ यह अंश पाठक अच्छी तरह देखें तब उन्हे निश्चय होगा कि सच्चा वैदिक अश्वमेध कैसा था।

हम जानते हैं कि आजकल कुछ लोग यज्ञमें पशुवध करते हैं। परन्तु यह बात बिलकुल आधुनिक है। सब धर्म-ग्रन्थों का भी यही निश्चय है कि यह बात अत्यधिक आधुनिक है—

> अधर्मो बलवानेष हिंसा धर्मेप्सया तव।
> "नवः पशुविधि" स्त्विष्टस्तव यज्ञे सुरोत्तम॥ १२
> अधर्मो धर्मघाताय प्रारब्धः पशुभिस्त्वया।
> नायं धर्मो ह्यधर्मोऽयं न हिंसा धर्म उच्यते॥१३
>
> मत्स्य० पु० अ० १४३

"धर्म के नाम पर हिंसा करना अधर्म है। (नवः पशुविधिः) पशुहिंसा से यज्ञ करना अतीव आधुनिक बात है। यह धर्म तुमने घात के लिए चलाया है। जहां हिंसा होती है वह धर्म नहीं।"

इसमें 'नवः पशुविधिः' शब्द मनन करने योग्य हैं। पशुयाग नवीन रीति है पुरानी विधी नहीं। नवीन पशुयागका प्रचार क्षत्रियोंने ही किया, ब्राह्मणों ने नहीं किया। ब्राह्मणोंके सब यज्ञ मांस-रहित ही थे। अतः प्राचीन वैदिक काल में यह विधी नहीं थी। यह तो पहले ही बतलाया गया है कि उस समय के यज्ञों में क्या होता था। पहले के ब्राह्मणों के यज्ञ केवल धान्य के हवन के थे। पृषध्र नाम के क्षत्रिय राजा ने सर्व प्रथम गोमांस का याग केवल दुराग्रहसे और उस समय के ब्राह्मणों का कहना न मानकर किया था। तदनंतर वसु राजा के समय में ब्राह्मण और क्षत्रियोंके बहुत तेज झगडे हुए। ब्राह्मणों का कहना था कि पूर्व-परंपरा के अनुसार यज्ञ-याग बीज के हवनसे ही हों। और क्षत्रियों का हठ था कि मांस का हवन हो। अंत में इस झगडे का निपटारा कराने के लिए दोनो पक्ष वसु राजा के पास गए। इस समय वसु राजा ने क्षत्रियों की ओर से मांसहवन के पक्ष में फैसला किया। इस प्रकार वसु राजाने, जिसे 'पंच' बनाया था, पक्षपात किया। यह देखकर सारी जनता प्रक्षुब्ध हुई।

परिणाम यह हुआ कि वसु राजा को अपना पद त्याग देना पडा! यह ऐतिहासिक घटना महाभारतमें दी गई है। (महाभारत शांतिपर्व अ० ६३६-३८ देखो) इस प्रकार समांस यज्ञ के लिए अनुमति देने के कारण एक राजा को पदच्युत होना पडा। पृषध्र राजाने दुराग्रह से गोमांस का यज्ञ किया तबसे अतिसार रोग शुरू हुआ सो अब तक लोगों को सता रहा है। सारांश यही कि जितने समांस याग प्रचलित हैं वे सब क्षत्रियोंके दुराग्रह के कारण ही शुरू हुए हैं और उनमें हर बार ब्राह्मणोंने उन्हे विरोध किया है। इससे स्पष्ट होगा कि हिंसामय यज्ञ का प्रारंभ क्षत्रियों के हठ में ही है। मध्ययुग में ब्राह्मण कंद-मूल-फलाहारी थे, वैश्य धान्याहारी थे, और क्षत्रिय मिश्रभोजी तथा शूद्र मांसाहारी थे। वैश्य और ब्राह्मण वास्तव में पहले से मांसाहारी न थे। और क्षत्रिय तथा शूद्र केवल शाकाहारी न थे। जो जिसका भक्ष्य होता है वह वही देवताको अर्पण करता है। इस न्याय को यहां लागू करें तो स्पष्ट होगा कि ब्राह्मण और वैश्य बीज-हवन करनेवाले और क्षत्रिय तथा शूद्र मांस अर्पण करनेवाले हुए थे। ऊपर उद्धृत किए महाभारतके अवतरण में भी यही वस्तुस्थिति बतलाई गई है। इसीसे स्पष्ट होगा कि समांस याग को उत्पन्न करनेवाले क्षत्रिय क्यों थे।

अर्थात् प्रारंभके यज्ञों में बिलकुल हिंसा नहीं थी। आगे चलकर जब सब यज्ञ की पद्धतियों को इकट्ठा किया तब ब्राह्मणों ग्रंथों ने अश्वमेधादि यज्ञों में अ-कारण होनेवाली हिंसा को रोक दिया। प्रचलित प्रयोगोंसे यही बात विदित होगी। ये सब बातें प्रमाणसहित बतलाई जा सकती हैं, परंतु यहाँ पर हम विस्तार करना नहीं चाहते। मौका पडने पर प्रयोग-ग्रंथके अंश उद्धृत कर उक्त विधान की सत्यता हम सिद्ध कर देंगे।

जब तक ब्रह्माकी प्रथाके अनुसार यज्ञ चलते थे तबतक वैदिक धर्म के किसी भी कृत्यमें हिंसा का प्रवेश न हो पाया था। परन्तु आगे चलकर जब अन्य विचारों के लोगों का प्रवेश इस धर्म में हुआ और जब पूरे वैदिक आदर्शका लोप होता गया, और जब मांसभोजी लोग भी वैदिक धर्म में संमिलित हुए, तब उन्होने, जिन्हे मांस अशन की आदत थी, समांस यज्ञ जबरदस्ती से शुरू किए गए। इसीसे सब समांस यागों को " नवः विधिः" कहा गया है। इससे स्पष्ट होगा कि विजातीयों का प्रवेश स्वधर्ममें जब होने लगता है तब मूल की शुद्धता नहीं रहती और शुद्ध धर्मका भी आगे चलकर घृणित बातों का भंडार हो जाता है।

आधुनिक रीतियों के लिए प्राचीनों को उत्तर-दायी समझना उचित नहीं। इसी प्रकार आधुनिक ग्रंथों के विधानों के लिए वेद को उत्तरदायी मानना न्याय संगत नहीं। अब उक्त आक्षेपों से छटवें आक्षेप को देखें। उसमें अथर्ववेद पर आक्षेप किया गया है। अथर्व वेद को 'ब्रह्म-वेद' कहा है क्यों कि इसमें ब्रह्मविद्या बतलाई गई है। इसीसे कहा है कि यदि अन्य कारणोंसे कुछ दोष हो गया हो तो वह अथर्व-मंत्रोंसे धुल जाता है। अथर्ववेदका कोई भी भाग देखनेसे विदित होगा कि उसमें ब्रह्मविद्या कही गई है। इस मुख्य विषय के साथ साथ अनेक विषय इस वेद में आए हुए हैं। यदि कोई इस बात को देखना चाहते हों तो हम उन्हे दिखला सकते हैं। योगसाधन, प्राणसाधन, ब्रह्मचर्य, ध्यान, धारणा, ब्रम्हात्म साक्षात्कार और अंतमें ब्रह्मानुभव कर लेने के मार्गों का वर्णन जैसे अथर्ववेद में है वैसे अन्य किसी भी ग्रंथ में नहीं है। अथर्ववेद का केवल ऊपरी निरीक्षण करनेवाले के भी समझ में यह बात आजावेगी। ऐसी दशा में इस पवित्र वेद के संबंध में ऐसी अनुदारता क्यों दिखलाई गई सो तो अतीव आश्चर्य की बात है !!!

सत्य का स्वीकार करना ही यदि इनके मन की बात है तो उन्हे उचित है कि वे वेदों की यह तेजस्विता देखकर उस धर्म का स्वीकार करें। यदि वे स्वीकार करना नहीं चाहते तो न करे, परन्तु पवित्र वेदों की निंदासे वे अपना खुदका मस्तक तो भी अपवित्र न करें। वैदिक गूढ विद्या संसार को मोहने वाली है। वेद अध्यात्म ज्ञानके अमूल्य ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में जैसा गूढ विद्या का आविष्कार हुआ है वैसा अन्य कहीं भी नहीं मिलेगा। सब प्राचीन और अर्वाचीन गूढ-विद्याभ्यासी इस बात को मानते हैं।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।
कठ . उप. २ । १५ ॥
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।
गीता १५।१५ ॥

"सब वेद एक ब्रह्मपद का ही वर्णन करते हैं।' भगवद्गीता और उपनिषदों का यही कहना है। वेद-विद्या की शुद्धता के लिए इससे अधिक प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसे श्रेष्ठ धर्मग्रन्थ की निन्दा करनेवाले के अकल की तारीफ ही करना चाहिए !!

उक्त महाशय वा अन्य सत्यशोधक ब्राह्मणों को चाहे जितने कष्ट दें पर हम कुछ भी न लिखेंगे क्योंकि सच्चा ब्राह्मण छल करनेवाले को अपनी सहन-शक्तिसे सुधारही देगा। परन्तु ब्राह्मणों की निन्दा करने की धुन में वेदों के सदृश पवित्र ग्रंथों की निन्दा करने का कोई कारण नहीं।

श्री छत्रपति शिवाजी महाराज की जय!!

श्री शिवाजी महाराज का जन्म होकर इस वर्ष ३०० साल व्यतीत हुए। इस वर्ष इनकी त्रिशताब्दी सर्वत्र महाराष्ट्र में जोरशोर से हो रही है।

कुछ वर्षपूर्व पूना में श्री शिवाजी महाराज का स्मारक बना। इस स्मारक की नींव श्री प्रिन्स ऑफ वेल्स द्वारा डाली गई। उस नींव पर श्री शिवाजी महाराज की मूर्ति की स्थापना बम्बई के गवर्नर साहब ने की। इस मूर्ति की स्थापनाके अवसर पर कई छोटे बडे राजा महाराज उपस्थित थे। निःसंदेह यह सब कुछ ठीक वैसा ही हुआ जैसा होना उचित था। यह स्मारक वास्तव में इसके बहुत पहले ही हो जाना उचित था। परन्तु अंग्रेज सरकार कुछ समय पहले केवळ 'शिवाजी महाराज की जय' इस जयघोष से बिचकती थी। शिवाजी का उत्सव करना राजद्रोह के कृत्यों में शामिल था। परन्तु अब समयने पलटा खाया है। जब कि प्रिन्स ऑफ वेल्स स्वयं नींव डालते हैं और गवर्नर साहब शिवाजी महाराज के पुतले का उद्घाटन करते हैं, तब कह सकते हैं कि श्री शिवाजी महाराज के नाम से जो अराजकता का संबंध जोडा जाता सो अतःपर न जोडा जा सकेगा। अतः स्मरण रखना होगा कि इतने दिन पश्चात् वायु-मण्डल साफ हुआ तथा विचारों में भारी परिवर्तन हुआ।

कुछ समय पूर्व रियासतों में श्री शिवाजी महाराज के उत्सव को प्रतिबन्ध होता था, उत्सव के लिए इजाजत लेनी पडती थी। परन्तु चूंकि पूने के जलसे में छोटे बडे राजा, महाराजा शामिल हुए थे, अतः उनके राज्यों में अब श्री शिवाजी के उत्सवमें रुकावट न होगी। अपितु रियासतों में प्रजा जो उत्सव करेगी उसमें उस रियासत के महाराज स्वयं उपस्थित हो उत्सव की शोभा बढानेका संभव है। अब तक कष्ट सहकर जिन लोगोंने उत्सव किए तथा सरकार के विरोध एवं रोष की पर्वाह न कर जो विभूति-पूजा की, उसका यह फल है।

मुसलमीन तवारीख-लेखकों ने श्री छत्रपति शिवाजी महाराज को 'पहाडी चूहा' कहा और आरंभिक अंग्रेज इतिहास-लेखकों ने श्री शिवाजी का ऐतिहासिक चरित्र दूषित लिखा। समंजस वाचक समझ सकते हैं कि इन दोनों प्रकारके इतिहासज्ञों के प्रयत्न जान बूझ कर ही हुए थे। यह दिखलाना कि "जेता लोग सर्व—गुण-सम्पन्न हैं और जित लोग सब प्रकार से नालायक हैं" अपना चिरस्थाई बनानेका एक प्रमुख साधन है। इसीसे मुसलमान तवारीख लेखक या अंग्रेज इतिहास-लेखक दोनों ने श्री छत्रपती शिवाजी महाराज का उज्ज्वल इतिहास जो विपर्यस्त किया सो बुद्धिपुरस्सर किया। यह बात असमजस से नहीं हुई। अंग्रेज इतिकारोंने तो

इससे भी आगे छलांग मारी। महत्व के कागजात मतलब निकल आने पर उन्होंने क्या किए सो अब तक किसी को विदित नहीं। इन सब बातों का उद्देश एकही है और वह यही है कि जित लोग स्वतः के उत्थानका विचार भी मनमें न लावें। परन्तु छिपाया हुआ इतिहास अब धीरे धीरे जाहिर हो रहा है। अतः छत्रपति श्री शिवाजी महाराज का चरित्र उज्वलता से संसार को विदित हो रहा है। 'सत्यमेव जयते' का यही स्पष्ट एवं उत्कृष्ट उदाहरण है।

श्री जदुनाथ सरकार एक ख्यातनामा इतिहासज्ञ हैं। आप फारसी भाषा को अच्छी तरह जानते हैं। आपको फारसी के कागजात देखने मिले। अतः आपको इन फारसी कागजों में जो शिवाजी महाराज का इतिहास मिला सो आपने कुछ वर्ष पूर्व जाहिर किया। आपको भी परकीयोंके कागजों से शिवाजी महाराज की सच्ची योग्यता विदित न हुई थी। इससे प्रथम आपने अपनी पुस्तक में छत्रपति को 'शिवाजी' न कहकर केवल 'शिवा' कहा था। परन्तु आगे चलकर जैसे जैसे आपका संशोधन-कार्य बढता गया और महाराष्ट्रके त्यागी इतिहास-संशोधकों के प्रयत्नों से जैसे जैसे पुराने कागजात संसार के सन्मुख आने लगे और उससे इस इतिहासपर जो प्रकाश पडा उसके कारण श्री जदुनाथ सरकार का श्री शिवाजी महाराजके संबंध का मत अब बिलकुल बदल गया है। वे कुछ समय पूर्व जब महाराष्ट्र में आए थे तब उन्होंने एक स्थान पर कहा था 'मैं प्रथम शिवाजी को साधारण मनुष्य समझता था। अनन्तर मुझे निश्चय हुआ कि वे भारी शूर पुरुष थे। तदुपरान्त जैसे जैसे मैं खोज करने लगा वैसे वैसे मुझे विश्वास होने लगा कि शिवाजी वास्तव में बडे लोकोत्तर पुरुष थे। आज मेरे सन्मुख जो सबूत है उससे मुझे निश्चय हो चुका है कि श्री छत्रपति शिवाजी महाराज अद्वितीय दिव्य विभूति ही नहीं किन्तु वे वास्तव में अवतार ही थे।'' बंगाल के आधुनिक इतिहास-पारंगत के भी विचारों में यह परिवर्तन हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि महान् विभूति का चरित्र यद्यपि शत्रु छिपा रखे, तब भी प्रकाशित हुए बिना नहीं रह सकता। स्वार्थी लोग सत्य को छिपाने की कितनी भी चेष्टा क्यों न करें, सत्य संसार के सन्मुख अवश्यमेव आता है और सत्य की ही जय होती है।

अब विचार करना है वह सत् तत्त्व कौनसा जो अन्य दिग्विजयी शूर पुरुषों के चरित्र में नहीं है और श्री छत्रपति शिवाजी महाराज के चरित्र में है। शत्रु भी मानते हैं कि शूर पुरुष में जो शौर्य, धैर्य आदि गुण होने चाहिए वे श्री शिवाजी महाराजमें भी थे। संसार को जीतनेवाले शूर पुरुषों में इन गुणों की आवश्यकता होती ही है। क्यों कि इन गुणों का अभाव होने पर विजय का कार्य होना ही असंभव होता है। ये शौर्य-वीर्यादि गुण श्री शिवाजी महाराज में विकसित रूप में थे। इसीसे वे प्रतापगढ के युद्ध के सदृश कठिन मौके पर भी विजय प्राप्त कर सके और अपनी जिंदगी की साढेतीनसौ लडाइयोंमें से प्रत्येक जीतते ही गए। अपनी आयुमें इतनी लडाइयां लडना और उनमें से हरएक में विजय पाना यह यश श्री. शिवाजी महाराज को ही मिला है। श्री छत्रपति शिवाजी महाराज के चरित्र में इससे भी विशेष महत्त्व के सद्गुण थे। और उन्ही गुणों के कारण वे लोकोत्तर विभूति कहलाते हैं।

शूर और दिग्विजयी पुरुषों में यदि स्त्रियों के संबंध में सदाचार हो, और वे यदि स्व–स्त्रीको छोड अन्य स्त्रियों को माता, बहन और पुत्री के समान समझते हों तो उनका चरित्र उनकी सच्छीलतासे अधिक शोभा देता है एवं अत्यन्त आदर्शभूत होता है। श्री शिवाजी महाराज में यह सद्गुण था। श्री शिवाजी महाराज का व्यक्तिगत चरित्र इस प्रकार अत्यन्त शुद्ध एवं कलंकरहित था इसीसे वे आदर्श हैं। श्री छत्रपति शिवाजी महाराज के जीवनकालमें इस बात की परीक्षाके कई मौके आए, परन्तु इन सब अवसरों में उनकी सत्त्वनिष्ठा निष्कलंक सिद्ध हुई। इस विषयमें श्री. शिवाजी महाराज की बराबरी करनेवाला वीर शायद ही कोई

मिलेगा !! प्रत्येक युवक को चाहिए कि अपने सन्मुख इस आदर्श को रखे।

अन्य कई वीर इस संसारमें हो गए। परन्तु स्व-धर्म के आदर के साथ ही पर-मत के लिए आदर दिखलाने की उदारता केवल श्री शिवाजी महाराज ही ने दिखलाई। मुसलिम जगत् जेताओं ने परधर्म के लिए कितना अनादर दर्साया, तथा परधर्म के उपासना-मन्दिरों को किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट किया इसके सबूत आजभी दिखाई देते हैं। परधर्म की असहिष्णुताके घोर कर्मोंसे इन सब वीरों के चरित्र कलंकित हैं। एक श्री शिवाजी महाराज ही इस दृष्टि से निष्कलंक हैं। इसीसे उन्हे जो " सच्चा आदर्श हिन्दू राजा " कहते हैं सो बिलकुल योग्य है। पर-मत के लोगों को मनमाना सताने का अधिकार प्राप्त होनेपर भी मुसलमानों की मस्जिदें और उनके धर्म-ग्रन्थों के प्रति आदर दिखलाकर उनकी रक्षा श्री शिवाजी ने की। इन्होंने इस प्रकार अपने हृदय की जो उदारता प्रकट की उसकी बराबरी संसार भर में कोई नहीं कर सकता।

इससे भी एक विशेष गुण श्री शिवाजी महाराज में था और वह था परमेश्वर की सात्विक भक्ति। श्री भवानी देवी की उपासना वे ऐसी भक्ति तथा ऐसी एकतानता से करते थे कि कभी कभी उन्हे देवीका साक्षात्कार होता था और दिव्य संचार का स्फुरण भी उन्हे होता था। श्रेष्ठ भक्ति के कारण आंखों में आंसू आना, हृदय का स्पंदन होना और अलौकिक भावना हृदय में जागृत होना आदि बातें होती हैं। इस प्रकार यह परा भक्ति श्री शिवाजी महाराज के हृदय में अ-सामान्यता से विराजमान थी। इस दृष्टिसे कह सकते हैं कि श्री शिवाजी महा-राज महान् साधु थे। प्रत्यक्ष देवता का साक्षात्कार जैसे इन्हे होता था वैसे क्वचित् संतों को ही हुआ है। अतः यदि कहें कि श्री शिवाजी महाराज 'साधु राजा' थे तो अनुचित न होगा। यदि संसार के राजाओं का हाल देखें तो विदित होगा कि प्रेममय भक्तिभाव से जिसका अंतःकरण आर्द्र हुआ है ऐसा 'साधु राजा' अन्य कोईभी नहीं हुआ। यद्यपि श्री शिवाजी महाराज का इस सम्बन्ध का चरित्र अब तक वैसा नहीं लिखा गया जैसा लिखना चाहिए तब भी जो किंवदंतिया अब तक प्रसिद्ध हुई हैं वे ही बहुत मार्गदर्शक हैं। इनके सम्पूर्ण सच्चरित्रकी कुंजी इस प्रेममय भक्तिभाव में ही है। उनका शील, उनका तेज, और उनके सब पराक्रम इस प्रेमपूर्ण भक्ति के कारण ही उज्वल हुए थे। अन्य जग-ज्जेताओं की अपेक्षा श्री शिवछत्रपति की महत्ता अधिक इसीसे है कि उनमें परमेश्वर की आत्यन्तिक भक्ति थी। वर्तमान शिक्षा भक्तिहीन है अतएव आधुनिक शिक्षित युवकों को इस भक्तिका महत्त्व न जँचेगा। पर यह उन युवकों का तथा उनके देशका दुर्दैव है। इस विषय में इससे अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

अब शिवाजी महाराज के समय की परिस्थिति को देखना चाहिए। परिस्थिति के इस निरीक्षण से विदित होगा कि श्री शिवाजी महाराज ने कैसा महत् कार्य किया था। देखिए उनके जन्म के पूर्व महाराष्ट्र की या उत्तर भारत की क्या दशा थीः-

१ 'भाषा'- आजकल के शिक्षित लोग जब कुछ बोलते हैं तब उनकी बोलीमें कुछ अंग्रेजी शब्द आते हैं। ये अंग्रेजी शब्द जिस मात्रा में आज के लोग उपयोगमें लाते हैं उससे बहुत अधिक मात्रा में श्री शिवाजी के पूर्व के लोग उर्दू शब्दोंका प्रयोग करते थे। लोग समझते थे कि उर्दू-मिली भाषा बोलना बडी प्रतिष्ठा की बात है।

२ 'पोशाख' — आधुनिक शिक्षित लोग बूट,पँट पहनकर साहब लोगों का बन्दर जैसा अनुकरण करते हैं और इस अनुकरण को अच्छा समझते हैं। ठीक ऐसाही शिव-पूर्व-काल में मुसलमानों का अनु-करण हिन्दू लोग करते थे। स्वयं शिवाजी महाराज की पगडी भी मुसलमानी पगडी है। इस बात से उक्त अनुकरण की प्रथा अत्यधिक स्पष्ट होती है।

३ 'डाढी-मूछें'— मराठा सरदार मुसलमानों के समान डाढी-मूछें रखने लगे थे। मूछों के सामने के बाल काटने की प्रथा हिन्दु लोगोंकी नहीं है। यह अ-हिन्दु पद्धति मुसलमानों के अनुकरण से हिन्दु-ओं में आगई है। आजकल जैसे मूछों को सफा कर देने की फैशन सभ्यता का लक्षण समझी जाती

है इसी प्रकार शिव – पूर्व – काल में मुसलमानों के अनुकरण से डाढी और मूछों की फैशनें हिन्दुओंमें चलपडी थीं।

४ "काल-गणना" - आजकल रोजीना के व्यवहारमें तारीख और महीना अंग्रेजी चलता है, उसी प्रकार शिवपूर्वकाल में मुसलमानी तारीखों का प्रचार हो गया था। इससे चिट्ठियां लिखते समय 'छ' लिखकर आरंभ किया जाता था।

५ "धर्मोत्सव" – हिन्दुओं में धर्मोत्सव बहुत थे। तिसपर भी मुसलमानों के पीर आदि के उत्सवों में हिन्दु लोग हाँथ बँटाने लगे। इतना ही नहीं स्वयं हिन्दु भी ताजिये रखने लगे। मुसलमान लोग हिन्दु के मंदिर और मूर्तियाँ तोड डालते थे। इस दुर्गति को खुली आँखों देखते हुए भी मराठा सरदार और अन्य लोग पीर-पूजा करते, घर में ताजिये रखते तथा कबर तथा सवारी की मानता मानते थे।

६ " असल क्षत्रिय " – महाराष्ट्र में तथा उत्तरी भारत में असल क्षत्रियों के कई कुल थे परन्तु उन सब असली क्षत्रिय कुल के क्षत्रिय मुसलमान बादशाहों के अधीन रहने ही में बडप्पन समझते थे। उनके मन में परकीय राजसत्ता को नष्ट कर उलटा कर स्वराज्य स्थापना के विचार ही नहीं आते थे। यदि कोई इस प्रकार की चेष्टा करता तो अन्य क्षत्रिय वीर मुसलमानों से मिलकर इस स्वराज्य-स्थापना के प्रयत्न को विफल कर देते थे।

७ " आत्मविश्वास का अभाव " – हिन्दुओं के हृदय से यह आत्मविश्वास कि 'हम स्वराज्यस्थापना कर लेंगे' बिलकुल ही नष्ट हो चुका था। इसीसे वे बादशाह की अधीनता में रहकर मरे हुए उपभोगों का अनुभव करनेही में सुख समझने लगे थे।

इस प्रकार सर्व प्रकार से गिरी हुई निकृष्ट परिस्थिति में श्री छत्रपति शिवाजी महाराज का जन्म हुआ था। उस समय की दशा के अनुसार स्वाभाविक यही होता कि वे किसी बादशाह के अंकित रह कर अन्य सामान्य सरदारों की भाँति समय बिताते। परन्तु महान् विभूति परिस्थिति को नवीन झुकाव देनेवाले होते है। प्रवाह के साथ बहते चले जाने में बडप्पन नहीं है। विभूति का कार्य यही है कि प्रवाह के विरुद्ध जाना या प्रवाह की दिशाही बदल देना। महाराष्ट्र के क्षत्रियों के हृदयों में आत्मविश्वास उत्पन्न करके, उन्होने वह बात करके दिखलाई जो असंभव मालूम होती थी !! महाराष्ट्र के यच्चयावत् मनुष्योंमें विचारक्रांति की; यह विश्वास उत्पन्न किया कि हम कुछ न कुछ निश्चय कर दिखला सकते हैं। यही कारण है कि उनके समकालीन महापुरुष शिवाजी महाराज को 'अवतार' समझने लगे। जिनके हृदय से आत्मविश्वास आमूल नष्ट हो चुका है, उनके हृदय में आत्मविश्वास उत्पन्न कर उन्हीं के द्वारा स्वराज्य की स्थापना करा लेना कोई मामूली छोटा काम नहीं है। इसी लिए इस महात्मा का सच्चरित्र हमें अपने सन्मुख रखना आवश्यक है।

शिव-पूर्व-काल के सदृश अब भी हम लोगों में से आत्मविश्वास पूर्णतया उड गया है। आजकल हम लोगोंमें से कोई भी नहीं समझता कि हम लोग पुनः स्वतंत्र स्वराज्य स्थापित कर सकते हैं। इस प्रकार निराशापूर्ण दशा इस समय है। क्या हिन्दु, क्या मुसलमान दोनों परकीय सत्ता में पिस गए हैं। ऐसे समयमें यदि श्रीशिवाजी महाराज जैसे महात्मा के चरित्र का अवलोकन करें और यदि उस चरित्र का विशेष मनन करें तो वह हम लोगोंको निःसंदेह मार्गदर्शक होगा। अतः आजके नवयुवकों को शिव-चरित्र का मनन अवश्य करना चाहिए। तब उन्हें उद्धार का मार्ग अवश्यमेव दिखाई देगा।

संचित

लेखकः— "श्री०म०उदयभानुजी"

"वैदिक धर्म" के गत विशेषांक वर्ष ९ अंक ४ में हमने 'संचित' पर कुछ विचार प्रकट किए थे। उस में हमने यह बतलाने की चेष्टा की थी कि बालक को इस लोक में आने केप्रथमही कुछ संस्कार प्राप्त रहते हैं। वे माता पिता-से नहीं अपितु उसके अपने निजोपार्जित होते हैं। हमें हर्ष है कि 'वैदिक धर्म' के पाठकों ने हमारे पास कुछ शंकाएँ भेजी हैं। उनका पृथक्-पृथक् उत्तर देना हमारे लिए सम्भव

नहीं। इस कारण हम इस पत्रिका द्वारा उन सबका उत्तर देने का साहस करते हैं। समयाभाव के कारण हम उनका यथासमय उत्तर नहीं दे सके। आशा है, कृपालु पाठक-वृन्द क्षमा करेंगे।

यदि पैतृक संस्कार नहीं प्राप्त होते तो जातिगत गुण क्यों देखे जाते हैं। जैसे, बदक स्वभावसे ही तैरती हैं; कोयल मधुर शब्द बोलती है; कुत्ता मनुष्य का मल खा जाता है, पर अपना नहीं; बिल्ली चूहे को देखते ही मारनेका यत्न करती है, कुत्ते को नहीं; कुत्तों की स्वामीभक्ति, हाथी और बन्दर की मांस से अरुचि स्वभाव से ही देखी जाती है। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि माता-पिता के संस्कार पुत्र को प्राप्त होते हैं।

माता-पिता से पुत्रको संस्कार प्राप्त होते हैं या नहीं; इस पर विचार करनेके प्रथम हमें उनके पारस्परिक संबंधका विचार करना आवश्यक है। पिता के शुक्र और माताके रज के सम्मिश्रण से गर्भ रहता है। नव्य मत के अनुसार जब पुरुष का वीर्य्य स्त्री की योनि में गिरता है तब एक शुक्र-कीटाणु (Spermatozoon) का रज-कीटाणु (Female-ovum) से संयोग होता है। ये दोनों मिलकर गर्भाशय में प्रवेश करते हैं। यही गर्भधारण करता है। इस के पश्चात् माता के रक्त से भ्रूण का पोषण होता रहता है। यह बात सर्वसम्मत है। फलतः यह सिद्ध होता है कि माता-पिताके संस्कार या तो कीटाणुओं द्वारा शिशुको प्राप्त होते हैं या माता के रक्तद्वारा, या माता के मनद्वारा शिशु का मन संस्कृत होता होगा। पैतृक संस्कार प्राप्त होने के ये ही तीन मार्ग हैं। यह बात स्मरण रखना चाहिए कि पिता का कार्य केवल शुक्राणु (Spermatozoon) को ही देना है। इस के अतिरिक्त पिता का और कोई कार्य नहीं। पिता के अनुभव से पुत्र शिक्षाद्वारा लाभ उठा सकता है। पर इसका क्रियमाणेतर संस्कार से कोई सम्बन्ध नहीं।

मान लीजिए, क्रियमाणेतर संस्कार पैतृक हैं और वे पिता से प्राप्त होते हैं। यह तो सिद्ध ही किया जा चुका है कि पिता का कार्य्य केवल शुक्राणु को ही देना है। अतः सिद्ध होता है कि पिता के संस्कार उसके प्रत्येक शुक्राणु में रहते हैं। शुक्राणु की आत्मा पिता की आत्मा से पृथक् है। इस कारण एक के संस्कार दूसरी आत्मा को प्राप्त होना न्याय-संगत नहीं। फिर भी शरीरमें सहस्रों इतर आत्माएँ रहती हैं। पिता के अनुभव से इन सब आत्माओं का संस्कृत होना कोई भी नहीं मान सकता जैसे शुक्राणु से पैतृक संस्कार नहीं मिलते वैसेही रजाणु से भी नहीं मिल सकते।

शेष दो बातें विचारणीय हैं:—(१) माता के रक्तद्वारा और (२) माता के मनद्वारा। हमारा अनुभव इन दोनों बातों का समर्थन करता है। आइए, इस पर थोडा विचार करें।

रक्तसे शरीर बनता है, और शरीर का मनोवृत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह भी जानते हैं कि दुर्बल शरीर में तीव्र प्रवृत्ति नहीं होती; और सबल और स्वस्थ शरीर प्रवृत्ति-हीन नहीं होता। तीव्र प्रवृत्ति भी शरीर के अस्वस्थ हो जानेपर क्षीण या मन्द हो जाती है। अफीम खाने से मनुष्य का स्वभाव चिढचिढा, भंगसे सहिष्णु, मदिरासे तामसी और गांजे से उद्विग्न हो जाता है। रतिविलास, प्याज, सुवर्ण, मणि, आदि खानेसे मैथुनेच्छा बढ जाती है और ककडीके बीज आदि औषधियोंसे कामेच्छा घट जाती है। अर्थात् भोजनसे मनोवृत्ति का घनिष्ठ संबंध सिद्ध होता है। भोजनसे रक्त बनता है और वृत्ति संस्कार से होती है। इस कारण यह मानना पडता है कि रक्त का वृत्ति से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य है।

माता के रक्त से भ्रूण का पोषण होता है। रक्त का वृत्ति से सम्बन्ध निकटतम है। इसी कारण वैद्यक शास्त्रने और वेदादि में भी गर्भवती स्त्री की विशेष पूजा का विधान है।

तीसरा प्रश्न माताके मनका है। गर्भवती स्त्री के मननात्मक कार्यों का भ्रूण के शरीर और मन पर प्रभाव पडता है। वेद भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि करता है। मन को चाहे आप आत्मा या मस्तिष्क से कोई अन्य स्वतन्त्र द्रव्य मानें या न मानें। हमारा इसमें कोई विरोध नहीं। पर यदि कोई हमारी सम्मति पूछे तो हम हमारे अनुभव से कहते हैं कि

इन दोनों के अतिरिक्त मन की स्वतन्त्र सत्ता नहीं। हो सकता है कि आप लोगों का मत इस के विरुद्ध हो, पर इस समय इस विवादास्पद विषयको छेडना अभीष्ट नहीं।

जैसे शरीर की अन्य क्रियाओंका प्रभाव भ्रूण पर पडता है, वैसे ही मस्तिष्क की क्रिया का भी पडता है। क्योंकि भ्रूण माता के शरीर के अनुकूल ही कार्य्य करना सीखता है। हृदय का चलना, रक्त-प्रवाह, पचन आदि शारीरिक क्रियाएँ कर माता से ही सीखता है। यदि किसी कारण पर शिक्षा गर्भ में रोक दी गई तो जीवन का होना असम्भव है।

हम ने निष्पक्षपात होकर यह बतलाने की चेष्टा भी की कि माताके मन और रक्तका भ्रूण के मन पर प्रभाव पडता है। साथ ही यह भी बतलाया कि शुक्राणु के या तो स्वतन्त्र संस्कार होना चाहिए अन्यथा पिता के संस्कार उस में नहीं आते। इस बात को सुनकर कुछ लोग आक्षेप करते हैं। उनका कथन है कि जब आप माता की संस्कार उसकी सन्तान को प्राप्त होना बतलाते हैं तो पैत्रक संस्कार का सिद्धान्त स्वयमेव सिद्ध होता है। फिर उसके मानने मे संकोच क्यों!

हमारा सिद्धान्त अर्थात् वैदिक सिद्धान्त कुछ और है। प्रतिपक्षी ने उसे जाननेका यत्न नहीं किया। अन्यथा ऐसी बातें न कहते। अधिक भ्रम न हो इस कारण हम उस सिद्धान्त को पुनः प्रकट करते हैं। हमारा मन्तव्य है कि मनुष्य जन्म से पहले कुछ संस्कारों से युक्त रहता है। इन्हें क्रियमाणेतर संस्कार कहते हैं। ये संस्कार माता-पिता से नहीं अपितु उस मनुष्य के स्वयं अभ्यासोपार्जित होते हैं। माता के मन और रक्त का निस्सन्देह उसके भ्रूणावस्था में परिणाम होता है। यदि यह परिणाम उसके क्रियमाणेतर संस्कारों के अनुकूल होते हैं तो बडा लाभ होता है। किन्तु यदि प्रतिकूल हुए तो परिणाम ठीक वैसाही होता है जैसा इस जीवन में ही विपरीत संस्कारों को डालने से हुआ करता है।

इस सम्बन्ध में एक सिद्धान्त और भी है। वह यह कि शरीर और मनोवृत्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कई वृत्तियां तो शारीरिक अवयवों पर ही निर्भर है। यदि किसी कृत्रिम उपायसे कोई अवयव नष्ट कर डाला गया तो तत्सम्बन्धित वृत्ति भी प्रसुप्त हो जाती है। व्यभिचारी मनुष्यमें मैथुन की वृत्ति अतितीव्र होती है। पर यदि किसी कारण उसका शुक्र क्षीण कर दिया जाय या उसका शिश्न या अण्डकोष काट डाला जाय तो उसकी मैथुन-वृत्ति उसके आगे तीव्र नहीं होती। वह मैथुन के पूर्वानुभव का चिंतन कर सकता है, उसके सम्बन्ध की बातें कर सकता है; पर उसका मन कभी उद्विग्न न होगा। यही नहीं किन्तु मैथुन यंत्र के नष्ट कर देने से तो उस रोगी में स्त्री के प्रति तीव्र घृणा के भी भाव प्रकट किए जा सकते हैं। आपने प्रायः देखा होगा कि अन्धे मनुष्य देखने के लिए कभी उत्सुक नहीं होते। जब कभी श्रवण करने का प्रश्न आ जाता है तो वे उसके लिए तीव्रेच्छा प्रकट करने लगते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि शारीरिक अवयवों से तत्सम्बन्धित वृत्तियों का बडा सम्बन्ध है। शरीर के किसी अवयव को नष्ट कर देनेसे उसकी वृत्तियों में असाधारण परिवर्त्तन किया जा सकता है।

यदि आपने इस लेख को ध्यान-पूर्वक पढा होगा तो इस बात को समजाने में तनिक भी कठिनाई न होगी कि शरीर के द्रव्य और अवयवों का मन की वृत्तियों पर बहुत परिणाम होता है। इन द्रव्य और अवयवों का मातासे घनिष्ट सम्बन्ध है। इस कारण यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मन भी वृत्तियों को बनाने में माता का सबसे बडा हाथ होता है। यदि पैतृक संस्कारों से यही तात्पर्य निकलता है तो हमें कोई आपत्ति नहीं। पर पैतृक संस्कार के जो अर्थ आज वैज्ञानिक पुस्तकों में निकाले जाते हैं वे इसके अतिरिक्त कुछ और भाव प्रकट करते हैं।

हमें यह लिखते हुए बडा हर्ष होता है कि अमेरीका के कुछ मानसशास्त्रियों ने भी इस पैत्र-सिद्धान्त के विरुद्ध आवाज उठाई है।

सतत गवेषणा करने के पश्चात् कोलम्बिया यूनीवर्सिटी के प्रसिद्ध प्रोफेसर अपनी पुस्तक " मनोविज्ञान " में लिखते हैं:– " जीवन-शास्त्र पैत्रक सिद्धान्त को पुष्ट करने में नितान्त असमर्थ है। शरीर के अवयव व्यायामसे पुष्ट होते

और स्वभाव अभ्यास से बनता है।

"यह अभ्यासोपार्जित स्वभाव भी इन्द्रियद्वारा अपनी संतान को नहीं दिया जा सकता। कोई भोजन बनाने का काम सीखे, कोई टाइप का काम सीखे और कोई दूसरी हस्तक्रिया सीखे। पर ये पिता या माता की हैसियत में अपनी सन्तानों को विना अभ्यास के नहीं सिखलाए जा सकते। और न उन्हें इन से कोई लाभ ही होता है। पिता शिक्षाद्वारा अपने ज्ञान को पुत्र को दे सकता है। पर इन्द्रिय-द्वारा नहीं।" (पृ. सं. ११३)

इस लेख के सम्बन्ध में यदि किसी महाशय को कोई शंका हो तो वे मुझे पत्रद्वारा लिख सकते हैं। मैं उनकी शंकाओं को निवृत्त करने का यथाशक्ति उद्योग करूंगा। मेरा पताः-१०२, रावजी बाजार, इन्दौर सिटी।

(अपूर्ण)

'यम और पितर'

श्रीमन्नमस्ते।

आजकल विचारी पुरुषोंके सन्मुख कई संदेह-स्थान उपस्थित होते हैं। 'पालिसी' चलानेवाले युक्तिसे उनको टालते हैं, अज्ञ जन उनको जानते नहीं, विद्वान् लोग जानते हुए चुप रहते हैं। शास्त्रार्थी लोग विवाद का रुख बदल देते हैं। इस प्रकार संदेह स्थानोंके विषयमें प्रचलित स्थिति है। परंतु यह ठीक अवस्था नहीं है।

संदेहस्थान अनेक हैं, उनमें 'यम, पितर, मृतक श्राद्ध, जीवित श्राद्ध, तीर्थ, जात-पात, गुण-कर्म-विभाग, या जन्मविभाग, पूजाविधि, संस्कारों की रीति, यज्ञविधि,' आदि अनेक विषयों-का स्थान प्रमुख है। इन विषयोंपर होनेवाली शंकायें कुछ दिनतक टालीं जासकेगीं, परंतु एक समय ऐसा आवेगा कि उस समय धुरीण लोगोंको इनका विचार शास्त्रदृष्टिसे करना ही पडेगा।

मेरा विचार ऐसा है कि भविष्यकालका भय देखकर विद्वानों को इसी समय पूर्वोक्त शंका-स्थानोंका विचार करनेका प्रारंभ करना देना आवश्यक है। देर लगाना भयानक है।

कोई शंकास्थान लीजिये, उसका पूर्ण विचार और निश्चय करने के लिये कई पंडितों को आत्मसमर्पण करना चाहिये। वेदादि ग्रंथोंमें जो अनुकूल या प्रतिकूल वचन मिलते हैं, उन सबका संग्रह करना, विषयवार उन मंत्रोंका वर्गीकरण करना, पूर्वापर-संबंध देखकर उनका सरल अर्थ करना, अर्थ करनेमें जहांतक होसके वहांतक यत्नवान् होकर पूर्वग्रह का दोष उत्पन्न होने न देना, अर्थात् पहिले एक सिद्धान्त मानकर उसी सिद्धान्तके अनुकूल न रहने-वाले मंत्रको मरोडकर उसे अनुकूल बनानेका यत्न न करना, परंतु वेद स्वयं क्या कहता है वह जाननेका यत्न करना और इस प्रकार की संगतिसे एक विषयके संपूर्ण मंत्रों का सरल अर्थ करना; सारांश रूपसे वैदिक विषयों की खोजकी दिशा यह है। इस दृष्टिसे खोज करने का यत्न इस 'यम और पितर' में हुआ है।

पं० मंगलदेवजी गुरुकुल-कांगडीके स्नातक और वेदालंकार की पदवी धारण किये हैं। डेढ वर्षपूर्व वे यहां आये और वेदान्वेषण का कार्य करने की इच्छा आपने दर्शायी। बहुत दिनोंसे मेरे मनमें था कि 'यम और पितर'की खोज करके इसके विषयमें कुछ निश्चित सिद्धान्त स्थापित किये जांय। इस इच्छासे यह कार्य इनके पास दिया गया और प्रतिदिन मेरा निरीक्षण उस कार्यपर रहा। अर्थ करने और लिखने में भी पर्याप्त सहयोग मैंने दिया और इस प्रकार डेढ वर्षके उनके निरंतर प्रयत्नसे यह ग्रंथ निर्माण हुआ है। पैका टाइपके करीब करीब २५० पृष्ठ इस पुस्तक में है और करीब १५०० मंत्रों का अर्थ भिन्नभिन्न शीर्षकों में यहां दिया है।

इतना प्रयत्न होनेपर भी इस विषयके शंकास्थान कम नहीं हुए, परंतु कुछ दिशासे शंकास्थान बढ भी गये हैं। यह अनुभव करनेके पश्चात् निश्चय किया कि यह पुस्तक प्रारंभ में विक्रयार्थ न रखते हुए, पंडितों के सन्मुख विचारार्थ रखा जावे और अन्यान्य पंडितों की संमतियां लेकर इसकी शुद्धता इसके द्वितीयवारके संस्करणमें की जावे।

प्राचीन समयमें आर्यविद्वत्सभाएं ऐसे विषयों

का निश्चय करती थीं, परंतु वैसी सभा किसी स्थानपर इस समय एक भी नहीं है। जहां आजकल सभाएं होती हैं और शास्त्रार्थ अथवा वादविवाद होते हैं, वहां सत्यान्वेषण नहीं रहता, परंतु स्वपक्ष की जिद्द रहती है। इस कारण आजकल की मनःस्थिति में वैसी आर्यविद्वत्सभा ऐसा कोई कार्य सफल करने में समर्थ होगी ऐसी आशा इस समय मुझे नहीं है। अतः मैंने यह सोचा कि समान विचार के एक या दो पंडित मिलें, किसी विषयपर इस प्रकारका वचन-संग्रह करें, यथाशक्ति उनकी संगति लगावें और अपनी खोज विद्वानों के पास रखें। आगे जो होगा वह विद्वानों में जैसा सत्यका प्रेम होगा वैसा होवे।

' यम और पितर ' का यह निबंध भी उक्त इच्छा से ही लिखा गया है। इस पुस्तकमें ऋग्वेद, वाज० यजुर्वेद, और अथर्व वेदके सब वचनों का संग्रह है। तैत्तिरीय, काण्व आदि शाखासंहिताएं, सब उपलब्ध ब्राह्मण, सब उपनिषद्, सब सूत्रग्रंथ, सब आरण्यक इत्यादि ग्रंथोंके वचनों का संग्रह इस में नहीं कीया है। किसी किसी स्थानपर ब्राह्मणादि वचनों का भी परामर्ष लिया है, परंतु इन ग्रंथों के सब वचनोंका संग्रह इसमें नहीं है। पहिले पहल पूर्ण संग्रह करनेका विचार था, परंतु यदि वैसा किया जाता तो यह ग्रंथ इसके तीन गुणा बढजाता, इस लिये इतना विस्तार नहीं किया और इसमें केवल चार संहिताओं के ही वचनों का ही संग्रह किया है।

प्रारंभमें ऋग्वेदादि चार संहिताओं के वचनों की भी ठीक संगति लग जाय, तो आगे आनेवाले खोज - कर्ताको बडी सहायता हो सकती है। इस इच्छासे यह संग्रह मूल वेदसंहिताओंके मंत्रोंका ही किया है।

जिन पंडितोंके पास यह संग्रह जायगा, वे इस पुस्तकमें दिये मंत्रोंकी संगति लगानेमें हुई त्रुटीको बतावें और अधिक पूर्ण संगति लगानेमें योग्य सहायता देनेका यत्न करें। विद्वानों की सहायताके लिये पुस्तकके अन्तमें यम और पितरों का समन्वय भी दिया है। जो विद्वान् स्वतंत्र रीतिसे उस समन्वयका विचार करेंगे वे संगति लगानेमें अधिक सहायता दे सकते हैं।

इस समन्वय को देख कर विद्वान् लोग ' वेद-समन्वय ' का महत्त्व भी जान सकते हैं। यदि इस प्रकार संपूर्ण वेदका समन्वय बना दिया जाय, तो खोज करनेवाले, शास्त्रार्थ - संबंधमें विचार करनेवाले, और वेदमंत्रोंका मनन करनेवाले विद्वानोंको कितनी सहायता हो सकती है, इसकी प्रत्यक्षता इस समन्वय को देखकर पाठक कर सकते हैं।

अन्तमें निवेदन है कि आपकी आर्यसमाज या धर्मसभाके आधीन कई उपदेशक और कई विद्वान हैं, जो वेदके विषयमें युक्तायुक्त विचार कहनेमें समर्थ भी हैं। कृपया आप उनको यह पुस्तक दीजिये और उन सबका मिलकर जो मत होगा वह उनके हस्ताक्षरके साथ मेरे पास भेजिये। यदि आपके पंडित इस संपूर्ण मंत्रभागकी संगति लगा देंगे और इस विषयमें निश्चित सिद्धान्त स्थापित कर सकेंगे, तो वे इन सब मंत्रोंको लेकर स्वतंत्र पुस्तक लिख सकते हैं। उसका प्रकाशन चाहे आप करें अथवा आप वह पुस्तक हमारे पास भेज सकते हैं।

जो भी मत या संमति आवे वह आपके सब पंडितोंकी संमति हो, एक एक की अलग अलग न हो। हमने यहां जिनके पास पुस्तक भेजे हैं उनके नाम लिखे हैं और जिनसे संमति आजायगी उनके नाम भी लिखे जायगे। अन्तमें इसका विवरण प्रकाशित करेंगे।

इसलिये आपसे प्रार्थना है कि आप अपने पासके पंडितोंके तथा विद्वानोंके नाम लिखिये। उतने पुस्तक आपके पास हम भेज देंगे। आप उनको वितीर्ण करिये और दो चार मासोंके अंदर उनके पाससे संमति लेकर मेरे पास भेजनेकी कृपा कीजिये।

यदि इस प्रकार आप सहायता करेंगे तो मैं आपका हार्दिक धन्यवाद करूंगा। सबकी सहकारिता हुई, तो ही इस प्रकारके विशेष खोजके कार्य हो सकते हैं। कठिनता बहुत है और पंडितों की आपसकी सहकारिता कम है, इसलिये आपसे प्रार्थना है कि इस कार्यका महत्त्व जान कर आप अपनी ओरसे जो हो सके सहायता दीजिये। आपके पत्रोत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हूं।

भवदीय
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि. सातारा.)

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशो देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनुवेनति॥
ऋ० १०। १३५। १

(यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे) जिस उत्तम पत्तोंवाले अर्थात् हरे भरे भोगसामग्रीसे परिपूर्ण संसार रूपी वृक्षपर (यमः देवैः संपिबते) संयम करनेवाला जीवात्मा इंद्रियोंके साथ सांसारिक सुख दुःखोंको भोगता है, (तत्र विश्पतिः पिता) यहां प्रजारक्षक परमात्मा (पुराणान् नः अनुवेनति) पुरातन समयसे रहनेवाले हमको अनुकूलता कर देता है।

इसमें जीवात्माका वर्णन स्पष्ट दिखाई देता है। इस प्रकार एकही यम शब्द जीवात्मा परमात्माका वाचक वेद मंत्रोंमें होता है। इस यमके पर्याय शब्द ' मृत्यु, काल ' आदि भी इसी कारण इन दोनोंके वाचक हैं।

आदित्य।

' आदित्य ' शब्द ' आदान करनेवाला, स्वीकार करनेवाला ' इस अर्थमें प्रयुक्त होता है। जो दूसरोंको अपनी ओर खींचता है वह आदित्य है। अब देखिये, परमात्मा इस सब संसारके संपूर्ण पदार्थोंको खींचे रखता है, इसलिये पूर्ण रूपसे वही आदित्य है, सूर्य इस सूर्य मालाके सोम मंगल बुध गुरु आदि ग्रहोंको अपने आकर्षणसे खींच रखता है, इसी लिये उसको भी आदित्य कहते हैं। यहां जीवात्मपक्षमें भी वही बात है, यह जीवात्मा इस शरीरमें सब इंद्रियों और अवयवोंको यथास्थानमें खींचकर रखता है, इस कारण इस जीवात्माको भी आदित्य कहते हैं। इस प्रकार जीवात्म परमात्मामें यह आदित्य शब्द समान है। यजुर्वेदमें इसी उद्देश्यसे कहा है—

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। वा० य० ४०। १७

' जो यह आदित्यमें पुरुष है वह मैं हूं। ' अर्थात् आदित्यका अंश मुझमें है, जैसा परमात्मा आदित्य है वैसा मैं भी आदित्य हूं। यह वचन तो एक सूचनामात्र है, इसके अतिरिक्त भी और मंत्र इस विषयमें देखने योग्य हैं—

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।
आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम्॥
अथर्व० १०। ८। १७

(ये अर्वाङ् मध्ये) जो आधुनिक और मध्यकालीन (उत वा पुराणं वेदं विद्वांसं) अथवा पुराणे वेदज्ञानको जाननेवालेके विषयमें (अभितः वदन्ति) सब प्रकार वर्णन करते हैं, (ते सर्वे आदित्यं एव परि वदन्ति) वे सब सबका आदान करनेवाले परमात्माका ही वर्णन करते हैं, (द्वितीयं अग्निं) दूसरे अग्निका और (त्रिवृतं हंसं) त्रिगुण प्रकृतिमें बंधे प्राणमय जीवका भी वर्णन करते हैं । इस मंत्रमें आदित्य शब्द परमात्मा का वर्णन करता है । वेदज्ञ आदित्य अर्थात् सर्वज्ञ परमात्माका वर्णन यह है । आदित्य ही अंश रूपसे अपने शरीरमें आता है यह बात पूर्वोक्त यजुर्वेदमें स्पष्ट कही है । उस मंत्रका अनुसंधान करनेसे आदित्य शब्द आत्मा परमात्माका वाचक किस प्रकार होता है यह बात पाठकोंको स्पष्ट हो जायगी ।

वेदमें 'सप्तरश्मी, सप्ती' आदि शब्द आदित्य और सूर्यके लिये प्रयुक्त हुए हैं । अग्निकी सप्तजिह्वा, सप्तशिखा, सप्त आस्य आदि वर्णन भी इसी प्रकारका है । यह जीवात्मपक्षमें उसके सात इंद्रियोंके विषयमें सार्थ होता है । सात इंद्रिय ही यहां इस जीवात्मारूपी आदित्यके सात किरण हैं । येही उसकी सात जिह्वाएं हैं, येही उसके रथके सात घोडे हैं, येही उसके सात हाथ हैं और येही उसके सात मस्तक हैं ।

पाठक यहांके इस वर्णनसे समझ गये होंगे कि, सप्तरश्मी सूर्य अथवा आदित्य, सप्तजिह्व अग्नि, सप्ताश्व ये सब शब्द इस जीवात्माके पक्षमें इस प्रकार संगत होते हैं इस विषयमें रथी और अश्विन् शब्दोंके ऊपर लिखते हुए जो लिखा है वह यहां देखिये । सप्तरश्मी आदि शब्दोंका भाव पाठकोंके मनमें ठीक प्रकार आगया, तो सूर्य तथा उसके वाचक सविता आदि शब्द जीवात्मापर किस रीतिसे घटते हैं, यह बात समझमें आजायगी ।

धाता, विधाता ।

धाता और विधाता शब्द सृष्टिकर्ता परमात्माके वाचक प्रसिद्ध हैं । धाताका अर्थ है धारण करनेवाला और विधाताका अर्थ है बनानेवाला । परमात्मा सब जगत्का निर्माण करनेवाला है इसलिये उसके पक्षमें यह नाम सार्थ है । जीवात्मा भी इस शरीरका निर्माण करता है, जिस प्रकार पक्षी अपना घर या घोसला बनाता है, ठीक उस प्रकार जीवात्मा अपने रहनेके लिये यह शरीररूपी घर बनाता है और उसमें रहता है–

तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत् । तै० उ० २ । ६ । १

'वह उत्पन्न करता है और उसमें प्रविष्ट होकर रहता है ।' यह इसका कार्य है ।

परमात्मा इस जगत् को उत्पन्न करता है और उसमें प्रविष्ट होकर रहता है। इसी प्रकार जीवात्मा अपने इस शरीररूपी घरको उत्पन्न करके उसीमें प्रविष्ट होकर रहता है। इस प्रकार यह इस शरीरमें थोडासा विधाताका कार्य करता है और जबतक इस शरीरमें रहता है तबतक इस शरीरमें कुछ न कुछ बनाता रहता है। धाता और विधाता शब्द परमात्माके विषयमें प्रयुक्त होनेका उदाहरण देखिये—

धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिः। अथर्व० ५। ३। ९

'सब भुवनका एकपति धाता और विधाता है।' यहां भुवन शब्द के अर्थके अनुकूल जीवात्मपरक अथवा परमात्मपरक अर्थ इन शब्दोंका होसकता है। 'भुवन' शब्दका धात्वर्थ है 'जो बना है'। यह अर्थ जैसा इस जगत्में सार्थ हो सकता है, उसी प्रकार इस शरीरमें भी घट सकता है; क्योंकि जगत् भी बना है और शरीर भी बना है। अतः दोनों भुवन हैं। और शरीररूपी छोटे भुवनका पति जीवात्मा है और जगद्रूपी विशाल भुवनका पति परमात्मा है। इस प्रकार यह शब्द दोनों अर्थोंमें घट सकता है। तथा और देखिये—

धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे॥ अथर्व० ३।१०।१०

'धाता विधाता जो बने हुए (संसार या शरीर) का पति है, उसकी पूजा हम समृद्धी प्राप्त होने के लिये करते हैं।' तथा और देखिये—

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन्पर एकमाहुः॥ २॥
यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनस्य विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥ ३॥
ऋ० १०।८२

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ऋ० १०।१९०।३

"जो विश्वका बनानेवाला, विशेष मननशील परमात्मा है वह सप्त ऋषियोंके परे अकेला ही एक रहता है। जो हमारा पिता उत्पादक और निर्माता है जो सब भुवनों के धामोंको जानता है, देवोंके नामोंको जो अकेला देव धारण करता है उस पूजनीय ईश्वरके पास सब भुवन जाते हैं। सूर्य, चन्द्र, द्यु, पृथिवी और अन्तरिक्ष इस विधाताने पूर्व कल्पके समान बना दिये हैं।" इस प्रकार ये परमात्माके वर्णन देखनेसे विधाता शब्दका भाव पाठकोंके मनमें ठीक प्रकार आसकता है, और जीवात्मपक्षमें यह शब्द

किस प्रकार प्रयुक्त हो सकता है, इसकी भी कल्पना ठीक प्रकार पाठकोंके मनमें आ सकती है। इस प्रकार इन शब्दोंका मनन करनेसे जीवात्मपरमात्मा का वर्णन वेदमंत्रों में किस ढंगसे है, इसका भी पता लग सकता है।

भग

'भग' शब्दका अर्थ 'ऐश्वर्य' है और 'ऐश्वर्यवान्' भी है। यह शब्द पूर्णतया परमात्मापरक पूर्ण अर्थमें प्रयुक्त होता है, देखिये इसके उदाहरण-

भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद्रोदसी सुदंसाः ।

ऋ० १।६२।७

"ऐश्वर्यवान् परमात्मा द्यावापृथ्वीको परम आकाशमें धारण करता है।" इस मंत्रमें यह भग शब्द परमात्मवाचक स्पष्ट है। जिस प्रकार यह परमात्मा सर्व जगत्में व्यापकर सब जगत् की शोभा बढाता है, अर्थात् सब जगत् को ऐश्वर्यवान् बनाता है, उसी प्रकार यहां इस शरीरमें भी यह जीवात्मा शरीरकी शोभा और ऐश्वर्य बढाता है। इस कारण यह भी 'भग' नामके लिये योग्य है। जीवात्मा चला जानेसे यह शरीर कैसा फीका और शोभारहित होजाता है, यह देखनेसे यह भगशब्द जीवात्मपरक कैसा होता है, यह विदित हो सकता है। अब भग शब्दका परमात्मापरक उदाहरण देखिये-

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥

ऋ० ७।४१।३

'हे भगवान् ईश्वर! तू हमारा नेता है, तेरी सिद्धि सत्य है। हमारी बुद्धिकी रक्षा कर। हे ऐश्वर्यवान् देव! हमें गौ आदिधनोंसे युक्त कर और हम उत्तम नेताओंसे युक्त हों। ऐसे मंत्र भगशब्द परमात्मपरक हैं ऐसा स्पष्ट बताते हैं। इस प्रकार देवतावाचक शब्द जीवात्मा और परमात्माके वाचक वेदमें होते हैं।

अदिति ।

अदिति शब्दके अनेक अर्थ हैं इसविषयमें शतपथ ब्राह्मण के वचन देखिये-

१ सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम् । श० ब्रा० १० । ६ । ५।५

२ इयं वै पृथिव्यदितिः । श० ब्रा० १ । १ । ४ । ५; २ । २ । १ । १९; ३ । ३ । १ । ४

३ अदितिर्हि गौः । श० ब्रा० १४ । २ । १ । ७

४ वाग्वा अदितिः । श० ब्रा० ६ । ५ । २ । २०

"(१) जो खाता है वह अदिति है, भक्षणकर्ता । (२) पृथ्वी अदिति है, (३) गौ अदिति है, (४) वाणीको अदिति कहते हैं ।" यह पहिला अर्थ आत्मा परमात्माका वाचक है । 'अत्ता' शब्द खानेवाला इस अर्थमें प्रयुक्त होता है । चराचर वस्तुओंका प्रलयकालमें भक्षण करनेवाला संहारकर्ता ईश्वर है और जीवात्मा अन्नादिका भोक्ता प्रसिद्ध है । इस प्रकार 'अदिति' और 'अत्ता' ये शब्द समानतया जीवात्मा परमात्माके वाचक प्रसिद्ध हैं । 'अद्' भक्षण करना, इस धातुसे ही ये दोनों शब्द बनते हैं । इस कारण इनका अर्थ समान है । अब उदाहरण के लिये एक मंत्र देखिये—

आदित्यासो अदितयः स्याम पूर्देवत्रा वसवो मर्त्यत्रा ।
सनेम मित्रावरुणा सनन्तो भवेम द्यावापृथिवी भवन्तः ॥

ऋ० । ७ । ५२ । १

'हे आदित्य देवो ! हम (अदितयः) अदिती रूप हो जावें और हम देवोंमें और मानवोंमें (पूः) कीलेके समान सुदृढ बनें । हम कमाते हुए धनी बनें और बढते हुए बढते जांय ।' इस मंत्रमें 'अदितयः' शब्द बहुवचनमें है ।

इस लिये वह अनेक जीवात्माओंका वाचक स्पष्ट है । यहां अदिति शब्दका और एक अर्थ है । (अ-दिति) बंधनरहित, बंधनसे मुक्त, स्वतंत्र, मुक्त, कैवल्यधाममें स्थित, इत्यादि भाव इस शब्दका यहां है । यह जीवात्मा बंधमुक्त अवस्थामें जब होता है, तब इसका यह अर्थ होता है, इसी कारण इस मंत्रमें 'वयं अदितयः स्याम' अर्थात् 'हम मुक्त बनें' ऐसा वाक्य आया है । यहांका अदिति शब्द उक्त कारणसे जीवात्मपरक है और जीवात्मपरक होनेसे ही वह बहुवचनमें प्रयुक्त हुआ है और उपासक अपने आपको वह अवस्था प्राप्त करनेका इच्छुक है । यह सब भाव मनमें लानेसे अदिति शब्दका अर्थ यहां जीवात्मा परक है यह बात स्पष्ट होजाती है । अब यह शब्द परमात्मापरक कैसा होता है यह अब देखना है—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

ऋ० १ । ८९ । १०

"द्युलोक, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेव, पञ्चजन, बना हुआ और बननेवाला सब अदिति ही है।" इस मंत्रमें इस संपूर्ण जगत्को जगद्रूप बनानेवाला परमेश्वर है यह बात स्पष्टरूपसे कही है। जिस प्रकार वह पिताको जीवित रखता है उसी प्रकार पुत्रको भी सचेत करता है, जिस प्रकार द्युलोकमें प्रकाश देता है उसी प्रकार अन्तरिक्षमें भी अपना तेज विद्युद्रूपसे चमकाता है। इस प्रकार वह ईश्वर सब चराचर जगत्के अंदर चेतना देता हुआ विराजमान रहता है। सब विश्वको अपने अंदर लेता है और समयपर बाहर फेंकता है। यह अनंत शक्तिसे युक्त है।

अर्यमा ।

इसी ईश्वरका नाम 'अर्यमा' है। अर्यमन् शब्द है। 'अर्य' अर्थात् श्रेष्ठ मनसे जो युक्त है वह अर्यमा है। श्रेष्ठ मनवाला, श्रेष्ठ धर्मवाला, श्रेष्ठ आशयवाला जो होता है वह 'अर्य-मा' है। इस देवताका मंत्र यह देखिये-

> आनो बर्हि रिशादसो वरुणो मित्रो अर्यमा ।
> सीदन्तु मनुषो यथा ॥ ऋ० १।२६।२

"शत्रुनाशक वरुण मित्र और अर्यमा मनुष्योंके समान हमारे इस यज्ञमें आकर बैठें।" यहां याज्ञिय देव यज्ञमें आकर बैठें, ऐसा कहनेसे यह यज्ञपुरुषका वर्णन स्पष्ट है। 'यज्ञपुरुष' यह शब्द जीवात्मा परमात्माका वाचक है यह विषय इससे पूर्व बताया ही है। इसलिये यज्ञदेववाचक सब शब्द यज्ञपुरुषके मानना योग्य है। इस विचार से अर्यमा शब्दका विचार पाठकोंके मनमें स्थिर हो जायगा।

अर्यमा शब्दका अर्थ (अर्यं मिमीते) कौन श्रेष्ठ है और कौन श्रेष्ठ नहीं है, इसका विचार करनेवाला है। श्रेष्ठकनिष्ठकी परीक्षा परमात्मा न्यायकारी होकर करता है और हरएक मनुष्य अपने अपने कार्यक्षेत्रमें भी करता है। इस रीतिसे यह शब्द जीवात्म-परमात्मवाचक हो सकता है।

अर्यमा, मित्र, वरुण आदि शब्द आदित्यके वाचक भी हैं। आदित्य चक्षु होकर इस शरीरमें निवास करनेके लिये आया है, अर्थात् जैसा आदित्य जगत्में है उसी प्रकार इस देहमें उसका प्रतिनिधि नेत्रस्थान की दर्शनशक्ति है। मानो नेत्र ही शरीरमें सूर्य है। इस प्रकार सूर्यवाचक अर्यमा आदि शब्द मनुष्य शरीरके अंदरकी शक्तियोंके वाचक भी हो सकते हैं। इस विषयका विशेष वर्णन पूर्वस्थलमें आचुका है, इसलिये उसको यहां दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। इस विषयमें यहां इतनाही बताना है कि अर्यमा,

मित्र आदि शब्द जिस प्रकार जीवात्माकी शक्तिके वाचक होते हैं, उसी प्रकार परमात्माकी शक्तिके वाचक भी होते हैं। इस ढंगसे अनेक रीतियोंसे यह एक ही बात देखी जा सकती है।

अपां नपात्।

'अपां-न-पात्' शब्दका अर्थ 'जलोंको न गिरानेवाला' अर्थात् जलोंको ऊपर ही ऊपर धारण करनेवाला है। जल हमेशा नीच भाग की ओर जाता है। यह उसका स्वभावधर्म है। नदी नीचेकी ओर बहती जाती है, वृष्टिका जल नीचेकी ओर जाता है, अर्थात् हमेशा जलका प्रवाह नीचेकी ओर होता है और कभी ऊपरकी ओर नहीं होता है। परंतु इस शरीरमें देखिये, हृदयस्थानमें रहनेवाला रक्त सिरमें ऊपर जाता है और पांवतक नीचे जाकर फिर ऊपरको आता है। जलको केवल नीचेकी ओर ही न गिराते हुए उसको ऊपर खींचनेवाला, अर्थात् जलको नीचेकी ओर ही न गिरानेवाला इस शरीरमें कौन है? जिसकी प्रेरणासे शरीरका जलरूपी रक्त केवल नीचेकी ओर ही न रहते हुए, सब शरीरमें भ्रमण करता है, वह 'अपां-न-पात्' अर्थात् जलोंको न गिरानेवाला अर्थात् जलोंको घुमानेवाला और ऊपर उठानेवाला है। जलके स्वभावधर्ममें परिवर्तन करनेवाला, जिसके आश्रयसे जलभी अपना स्वभावधर्म छोडता है और इसकी इच्छानुसार कार्य करता है, वह कौन है यही विचारणीय बात है। यही जीवात्मा नामसे इस जगत्में प्रसिद्ध है और इसका 'अपां नपात्' नाम है। इसी प्रकार परमात्माका भी यह नाम है क्यों कि इस संपूर्ण विश्वमें मेघरूपसे जलोंको ऊपर धारण करता है इत्यादि विश्वव्यापक दृष्टिसे यही नाम परमात्माका भी हो सकता है। अब इसके उदाहरण देखिये—

सबाधस्त्वा ववृमहे देवं मर्तास ऊतये।
अपां नपातं सुभगं सुदीदितिं सुप्रतूर्तिमनेहसम्॥

ऋ० ३।९।१

"हम एक विचारवाले मनुष्य अपनी सुरक्षाके लिये तुझ देवको अपने अंदर धारण करते हैं। तू उत्तम भाग्यशाली, उत्तम तेजस्वी, विजयी, निरुपम और जलोंको न गिरानेवाला है।" इस प्रकारकी देवताकी अपने अंदर स्थापना करनेका तात्पर्य यह है कि अपने अंदर आत्मशक्तिका प्रकाश होने देना। अपने अंदर आत्माकी शक्ति विक-

सित करना । इस आत्माकी शक्ति उक्त प्रकार है । हरएक मनुष्यको यह शक्ति प्राप्त करनी चाहिये। इस प्रकारके मंत्र जीवात्मा और परमात्माके वाचक हो सकते हैं । जिस प्रकार 'अपां नपात्' है उसी प्रकार 'ऊर्जो नपात्' भी है । इसका उदाहरण यह है—

ऊर्जो नपात् ।

ऊर्जो नपातमध्वरे दीदिवांसमुप द्यवि ।
अग्निमीळे कविक्रतुम् ॥ ऋ० ३ । २७ । १२

" बलको न गिरानेवाले, ज्ञानी, कर्मशील, तेजस्वी देवकी मैं यज्ञमें उपासना करता हूं । " यहां ' ऊर्जो नपात् ' का अर्थ है 'बलको न गिरानेवाला' । जबतक आत्मा इस शरीरमें रहता है तबतक शरीरका बल रहता है,आत्मा जानेके पश्चात् शरीरका बल नष्ट होता है । इस प्रकार यह शब्द जीवात्मवाचक है । यही बात संपूर्ण जगत्में घटानेसे यह शब्द परमात्मपरक होनेमें किसीको संदेह नहीं हो सकता है ।

मिहो नपात् ।

उसी प्रकार 'मिहो नपात्' शब्द भी बडा विचारणीय है देखिये इसका उदाहरण-
त्यं चिद्धा दीर्घं पृथुं मिहो नपातममृध्रम् ।
प्रच्यावयन्ति यामभिः ॥ ऋ० १ । ३७ । ११

" उस बडे विशाल अहिंसनीय (मिहः नपातं) सिंचन करने योग्य पदार्थको न गिरानेवाले को भी (यामभिः प्रच्यावयन्ति) प्राणवायु अपनी गतियोंसे चला देते हैं । " यहां भी 'नपात्' शब्दका अर्थ पूर्वोक्त प्रकार ही ' न गिरानेवाला ' ऐसा है । इसी प्रकार 'विमुचो नपात्' भी है देखिये—

विमुचो नपात् ।

एहि वां विमुचो नपादाघृणे सं सचावहै ।
रथीर्ऋतस्य नो भव ॥ ऋ० ६ । ५५ । १

" हे मुक्तिसे न गिरानेवाले देव ! हमारे पास आ, हम आपसे संयुक्त होंगे. हमारा सारथी हो जिससे हम सत्य मार्गपर चलेंगे । ' यहां मुक्तिपथसे न गिरानेवाला करके जिसका वर्णन है वह निःसन्देह आत्मा है क्यों कि वही मुक्तिपथपर आगे बढनेका इच्छुक रहता है और निश्चयपूर्वक साधन कराता है । इस प्रकार ये प्रयोग देखने योग्य हैं ।

इन्द्र ।

वेदमें 'इन्द्र' देवता विशेष महत्त्वका स्थान रखती है। यह देवोंका राजा है, इसकी सभामें संपूर्ण देवताएं बैठती हैं, इसकी देवसभामें अप्सराओंका नाच होता है, इत्यादि बातें इतिहासग्रंथोंमें लिखी हैं। यह इन्द्र कौन है और कहां रहता है इसका विचार करना है। इसका विचार करनेके लिये हम 'इन्द्रिय' शब्दका विचार करते हैं। "इन्द्र+इय=इन्द्रिय" इस प्रकार यह शब्द सिद्ध होता है। 'इय' प्रत्यय शक्तिवाचक है, अर्थात् इन्द्रकी जो शक्ति है वह 'इन्द्रिय' है। हमारे आंख, नाक, कान, मुख, जिह्वा, हाथ, पांव, गुद, शिश्न, त्वचा आदि जो इंद्रिय हैं, ये इंद्रिय इन्द्रकी शक्तिरूप हैं। अर्थात् इन इन्द्रियोंके अंदर इन्द्रकी शक्ति रहती है और कार्य करती है। यदि ये सब इंद्रियां इन्द्रकी शक्तियां हैं, तो इनके पीछे अथवा इनके बीचमें इन्द्र देवता है, यह बात निश्चित ही है। यदि इनके पीछे अथवा इनके बीचमें इन्द्र देवता न होगी, तो इन इंद्रियोंमें इन्द्रकी शक्ति किस प्रकार आसकती है ? और इन शक्ति केन्द्रोंको भी कौन किस प्रकार इंद्रिय कह सकेगा ? इंद्रियके विषयमें भगवान् पाणिनिमहामुनीने इस प्रकार सूत्र लिखा है—

इन्द्रियमिन्द्रलिंगमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा।

अष्टा० ५।२।९३

इन्द्रः आत्मा तस्य लिङ्गं करणेन कर्तुरनुमानात्। (कौमुदी)

" इन्द्र नाम आत्माका है, इस आत्मा जिसके द्वारा जाना जाता है, आत्माके द्वारा जो देखा गया है, आत्मासे जो उत्पन्न हुआ है, आत्माके द्वारा जो सेवित होता है, आत्माने जो दिया है, वह इंद्रिय है।" यहां आत्माके लिये इन्द्र शब्द प्रयुक्त हुआ है। और यह प्रयोग पाणिनीमहामुनि द्वारा हुआ है, इस लिये इस विषयमें संदेह करनेके लिये कोई कारण नहीं हो सकता। आत्मा और इन्द्र ये दो शब्द एक अर्थवाचक शब्द हैं, यह बात यहां सिद्ध होती है। शरीरमें जो इंद्रियां हैं उनके बीचमें या उनके पीछे इन्द्र रहता है और इन्द्रकी शक्ति इन इन्द्रियोंमें कार्य करती है। इतनी बात निश्चित होनेपर इन्द्र जीवात्मा है इस विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता। यदि जीवात्मा या आत्माका नाम इन्द्र न होता, तो इंद्रियोंको अर्थात् आत्माकी शक्तियोंको इंद्रिय शब्द कभी प्रयुक्त न होता। ऐतरेयोपनिषद्में कहा है—

तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्रमित्याचक्षते। ऐ० उ० ३। १४
एष ब्रह्मा एष इन्द्रः। ऐ० उ० ५।३

"वह इस (शरीर) में छेद करनेवाला है इसलिये उसको इन्द्र कहते हैं। यही ब्रह्मा, यही इन्द्र है।" यह बात हम पहिलेसेही बताते आये हैं। वही बात ऐतरेयोपनिषद्ने स्पष्ट शब्दों द्वारा कही है। इसी प्रकार—

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः। महानारा० ११। १३, कैवल्य ८
स इन्द्रः सोऽग्निः सोऽक्षरः॥ नृ० पू० १। ४
एष हि खल्वात्मा इन्द्रः॥ मैत्री उ० ६। ८

"वह ब्रह्मा, शिव, इन्द्र है। वही इन्द्र अग्नि और अक्षर है। यही आत्मा इन्द्र है।" ये उपनिषद्वचन देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा "इन्द्र" है और इसीका नाम ब्रह्मा, अग्नि, शिव आदि है। यही बात हमने वेदवचनोंसे ऊपर दर्शायी है। इस प्रकार वेदमंत्रों और उपनिषद्वचनोंकी संगति है। यही बात अब वेदमंत्रोंमें देखिये-

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान्न नेमिः परि ता बभूव॥
ऋ० १। ३२। १५

"इन्द्र स्थावरजंगम जगत् का राजा है। वह वज्रबाहु प्रभु शान्त और सींगवाले अर्थात् क्रूर प्राणियोंका भी स्वामी है। सब प्रजाओं का वही एक राजा है। जिस प्रकार चक्रनाभिके चारों ओर आरे होते हैं उसी प्रकार उस प्रभुके चारों ओर सब जगत् है।" यह वर्णन स्पष्टतासे परमात्माका है। अब जीवात्मा विषयक मंत्र देखिये—

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन॥
ऋ० १०। ४८। ५

"मैं इन्द्र हूं। मेरा पराजय नहीं होता। यह धन मेरे पासही रहता है। मैं कभी मरता नहीं। सोमयाग मेरे लिये होता है। धन मेरे पास मांगते हैं। हे मनुष्यो! मेरी मित्रतामें तुम कभी नाशको प्राप्त न होंगे।"

यह मंत्र वास्तवमें विस्तृत अर्थमें परमात्मपरक और संकुचित अर्थमें जीवात्मापरक है। आत्माकी शक्ति जाग्रत होनेपर कभी पराभव नहीं हो सकता, आत्मा तो अजर और अमर है ही। सब जगत्में जो प्रिय होता है और सब यज्ञादि जो रचे जाते हैं वे आत्माके उन्नत्यर्थही हैं, इस प्रकार आत्माकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करनेवाले और

आत्मिक बल बढानेवाले लोगोंका नाश कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार यह मंत्र जीवात्माका वर्णन कर रहा है। अर्थात् इन्द्र शब्द वेदमें जीवात्मापरक भी है। इसके अन्य अर्थ हों, परंतु इसके अर्थ परमात्मा और जीवात्मा ये दो तो हैं ही। यदि इन्द्र शब्दसे आत्मा-जीवात्माका-ग्रहण किया जाय, तो अन्य देवताएं भी अपने अंदरही होनी चाहिये। इस विषयमें मरुत् देवताका विचार पहले करना योग्य है, क्यों कि "इन्द्रा-मरुतौ" इस प्रकार इन्द्रके साथ मरुत् देवताका संबंध वेदनेही बताया है। यदि इन्द्र इन इंद्रियोंके पीछे रहकर इंद्रियोंमें अपनी शक्तिद्वारा कार्य करता है, तो अब उस इन्द्रके साथ रहनेवाले मरुत् कौन हैं, इसका विचार करना चाहिये-

मरुत्।

मरुत् शब्द वायुवाचक प्रसिद्ध है। जो वायु है वही शरीरमें प्राण हुआ है, यह उपनिषदोंमें सर्वत्र प्रसिद्ध बात है। इस विषयमें ये वचन देखिये—

प्राणाद्वायुः। ऐ० उ० १।४
वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। ऐ० उ० २।४
योऽयं प्राणः स वायुः। बृ० आ० उ० ३।१।५
प्राणो वै वायुः॥ मै० उ० ६।३३

इन वचनोंमें वायुसे प्राणकी और प्राणसे वायुकी उत्पत्ति कही है। कमसे कम इतनी बात सत्य है कि जो इस विश्वमें वायु है वही इस शरीरमें प्राण है। मरुत् शब्दमें 'मर्+उत्' मरकर उठनेवाला यह अर्थ है। प्राण अंदर जाता है वहां शरीरके जल-तत्त्वमें मिलता है और फिर ऊठता है यह बात अपने शरीरमें प्रत्यक्ष दिखाई देती है। यह वायुका अर्थात् मरुतोंका—प्राणोंका—कार्य देखनेसे अपने शरीरमें मरुतोंका स्थान कौनसा है, यह बात ठीक प्रकार निश्चित होती है। जो फेंफडोंमें प्राणोंका स्थान है तथा वहांसे जो प्राण शरीरमें जाता है, वह सब मरुतोंकाही रूप है। इस मरुत् देवताके विषयमें वेदके मंत्र देखिये—

मरुतो यद्ध वो बलं जनाँ अचुच्यवीतन।
गिरीँरचुच्यवीतन॥ ऋ० १।३७।१२

"हे मरुतो! तुम्हारा यह बल है जिससे तुम प्राणिजनोंको चलाते या घुमाते हो और जड पदार्थोंको भी घुमाते हो।" यह प्राणिमात्रको चलाने, फिराने, घुमाने आदिका कार्य अथवा जो हलचल करना है वह मरुतोंका कार्य है अर्थात् प्राणोंका ही कार्य है।

शरीरमें पांच मुख्य प्राण और पांच उपप्राण हैं। ये सब प्राण मिलकर शरीरका सब व्यापार चलाते हैं। यह प्राणका व्यापार ऐसा है कि ये प्राण जड शरीरको भी चेतनके समान चलाते हैं। जिस प्रकार वायु मेघोंको घुमाता है उसी प्रकार प्राण जड शरीरको हिला देता है। यह वर्णन शरीरकी प्राणशक्तिके विषयमें भी जैसा सत्य है, उसी प्रकार विश्वव्यापक प्राण अर्थात् वायुकी शक्तिके विषयमें भी सत्य है। दोनों स्थानोंपर का नियम एक जैसा ही है। इसलिये यह मंत्र मानवशरीरकी घटनाका वर्णन करता हुआ विश्वव्यापक घटनाका भी वर्णन करता है। इस प्रकार मरुत् प्राण है और मनुष्योंमें मरुत् रहनेके कारण प्रजाओंको 'मारुतीः विशः' मरुतोंसे युक्त प्रजा ऐसा कहा है, देखिये—

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥

ऋ० ८।१२।२९

"हे इन्द्र! जब प्राण धारण करनेवाली प्रजा तेरे साथ रहती है, तब मानो सब प्राणिमात्र तेरे साथ संबंधित होते हैं।" अर्थात् प्राणके साथ संबंधित होकर सब प्रजाएं इन्द्रसे अपना संबंध जोडती हैं। यह बात सबके परिचयकी ही है कि जितने भी प्राणी हैं उनका प्राणसे संबंध है और साथ साथ उनका संबंध इन्द्र अर्थात् जीवात्मासे भी है। जबतक जीवात्मा इस शरीरमें रहता है तबतक प्राण भी उसके साथ रहता ही है। यहां जीवात्मा और प्राणका नित्य संबंध दीखता है, इसलिये वेदमें 'इन्द्रामरुतौ' यह देवता आती है। 'जीवात्मा और प्राण' यही इस देवताका अर्थ अध्यात्ममें समझना योग्य है। इसलिये कहा है—

स्वस्तिमिन्द्रामरुतो दधात॥

ऋ० २।२९।३

"इन्द्र और मरुतोंके द्वारा हमारा (स्वस्ति=सु+अस्ति) उत्तम रहना होवे।" अर्थात् जीवात्मा और प्राणोंकी सहायतासे हम यहां अच्छी प्रकार सुखसे रहें। सचमुचही हम इनकी सहायतासे सुखपूर्वक रहते हैं। इनकी शक्ति हमें न प्राप्त होगी तो हमें सुख कहांसे प्राप्त हो सकता है?

इन्द्र अर्थात् जीवात्माके साथ ये मरुत् प्राणोंका रूप धारण करके इस शरीरमें रहे हैं। इस शरीरमें जो देवताओंका वास है वह अब देखिये—
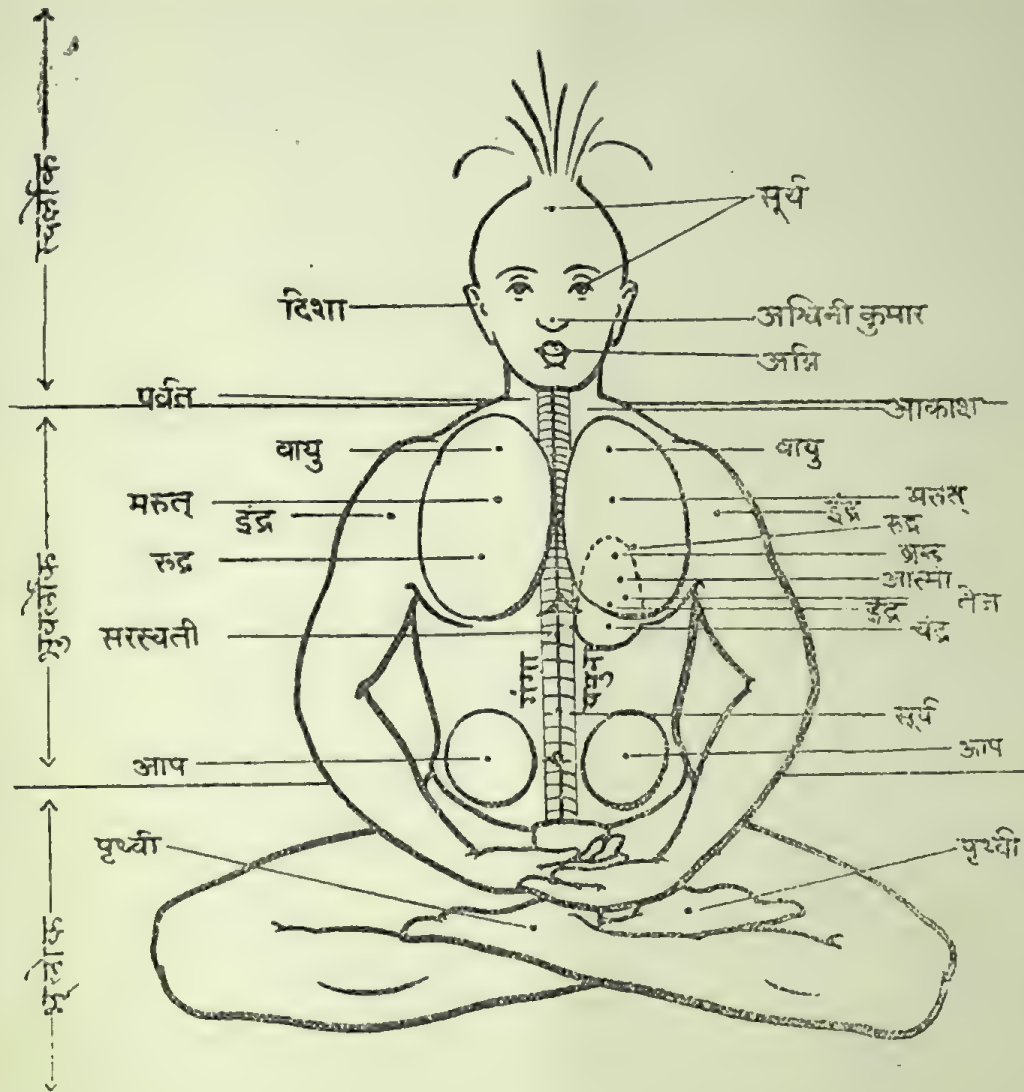
इस ढंगसे शरीरमें देवताओंके अंश किस स्थानमें कैसे हैं, इस बातका पता लग सकता है, इन्द्रके साथ सब अन्य तैंतीस देवताएं यहां रही हैं। पृथ्वी लोक, अन्तरिक्षलोक व द्युलोक इन तीनों लोकोंमें जो तैंतीस देवताएं हैं, उन सबके अंश यहां शरीरमें हैं। ये तीनों लोक इस शरीरमें हैं इसका चित्र यह है देखिये-

इस प्रकार त्रिलोकी अपने अंदर देखना और अनुभव करना यह इस वेदके धर्ममें मनुष्यका कार्य है। अपने अंदर की छोटी त्रिलोकीका ज्ञान हुआ, तो तदनुसार विश्वव्यापक त्रिलोकीका ज्ञान हो सकता है। अपने अंदर का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और उससे बाह्य विश्वका ज्ञान अनुमानसे हो जाता है। इस कारण अपने अंदरका ज्ञान देना अध्यात्मविद्याका प्रधान कार्य है। जो वेदमंत्रों द्वारा इस प्रकार दिया गया है। अर्थात् द्युलोक अंतरिक्षलोक और भूलोक इस प्रकार अपने अंदर हैं अर्थात् इन तीनों लोकोंके
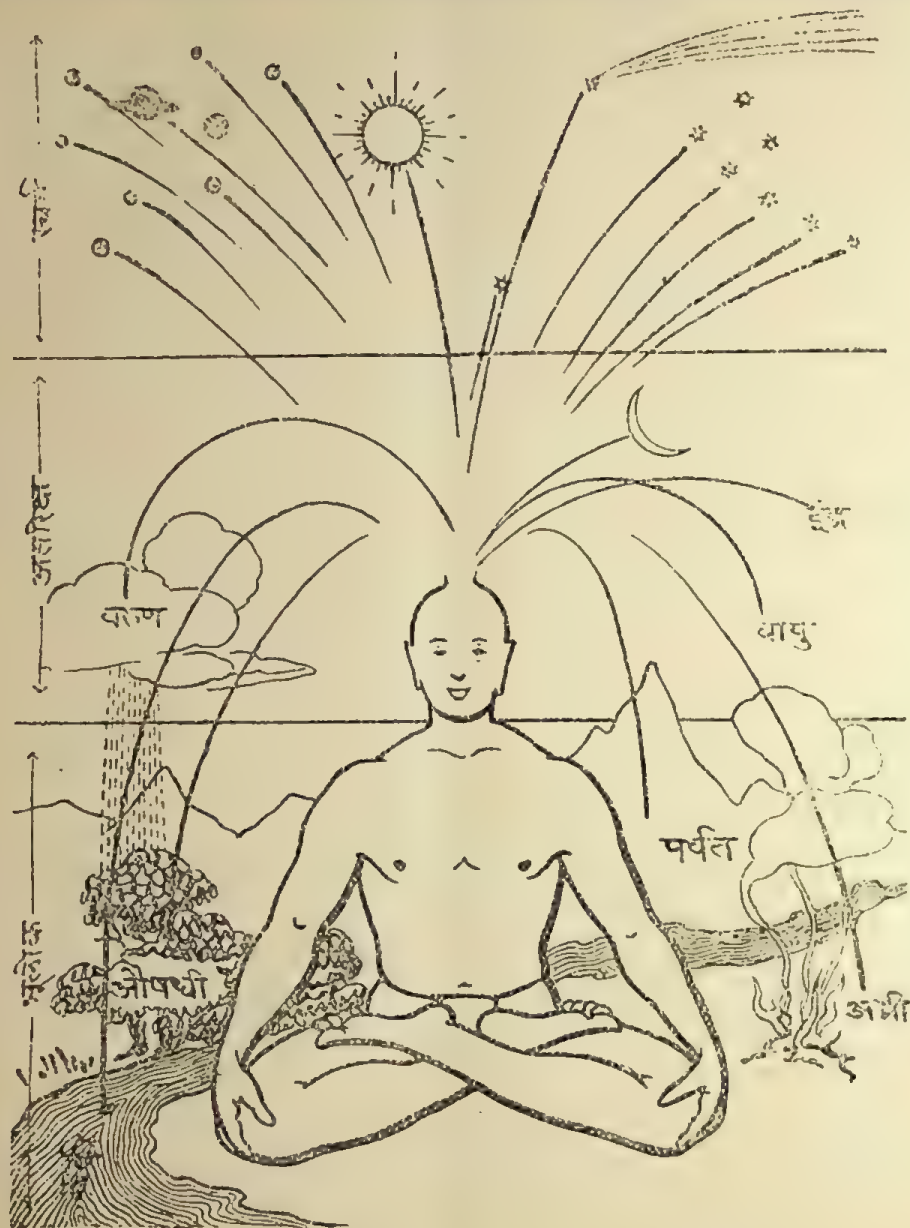
अंदर जो अनेक देवताएं हैं वे भी त्रिलोकीके साथ अपने अंदर हैं । मनुष्यको जानना चाहिये कि वह इस अपने ऐश्वर्यका ज्ञान प्राप्त करे और अनुभव करे । यह शक्ति मनुष्य के अंदर सुप्त है, जो जाग्रत करनी चाहिये और बढानी भी चाहिये । जिस प्रकार हरएक बीजमें संपूर्ण वृक्षकी शक्ति सुप्त स्थितिमें रहती है, और अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होते ही वृक्षरूप होकर विस्तारको प्राप्त होती है; उसी प्रकार इस मनुष्यमें परब्रह्म समेत संपूर्ण तैतीस देवताओंकी शक्ति सुप्त अवस्थामें रहती है। हरएक प्राणीमें और विशेषतः मनुष्यमें यह शक्ति है, परंतु सुप्त अवस्थामें है । इस शक्तिको जाग्रत करनेके लिये ये सब धर्मके साधन हैं । यह शक्ति धार्मिक परिस्थिति अनुकूलतासे प्राप्त होनेपर जाग्रत

होती है और विस्तारको प्राप्त होती है और अन्तमें इस जीवात्माको ब्रह्मरूप अवस्था प्राप्त होती है। उन्नतिकी यह अन्तिम सीमा प्राप्त करना हरएक मनुष्यका कर्तव्य है। इस कर्तव्यकी सूचना देनेके लिये वेदमें परमात्माके और जीवात्माके नाम एकसे दिये हैं और जिन नामोंके जरिये सूचित किया है, कि जीवात्मामें परमात्माकी शक्ति गुप्त है अर्थात् यह शक्ति प्रकट करना मनुष्यका धार्मिक कर्तव्य है। इस समय तक हमने अनेक शब्दों द्वारा यह उपदेश देखा और जाना कि इन्द्रादि देव इस शरीरमें हैं, देव-सभा भी यहां है, त्रिलोकी भी यहां है। इन्द्र और मरुत् भी यहां हमने देखे। अब कुछ शेष रहे अन्य देव यहां किस प्रकार हैं इसका विचार करना है। अब रुद्रका विचार करते हैं—

रुद्र ।

रुद्र देवता कहां है और किस रूपमें है यह बात शतपथ ब्राह्मणमें कही है वह सबसे प्रथम देखिये—

अष्टौ वसव, एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः ॥ ५ ॥
कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश-
स्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति।
तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ७ ॥

श० प० ब्रा० ११।६।३

" आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य हैं। इनमें रुद्र कौनसे हैं। प्राणीमें जो दस प्राण हैं और ग्यारहवाँ आत्मा है ये ग्यारह रुद्र हैं। क्यों कि जब ये शरीरसे बाहर जाते हैं तब मनुष्य मरता है और उसके संबंधियोंको ये रुलाते हैं। रुलानेके कारण इनको रुद्र कहते हैं।" इस शतपथ ब्राह्मणके वचनसे प्राणोंका नाम रुद्र हुआ। अर्थात् यह रुद्र देवता अपनेही शरीरमें है। रुद्र देवता बडी क्रूर है, यदि उसके व्रतका आचरण ठीक प्रकार न किया, तो वह देवता सर्वस्वका नाश करती है, इत्यादि बातें पुराणोंमें हैं। इनका तात्पर्य समझनेके लिये रुद्र देवता 'प्राण' है इतना जानना पर्याप्त है। क्यों कि प्राणायाम करनेवाले जानते ही हैं, कि प्राणको वश करनेवाले यदि अनुष्ठानमें भूल करने लगे, तो नाना प्रकारके कष्ट, दुःख और रोगभी होते हैं। परंतु यदि अनुष्ठान ठीक हुआ और प्राण उनके वशमें हुआ, तो वह उनपर ऐसी प्रसन्नताकी वृष्टि करता है कि जिससे वे पूर्ण तृप्त हो जाते हैं। रुद्रकी तनु क्रूर भी है और सौम्य भी है,

इसका तात्पर्य यही है । जब वह प्रसन्न होगा तब वह पूर्ण सुख देगा, परंतु यदि बिगड बैठा तो पूर्ण नाश भी करेगा । इस विषयके मंत्र देखिये-

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।
तया नस्तन्वा शंतमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि ॥ २ ॥
या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी ।
शिवा रुद्रस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ॥ ४९ ॥
वा० यजु० अ० १६

" हे रुद्र ! जो तेरी कल्याणकारक, पापनाशक, सुखदायक, रोग और दोष दूर करनेवाली तनू है, उससे मुझे दीर्घायुके लिये सुखसे जीवित रख । " इसमें इस रुद्रकी शिवा और घोरा अर्थात् शान्त और भयंकर प्रकृति है ऐसा कहा है । यह प्राण का ही वर्णन है । यदि प्राण स्वाधीन और प्रसन्न रहा तो आरोग्य, आनंद, बल और दीर्घ आयु देता है, परंतु यदि बिगड बैठा तो सर्वस्व नाश करता है । इस प्रकार प्राणके वर्णनमें रुद्र शब्द है । प्राणके वर्णनसे प्राणीका भी वर्णन हुआ करता है । जो प्राणका वर्णन है उससे जीवात्मा का भी वर्णन होता है । यह व्यक्तीकी दृष्टिसे वर्णन हुआ जब यही वर्णन विश्वव्यापक प्राणका होगा, उस समय इसी रुद्रका वर्णन परमात्माका हो जाता है । परमात्मा एक है और जीवात्मा अनंत है । यदि रुद्र शब्द दोनोंका वाचक है; तो परमात्मवाचक रुद्र एक है और जीवात्मवाचक रुद्र अनेक हैं ऐसा वर्णन होना चाहिये यह बात स्वयं स्पष्ट है, और इसी लिये वेदमें इसी प्रकार वर्णन आता है-

एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः ।
असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् । (निरुक्त १।१५।७)

"रुद्र एक है दूसरा नहीं है और असंख्यात हजारों रुद्र हैं ।" तथा—

एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे । तै० सं० १।८।६।१

"एकही रुद्र है जो दूसरेकी सहायता की अपेक्षा नहीं करता" ऐसा तैत्तिरीय संहिता में कहा है । इस प्रकार जहां एकत्व का कथन है वहां परमात्मविषयक वर्णन समझना उचित है और जहां अनेकत्व का वर्णन है वहां जीवात्माका वर्णन समझना चाहिये । इसके उदाहरण देखिये-

भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ ।
बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्नमृधग्घुवेम कविनेषितासः ॥
ऋ० ६।४९।१०

"त्रिभुवनका पिता रुद्र है उसकी दिनमें और रात्रीमें वधाई करो। वह बडा ज्ञानी, अजर, अमर, उत्तम मनवाला है, इस लिये उसकी विशेष प्रकारसे हम उपासना करते हैं।" इस मंत्रमें जगत्पिता परमात्मा का रुद्र शब्दद्वारा वर्णन है। इस विषयका सदृश वर्णन और देखिये-

भुवनस्य पिता रुद्रः। (ऋ० ६। ४९। १०)

भुवनस्य ईशानः रुद्रः। (ऋ० २। ३३। ९)

इस प्रकार रुद्र यह एक देव त्रिभुवनका पिता और ईश है, यह बात वेदमंत्रोंसे इस प्रकार सिद्ध है। यह देव सबके अन्तर्यामी है, इसविषयमें वेदवचन देखिये-

अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया। ऋ० ८। ७३। ३

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम्।

मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत्ते निवपन्तु सेन्यम्।

अथर्व० १८। १। ४०

"मनुष्यके अंदर अन्तःकरणमें बुद्धिद्वारा उस रुद्रदेवको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं। (जनानां गर्तसदं) मनुष्योंके हृदयकंदरामें रहनेवाले उस भयंकर उग्र रुद्रदेवकी स्तुति कर। वह स्तोताको सुख देता है।"

इस प्रकार परमेश्वरका वर्णन रुद्रमंत्रोंद्वारा वेदमंत्रोंमें है। यह एक देव अनेक रुद्रोंमें है, इसविषयका मंत्र अब देखिये-

रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे॥ ऋ० १०। ६४। ८

"अनेक (रुद्रेषु) रुद्रोंमें रहनेवाले एक रुद्र देवकी हम पूजा करते हैं।" यहां अनेक रुद्र जीवात्मा हैं और एक रुद्र परमात्मा है। इस प्रकार जीवात्मापरमात्मा का वर्णन एकही रुद्र शब्दसे होनेकी सिद्धता इस मंत्रद्वारा उत्तम रीतिसे होती है। इसी प्रकारका वर्णन निम्नलिखित मंत्रोंमें देखने योग्य है-

शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः॥ ऋ० ७। ३५। ६

रुद्रो रुद्रेभिर्देवो मृळयाति नः॥ ऋ० १०। ६६। ३

रुद्रं रुद्रेभिरावहा बृहन्तम्॥ ऋ० ७। १०। ४

इन मंत्रोंमें अनेक रुद्रोंके साथ रहनेवाले एक रुद्रका वर्णन है। अनेक रुद्र जीवात्मा हैं और एक रुद्र परमात्मा है। इस प्रकार इन मंत्रोंकी संगति देखनेसे रुद्र देवता द्वारा प्रकाशित होनेवाली अध्यात्मविद्या जानी जाती है। सब देवताओंके संबंधमें ही इस प्रकारके वर्णन आते हैं, यह बात पाठकोंने इस समयतक देखी है। जिस कारण इस

वर्णन शैलीकी समानता हरएक देवताके विषयमें समान है, उस कारण हम कह सकते हैं कि यह वेदकी शैली ऐसी ही है ।

मन्यु !

रुद्रका मन्युके साथ संबंध विशेष है । 'मन्यु' शब्दका अर्थ "उत्साह और क्रोध" है । आत्मशक्तिसे ही उत्साह होता है और क्रोध भी होता है । हरएक मनुष्यमें या प्राणीमें क्रोधका अंश है और उस क्रोधकी अन्तिम सीमा रुद्रमें मानी है । परंतु परमेश्वरका क्रोध दुष्टोंपर होता है और मनुष्यका क्रोध किसपर होता है इसका नियम नहीं है । यह दोनोंके क्रोधमें फर्क है । अब मन्युके वर्णनके मंत्र देखिये-

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।
मन्युं विश ईळते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥
ऋ० १० । ८३ । २

"मन्यु वस्तुतः इंद्र देव है, वही होता वरुण और जातवेद अग्निभी है । सब प्रजाजन इस मन्युकी उपासना करते हैं, यह मन्यु अनुकूल रहकर हमारी रक्षा करे ।" इस प्रकारके मंत्रोंमें मन्यु शब्दका अर्थ उत्साह बढानेवाली आत्मशक्ति ऐसा है, इसीके नाम इन्द्र आदि हैं । अर्थात् इन्द्रसे बोधित होनेवाले अर्थ मन्यु शब्दमें भी होते हैं । इसी का वर्णन देखिये-

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहावानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ऋ० १०।८३।४

" हे मन्यो ! तेरी शक्ति बहुत बडी है, तू भयंकर है, शत्रुनाशक है और स्वयंभू है अर्थात् अपनी शक्तिसे रहनेवाला है । तू विजयी तथा बलवान् है और सब मनुष्योंमें रहकर सबको प्रभावित करनेवाला है । तू युद्धोंमें हमें बलवान् बनाओ ।" यह मन्यु ही सब मनुष्योंमें सामर्थ्य बढानेवाला है । यही इन्द्र है अर्थात् यह आत्मारूप ही है । इसका प्रभाव देखिये—

एको बहूनामसि मन्यवीळितो विशंविशं युधये सं शिशाधि ।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्महे ॥
ऋ० १० । ८३ । ४

"हे मन्यो ! तू बहुतोंमें अकेला ही पूजित होता है, तू हरएक प्रजाजनको युद्धके लिये उत्तेजित कर । तेरी कृपासे तेजस्वी होते हुए हम विजयके लिये जयघोष करेंगे ।"

इस प्रकार यह मन्युके मंत्र बता रहे हैं, कि जिस प्रकार इन्द्रके मंत्र हैं उसी प्रकार मन्युके भी मंत्र उसी भावको बता रहे हैं । शब्द भिन्न होनेपर उनसे व्यक्त होनेवाला अर्थ एकही है । मन्यु दूसरा कोई नहीं है वह इन्द्र ही है, ऐसा इससे पूर्व दिये हुए मंत्रमें कहा है, इसी लिये मन्यु देवताका वर्णन इन्द्रवर्णनके साथ मिलता जुलता है। यहां पाठक इन्द्रका वर्णन और मन्युका वर्णन तुलनात्मक दृष्टिसे देखें ।

ऋ० १० । ८३ । २ का मंत्र इससे पूर्व दिया है उसमें कहा है कि मन्यु "जातवेदा अग्नि" है । इसलिये इस अग्निके विषयमें थोडासा यहां लिखते हैं ।–

अग्निः ।

अग्नि शब्दके पर्याय नामोंमें 'जात-वेदाः' शब्द है । अग्निसे वेद प्रकट हुए हैं। निःसन्देह भौतिक अग्निसे वेद प्रकट नहीं होते । आत्मासेही वेदका प्रकट होना संभव और युक्तियुक्त भी है । इसीलिये जातवेद शब्द मुख्यतः आत्मावाचक है । अग्नि शब्दका भी वही भाव है—

मनन कर्ता अग्नि ।

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोताऽस्या धियो अभवो दस्म होता ॥
त्वं सीं वृषन्नकृणोर्दुष्टरीतु सहो विश्वस्मै सहसे सहध्यै ॥

ऋ० ६ । १ । १

"हे अग्ने ! (त्वं प्रथमः मनोता) तू पहिला मननकर्ता है । हे (दस्म) दर्शनीय! (अस्याः धियः होता अभवः) इस बुद्धिका हवनकर्ता तू ही है । हे (वृषन्) बलवन्! तू (सीं) सब प्रकारसे (दुस्+तरीतुः) पार होनेके लिये कठिन (सहः) बल (विश्वस्मै सहसे) सब बलवान् शत्रुको (सहध्यै) पराजित करनेके लिये धारण (अकृणोः) करता है ।"

इस मंत्रमें " अग्नि " का विशेषण " मनोता " है । श्रीसायनाचार्य इस शब्द का अर्थ-देवानां मनः यत्र ऊतं संबद्धं भवति तादृशः " अर्थात् देवोंका मन जिसमें संबंधित होता है " ऐसा करते हैं। देव शब्दका एक अर्थ इंद्रियगण है। इंद्रियोंका मन आत्मामें संबंधित होता है, इसका विशेष वर्णन करनेकी अवश्यकता नहीं है । इससे स्पष्ट होता है " मनोता अग्नि " वही आत्मा है कि, जिससे मन आदि सब इंद्रियां संबंधित होती हैं । इस विषयमें ऐतरेय ब्राह्मणमें निम्न प्रकार कहा है—

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोतेति । ....तिस्रो वै देवानां मनोतास्तासु हि तेषां मनांस्योतानि । वाग्वै देवानां मनोता, तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि । गौर्वै देवानां मनोता, तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि । अग्निर्वै देवानां मनोता, तस्मिन् हि तेषां मनांस्योतान्यग्निः सर्वा मनोता अग्नौ मनोताः संगच्छन्ते ॥

ऐ० ब्रा० २ । १०

" देवोंके तीन मनोता हैं । वाणी देवोंकी मनोता है क्योंकि उसमें देवोंका मन संबंधित होता है । गौ देवोंकी मनोता है क्योंकि उसमें उनके मन संबंधित होते हैं । अग्नि देवोंकी मनोता है क्योंकि उसमें सब देवोंके मन संबंधित होते हैं । अग्नि ही सब मनोता है क्योंकि अग्निमें ही सब मनोता संगत होते हैं । " अग्नि, सूर्य आदि देवोंका संबंध जैसा परमात्मासे है, उसी प्रकार वाणी,नेत्र, कर्ण आदि इंद्रियोंका संबंध शरीरमें जीवात्माके साथ है । दोनोंका तात्पर्य यही है कि, देवोंका आत्माग्निसे नित्य संबंध है । यही आत्माग्नि अत्यंत बलवान् है और शत्रुओंको दूर करनेकी अनिवार्य शक्ति अपने अंदर धारण करता है । सब बलवानोंसे यह अधिक बलवान् है, और इसके समान किसी अन्यका बल नहीं है । अपने आत्माका यह सामर्थ्य है, यह विश्वास हरएक वैदिकधर्मी मनुष्यके अंदर स्थिर होना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक प्राणीके अंदर यह शक्ति विद्यमान है ।

**अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ॥
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे ॥**

ऋ० ४ । ७ । १

" यह (प्रथमः) पहिला (होता) हवनकर्ता यज्ञमें अत्यंत पूज्य धाताओं द्वारा यहां रखा है । जिसको(अप्नवानो भृगवः)कर्मकुशल भृगु (विशे विशे विभ्वं) प्रत्येक मनुष्यके लिये विशेष प्रभावसंपन्न और (वनेषु चित्रं)वंदनीय पदार्थोंमें विलक्षण देखकर (विरुरुचुः) विशेष तेजस्वी करते रहे । " अर्थात् यह अग्नि प्रत्येक मनुष्यमें है और विशेष प्रभावसे युक्त है । यद्यपि प्रत्येक मनुष्य छोटासा है, तथापि उसकी आकृतिके अनुसार यह आत्मा तुच्छ नहीं है । छोटेसे छोटे प्राणीमें भी यह विशेष प्रभावयुक्त है, और सबसे पहिला पूजनीय है । मनुष्यके जीवनमें इस आत्मशक्तिका विकास करनेकाही मुख्य कर्तव्य है । प्रत्येक मनुष्यमें जो आत्माग्नि है, उसका उत्तम और स्पष्ट वर्णन इस मंत्रमें हुआ है । मर्त्य मनुष्योंमें जो अमर तत्व है वह यही है, यह बात निम्न मंत्रमें देखिये—

मर्त्योंमें अमृत अग्नि।

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु ।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः ॥

ऋ० ६।९।४

" (अयं प्रथमः होता) यह पहिला हवनकर्ता है, (इमं पश्यत) इसको देखिये, (मर्त्येषु इदं अमृतं ज्योतिः) मर्त्योंमें यह अमर ज्योति है, (अयं ध्रुवः जज्ञे) यह स्थिर प्रकट हुआ है, (तन्वा सह वर्धमानः अमर्त्यः) शरीरके साथ बढनेवाला अमर (आनिषत्तः) प्रकट हुआ है । " इसमें स्पष्ट शब्दोंसे कहा है कि यह (मर्त्येषु अमृतं ज्योतिः) मर्त्योंमें अमर तेज है । मरण धर्मवाले देहोंमें यह एक न मरनेवाला तेज है। इसका वर्णन गीतामें देखिये—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ॥ ३० ॥

भ० गी० २

" कहा है, कि जो शरीरका स्वामी (आत्मा) नित्य अविनाशी और अचिन्त्य है, उसे प्राप्त होनेवाले ये शरीर नाशवान् हैं । अत एव हे भारत ! तू युद्ध कर ॥ १८ ॥ यह आत्मा अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, एवं शरीरका वध हो जाय तो भी मारा नहीं जाता ॥ २० ॥ जिस प्रकार कोई मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोडकर नये ग्रहण करता है, उसी प्रकार देही अर्थात् शरीरका स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्याग कर दूसरे नये शरीर धारण करता है ॥ २२ सबके शरीरमें यह शरीर का स्वामी सर्वदा अवध्य अर्थात् कभी भी वध न किया जानेवाला है ॥ ३० ॥ "

यह गीताका कथन पूर्वोक्त मंत्रके कथनकाही विस्तार है । "मर्त्योंमें यह अमर ज्योति है ।" इस बातकी सचाई हर एक मनुष्यके अनुभवमें भी है । अनेक शास्त्र

यही बात कह रहे हैं। वेद कहता है कि, (इमं पश्यत) इसको देखिये। इस आत्माकी ज्योतिका साक्षात्कार करना मनुष्यका कर्तव्य है। मनुष्य अपने आपको शरीररूप समझकर मरनेवाला न समझे, परन्तु आत्मरूपसे अपने आपको अमर समझे! वेदका यह उपदेश विशेष रीतिसे देखने योग्य है! वेद कहता है कि, यह "ध्रुव" है। इसी का वर्णन वेदमें अन्यत्र "स्थाणु, स्कंभ, स्थूण" आदि नामोंसे किया है। इस मन्त्रमें "अमर्त्यः तन्वा वर्धमानः।" अर्थात् "यह अमर शरीरके साथ बढता है," ऐसा कहा है, इसका तात्पर्य यह है कि "यह अमर होता हुआ भी मर्त्य शरीरके साथ बढता है।" यह बताता है कि, यह आत्मा ही है। अजर अमर और अजन्मा आत्मा जीर्ण होनेवाले, मरनेवाले और जन्मको प्राप्त होनेवाले शरीरके साथ बढता है, अथवा ऐसा दिखाई देता है कि, यह शरीरके साथ बढ रहा है। वास्तविक तत्वज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो न यह शरीर के साथ जन्मता है, न जीर्ण होता है और न मरता है। परन्तु सामान्य दृष्टिसे ऐसा भासमान हो रहा है। इसपर सायनभाष्य देखिये-

जाठराग्नि।

मर्त्येषु मरणस्वभावेषु शरीरेषु अमृतं मरणरहितं इदं वैश्वानराख्यं ज्योतिः जाठररूपेण वर्तते। अपि च सोऽयमग्निः ध्रुवो निश्चल आ समन्तान्निषण्णः सर्वव्यापी अतएवामर्त्यो मरणरहितोऽपि तन्वा शरीरेण सम्बन्धाज्जज्ञे ॥

ऋ० सायनभाष्य ६।९।४

"मरनेवाले शरीरोंमें मरणधर्मरहित वैश्वानर नामक तेज जठराग्नि रूपसे रहता है। यह ध्रुव सर्वव्यापक अमर होता हुआ भी शरीरके सम्बन्धसे उत्पन्न होता है" अस्तु। यह मन्त्र मर्त्योंमें जो अमर अग्निका स्वरूप है, उसका स्पष्टीकरण कर रहा है। यही वेदप्रतिपाद्य मुख्य अग्नि है। श्री० सायनाचार्य पूर्व मन्त्रोक्त अग्निको जाठराग्नि कहते हैं, तथा निम्न मंत्रमें भी उनके मतसे जाठराग्निकाही वर्णन है—

मथीद्यदीं विष्टो मातरिश्वा होतारं विश्वाप्सुं विश्वदेव्यम्।
नि यं दधुर्मनुष्यासु विक्षु स्वर्णं चित्रं वपुषे विभावं ॥

ऋ० १।१४८।१

सायनभाष्य—देवाः मनुष्यासु मनोरपत्यभूतासु विक्षु प्रजासु प्राणिषु

वपुषे स्वरूपाय शरीरधारणाय जाठराग्निरूपेण निदधुः स्थापितवन्तः ॥

" (होतारं) हवनकर्ता (विश्व-अप्सुं) विश्वरूपी, नानारूप धारण करनेवाले (विश्व-देव्यं) सब देवोंसे युक्त (इं-एनं) इस आत्माग्निको (विष्टः मातरिश्वा) व्यापक प्राण (मथीत्) मंथनसे उत्पन्न करता है। (यं) जिसको देव (मनुष्यासु विक्षु) मानवी प्रजाओंमें (वपुषे) शारीरिक स्वरूपके लिये (निदधुः) धारण करते हैं। (न) जिस प्रकार (चित्रं विभावं स्वः) विचित्र प्रभाव शाली दीप घरमें रखते हैं।" शरीररूपी घरमें यह आत्माग्नी रूपी दीप देवोंद्वारा प्रज्वलित किया है।

ये अग्नि मुख्यतः अपने शरीरकी शक्तियाँ ही हैं और उनका संबंध व्यक्त करनेके लिये ही बाहिरके यज्ञमें विविध अग्नियोंकी योजना की गई है। यही बात निम्न मंत्रमें और स्पष्ट हुई है, देखिये-

देवोंद्वारा प्रदीप्त अग्नि !

मा नो अग्ने दुर्भृतये सचैषु देवेद्धेष्वग्निषु प्रवोचः ॥
मा ते अस्मान् दुर्मतयो भृमाचिद्देवस्य सूनो सहसो नशन्त॥

ऋ० ७।१।२२

हे अग्ने ! (नः सचा) हमारा सहायक तू है, इसलिये इन (देवेद्धेषु अग्निषु) देवोंद्वारा प्रदीप्त किये हुए अग्नियोंमें (दुर्भृतये) कृशता के लिये (मा प्रवोचः) न कहो। तथा हे (सहसः सूनो) बलपुत्र ! (ते देवस्य दुर्मतयः) तुझ देवकी दुर्बुद्धियां (भृमात् चित्) भ्रमसे भी हमारा नाश न करें।

इसमें मुख्य अग्निकी प्रार्थना की गई है कि, वह मुख्याग्नि गौण अग्नियोंमें कृशताके शब्द न बोले और भ्रमसेभी दुष्ट भाव न धारण करे। मुख्याग्नि आत्माग्नि है, और गौणाग्नि इंद्रियाग्नि ही हैं। आत्माग्नि की प्रेरणा इंद्रियाग्नियोंमें होती है, और यहां का सब कार्य चलता है। यह आत्माग्नि गुप्त शब्दोंद्वारा इंद्रियाग्नियोंमें प्रेरणा करता है इसकी यह प्रेरणा (दुर्भृतये) कृशताके लिये न हो, परंतु (सुभृति) पुष्टिके लिये होवे। जिस भावकी धारणा होती है, वैसीही यहांकी अवस्था बन जाती है। " मैं प्रतिदिन उन्नत, पुष्ट और नीरोग हो रहा हूं " ऐसी भावना धरनेसे उन्नति, पुष्टि और निरोगता सिद्ध होती है। तथा इसके विपरीत भाव धारण करनेसे विपरीत परिणाम होता है। इसलिये भ्रममें भी दुष्टभावना मनमें धारण नहीं करनी चाहिये, क्यों कि, यदि दुष्ट भावना का धारण हुआ तो निःसन्देह नाश होगा। इतनी प्रबल शक्ति भावनामें है।

यह मन्त्र मानसशास्त्रके एक बडे भारी सिद्धान्तका प्रकाश कर रहा है। आशा है कि पाठक इसका विचार करके अपना लाभ करनेका यत्न करेंगे ! नित्य शुद्ध भावनाकी स्थिरता करनेसे नित्य लाभ होगा, यह अटल सिद्धान्त है।

इस मंत्रमें (देवेद्धः अग्निः) देवों द्वारा प्रदीप्त किये अग्नियोंका उल्लेख है। यहां कौनसे अग्नि, देवोंके प्रयत्नके प्रदीप्त हुए हैं ! इसका पता लगाना आवश्यक है। उपनिषदोंमें कहा है कि, (१) भगवान् सूर्य नेत्रस्थानमें आकर रहे हैं, और दर्शनाग्नि को प्रदीप्त कर रहे हैं, (२) अश्विनी देव नासिका स्थानमें प्राणाग्निको प्रदीप्त कर रहे हैं, (३) अग्नि वाक् स्थानमें बैठकर शब्दाग्निको जला रहा है, (४) शिश्न स्थानमें जल देवताएं बैठी हैं, और वीर्याग्निका प्रदीपन कर रही हैं, (५) नाभिस्थानमें मृत्युदेव आकर अपानाग्निको उद्दीपित कर रहा है, इसी प्रकार अन्यान्य देवतायें अन्यान्य इंद्रियस्थानोंमें बैठकर अपने अपने हवनकुंडमें अपने अपने अग्नि प्रदीप्त कर रही हैं; ये सब अग्नि (देव+इद्ध) देवोंद्वारा प्रदीप्त किये हैं। पाठक इतना अनुभव अपने देहमें कर सकते हैं। परंतु सायनाचार्य इस शब्दका अर्थ विचित्रही करते हैं देखिये—

देवेद्धेषु ऋत्विग्भिः समिद्धेषु अग्निषु ।

ऋ० सा० भा० ७ । १ । २२

"देवेद्ध" शब्दका अर्थ ऋत्विजों द्वारा प्रदीप्त अग्नि है। यहां देव शब्दका अर्थ ऋत्विक् किया है। श्री. स्वामी दयानंद सरस्वती जी अपने भाष्यमें—

देवेद्धेषु देवैः इद्धेषु प्रज्वालितेषु अग्निषु ॥

ऋ० द० भा० ७ । १ । २२

"वायु आदिसे प्रज्वलित किये हुए अग्नियोंमें" ऐसा करते हैं। अस्तु। इस प्रकार "देवेद्ध अग्नि" ये शब्द दैवी शक्तियोंका ही वर्णन कर रहे हैं, न कि हवन कुंडस्थ अग्नियोंका यहां संबंध है। दैवी शक्तियोंद्वारा इंद्रियाग्नियोंका प्रज्वलन सर्वत्र उपनिषदादि ग्रंथोंमें वर्णन किया है। इस लिये वही यहां लेना उचित है। और वह लेनेसे ही मंत्रका गर्भिताशय स्पष्ट हो जाता है। यही भाव निम्न मंत्रमें देखिये—

दशस्या नः पुर्वणीक होतर्देवेभिरग्ने अग्निभिरिधानः ॥
रायः सूनो सहसो वावसाना अति स्रसेम वृजनं नांहः ।

ऋ० ६।११।६

हे (पुरु+अनीक) बहुबलयुक्त (होतः) दाता अग्ने ! (देवेभिः अग्निभिः) अग्निदेवोंके साथ (इधानः) प्रदीप्त होताहुआ (नः) हमको (रायः) धन (दशस्य) दो-

हे (सहसः सूनो) बलपुत्र ! (वावसानाः) वसनेकी इच्छा करनेवाले हम सब (वृजनं न) शत्रुके समान (अंहः) पापको भी (अतिस्रसेम) अतिक्रमण करके परे चले जायंगे।

इसमें भी अनेक अग्निदेवोंके साथ प्रदीप्त होनेवाले एक मुख्य अग्निका वर्णन है, और इसमें प्रायः वेही शब्द हैं, कि जो पहिले आचुके हैं, इस लिये इनका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। "अग्नि" शब्द परमात्मवाचक भी है, देखिये—

परमात्माग्नि।

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥

ऋ० १।२४।२

"हम (अमृतानां प्रथमस्य) अमर देवोंमें पहिले (देवस्य अग्नेः) अग्निदेव का अर्थात् तेजस्वी परमात्माका (चारु नाम) सुंदर नाम (मनामहे) मनमें लाते हैं। वही हम सबको (अदितये) प्रकृतिमें पुनः डालता है और जिससे हम माता पिताको देखते हैं।"

इस मंत्रमें "सबसे पहिले अग्निदेव" अर्थात् तेजस्वी परमात्मा का वर्णन स्पष्ट है। इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थोंके वाचक स्पष्ट मंत्र अनेक हैं, उनका यहां अधिक विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यहां अग्निमंत्रोंका आध्यात्मिक विचार करनेकी रीति इसलिये विशेषरूपसे बताई है कि साधारण पाठक " अग्नि " शब्दसे " आग " का ही ग्रहण करते हैं और वेदमंत्रोंके अर्थका अनर्थ करते हैं, इस लिये अग्निदेवताका मुख्य अध्यात्मस्वरूप जाननेकी इस स्थानपर विशेष आवश्यकता है। उपनिषदोंमें यही बात स्थान स्थानपर कही है, देखिये—

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते, यदिदमद्यते।

बृ० उ० ५।९

यही वैश्वानर अग्नि है जो इस मनुष्यके शरीरके अंदर है जो खाये हुए अन्नका पाचन करता है। यहां वैश्वानर अग्निका आध्यात्मिक रूप बताया है।

इस रीतिसे देखा जाय तो अग्नि शब्द जीवात्मा और परमात्माका वाचक वेदमें स्पष्ट

दिखाई देता है और इस बातमें कोई शंका नहीं रहती । यदि अग्नि जीवात्मा है तो इस अग्निमें हवनादि करना और इस हवनसे विविध यज्ञयाग होना एक आध्यात्मिक घटना का ही भाग है ऐसा सिद्ध होगा । यह बात बतानेके लिये निम्नलिखित चित्र देखिये—
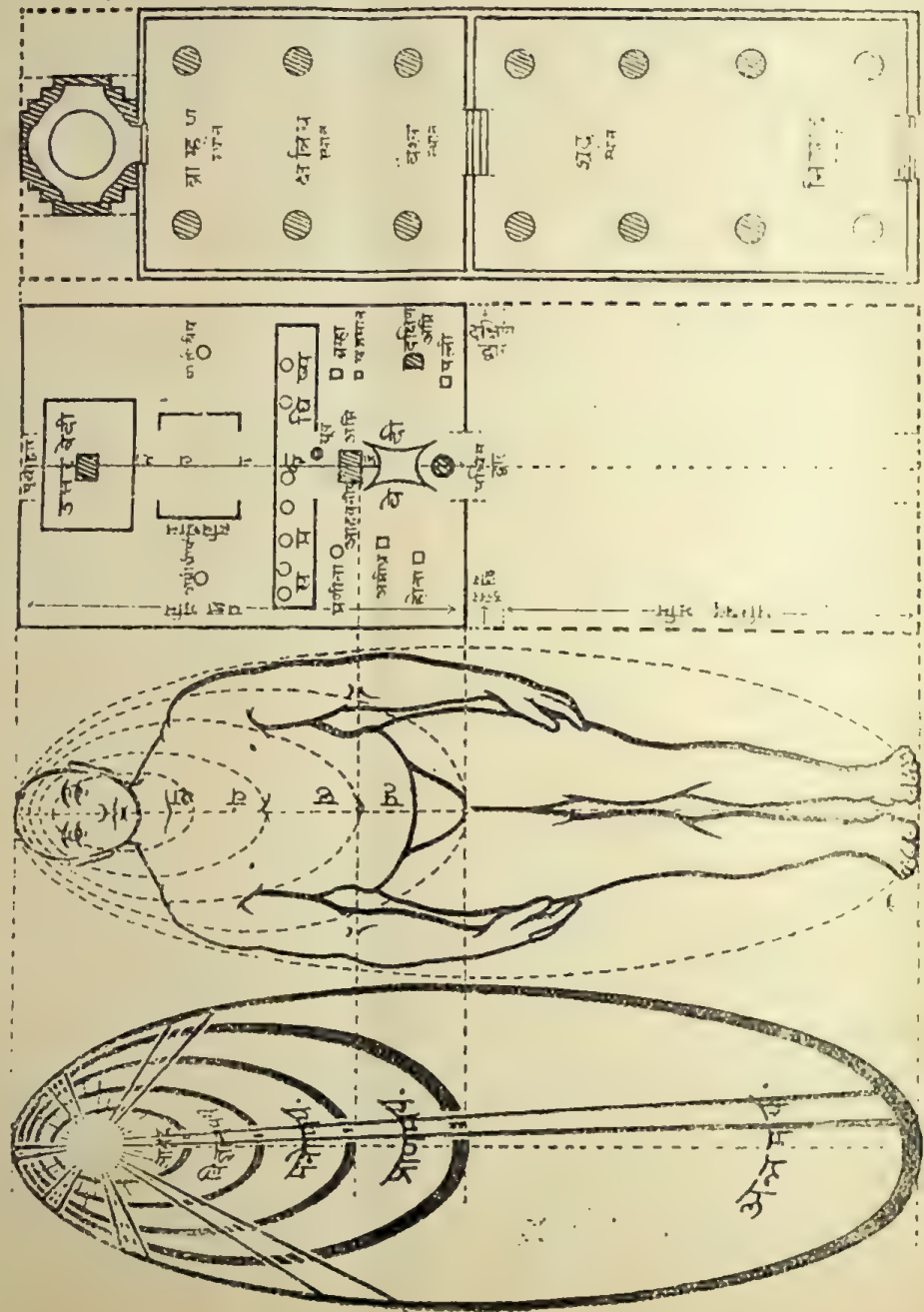
यज्ञ भूमिका चित्र, अध्यात्म, यज्ञभूमि, मंदिर

पाठक इस चित्रमें देखें कि वस्तुतः आहवनीय गार्हपत्य आदि अग्नि अध्यात्मपक्षमें किस केन्द्रके द्योतक हैं और इस चित्रका विचार करके पश्चात् निम्नलिखित वर्णन देखें-

शरीरमिति कस्मात्। अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते, ज्ञानाग्निर्दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति। तत्र कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलेह्यचोष्यं पचति। दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोति। ज्ञानाग्निः शुभाशुभं च कर्म विन्दति। त्रीणि स्थानानि भवन्ति, मुखे आहवनीय, उदरे गार्हपत्यो, हृदि दक्षिणाग्निः। आत्मा यजमानो, मनो ब्रह्मा, लोभादयः पशवो, धृतिर्दीक्षा संतोषश्च, बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि, हवींषि कर्मेन्द्रियाणि, शिरः कपालं, केशा दर्भाः, मुखमन्तर्वेदिः॥ गर्भोपनिषद्० ५.

"इसको शरीर क्यों कहते हैं। क्यों कि यहां अग्नि आश्रय लेते हैं, ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि, और कोष्ठाग्नि। उसमें कोष्ठाग्नि अन्नका पचन करता है। दर्शनाग्नि रूपोंको देखता है। ज्ञानाग्नि शुभाशुभ कर्मोंको प्राप्त करता है। अग्नियोंके तीन स्थान होते हैं, मुखमें आहवनीयाग्नि, उदरमें गार्हपत्याग्नि, और हृदयमें दक्षिणाग्नि है। इस यज्ञमें आत्मा यजमान है, मन ब्रह्मा, लोभादि पशु, धृति और सन्तोष दीक्षा, ज्ञानेन्द्रियां यज्ञपात्र हैं, कर्मेंद्रियां हविर्द्रव्य हैं, सिर कपाल है, केश दर्भ हैं और मुख अन्तर्वेदि है।" इस प्रकार यह यज्ञ चल रहा है। यही शतसांवत्सरिक महासत्र है, यहां यज्ञपुरुष प्रत्यक्ष आत्मा है, जो इस यज्ञको अपने अन्दर देखेगा, उसको ही एक अग्निकी तथा उसके साथवाले अनेक अग्नियोंकी कल्पना ठीक प्रकार हो सकती है, और उसीको संदेहरहित ज्ञान होना संभव है। इस प्रकार ये अनेक अग्नि यहां इस देहरूपी यज्ञशालामें प्रत्यक्ष हैं, और इसीका नक्शा बाहिरकी यज्ञशालामें किया जाता है। बाह्य यज्ञ जो हवनकुण्ड में किया जाता है। वह इसलिये ही है कि, उस नक्शेको देखकर इस असली यज्ञका पता लगे। परन्तु शोककी बात इतनी ही है कि, यह " नक्शा " ही अधिक प्रिय हो गया है, और वास्तविक यज्ञकी ओर कोई देखता ही नहीं है !! वेदका अर्थ जानने की इच्छा करनेवालोंको तो यह आध्यात्मिक यज्ञ अवश्यमेव ध्यानपूर्वक समझना चाहिये। अन्यथा वेदमन्त्रका अर्थ समझनाही अशक्य है।

' अग्नि ' में ' वैश्वानर अग्नि ' और ' अग्नि ' ऐसे दो भेद हैं। सब मनुष्योंका मिलकर जो समुदाय होता है उस सर्वनरविषयक अग्निको ' विश्व-नर-अग्नि ' कहते हैं। हरएक वैयक्तिक अग्निका वर्णन इसके पूर्व आचुका है। इसके पश्चात् ' रक्षोहा

अग्नि ' का विचार करना उचित है। राक्षसोंका नाश करनेवाले अग्निका यह नाम है। इन्द्रभी राक्षसोंका नाश करता है, अग्निभी राक्षसोंका नाश करता है, यदि इन्द्र और अग्नि शब्द आत्मवाचक हैं तो आत्माही राक्षसोंका नाश करनेवाला है, यही इस वर्णनसे सिद्ध होगा। अपने शरीरमें देखनेसे यही बात स्पष्ट हो जाती है। देखिये- जब तक जीवात्मा इस शरीरमें रहता है तबतक रोगजन्तु रूपी राक्षस शरीरपर हमला नहीं कर सकते, और यदि करते हैं तो इस आत्मापर आहत होकर नष्टभ्रष्ट हो जाते हैं। यह बात देखनेसे यह ' रक्षोहा ' किस प्रकार है, इस का विवरण हो जाता है।

अङ्गिरस्।

अङ्गोंका जो रस है, जो शरीरके हरएक अवयव तथा अङ्गमें घूम रहा है और जिसके कारण शरीरके अङ्ग सुन्दर, सुडौल, जीवित और कार्यक्षम हो रहे हैं, उस अङ्गीयरस का यह नाम है। इस विषयमें देखिये—

सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत् सोऽङ्गरसोऽभवत्तं अंगरसं
सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते ॥ गो० ब्रा० पू० १।७
प्राणो वा अंगिराः श० ब्रा० १।२।२८; ६।५।२।३,४
अङ्गिरा उ ह्यग्निः। श० ब्रा० १।४।१।२५
येऽङ्गिरसः स रसः। गो० पू० ३।४

" सब अंगोंमें जो रस है वही अंगरस है। इसका नाम वास्तविक अंगरस है, परंतु गुप्तता के लिये उसको अंगिरस् कहते हैं। प्राण ही अंगिरस् है। यही अग्नि है। अंगिरस् एक प्रकारका रस है। " इतने वचनोंके मननसे स्पष्ट हो जाता है कि, यह अङ्गिरस् शरीरमें संचार करनेवाला जीवनरस ही है। इसी लिये उक्त वचनोंमें इसको प्राण और अग्नि भी कहा है। इसका उदाहरण देखिये—

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥
ऋ० १०।१४।६

' (अंगिरसः) अंगोंके अंदर जो रस है वेही (नः पितरः) हमारे पालन करनेवाले हैं ये (नव-ग्वाः) नौ इंद्रियोंमें गमन करते हैं, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेंद्रिय मिलकर दस इंद्रियां हैं, परंतु मुख और जिह्वा ये दो कर्म और ज्ञानके इंद्रिय इकट्ठे होनेसे नौ इंद्रिय हो जाते हैं। ये (अ-थर्वाणः) स्थिरता लानेवाले हैं, (भृगवः)

पोषण करनेवाले हैं और (सोम्यासः) शान्ति स्थापन करनेवाले हैं । इनसे हम पूजनीयोंकी उत्तम मतीमें तथा कल्याणकारक मनकी अवस्थामें हम रहेंगे । अर्थात् हम इनसे कल्याण साधन करेंगे । ' मनुष्यके कल्याण का साधन होना या न होना, इन अंगरसोंके आधीन है, यह बात पाठक स्वयं समझ सकते हैं । अवयवों का आरोग्य स्थिर रखनेवाला यह अंगरस शरीरमें शुद्धरूपमें रहा तो शरीरका स्वास्थ्य रहता है, और न रहा तो स्वास्थ्य हटता है । इसलिये मंत्रमें कहा है कि, इस अंगरस के विषयमें विशेष ख्याल रखना चाहिये । अंगिरस् का अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें आनेसे मंत्रका अर्थ कैसा ठीक ध्यानमें आसकता है, इसका यह उत्तम उदाहरण है । व्यक्तिके शरीरमें अंगरस का अभिसरण करनेके कारण जीवात्माका यह नाम है और संपूर्ण जगत् में दिव्य प्राण या जीवनरसका संचार करानेके कारण परमात्माका भी यही नाम हुआ है । इस प्रकार इसका विवेक करनेसे कौनसा अर्थ कहां है इस विषयका ज्ञान हो सकता है ।

विष्णुः ।

सबमें (वेवेष्टि) जो घुसता है, व्यापता है, या प्रविष्ट होता है, उसको ' विष्णु ' कहते हैं । इसका उदाहरण देखिये—

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ऋ० १।२२।२१

" व्यापक देव विष्णुका जो परम पद है वह जागनेवाले ज्ञानी प्रकाशित करते हैं।" यह वर्णन आत्माके परम पदका है । इस मंत्र का विचार करनेसे यह विष्णु शब्द आत्मा वाचक होनेमें संदेहही नहीं है । जो मंत्र या शब्द आत्माके वाचक होते हैं, वे जीवात्मापरमात्माके वाचक, व्याप्तीकी मर्यादा न्यूनाधिक करनेसे बनते हैं । यह बात पाठकोंके परिचयकी होगई है । क्योंकि इस प्रकारके उदाहरण इससे पूर्व बहुतसे आचुके हैं । विष्णु शब्दके विषयमें इससे अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है । तथापि इस विषयमें एक वचन देखिये—

विष्णुर्यज्ञः । गो० ब्रा० १।१२; तै० ब्रा० ३।३।७।६; ऐ०ब्रा०१।१५
वीर्यं विष्णुः । तै० ब्रा० १।७।२।२
विष्णुः सर्वा देवताः । ऐ० ब्रा० १।१।
यच्छ्रोत्रं स विष्णुः । गो० ब्रा० उ० ४।११

एष खल्वात्मा... विष्णुः । मैत्री उ० ३।८; ७।७
विश्वभृद्वै नानैषा तनूर्भगवतो विष्णोः । मैत्री० उ० ६ । १३
स एव विष्णुः स प्राणः । कैवल्य उ० ७

" विष्णु यज्ञ है, वीर्य है, सब देवता है, कान है, आत्मा है, प्राण है और सब विश्वका पोषण करनेवाला भगवान् विष्णु है । " इन वचनोंसे विष्णुका जीवात्मपरक तथा परमात्मपरक अर्थ कैसा होता है, इसका ज्ञान पाठकोंको हो सकता है ।

त्वष्टा, ऋभुः ।

ये दोनों नाम कारीगरोंके वाचक हैं । शरीरमें जीवात्मा की कारीगरी है और जगत् में परमात्माकी कारीगरी है । इस दृष्टीसे दोनोंके वाचक ये दो शब्द होते हैं । इस विषयमें ये वचन देखिये–

वाग्वै त्वष्टा ॥ ऐ० ब्रा० २ । ४
इन्द्रो वै त्वष्टा ॥ ऐ० ब्रा० ६ । १०

"वाणी और इन्द्र त्वष्टा हैं ।" इन दोनों अर्थात् वाणी और इन्द्रके विषयमें इससे पूर्व लिखा जा चुका है । तथा–

ऋभवो वा इन्द्रस्य प्रियं धाम । तांड्य ब्रा० १४ । २ । ५

' ऋभु इन्द्रका प्रिय स्थान है, ' इन वचनोंसे पाठक जान सकते हैं कि त्वष्टा और ऋभु कौन है ।

अहं त्वष्टाहं प्रतिष्ठास्मि । कठश्रु० उ० २

"मैं त्वष्टा हूं, मैं प्रतिष्ठा हूं ।" इस प्रकार त्वष्टा शब्दका आत्मावाचक अर्थ कठश्रुति में ही किया है । इसका उदाहरण यह है—

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।
न किरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥
ऋ० १० । १० । ५

"सबका उत्पादक, विश्वका रूप धारण करनेवाला जो त्वष्टा देव है उसने गर्भमें ही हमें दम्पती बनाया है । इसके नियम कोई भी तोड नहीं सकता यह बात सब जगत्में प्रसिद्ध है ।" इस मंत्रके मननसे त्वष्टा शब्दका अर्थ विश्वरूप आत्मा है यह बात स्पष्ट हो जाती है । अंशभावसे यही शब्द जीवात्मपरक भी हो सकता है । क्यों कि गर्भमें

वीर्य जानेके बाद उसके रूप बनानेवाला यही त्वष्टा है ऐसा अन्यत्र कहा है देखिये—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।

ऋ. १०। १८४। १

"विष्णु योनी को ठीक समर्थ बनावे और त्वष्टा गर्भके अवयव ठीक करे।" इस प्रकारके प्रयोग त्वष्टाके जीवात्मा परमात्मपरक स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। ऋभु शब्दके भी अर्थ इसी प्रकार हैं। ऋभु का इन्द्रधाम के साथ संबंध ऊपरके ताण्ड्य ब्राह्मणके वचनमें दिखलाया है। ऋभु-रथको ठीक करनेवाले हैं यह सर्वत्र प्रसिद्ध बात है। यदि रथका अर्थ शरीर लिया जाय तो शरीरांगोंको ठीक करनेवाला ऋभु कौन है, यह बात पाठकोंके मनमें शीघ्रही आसकती है।

वरुण।

वरुण शब्द वर अर्थात् वरिष्ठ या श्रेष्ठ देवका वाचक है। सबमें जो श्रेष्ठ देव है वह वरुण ही है। इसका उदाहरण देखिये–

उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ।

ऋ० १। २४। ८

"सब जगत् का राजा वरुण है और उसने सूर्यके जानेआनेके लिये विस्तृत मार्ग बनाया है।" इस प्रकारके वर्णन परमात्मपरक समझना उचित है। अर्थका संक्षेप करनेसे इस प्रकार के शब्द जीवात्मापरक भी होते हैं। अर्थकी व्याप्ति और संकोच का तात्पर्य क्या है यह बात इसके पूर्वके उदाहरण देखनेसे पाठकोंके मनमें आ सकती है।

उपसंहार।

इतने विवरणसे पाठकोंको पता लगा होगा कि, वेदकी विविध देवताएं जीवात्मा और परमात्मा का आशय किस ढंगसे बताती हैं। तथा इनका आध्यात्मिक और आधिदैविक भाव क्या है और किस रीतिसे यह भाग जाना जा सकता है। इन देवतावाचक नामोंके बहुतसे अन्य अर्थ भी हैं, परन्तु उन सब अर्थोंका विचार करना इस स्थलमें अप्रस्तुत है, इसलिये अध्यात्मविद्याके साथ जितना विषय संबंधित है उतना ही यहां बताया है। पाठक इसका विचार करके वेदमें अध्यात्मविद्या किस ढंगसे है यह बात जानलें और उस दृष्टिसे वेदका अन्वेषण करके अध्यात्मज्ञान प्राप्त करें।

वस्तुतः अध्यात्मज्ञान देनाही वेदका मुख्य विषय है, परंतु गुप्त और गुह्य रीतिसे यह विषय वेदमें होनेके कारण हरएक मनुष्य इसका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । इस लिये इसके जाननेकी विधि यहां संक्षेपसे लिखी है । यदि पाठक इसका योग्य रीतिसे उपयोग करेंगे, तो उनका प्रवेश वैदिक अध्यात्मविद्यामें हो सकता है। आशा है पाठक इस प्रकार वैदिक अध्यात्मविद्या जानकर और तदनुसार अनुष्ठान करके और उस विद्याका अनुभव अपने अंदर लेकर स्वयं कृतार्थ बनकर अन्योंको भी कृतार्थ करेंगे ।

विषयसूची ।

अपनी रक्षा।

[५३]

(ऋषिः-बृहच्छुक्रः। देवता-नानादेवताः)

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन् दक्षिणया पिपर्तु।
अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च ॥ १ ॥
पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥ २ ॥
सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो३ यद् विरिष्टम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(प्र-चेतसौ द्यौः च पृथिवी च) उत्तम ज्ञानवाले द्युलोक और भूलोक और (बृहन् शुक्रः दक्षिणया) बडा सामर्थ्यवान् सूर्य दक्षताके साथ (मे इदं पिपर्तु) मेरे इस सबकी रक्षा करे। (सोमः अग्निः) सोमादि वनस्पति और अग्नि ये (स्वधा अनु चिकितां) अपनी धारणशक्तिका ज्ञान अनुकूलताके साथ देवें। (वायुः सविता भगः च नः पातु) वायु सविता और भग ये हम सबकी रक्षा करें ॥ १ ॥

(प्राणः नः पुनः एतु) प्राण हमारे पास फिर आवे, (आत्मा नः पुनः एतु) आत्मा हमारे पास पुनः आवे। (पुनः चक्षुः पुनः असुः नः एतु) फिर आंख और फिर प्राण हमारे पास आवे। (अ-दब्धः तनू-पाः वैश्वानरः) न दबाया जानेवाला शरीरका रक्षक सबका नेता आत्मा (नः विश्वा दुरितानि) हमारे सब पापोंको जानता हुआ (अन्तः तिष्ठाति) अन्दर रहता है ॥ २ ॥

(वर्चसा पयसा सं) तेज और पुष्टिकारक दूधसे हम युक्त हों। (तनूभिः सं) उत्तम शरीरोंके साथ हम युक्त हों। (शिवेन मनसा सं अगन्महि) कल्याणमय विचारयुक्त मनसे हम युक्त हों। (त्वष्टा नः अत्र वरीयः कृणोतु) श्रेष्ठ कारीगर परमात्मा हमें यहां उत्तम बनावे। (यत् नः तन्वः विरिष्टं) जो हमारे शरीरोंमें कष्ट देनेवाला भाग हो (अनु मार्ष्टु) उसको अनुकूलतासे शुद्ध करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— द्युलोकका बडा शक्तिशाली भाग्यवान् सूर्य, अन्तरिक्ष लोक का वायु, और भूलोकका अग्नि, सोम आदि हमारी रक्षा करें और हमारे अनुकूल हों ॥ १ ॥

हमारी आत्मा, प्राण, चक्षु आदि सब शक्तियां पूर्वोक्त प्रकार हमें पुनः प्राप्त हों। हम पापोंको छिपकर कर नहीं सकते, क्यों कि ज्ञानी रक्षक आत्मा हमारे अंदर जागता रहता है ॥ २ ॥

हमें पुष्टिकारक अन्न, तेज, उत्तम शरीर, उत्तम कल्याण का विचार करनेवाला मन प्राप्त होवे। हमारे शरीरमें जो कुछ हानिकारक पदार्थ घुसा हो, वह परमेश्वरकी योजनासे दूर होवे और हमारी शुद्धि होवे ॥३॥

❀ ❀ ❀

इस सूक्तमें अपनी सब प्रकारसे रक्षा हो इस विषयकी उत्तम प्रार्थना है। द्वितीय मंत्रमें कहा है कि–

आत्मा, प्राणः असुः, चक्षुः नः पुनः एतु । (मं० २)

" आत्मा, प्राण, आंख आदि सब शक्तियां हमारे पास पुनः आवें। " अर्थात् रोगादिके कारण शरीरपर जो विविध आपत्तियां आती हैं, उनसे चक्षु आदि सब इंद्रिय रोगी और विकल हो जाते हैं, किसी किसी समय ये इंद्रिय नामशेष भी होजाते हैं, आत्मा और प्राण चले भी जाते हैं अर्थात् यह मनुष्य मरभी जाता है। अर्थात् जब शरीर ऐसा रोगी होजाता है, कि मनुष्य मर भी जाता है। इतना रोगी होनेपर भी आत्मा, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि सब शक्तियां पुनः हमारे शरीरमें पूर्ववत् उत्तम अवस्था में वसें। अर्थात् रोग आदि आपत्तियां आनेपर भी पूर्ववत् आरोग्य प्राप्त हो। यह आरोग्य किस प्रकार प्राप्त हो सकता है इसका विचार पहिले मंत्रने बताया है–

(द्यौः बृहन् शुक्रः भगः सविता) द्युलोक का बडा सामर्थ्यशाली शुद्धता करनेवाला सूर्य, (वायुः) अन्तरिक्षका वायु और (पृथिवी अग्निः सोमः) पृथ्वीके ऊपरका अग्नि और सोमादि वनस्पतियां (अनु स्वधा चिकितां, पातु, पिपर्तु) अनुकूलतासे अपनी धारक शक्ति देवें, हमारी रक्षा करें, और पूर्णता करें। (मं० १)

द्युलोकमें सूर्य है जो अपने प्रकाशमान किरणोंसे सब की शुद्धता करता है, सबमें बल लाता है और सबको बढाकर पूर्ण करता है। अन्तरिक्षमें जो वायु है वह सबका

प्राण होकर सबको जीवन देता है, पवित्र और पुष्ट करता है और दीर्घ आयु देता है। पृथ्वीपर की सोम आदि वनस्पतियां रोग दूर करनेद्वारा सबका आरोग्य बढाती हैं और सब को दीर्घायु करती हैं। अर्थात् आत्मा, प्राण और चक्षु पुनः शरीरमें स्थिर करनेके साथ (१) सूर्यप्रकाश, (२) वायु और (३) वनस्पतियां हैं, इनके यथायोग्य सेवनसे आसन्नमरण हुआ मनुष्य भी पुनः स्वस्थ हो सकता है। इससे—

पयसा, वर्चसा, शिवेन मनसा सं अगन्महि। (मं० ३)

" दुग्धादि अन्नपान, तेजस्विता और शुभविचारवाला मन प्राप्त होसकता है। " आरोग्य चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनको शुभमङ्गल विचारोंसे युक्त करे, क्यों कि विचार शुद्ध रहे तो बुराई पास नहीं आसकती। स्वभाव तेजस्वी बनावे और शुद्ध दुग्धाहार करके उत्तम आरोग्य का साधन करे। इतना प्रयत्न करने पर भी जो कुछ रोगबीज या दोष शरीरमें घुस गया हो, उसे दूर करनेके लिये ऐसी प्रार्थना करे—

त्वष्टा नः तन्वः यत् विरिष्टं मार्ष्टु। (मं० ३)

' ईश्वर हमारे शरीर के रोगादि को दूर करके हमारी शुद्धता करे। ' क्योंकि मनुष्य का प्रयत्न होनेपर भी कुछ अशुद्धियां हो जाती हैं और दोष घुसते हैं। ईश्वरकी प्रार्थना करनेसे वह सब दोष दूर होजाते हैं, क्योंकि परमेश्वरप्रार्थना करनेसे मनमें एक प्रकारका अद्भुत दैवी बल प्राप्त हो जाता है जिससे सब दोष और रोगबीज तथा अन्य विपत्तियां दूर हो जाती हैं और मनुष्य निर्दोष हो जाता है। कोई यहां यह न समझे कि ईश्वर से छिपा कर मनुष्य कुछभी दोष या पाप कर सकता है। यह कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि—

वैश्वानरः, अदब्धः, तनूपाः, विश्वा दुरितानि अन्तः तिष्ठाति। (मं०२)

' सब जगत् का नेता, कभी न दबनेवाला, शरीरकी रक्षा करता हुआ और हमारे सब पापोंका निरीक्षण करता हुआ हमारे अन्दर रहता है। ' जब वह जाग्रत रहता हुआ अंदर रहता है तब उसे छिपकर कोई कैसा पाप कर सकता है ? अर्थात् यह सर्वथा असंभव है। हमारे सब बुरे और भले कर्मोंको वह जानता है, इसलिये उसीकी प्रार्थना करना चाहिये और उसीसे आत्मिक बल प्राप्त करना चाहिये।

यह रीति है जिससे मनुष्य नीरोग हो सकता है और अपनी उन्नतिका साधन कर सकता है।

राष्ट्रके ऐश्वर्यकी वृद्धि।

[५४]

(ऋषिः-ब्रह्मा। देवता- अग्नीषोमौ)

इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये।
अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ॥ १ ॥
अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम्।
इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम् ॥ २ ॥
सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

अर्थ— (इदं तत उत्तरं युजे) मैं इसके साथ उस श्रेष्ठको संयुक्त करता हूं। (अष्टये इंद्रं शुंभामि) फलभोगके लिये प्रभुकी प्रार्थना करता हूं। हे देव! (अस्य क्षत्रं महीं श्रियं वर्धय) इस राजाके राज्यका तथा महती संपत्तिको बढा, (वृष्टिः तृणं इव) जैसे वृष्टि घासको बढाती है ॥१॥

हे अग्निषोमौ! (अस्मै क्षत्रं धारयतं) इसके लिये राज्यको धारण करो, (असै रयिं) इसके लिये धन धारण करो। (इमं राष्ट्रस्य अभीवर्गे कृणुतं) इसको राष्ट्रकी मुख्य मंडलीमें स्थिर करो। तथा (उत्तरं युजे) मैं इसको अधिक उच्च अवस्थामें नियुक्त करता हूं ॥ २ ॥

(सबन्धुः च असबन्धुः च) भाइयोंसमेत या भाइयोंसे रहित (यः अस्मान् अभिदासति) जो शत्रु हमको विनाश करना चाहता है, (मे सुन्वते यजमानाय) मेरे याजक यजमान के लिये (तं सर्वं रन्धयासि) उस शत्रुका नाश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— मैं श्रेष्ठके साथ संबंध करता हूं, अपनी उन्नतिके लिये परमेश्वरकी प्रार्थना करता हूं। हे ईश्वर! हमारे राजा का राज्य बढे और धन भी ऐसा बढे कि जैसा घास वृष्टिसे बढ जाता है ॥ १ ॥

हमारे राजाका राज्य स्थिर होवे, धन भी स्थिर रहे। राष्ट्रके हित करनेवाले लोगोंमें यह प्रमुख होवे और श्रेष्ठके साथ बढता रहे ॥ २ ॥

कोई शत्रु जो अकेला या अपने भाइयों समेत हमारा नाश करना चाहे उसका नाश कर ॥ ३ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है। राष्ट्रीय उन्नतिकी प्रार्थना है। अपना श्रेष्ठोंसे संबंध जोडना और (यजमान) यज्ञमय जीवन बनाना यह मनुष्यका कर्तव्य यहां बताया है। इसके अनंतर परमेश्वरकी प्रार्थना की जाय, तो वह निःसंदेह सफल होगी। अपना राज्य बढे, धन बढे, स्वराज्य न हो तो वह प्राप्त होवे, शत्रु दूर हो जावे और सब प्रकारकी उन्नति भी होवे। यह इस प्रार्थना का आशय है।

उत्तम मार्गसे जाना।

[५५]

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता- १ विश्वेदेवाः, २-३ रुद्रः)

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ॥ १ ॥

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम ॥ २ ॥

इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ३ ॥

अर्थः- (ये देवयानाः बहवः पन्थानः) जो देवोंके आनेजानेके बहुतसे मार्ग (द्यावापृथिवी अन्तरा संचरन्ति) द्युलोक और भूलोक के बीचमें चलते रहते हैं। (तेषां यतमः अज्यानिं वहाति) उनमेंसे जो मार्ग समृद्धि लाता है। हे (सर्वे देवाः) सब देवो! (इह तस्मै मा परि धत्त) यहां उस मार्गके लिये मुझे सब प्रकार धारण करो ॥ १ ॥

वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत, हेमन्त और शिशिर ये सब ऋतु (नः क्षिते दधात) हमें उत्तम अवस्थामें धारण करें। (नः गोषु प्रजायां आ भजत) हमें गौओं और प्रजाओंमें सुख का भागी करो। (वः इत् निवाते शरणे स्याम) तुम्हारे साथ निश्चय से हम वातादिके उपद्रवरहित घरमें रहें ॥ २ ॥

(इदावत्सराय, परिवत्सराय, संवत्सराय) क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्षोंके लिये (बृहत नमः कृणुत) बहुत अन्न उत्पन्न करो। (तेषां यज्ञियानां सुमतौ) उन यज्ञकर्ताओंकी उत्तम बुद्धीमें तथा (सौमनसे भद्रे अपि स्याम) उत्तम मनमें तथा कल्याणमें हम सदा रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ— उत्तम विद्वान सज्जनोंके जाने आनेके अथवा व्यवहार करनेके जो अनेक मार्ग हैं, उनमें जो निर्दोष मार्ग हों, उसीपरसे चलना उचित है ॥ १ ॥

ऐसा आचरण करना चाहिये कि जिससे छहों ऋतुओंमें उत्तम सुख लाभ हो, गौओं और प्रजाओंसे हितका साधन हो और घरमें कोई दोष न हो ॥ २ ॥

हरएक वर्ष उत्तम अन्न पर्याप्त प्रमाणमें उत्पन्न कर और जिन्होंने अपना जीवन यज्ञमय बनाया है उनके उत्तम शुभ संस्कारयुक्त मन और बुद्धीमें रह अर्थात तुम्हारे विषयमें उनकी संमति उत्तम रहेगी ऐसा आचरण कर ॥ ३ ॥

* * *

"संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर, और इद्वत्सर" ये संवत्सरोंके पांच नाम क्रमशः प्रभव से लेकर हरएक पंचयुगीके हैं। इसी प्रकार "कृत, त्रेत, द्वापर और कलि" ये चतुर्युगी के नाम हैं।

सज्जनोंके व्यवहार करनेके शुभमार्गोंमें भी जो मार्ग सबसे श्रेष्ठ हैं उन पर चलना चाहिये। अपना आचरण उत्तम रहा तो सब ऋतुओंसे लाभ होता है और अपने अंदर दोष हुआ तो हानि होती है। हरएकको ऐसा उत्तम आचरण करना चाहिये कि जिससे सज्जन प्रसन्न हों। हरवर्ष खेतीसे इतना धान्य उत्पन्न करना चाहिये कि जो अपने लिये पर्याप्त हो सके।

सर्पसे बचना ।

[५६]

(ऋषिः—शन्तातिः । देवता—१ विश्वेदेवाः, २—३ रुद्रः)

मा नो॑ देवा अहि॑र्वधीत् सतो॑कान्त्सहपू॑रुषान् ।
संय॑तं न वि ष्प॑रद् व्यात्तं न सं य॑मन्नमो॑ देवज॒नेभ्य॑: ॥ १ ॥
नमो॑ऽस्त्वसि॒ताय॒ नम॒स्तिर॑श्चिराजये ।
स्व॒जाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमो॒ नमो॑ देवज॒नेभ्य॑: ॥ २ ॥
सं ते॑ हन्मि द॒ता द॒तः समु॑ ते ह॒न्वा हनू॑ ।
सं ते॑ जि॒ह्वाया॒ जि॒ह्वां सम्वा॒स्नाह॑ आ॒स्य॑म् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे (देवाः) देवो ! (अहिः सतोकान् सहपूरुषान्) सांप संतानों और पुरुषोंके समेत (नः मा वधीत्) हमें न मारे (देवजनेभ्यः नमः) दिव्यजनों अर्थात् वैद्योंके लिये नमस्कार है । (संयतं न वि ष्परत्) बंद हुआ न खुल सकता है और (व्यात्तं न संयमत्) खुला हुआ नहीं बंद हो सकता है ॥ १ ॥

(असिताय नमः अस्तु) काले सर्प के लिये नमस्कार हो, (तिराश्चिराजये नमः) तिरछी लकीरोंवाले सांपको नमस्कार, (स्वजाय बभ्रवे नमः) लिपटनेवाले और भूरे रंगवाले सांप के लिये नमस्कार हो । तथा (देवजनेभ्यः नमः) दिव्यजनोंके लिये नमस्कार हो ॥ २ ॥

हे (अहे) सर्प ! (ते दतः दता संहन्मि) तेरे दांतोंको दांतसे मैं तोडता हूं । (ते हनू हन्वा सम् उ) तेरे ढोढीको ढोढीसे सटा देता हूं । (ते जिह्वां जिह्वया सं) तेरी जिह्वाको जिह्वासे तोडता हूं । (ते आस्यं आस्ना सं हन्मि) तेरे मुखको मुखसे फाडता हूं ॥ ३ ॥

मनुष्योंको अपने निवासस्थानमें ऐसा सुप्रबंध करना चाहिये, कि जिससे सर्पदंशसे मनुष्य या पशु कदापि न मरे । तृतीय मंत्रसे सर्पको मारना चाहिये ऐसा भी पता लगता है ।

मंत्रोंका अन्य भाव दुर्बोध है और बडी खोज की अपेक्षा करता है ।

जलचिकित्सा।

[५७]

(ऋषिः- शन्तातिः। देवता— रुद्रः।)

इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत् ॥ १ ॥
जालापेणाभि षिञ्चत जालापेणोप सिञ्चत।
जालापमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥ २ ॥
शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत्।
क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ- (इदं इत् वा उ भेषजं) यह जल निःसंदेह औषध है (इदं रुद्रस्य भेषजं) यह रुद्रका औषध है। (येन) जिससे (शतशल्यां एकतेजनां इषुं अपब्रवत) अनेक शल्यवाले, एक दण्डवाले बाणके विरुद्ध शब्द बोला जाता है अर्थात् बाणका व्रण भी ठीक हो सकता है ॥ १ ॥

(जलाषेण अभि सिंचत) जलसे अभिषिंचन कराओ, (जालाषेण उपसिंचत) जलसे उपसिंचन कराओ। (जालाषं उग्रं भेषजं) जल बडा तीव्र औषध है। (तेन जीवसे नः मृड) उससे दीर्घ जीवन के लिये हमें सुखी कर ॥ २ ॥

(नः शं च) हमें शान्ति प्राप्त हो, (नः मयः च) हमें सुख मिले। (नः च किंचन आम-मत मा) हमें कोई आमवाला रोग न होवे। (रपः क्षमा) सडावटसे बचाव किया जावे, (नः विश्वं भेषजं अस्तु) हमें सब औषध हो, (नः सर्वं भेषजं अस्तु) हमें सब औषध हो ॥ ३ ॥

भावार्थ- यह जल उत्तम औषध है। वैद्य इसका प्रयोग करते हैं। शस्त्रोंके व्रणको भी जलाचिकित्सासे ठीक किया जा सकता है ॥ १ ॥

जलसे पूर्ण स्नान करो, आधा स्नान-कटिस्नान-भी जलसे करो। इससे रोग दूर होंगे, क्योंकि जल बडी तीव्र औषधि है। इस जलसे दीर्घजीवन प्राप्त होकर स्वास्थ्यका सुख भी प्राप्त हो सकता है ॥ २ ॥

जलसे शरीरकी शान्ति, समता, सुख, और स्वास्थ्य प्राप्त होकर आम-रोग दूर होते हैं, शरीरकी सजावट नष्ट होती है। जल पूर्ण औषधि है, जल निःसंदेह सबकी औषधि है ॥ ३ ॥

❀ ❀ ❀

इस सूक्तका अभिप्राय स्पष्ट है। जलचिकित्साका उपदेश करनेवाला यह सूक्त है। जलसे संपूर्ण शरीर भिगानेसे पूर्ण स्नान होता है, और रोगवाला भाग भिगानेसे अर्ध-स्नान होता है। योजनापूर्वक इनका उपयोग करनेसे बहुत लाभ होता है जैसा—

१ ब्रह्मचर्य पालन के लिये शिश्नस्नान शीत जलसे करना, तथा आसपासका प्रदेश अच्छी प्रकार भिगाकर शान्त करना।

२ कब्जी हटानेके लिये नाभीसे लेकर जंघातक का भाग पानीमें भीगजाय ऐसे बर्तनमें पानी डालकर बैठ जाना और कपडेसे पेट नाभीके नीचेके स्थानकी मालिश पानीमें करनेसे कब्जी हटती है। और आमके रोग दूर होते हैं। शरीरमें सडनेवाले सब दोष इससे दूर होते हैं और आरोग्य प्राप्त होता है।

इस प्रकार नमकजलसे नेत्रस्नान करनेसे नेत्रदोष दूर होते हैं। बिच्छूके विषकी बाधा हो जावे तो ऊपरसे संतत जलधारा छोडनेसे विष उतरता है, परंतु इस विषयमें अधिक प्रयोग करना चाहिये।

ज्वरमें मस्तिष्क तपनेसे उन्माद हुआ तो सिरपर शीतजलकी पट्टी रखनेसे त्वरित उन्माद हट जाता है।

स्त्रियों या पुरुषोंके प्रमेह रोगके निवारणार्थ कटिस्नान उत्तम उपाय है। इंन्द्रिय-स्नान और स्त्रियोंके लिये अन्तःस्नान भी उपयोगी है।

इस प्रकार योजनापूर्वक प्रयोग करनेसे प्रायः सभी रोग जलोपचारसे दूर हो सकते हैं।

यशकी इच्छा ।

[५८]

(ऋषिः-अथर्वा यशस्कामः । देवता-बृहस्पतिः । मन्त्रोक्ताः ।)

यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥ १ ॥

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥ २ ॥
यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ— (मघवान् इन्द्रः मा यशसं कृणोतु) महत्त्ववान् प्रभु मुझे यशस्वी करे। (उभे इमे द्यावापृथिवी मा यशसं) ये दोनों द्यावापृथिवी मुझे यशस्वी करें। (सविता देवः मा यशसं कृणोतु) सविता देव मुझे यशस्वी करे। और (अहं दक्षिणायाः दातुः प्रियः स्याम) मैं दक्षिणा देनेवालेका प्रिय हो जाऊं ॥ १ ॥

(यथा इन्द्रः द्यावापृथिव्योः यशस्वान्) जिस प्रकार इन्द्र द्युलोक और पृथ्वीलोक के बीच यशस्वी है। (यथा आपः ओषधीषु यशस्वतीः) जिस प्रकार रस औषधियोंमें यशयुक्त हैं। (एवा विश्वेषु देवेषु) इस प्रकार सब देवोंमें और (सर्वेषु वयं यशसः स्याम) सबमें हम यशस्वी होवें ॥ २॥

(इंद्रः यशाः) इन्द्र यशस्वी है, (अग्निः यशाः) अग्नि यशस्वी है, (सोमः यशाः अजायत) सोम यशस्वी हुआ है। (विश्वस्य भूतस्य यशाः) सब भूतमात्रके यशसे (अहं यशस्तमः अस्मि) मैं अधिक यशवाला हूं ॥३॥

भावार्थ—द्युलोक, भूलोक, सूर्य, इंद्र आदि सब मुझे सहायता करें जिससे मैं यशस्वी होऊं ॥ १ ॥

इस त्रिलोकीमें सूर्य तेजस्वी है, सब औषधियोंमें रसभाग मुख्य है, इसी प्रकार सब मनुष्योंमें मैं श्रेष्ठ बनूं ॥ २ ॥

इंद्र अग्नि अथवा सोम जैसे यशस्वी हुए हैं, उस प्रकार मैं अधिक श्रेष्ठ यशवाला होऊं ॥ ३ ॥

* * *

मनुष्य ऐसे कार्य करे कि जिससे उसका उत्तम यश फैले। मनुष्यके सामने सूर्य इंद्र अग्नि और सोमके आदर्श रहें। सूर्य सबको प्रकाश देता है, इंद्र चेतना देता है, अग्नि उष्णता देता है, सोम रोग दूर करता है; इसी प्रकार मनुष्य भी परोपकार करे और यशस्वी बने। सूर्यादि सब देव स्वार्थ छोड परोपकारमें अपने आपको लगा रखते हैं,उन के यशका बीज इस परोपकारमें है। जो मनुष्य इस प्रकार निःस्वार्थ जनसेवा करेगा वह भी उनके अनुसारही प्रशस्त यशसे युक्त होगा।

अरुन्धती औषधि ।

[५९]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता-रुद्रः । मन्त्रोक्ताः ।)

अनुडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति ।
अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥ १ ॥
शर्म यच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती ।
करत् पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्माँ उत पूरुषान् ॥ २ ॥
विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम् ।
सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः ॥ ३ ॥

अर्थ- हे (अरुंधति) अरुंधती औषधि ! (त्वं अनड्डुद्भ्यः) तू बैलोंको (त्वं धेनुभ्यः) तू गौओंको तथा तू (चतुष्पदे अधेनवे वयसे) चार पांववाले गौसे भिन्न पशुको तथा पक्षियोंको (प्रथमं शर्म यच्छ) पहिले सुख दे ॥ १ ॥

(अरुंधती ओषधिः देवीः सह) अरुंधती नामक औषधी सब अन्य दिव्य औषधियोंके साथ (शर्म यच्छतु) सुख देवे । तथा (गोष्ठं पयस्वन्तं) गोशालाको बहुत दुग्धयुक्त (उत पूरुषान् अयक्ष्मान् करत) और मनुष्योंको रोगरहित करे ॥ २ ॥

(विश्वरूपां सुभगां जीवलां अच्छ-आवदामि) नानारूपवाली भाग्यशालिनी जीवला औषधिके विषयमें उत्तम वचन कहते हैं, स्तुति करते हैं । (रुद्रस्य अस्तां हेतिं) रुद्रके फेंके रोगादि शस्त्रको (नः गोभ्यः दूरं नयतु) हमारे पशुओंसे दूरले जावे, उनको नीरोग बनावे ॥ ३ ॥

भावार्थ— अरुन्धती नामक औषधी गाय बैल आदि चतुष्पाद और पक्षी आदि द्विपादोंको नीरोग करती है और सुख देती है ॥ १ ॥

अरुन्धती तथा अन्य औषधियां सुख देनेवाली हैं इनसे गौवें अधिक दूध देनेवाली बनती हैं । और सब प्राणी नीरोग होते हैं ॥ २ ॥

अनेक रंगरूपवाली यह जीवन देनेवाली जीवला औषधि स्तुति करने

योग्य है। पशुपक्षियों और मनुष्योंको होनेवाले रोग इससे दूर होते हैं॥३॥

अरुन्धती।

'अरु' का अर्थ संधिस्थान, जोड, इस स्थानके रोग ठीक करनेवाली औषधि 'अरुंधती' है। इसका आजकल का नाम क्या है इसका पता नहीं चलता। खोज करके निश्चय करना चाहिये। यह गौओंको खिलानेसे गौएं अधिक दूध देने लगती हैं। इसका सेवन मनुष्य करेंगे तो यक्ष्मा जैसे रोग दूर होते हैं। 'जीवला' औषधि भी इसी प्रकार उपयोगी है, संभव है कि जीवला, अरुन्धती ये नाम एकही औषधिके हों। यह खोजका विषय है।

विवाह।

[६०]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता-अर्यमा)

अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद् विषितस्तुपः।
अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये ॥ १ ॥
अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती।
अङ्गो न्वर्यमन्नस्या अन्याः समनमायति ॥ २ ॥
धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम्।
धातास्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्यम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं विषितस्तुपः अर्यमा) यह प्रशंसनीय सूर्य (अस्यै अग्रुवै) इस कन्याके लिये (पतिं इच्छन्) पतिकी इच्छा करता हुआ (उत अजानये जायां) और स्त्रीरहित पुरुषके लिये स्त्रीकी इच्छा करता हुआ (पुरस्तात् आयाति) सन्मुखसे आता है ॥ १ ॥

हे (अर्यमन्) सूर्य ! (अन्यासां समनं यती) अन्य कन्याओंके संमान को अर्थात् विवाहरूपसे होनेवाले संमान उत्सवको जानेवाली (इयं अश्रमत्) यह बहुत थक गई है। हे (अंगो अर्यमन) सूर्य ! इसलिये (अस्याः समनं अन्याः नु आयति) इसके विवाहसंमानमें दूसरी कन्याएं भी आजावें ॥ २ ॥

(धाता पृथिवीं दाधार) परमेश्वरने पृथ्वीका धारण किया है (उत धाता सूर्यं द्याां) और उसी ईश्वरने सूर्यको और द्युलोकको धारण किया है। इसलिये वही (धाता) देव (अस्यै अग्रुवै) इस कन्याके लिये(प्रतिकाम्यं पतिं दधातु) इच्छा करनेवाले पतिका धारण करे अर्थात् इसको ऐसा पति देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ- सूर्य उदयको प्राप्त होकर अस्तको जाता है। इस कारण कन्या और पुत्रकी आयु बढती है। और जैसी जैसी आयु बढती है उसी के अनुसार स्त्रीपुरुषमें पतिपत्नीकी प्राप्ति करनेकी इच्छा भी प्रदीप्त होती है ॥ १ ॥

कन्याएं जिस समय दूसरी कन्याके विवाहसंस्कारमें जाती हैं, उस समय उनके मनमें अपने विवाहका विचार उत्पन्न होता है और उनको एक प्रकारका कष्ट होता है। इसलिये यह विचार कन्याके मनमें उत्पन्न होनेके पश्चात् उस कन्याका विवाह करना चाहिये ॥ २ ॥

ईश्वरनें पृथ्वी सूर्य और द्युलोकको यथास्थान धारण किया है, इसलिये वह निःसंदेह इस कन्याके लिये अनुरूप पति भी देसकता है ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें निम्नलिखित बातें कहीं हैं- (१) विशिष्ट आयुमें पुरुषमें स्त्रीकी, और स्त्रीमें पुरुषकी इच्छा होती है। इसके पश्चात् विवाहका समय होता है। (२) विवाहादि संस्कारोंमें संमिलित होनेसे कन्याओंमें विवाहविषयक आतुरता उत्पन्न होती है। यह समय कन्याके विवाहका है। (३) पत्नी पतिकी इच्छा करनेवाली और पति (अनुकामः) पत्नीको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला होनेपर विवाह हो। विपरीत अवस्था कदापि न हो। इस विषयमें सावधानी रखी जाय।

परमेश्वरकी महिमा।

[६१]

(ऋषिः—अथर्वा। देवता—रुद्रः)

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम्।
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥ १ ॥
अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त साकम्।

अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥ २ ॥
अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त सिन्धून् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया ॥ ३ ॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(आपः मह्यं मधुमत आ ईरयन्तां) जल मेरे लिये मधुररससे युक्त होकर बहे। (सूरः मह्यं ज्योतिषे कं अभरत) सूर्यने मेरे कारण प्रकाशके लिये किरण चारों ओर भरादिये हैं। (उत विश्वे तपोजाः देवाः) और सब प्रकाश देनेवाले देव (सविता देवः च मह्यं व्यचः धात्) और सूर्य देव भी मेरे लिये विस्तार को धारण करते हैं ॥ १ ॥

(अहं पृथिवीं उत द्यां विवेच) मैंने पृथ्वी और द्युलोक को अलग अलग किया है। (अहं सप्त ऋतून साकं अजनयं) मैंने सात ऋतुओंको साथ साथ बनाया है। (अहं सत्यं अनृतं यत) मेरा सत्य और अनृत जो भी वाणी बोली जाती है वह (विशः दैवीं वाचं अहं परिवदामि) मनुष्यों की दैवी वाणी मैंही सब प्रकारसे बोलता हूं ॥ २ ॥

(अहं पृथिवीं उत द्यां जजान) मैंने पृथ्वी और द्युलोक को उत्पन्न किया है। (अहं सप्त ऋतून् सिंधून् अजनयम्) मैंने सात ऋतुओं और सिंधुओंको बनाया है। (अहं सत्यं अनृतं यत् वदामि) मैं सत्य या अनृत जो भी बोलनेका है वह बोलता हूं। और (सखायौ अग्नीषोमौ अजुषे) मित्र, अग्नि और सोमको एक दूसरेके साथ मिलाता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जल परमेश्वरकी प्रेरणासे मधुररसके साथ बह रहा है, सूर्य उसीके लिये प्रकाशता है। सब अन्य देव उसीकी महिमाका विस्तार कर रहे हैं ॥ १ ॥

पृथ्वी, द्युलोक उसी ईश्वरने बनाये हैं, छः ऋतु और अधिकमास मिलकर सात उसी द्वारा बनाये गये हैं। मनुष्योंकी वाणी उसीकी प्रेरणासे बोली जाती है ॥ २ ॥

सप्त समुद्र और सात नदियां उसीकी आज्ञासे हुई हैं, अंदरकी प्रेरणा वही करता है और अग्निके साथ सोमशक्ति उन्होंने ही जोडी है ॥ ३ ॥

इस विश्वकी रचना परमेश्वर करता है यह बात स्वयं परमेश्वरने इस सूक्तमें कही है।

अपनी पवित्रता।

[६२]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता-रुद्रः। मन्त्रोक्ताः।)

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनैषिरो नभोभिः।
द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम् ॥ १ ॥
वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो वीतपृष्ठाः।
तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २ ॥
वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ३ ॥

अर्थ- (वैश्वानरः रश्मिभिः नः पुनातु) सब मनुष्योंमें रहनेवाला अग्नि अपनी किरणोंसे हमारी शुद्धी करे। (वातः प्राणेन) वायु प्राणरूपसे हमारी पवित्रता करे। (इषिरः नभोभिः) जल अपने विविध रसोंसे हमारी शुद्धता करे। (पयस्वती ऋतावरी) रसवाले, जलयुक्त, (यज्ञिये द्यावापृथिवी) पूजनीय द्युलोक और भूलोक (पयसा नः पुनीतां) अपने पोषक रससे हमें पवित्र करें ॥ १ ॥

(सूनृतां वैश्वानरीं आरभध्वं) सत्य और सब मनुष्यों द्वारा प्रेरित ईश स्तुतिको प्रारंभ करो। (वीतपृष्ठाः आशाः यस्याः तन्वः) जिनका पृष्ठ भाग नहीं है ऐसी दिशायें जिन वाणियोंके शरीर हैं। (सध-मादेषु) सब मिलकर आनंदित होनेके अवसरमें (तया गृणन्तः वयं) उससे बोलते हुए हम सब (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी हों ॥ २ ॥

(शुचयः शुद्धाः पावकाः भवन्तः) शुद्ध, पवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाले होकर (वैश्वानरीं वर्चसे आरभध्वं) सब मनुष्योंकी ईशस्तुतिरूप वाणीको तेजस्विताके लिये बोलना आरंभ करो। (इह इडया सधमादं मदन्तः) यहां स्तुतिरूप वाणीसे साथसाथ आनंदित होते हुए हम (ज्योक् उच्चरन्तं सूर्यं पश्येम) चिरकालतक ऊपर ऊठे हुए सूर्यको देखते रहेंगे ॥ ३ ॥

भावार्थ— अग्नि वाणीके रूपसे, वायु प्राणके रूपसे, जल विविधरसके

रूपसे, तथा द्युलोक व पृथ्वीलोक अपनी अपनी शक्तियोंसे हमारी शुद्धता करे॥ अर्थात् ये देवताएं हमारे शरीरमें आकर रही हैं और उन्होंने यहां ये रूप लिये हैं, इनसे हमारी पवित्रता होवे ॥ १ ॥

सब मनुष्य सत्यभाषण करें और ईश्वरके गुणगान करें। इस प्रकारकी वाणीके लिये अमर्याद स्थान हैं। हम उक्त प्रकारके वचन कहते हुए धन प्राप्त करें ॥ २ ॥

हम अन्तर्बाह्य शुद्ध हों, साथवालोंको पवित्र बनावें, शुभ वाणी बोलें और सब मिलकर आनन्दित होते हुए दीर्घआयुष्यको प्राप्त करें ॥ ३ ॥

❀ ❀ ❀

अपने शरीरमें सब देवताएं अंशरूपसे रहती हैं। यहां अग्निने वाणीका रूप लिया है, वायुने प्राण का रूप लिया है, जलने रसना का रूप लिया है, द्युलोक सिरके स्थानमें है, पांवके स्थानमें पृथिवी है, इसी प्रकार अन्य अवयवों में अन्य देवताएं रही हैं। ये सब देवताएं अनृतसे युक्त न हों, सदा सत्यमें स्थिर रहें और हमारी पवित्रता करें। सत्य वाणी, सत्यविचार और सत्य आचार के लिये जितना चाहिये उतना विस्तृत कार्यक्षेत्र है। इस सत्यमें स्थिर रहनेवाले मिलकर आपसमें सहकार्य करते हुए, सत्यसे पवित्र बनकर धर्ममार्गसे धन कमावें और धनी बनें। शरीरकी शुद्धि करें, अन्तःकरण को पवित्र करें और अपने विचार उच्चार और आचारसे दूसरोंको शुद्ध बनाते हुए अपने उद्धारका मार्ग आक्रमण करें। सत्यसे निर्भय होनेवाले और सत्यनिष्ठ तथा ईश्वरके गुणोंका चिन्तन करते हुए अपनेको पवित्र बनानेवाले लोग निःसंदेह दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं और पूर्ण आयुकी समाप्तितक आनंदके साथ रहते हैं। इस लिये मनुष्य अपनी पवित्रता का साधन करे और कृतकृत्य बने।

बंधनसे मुक्त होना।

[६३]

(ऋषि—द्रुह्वणः। देवता—निर्ऋतिः, अग्निः, यमः)

यत् ते॑ दे॒वी निर्ऋ॑तिराब॒बन्ध॒ दाम॑ ग्री॒वास्व॑विमो॒क्यं यत्।
तत् ते॒ वि ष्या॑म्यायु॑षे॒ वर्च॑से॒ बला॑यादोम॒दमन्न॑मद्धि॒ प्रसू॑तः ॥ १ ॥
नमो॑ऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽय॒स्मया॒न् वि चृ॑ता बन्धपा॒शान्।

यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ २ ॥
अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ३ ॥
संसमिद् युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ ४ ॥

अर्थ- (देवी निर्ऋतिः) दुर्गतीने (यत् यत अविमोक्यं दाम ते ग्रीवासु आबबन्ध) जो जो सहजहीमें न छूटनेवाला बंधन तेरी गर्दनमें बांधा है, वह (ते आयुषे बलाय वर्चसे वि स्यामि) तेरी आयु, शक्ति और तेजस्विताके लिये मैं खोलता हूं। अब तू (प्रसूतः अदो-मदं अन्नं अद्धि) आगे बढकर हर्षदायक अन्नका तू भोग कर ॥ १ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार है । हे (तिग्मतेजः) उग्र तेजवाले । (अयस्मयान् बन्धपाशान् विचृत) लोहमय पाशोंको तोड डाल । (यमः त्वां पुनः इत् मह्यं ददाति) यम तुझको पुनः मेरे लिये देता है । (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उस नियामक मृत्युको नमस्कार होवे ॥ २ ॥

जब तू (अयस्मये द्रुपदे बेधिषे) लोहमय काष्ठस्तंभमें किसीको बांधती है तब वह (ये सहस्रं) जो हजारों दुःख हैं उन (मृत्युभिः इह अभिहितः) मृत्युओंसे यहां बांधा जाता है । (त्वं पितृभिः यमेन संविदानः) तू पितरों और यमसे मिलता हुआ (त्वं इमं उत्तमं नाकं अधिरोहय) तू इसको उत्तम स्वर्गमें चढा दो ॥ ३ ॥

हे (वृषन् अग्ने) बलवान् तेजस्वी देव ! आप (अर्यः) सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिये आप (विश्वानि इत् सं सं आयुवसे) सबको निश्चयसे मिला देते हैं और (इडः पदे समिध्यसे) वाणीके और भूमिके स्थानमें प्रकाशित होते हैं (सः नः वसूनि आभर) वह आप हमें धन प्राप्त कराओ ॥ ४ ॥

भावार्थ- साधारण मनुष्यके गलेमें दुर्गती, अलक्ष्मीके पाश सदा बंधे रहते हैं। विना प्रयत्न किये ये पाश छूट नहीं सकते। और जबतक ये पाश गलेमें अटके रहते हैं तब तक दीर्घ आयु, बलकी वृद्धि और तेजस्विता कभी प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये हरएक मनुष्य ये पाश तोड डाले और आनन्द देनेवाला अन्न भोग भोगे ॥ १ ॥

लोहे जैसे ये टूटनेके लिये कठीन दुर्गतीके पाश तोड दो। इस कार्यके लिये उग्रतेजवाले देवका आश्रय करो। यह सामर्थ्य सबका नियामक देव तुझको देगा, इसलिये उसको प्रणाम कर ॥ २ ॥

जिसके गलेमें ये पाश अटके हैं, उसको हजारों दुःख और सैंकडो विनाश सदा सताते हैं। इस रक्षकोंके और नियामकके साथ संमेल करके, इस मनुष्यको बंधमुक्त करते हुए, इसको सुखपूर्ण स्वर्गधाममें पहुंचाओ ॥ ३ ॥

बलवान् ईश्वर सबके ऊपरका शासक है। वह सबकी संघटना करता है और सब पदार्थ मात्रोंके बीचमें प्रकाशित होता है और वही वाणीका प्रेरक भी है। वह ईश्वर हमें धनादि पदार्थ देवे ॥ ४ ॥

पारतंत्र्यका घोर परिणाम।

पारतंत्र्यका, बंधनमें रहनेका घोर परिणाम इस सूक्तने इस प्रकार बताया है—

अविमोक्यं दाम। (मं० १)
अयस्मयाः पाशाः ॥ (मं० २)
अयस्मये द्रुपदे बेधिषे, इह सहस्रं मृत्युभिः अभिहितः ॥ (मं० ३)

" पारतंत्र्यके पाश सहजहीमें छूटनेवाले नहीं हैं। जिस प्रकार लोहेकी जंजीर तोडनेके लिये कठिन होती है। उसी प्रकार ये पारतंत्र्य के पाश तोडनेके लिये कठीन होते हैं। जो मनुष्य इन लोहमय पाशोंसे स्तंभको बांधा जाता है उस पर हजारों दुःख और मृत्यु आती हैं, और उनसे मानो वह बांधा जाता है। "

परतंत्रताके बंधनमें पडा मनुष्य सैंकडों आपत्तियोंसे घिर जाता है, और उसको मुक्तता करनेका मार्ग भी नहीं दीखता, ऐसा वह दिङ्मूढ सा होजाता है। यह सब ठीक है, तथापि मनुष्यको बन्धनसे अपना छुटकारा पाना आवश्यक ही है, क्योंकि पारतंत्र्यमें किसी प्रकार की भी उन्नति नहीं हो सकती। इसलिये कहा है कि—

अयस्मयान् बन्धपाशान् विचृत। (मं० २)

" लोहमय बंधनोंको तोड दो। " क्योंकि जबतक ये पाश नहीं टूटते तब तक तुम्हारी उन्नति होना किसी प्रकार भी शक्य नहीं है।

पाश तोडनेसे लाभ ।

पारतंत्र्यके पाश तोडनेसे क्या लाभ होगा और बंधनमें सडते रहनेसे क्या हानि होगी इसका विवरण यह मंत्रभाग करता है—

ते तत् अविमोक्यं दाम आयुषे वर्चसे बलाय
विष्यामि । प्रसूतः अदोमदं अन्नं अद्धि ॥ (मं० १)

"तेरा न टूटनेवाला पाश तोडता हूं । पाश टूटनेसे और तुझे स्वातंत्र्य मिलनेसे तुझे दीर्घ आयु, तेज और बल प्राप्त होगा और अन्न भोग पर्याप्त प्राप्त होगे ।" पारतंत्र्यके बंध कितनेभी अटूट हों, उनको तोडनेसे ये चार लाभ प्राप्त होंगे, लोग दीर्घायु होंगे, जनताका तेज बढेगा, लोग बलवान् होंगे और अन्न आदि भोग्य पदार्थ पर्याप्त परिमाणमें मिलेंगे । स्वातंत्र्य के ये लाभ हैं ।

पारतंत्र्यमें रहनेसे जो हानियां हैं उनका भी ज्ञान इससे होसकता है, देखिये–लोगोंकी आयु क्षीण होगी, जनतामें बल नहीं रहेगा, उनमें तेजस्विता न होगी और किसीको खानेके लिये अन्न भी नहीं मिलेगा । हरएक परतंत्र मनुष्यको ये आपत्तियां भोगनी पडती हैं, इसलिये हरएक को उचित है कि वह पारतंत्र्यका बंधन तोड दे और बंधनसे मुक्ति प्राप्त करे । और अपने आपको स्वर्गधामका अधिकारी बनावे ।

पाठक इस रीतिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको पारतंत्र्यके पाश तोडनेका उपदेश वेद कितनी दृढतासे कर रहा है, इसकी कल्पना हो सकती है । आशा है कि पाठक ऐसे वैदिक उपदेशोंसे उचित लाभ प्राप्त करेंगे ।

संघटनाका उपदेश ।

[६४]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता—सांमनस्यम्)

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम् ।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ॥ २ ॥
समानी व आकूतीः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ३ ॥

अर्थ— (संजानीध्वं) समान ज्ञान प्राप्त करो, (सं पृच्यध्वं) समानता से एक दूसरेसे संबंध जोडो, (वः मनांसि सं जानतां) तुम्हारे मन समान संस्कारसे युक्त करो। (यथा पूर्वे संजानाना देवाः भागं उपासते) जिस प्रकार पूर्व समयके ज्ञानी लोग अपने कर्तव्यभागकी उपासना करते रहे, वैसे तुम भी करो ॥ १ ॥

(मन्त्रः समानः) तुम्हारा विचार समान हो, (समितिः समानी) तुम्हारी सभा सबके लिये समान हो, (व्रतं समानं) तुम सबका व्रत समान हो, (एषां चित्तं समानं) इन समस्त जनोंका— तुम्हारा-चित्त समान-एक विचारवाला होवे। (समानं चेतः अभिः सं विशध्वं) समान चित्तवाले होकर सब प्रकार कार्यमें प्रविष्ट हो, इसलिये (वः समानेन हविषा जुहोमि) तुम सबको समान हविके साथ युक्त करता हूं ॥ २ ॥

(वः आकूतिः समानी) तुम सबका संकल्प एक जैसा हो, (वः हृद-यानि समाना) तुम्हारे हृदय समान हों, (वः मनः समानं अस्तु) तुम्हारा मन समान हो (यथा वः सह सु असति) जिससे तुम सब मिल जुल कर उत्तम रीतिसे रहोगे ॥ ३ ॥

तुम्हारी संघटना करना इष्ट है तो तुम सबका ज्ञान एक जैसा हो, तुम समान भावसे एक दूसरेके साथ मिल जाओ, कभी एक दूसरेके साथ हीनताका भाव न धरो, सबके मन शुभ संस्कारसे युक्त करो, अपने प्राचीन श्रेष्ठ लोक समय समयपर जिस प्रकार अपना कर्तव्यभाग करते रहे, उस प्रकार तुम भी कर्तव्य करो। तुम सब एक विचारसे रहो, तुम्हारी सभामें सबका समान अधिकार हो, तुम्हारे नियम सबके लिये समान हों, तुम्हारा चित्त एक भावसे भरा हो, एकविचार होकर किसी एक कार्य में एक दिलसे लगो, इसी कारण तुम सबको समान शक्तियां मिली हैं। तुम सबके संकल्प समान हों, परस्पर विरोधी न हो, तुम्हारे अन्तःकरणके भाव सबसे साथ समान हों, एक दूसरेसे विरोधी न हों, तुम्हारे मनके विचार भी समतायुक्त हों। इस प्रकार तुमने अपनी एकता और अपनी संघटना की, तो तुम यहां उत्तम रीतिसे आनन्दपूर्वक रह सकते हैं। अर्थात् तुम्हारे ऊपर कोई शत्रु आक्रमण नहीं कर सकता। तुम्हारी इस संघटनासे ऐसा बल बढेगा कि तुम कभी किसी शत्रुसे न दब जाओगे। और अपना उद्धार अपनी शक्तिसे कर सकोगे।

संघटना करनेवाले पाठक इस सूक्तका बहुत विचार करें और अपना बल बढावें।

शत्रुपर विजय।

[६५]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-चन्द्रः, इन्द्रः, पराशरः)

अव॑ म॒न्युरवा॑य॒ताव॑ बा॒हू म॑नो॒युजा॑ ।
परा॑शर॒ त्वं तेषां॒ परा॑ञ्चं॒ शुष्म॑मर्द॒याधा॑ नो र॒यिमा कृ॑धि ॥ १ ॥
निर्ह॑स्तेभ्यो नैर्ह॒स्तं यं दे॑वाः शरु॒मस्य॑थ ।
वृ॒श्चामि॒ शत्रू॑णां बा॒हून॒नेन॑ ह॒विषा॒हम् ॥ २ ॥
इन्द्र॑श्चकार प्रथ॒मं नै॑र्ह॒स्तमसु॑रेभ्यः ।
जय॑न्तु सत्वा॑नो॒ मम॑ स्थि॒रेणेन्द्रे॑ण मे॒दिना॑ ॥ ३ ॥

अर्थ— (मन्युः अव) क्रोध दूर हो, (आयता अव) शस्त्र दूर हों, (मनोयुजा बाहू अव) मनसे प्रेरित बाहू दूर हों। हे (पराशर) दूरसे शर-संधान करनेवाले वीर! (त्वं तेषां शुष्म पराश्चं मर्दय) उन शत्रुओंका बल दूर करके नाश कर। (अध नः रयिं आकृधि) और हमें धन प्राप्त करा॥ १ ॥

हे (देवाः) देवो! (निर्हस्तेभ्यः यं निर्हस्तं शरुं अस्यथ) निहत्थे जैसे निर्बल शत्रुपर जो हस्तरहित करनेवाला शस्त्र तुम फैंकते हो, (अनेन हविषा अहं) इस हविसे मैं (शत्रूणां बाहून् वृश्चामि) शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं॥ २ ॥

(इन्द्रः प्रथमं असुरेभ्यः नैर्हस्तं चकार) इन्द्रने पहिले असुरों के लिये निहत्थापन अर्थात् निर्बलपन किया। अतः (स्थिरेण मेदिना इन्द्रेण) स्थिर मित्र इन्द्रकी सहायतासे (मम सत्वानः जयन्तु) मेरे सत्ववान वीर लोग विजय प्राप्त करें॥ ३ ॥

अपना बल इतना रखना कि उसके सन्मुख शत्रु निर्बल सिद्ध होवे,इस प्रकार अपना बल बढानेसे और योजनापूर्वक शत्रुको कमजोर करनेसे विजय प्राप्त होगा।

[६६]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता-चन्द्रः, इन्द्रः)

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान्।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥ १ ॥
आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ।
निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोद्य पराशरीत् ॥ २ ॥
निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि।
अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै ॥ ३ ॥

अर्थ- (नः अभिदासन् शत्रुः निर्हस्तः अस्तु) हम पर हमला करनेवाला शत्रु निहत्था अर्थात् निर्बल होवे। (ये सेनाभिः अस्मान् युधं आयन्ति) जो सैन्य लेकर हमारे साथ युद्ध करनेके लिये आते हैं, हे इन्द्र! (महता वधेन समर्पय) उनको बडे वधके साथ मार डाल। (एषां अघहारः विविद्धः द्रातु) इनका विशेष घात करनेवाला वीर विद्ध होता हुआ भाग जावे ॥ १ ॥

हे (शत्रवः) शत्रुओ! (ये आतन्वानाः) जो तुम धनुष्य तनाते हुए (आयच्छन्तः अस्यन्तः च धावथ) खींचते हुए और बाण छोडते हुए दौडते चले आते हो, तुम (निर्हस्ताः स्थन) हस्तरहित हो जाओ। (इन्द्रः अद्य वः पराशरीत) इन्द्र आज तुमको मार डालेगा ॥ २ ॥

(शत्रवः निर्हस्ताः सन्तु) सब शत्रु हस्तरहित हों, (एषां अंगा म्लापयामसि) इनके अंगोंको हम निर्बल कर देते हैं। और (एषां वेदांसि शतशः विभजामहे) इनके धनोंको हम सैंकडों प्रकारसे आपसमें बांट देते हैं ॥ ३ ॥

[६७]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता-चन्द्रः, इन्द्रः)

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥ १ ॥

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः ।
तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २ ॥
ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि ।
पराङमित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु ॥ ३ ॥

अर्थ— (इन्द्रः पूषा च) इन्द्र और पूषा (सर्वतः वत्मानि परि सस्रुतः) सब मार्गोंमें भ्रमण करें, जिससे (अमित्राणां सेनाः परस्तरां मुह्यन्तु) शत्रुसेनाएं दूरतक घबरा जावे ॥ १ ॥

हे (अमित्राः) शत्रुओ ! तुम (मूढाः) भ्रान्त होकर (अशीर्षाणः अहयः इव चरत) सिर टूटे हुए सर्पों के समान चलो । (अग्निमूढानां तेषां वः) हमारे आग्नेयास्त्रसे मोहित हुए तुम सबके (वरंवरं इन्द्रः हन्तु) वरिष्ठ वरिष्ठ वीरको इन्द्र मार डाले ॥ २ ॥

(एषु वृषा हरिणस्य अजिनं आनह्य) इन हमारे वीरोंमें बलके साथ हरिणका चर्म पहिना दो । हमारे सैन्यसे शत्रुसैन्यमें (भियं कृधि) भय उत्पन्न कर । (अमित्रः पराङ् एषतु) शत्रु परे भाग जावे और (गौः अर्वाची उप एषतु) उसकी भूमि या गौवें हमारे पास आजावें ॥ ३ ॥

ये तीन सूक्त शत्रुपराजय करनेके हैं । शत्रुको मोहित करके और घबराकर ऐसे भगा देने चाहिये कि उनमेंसे कोई भी न बचे। उनमें जो शूर हों उनको मार डालना चाहिये और ऐसा पराक्रम करना चाहिये कि, जिससे शत्रुके मनमें डर पैदा हो जावे। ये तीनों सूक्त सरल हैं इसलिये अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

मुंडन।

[६८]

(ऋषिः–अथर्वा । देवता–मन्त्रोक्ताः)

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि ।
आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ १ ॥

अदि॑तिः श्मश्रु॑ वप॒त्वाप॑ उन्दन्तु॒ वर्च॑सा ।
चिकि॑त्सतु प्र॒जाप॑तिर्दीर्घायु॒त्वाय॒ चक्ष॑से ॥ २ ॥
येनाव॑पत् सवि॒ता क्षु॒रेण॒ सोम॑स्य॒ राज्ञो॒ वरु॑णस्य वि॒द्वान् ।
तेन॑ ब्रह्माणो वपते॒दम॒स्य गोमा॒नश्व॑वान॒यम॑स्तु प्र॒जावा॑न् ॥ ३ ॥

अर्थ- (अयं सविता क्षुरेण आ अगन्) वह सविता अपने छुरेके साथ आया है। हे (वायो) वायु! (उष्णेन उदकेन आ इहि) उष्ण जलके साथ आ। (आदित्याः रुद्राः वसवः सचेतसः उन्दन्तु) आदित्य रुद्र और वसुदेव एकचित्तसे इसके बालोंको भिगावें। हे (प्रचेतसः) ज्ञानी जनो! तुम (सोमस्य राज्ञः वपत) इस सोम राजका मुण्डन करो ॥ १ ॥

(अदितिः श्मश्रु वपतु) अदिति बालोंका वपन करे, (आपः वर्चसा उन्दन्तु) जल तेजके साथ बालोंको गीला करे। (दीर्घायुत्वाय चक्षसे) दीर्घायु और उत्तम दृष्टिके लिये (प्रजापतिः चिकित्सतु) प्रजापालक इसकी चिकित्सा करे ॥ २ ॥

(विद्वान् सविता) ज्ञानी सविता (येन क्षुरेण) जिस छुरेसे (वरुणस्य राज्ञः सोमस्य अवपत्) श्रेष्ठ राजा सोमका वपन करता रहा, हे (ब्रह्माणः ब्राह्मणो! (तेन अस्य इदं वपत) उससे इसका यह सिर मुंडाओ। (अयं गोमान्, अश्ववान्, प्रजावान अस्तु) यह गौवोंवाला, घोडोंवाला और सन्तानवाला होवे ॥ ३ ॥

बालोंका वपन करना अर्थात् हजामत बनवाना हो तो पहिले उष्ण जलसे बालोंको अच्छी प्रकार भिगोना चाहिये। भिगानेवाला विशेष ख्यालसे बाल भिगावे। उस्तरा लानेवाला निर्दोष उस्तुरा ले आवे, उसको तीक्ष्ण करे। जितने ख्यालसे राजाके सिर का वपन करते हैं उतनीही सावधानीसे बालक का भी सिर मुण्डाया जाय। किसी प्रकार असावधानी न हो। जिसका वपन करना हो उसकी आयु बढे और दृष्टि उत्तम हो ऐसी रीतिसे वपन करना चाहिये। वैद्य उस्तरे और जल की परीक्षा करे और जिस की हजामत होनी है उसकी भी परीक्षा करे। वपनके समय मनका भाव ऐसा रखे कि जिस की हजामत की जा रही है वह दीर्घायु, स्वस्थ, गौओं और घोडोंका पालनेवाला तथा उत्तम संतानसे युक्त हो। इसके विपरीत भाव मनमें न रहें।

योगमीमांसा

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्र

संपादक—श्रीमान् कुवलयानंद जी महाराज ।

कैवल्यधाम आश्रममें योग शास्त्र की खोज हो रही है जिस खोजका परिणाम आश्चर्यजनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होता है। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र रहते हैं।

वार्षिक चंदा ७); विदेशके लिये १२ शि० प्रत्येक अंक २) रु.

श्री. प्रबंधकर्ता-योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट लोणावला, (जि. पुणे)

ईश उपनिषद्

ईश उपनिषद् की सरल और सुबोध व्याख्या इस पुस्तकमें है। प्रारंभमें अति विस्तृत भूमिका है। पश्चात् काण्व और वाजसनेयी संहिताके पाठ दिये हैं। पश्चात् मंत्रका पद पदार्थ और विस्तृत टिप्पणी है और तत्पश्चात् विस्तृत विवरण है। अन्तमें ईशोपनिषद्के मंत्रोंके साथ अन्य वेदमंत्रोंके उपदेश की तुलना की है। इस प्रकार ईशोपनिषद् का स्वाध्याय करनेके लिये जितने साधन इकट्ठे करना चाहिये उतने सब इस पुस्तकमें इकट्ठे किये हैं। इतना होनेपर भी मूल्य केवल १) है और डा. व्य. ।) है। जिल्द अच्छी बनाई है।

मंत्री— स्वाध्याय मंडल,
औंध
(जि. सातारा)

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में

प्रत्येक का मूल्य २॥ रक्खा गया है। उत्तम लेखों और चित्रों से पूर्ण होने से देखनेलायक है। नमूने का अंक मुफ्त नहीं दिया जाता। व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है। ज्यादह हकीकत के लिये लिखो।

मैनेजर— व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

वैदिक उपदेश माला

जीवन शुद्ध और पवित्र करनेके लिये बारह उपदेश हैं। इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगी मूल्य ॥) आठ आने डाकव्यय -) एक आना)

मंत्री- स्वाध्याय मंडल, औंध जि. सातारा

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ११
अंक ५
क्रमांक १२५

वैशाख
संवत् १९८६
मई
सन १९३०

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष ११

अंक ५

क्रमांक १२५

वैशाख

संवत् १९८६

मई

सन १९३०

वैदिक धर्म

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्यायमंडल, औंध, जि० सातारा

सहायक वीर!

त्रिरुत्तमा दूणशा रोचनानि त्रयो राजन्त्यसुरस्य वीराः।
ऋतावान इषिरा दूळभासस्त्रिरा दिवो विदथे सन्तु देवाः ॥ १३ ॥

ऋ० ३। ५६। ८॥

"(दू-णशा उत्तमा) नाश को न प्राप्त होनेवाले अतएव उत्तम (रोचनानि त्रिः) प्रकाश के स्थान तीन हैं। उनकी सहाय्यतासे (असु-रस्य वीराः) जीवन प्रदाता परमेश्वर के वीर (ऋतावानः इषिराः दू ळभासः) सत्यनिष्ठ, उत्साहसे कार्य करने में तत्पर और कभी न दबनेवाले होकर (त्रिः राजन्ति) तीन प्रकारसे शोभित होते हैं। ये (दिवः वीराः) दिव्य वीर हमारे द्वारा चलाये जानेवाले इस (विदथे) धर्मयुद्धमें हमारे सहाय्यार्थ (सन्तु) आवें।"

शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक ये तीन प्रकारके प्रकाशकेन्द्र मानवी कार्यक्षेत्रमें हैं। सब को जीवन देनेवाले ईश्वरपर निष्ठा रखकर कार्य करनेवाले वीर इन तीनों दिव्य तेजोंसे युक्त होकर सत्यनिष्ठ बनते हैं, अपना कार्य शीघ्र समाप्त करनेमें समर्थ होते हैं, और कभी नहीं दब जाते। इसलिये ये वीर उक्त तीनों कार्यक्षेत्रोंमें तेजस्वी और यशस्वी होते हैं। हम जो धर्मयुद्ध चला रहे हैं, उसमें ऐसे वीर आजांय और हमें योग्य सहाय्यता करें और उनकी सहायतासे हम यशस्वी हों।

स्वयंवर का कुपरिणाम।

पोलैण्ड देशमें 'विवाहसहाय्यक संस्था' (Marriage Bureau) है। इस संस्था के सभापतिने हाल ही में अपने विचार जाहिर किए हैं। वे कहते हैं—
'अब तक हमारी संस्थाने चालीस हजार से भी अधिक विवाह कराए। इन सब विवाहों के भलेबुरे परिणामों का हमने बारीकी से निरीक्षण किया है। हम लोगों ने कोष्टक बनवाए हैं कि किस प्रकार के विवाह का क्या परिणाम हुआ। ये विवाह के अनुभवों के कोष्टक बडी सावधानी से बनाए गये हैं। इन कोष्टकों के निरीक्षणसे जो अनुमान निकलते हैं वे बहुतही विलक्षण हैं। इन अनुमानों पर प्रत्येक विवाहेच्छुक को विचार करना आवश्यक है।

यूरोप की वर्तमान विवाह प्रणालीके तीन प्रकार हैं।
(१) केवल वधू और वर की पसंदीसे होनेवाला स्वयंवर,

(२) वधू और वर की पसंदी के साथही मातापिता की संमति लेकर हुए विवाह और

(३) मातापिताद्वारा अपने पुत्रपुत्रीके लिए निश्चित किए हुए वधू या वर से होनेवाले विवाह। इन तीन प्रकार के विवाहों में पहले प्रकारके विवाहों में से प्रति शतक सत्तर विवाह तलाक से या झगडेसे टूट जाते हैं। दूसरे प्रकार के विवाहों में तलाक का प्रमाण पहले प्रकार की अपेक्षा कम है। और जो विवाह मातापिताद्वारा कुलशील तथा दोनों कुटुंबों की आर्थिक दशा देखकर तय किये जाते हैं उनमें तलाक की मात्रा बहुतही कम अर्थात् प्रति शत पांच होती है। अर्थात् तीसरे प्रकारके विवाहसे बद्ध हुए सौ कुटुंबों में से ९५ कुटुंब आनंद से रहते हैं।

अतएव कुटुंब-स्वास्थ्य की दृष्टि से तो वे ही विवाह निःसंदेह अत्यधिक निर्दोष सिद्ध होते हैं जो मातापिताद्वारा कुलशील का विचार कर तथा पुत्रपुत्री का हितदृष्टि को सम्मुख रखकर तय किये जाते हैं।''

[पोलैण्ड देश यूरोप में है। जिस संस्थाने उस देश के चालीस हजार विवाहों को तय किया और जिसने इन विवाहों के परिणाम बडी सावधानी से देखे, उस संस्था के अध्यक्ष का उपरोक्त मत हिन्दुस्थानियोंके लिए मननयोग्य है। वर्तमान समय में हिन्दुस्थानी शिक्षित स्वयं-पसंती की ओर झुक रहा है। हिन्दुस्थान की कुछ जातियों में यह पद्धति अति प्राचीन समय में प्रचलित थी। परन्तु जब अनेक कटु अनुभव आचुके, तब पूर्वजोंने नौजवान युवक युवती की पसंदी की बात रोक दी और वह पद्धति शुरू की जिसमें मातापिता कुलशील, गोत्र, प्रवर तथा वधू-वर की योग्यता देखकर ही अपने पुत्रों तथा पुत्रियों के विवाह किया करें। ऊपर जो अवतरण दिया है उससे स्पष्ट विदित होता है कि यूरोप एवं अमेरिका में यही पद्धति अब पसंद होने लगी है।

—संपादक]

अथर्ववेद का परिचय।

(ले० १)

एकही वेद के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद नाम के चार भेद हुए। यद्यपि आजकल इन चार वेदोंमें भिन्नता मानी जाती है, तब भी पांच हजार वर्ष पूर्व बात भिन्न थी। उस समय श्रीवेदव्यासजीने अध्ययन की सुविधा के लिए एक ही वेद के चार भाग किए। इनकी अध्ययन-परंपरा विभिन्नता से जब तक शुरू नहीं हुई थी तब तक सब उपभेदोंको मिलाकर एकही वेदराशि थी। और जब तक ऐसा न हुआ था, सब द्विज इसी एक वेद का ही अध्ययन करते थे। यद्यपि आजकल लोक मानते हैं कि चार वेदों की चार संहिताएँ भिन्न हैं, तब भी यह समझ कि सब संहिताएँ मिलकर एक वेदराशि होती है, आज भी विद्यमान है। अतएव यह समझ कि 'एक वेद' पहले था और अब नहीं है, बिलकूल भूल-भरी है। एक वेद जैसे पहले था, वैसे अब भी है। उसमें न्यून-अधिक कुछ भी नहीं हुआ। चार संहिताओं की चार पुस्तकें अलग अलग होनेसे सब संहिताएँ मिलकर एक वेद होता है इस बात में कोई बाधा नहीं होती।

यदि स्थूल मानसे इस प्रकार वर्गीकरण करें कि ऋग्वेद में छंदोबद्ध मंत्र, यजुर्वेद में गद्य मंत्र, सामवेदमें तालसुरमें गानेयोग्य ऋग्वेदसे चुने हुए मंत्र और अथर्ववेदमें मानस तथा अध्यात्म विद्याके ग्राह्यमंत्र है, तो वह आजकी संहिताओं का निदर्शक होगा। यह समझ लेनेपर निश्चित होगा कि 'एक वेद' और 'चार वेद' इन दो नामोंसे किसी भी भिन्न कल्पनाका बोध नहीं होता, किन्तु यही विदित होता है कि चार वेद मिलकर एकही पूर्ण ज्ञान है। ऋग्वेद में करीब ग्यारह हजार छंदोबद्ध मंत्र हैं। यजुर्वेदमें जो गद्य मंत्र हैं उन्हे छोड दें तो जो पद्य मंत्र ऋग्वेदसे ही बचते हैं उनमेंसे आधेसे भी अधिक छंदोबद्ध मंत्र ऋग्वेदसे ही लिए हुए हैं। सामवेदके मंत्रों में से करीब ७३ मंत्रों को छोड शेष सब मंत्र ऋग्वेद के ही हैं। ये ७४मंत्र ऋक् शाखा की अन्य संहिताओं में पाए जाने का संभव है। 'या ऋक् तत्साम' यह उपनिषदका वचन है। इससे स्पष्ट होता है कि साम-मंत्र वास्तव में ऋग्वेद के ही मंत्र हैं। फरक केवल इतना ही है कि उनपर गायन के आलाप बतलानेवाले चिन्ह हैं। अथर्ववेद का एक तृतीयांश भाग ऋग्वेद का है और शेष मंत्र आथर्वण विद्याके हैं। इससे स्पष्टतया प्रकट होता है कि मूल एक वेदके अध्ययन की सुविधा के लिए चार भाग किए गए, और इससे असली वेदविद्यामें कोई अंतर नहीं हो पाया। ऋग्वेद के मंत्रों को ताल और सुर में जमाकर सामवेद हुवा और उन्ही मंत्रों का गान करनेवाले सामवेदी कहलाए। तब तालसुरमें गानें में भिन्नता कहां हुई? भिन्नता मानना ही अज्ञान है। इसी अज्ञान के कारण आज कई लोक चीख मार कर कह रहे हैं 'एक वेद, एक देव और एक वर्ण' चाहिये। ये लोग यदि अध्ययन करके देखें या सब हाल मालूम करने के पश्चात् बोलने को तैयार करें तो उन्हें निःसंशय आज भी एकही वेद दिखेगा।

परंपरा से ऋग्यजुःसाम का अध्ययन करनेवाले ब्राह्मणलोग आज भी चारों प्रांतोंमें नजर आते हैं। इस से इन वेद-भागों का ज्ञान न्यूनाधिकतासे लोगों को है। परंतु, अथर्ववेद का अध्ययन करनेवाले ब्राह्मण प्रायः लुप्त हो गए हैं। और जो लोग अथर्ववेदी कहलाते हैं वे अपना समावेश ऋग्वेदियों में

करा लेते हैं; इससे अथर्ववेदका परंपरासे अध्ययन लुप्तप्राय हो गया है। इसी से अथर्ववेद का परिचय दाचकों को करा देने की हमें बुद्धि हुई। हमारी धारणा है कि वर्तमान परिस्थिति में यह परिचय बहुत कुछ बोधप्रद भी होगा।

अथर्ववेदकी महत्ता।

अथर्ववेदका अध्ययन ही लुप्त हो जाने से आजकल उस के संबंध में कई भूलके ख्यालात प्रचलित हैं। कोई कहते हैं इसमें जारणमारण के मंत्र हैं, कोई कहते हैं इसमें जादूके मंत्र हैं। इस प्रकार के अनेकानेक तर्क-कुतर्क जनतामें इस वेद के संबंध में विद्यमान हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि लोग इसका अध्ययन नहीं करते। वास्तव में अथर्ववेद के संबंध में प्राचीन मत इस प्रकार है।—

अथर्वमंत्रसंप्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति।
अथर्व परि० २।५

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः।
निवसत्यपि तद्राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम्॥
अथर्व परि० ४।६

" अथर्ववेद के मंत्र प्राप्त होनेसे सब कार्यों की सिद्धि होगी "। " जिस राजा के राज्य में शांतिपारंगत अथर्ववेद जानेवाला ज्ञानी निवास करता है, वह राष्ट्र उपद्रवरहित होकर वृद्धि पाता है।"

इन वचनों से विदित होता है कि जिस समय के ये वचन हैं उस समय राष्ट्र की वृद्धि के लिए अथर्ववेद के ज्ञान की अतीव आवश्यकता मानी जाती थी। उस समय भर के लिए ही क्यों न हो, पर यदि माना जाता था कि अथर्ववेद का संबंध राष्ट्र के संवर्धन से है, तो संदेह करने की आवश्यकताही नहीं रह जाती कि उस समय की राष्ट्रकी आकांक्षा पूरी करने योग्य ज्ञान अथर्ववेद में था। इस विचार से देखने पर सहज ही में विदित होगा कि राष्ट्र संवर्धन की दृष्टि से अथर्ववेद बहुत उपयोगी है।

सेनापत्यं दंडनेतृत्वमेव च।
वेदशास्त्रविदर्हति।

इस प्रकार के स्मार्त वाक्य बतलाते हैं कि वेदशास्त्र जानेवाला सेनापति, न्यायाधीश आदि ओहदों पर नियुक्त किए जानेका संभव था। इससे कहना पडता है कि वेदविद्या का ज्ञान जैसे सेनापति के कार्य के लिए लाभकारी है वैसे ही वह न्यायाधीश अथवा राज के अन्य अधिकारियों के कामों में भी सहाय्यक है। आजकल माना जाता है कि वैदिक ब्राह्मण व्यवहार के लिए सर्व प्रकारसे निरुपयोगी है और राजदरबारके किसीभी अधिकार का उपयोग करने में वह बिलकुल नालायक समझा जाता है। इसका कारण यही है कि आजकल का ब्राह्मण वेदमंत्र केवल याद कर लेता है। उसका अर्थ समझने की चेष्टा नहीं करता। इसका परिणाम यह होता है कि अर्थज्ञान से प्राप्त होनेवाली योग्यता उसमें आना असंभव हो जाता है। इस परसे यदि कोई कहे कि वेदज्ञान ही आजकल निरुपयोगी है तो वह सच नहीं है। पूर्व-काल में इस ज्ञानमें जो पारंगत होते थे वे ही सब राज्याधिकार पाते थे और त्रैवर्णिकोंके सब कृत्य इसी ज्ञान की सहाय्यता से होते थे। इससे आवश्यक है कि इस ज्ञान का सत्य स्वरूप क्या है सो आज भी देखा जाय। क्यों कि इस ज्ञान की आवश्यकता या अनावश्यकता तब तक नहीं मालूम हो सकती जब तक यह न देखें कि इस में आज के लिए उपयोगी ज्ञान है या नहीं, और यदि है तो कितना है। अथर्ववेद का विचार इसी दृष्टिसे करने की आवश्यकता है।

यह निःसंदेह है कि अथर्ववेद के लिए प्राचीन आचार्यों ने विशेष परिश्रम किए थे। प्राचीन आचार्योंने विषयानुसार सूक्तों के गण जैसे इस वेद के बनाए हैं, वैसे अन्य किसी भी वैदिक सूक्त के नहीं बने हैं। सूक्तों और मंत्रों का अर्थ निश्चित करने के लिए इन गणों का बडा भारी उपयोग होता है। अथर्ववेद के सर्वानुक्रम, वैतानसूक्त, नक्षत्रकल्प आदि अथर्व-वेदांग ग्रंथोंमें इन गणों का तथा अन्य आथर्व कर्मोंका हाल मिलता है और वह अत्यंत महत्त्व का है।

अथर्व मन्त्रों के गण

अथर्ववेद के मन्त्रों के वा सूक्तों के जो गण पूर्व के आचार्यों के बनाए हुए हैं वे इस प्रकार है— वर्चस्य गण, अपराजित गण, सांग्रामिक गण, तक्मनाशन गण, शत्रुनाशन गण, अभय गण, स्वस्त्ययन गण, आयुष्य गण, वास्तुगण, शान्ति गण आदि प्रत्येक गण के सूक्तों का विषय गण के नाम से व्यक्त होता है। ये गण बंधे हुए होनेसे अथर्ववेद के मंत्रों का अर्थ देखना सरल है।

अपनी तेजस्विता बढाने के मंत्र वर्चस्व गण में, अपनी हार न होने देने के संबंध में सावधानी का ज्ञान देनेवाले मंत्र अपराजित गण में, युद्धके दाँवों का ज्ञान देनेवाले मंत्र सांग्रामिक गण में, ज्वर आदि पीडा हटानेके उपाय दिखलानेवाले मंत्र तक्मनाशन गण में,शत्रु का नाश करने के उपाय सुझानेवाले मंत्र अभय गण में. निर्भयता बढानेका उपदेश देनेवाले मंत्र अभय गण में, अपनी हलचल सुखकारक करने की रीति बतलानेवाले मंत्र स्वस्त्ययन गण में, आयु बढाने का उपाय सिखलानेवाले मंत्र आयुष्य गण में और इसी प्रकार अन्यान्य गणों में अन्यान्य विषयों के मंत्र परिगणित किए गए हैं। यदि केवल ये गण ही देखे जाँय तो सहज ही में विदित होगा कि अथर्ववेद में यदि इतने विषय ग्रथित होते हैं, तो इतने विषयों का अध्ययन किए हुए विद्वान् राज्य के विविध विभागों में अवश्य ही अधिकारी नियुक्त किए जा सकते हैं।

सांग्रामिक, अपराजित, अभय, शत्रुनाशन आदि गणों के मंत्रों का अभ्यास जिसने किया है वह अवश्य ही सेनापति के पदपर नियुक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य कामों का जिन जिन विषयों से संबंध होगा, उन विषयों के विद्वानों को उन विशेष अधिकार के पद मिलना उचित ही है। इन वातों को देखते हुए मालूम होता है कि अथर्ववेद के परिशिष्ट में जो कहा गया है कि 'जिस राज्यमें अथर्ववेद जाननेवाला विद्वान् वास करता है, वह राज्य उपद्रवरहित होकर वृद्धि पाता है,' सो सच होगा। वाचक भी इस बातको मानेंगे। इस प्रकार अथर्ववेद में प्रवेश करने के लिए उस वेदके मंत्रों के गण निःसंदेह बहुत उपयोगी हैं।

ऐसे कई सूक्त और मंत्र अथर्ववेदमें हैं जिनकी गणना उपर्युक्त गणों में नहीं हुई। उनका समावेश किसी भी गणमें होना संभव है या नहीं और उनके गण बांध सकते हैं या नहीं इसका विचार तो उन सूक्तों का अर्थनिश्चय हो जानेपर ही किया जा सकता है। इस संबंध में अबतक हमने जो विचार किया है उससे हमे निश्चय हुआ है कि गणों में परिगणित न किए हुए सूक्तों का अर्थ निश्चित करके उनका गण बांधना संभव है।

अथर्व मंत्रों के कर्म !

अथर्व सूत्रकार आचार्योंने अथर्ववेदमें कहे हुए कर्मों की फेहरीस्त दी है। श्री सायनाचार्य के भाष्य में वह फेहरिस्त सुबोध रीतिसे संगृहीत भी की गई है। उसे भी अपन देखें। उस फेहरिस्त से भी अपने को अथर्ववेद का कुछ परिचय होगा। और यह भी विदित होगा कि अथर्ववेद में कौन कौन से विषय आए हैं।—

वैयक्तिक उन्नति।

अथर्ववेदमें जो विविध कर्म कहे गए हैं उनके मुख्य पांच विभाग हो सकते हैं। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और आत्मज्ञान के संबंध के। इन सब के कम या ज्यादा विभाग भी किए जा सकते हैं। परन्तु यहाँ केवल पांच विभागों में ही कर्मों को विभाजित कर विषय प्रतिपादन करने का विचार है। सर्वप्रथम वैयक्तिक उन्नतिका विचार करें।

१ मेधाजननं — बुद्धि बढाना, स्मरणशक्ति बढाना।
२ ब्रह्मचर्यं — वीर्य-रक्षा, मनःसंयम आदि।
३ पापक्षयः — पाप से निवृत्त होना और जो पाप हो चुका है उसे दूर करना।
४ पुष्टिसाधनं — शरीर पुष्ट करना, बल बढाना।
५ भैषज्यानि — औषधियों का उपयोग करना।
६ आयुष्यं — दीर्घायुष्य प्राप्त करना।

७ स्वस्त्ययनं – सुखरूपता से देश देशांतरों में वा स्थानांतरों में जाना।

इस प्रकार के आथर्वण कर्म मुख्यतः वैयक्तिक उन्नति साधने के लिए हैं। पर भूलना न चाहिए कि इनमें से पापक्षय, पुष्टिसाधन, भैषज्य, स्वस्त्ययन का संबंध कौटुंबिक, सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति से भी है।

कौटुंबिक उन्नति।

पहले बतलाए हुए साधन करके वैयक्तिक उन्नति साधना चाहिए और जब उससे अधिक उत्तरदायित्व सिरपर लेने की शक्ति आ जावेगी तब कौटुम्बिक उन्नति के क्षेत्र में प्रवेश किया जाय। इस प्रकार ब्रह्मचर्य-आश्रम से गृहस्थ आश्रम में जब प्रवेश हो जाय, तब कुटुम्ब की फिकर करने का उत्तरदायित्व सिरपर आवेगाही। उस समय निम्नलिखित कार्य करना आवश्यक है—

१ सांमनस्यं – मन का विरोधी भाव दूर करना और एकता से बर्ताव करने का गुण लाना, मनमें समता लाना।

२ गर्भाधानादि कर्म – गर्भाधानादि कर्म करना। घर गिरस्थी बनाकर करना।

३ ऋणविमोचनं – ऋण दूर करना, ऋण न करना।

४ गोसमृद्धिकृषिपुष्टिकर्म – गाय की समृद्धि करना, गाय की पुष्टि करना, खेती की उन्नति आदि काम करना।

५ पुत्रपशुधनधान्यप्रजास्त्रीकरितुरगरथान्दोलिकादिसंपत्साधनानि – पुत्र, पशु, धन, धान्य, प्रजा, स्त्री, हाथी, घोडे, रथ, पालकी, आदि सब प्रकार की धन संपत्ति कमाना और बढाना।

इस प्रकार कौटुम्बिक सुख की वृद्धि करनेवाले अनेक कर्म अथर्ववेद में कहे गए हैं। इसके बाद सामाजिक विषय आता है। परन्तु उसका समावेश राजकीय बातों में भी हो सकता है। अतएव उस मुख्य राजकीय विषयकाही यहां विचार करेंगे –

राष्ट्रीय उन्नति।

१ ग्रामनगरराष्ट्ररक्षणं वर्धनं च – गाँव, नगर, प्रांत, राष्ट्र का रक्षण करना और उनकी वृद्धि करना।

२ राजकर्म – राजा और राजा के अधिकारियों के काम।

३ शत्रुशासनं – शत्रु को पराजित करना।

४ संग्रामविजयः – युद्ध में जय पाना।

५ शस्त्रनिवारणं – शत्रु के शस्त्रों का निवारण करना।

६ संग्रामे जयपराजयपरीक्षा – युद्धमें जय होगा या पराजय होगा इसकी परीक्षा करना

७ सेनापत्यादिप्रधानपुरुषजयकर्माणि – सेनापति आदि अपने बडे वीरों का विजय होने के लिए करने के काम।

८ परसेनासंचरणं – शत्रु की सेना में घूमकर गुप्त भेद निकालना।

९ परसेनामोहनोद्वेजनस्तंभनोच्चाटनादीनि – शत्रुसेना को मोहित करना, उनमें उकताहट उत्पन्न करना, उनकी दिशाभूल कराना, और उनका पूर्ण नाश करना।

१० स्वसेनोत्साहपरिरक्षणाभयार्थानि – अपनी सेनाका उत्साह बढाना और उसे निर्भय एवं सुरक्षित करना।

११ उत्थानकर्म – शत्रुसेनापर हमला करना।

१२ शत्रूत्सादितस्य राज्ञः पुनः स्वराष्ट्रप्रवेशनम् – शत्रूने पराजित किए हुए अपने राजाको पुनः स्वराष्ट्र में लाकर पुनः उसे राज्यपर स्थापित करना।

१३ अभिचारः – वधप्रयोग।

१४ अभिचारनिवारणं – शत्रू के किए हुए वधप्रयोग का निवारण करना।

इत्यादि कर्म राष्ट्रीय कर्म हैं। राष्ट्रीय उन्नतिसे उनका संबंध है । यदि किसी राष्ट्र में वह अथर्व-वेद-ज्ञानी मनुष्य है, जो जानता है कि उक्त कर्म कैसे करने चाहिए और योजनापूर्वक सब कर्म करके विजय कैसे साधना चाहिए, तो वह राष्ट्र शत्रु-रहित हो किस प्रकार उन्नत होगा सो इन कर्मों का विचार करने से हम जान सकते हैं। यदि ये कर्म अथर्ववेद में कहे हों, तो वह वेद राष्ट्रसंवर्धन के काम में निःसंदेह बहुत सहाय्यक होगा। इसके सिवा -

१ सभाजयसाधनं – सभा में विजय प्राप्त करना ।
२ वाणिज्यलाभः – व्यापार करके लाभ पाना ।
३ वृष्टिसाधनं – वृष्टि कराने के यज्ञ करना ।

आदि अनेक काम इसी विषय से संबंध रखने-वाले हैं। ये कर्म अथर्ववेद में हैं, इसीसे तो अथर्व-वेद का महत्त्व बहुत बढ गया है । और यह कहना पडता है कि इस ज्ञान से ज्ञानी बना हुआ विद्वान् राष्ट्रसंवर्धन के कार्य में भारी सहाय्यता पहुंचा सकता है ।

इनके भी सिवा यक्ष्मयाग, क्षय जैसे घातक रोगों को दूर करने के यज्ञ, प्राणविद्या, ब्रह्मज्ञान आदि अनेक विषय इस अथर्ववेदमें आए हुए हैं। उन सब का यदि केवल नामनिर्देशभर करें तब भी बहुत अधिक विस्तार हो जावेगा। अतः इसके संबंध में इतना ही बयान पर्याप्त है । अब तक के वर्णन से वाचकों को सरसरी तौर से विदित हो सकता है कि अथर्ववेद में कौन कौन से विषय आए हुए हैं ।

अंतरंग और बहिरंग।

वेदविद्या के दो अंग हैं। एक अंतरंग और एक बहिरंग। ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या वेद-विद्या का अंतरंग है । बाह्य सुखों की प्राप्ति का जितना भी ज्ञान है वह सब बहिरंग में आता है। ऊपर जो सूक्तों के वर्ग और मंत्रोंसे दिखलाए हुए कर्म हैं उनमें से कुछ अंतरंग के विषय समझाने-वाले हैं और बहुतसे अन्य बहिरंग के विषय समझानेवाले हैं। जो अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के ज्ञानों से मंडित होता है, उसीको पूर्ण विद्वान् कहते हैं। केवल अंतरंग- पंडित या केवल बहिरंग-पंडित अपने अपने भाग में कितना भी चढाबढा क्यों न हो वह पूर्ण विद्वान् नहीं कहलाता क्रमसे कम वेद विद्या की दृष्टिसे तो उसे पूर्ण ज्ञानी कदापि नहीं कह सकते । 'आब्रह्मस्तंभपर्यंत' अर्थात् घांसके एक बारीक तिनके से लेकर परब्रह्मपर्यंत जितना कुछ जाना जा सकता है, अथवा जितने ज्ञान का अपनी उन्नतिसे साक्षात् वा परंपरासे संबंध आता हो, वह सब जानना अत्यावश्यक है। यह सब ज्ञान जिसे हुआ है, उसे ' पूर्ण ज्ञानी ' किंवा ' सु-वि ज्ञ ' वेद की भाषामें कह सकते हैं। शरीर बहिरंग है और आत्मा उसका अंतरंग है। यह अंतरंग और बहिरंग मिलकर पुरुष बनता है। ठीक इसी तरह विद्या का भी अंतरंग और बहिरंग होता है। शरीर स्वस्थ न होने से जैसे आत्मा की उन्नति का साधन शक्य नहीं, उसी प्रकार बहिरंग विद्या न हो तो अंतरंग-विद्या भी न सधेगी। इसी प्रकार अंतरंगका भी बहिरंग से संबंध है। ध्यान रहे ये दोनों परस्पर पोषक हैं।

अथर्व शब्द ।

देखना आवश्यक है कि ' अथर्व ' शब्दका अर्थ क्या है। " अ + थर्व" इन दो पदों का अर्थ है "अ+ चांचल्य "। थर्व शब्द गतिवाचक है और अथर्व शब्द शांतिवाचक है । अचंचलता यह अथर्व शब्द का अर्थ ही इस वेदके विषय का बोध करता है। गति बढानेवाली सब विद्याएँ चंचलता बढाती हैं। ये सब गतियां जिस स्थान से उत्पन्न होती हैं उस मध्यबिन्दु की ओर जाकर वहां की चंचलता-रहित समता का अनुभव करना अथर्ववेद बतलाता है। इसी लिए इस वेद को यह नाम दिया गया है। " स्थितप्रज्ञ " शब्द गीता में आया है। उस के विरुद्ध ' चंचल-प्रज्ञ ' जैसे शब्द की यदि कल्पना कर सकें तो ये दो शब्द क्रमशः अंतरंग और

बहिरंग विद्याओं के उत्तम द्योतक होंगे। इस दृष्टिसे अथर्ववेद का नाम ही बतलाता है कि इस वेद का मुख्य विषय अंतरंग विद्या है।

अथर्ववेद के मंत्रों को और सूक्तों को 'ब्रह्म' नाम है। इससे अथर्ववेद का नाम भी ब्रह्मवेद है। यह वेद विशेषतः ब्रह्मज्ञान का उपदेश करता है इसी से इसे ब्रह्मवेद नाम दिया गया है। कई लोग समझते हैं कि यज्ञ का ब्रह्मा नाम का ऋत्विज जो मंत्र कहता है वे इसमें हैं इसीसे इसे ब्रह्मवेद कहते हैं। परन्तु यह केवल नाम की सदृशतासे हुआ घोटाला है। उपरोक्त व्युत्पत्तिसे स्पष्ट होगा कि इसे ब्रह्मवेद कहनेका कारण इस वेदका मुख्य विषय ब्रह्मज्ञान ही है गोपथब्राह्मण में भी इसकी एक उत्तम व्युत्पत्ति आई है। उसे देखने से भी उपरोक्त कथन की ही पुष्टि होगी–

अथार्वाङेनमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति।
गोपथब्रा० १।४

"(अथ+अर्वाक्) अब अपने पास के जल में ही उसे खोजिए" तब वहीं वह मिलेगा। इस पद्धति को "अथ+अर्वाक् (अथर्वा) याने अपने बिलकुल पास खोजने की पद्धति" कहते हैं। आत्मा को, देव को सारे संसारभर में ढूंढते ढूंढते जब भक्त थक जाता है, तब वह उसे अपने पास-अपने हृदयमें उसे खोजने लगता है। अपने हृदय के मानस-सरोवर के जल में वह मिलता है। इस पद्धति को अपने अंदर खोजने की पद्धति कहते हैं। उक्त गोपथ-ब्राह्मण के वचन में कहा है कि यह पद्धति अथर्ववेदने बतलाई। गोपथ का यह वचन भी स्पष्टतया दिखाता है कि अथर्ववेद का मुख्य विषय आत्मज्ञान है। इससे निःसंदेह सिद्ध होता है कि इस वेद का नाम ब्रह्मवेद है।–

चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः
सामवेदो ब्रह्मवेदः॥
गोपथब्रा० २।१६

"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवद और ब्रह्मवेद ये चार वेद हैं।" इसमें भी इस वेद का नाम स्पष्ट शब्द से ब्रह्मवेद बतलाया गया है। जो लोग भ्रांति से समझते हैं कि यह ब्रह्मवेद इस लिए कहाता है क्योंकि यह ब्रह्मा नाम के ऋत्विज के कहने का वेद है, वे इस वचन का सूक्ष्म अवलोकन करें। ऋक्, यजुः, साम और ब्रह्म ये चार पद चार ऋत्विजों के वाचक नहीं हैं। ऋग्यजुःसाम ये मंत्र समुच्चय के नाम हैं। इसी तरह ब्रह्म भी मंत्र समुच्चय का नाम है। इससे स्पष्ट होगा कि इस वेद का विषय ब्रह्मज्ञान होने के कारण ही इसे ब्रह्मवेद नाम मिला है। इस संबंध में आगे का वचन देखिए –

श्रेष्ठो ह वेदस्तपसोऽधिजातो।
ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव॥
गोपथ० १।९

"यह श्रेष्ठ वेद तप से हुआ और ब्रह्मज्ञानी लोगों के हृदयमें केंद्रीभूत हुआ है।" ब्रह्मज्ञानी लोगों के, तपस्वी ऋषियों के, आत्मज्ञानियों के अंतःकरणमें जो ब्रह्मज्ञान रहता है, वही इसमें है। इसीसे इसका ब्रह्मवेद नाम बिलकुल अन्वर्थक है।

इस वेद का और एक नाम "आंगिरस वेद" भी है। अब देखें कि इसका क्या अर्थ है और निश्चय करें इसका उपरोक्त अर्थ से क्या संबंध है।–

योऽगिरसः स रसः। येऽथर्वाणस्तद्भेषजं।
यद्भेषजं तदमृतं। यदमृतं तद्ब्रह्म॥
गोपथ० २।१६

"जो अंगिरस हैं वह रस है, जो अथर्व हैं वह औषधि है, जो औषधि है वह अमृत है और जो अमृत है वह ब्रह्म है।" इस सूत्रबद्ध वचन का तात्पर्य यही कि शरीर के अंगों में से संचार करनेवाला एक प्रकार का जीवन रस है, उस अंगीय रस का वैदिक नाम अंगिरस है। जो इस अंगिरस की विद्या जानते हैं उन्हे आंगिरस कहते हैं। इस अंगिरस की शक्तिसे रोगनिवारक औषधि शरीर ही में उत्पन्न करनेकी विद्या जो जानते हैं वे आथर्वण हैं। इस विद्या का नाम आथर्वणी विद्या है। इस विद्या का साध्य है मानसशक्ति की प्रेरणा से अंगरस में इष्ट परिणाम कराना और उससे रोग दूर करना, इसीसे इसे "भेषज" कहते हैं। बहुतेरे लगों जानते ही

नहीं कि यह भेषज अर्थात् यह औषधि अपने शरीर के अंगीय रस में ही है। जब तक यह ज्ञान नहीं होता तभी तक मनुष्य बाहरी औषधियां खोजता है। जब मनुष्य को विदित हो जाता है कि अपने अंग-रस की औषधि ही सर्वश्रेष्ठ है, तब वह बाहरी औषधियों से अपना संबंध ही नहीं आने देता। वह अपने भीतर स्थित अंगरस को ही चालना देता है और इष्ट परिणाम करा लेता है।

यह जो औषधि है वही अमृत है। यदि यह अमृत अपने अंगरस में है, तब इस अमृतसे मनुष्य अमरत्व क्यों न प्राप्त करेगा! जो अमृत है वही ब्रह्म है। इसका यही अर्थ है कि अमृत और ब्रह्म शब्द एक ही तत्त्व के वाचक हैं और यह तत्त्व अपने अंगों के जीवनरस में है। उसे जागृत कर उसका उपयोग अपने शरीरके संवर्धन में करने ही का नाम आंगिरस विद्या अथवा आथर्वणी विद्या है। वाचक स्मरण रखें कि यह विषय अथर्ववेदका है। इस प्रकार अथर्ववेद का अंतरंग और बहिरंग स्वरूप है। इसे देखने से स्पष्ट होगा कि यह वेद जैसे व्यक्ति की उन्नति के लिए आवश्यक है वैसे ही सामाजिक एवं राष्ट्रीय उन्नति के लिए आवश्यक है। तब भला इस वेद को केवल "छू: छू" करनेवाले जादूगर के मंत्रतंत्रों का वेद समझना कितनी भारी भूल है!!

हम जानते हैं कि आज की शताब्दि में केवल विधान मात्र से लोग विश्वास नहीं करते। इसीसे अथर्ववेद में स्थित ज्ञान के संबंध हमारे जो उपरोक्त विधान हैं उनमें से हरएक की सिद्धता के लिए अथर्ववेदके ही मंत्र हम आगे देवेंगे। वाचक उन्हें सावधानी से देखें जिससे उन्हें निश्चय हो जावे कि वास्तव में अथर्ववेद में वे विषय हैं और अथर्ववेद केवल जादूगरी का वेद नहीं है।

दुर्लभं भारते जन्म।

जिसका पुण्यसंचय बहुत भारी है उसी को भारतवर्ष में जन्म मिल सकता है। कौनसी बात है जिससे भारतवर्ष की महत्ता इतनी बढ गई? इस छोटे लेखमें यही बतलानेका प्रयत्न किया जावेगा।

हमारा भरतखण्ड निसर्गनिर्मित सीमाओं से व्याप्त है। इसकी सीमाएँ या तो अत्युच्च पर्वतों से बनी हैं या अति गहरे सागरों से। अतएव इस भरत-भूमिको परचक्र का भय सहज में नहीं हो सकता।

"स्थावराणां हिमालयः" इस प्रकार जिसका वर्णन स्वयं श्रीभगवान् ने किया है, जिसमें अनेक पवित्र एवं प्रचण्ड नदियाँ का उद्गम है,जिस पर की सृष्टि-शोभा को इस संसार भर में कोई उपमायोग्य वस्तु नहीं, जो प्राचीन महान् तपस्वियों की नितांत शांत तपोभूमि बना, जिसपर हजारों अनमोल वनस्पतियां ऊगती हैं, उस अत्युच्च नगाधिराजने अपनी आर्यभू का उत्तर प्रदेश मण्डित किया है।

जिसके पानी से भिन्न भिन्न रोग जंतु नष्ट हो जाते हैं और यह गुण पश्चिम के शास्त्रज्ञों ने परीक्षा करने के पश्चात् सिद्ध किया है, जिसके किनारे पर अनेक पवित्र तीर्थ बसे हैं, जिसके जलसे सैकडों योजन जमीन सींची जाती है और अनेकविध धान्य, फल, फूल आदि अपरिमित होते हैं ऐसी गंगामाई - जन्हुनरेन्द्रकन्या - इसी आर्य-देवी के उत्तरी भागमें बहती है। वहां यमुना नदी इस

आर्यमाता का पाद प्रक्षालन करती है। अपनी भगिनी चतुष्टयों की सहाय्यता से वायव्य प्रदेशको पंजाब संज्ञा दिलाकर उसे गेहूं का आगर बनानेवाली सिन्धुनदी, सैकडों मुखों से बंगालमें मिलनेवाली ब्रह्मपुत्रा, शोणभद्र, गोदावरी, भीमा, ताप्ती, नर्मदा, तुंगभद्रा आदि पवित्रतम नदियाँ इसी आर्यजननी के पदकमलों की सेवा करती हैं।

ब्रिटिश साम्राज्य के शाहनशाह पंचम जॉर्ज के मुकुट पर विराजमान होनेवाला देदीप्यमान कोहिनूर हीरा इसी हिन्दुस्थान के गोलकुण्डा की खदान में मिला था। ब्रिटिश म्यूझिअम में स्थित मयूरसिंहासन जिन कारीगरोंने बनाया उन्हे इसी आर्यभूने जन्म दिया था। इस भारतभूमि के उदर में सोना, चांदी आदि सर्वप्रकार की वरिष्ठ एवं कनिष्ठ नित्य व्यवहार के लिए उपयोगी धातुएं मिलती हैं। सारांश यही कि नित्य के व्यवहारोपयोगी धातु, उपधातु तथा ऐश्वर्यप्रदर्शक अनर्घ्य हीरा, माणिक, रत्न, मोती आदि की कमी इस हिन्दुस्थान को कभी नहीं हुई। परदेश से चढाई करने आए हुए तैमूरलंग, नादिरशाह, महमूद गझनवी आदि ऊँटों को लादकर इतना सोना, चांदी, मूल्यवान कपडा, हीरा, माणिक ले गए कि उनकी नाप नहीं कर सकते।

प्रसिद्ध शककर्ता विक्रम तथा शालिवाहन राजाओंने अपनी यशोदुंदुभी के निनाद से, एक समय, इसी देश का नभोमण्डल गुंजा दिया था।

पुण्यश्लोक नलराजा; एक वचनी, एक बाणी, एकपत्नीव्रती, पिताके वचन की पूर्ति के लिए चौदह वर्ष वनवास में जानेवाले श्रीरामचंद्रप्रभु; स्वप्नसृष्टिके वचन को सत्य करनेके लिए स्वतःको, स्वपत्नि को और स्वपुत्र को बेचनेवाला सत्त्वधीर राजा हरिश्चंद्र; 'मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन,' 'मेरे एक हाथ में चंदन का लेप किया और दूसरा हाथ खड्ग से काट डाला तभी मुझे एकसा ही आनन्द होगा' इस प्रकार कहनेवाला वैदेही जनक; सत्त्वरक्षा के लिए निजपुत्र के प्रियतम प्राणों की पर्वा न करनेवाला राजा श्रीयाल; सत्यवक्ता, मूर्तिमान् धर्म के सदृश राजा युधिष्ठिर; बलसागर भीम; सव्यसाची, कपिध्वज, अद्वितीय कृष्णसखा अर्जुन; अश्विनीकुमार के अवतार नकुल-सहदेव; राक्षसी महत् आकांक्षा के कारण रामराज्य-वियोग करानेवाली जन्मदात्री का धिक्कार करनेवाला, अनायास प्राप्त हुई राज्यलक्ष्मी का त्याग कर श्रीरामचंद्र की खडाऊं की सिंहासनपर स्थापना कर स्वतः प्रतिनिधि के नाते राज्य-शकट चलानेवाला, निश्चित अवधि में श्रीरामचन्द्र यदि न लौटे तो अग्निकाष्ठ भक्षण करनेको उद्यत होनेवाला, निःसीम बन्धुप्रेम की मूर्ति भरत; श्रीकपिलमुनि के शाप से दग्ध हुए सूर्यकुलोत्पन्न पितरों के उद्धार के हेतु श्रीशंकरजी की घोर तपस्या कर स्वर्धुनी को स्वर्ग से मृत्युलोक में लानेवाला राजा भगीरथ; नरपुंगव रघु और दिलीप; अठारहवें वर्ष तोरणा किले पर स्वराज्य का तोरण बांधनेवाला जीजाबाई का बालक, मावलोंका मित्र, दादाजी का शिष्य, श्रीसमर्थ रामदास स्वामी का शिष्य, गोब्राह्मणप्रतिपालक श्री छत्रपति शिवाजी महाराज आदि विभूतियों को जन्म देनेका आदर इसी स्वर्णभूमिको प्राप्त है।

पार्थका सारथ्य करनेवाले, श्रीमद्भगवत् गीता जैसे असामान्य तत्त्वज्ञान के ग्रंथ के प्रणेता, विदूर के घर की कनकी खानेवाले, कौरवसभा में द्रौपदी की लज्जा की रक्षा करनेवाले, योगेश्वर कृष्णचन्द्र; महाभारत जैसे अद्भुत, रम्य, ऐहिक एवं पारमार्थिक कल्याण का मेल करानेवाले पंचम वेद के आचार्य सत्यवती हृदयरत्न व्यास ऋषि; वर्षानुवर्ष लोहपिष्ट भक्षण करके कडी तपस्या करनेवाले विश्वामित्र ऋषि; योगशास्त्र के लेखक भगवान् पतंजली; याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, कश्यपके सदृश शापादपि शरादपि ऋषिमण्डल; शांकरभाष्यकार, हिन्दुधर्मसंस्थापक श्रीशंकराचार्य; संसारके नाना प्रकारके दुःखपीडित लोगों को देखकर तथा ऐहिक सुखविलासों की नश्वरता जानकर राजलक्ष्मी, गृहलक्ष्मी और गृहरत्न का जिन्होंने शाश्वत सुख के लिए त्याग किया वे बौद्धधर्मसंस्थापक गौतम बुद्ध; जैन धर्म की स्थापना करनेवाले महावीर; नानकपंथ के संस्थापक गुरु नानक; जितेन्द्रिय, श्रीरामचंद्र के एकनिष्ठ सेवक

एवं भक्त, अंजनीपुत्र, महारुद्रावतारी श्री हनुमान् जैसे ब्रह्मचारी; पिताकी वैषयिक सुखेच्छा के लिए राजविलासों को ऐन जवानीमें तिलांजलि देनेवाले, अपनी भीषण प्रतिज्ञाकी पूर्ति के लिए आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले, इच्छामरणी भीष्माचार्य; व्यासपुत्र शुकमुनि आदि महाभागों की धवल कीर्ति से आर्यभूमण्डल अबतक जगमगा रहा है।

गीर्वाण भाषाको पद पद पर नियमबद्ध करनेवाले, सर्वार्थवित् वैयाकरणी पाणिनी; परमेश्वर के 'कर्तुम कर्तुमन्यथा कर्तुम्' सामर्थ्य की पहचान करानेवाला, असंख्य तेजोगोलकों से युक्त अमर्याद एवं अनंत विश्व के फैलाव से मन का संकोच नष्ट करनेवाला जो ज्योतिष-शास्त्र उस के लेखक वराहमिहिर, भास्कराचार्य; वेदसे दूर गये भारतवर्ष को वैदिक धर्मकी ज्योति बतानेवाले ऋषि दयानंद; चरकसंहिता, वाग्भट, शारङ्धर, माधवनिदान जैसे जगन्मान्य वैद्यक ग्रंथोंके लिखने वाले माहन् पुरुषों की दीपावलि के प्रकाश की ज्योति इसी आर्यभू के प्रदेश में प्रकाशित है।

दासबोध के लिखनेवाले राजगुरु समर्थ श्री रामदास; संतशिरोमणि तुकाराम महाराज; अनाडी के मुख से वेद कहलानेवाले श्री ज्ञानेश्वर; संत कबीर; एकनाथ महाराज; तुलसीदास; श्रीरामकृष्ण परमहंस; गीतारहस्य जैसा अलौकिक अध्यात्म का ग्रंथ अर्धशत संवत्सरोंके परिशीलन से कारागृह में लिखकर पूरा करनेवाले कर्मयोगी, मानो दूसरे श्री शंकराचार्य ही ऐसे लोकमान्य तिलक; शांतिदेवी के मानो अवतार ही ऐसे वर्तमान नेता महात्मा गांधी इन असामान्य व्यक्तियों को अवतार धारण करने के योग्य यही आर्यभूमि जान पडी।

मेघदूत; शाकुंतल आदि हृदयवृत्तियों को हिला देनेवाले काव्यों का कर्ता, उपमाके प्रयोग में जिसकी बराबरी का अन्य कोई है ही नहीं ऐसा वाणीकण्ठमणि कवीश्वर कालिदास; अर्थगौरव में निपुण भारवि कवि; दशकुमारचरित में पदलालित्य की बहार उडानेवाला दण्डी; तीनों गुणों से मण्डित माघ कवि, भवभूति आदि संस्कृत कवि; मोरोपंत, श्रीधर, वामन पण्डित, आदि मराठी कवि; तुलसीदास, भूषण, बिहारी आदि हिन्दी कवि; पश्चिम के देशों में 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त करनेवाले जगद्विख्यात आधुनिक कविराज रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि कों के ग्रंथ यावच्चन्द्रदिवाकरौ जनमन को आल्हाद देते रहेंगे इसमें तिलप्राय संदेह नहीं है। इन सब की जन्मभूमि कौनसी है? आर्यावर्त ही। धन्य है! आर्यावर्त तुझे धन्य है!!

मानवी प्राणि को जैसी संवेदना है वैसी ही संवेदना वनस्पतियों को भी है। इसे स्वयंनिर्मित यंत्रसामग्री से प्रमाणसहित सिद्ध करनेवाले; अति सूक्ष्म और सत्य वनस्पतिशास्त्र के प्रयोगों से पश्चिम को भी आश्चर्यसे दांतोंतले अंगुली दबाने को विवश करनेवाले, हिन्दुस्थानियों में बुद्धिवैभवकी कमी नहीं है कि उसके विकासकेलिए जिस साधनसामग्री की आवश्यकता है वह पूरी होतेही संसार के किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति की अपेक्षा किसी भी शास्त्र में हिंदवासी बुद्धि के प्रकर्ष से अग्रसर होता है इस सिद्धान्त की सत्यता स्वोदाहरण से संसार को दिखलानेवाले, वनस्पतिशास्त्रज्ञ श्री० जगदीशचन्द्र बोस; पश्चिम के देशों में अपनी चित्रकला की निपुणता के लिए पारितोषिक प्राप्त करनेवाले चित्रकार राजा रविवर्मा आदिकों का जन्म इसी हिन्दभूमि में हुआ।

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः" कहकर मुक्तकंठ से कहनेवाला हिन्दुधर्म, जिसके प्रचार के लिए कभी भी और किसी का भी छल नहीं हुआ ऐसा हिन्दुधर्म, लक्ष्मी देवीका मानो निवासस्थान ही बना हुआ जो अमेरिका देश उसमें अपनी अमृतोपम और अस्खलित वाणि से यतीश्वर विवेकानन्द और रामतीर्थ ने जिसका विजयध्वज फहराया, जिसके उदात्त तत्त्वों का अपनी अप्रतिम बुद्धिमत्ता से सारे संसार को विशदीकरण करके अमेरिका जैसे विद्यावैभवसंपन्न राष्ट्र में भी जिसकी दीक्षा अनेकोंने खुशी से ली वह हिन्दुधर्म और वे यतीद्वय इसी आर्यावर्त की सनातन दौलत का बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं।

रामा नौकर से रामशास्त्री बने हुए पेशवा के निःस्पृह अन्नदाता तक को उसके अपराध के लिए प्राणदण्ड ही उचित है ऐसा विचार कहनेवाले रामशास्त्री प्रभुणे; श्रीवर्धन के भट-कुटुम्ब को अपने अपार कर्तृत्व से पेशवा-पद दिलानेवाले बालाजी विश्वनाथ पेशवा; गोदावरी के किनारे के घोडों को सिंधु नदी पार कराकर मराठों का गेरुआ झण्डा अटकपर फहरानेवाले रघुनाथराव;मराठों की गिरी दशा में अपनी विलक्षण राजनीति से मराठों के राज्यशकट को संभालकर सीधे रास्ते में लानेवाले नाना फडनवीस; पेशवाके सेनापति परशुरामभाऊ पटवर्धन; बापू गोखले; चिमाजी आपा; स्वामी की आज्ञा का पालन करने के लिए तथा राष्ट्र के हित के लिए धारातीर्थ पर शरीर छोडनेवाले बाजीप्रभु देशपांडे; दोस्त तानाजी मालुसरे इत्याद्यनेक नरपुंगवों को जन्म देनेवाली कौन? यही भारतमाता।

हाथी को हौदे के समेत ढांकने योग्य ढाके की मलमल एक छोटीसी आम की गुठली में रह जाती थी। ऐसा पतला कपडा बुननेवाले कारीगर; जिसको बनाकर सैकडों वर्ष हो गए तब भी जो ऐसा लगता है मानो कलही पूरा हुआ हो वह यमुना नदीके किनारेपर स्थित ताजमहल को बनानेवाले कारीगर; जिनका हजारों वर्षों के पूर्व का रंग आधुनिक रंगशास्त्रविदों को भी चकमा दे रहा है, जिनकी चित्रकारी की कुशलता से मोहित हो पश्चिम के चित्रकार जिनके फोटो लेने के लिए वर्षों तक यहाँ आकर रहते हैं, जिनके कामों को पूरा करने के लिए अनेक वर्ष उत्साह, अध्यवसाय और दृढ परिश्रम की आवश्यकता थी वे अजंटा, एलोरा की गुफाएँ; जिनका रचना-रहस्य महान् एंजिनियरों को भी अब तक विदित न हुआ वे हिलती मीनारें और दीपमालिकाएँ बनानेवाले भोले-भाले और सादे कारीगर उत्पन्न करने का गौरव किसे प्राप्त है? इसी आर्यभू को!

दीपराग अलापकर दीप-मालिका प्रज्वलित करनेवाले, पर्जन्यराग गाकर वर्षा करानेवाले, कोकिलकण्ठसे सर्प जैसे विषहरे जीवों को मुग्ध करनेवाले, हिरन जैसे चपल और भीरु प्राणि को कण्ठ की मधुरता से तल्लीन करनेवाले संगीत-शास्त्र-विशारदों की जननी कौन है? यही हिन्दभूमि।

हिन्द-भूमि के नाम का डंका केवल हिन्द-पुत्रोंने ही नहीं बजाया है किन्तु उनको इस पवित्र भूमि की धवल कीर्ति दिगंत में प्रसृत करने में अनेक स्त्रियों ने भी सहाय्यता की है जो साध्वी पतिव्रता, तत्त्वज्ञानी, और शूरवीर थीं। राजा हरिश्चंद्र की तारामति,श्रीरामचंद्रजी की जानकी, राजा नल की दमयंति, पांडवों की द्रौपदी, अत्रिऋषिपत्नि अनसुया इनका पतिव्रताधर्म आर्यावर्त के पुण्यसंचय की वृद्धि करने ही में सहाय्यक हुआ।

बडे बडे ऋषियोंको अपने ब्रह्मज्ञानसे नीचा दिखानेवाली गार्गी,वैसेही मैत्रेयी इन स्त्री-रत्नों के श्वसन से इसी आर्यभू का वायुमण्डल सुगंधित एवं पवित्र नहीं हुआ, यह बात कहने की धृष्टता कौन कर सकता है?

झासी की रानी लक्ष्मीबाई, वीरमाता जीजाबाई, परम पवित्रता की जो प्रत्यक्ष प्रतिमाही थी वह देवी अहल्याबाई इनके चरित्रों के अवगाहन से किसके हृदय में अभिमान की, आनंदकी, और आश्चर्य की वृत्तियों स्फुरित न होंगी?

बडे बडे वीरों के हृदयों में भय उत्पन्न करनेवाला लक्ष्मीबाई का शौर्य और धैर्य, अपना पुत्र स्वीकृत कार्य में यशस्वी होवे इस हेतु से माता जीजाबाई का समय समय पर किया हुआ उपदेश, और अहल्याबाई की कडी तपस्वी वृत्ति स्मरण कर किस आर्यपुत्र के हृदय में स्वाभिमान के भाव न उमडेंगे?

अपार संपत्ति, अपरिमित सत्ता, अप्रतिम सुंदरता से युक्त रहते भी जिन्होने आमरण अपना आचरण शुद्ध एवं अत्यन्त निष्कलंक रखा; मातृस्नेह से जिन्होने प्रजापालन किया, जिन्होने अहर्निश ईश्वर से यही प्रार्थना की उनसे कभी भी और किसी भी प्रकार का अन्याय न हो; जिन्होने करोडों रुपये खर्चकर केवल भूतदया से तालाव, कुएँ, धर्मशाला और घाट बनवाए, अन्नसत्र चलाए, मन्दिर बनवाए और सैकडों देवस्थानों को वर्षासन नियत कर दिए; उस अहल्याबाई की जीवनी

अखिल मानवजाति के स्त्री पुरुषों को आदर्श है। वे देवीजी अहिल्याबाईनी परम कर्मयोगी और जीवन्मुक्त थीं। इस कथन का विरोध कौन पापी करेगा ?

इस प्रकार जिस देश में बडे बडे सत्त्वधीर राजा, तत्त्ववेत्ता, प्रसिद्ध ग्रन्थकार, वैयाकरणी, धर्म संस्थापक, साधु,कवि;संशोधक, कारीगर पुरुष एवं शूर, साध्वी, राजकाजकुशल स्त्रियां हुईं, उस देश की महति जितनी गाई जाय थोडी ही होगी। जिसमें चारों कटिबंधों की जलवायु मिलती है, जिसमें सब प्रकार के धनधान्य की समृद्धि है, बडी बडी पवित्र नदियां, अत्युच्च पर्वत, अनेक तीर्थ, नानाधर्म एवं पंथ के लोग हैं, जहां की जमीन उपजाऊ है, जहां अगणित संपत्ति थी और अब भी है, जिसके भूगर्भसे असंख्य धातु और उपधातु पुजोए जाते हैं; वह सुवर्णभूमि, वह हिन्दुस्थान वास्तव में धन्य है। इसी लिए यह वचन भी सत्य है कि

" दुर्लभं भारते जन्म।"

सभ्यताओं का कलह।

जिस प्रकार भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें युद्ध हुआ करते हैं उसी प्रकार उन राष्ट्रों की सभ्यताएँ भी परस्पर झगडती रहती हैं। अन्त में जब एक राष्ट्र दूसरे की आत्मापर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह विजय जड देह पर प्राप्त किए विजय से कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है। जब कोई राष्ट्र दासता में पड जाता है तब केवल राजा के अधिकार के हक और फौजी हक ही उनसे छीन लिए जाते हैं। परन्तु जब परकीय सभ्यता जित राष्ट्रकी सभ्यता पर अधिकार करती है तब उनका आध्यात्मिक खजानाही पराए हाथोंमें चला जाता है और कालांतर से वह नष्ट होता है और सामुदायिक आत्माकी विशेषता नष्ट हो जेताओं के साथ एकरूप हो जाता है।

सभ्यता की दासता का रूप राष्ट्रीय भाषासे अच्छा तरह जाना जा सकता है। जो लोग मातृभाषा का त्याग करते हैं अथवा जो उसका त्याग करने को विवश किए जाते हैं, वे पराई भाषा को अपनाते हैं। ऐसा होते ही वे आत्मीयता को खो बैठते हैं। अपनी सभ्यता की कल्पनाओं को व्यक्त करने का तथा उन कल्पनाओंकी परंपरा कायम रखने का एकमात्र साधन मातृभाषा है। विशिष्ट कल्पनाएं एवं भावनाएं लोगों की मातृभाषा में ही व्यक्त की जा सकती हैं। संस्कृत में कुछ शब्द-संज्ञाएं ऐसी हैं कि उनके पर्यायवाची शब्द अन्य भाषाओं में कदापि मिलना संभव नहीं। अतः किसी विशेष मानवजाति की आत्मा को व्यक्त करना हो तो उसे उस जाति की मातृभाषामें ही पूर्णतया व्यक्त कर सकते हैं।

परकीयों की भाषा के साथ ही मनुष्य उनकी विचारपद्धति भी उठाता है। परकीयों के विचारों की आदत पड जानेसे पराए ध्येय भी पसंद होने लगते हैं। अनन्तर इस नवीन ध्येय के अनुसार मनुष्य अपना जीवनक्रम ही बदल देता है। इस बात को खूब जान कर ही जेता लोग अपनी जीत को पक्की करने के लिए, जित राष्ट्रपर अपनी भाषा लादते हैं। जो अंग्रेज आयर्लैण्ड में जाकर बसे थे तथा जिन्होंने आइरिश भाषा को अपनाया था उन अंग्रेजों के लिए स्पेन्सर ने जो कुछ कहा था वह स्मरणीय है। वह कहता है, " शब्द क्या हैं? अंतःकरण का प्रतिबिम्ब हैं! इससे इन लोगों के मुह से आइरिश भाषा ज्यों ही आने लगेगी त्यों ही उनका हृदय भी आरिश हुए बिना रह नहीं सकता। क्यों हृदय के भावों में खलबली होने ही से वे जिह्वाद्वारा बाहर प्रवाहित होते हैं। "

जर्मनों का पोलिश लोगोंपर जर्मन भाषा का लादना तथा आल्सेस-लोरेन प्रांत के फ्रैंचों पर

जर्मन भाषा का लादना, ब्रिटीश साम्राज्य के दक्षिण आफ्रिका में डच भाषा को होनेवाला विरोध, कनेडा के कुछ स्कूलों में फ्रेंच भाषा सिखलाने की कानूनी मनाई आदि उदाहरण स्पष्टतया यही बतलाते हैं कि कई जेता राष्ट्र जित राष्ट्रों में अपनी भाषा का प्रचार बढाने एवं उसे उनपर लादने का प्रयत्न किस प्रकार करते हैं। हिन्दुस्थान में इंग्लिश भाषा के संबंध में इस प्रकार का कोई कानून नहीं है, परन्तु यह कार्य कानून के बिना ही यहां होता है सो भी प्रत्येक स्कूल एवं कालेज में अंग्रेजी भाषा को जो महत्ता प्राप्त है उससे, सरकारी नौकरी और सरकारी कार्यों में इस भाषा की जो आवश्यकता है उससे होता है। सभ्यता का दूसरा अंग है धर्म। सभ्यता के झगडे में धर्म का प्रश्न कैसे महत्त्व का है सो तो तभी समझ में आ सकता है जब इसाईयोंके हिन्दुस्थान में तथा एशिया के अन्य देशों में, धर्म-प्रचार के कार्यों को देखें।

एक समय था जब कि ईसाई धर्म का प्रचार मनुष्यजाति का हित साधने की गरज से धर्म के उपदेशों से होता था। परंतु आज के व्यापार के युग में इस धर्म प्रचार का उपयोग द्रव्योपार्जन एवं साम्राज्यवृद्धि के उद्देश से किया जा रहा है। ईसामसीह ने ऐसी आज्ञा कदापि नहीं की कि अपनी जाति का वा अपने देश का स्वार्थ साधने के लिए इन उपदेशों का प्रचार किया जाय। दूसरे जो लोग आज इस धर्म का प्रचार करते हैं उनकी खुद की श्रद्धा भी इस धर्मपर नहीं है। अतः ईसाई राष्ट्र धर्मप्रसार के नामपर अपने धर्म की विटंबना ही कर रहे हैं।

जिस धर्म का प्रचार आजकल संसार भरमें करनेकी कोशिश की जा रही है वह वास्तवमें इसामसीह—प्रणित धर्म नहीं रह पाया है। आधुनिक पश्चिमी सुधार के आधार पर लौकिक लक्ष्य से मिलनेजुलनेवाला वह मुलायम धर्म है। ईसामसीह के उपदेशों का मुख्य सार वास्तवमें हमारे योगतत्त्वज्ञान से मिलता जुलता तथा पारमार्थिक स्वरूप का है। इससे हिन्दुस्थानी पहले ही जिसे जानते थे उस तत्त्वज्ञान का स्वीकार हिन्दुओं ने कभी का कर लिया होता। परन्तु ईसामसीह ने वास्तव में जो कुछ सिखलाया उसका उपदेश न कर, उपदेश उस बात का किया जा रहा है जिसको मिशनरी लोगों की मर्यादित बुद्धि समझती हैं कि ईसामसीहने सिखलाया होगा। हिन्दुस्थान ने स्वयं भी पूर्व समय में बाहरी देशोंमें आर्य धर्म फैलाने का कार्य किया था। परन्तु उसने किराए के उपदेशक और प्रचारक नहीं भेजे। वह कार्य उन सच्चे संन्यासियों के सुपुर्द किया गया था जो प्रेम और कर्तव्य की भावना से प्रेरित थे। इन संन्यासियों ने अपना धर्म ऐसे लोगों पर भी जबरन नहीं लाद दिया जो उसका स्वीकार करने में एतराज करते थे। तथा उन लोगोंकी सांसारिक आपत्तियोंसे लाभ उठाकर और उन लोगोंकी ऐहिक वस्तुओंकी लालचसे लाभ उठाकर यह धर्म उन लोगों पर लादा न गया था। हिन्दुस्थान में धर्म-प्रचार करनेवाले प्रायः सभी ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्मांतर किए हुए लोगों की राष्ट्रीय भावनाएं नष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है। इसीसे तो सभ्यता के झगडे में इस धर्मप्रसार को बहुत बुरा स्वरूप आया है। हिन्दुस्थान में कोई मनुष्य जब ईसाई बनता है, तब उसका ईसाई नाम रखा जाता है, उसके शरीर पर 'कोट, पँट' आदि कपडे आ जाते हैं और उस मनुष्य के पुनः हिन्दु बननेके मार्गमें गोमांसभक्षण की तटबंदी की जाती है। कई उदाहरण दिए जा सकते हैं कि पश्चिम के देशोंने ईसामसीह का क्रास अपना राष्ट्रीय झण्डा कैसे एकरूप बना दिया है तथा राजनैतिक स्वार्थ साधने के लिए एक उपाय के नाते ईसाई धर्म-प्रसारका वे लोग किस प्रकार उपयोग कर लेते हैं।

यूरोप में यदि कोई ऐसा देश है जिसमें ईसाई धर्म की अधिक विडम्बना हुई हो तो वह देश फ्रान्स है। परन्तु यही देश बडी चिंता रखता है कि उसके उपनिवेशों में ईसाई धर्म का प्रसार हो। फ्रेंच प्रधान मण्डल के सचिव ने किसी समय पार्लिमेंट में कहा था कि "अधार्मिकता का भाव ऐसी चीज नहीं है जो उपनिवेशों में निर्यात की जाय।" कारण स्पष्ट ही है कि स्वदेश में यद्यपि ईसाई धर्म नामशेष भी

हो जाय तो चिंता की बात नहीं, परन्तु उपनिवेशों में धर्म की महत्ता घट जानेका मतलब है वहाँ का साम्राज्य नष्ट होना। आफ्रिका के नीग्रो लोगों में धर्मप्रचार का काम धडाके से चलाने का कारण यही है कि मुसलमानी धर्मका स्वीकार करनेपर उनमें जो उग्रता एवं यूरोपियनों के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है, उसे रोकना तथा भविष्यत् में होनेवाले विरोध को टालना।

आजकल ईसाई धर्म के नाममात्र के अनुयायी धर्म-प्रचार की इस नीति के अनुकूल व्यापारी स्वरूप अपने धर्म को देने की चेष्टा कर रहे हैं। आजकल इश्तेहार को बहुत महत्त्व है। इसे देख वे अपने धर्म को इश्तेहार का रूप देने की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं। तथा उन्होने "Church Advertising and Publishing Department" नामक एक विभाग भी खोल दिया है और उसीके जरिए, 'The Associated Advertising Clubs of the world' नाम की संस्थाएँ भी स्थापित की गई हैं। "पश्चात्ताप पाओ और ईसामसीह की सेवा में लग जाओ!" "समझलो कि हमारे धार्मिक माल से संसार को क्या लाभ है?" स्वर्ग के मार्ग का गाइड चाहना हो तो हमारे पास आइए!" उक्त संस्थाओं का कार्य है कि ऐसे इश्तेहार संसार-भर में फैलावें। यूरोपीयन राष्ट्र अपनी राजकीय सत्ता संसार में बढाने के लिए ईसाई धर्म के इस साधन का उपयोग करने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। उन राष्ट्रों की स्पर्धा करने को आगे बढे हुए जापान जैसे पूर्वीय राष्ट्र को बडी चिंता हो गई है। अतः वहाँ के नीतिज्ञ सरकारके सन्मुख ऐसे विचार प्रकट कर रहे है कि उन लोगों की बराबरी करने के लिए जापान को भी उसी नीति से बौद्ध धर्म का प्रचार संसार में करना चाहिए।

इस प्रकार पश्चिमी सभ्यता का अधिकार हिन्दु-स्थान पर करा देने का प्रयत्न यद्यपि ईसाई धर्म कर रहा है तथापि इस सभ्यताकी लडाई को जो धार्मिक स्वरूप अभी है वह न रह कर उसे राजनैतिक स्वरूप निःसंदेह प्राप्त होगा। इसका प्रथम कारण यह है कि हिन्दूधर्मके प्रायः सभी अनुयायियों में परमत के प्रति असहिष्णुता क्वचित् ही दीख पडती है। वेदांत के उदात्त तत्वों के कारण उनकी दृष्टि व्यापक बन जाती है। इसके सिवा हिन्दू धर्म का अधिकारवाद भी उनकी दृष्टि व्यापक करने में सहाय्यक होता है। अधिकारवाद यह कहता है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक ही प्रकार के धार्मिक आचार-विचार ग्रहण करने के योग्य नहीं होता; अतः उनकी ग्रहणक्षमता के अनुसार वे भिन्न भिन्न मतों का स्वीकार करें और वैसा आच-रण करें। पश्चिम के लोगों में यह क्षमता पहले नहीं थी पर अब वह उनमें उत्पन्न होने लगी है। प्रत्येक ईसाई राष्ट्र के सुशिक्षित लोगों में प्रायः सभी नाम-मात्र के ईसाई रह गए हैं। उनकी इस उदासीन वृत्ति के कारण श्रद्धालु ईसाइयों को इतर धर्मों के संबंध की आक्रामक नीति को घटाना आवश्यक हुआ है। इसी प्रकार वहाँ ऐसे भी विचार शीघ्रता से प्रसृत हो रहे हैं कि धर्म प्रत्येक व्यक्ति की स्वतः की खास बात है; विचार की स्वतंत्रता प्रत्येक मनुष्य का हक है; जिस धर्म ने किसी राष्ट्र में उत्क्रांति कराई है वही धर्म उस राष्ट्र के लिए योग्य है; यदि अतीन्द्रिय ज्ञान होना मनुष्य के लिए संभवनीय है, तो उसका ठेका किसी खास राष्ट्र के अथवा किसी खास धर्म के लोगों को नहीं मिल सकता; धर्म का उद्देश यही है कि सर्वसामान्य मानवजाति की उन्नति करावे। इससे मनुष्यों में परस्पर वैरभाव उत्पन्न न होना चाहिए।

इस प्रकार हिन्दुधर्मीयों में प्रथमही से स्थित तथा पाश्चिमात्यों में नवीन उत्पन्न हुई सहिष्णुता के कारण सभ्यता के झगडे में धर्म को जो महत्त्व था सो अब जाता रहा और अब उसे शुद्ध राजनैतिक रूप प्राप्त हो रहा है। इसी बात का विचार अब करना है।

जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर राजकीय अधिकार कर लेता है तब जेताओं की सभ्यता का प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड कर अधीन राष्ट्र की सभ्यता धीरे धीरे सत्ताधारी राष्ट्र की सभ्यता से मिल जाती

यदि अधीन राष्ट्र जंगली हो तो ऐसा होने में दोनों को लाभ होता है। क्यों कि जंगली राष्ट्र धीरे धीरे सुधारता जाता है। साथ ही जेताओं का लाभ भी बढता जाता है। इसी दृष्टि से, हिन्दुस्थान में पश्चिमी सुधारों का प्रचार करने की नीति का समर्थन करते समय मेकालने कहा था कि सुधरे हुए देशों से केवल व्यापार करना भी जंगली लोगों पर राज्य करने से अधिक लाभकारी है। अतः हिन्दुस्थान को सुधार कर इंग्लैण्ड के व्यापार के लिए अधिक ग्राहक मिलाने का प्रयत्न करना हानिकर है। मेकाले के ये विचार सत्ताधारी पश्चिमी राष्ट्रों को पूर्णतया संमत हैं और उनके अधिकार में जो देश हैं उनमें सुधारों का प्रचार कर स्वार्थ-साधन करने में वे लगे हैं। जित लोगों में वे जिन सुधारों का प्रचार कर रहे हैं उनका मुख्य अंग है "अधिक आवश्यकताओं की वृद्धि करना"। इसीसे तो हिन्दुस्थानमें दिन प्रतिदिन इंग्लीश मोटारों की तथा स्काच व्हिस्की की मांग बढ रही है। आफ्रिका के नीग्रो की भी आवश्यकताएं बढ गई हैं इससे उन आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए वे युरोपीय व्यापारियों को हाथी दाँत देकर उनसे कांचके मणि तथा टीन के बर्तन लेते हैं।

इस प्रकार कोई सुधरा हुआ राष्ट्र अपनी सभ्यता जंगली राष्ट्रों पर लाद सकता है। परन्तु हिन्दुस्थान जैसे जो देश प्रथम ही से सुधरे हुए हैं और जिनकी स्वतन्त्र सभ्यता विद्यमान होती है ऐसे देशोंमें बडी कठिनाई हो जाती है। ऐसे राष्ट्र पर अधिकार प्राप्त होने पर सत्ताधीशों के लिए दो मार्ग रहते हैं। एक अधीन लोगों की संस्कृति में प्रत्यक्ष रीतिसे कोई भी हस्तक्षेप न करना, केवल परस्पर मेलमिलाप से पराई सभ्यता का जो कुछ अप्रत्यक्ष परिणाम होगा उसे होने देना; या ऐसी शिक्षा की नीति का अवलंबन करना जो उनकी सभ्यता को पोषक एवं अनुकूल हो। अंग्रेज सरकारने दोनों प्रकार की नीतियों का प्रयोग हिन्दुस्थान में जारी किया है। परन्तु इन दोनो नीतियों में राजकर्ता के लिये कुछ न कुछ भय अवश्य है। यदि जित राष्ट्रको उसकी ही सभ्यतामें रहने दिया तो राजकर्ताओं की सभ्यताके विरोधक जो जितों के ध्येय एवं उनकी आकांक्षाएं वे सदा के लिए बनी रहेंगी। और यदि राजकर्ता अपनी निजी सभ्यता जितों में प्रसृत करें तो कुछ काल उपरान्त वे जित लोग राजकर्ताओं के समान दर्जे के हो जावेंगे और राज्याधिकार के हक मागने लगेंगे। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि जेताओं का जितोंसे जो सभ्यता एवं राजनीति का संबंध है वह एक ही प्रश्न की दो बाजुएँ हैं। अब जितों की दृष्टि से देखें। यदि अंग्रेजों की सभ्यता का स्वीकार करके तथा उनके साथ समान दर्जा प्राप्त करके स्वराज्यप्राप्ति भी कर ली, तो उसे सच्चा स्वराज्य नहीं कह सकते। क्यों कि उस दशामें उन्होंने अपना स्वत्त्व तो खो दिया है। मेकाले की भविष्यवाणी के अनुसार रंग को छोड अन्य सब बातों में वे पूर्णतया अंग्रेज बन जावेंगे। ऐसे 'काले साहब' अब भी हम लोगों में दिखाई देते हैं।

सभ्यता के कलह की दो तीन मुख्य बातों का ऊपर विचार किया गया है। उनसे विदित होगा कि अंग्रेज लोगों ने हिन्दुस्थान में पश्चिमी सभ्यता का प्रसार करने के लिए कौन कौन से प्रयत्न किए हैं। उनका तो यह धर्म ही है कि वे ऐसा करें। परन्तु यदि हम लोग मानते हैं कि हमारी आर्य-सभ्यता प्राचीन होने के कारण केवल फेंक देने की योग्यता की ही नहीं है, तो भगवान् श्रीकृष्ण के 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' इस उपदेश के अनुसार उस सभ्यता की रक्षा के लिए असीम प्रयत्न करना ही हमारा श्रेष्ठ धर्म सिद्ध होता है। केवल राजनैतिक आकांक्षा साधने के तथा राजनिष्ठ रहने के मोह में यदि हम लोग फँस जाँय और अपना परंपरागत आत्मवैभव खो बैठें, तो उससे भारी हानि दूसरी नहीं हो सकती। "अपनी आत्मा खोकर सारे संसार का राज्य भी मिले, तो उससे लाभ ही क्या ?" यह वचन सदैव दृष्टि के सन्मुख रखना चाहिए।

---:o:---

संपूर्ण आरोग्यका मार्ग।

'अन्न' का विचार करते समय हमें पुराने समय से आई हुई रीति और इच्छा, दोनों के अधीन होना उचित नहीं। क्यों कि हमारे शरीर को जिस रीति की आदत डालो वही आदत उसे पडती है और उसी के अनुसार हमारा शरीर इच्छा करता है। अच्छे उद्देश से अच्छी आदतें डालना हो, तो वह बिलकुल सरल बात है। शरीर को भी जब नई आदत पड जाती है तब वह पहली आदत के समान ही नई आदत के अनुसार अन्न की इच्छा करता है।

वैद्यशास्त्रकी उन्नतिके होने पर भी रोगोंका फैलाव बहुत ज्यादा है। केवल इंग्लैंड में १९२५ में अस्व॰स्थता के कारण २,५०,००,००० लोग एक हफ्तेतक काम करने न जा सके। इसलिये आधुनिक विद्वान् लोग आहार और रोग के संबंध का विचार पहले से अधिक करते रहते हैं।

नये आरोग्यमंडल की अन्नकमेटीके सभापति डॉ॰ बेलफ्रेज ने "What is best to eat?" "कौनसा भोजन अच्छा" नामक एक उत्तम पुस्तक लिखी है। उसमें डॉ॰ बेलफ्रेज लिखते हैं- "गत सोलह सालमें जो जो अविष्कार हुए हैं उनसे उत्तम अन्न के संबंध की पुरानी कल्पनाएँ निःशेष होगई हैं। जैसे, पहले यह समझा जाता था कि जिस अन्नसे शरीरमें काफी उष्णता पैदा होती है वह उत्तम है। परन्तु आजकल यह सिद्ध हो गया है कि अन्न की उत्तमता उसके वजन पर या उसके परिमाण (Quanti) पर नहीं है, वह अन्न के गुणोंपर (Quality) अवलम्बित है। और यह उत्तमता उसी प्रमाण में रहेगी जिस प्रमाण में अन्नमें जीवनद्रव्य या जीवन-पदार्थ (Vitamine) होंगे।

यद्यपि अभीतक यह निश्चित नहीं हुआ कि जीवन-द्रव्यों के घटक पदार्थ (Chemical composition) क्या क्या हैं, तो भी यह निश्चित है कि जीवन और आरोग्य उनके बिना असम्भव हैं।

व्हायटामिन याने क्या?

इसका वर्गीकरण इस प्रकार है व्हायटामिन 'ए,' व्हायटामिन 'बी,' व्हायटामिन 'सी' और शायद व्हायटामिन 'डी,' इ॰।

डॉक्टर बेलफ्रेज के मतानुसार व्हायटामिन 'ए' दूध, मक्खन, अंडे में का पीला भाग आदि में रहता है। यदि छोटे बच्चों को व्हायटामिन 'ए' न मिले तो वे दुर्बल हो जाते हैं और मुडदुसा (Rickets) के समान रोग होता है। कॉडलिव्हर आइल से फायदा होने का कारण यही है कि उसमें व्हायटा-मिन 'ए' बहुत रहता है।

गेहूं, चांवल, बार्ली और अन्य अनाजों के बाहरी बकलों में (Bran) और उनके कोमों में (Germ) जादहतर व्हाइटामिन 'बी' रहता है।

अनाज साफ करने की आधुनिक रीति में दुर्दैव से वे दोनों नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये कई विद्वान् यह कहते हैं कि गेहूं, चांवल और अन्य अनाज बकलों सहित खाना चाहिये। बकला निकाला हुआ साफ आटा (सूजी, परथन आदि) और साफ चांवल ही जादहतर लोगों के खाने में आते हैं और इसलिये उन्हें व्हाइटामिन 'बी' बिलकुल मिलता नहीं।

डॉक्टर बेलफ्रेजने कुछ उदाहरण दिये हैं जिनसे मालूम होता है कि व्हाइटामिन 'बी' की अन्न में कितनी आवश्यकता है।

गत महायुद्ध में डेनमार्क में लोगोंको बिलकुल मांस न मिलता था और उन्हे बकले न निकाले हुए गेहूं, राय और बार्ली खाना पडी। उन्हें दूध, मक्खन, आलू और कच्ची भाजी भी मिलती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी मृत्युसंख्या प्रति सैकडा ३४ के प्रमाण में कम हो गई।

दूसरा उदाहरण मेसोपोटेमिया का है। वहां कुछ काल तक गेहूं के साफ रवा, परथन आदि के पदार्थ और डब्बों में के खाद्य पदार्थ ही सैनिकोंको मिलते थे। क्यों कि ताजा दूध, अंडे, भाजी, फल आदि पदार्थ बिलकुल न थे। इससे बीमारी बढ गई और रोगियों का प्रमाण बढ गया। परन्तु दुर्दैव से सफेद रवा, परथन आदि पदार्थ समाप्त हो गये और चक्कीसे पीसा हुआ आटा उन्हें खाना पडा। नतीजा यह हुआ कि अंडे, फल और भाजी न मिलने पर भी बीमारी कम हो गई।

व्हायटामिन 'बी' निकाले हुए पदार्थ कुछ बंदरों को दिये गये। तब वे बीमार होकर मरने को हो गए। परन्तु उन्हें व्हायटामिन बी वाले पदार्थ देते ही वे बिलकुल ताजे और सुदृढ बन गये। यह भी एक अनुभव है।

व्हायटामिन 'सी' पदार्थ पालाभाजी और संत्रा, अंगूर आदि रसदार फलों में रहता है। उसी तरह वह कच्चे टोमॅटोमें भी रहता है।

डॉक्टर बेलफ्रेज कहते हैं कि हमलोग अन्नभी बहुत खाते हैं।

सारांश, सदैव मांसाहार करनेवाले राष्ट्र के विद्वान् लोगभी खाने के बारेमें जो कुछ कहते हैं वह पढकर और सुनकर हमें उसके बारेमें विचार करना चाहिये और योग्य आहार माने पथ्य, हित, मित समझकर योग्य अन्न योग्य प्रमाणमें भक्षण करके अपना आरोग्य, कार्यक्षमता और दीर्घायु बढाना चाहिये।

इसके लिये नमस्कार का व्यायाम सब स्त्रीपुरुषों को सब प्रकारसे किस तरह आवश्यक है आदि पहले बता चुके हैं। अब 'आहार कौनसा करना चाहिये?' इस विषय में युरप् और अमरीका के विद्वानों के मत स्पष्टतासे लिखे हैं। इससे सारांश क्या निकलताहै देखो।

१ नित्यके आहार में बहुतसा ताजा दूध (न उबाला हुआ और स्टेरिलाइझ न किया हुआ), मक्खन, मलाई और मांसाहारियोंको अंडे भी चाहिये।

२ न कूटे हुए चांवल, याने सिर्फ ऊपर का बकला निकाले हुए, गेहूं, रवा, (मैदा आदि नहीं,) बाकी दाल के पदार्थ भी ऊपरी बकले सहित चाहिये।

इन पदार्थों को पानी में भिगाकर उन्हें जब कोम आजाते हैं तब वैसेही खाना अच्छा है। मटकी, चना, मूग, पावटा, बटरा, उडद, हुलगा आदि अनाजों को कोम आने पर बांटकर उनमें खोपरा, नमक, जीरा आदि मिलाकर खाना हो तो उनमें उत्तम बघार देना चाहिये। तब वे खानेमें स्वादिष्ट लगते हैं। यह बात अनुभव से ही लिखी है। उनमें पालाभाजी, भिंडी आदी बारीक टुकडे करके डालें तो स्वाद और भी बढता है। क्यों कि इन पदार्थों को पकाने से (पानीमें उबालनेसे) उनमें का व्हायटामिन 'बी' कम हो जाता है।

महाराष्ट्र देश में ताजे फल, अंगूर, संत्रा आदि गरीबों को सदैव मिलना असम्भव बात है। परन्तु बकला न निकाले हुए अनाज, न कूटे हुए चांवल आदि सबको मिल सकता है।

इसी तरह मेथी, पालक, मूली, गाजर, लाल कुमढा, लौकी आदि पदार्थ बारीक टुकडे कर या उनमें द्विदलधान्य मिल कर खाना भी असम्भव बात नहीं है।

कच्चे टोमॅटो के बारीक टुकडे कर उसमें दही डालकर अच्छी चटनी बनती है। प्याज तो गरीब लोग हरहमेश ही खाते हैं।

परंतु यह अन्न भी जितना चाहिये उतनाही खाना चाहिये और इसके साथ आबाल-वृद्धों ने थोडा तो भी दूध अवश्य लेना चाहिये। उनको दोनों समय के भोजन के साथ ताजा और न तपाहुआ दूध मिलने की व्यवस्था समाज को करना आवश्यक है। चाय, काफी, कोको, शराब आदि मादक पेय और तमाखू, गांजा आदि उत्तेजक पदार्थ वर्ज्य करना चाहिये।

यह अन्न और नमस्कार का नियमित व्यायाम अपनी आर्यभूमि का तेज पांच दस साल में ही बिलकुल बदल डालेगा।

---o---

देव-देवताओं के नाटक खेलें जाँय या नहीं ?

(ले०-श्री० व्यं० ग० जावडेकर, धूलिया)

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥

मालविकाग्निमित्र ।

देश की आज की दशा में नाटक करने में आयु का तथा द्रव्य का व्यय करना उचित है अथवा अनुचित है ? इस विषय में जो मेरे विचार हैं वे प्रसिद्ध हैं।

आज मैं बतलाना चाहता हूं कि देवदेवताओं के नाटकों के संबंध में मैं क्या सोचता हूं। मेरा तो निश्चित मत है कि नाटकों से सच्चा सबक सीखनेवाला व्यक्ति हजारोंमें एक भी मिलना कठिन है । नाटक की अच्छी बात तो कोई कभी भी ग्रहण नहीं करता। उसकी बुराई भर सर्वत्र ग्रहण की जाती है। यह सहसा कभी भी नहीं होता कि उसमें का वीर्य का, शौर्य का, पराक्रम का, पौरुष का, स्वार्थत्याग का अथवा उदार चरित्रका भाग केवल नाटक देखकर किसीने ग्रहण किया हो। इसके विपरीत उसमें की शृंगारिक भाषा, विनोदी चुटकुले, तथा नखरे की भर सब जगह नकल की जाती है। इस कथन की सत्यता अजमानी हो तो शहरों के तरुण स्त्रीपुरुषों को देखिए और आपको तुर्त ही वह सत्यता प्रतीत हो जावेगी। यह बात एक उदाहरण से ही स्पष्ट किये देता हूं।

शूरों तथा वीरों के ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटकों को मैं अलग रख देता हूं। केवल एक प्रासंगिक नाटक की ही बात लेता हूं। खादी और जनसेवा का पाठ जनता को सिखलाने के हेतु असहयोग के जमानेमें ' जनता-जनार्दन ' नाम के मराठी नाटक ने जन्म लिया। पिछले आठ वर्षों में यह नाटक भिन्न भिन्न स्थानों में कई बार खेला गया। इस नाटक को खेलनेवाली 'नाट्य-प्रसारक-कंपनी' धूलिया में दो वर्ष पूर्व आई थी। अब भी कुछ हो दिनपूर्व यह नाटक खेला गया। यह नाटक इतनी बार खेलाजाने पर क्या प्रेक्षकों को नखशिखांत खादी में देखने की आप अपेक्षा कर सकते हैं ? नखशिखांत की बात तो बहुत दूरकी है परन्तु केवल सिर पर गांधीटोपियों की संख्या भी यदि देखते तो विदित होता कि प्रेक्षकों की अपेक्षा गांधी टोपियां रंगमंच पर ही अधिक निकलतीं। नाटक देखनेवालों में देशी पुतली-घरों के बने कपडे पहने लोग भी कम थे। हजारों लोग तो शुद्ध विलायती चमक-भडकवाले कपडे पहिनकर नाटक देखने आये थे। ये बातें क्या दिखलाती हैं ? जो बात एक धुलिया नगर की वही स्थूल मान से अन्य नगरों की जानिए। इन बातों से यही तात्पर्य निकलता है न कि नाटक खेलने से सद्गुण-वर्धन नहीं होता ? वह यदि होता है तो केवल आचरण ही से होता है। महात्मा गांधीजी का नीतिमत्व नाटकों के देखने से नहीं हुआ प्रत्यक्ष आचरण से निर्माण हुआ है।

अस्तु। अब देवदेवताओं के नाटकों का विचार करेंगे। उनके नाटक अधिक से अधिक श्राव्यकाव्य के नाते भले ही लिखे जावें परंतु मेरा तो स्पष्ट मत है कि वे दृश्य काव्य में कभी भी परिणत न किये जावें। ' काव्येषु नाटकम् रम्यम् ' के नाते उसे वाचनीय पुस्तक कहकर चाहे रखिए। परन्तु उसे रंगमंच पर कदापि न खेलिए। जिस समय हमारे

प्राचीन कवियोंने देवों के संस्कृत नाटक रचे उस समय संपूर्ण समाज एकधर्मी था। उस समय समाज में आर्यधर्मीय ही थे अन्य धर्मीयों की खिचडी न हुई थी। साथ ही आज की अपेक्षा उस समय का समाज अधिक धार्मिक एवं श्रद्धा युक्त था आज का समाज सर्व प्रकार से हीन एवं मिश्र हुआ है। अत एव हमारे रामकृष्ण आदि हमलोगों के तथा दूसरों के भी उपहास के पात्र हो गए हैं। रुक्मिणी, सीता, पार्वती और द्रौपदी जैसी प्रातःस्मरणीय स्त्रियों को क्या मुह में रंगाकर रंगमंच पर नचाना उचित है? ऐसा करना हिन्दु कहलानेवालों को क्या लांछनास्पद नाहीं है?

रुक्मिणी का काम करनेवाला व्यक्ति यदि पुरुष हुआ तो उसके भावभंगी को मानो अधिक जोर आता है। प्रेक्षकों को उसे देखकर यह तो कदापि मालूम नहीं होता है कि वे श्रीकृष्ण की पत्नी देख रहे हैं। यही मालूम होता है कि किसी वेश्याको देख रहे हैं। और परिणाम यह होता है कि मन श्रीकृष्ण-पत्नी के चरणों में लीन होने बदले में दुष्ट कामनाओं से ग्रस्त भर होता है। इस दोष का भागी कौन है? इसी से मेरा स्पष्ट मत है कि नाटकों में-विशेषतः देवा-दिकों के वा देवतुल्य व्यक्तियों के नाटकों में (यदि वे करने ही हों)—स्त्री—भूमिका लेनेवाली स्त्री ही होनी चाहिए। क्यों कि वह कैसी भी क्यों न हो निसर्ग उसे कुपथ पर नहीं जाने देता। और 'निसर्गशालीनः स्त्रीजनः' की मालविकाग्निमित्र की उक्ति के अनुसार उससे शालीनता का भंग नहीं हो सकता। नाट्यप्रसारक का 'रुक्मिणीस्वयंवर' नामक नाटक मैंने खास कर देखा। श्रीकृष्ण का काम कमलाबाई ने किया था और रुक्मिणी का काम सोनुबाईने किया था। पूरे नाटक भरमें निसर्गशाली-नता का भंग सोनूबाई द्वारा यत्किंचित् भी न हुआ। यही भूमिका यदि किसी पुरुषने ली होती तो उसने अनर्थ कर दिया होता।

मुसलमान और पारसी समाज कभी भी अपने देवादिकों को रंगमंचपर लाते हैं? कभी नहीं। यदि कोई मुसलमान इस प्रकार का तमाशा देखेगा तो उसका दिल उबल उठेगा। परन्तु हिन्दुओं का रक्त ऐसा जम गया है कि वह उनके देवोंकी विडंबना देखकर भी उबल नहीं उठता। हिन्दु और मुसलमान में बडाभारी अंतर यही है। मुसलमान धर्म की बात में जितना कट्टर उतना ही हिन्दु मलूल है। उसकी धार्मिक भावनाएँ जितनी प्रज्वलित उतनी ही इस-की भावनाएँ निस्तेज और निर्माल्यवत् बन गई हैं। ऐसी दशा में यदि हिन्दू जगह जगह मुसलमानों द्वारा कुचला गया तो आश्चर्य ही क्या?

मनुष्य में एक न एक बात का तेज आवश्यक होता है। वह मुसलमानों में है। हिन्दुओं में न तो धर्म का तेज है और न कर्म का। तब वे संसार में किसी के लातों की ठोकरें न खाय तो और क्या करें?

जो शिक्षा धर्म देता है उस धर्म को माननेवाले अत्यधिक निर्भय होना चाहिए। परन्तु यह सिद्ध हो चुका है कि हिन्दू सबमें अधिक डरपोक है। इसका कारण क्या है? इस का कारण है हिन्दुओं का ग्रांथिक ज्ञान। मुसलमानों में ऐसे ज्ञान को कोई नहीं पूछता। हिन्दुओं की दशा तो ऐसी हुई है कि न इधर के और न उधर के। इसीलिए तो गोता खा रहे हैं। गोता न खाने के लिए या गोते में न आने के लिए कोई भी एक आसन स्थिर होना चाहिए। हिन्दुओं का आसन सदैव ही अस्थिर रहता है। पाश्चिमात्य लोग भले ही वेदान्त को न माने परन्तु आधिभौतिक बातों में तो उन्होंने अपना स्थान पक्का मजबूत कर रखा है न। इसी लिए वे सर्वत्र विजयी हैं। न्याय या अन्याय का प्रश्न ही भिन्न है। वे खूब समझते हैं कि 'जिसकी लाठी उसकी ही भैंस' का न्याय ही संसार के आरंभ से अब तक चला आया है और अब भी चल रहा है। और हम लोग ठीक न्याय ही भूल गये इसलिए हमारी अधोगति हुई। हमारा इति-हास ही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जब जब हमने उसका आचरण किया तब तब हम ऊपर ही रहे।

जैनधर्मीयों की गणना हिन्दुओं में ही है। परन्तु इनकी धर्मभावनाएँ सामान्य सनातनीयों की अपेक्षा अधिक तीव्र होती हैं। करीब पंद्रह वर्ष पूर्व

अमलनेर नगर मे एक हिन्दू नाटक कम्पनी आई थी। उसका एक नट कल्पक था। उसने रंगमंचपर चुप बैठनेका कहते समय—यद्यपि पुस्तक में लिखा न था-कह दिया कि 'बिलकुल जैनों की देवता के समान हात जोडकर बैठ जाओ। ' नट ने इस वाक्य को सहज ही में कहा था, परंतु श्रोताओं में कुछ जैन ऐसी तीव्र धर्मभावनावाले थे कि वे अपनी देवता के नाम का यह उपहास न सह सके और नाटकगृह छोडकर चल दिये। उन्हे निकल जाते देखकर अन्य जैन प्रेक्षक भी चले गये। इस की जड क्या है ?

ईसाई धर्मोपदेशक निडर हो भरे बाजारमें कहते रहते हैं कि 'तुह्मारा श्रीकृष्ण चोर, जार, चुगलखोर और लबरा है' और सैकडों हिन्दु मुह बाकर सुनते रहते हैं। परन्तु एक का भी खून उबल नहीं उठता या किसी को अपनी देवता का यह गालिप्रदान असह्य नहीं होता। इसका मर्म क्या है ?

"जिसको निश्चय हो चुका है कि यह संपूर्ण विश्व ही मेरा घर है या यों कहिए कि मैं ही चर और अचर रूप में इस संसारमें संचार करता हूं।"

परन्तु इसके 'स्थिर' पद का उसे यथार्थता से बोध नहीं हुआ है इसीसे वह पागलकासा केवल सुनता ही रहता है। वस्तुतः वह कहीं भी स्थिर नहीं रहता; सर्वत्र 'अस्थिर' ही रहता है। इससे वह जगत् के उपहासके पात्र होता है।

अस्तु। अन्त में हमारा यही कहना है कि आजकल की मलिन वासनाओं की परिस्थितिमें रंगमंच पर देवदेवताओं को न लाना चाहिए। यदि पौराणिक नाटक ही करना चाहते हों तो देवदेवताओं 'माफ' करो। अन्य लोगों को चाहे रंगमंचपर खेंचिए। या केवल प्रासंगिक, ऐतिहासिक या सामाजिक नाटक खेलिए। मेरा यह कहना नहीं है कि उन्हे अवश्य करोही। केवल साम, दाम की दृष्टि से ही उन्हे करने के लिए मैं कहता हूं। मैं जानता हूं कि मेरा कहना कौन माननेवाला है। और मैं भी यह याचना नहीं करता हूं। मेरा उद्देश यही है कि विचारों को चालना मिले। जैन समाज वीरता दिखावे या न दिखावे, इतना सच है कि उसे परमेश्वरने सुस्थिति में रखा है। केवल हिन्दुओं का ही दैन्य है। और वह भी क्यों न हो ? जो हिन्दुसमाज माता लक्ष्मी और उसका कान्त भगवान् श्रीविष्णु का उपहास स्वतः करता है और दूसरों को करने देता है, उसके नसीब में दैन्य के सिवा अन्य क्या हो सकता है ? षड्गुणैश्वर्यसंपन्न भगवान् स्वयं ही कहते हैं'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' 'जैसा करो वैसा पावो' यह तो त्रिकालाबाधित सिद्धान्त है। अपने नाटक प्रायः ऐसे ही होते हैं जिनमें स्त्रियों का नाट्य भी पुरुष नट ही करते हैं। ऐसों का मुखावलोकन भी बडा पाप माना गया है। अपना पौरुष नष्ट होनेका एक कारण यह भी हो सकता है कि यह उक्त पाप अपना लोगों में बहुत फैल गया है !

आसनों का अनुभव।

'आरोग्य के लिए योग-साधन' नाम की पुस्तक के चारों भागों में से प्रत्येक की दो प्रतियाँ भेजकर मुझे अनुगृहीत कीजिए।

आपकी उक्त पुस्तक के चार भाग जो अबतक प्रसिद्ध हुए हैं, मैंने सावधानी सेपढे। उनमें बतलाए हुए कुछ आसनों का अभ्यास भी मैं पिछले डेढ माह से कर रहा हूं। आपने उसमें कुछ लोगों के अनुभव छाप दिए हैं। मेरे जैसे नवीनको जो कि आसनोंके संबंधमें प्रथम बार ही पड रहा है, वे अनुभव अवश्य ही कृतिप्रवण करनेमें अत्यंत उपयुक्त हैं। छः माहके अनुभवके पश्चात् मेरे अनुभवों का आपसे निवेदन करने का मेरा विचार था।

परन्तु डेढ माह के अल्प अवकाश में मुझे जो अनुभव हुआ वह आसनों के व्यायाम की उपयोगिता प्रमाणित करनेमें निश्चय करानेवाला होने ही से मैं आपको लिख रहा हूं। आप चाहें तो मेरा हाल छपवा सकते हैं। आपका अमूल्य समय मैंने लिया इसके लिए क्षमा चाहता हूं।

मैं प्रथम से ही अशक्त हूं। छुटपन में मैं प्राय व्यधियोंसे पीडित रहा करता था। और इस प्रकार व्याधियों ने मुझे ७। ८ वर्ष की उम्र होते तक तंग किया। अतः मैंने शिक्षा का आरंभ भी देर में किया। ऐसी दशा में भी इस वर्ष की आयु से अभी अभी तक याने सन१९२४ के दिसंबर तक मैं प्रायः किसी भी तीव्र रोग से बीमार नहीं हुआ था। उक्त वर्ष के जून मास से मलेरियाज्वर ने मुझे तंग करना आरंभ किया; और नोव्हेंबर के अंत में मैंने बिस्तर को पकडा। करीब देड माह मैंने ज्वर की पीडाके कारण बिस्तर न छोडा और ज्वर हट जाने पर मेरा शरीर अस्थिपंजरवत् हो गया।

अनंतर सन १९२६ के अगस्त तक मुझे कुछ विशेष कष्ट न हुआ। उक्त मास की २०।२१ तारीख से मुझे आमांश की शिकायत शुरू हुई। आदत की गुलामी से डाक्टरी इलाज आरम्भ हुआ। इलाज जारी रहते भी कुछ दिन तक अच्छी तबियत रहती और फिर कुछ बिगड जाया करता। इस प्रकार का हाल पिछले नवंबर तक रहा। उस मास में मुझे रक्तामांश हुआ। तत्पूर्व मुझे श्वेत आँव की शिकायत रहती थी। अतः इस अचानक फरक से मैं घबडा गया। तब मैंने एक डॉक्टर को इंजेक्शन देने की प्रार्थना की। इस प्रकार जैसे तैसे रक्तका जाना बंद हुआ। इतना होते होते दिसंबर की १५ तारीख आगई। रक्त का जाना तो रुका पर अन्य कई शिकायतों के कारण मेरा मन स्वस्थ और प्रसन्न न रहता था। प्रातःकाल कुछ हरारत सी रहती थी। मस्तक गरम रहा करता और सिर सुन्न रहता था। दोपहरके ३। ४ बजे चक्कर आते थे। ऐसी शरीर की दशा में मैं किस प्रकार पढता लिखाता? यद्यपि आँव रुकी थी, तथापि दस्त कितने ही बार होते थे। कभी तीन दस्त होते, तो कभी चार और कभी कभी तो पांच छः दस्त हो जाया करते। परन्तु तीन से कम दस्त होने का मुझे स्मरण नहीं है। मेरे स्वास्थ्य की इस दशा के कारण मेरे स्वस्थ सहपाठी मेरा उपहास भी किया करते थे जिससे मुझे अत्यन्त खेद हुआ करता था।

इस प्रकार मैं येन केन प्रकारेण दिन काट रहा था कि तारीख१५ दिसंबर को मेरे एक मित्र श्रीयुत गाडकर्णी के घर मैंने आपकी पुस्तकें देखीं। इतनाही नहीं उन्हे पढने की मुझे इच्छा हुई। फिर वह इच्छा चाहे इसलिए हुई हो कि मेरे बुरे दिन समाप्त होने को थे या अन्य किसी भी कारण से हुई हो। मेरे मन में आया कि इनमें से कुछ आसन करके देखूं। यदि आसन न सधे तो निष्क्रिय जीवन और औषधियों का योग तो लगा ही है?

अस्तु। इस प्रकार निश्चित कर दिसंबर की २५। २६ तारीख को मैंने शीर्षासन करने का प्रयत्न किया। प्रथम दिन में १ या देड मिनट से अधिक आसन कर न सका। क्रमसे पंद्रह दिन में मैं उस आसन को ६।७ मिनट तक करसका। आज वह आसन मैं अच्छी तरह १३ मिनट तक करता हूं।

जब मुझे शीर्षासन अच्छी तरह बनने लगा तब मेरा उत्साह बढा और अन्य आसनों के करने की इच्छा होने लगी। १९२४ के ज्वर से चंगा हो जाने पर मेरी थोंद निकलना आरंभ हुआ था। उसके लिए मैंने पश्चिमतानासन आरंभ किया। आरंभ में पैर के अंगूठों को हाथों का स्पर्श होना भी मुष्किल था। परन्तु पंद्रह दिन के अभ्यास से मैं इस आसन को दो मिनट तक अच्छी तरह करने लगा। तदनंतर आपकी पुस्तक में लिखे सर्वांगासनसंबंधी लोगों के अनुभव पढकर मैंने उस आसन को आरंभ किया। विशेष कष्ट न होकर मैं थोडे ही समय में इस आसन को बहुत देर तक करने लगा। तत्पश्चात् इसी आसन की आगेकी सीढी जो हलासन सो मैंने आरंभ किया। न जाने क्यों इस आसन के करने के पूर्व इसके संबंध में भय लगता था। परन्तु जब मैंने उसे किया तब प्रथम ही दिन निश्चय हुआ कि मेरा भय निष्कारण था। इससे पेट के उस भाग में जो नाभी के नीचे

को है और पैर के आगे के (Anterior) स्नायुओं को जो तान पडता है वह तो अवर्णनीय है तब प्रत्येक आसन में शिर के भिन्न भिन्न भागों के स्नायुओं को चालन देने का जो प्रयोजन है वह मेरे मनश्चक्षु के सन्मुख खडा हुआ और प्राचीन आर्यों की इस सशास्त्र एवं सर्वांगसुन्दर व्यायामपद्धति के संबंध में साभिमान आनन्द और आश्चर्य हुआ!

पूज्यवर! विषयांतर तो अवश्यही होता है और पत्र नियोजित लंबाई भी बढ रही है। परन्तु इसके होते हुए भी मेरी समझ में जो दो एक विचार महत्व के जान पडते हैं उन्हे यहाँ लिख देने की आपसे सविनय आज्ञा चाहता हूं।

किंचित् सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करनेवाले को तुर्त ही विदित होगा कि ब्रिटिशराज्य के आरंभ का सुखद काल-साथ ही हम लोगों का स्वतः की परिस्थिती का प्रगाढ अज्ञान और हमारे देश-भाईयों द्वारा चलाया हुआ राजकर्ताओंका स्वाभिमानशून्य एवं लज्जास्पद अंधानुकरण अब बदल गया है। महा-समर समाप्त होते ही या उसके पूर्वसेही हमारे देश के सामाजिक जीवनक्रम में महत्त्व के परिवर्तन हुए हैं और हो रहे हैं। देश की प्रत्येक बात की पराधीनता लोग समझने लगे हैं। अंग्रेजी राज्य के आरंभिक काल की पीढी अपनी प्राचीन सभ्यता की ओर जिस दृष्टि से देखती वह दृष्टि भी अब बिलकुल बदल गई है। पहले की यह घातक प्रवृत्ति कि 'जितना भर पुराना है वह सब बेकाम अतएव त्याज्य हैं,' नष्ट हुई है और स्वदेश की उन्नति को पोषक ऐसी यथातथ्य वृत्ति कि "प्राचीन भारतीयों की सभ्यता अत्यंत उज्ज्वल है और उन्ही भारतीयों के हम लोग वंशज हैं" आजकल के नव युवकों के हृदयों में उत्पन्न हो रही हैं।

मैं केवल अपनी व्यायामपद्धति के संबंध में ही बोलना चाहता हूं। एक समय हम लोग समझते थे कि सूर्यनमस्कार, बैठक तथा आसनों का व्यायाम करना केवल समय व्यर्थ खर्च करना है और उससे लाभ कुछ भी नहीं है। पर समयने अब पलटा खाया है। हम लोगों की चिकित्सक बुद्धि जागृत हुई है और वह अब हमे खाली बैठकर पूर्ववत् अंधानुकरण न करने देगी। आज के युवकों के हृदयों में सहजही यह भाव उठता है कि हमारे पूर्वज ऋषिमुनियों ने अत्यंत परिश्रमसे तथा बुद्धि की चतुराईसे जो अल्पमूल्य किंबहुना अनमोल पर निश्चय से गुण देनेवाली और सरल व्यायाम-पद्धति निकाली उसे छोड हम लोग पश्चिमी व्यायाम पद्धतिका अंगिकार किये हैं जो अत्यंत खर्चवाली, कठिन, तथा धोखेकी है और इतने पर भी अंतिम परिणाम के संबंध में निश्चय कुछ भी नहीं; यह कैसी भारी मूर्खता है? अब तो हमे इस भारी भूल को सुधारना ही चाहिए। आज या कल इस जागृति के सुपरिणाम अवश्य ही दिखाई देंगे। या ऐसी आशाजनक परिस्थिति आजही हमे दिखाई देती है।

अस्तु। अब मैं अपने हाल की ओर झुककर पत्र को समाप्त करता हूं। हलासन के पश्चात् मैंने अत्यंत सद्यःफलदायी मयूरासन का आरंभ किया। थोडे ही समय में यह आसन भी मैं अच्छी तरह करने लगा। अनंतर मैंने मत्स्यासन करने का आरंभ कर दिया है। यद्यपि मैं उसे अभी तक अच्छी तरह नहीं कर सकता, तब भी मुझे उम्मीद है कि थोडे ही समय में मैं उसे भी अच्छी तरह करने लगूंगा।

अब मैं इन आसनों का मुझपर जो परिणाम हुआ सो लिखता हूं।

प्रथम प्रातः काल के समय मुझे उत्साह बिलकुल मालूम ही नहीं होता था। वह दशा अब बिलकुल बदल गई है। सबेरे मुझे ज्वर आता था सो भी अब नहीं आता। दोपहर के समय मुझे चक्कर आते थे सो अब बिलकुल नहीं आते। इसके विरुद्ध दोपहर के समय में उत्तमता से वाचन तथा अध्ययन किया करता हूं। मेरी थोंद बढती जाती थी सो भी अब प्रमाणबद्ध ही है। अब मैं दिन में केवल दो ही बार शौच को जाता हूं।

अब मैं किसी भी प्रकार की औषधि का सेवन नहीं करता। मैं यह भी लिख देना उचित समझता हूं आसनों को आरंभ करनेके पूर्व मुझे चाय पीने की कुछ आदत थी। आसनों का व्यायाम जबसे मैंने

शुरू किया है तब से मैंने चाय बिलकुल छोड दी है। संभव है इसका भी मेरे स्वास्थ्य पर कुछ लाभ-कारी परिणाम हुआ हो। मुझे विश्वास हो चुका है कि यदि छः माह तक इन आसनों का नियमित व्यायाम मेरे शरीर को होगा तो अवश्य ही मेरे शरीर में क्रांति हो जावेगी।

इस प्रकार मेरा हाल है। अभी इससे अधिक लिखनेको नहीं है। जो कुछ लिखा है सो ही लेख-नीय बात को छोडकर होनेका संभव अधिक है। यदि ऐसा हो तो आप क्रोध न करें। यही मेरी आपसे विनय है।

"आरोग्य साधन" पुस्तक के संबंध के विषय में कुछ सूचना करने की मेरी इच्छा है। इस संबंध में फिर कभी लिखने की मैं इजाजत चाहता हूं। आपका अनमोल समय लेने के कारण क्षमाकी प्रार्थना कर इस पत्र को समाप्त करता हूँ।

भवदीय

श्रीधर अण्णाजी मोहोलकर।

वैदिक राष्ट्र-गीत।

[वै० ध० अं० १२३ से]

(ले०- वैदिकधर्मविशारद पं० सूर्यदेवशर्माजी साहित्यालंकार एम. ए.)

(३)

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवः ॥
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥

जिसमें सागर सिन्धु नदी नद विमल जलाशय लहराते।
अन्न फूल फल जहाँ कृषीवल सदा अधिकता से पाते ॥
जिसमें सारे प्राणी चलते फिरते रहते जीते हैं।
वही मही दे सब पदार्थ जो कुछ हम खाते पीते हैं ॥ ३ ॥

(४)

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्याः यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः॥
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥ ४ ॥

जिस पृथिवी में शिल्पचातुरी निपुण कृषक बहुरूप हुये।
जिसकी चारों दिशि विदिशों में अतिशय अन्न अनूप हुये।
जो धरती सब प्राणिवर्ग को बहु प्रकार से धरती है।
करे अन्न उत्पन्न वही भू जो नित गोहित करती है ॥ ४ ॥

(५)

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ॥
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

पूर्व समय में पितर हमारे जहँ स्वच्छन्द विचरते थे।
आर्य वीर जहँ असुर जनों को सब प्रकार संहरते थे ॥
अश्व गऊ पशु पक्षी को जो अतिशय सुख देनेहारी।
वही मही देहमें तेज यश गुण गरिमा गौरवकारी ॥ ५ ॥

यशकी प्रार्थना।

[६९]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता— बृपहस्तिः, अश्विनौ)

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद् यशः।
सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥ १ ॥
अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।
यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ २ ॥
मयि वर्चो अथो यशोथो यज्ञस्य यत् पयः।
तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥ ३ ॥

अर्थ— (गिरौ) पर्वतपर, (अरगराटेषु) चक्रयंत्रमें (हिरण्ये, गोषु यद् यशः) सुवर्ण और गौवोंमें जो यश है, तथा (सिच्यमानायां सुरायां) बहनेवाली पर्जन्यधारामें तथा (कीलाले मधु) जो अन्नमें मधुरता है (तत् मयि) वह मुझमें हो ॥ १ ॥

(शुभस्पती अश्विनौ) कल्याण देनेवाले दोनों अश्विदेव (सारघेण मधुना मा अंक्तं) सारवाली मधुरतासे मुझे युक्त करें। (यथा भर्गस्वतीं वाचं) जिससे भाग्यवाली वाणीको (जनान् अनु आवदानि) लोगोंके प्रति मैं बोलूं ॥ २ ॥

(मयि वर्चः) मुझमें तेज हो, (अथो यशः) और मुझमें यश, (अथो यज्ञस्य यत् पयः) और यज्ञका जो सार है (प्रजापतिः तत् मयि दृंहतु) प्रजापालक देव वह मुझमें दृढ करे (दिवि द्यां इव) जैसा द्युलोकमें प्रकाश होता है ॥ ३ ॥

❀ ❀ ❀

पहाड पर तपस्या करनेवाले मुनियोंमें, चक्रयंत्र चलानेवाले अथवा रथपर चढनेवाले वीरोंका जो यश है, उत्तम वृष्टि जल और श्रेष्ठ शुद्ध अन्नके विषयमें जो प्रशंसा होती है, उस प्रकारकी प्रशंसा मेरे विषयमें होती रहे। अर्थात् मैं भी उनकी तरह दूसरोंके उपयोगके कार्योंमें अपने आपको समर्पित करूं और यशस्वी होऊं। मेरे प्राण और

बल उक्त प्रकार श्रेष्ठ कार्यमें समर्पित हों। मेरी वाणी ऐसी हो कि जिससे जनता का भाग्य बढे। इस प्रकार आत्मयज्ञ करनेसे मुझमें तेजस्विता और यश बढे और आकाशमें स्थित सूर्यके समान मेरा यश बढे।

इस सूक्तमें आत्मयज्ञद्वारा यश और तेज प्राप्त करनेका उपदेश है।

गौ सुधार।

[७०]

(ऋषिः- काङ्कायनः। देवता-अघ्न्या)

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः॥
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से निहन्यताम्॥ १॥
यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्युजे।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः॥
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम्॥ २॥
यथा प्रधिर्यथोपधिर्यथा नभ्यं प्रधावधि।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः॥
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम्॥ ३॥

अर्थ- (यथा मांसं) जिस प्रकार मांसमें, (यथा सुरा) जैसा सुरामें (यथा अधिदेवने अक्षाः) जैसे जुएके पासोंमें (यथा वृषण्यतः पुंसः) जैसे बलवान पुरुषका (मनः स्त्रियां निहन्यते) मन स्त्रीमें रत होता है। हे (अघ्न्ये) गौ! (एवा ते मनः वत्से अधि नि हन्यतां) इस प्रकार तेरा मन बछडेमें लगा रहे॥ १॥

(यथा हस्ती पदेन) जैसा हाथी अपने पांवको (हस्तिन्याः पदं उद्युजे) हाथिनीके पांवके साथ जोडता है, और जैसा बलवान पुरुषका मन स्त्री पर रत होता है, इस प्रकार गौ का मन बछडे पर स्थिर रहे॥ २॥

(यथा प्रधिः) जैसा लोहेका हाल चक्र पर रहता है, (यथा उपधिः)

जैसा चक्र आरोंपर रहता है और (यथा नभ्यं प्रधौ अधि) जैसा चक्रनाभी आरोंके बीच होती है, जैसा बलवान पुरुषका मन स्त्रीमें रत होता है, इस प्रकार गौ का मन उसके बछडेमें स्थिर रहे ॥ ३ ॥

❀ ❀ ❀

जिस प्रकार मद्यमांस, जूआ, स्त्रीव्यसन आदिमें साधारण मनुष्यका मन रमता है, उसी प्रकार अच्छे मनुष्यका मन श्रेष्ठ कर्मोंमें रमे। गौ का मन अपने बछडेमें रमे। गौ नाम इंद्रिय माना जाय तो हरएक इंद्रियका बछडा उसका कर्म है। उस शुभ कर्ममें रमे।

यह सूक्त ठीक प्रकार समझमें नहीं आता है। अतः इसकी अधिक खोज करना चाहिये।

अन्न।

[७१]

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता—अग्निः। ३ विश्वेदवाः)

यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम्।
यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ १ ॥
यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ २ ॥
यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ॥ ३ ॥

अर्थ- (बहुधा विरूपं यद् अन्नं अद्मि) बहुत करके विविधरूपवाला जो अन्न मैं खाता हूं, तथा (हिरण्यं अश्वं गां अजां उत अविं) सोना, घोडा, गौ, बकरी, भेड (यत् एव किं च अहं प्रति जग्रहाह) जो कुछ मैने ग्रहण किया है, (होता अग्निः तत सुहुतं कृणोतु) होता अग्नि उसको उत्तम हवन किया हुआ करे ॥ १ ॥

(यत् हुतं अहुतं) जो दिया हुआ या न दिया हुआ (पितृभिः दत्तं) पितरोंसे दिया हुआ, (मनुष्यैः अनुमतं) मनुष्योंसे अनुमोदित हुआ

मा आजगाम) मेरे पास आया है, (यस्मात् मे मनः उत् रारजीति इव) जिससे मेरा मन उत्तम रीतिसे प्रसन्न होता है, (होता अग्निः तत् सुहुतं कृणोतु) होता अग्नि उसे उत्तम स्वीकारा हुआ करे ॥ २ ॥

हे (देवाः) देवो ! (यत् अन्नं अनृतेन अद्मि) जो अन्न मैं असत्य व्यवहार से खाता हूं, (दास्यन् अदास्यन् उत संगृणामि) दान करता हुआ, अथवा न दान करता हुआ जो मैं संग्रह करता हूं; वह (अन्नं) अन्न (महतः वैश्वानरस्य महिम्ना) बडे वैश्वानरकी-परमात्माकी-महिमासे (मह्यं शिवं मधुमत् अस्तु) मेरे लिये कल्याणकारी और मीठा होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— मैं जो अनेक प्रकारका अन्न खाता हूं, और सोना, चांदी, घोडा, गौ, बकरी आदि पदार्थ स्वीकारता हूं, वह ठीक प्रकार यज्ञमें समर्पित हुआ हो ॥ १ ॥

यज्ञमें समर्पित अथवा असमर्पित, पितृपितामहोंसे प्राप्त, मनुष्योंसे मिला हुआ, जो भी मेरे पास आया है, जिसके ऊपर मेरा मन लगा है, वह उत्तम रीतिसे यज्ञमें समर्पित हुआ हो ॥ २ ॥

जो अन्न या भोग मैं लेता हूं, वे सत्यसे प्राप्त हों वा असत्यसे, उनका मैं यज्ञमें दान करता हूं, वे सब यज्ञमें दिये हों वा न दिये हों, परमात्माकी कृपासे वे सब मुझे मधुरता देनेवाले हों ॥ ३ ॥

अनेक प्रकारका अन्न।

मनुष्य जो अन्न खाता है वह " वि-रूप " अर्थात् विविधरंगरूपवाला होता है, दाल, चावल, रोटी, खीर आदिके रंग भी अलग और रूप भी अलग अलग होते हैं। इन अन्नोंके सिवाय दूसरे उपभोगके पदार्थ सोना, चांदी, गाय, घोडे, बैल, बकरी, भेड आदि बहुत हैं। सोना, चांदी, जेवर आदिसे शरीरकी सजावट होती है, घोडे दूर गमनके काम आते हैं, बैल खेतीके काम करते हैं। गाय, बकरी दूध देती है। इस प्रकार अनेकानेक पदार्थ मनुष्यके उपयोगमें आते हैं। ये सब यज्ञमें समर्पित हों, अर्थात् मेरे अकेलेके स्वार्थोपभोगमें ही समाप्त न हों, प्रत्युत सब जनताके कार्यमें समर्पित हों।

धनके चार भाग।

मनुष्यके पास जो धन आता है उसके कमसे कम चार भाग होते हैं, इनका विवरण देखिये—

१ पितृभिः दत्तं— मातापितासे प्राप्त । जन्मके संस्कारसे जो आता है ।

२ मनुष्यैः अनुमतं—मनुष्योंद्वारा अनुमोदित अर्थात् अपने वंशसे भिन्न अन्य मनुष्योंकी संमतिसे प्राप्त हुआ धन ।

३ हुतं आजगाम—किसीके द्वारा दानसे प्राप्त हुआ धन ।

४ अहुतं आजगाम—किसीके द्वारा दान न देते हुए अन्य रीतिसे प्राप्त ।

धन प्राप्त होनेके ये चार प्रकार हैं । इनमेंसे किसी भी रीतिसे प्राप्त हुआ धन हो, और उसपर अपना मन भी रत हुआ हो, वह धन यज्ञमें समर्पित होना चाहिये ।

जो अन्न खाया जाता है, दान दिया जाता है और संग्रह किया जाता है, वह सब ईश्वरार्पण हो और हमारा उत्तम कल्याण करनेवाला हो ।

इस प्रकार इस सूक्तका आशय है । पाठक इस का मनन करके लाभ उठावें ।

वाजीकरण ।

[७२]

(ऋषिः- अथर्वांगिराः । देवता-शेपोऽर्कः)

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया ।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु ॥ १ ॥
यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम् ।
यावत्परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ २ ॥
यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तीनं गार्दभं च यत् ।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ ३ ॥
॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अर्थ- (यथा असितः) जिस प्रकार बंधनरहित मनुष्य (असुरस्य मायया वपूंषि कृण्वन्) आसुरी मायासे देहोंको बनाता हुआ (वशान् अनु प्रथयते) अपने पुट्ठोंको वशमें करता हुए उनको फैलाता है, (एवा ते अयं शेपः) इस प्रकार तेरे इस शरीरांगको (सहसा अंगेन अङ्गं सं समकं अर्कः कृणोतु) बलके साथ एक अवयवसे दूसरे अवयवके सम होनेके समान यह अर्चनीय आत्मा पुष्ट करे ॥ १ ॥

(यथा पसः वातेन तायादरं स्थूलभं कृतं) जिस प्रकार शरीरांग वातसे सन्तानोत्पत्ति योग्य पुष्ट किया होता है और (यावत् परस्वतः पसः) जैसा पूर्ण पुरुषका शरीरांग होता है (तावत् ते पसः वर्धतां) वैसा तेरा शरीरांग बढे ॥ २ ॥

(यावत् अंगीनं पारस्वतं) जैसा सुदृढ अंगवाले पूर्ण पुरुषका तथा जैसा (यावत् हास्तीनं गार्दभं अश्वस्य वाजिनः) हाथी, गधे और घोडेका होता है, (तावत् ते पसः वर्धतां) वैसा तेरा शरीरांग बढे ॥ ३ ॥

शरीरांग सुदृढ और संतानोत्पत्तिके कार्यके लिये योग्य बने। पुरुष हीनांग न हो, दृढांग हो। इस सूक्तका अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है।

एक विचारसे रहना।

[७३]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता-सांमनस्यं, नाना देवताः)

एह यांतु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यांतु।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः ॥ १ ॥
यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥ २ ॥
इहैव स्त माप यांताध्यस्मत् पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु।
वास्तोस्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥ ३ ॥

अर्थ- वरुण, सोम, अग्नि, बृहस्पति (इह आ यातु) यहां आवे और वसुओंके साथ यहां आवे। हे (सजाताः) उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषो! (सर्वे संमनसः) सब एकमनवाले होकर (अस्य उग्रस्य चेत्तुः श्रियं उपसंयात) इस शूर चेतना देनेवाले की शोभाको बढाओ ॥ १ ॥

(यः शुष्मः वः हृदयेषु अन्तः) जो बल तुम्हारे हृदयोंमें है, (या आकूतिः वः मनसि प्रविष्टा) जो संकल्प तुम्हारे मनमें प्रविष्ट हुआ है। (तान् हविषा घृतेन सीवयामि) उनको अन्न और घृतसे मैं जोड देता हूं। हे

(सजाताः) उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषो ! (वः रमतिः मयि अस्तु) तुम्हारी प्रसन्नता मुझ नायक पर रहे ॥ २ ॥

(इह एव स्त) यहां ही रहो, (अस्मत् अधि मा अप यात) हमसे दूर मत जाओ। (पूषा वः परस्तात् अपथं कृणोतु) पूषा तुम्हारे लिये आगे जानेका मार्ग बंद करे। (वास्तोष्पतिः वः अनु जोहवीतु) वास्तुपति तुम्हें अनुकूलतासे बुलावे। हे (सजाताः) उत्तम कुलमें उत्पन्न मनुष्यो ! (वः रमतिः मयि अस्तु) आपका प्रेम मुझपर रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ- सब ज्ञानी एक स्थानपर आवें। सब मनुष्य एक विचारसे रहकर अपने नायकका बल बढावें ॥ १ ॥

जो लोगोंमें बल और विचार है, उसका पोषण योग्य उपायसे करना चाहिये। सब मनुष्य अपने नायकपर प्रसन्न रहें ॥ २ ॥

सब लोग एक स्थानपर स्थिर रहें। इधर उधर न भागें। भागनेका मार्ग उनको खुला न रहे। ईश्वर उनको अनुकूलतासे एक कार्यमें रखे। इस प्रकार सब लोग प्रेमसे एक नायकके नीचे रहें ॥ ३ ॥

संघटना।

एक मुखिया अथवा नेता किंवा नायकके आधीन लोग रहें, तो उनका सांघिक बल बढता है। वेही लोग बिखरे रहें, एक दूसरेसे दूर रहें, तो उनका संघबल घट जाता है। इसलिये जिनको अपना संघबल बढानेकी इच्छा है वे अपने एक नेताके आधीन प्रेमसे रहें। अपना संकल्प एक रखें और अपना हृदय एक इच्छासे ही भर दें। किसी कारण आपसमें कलह न करें और विभक्त न हों। अपने संघका यश बढाने के लिये सब मिल कर प्रयत्न करें। इस प्रकार करनेसे उनका संघबल बढ सकता है।

---

[७४]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता- सांमनस्यं; नाना देवताः, त्रिणामा)

सं वः पृच्यन्तां तन्वः॑ सं मनांसि सम्रु व्रता।
सं वोयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥ १ ॥
संज्ञपनं वो मनसोथो संज्ञपनं हृदः।

अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥ २ ॥

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः ।
एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमान् जनान्त्संमनसस्कृधीह ॥ ३ ॥

अर्थ— (वः तन्वः सं पृच्यन्तां) तुम्हारे शरीर मिलें, (मनांसि सं) तुम्हारे मन मिलें और (उ व्रता सं) तुम्हारे कर्म भी मिलजुल कर हों। (अयं ब्रह्मणस्पतिः वः सं) यह ज्ञानपति तुम्हें मिलाकर रखे। (भगः वः सं अजीगमत्) भाग्य देनेवाला भी तुम सबको मिलाये रखे ॥ १ ॥

(वः मनसः संज्ञपनं) तुम्हारे मनको मिलकर रहनेका अभ्यास हो, (अथो हृदः संज्ञपनं) और हृदयको भी मिलनेका अभ्यास हो। (अथो भगस्य यत् श्रान्तं) और भाग्यवानका जो परिश्रम है (तेन वः संज्ञपयामि) उससे तुम सबको मिलकर रहनेका अभ्यास हो ॥ २ ॥

(यथा अहृणीयमानाः उग्राः आदित्याः) जैसे किसीसे न दबनेवाले उग्र आदित्य (वसुभिः मरुद्भिः संबभूवुः) वसुओं और मरुतोंसे मिलकर रहें (एवा) इसी प्रकार (त्रिणामन्) तीन नाम वाले ! तू (अहृणीयमानः) न दबता हुआ (इह इमान् जनान् सं मनसः कृधि) यहां इन लोगोंको एक विचारसे युक्त कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— तुम्हारे शरीर, मन और कर्म सबके साथ एकसे अर्थात् समतासे युक्त हों। तुम्हें ज्ञानदेनेवाला एकता का ज्ञान तुम्हें दें, तथा तुम्हारा भाग्य बढानेवाला तुम्हें मिलाये रखे ॥ १ ॥

तुम्हारे मन और हृदय एक हों। भाग्य प्राप्त करनेके लिये जो परिश्रम करने पडते हैं, उन श्रमोंको करते हुए तुम आपसमें मिलकर रहो ॥ २ ॥

जिस प्रकार शूर आदित्य, वसुओं और रुद्रोंसे मिलकर रहते हैं, उसी प्रकार तुम भी स्वयं मिलकर रह और इन सब जनोंको मिलकर रख ॥ ३ ॥

एकता का बल।

इस सूक्तमें मिलजुल कर रहने और आपनी एकतासे अपनी उन्नति साधन करनेका उपदेश है। हृदय,मन,विचार, संकल्प और कर्म आदि सबमें समता और एकता चाहिये। किसीमें विपरीत भाव हुआ तो भिन्नता होगी और संघभाव नष्ट होगा। देखो इस

जगत्‌में आदित्य, वसु और रुद्र वस्तुतः भिन्न होनेपर भी जगत्‌के कार्यमें मिलजुलकर लगे रहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य रंगरूप और जातकी भिन्नता रहनेपर भी राष्ट्रकार्य करनेके लिये सब मिल जावें और एक होकर राष्ट्रकार्य करें।

शत्रुको दूर करना।

[७५]

(ऋषिः- कबन्धः। देवता- इन्द्रः, मन्त्रोक्ताः)

निर॒मुं नु॑द॒ ओक॑सः स॒पत्नो॒ यः पृ॑त॒न्यति॑।
नै॒र्बा॒ध्ये॑न ह॒विषेन्द्र॑ ए॒नं परा॑शरीत् ॥ १ ॥
प॒र॒मां तं प॑रा॒वत॒मिन्द्रो॑ नुदतु वृत्र॒हा।
यतो॒ न पुन॒राय॑ति शश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः ॥ २ ॥
ए॒तु ति॒स्रः प॑रा॒वत॒ ए॒तु पञ्च॒ जनाँ॒ अति॑।
ए॒तु ति॒स्रोति॑ रोच॒ना यतो॒ न पुन॒राय॑ति ॥
शश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यो॒ याव॒त् सूर्यो॒ अस॑द् दि॒वि ॥ ३ ॥

अर्थ—(यः सपत्नः पृतन्यति) जो शत्रु अपनी सेनाद्वारा आक्रमण करता है,(अमुं ओकसः निः नुद) उस शत्रुको घरसे निकाल डाल। (एनं नैर्बाध्येन हविषा) इस शत्रुको बाधारहित समर्पणसे (इन्द्रः पराशरीत्) प्रभु या राजा मार डाले ॥ १ ॥

(वृत्रहा इन्द्रः) शत्रुका नाश करनेवाला इन्द्र (तं परमां परावतं नुदतु) उस शत्रुको दूरसे दूर के स्थानको भगा देवे। (यतः शश्वतीभ्यः समाभ्यः पुनः न आयति) जहांसे हमेशा के लिये फिर न आसके ॥ २ ॥

शत्रु (तिस्रः परावतः एतु) तीन दूरके स्थानोंसे भी दूर चला जावे। वह शत्रु (पंच जनान् अति एतु) पांचों प्रकारके जनोंसे दूर चला जावे। (तिस्रः रोचना अति एतु) तीन ज्योतियोंसे दूर भाग जावे, (यतः पुनः न आयति) जहांसे वह शत्रु वापस न आसके। (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) शाश्वत कालतक अर्थात् हमेशाके लिये वह वापस न आसके। (यावत्

सूर्यः दिवि असत) जबतक सूर्य आकाशमें हो तब तक वह शत्रु वापस न आसके ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो शत्रु हमारे ऊपर सैन्यसे हमला करता है अथवा अन्य प्रकार शत्रुत्व करता है, उसको अपने स्थानसे ऐसा भगाओ कि वह फिर कदापि उपद्रव देनेके लिये लौटकर न आसके ॥ १ ॥

शूर लोग आपसमें मिलकर शत्रुको दूरसे दूर इस प्रकार भगा देवें कि वह कभीभी फिर लौटकर न आसके ॥ २ ॥

शत्रु सब स्थानोंसे, सब लोगोंसे, और सब ऐश्वर्योंसे दूर हो जावे और हमेशाके लिये वह ऐसी अवस्थामें रहे कि, कभी वह लौटकर उपद्रव देनेके लिये वापस न आसके ॥ ३ ॥

शत्रुको भगाना।

व्यक्तिके, ग्रामके और राष्ट्रके शत्रुको इस प्रकार दूर करना चाहिये कि वह कभी फिर लौटकर वापस न आसके। हरएक मनुष्यका यह कार्य है। शत्रुको अपने अंदर रहने देना योग्य नहीं है। उसको अपने देहमें, अपने घरमें, अपने स्थानमें अथवा अपने राष्ट्रमें दृढमूल होने देना कदापि योग्य नहीं है। शत्रु जब आजावे, तब उसको ऐसा भगाना चाहिये कि वह किसी प्रकार लौटकर फिर न आसके।

हृदयमें अग्निकी ज्योति।

[७६]

(ऋषिः– कबन्धः । देवता–सान्तपनाग्निः ।)

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे ।
संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ॥ १ ॥
अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रभे ।
अद्धातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः ॥ २ ॥
यो अस्य समिधं वेद क्षत्रियेण समाहिताम् ।
नाभिह्वारे पदं नि दधाति स मृत्यवे ॥ ३ ॥

नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नाँ अव गच्छति ।
अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृह्णात्यायुषे ॥ ४ ॥

अर्थ- (ये एनं परिषीदन्ति) जो इसके चारों ओर बैठते हैं, इसकी उपासना करते हैं और (चक्षसे सं आदधति) दिव्य दृष्टिके लिये इसका आधान करते हैं, उनके (हृदयात् अधि) हृदयके ऊपर (संप्रेद्धः अग्निः जिह्वाभिः उदेतु) प्रदीप्त हुआ अग्नि अपनी ज्वालाओंसे उदय होवे ॥ १ ॥
(सांतपनस्य अग्नेः पदं) तपनेवाले अग्निके पदको मैं (आयुषे आरभे) आयुष्यके लिये प्राप्त करता हूं। (यस्य आस्यतः) जिसके मुखसे (उद्यन्तं धूमं अद्धातिः पश्यति) निकलनेवाले धूएंको सत्यज्ञानी देखता है ॥ २ ॥
(यः क्षत्रियेण समाहितां) जो क्षत्रियद्वारा समर्पित हुई (अस्य समिधं वेद) इसकी समिधाको जानता है (सः अभिह्वारे मृत्युवे) वह कुटिल स्थानमें भी मृत्युके लिये (पदं न निदधाति) पैर नहीं रखता है ॥ ३ ॥
(पर्यायिणः एनं न घ्नन्ति) घेरनेवाले इसका घात नहीं करते और (सन्नान् न अवगच्छति) समीप बैठनेवाले इसको जानतेभी नहीं। (यः विद्वान् क्षत्रियः) जो ज्ञानी क्षत्रिय (अग्नेः नाम आयुषे गृह्णाति) अग्निका नाम आयुके लिये लेता है ॥ ४ ॥

भावार्थ- जो इस अग्निके चारों ओर बैठकर हवनादि करते हैं, जो दृष्टिकी शुद्धताके लिये अग्निका आधान करते हैं, उनके हृदयमें प्रज्वलित होकर दूसराही आत्माग्नी प्रकाशित होता है ॥ १ ॥

इस हृदयस्थानीय प्रदीप्त आत्माग्निके स्थानको दीर्घायुके लिये प्राप्त करते हैं, इस आत्माग्निका मुखसे वाणीद्वारा निकला हुआ धूवां अर्थात् उसका चिन्ह ज्ञानी लोगही देखते हैं ॥ २ ॥

जो क्षत्रिय आत्मसमर्पणद्वारा इसके मूलस्थानको जानता है, वह कठिन प्रसंगमें भी मृत्युकेलिये अपना पैर तक नहीं देता, अर्थात् वह अजरामर होता है ॥ ३ ॥

जो घेरनेवाले शत्रु हैं वे इस आत्माग्निका घात नहीं करते और समीप रहनेवाले भी इसको जाननेमें समर्थ नहीं होते। जो ज्ञानी क्षत्रिय इस आत्माग्निका नाम लेता है वह दीर्घायु प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

अग्निसे दिव्य दृष्टि।

अग्नितापसे दृष्टिकी शुद्धता होनेका कथन इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें है, देखिये—

चक्षसे सं आ दधाति। (मं० १)

"दृष्टिके लिये अग्निका आधान करता है।" अर्थात् यज्ञकुण्डमें अग्निकी स्थापना करके यज्ञ करता है और अग्निमें हवन करता है। अग्निके समीप बैठकर हवन करनेसे दृष्टि सुधरती है यह इस मंत्रका तात्पर्य है।

औंध रियासतमें कराड स्टेशनके समीप ओगलेवाडी नामक ग्राममें एक काच बनानेका बडाभारी कारखाना है। उसमें हरएक प्रकारके शीशेके पदार्थ बनते हैं। शीशा बनानेके लिये जो भट्टि होती है, उसके पास इतनी उष्णता होती है कि साधारण मनुष्य क्षणमात्र भी उसके पास खडा नहीं रह सकता। परंतु जो मनुष्य वही काम करते हैं वे भट्टीके पास ही रहते हैं। गत पंद्रह वर्षोंके अनुभवसे वहांके प्रबंधकर्ताने कहा कि, जो आंखके रोगी, या दृष्टिदोषसे कमजोर आंखवाले मनुष्य आये और उक्त काम करने लगे, उनके आंख सुधर गये। और ऐसा एक भी उदाहरण नहीं हुआ कि अग्निके समीप इतनी उष्णतामें काम करनेके कारण एकके भी आंख नहीं बिगडे। यह अनुभव विचार करने योग्य है।

इससे भी अनुमान हो सकता है कि प्रतिदिन सबेरे और शामको, तथा वैदिक रीतिसे देखा जाय तो प्रातः, मध्यदिनमें और सायंकालको नियमपूर्वक अग्न्याधान करके नियमपूर्वक हवन करनेवालोंको नेत्रदोष की बाधा नहीं हो सकती। तथा यदि उस हवनमें नेत्रदोष दूर करनेवाले हवनपदार्थ डाले जांय, तो अधिक लाभ होगा। इसमें संदेह नहीं।

यज्ञसे नेत्रदोष इस कारण दूर हो सकते हैं। पाठक इसका विचार करें और इसकी अधिक खोज करें।

हृदयका अग्नि।

यज्ञके बाह्य अग्निके प्रदीप्त होनेके पश्चात् और यज्ञाग्निकी हवनद्वारा उपासना करनेके नंतर दूसरा ही एक अग्नि हृदयमें प्रदीप्त होता है जिसका वर्णन देखिये—

हृदयात अधि अग्निः उदेतु॥ (मं० १)

"हृदयकी वेदीपर एक अग्नि प्रदीप्त होता है।" अर्थात् यह अग्नि केवल भौतिक अग्नि नहीं है। यह अभौतिक आत्मारूप अग्नि है। हृदयमें बुद्धिके परे आत्माकी

उपस्थिति है यह बात सब जानतेही हैं। इसीका नाम 'सांतपनाग्नि' है जिससे अन्तः-करणमें प्रसन्नता और उत्साह रहता है, इसीको हृदयकी गर्मी अथवा मनका उत्साह कहते हैं। इस अग्निके प्रज्वलित होनेका ज्ञान ज्ञानीको ही होता है, कोई अन्य इसको नहीं जान सकता—

अस्य धूमं अद्धातिः पश्यति ॥ (मं० २)

"इसके धूवेंको ज्ञानी देखता है।" धूम्रसे हि अग्नि का ज्ञान होता है। जहां धूवां है वहां अग्नि होता है, यह न्याय सर्वमान्य है। अर्थात् धूवां देखनेका अर्थ धूवेंके नीचे रहनेवाले अग्निका अनुभव करना है। अग्निहोत्र करनेसे इस हृदयस्थानीय आत्माग्निकी जाग्रति होती है।

क्षत्रिय आत्मसमर्पणसे इस अग्निको जानता है, और जो स्वार्थ छोडता है उसको भी इसका ज्ञान होता है। सुदगर्ज अर्थात् केवल स्वार्थी जो मनुष्य होता है वह इसकी शक्तिसे अनभिज्ञ होता है।

इस आत्मशक्तिके प्रकट होनेसे शत्रु उसका कुछभी नहीं कर सकता अर्थात् किसी के भी दबावसे वह दबता नहीं। विद्वान् क्षत्रिय इसीके बलसे दीर्घायु प्राप्त करता है, और अमर होता है।

भौतिक अग्निकी सहायतासे अभौतिक आत्माग्निका ज्ञान इस सूक्तने किया है। इस दृष्टिसे इस सूक्तका महत्त्व विशेष है।

सबकी स्थिरता।

[७७]

(ऋषिः— कबन्धः । देवता-जातवेदाः)

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत्।
आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठिपम् ॥ १ ॥
य उदानट् परायणं य उदानण्न्यायनम्।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥ २ ॥
जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः।
सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥ ३ ॥

अर्थ- (द्यौः अस्थात्) द्युलोक स्थिर हुआ है। (पृथिवी अस्थात्) पृथ्वी स्थिर है। (इदं विश्वं जगत् अस्थात्) यह सब जगत् स्थिर है। (आस्थाने पर्वता अस्थुः) अपने स्थानपर पर्वत भी स्थिर हुए हैं। अतः मैंने भी अपने (अश्वान् स्थाम्नि अतिष्ठपं) घोडोंको यथास्थानमें ठहराया है ॥ १ ॥

(यः गोपाः परायणं उदानट्) जिस पृथ्वीपालक राजाने श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया, (यः न्यायनं उदानट्) जिसने निम्न स्थान प्राप्त किया है, (आवर्तनं निवर्तनं) जिसमें आने और जानेका सामर्थ्य है (तं अपि हुवे) उसीकी मैं प्रार्थना करता हूं ॥ २ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञानी ! (निवर्तय) लौट जा, (ते अवृताः शतं) तेरे आवरण सेकडों हैं। और (ते उपावृतः सहस्रं) तेरे समीप अनेक मार्ग हैं। (ताभिः नः पुनः आकृधि)। उनसे हमें फिर समर्थ कर ॥ ३ ॥

भावार्थ- पृथ्वी, द्युलोक तथा सब जगत् यथास्थानमें स्थित हैं। पर्वत भी अपने स्थानमें स्थिर हैं। इसी प्रकार मनुष्य, घोडे आदि यथास्थानमें स्थिर रहें ॥ १ ॥

जिस भूपति राजाने उच्च और निम्न स्थान प्राप्त किये हैं, जो योग्य स्थानमें आता जाता रहता है, उसकी प्रशंसा करना योग्य है ॥ २ ॥

ज्ञानी पुरुष ! अपने स्थानमें लौट जावे, तेरे आवरण और उपावरणकी शक्तियां अनेक हैं, उनसे वह हमें समर्थ करे ॥ ३ ॥

स्थिरता।

सब जगत् अपने स्थानमें स्थिर है। सूर्यादि गोलक भ्रमण करते हैं, तथापि कोई भी अपनी मर्यादा उल्लंघन नहीं करता है। और सब अपनी मर्यादामें रहनेके कारण सब जगत्‌के अवयव स्थिर हैं। इसी प्रकार सब मनुष्य अपने धर्मकी मर्यादामें रहकर स्थिर हो जाँय। इस प्रकार रहनेसे सबका सामर्थ्य बढता हैं।

स्त्रीपुरुषकी वृद्धि।

[७८]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- १-२ चन्द्रमा, ३ त्वष्टा)

तेन॑ भूतेन॑ ह॒विषा॒यमा प्या॑यतां॒ पुन॑ः ।
जा॒यां याम॑स्मा आवा॑क्षु॒स्तां रसे॑ना॒भि व॑र्धताम् ॥ १ ॥
अ॒भि व॑र्धतां॒ पय॑साभि रा॒ष्ट्रेण॑ वर्धताम् ।
र॒य्या स॒हस्र॑वर्चसे॒मौ स्ता॒मनु॑पक्षितौ ॥ २ ॥
त्वष्टा॑ जा॒याम॑जनय॒त् त्वष्टा॑स्यै॒ त्वां पति॑म् ।
त्वष्टा॑ स॒हस्र॒मायूं॑षि दी॒र्घमायु॑ः कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥

अर्थ —(तेन भूतेन हविषा) उस किये हुए हविसे (अयं पुनः आप्यायतां) यह वारंवार पुष्ट हो । (यां जायां अस्मै अवाक्षुः) जिस स्त्रीको इसके साथ विवाह किया है, (तां रसेन अभिवर्धतां) उसको भी रससे पुष्ट करे॥ १ ॥

(पयसा अभिवर्धतां) दूध पीकर पुष्ट होवे, (राष्ट्रेण अभिवर्धतां) राष्ट्रके साथ बढे, (सहस्रवर्चसा रय्या) सहस्र तेजोंवाले धनसे (इमौ अनुपक्षितौ स्तां) ये दोनों पतिपत्नी सदा भरपूर हों ॥ २ ॥

(त्वष्टा जायां अजनयत्) जगद्रचयिता देवने स्त्रीको उत्पन्न किया है । और (त्वष्टा अस्यै त्वां पतिं) उसी ईश्वरने इसके लिये तुझ पतिको उत्पन्न किया है। (त्वष्टा वां सहस्रं आयूंषि) रचयिता ईश्वर तुम दोनोंको हजारों वर्षोंतक रहनेवाला (दीर्घं आयुः कृणोतु) दीर्घ आयु करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— इस वैवाहिक यज्ञसे यह पति बढे और जिस कारण यह स्त्री विवाहमें इसे दी गई है, इस कारण विविध रसोंसे यह पति इसकी पुष्टि करे ॥ १ ॥

दोनों पतिपत्नी दूध पीकर पुष्ट हों, अपने राष्ट्रकी उन्नतिके साथ उन्नत हों, और इनके पास सदा हजारों तेजोंवाला धन भरपूर रहे ॥ २ ॥

ईश्वरने जिस प्रकार स्त्री की उत्पत्ति की है, उसी प्रकार स्त्री के लिये पतिको भी उत्पन्न किया है। वह ईश्वर इनके लिये उत्तम दीर्घ आयु देवे ॥ ३ ॥

गृहस्थीकी पुष्टि।

पति और पत्नी घरमें रह कर एक दूसरेकी पुष्टि और उन्नतिका विचार करें। कभी परस्परके नाशका विचार न करें। विशिष्ट गुणधर्मोंसे ईश्वरने जैसा स्त्रियोंको वैसाही पुरुषोंको उत्पन्न किया है। इसलिये दोनोंको उचित है कि वे परस्परकी सहायता करके परस्परकी उन्नति करनेमें प्रवृत्त हों।

चा, कापी, तमाखू, मद्य आदि न पीवें, परंतु गौका दूधही आवश्यकतानुसार पीवें, दोनों दूध पीकर पुष्ट हों। अर्थात् उनके शरीरकी पुष्टि दूधसे होवे। इसी प्रकार दोनों स्त्रीपुरुष धनादि पदार्थोंका उपार्जन करें। और सुखसाधनोंसे भरपूर हों।

दोनों स्त्रीपुरुष एक दूसरेकी पूर्णता करते हुए दीर्घायु प्राप्त करें और सुखी हों॥
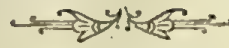
हमारी रक्षा।

[७९]

(ऋषिः—अथर्वा। देवता—संस्फानः)

अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु।
असमातिं गृहेषु नः॥ १॥
त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय।
आ पुष्टमेत्वा वसु॥ २॥
देवं संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे।
तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम॥ ३॥

अर्थ- (अयं संस्फानः नभसः पतिः) यह बढनेवाला आकाशका पालक देव (नः अभिरक्षतु) हमारी रक्षा करे। तथा (नः गृहेषु असमातिं) हमारे घरोंमें असामान्य धन रहे॥ १॥

हे (नभसः पते) आकाशके स्वामी देव! तू (त्वं नः गृहेषु) हमारे घरोंमें (नः ऊर्जं धारय) हमें प्रभूत अन्न दे। और (पुष्टं वसु आ एतु) पुष्टिकारक धन भी हमारे पास आवे॥ २॥

हे (देव संस्फान) वृद्धि करनेवाले देव! तू (सहस्रपोषस्य ईशिषे)

हजारों पुष्टियोंका स्वामी हो। इसलिये (तस्य नः रास्व) उन पुष्टियोंको हमें दे, (तस्य नो धेहि) वही हमें दे, (तस्य ते भक्तिवांसः स्याम) उस तेरे हम भागी होंगे ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे वृद्धि करनेवाले ईश्वर! हमारी रक्षा कर और हमारे घरोंमें बहुत धनसमृद्धि प्रदान कर ॥ १ ॥

हे ईश्वर! तू हमारे घरोंमें धन, बल और पुष्टि दे ॥ २ ॥

हे वृद्धि करनेवाले देव ! तुम्हारे पास हजारों पोषक शक्तियां हैं। उनमेंसे कुछ हमें दे, तेरे पोषक सामर्थ्यके भागी हम बनें ॥ ३ ॥

ईश्वरके भक्त।

परमेश्वर सबका पोषणकर्ता है, वह सबको धन, ऐश्वर्य, अन्न, तेज और पुष्टि देता है। इसलिये वह देव हमें पोषणके साधन देवे और उनका योग्य उपयोग करके हम सब हृष्ट, पुष्ट और धनधान्यसंपन्न हों।

आत्मसमर्पणसे ईश्वरकी पूजा।

[८०]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता-चन्द्रमाः)

अ॒न्तरि॑क्षेण पतति॒ विश्वा॑ भू॒ताव॒चाक॑शत् ।
शुनो॑ दि॒व्यस्य॒ यन्मह॒स्तेना॑ ते ह॒विषा॑ विधेम ॥ १ ॥
ये त्र॒यः॑ कालका॒ञ्जा दि॒वि दे॒वा इ॑व श्रि॒ताः ।
तान्सर्वा॑नह्व ऊ॒तये॒ऽस्मा अ॑रिष्टता॒तये ॥ २ ॥
अ॒प्सु ते॒ जन्म॑ दि॒वि ते॑ स॒धस्थं॑ समु॒द्रे अ॒न्तर्म॑हि॒मा ते॑ पृथि॒व्याम् ।
शुनो॑ दि॒व्यस्य॒ यन्मह॒स्तेना॑ ते ह॒विषा॑ विधेम ॥ ३ ॥

अर्थ—जो (विश्वा भूता अवचाकशत्) सब भूतोंको प्रकाशित करता हुआ (अन्तरिक्षेण पतति) आकाशसे चलता है उस (दिव्यस्य शुनः) द्युलोकमें गमन करनेवाले सूर्यका (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन हविषा ते विधेम) उस हविसे तेरी पूजा हम करते हैं ॥ १ ॥

(ये त्रयः कालकाञ्जाः) जो तीन कालकञ्ज (दिवि देवाः इव श्रिताः) द्युलोकमें देवोंके समान रहे हैं; (तान् सर्वान्) उन सबको (अस्मै ऊतये) इसकी रक्षाके लिये और (अरिष्टतातये अह्वे) कल्याणके लिये बुलाते हैं ॥ २ ॥

(अप्सु ते जन्म) जलमें तेरी उत्पत्ति है, (दिवि ते सधस्थं) द्युलोकमें तेरा स्थान है, तथा (समुद्रे अन्तः पृथिव्यां ते महिमा) समुद्रके बीच और पृथ्वीपर तेरी महिमा है। उस तेरे (दिव्यस्य शुनः) द्युलोकमें गमन करनेवाले सूर्यका (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन ते हविषा विधेम) उस महत्त्वसे तेरी पूजा हम करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ- सब जगत्को प्रकाशित करनेवाला सूर्य आकाशमें संचार करता है। उसका महत्त्व और तेज विशेष है। वह तेज हमारे अन्दर जितना है उसका समर्पण करके हम ईश्वरकी उपासना करते हैं ॥ १ ॥

देवताओंके समान तीन काल—अर्थात् उष्णकाल, वृष्टिकाल और शीतकाल ये तीनकाल कुञ्ज—द्युलोकमें स्थित सूर्यसे सम्बन्धित हैं। इन तीनों कालोंसे मनुष्य अपनी रक्षा करे और कल्याणसाधन करे ॥ २ ॥

प्रकृतिके प्रारंभिक जलावस्थासे सूर्यकी उत्पत्ति हुई है, वह द्युलोकमें रहता है, पृथ्वी और समुद्रमें उसका महत्त्व प्रकट होता है। इस सूर्यकी जो शक्ति मेरे अन्दर है, वह परमेश्वरका पूजाकार्य करनेके लिये समर्पित करता हूं ॥ ३ ॥

सूर्यादिकोंके अंश मनुष्यमें हैं, उन शक्तियोंसे मनुष्य सामर्थ्यशाली बना है। इस लिये मनुष्यको उचित है कि, वह उक्त शक्तियोंका समर्पण जगत्की भलाईके लिये करके उक्त समर्पणद्वारा परमेश्वरकी पूजा करे।

कङ्कणका धारण।

[८१]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-आदित्यः, मन्त्रोक्ताः)

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि ।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम् ॥ १ ॥
परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे ।
मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे ॥ २ ॥
यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या ।
त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति ॥ ३ ॥

अर्थ—(यन्ता असि) तू नियामक है, (हस्तौ यच्छसे) दोनों हाथोंका तू नियमन करता है और उनसे (रक्षांसि सेधसि) विघ्नकारियोंको हटाता है। (अयं परिहस्तः) यह कंकण (प्रजां धनं च गृह्णानः) प्रजा और धन का ग्रहण करनेवाला (अभूत्) है ॥ १ ॥

हे (परिहस्त) कंकण ! (गर्भाय धातवे) गर्भके धारणा के लिये (योनिं विधारय) योनिका धारण कर। हे (मर्यादे) मर्यादे ! (पुत्रं आधेहि) पुत्रका धारण कर। (तं त्वं आगमे आगमय) उसको तू आगमनके समय बाहर आनेके लिये प्रेरणा कर ॥ २ ॥

(पुत्रकाम्या अदितिः) पुत्रकी इच्छा करनेवाली अदितिने (यं परिहस्तं अबिभः) जिस कंकण का धारण किया था, (यथा पुत्रं जनात् इति) जिसे पुत्रकी उत्पत्ति हो इस लिये (त्वष्टा तं अस्यै आबध्नात्) त्वष्टाने उसको इस स्त्रीके लिये बांधा है ॥ ३ ॥

भावार्थ— कंकण नियममें रखता है, वह हाथोंमें डालनेसे हाथोंका नियमन होता है और विघ्न दूर होते हैं। इसलिये इसको संतानका धारण करनेवाला कहते हैं। तथा यह धनका भी धारक है ॥ १ ॥

गर्भधारणाके योग्य गर्भाशयकी अवस्था यह बनाता है। इसके धारण करनेसे गर्भ धारण होता है और योग्य समयमें प्रसूति भी होती है ॥ २ ॥

पुत्रकी इच्छा करनेवाली अदितिने इसका प्रथम धारण किया था। कारीगर इसको निर्माण करे और पुत्रोत्पत्ति होनेकी इच्छासे स्त्रियोंके दोनों हाथोंमें कंकण धारण करावे ॥ ३ ॥

कंकणधारण।

स्त्रियां हाथमें कंकण धारण करती हैं। इसका संबंध गर्भाशय ठीक रहने, उत्तम संतान उत्पन्न होने और सुखसे प्रसूति होनेके साथ है। वैद्य लोग इसका विचार शारीर-शास्त्रकी दृष्टिसे करें और निश्चय करें कि, किस प्रकारका कंकण कौनसी स्त्रीको किस विधिसे धारण करना चाहिये। यह शास्त्रदृष्टिसे विचारने योग्य बात है।

कन्याके लिये वर।

[८२]

(ऋषिः- भगः। देवता-इन्द्रः)

आगच्छ॑त आग॑तस्य॒ नाम॑ गृह्णाम्याय॒तः ।
इन्द्र॑स्य वृत्र॒घ्नो व॑न्वे वास॒वस्य॑ श॒तक्र॑तोः ॥ १ ॥
येन॑ सू॒र्यां सा॑वि॒त्रीम॒श्विनो॒हतुः॑ प॒था ।
तेन॒ माम॑ब्रवी॒द् भगो॑ जा॒याम॒ा व॑हता॒दिति॑ ॥ २ ॥
यस्ते॑ऽङ्कु॒शो व॑सु॒दानो॑ बृ॒हन्नि॑न्द्र हिर॒ण्यय॑ः ।
तेना॑ जनीय॒ते जा॒यां मह्यं॑ धेहि शचीपते ॥ ३ ॥

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

अर्थ- (आगच्छतः) आनेवाले, (आगतस्य) आये हुए और (आयतः) अति समीप आनेवाले (वृत्रघ्नः वासवस्य शतक्रतोः इन्द्रस्य) शत्रुका नाश करनेवाले, धनवाले और सैंकडों कर्म करनेवाले इन्द्रका (नाम गृह्णामि) नाम मैं लेता हूं और (वन्वे) पसंद करता हूं ॥ १ ॥

(येन पथा) जिस मार्गसे (अश्विना) अश्विदेवोंने (सूर्यां सावित्रीं ऊहतुः) सूर्यप्रभा सावित्रीका विवाह किया, (तेन) उसी मार्गसे (जायां

आवहतात् इति) भार्याको प्राप्त कर ऐसा (भगः मां अब्रवीत्) भगने मुझे कहा है ॥ २ ॥

हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यः ते हिरण्मयः वसुदानः बृहन् अंकुशः) जो तेरा सुवर्णका धन देनेवाला बडा अंकुश है; हे (शचीपते) इन्द्र ! (तेन जनीयते मह्यं) उससे स्त्रीकी इच्छा करनेवाले मुझे (जायां धेहि) भार्या दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—आगमनके पहिलेसे इच्छा करके अब मेरे पास आया हुआ जो शत्रुपर विजय करनेवाला, धनवान्, सैंकडों उत्तम कर्म करनेवाला शूरवीर है, उसीको मैं अपनी पुत्रीके लिये वरके रूपमें पसंद करता हूं ॥ १ ॥

जिस प्रकार अश्विदेवोंने सूर्यप्रभाका विवाह किया, उसी प्रकार धनवान् वधूका पिता 'इस कन्याका स्वीकार कीजिये' ऐसा कहके मुझे विवाहके लिये कहता है ॥ २ ॥

हे प्रभो ! तेरे पास जो धनकी प्राप्ति करनेवाला जो उत्तम शस्त्र है उसके बलसे पत्नीकी इच्छा करनेवाले मुझ वरको भार्या प्राप्त हो ॥ ३ ॥

कन्याके लिये वर।

कन्याके लिये जो वर पसंद करना है वह निम्नलिखित गुणोंका विचार करके पसंद किया जावे—

(१) जनीयते= वर ऐसा हो कि जिसके मनमें धर्मपत्नीकी प्राप्ति करनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई हो। (मं० ३)

(२) आगच्छतः= कन्याके पिताके पास जानेकी इच्छा करनेवाला। (मं० १)

(३) आगतस्य= कन्याके पिताके पास पहुंचनेवाला। (मं० १)

(४) आयतः= कन्याके पिताके पास पंहुंचा हुआ। (मं० १)

ये तीनों शब्द वरकी उत्कट इच्छा बताते हैं। आजकल कन्याका पिता वरको ढूंढता हुआ वरके शोधार्थ एक स्थानसे दूसरे स्थानके प्रति घूमता रहता है। यह प्रथा अवैदिक प्रतीत होती है। वधूका पिता अथवा वधू वरकी खोज के लिये भ्रमण न करे परन्तु वर अपनी योग्यता सिद्ध करे और वधूकी मांग करने के लिये वधूके पिताके पास जावे। यह बात इन चार शब्दोंसे व्यक्त होती है। अब वरमें कौनसे गुण होने चाहिये, इसका विचार यह है—

(५) वासवः=वसु अर्थात् धन पास रखनेवाला। (मं० १)

(६) शतक्रतुः=सैंकडों उत्तम पुरुषार्थ करनेवाला। (मं० १)

(७) वृत्रघ्नः=शत्रुका नाश करके विजय प्राप्त करनेमें समर्थ। (मं० १)

(८) इन्द्रः=शत्रुका नाश करनेवाला शूर वीर। (मं० १)

ये चार शब्द वरके गुणोंका वर्णन करते हैं। विवाहके पूर्व वरने धन कमाया हुआ हो और शौर्य भी प्रकट किया हुआ हो। अपरीक्षित वर न हो।

वधूका पिता ऐसे वरका आदर करे और उसे कहे कि, (जायां आवहतात्) इस मेरी कन्याका स्वीकार कीजिये। आप स्वीकार करेंगे तो मैं बडा अनुगृहीत हूंगा। इत्यादि वचनोंसे वरके साथ बोले और कन्या देनेकी इच्छा प्रकट करे। कन्याका दान भी ऐसा ही हो कि जिस प्रकार प्रभा का सूर्यके साथ होता है, अर्थात् कन्याका मोल लेना या पतिके लिये धन देना आदि शर्तें न हों; वरके गुणोंका विचार मुख्य हो। (मं० २)

वरभी मनमें यही समझे कि मेरे पास शौर्य और वीर्य रहनेसे मैं धन कमाऊंगा और जब मैं धन कमाऊं और मेरा शौर्य प्रकट हो तब मेरा विवाह हो ही जायगा।

इस सूक्तमें जो वरकी पसंदीके और विवाहविषयके अन्य विचार कहे हैं वे बडे उत्तम हैं। वरका पिता और वर ये दोनों इस सूक्तका बहुत विचार करें।

विना शौर्यवीर्यके वैदिक विवाह होना असंभव है, ऐसा इस सूक्तके विचारसे स्वयं सिद्ध होता है। वरको उचित है कि वह अपने विवाहका विचार करनेके पूर्व धन कमावे। " धीः श्रीः स्त्री " यह नियम ध्यानमें रखना चाहिये, बुद्धिका विकास करके धनको प्राप्त करनेके पश्चात् स्त्रीकी प्राप्तिका विचार मनमें लाना चाहिये। आजकल जो बालविवाह करते हैं वे इस सूक्तका मनन विशेष करें॥

गण्डमालाका निवारण।

[८३]

(ऋषिः— अंगिराः। देवता-मंत्रोक्ता।)

अप॑चितः॒ प्र प॑तत सुप॒र्णो व॑स॒तेरि॑व।

सूर्यः॑ कृ॒णोतु भेष॒जं च॒न्द्रमा॒ वोपो॑च्छतु॥ १॥

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे ।
सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥ २ ॥
असूतिका रामायण्यपचित् प्र पतिष्यति ।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥ ३ ॥
वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि ४॥

अर्थ— (वसतेः सुपर्णः इव) अपने निवासस्थानसे जैसा गरुड दौडता है उस प्रकार, हे (अपचितः) गण्डमाला नाम रोगों ! (प्र पतत) भाग जाओ । (सूर्यः भेषजं कृणोतु) इसका औषध सूर्य बनावे और (चन्द्रमा वा उप उच्छतु) चन्द्र रोगको दूर करे ॥ १ ॥

(एका एनी) एक चितकबरी, (एका श्येनी) एक श्वेत, (एका कृष्णा) एक काली, (द्वे रोहिणी) और लाल रंगवाले दो इतने इनमें भेद हैं। (सर्वासां नाम अग्रभं) सबका नाम मैंने लिया है, अतः (अवीरघ्नीः अपेतन) मनुष्यकी हिंसा न करती हुई तुम यहांसे दूर भाग जाओ ॥२॥

(रामायणी असूतिका) नाडीमें छिपी रहनेवाली यह रोगकी जड रोगकी उत्पत्ति न करती हुई (अपचित् प्रपतिष्यति) यह गंडमाला दूर होगी। (इतः ग्लौ प्रपतिष्यति) यहांसे यह गलनेवाली दूर होगी, तथा (सः गलुन्तः नशिष्यति) वह सडनेवाला रोग नाशको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

(स्वां आहुतिं जुषाणः वीहि) अपने हवनकी आहुतिका सेवन करता हुआ भाग जा, (यत् इदं मनसा जुहोमि स्वाहा) जो यह मैं मनसे हवन करता हूं वह उत्तम हवन होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— गंडमालाका औषध सूर्य किरणोंमें है, और चन्द्रमाके प्रकाशसे भी होता है। इससे गण्डमाला शीघ्र दूर हो जाती है ॥ १ ॥

काली, श्वेत, चितकबरी, साधारण लाल और अधिक लाल ये पांच प्रकारकी गण्डमाला होती है। इनसे मनुष्यकी हानि न हो और ये सब रोग दूर हों ॥ २ ॥

इसका बीज धमनिमें रहता है तथा इनमें फोडेवाली, गलनेवाली और सडनेवाली ऐसे भेद होते हैं। ये सब प्रकारके रोग पूर्वोक्त उपचारसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

मन लगाकर उत्तम हवन करनेसे भी यह रोग दूर होता है ॥ ४ ॥

गण्डमाला।

सूर्यकिरण, चन्द्रप्रभा और मन लगाकर किया हुआ हवन इन तीन उपचारोंसे गण्डमाला दूर होती है। इसकी उपचार पद्धतिके विषयमें वैद्योंको विचार करना उचित है।

दुर्गतिसे बचना।

[८४]

(ऋषिः- अंगिराः। देवता- निर्ऋतिः)

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम्।
भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः ॥ १ ॥
भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु।
मुञ्चेमानमूनेनसः स्वाहा ॥ २ ॥
एवो ष्व१स्मन्निर्ऋतेनेहा त्वमयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित् त्वा ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥
अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम्।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

अर्थ—(यस्याः ते घोरे आसनि) जिस तेरे क्रूर मुखमें (एषां बद्धानां अवसर्जनाय) इन बद्ध हुओंकी मुक्तताके लिये (कं जुहोमि) अपने सुखकी आहुति देता हूं। (त्वा जनाः भूमिः इति अभिप्रमन्वते) तुझको लोक अपनी जन्मभूमि करके मानते हैं। और (अहं त्वा सर्वतः निर्ऋतिः परिवेद) मैं तुझको सब प्रकारके कष्टोंकी जड करके मानता हूं ॥ १ ॥

हे (भूते) उत्पन्न हुई! (हविष्मती भव) हवन करनेवाली हो (एषः ते भागः यः अस्मासु) यह तेरा भाग है जो हममें है। (इमान् अमून् एनसः मुञ्च) इनको पापसे छुडाओ, (स्वाहा=सु आह) मैं सच कहता हूं ॥ २ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (अनेहा एव उ त्वं) अविनाशिका होकर तू (एवो) निश्चयसे (अयस्मयान् बन्धपाशान् अस्मत सु विचृत) लोहेके बने बंधनोंके पाशोंको खोल दे। (यमः मह्यं त्वा पुनः इत् ददाति) यम मेरे लिये तुझको पुनः पुनः देना है। (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उस यम मृत्युके लिये नमस्कार हो ॥ ३ ॥ (अथर्व ६ । ६३ । २)

जब तू (अयस्मये द्रुपदे बेधिषे) लोहमय काष्ठस्तंभमें किसीको बांध देती है तब वह (ये सहस्रं) जो हजारों दुःख हैं उन (मृत्युभिः इह अभिहितः) मृत्युओंसे यहां बांधा जाता है। (त्वं पितृभिः यमेन संविदानः) तू पितरों और यमसे मिलता हुआ (त्वं इमं उत्तमं नाकं अधिरोहय) तू इसको उत्तम स्वर्गमें चढा दे ॥ ४ ॥ (अथर्व ६ । ६३ । ३)

भावार्थ— दुरवस्था बडी कठिन है, उसमें बंधे अतएव जो पराधीन हुए हैं, उनकी मुक्तता होनी चाहिये। इस कार्यके लिये अपने सुखको त्यागके प्रयत्न करना चाहिये। कई लोग तो इसी पराधीनताको अपना आश्रय मानते हैं और उसके निवारण के लिये प्रयत्न तक नहीं करते। परंतु यह दुरवस्था सबसे भयानक है ॥ १ ॥

जो दुरवस्थाका भाग अपने अंदर होगा, उसको प्रयत्नसे दूर हटाना चाहिये ॥ २ ॥

दुर्गतिको दूर करना चाहिये। लोहेके सब पाश तोडने चाहिये। इन पाशोंको तोडनेके लिये ही यम वारंवार जन्म देता है अतः उसको नमन करना उचित है ॥ ३ ॥

जिसके गलेमें ये पाश अटके हैं, उनको हजारों दुःख और सैंकडों आपत्तियां सताती हैं, इन रक्षकोंके और नियामकके साथ संमेलन करके इस मनुष्यको बंधमुक्त करते हुए, इसको सुखपूर्ण स्वर्गधाममें पहुंचाओ ॥ ४ ॥

पराधीनता संपूर्ण दुःखोंका मूल है, अतः हरएकको उचित है कि वह पराधीनतारूप दुर्गतिके पाश तोडे और स्वतंत्रतारूप स्वर्गधाममें स्थान प्राप्त करे।

यक्ष्म-चिकित्सा ।

[८५]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता-वनस्पतिः)

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ १ ॥
इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च ।
देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे ॥ २ ॥
यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः ।
एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये ॥ ३ ॥

अर्थ- (अयं देवः वरणः वनस्पतिः) यह दिव्य वरण नामक औषधि (वारयातै) रोगनिवारण करती है । (अस्मिन् यः यक्ष्मः आविष्टः) इसमें जो रोग घुसा है (तं उ देवाः अवीवरन्) उसका देवोंने निवारण किया ॥ १ ॥

इन्द्र, मित्र, वरुण इनके वचनसे तथा (सर्वेषां देवानां वाचा) सब देवों की वाणीसे (ते यक्ष्मं वारयामहे) तेरा यक्ष्मरोग दूर करते हैं ॥ २ ॥

(यथा वृत्रः) जैसा वृत्र (विश्वधा यतीः आपः तस्तम्भ) चारों ओर बहनेवाले जलप्रवाहोंको रोक रखता है (एवा) उसी प्रकार (ते यक्ष्मं) तेरे रोगको (वैश्वानरेण अग्निना वारये) वैश्वानर अग्निद्वारा निवारण करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ- वरण वृक्षके उपयोग करनेसे यक्ष्मरोग दूर होता है ॥१-३॥

वरुण वृक्ष ।

वेदमें जिसका नाम 'वरण' है उसी वृक्षको संस्कृत भाषामें 'वरुण' कहते हैं । वरुण वृक्ष की औषधिसे यक्ष्मरोग दूर होता है । इसको हिंदीमें 'बिलि' वृक्ष कहते हैं । इसके गुण ये हैं—

कटुः उष्णः रक्तदोषघ्नः शिरोवातहरः स्निग्धः आग्नेयः
विद्रधिवातघ्नश्च ॥ रा० नि० व० ९

वरुणः पित्तलो भेदो श्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान्।
निहन्ति गुल्मवातास्रक्रिमींश्चोष्णाग्निदीपनम्।
कषायो मधुरस्तिक्तः कटुको रूक्षको लघुः॥ भा०।

" यह वरुण औषधि रक्तदोष दूर करनेवाली, सिरस्थानीय वातदोष दूर करनेवाली है, कटु उष्ण स्निग्ध तथा आग्नेय गुणयुक्त है। श्लेष्मा, मूत्रदोष, वातदोष, गुल्म, वातरक्त, क्रिमिदोष इन रोगोंको दूर करता है॥"

इस औषधिके ये गुण हैं। इसका नाम 'आग्नेय' ऊपर दिया है अतः तृतीय मंत्रमें--

वैश्वानरेण अग्निना यक्ष्मं वारये। (मं० ३)

कहा है। यहां अग्नि पदका अर्थ 'वरुण' वृक्ष करना उचित है। अर्थात् इस मंत्रका अर्थ 'वरुण वृक्षके प्रयोगसे यक्ष्म रोग दूर करता हूं' ऐसा करना चाहिये। इस औषधि प्रयोगका विचार वैद्योंको करना चाहिये।

सबसे श्रेष्ठ हो।

[८६]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- एकवृषः)

वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम्।
वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव॥ १॥
समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी।
चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव॥ २॥
सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम्।
देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव॥ ३॥

अर्थ— (इन्द्रस्य वृषा) इन्द्रके बलसे समर्थ, (दिवः वृषा) द्युलोकसे श्रेष्ठ (अयं पृथिव्याः वृषा) यह पृथिवीसेभी श्रेष्ठ (विश्वस्य भूतस्य वृषा) सब भूतोंसे श्रेष्ठ हो और तू (त्वं एकवृषः भव) एकेलाही सबसे श्रेष्ठ हो॥ १॥

(स्रवतां समुद्रः ईशे) बहनेवालों में समुद्र मुख्य है। (पृथिव्याः अग्निः

वशी) पृथिवीको वशमें रखनेवाला अग्नि है । (नक्षत्राणां चन्द्रमा ईशे) नक्षत्रोंका स्वामी चन्द्र है इस प्रकार (त्वं एकवृषः भव) तू अद्वितीय सबसे श्रेष्ठ बन ॥ २ ॥

(असुराणां सम्राड् असि) तू असुरोंका सम्राट है, (मनुष्याणां ककुत्) मनुष्योंमें भी मुख्य है और (देवानां अर्धभाक् असि) देवोंका अर्धभाग तू है ऐसा तू (एकवृषः भव) सबसे श्रेष्ठ बन ॥ ३ ॥

भावार्थ- सूर्य, द्युलोक, पृथ्वी, सब प्राणी इनमें जो शक्ति है, उससे श्रेष्ठ बननेका प्रयत्न कर ॥ जिस प्रकार सब स्रोतोंमें समुद्र प्रबल है, पृथ्वीको वश करनेवाला अग्नि समर्थ है, और नक्षत्रोंमें चन्द्रमा श्रेष्ठ है, इस प्रकार सब मनुष्योंमें तू समर्थ और श्रेष्ठ बन ॥ असुरवृत्तिवालोंके ऊपर भी तू स्वामित्व कर और मनुष्योंमें भी तू श्रेष्ठ हो, तथा देवोंके अर्ध आसनपर बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला हो ॥ १-३ ॥

सबसे श्रेष्ठ बनना ।

अपना सामर्थ्य बढा कर सबसे श्रेष्ठ होनेका परम पुरुषार्थ करना हरएक मनुष्यको योग्य है । जो श्रेष्ठ होता है उसीकी प्रशंसा होती है, और जो श्रेष्ठ नहीं होता वह पीछे रह जाता है । यह स्मरण रख कर हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने प्रयत्नसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करे और सबसे श्रेष्ठ बने ॥

राजाकी स्थिरता ।

[८७]

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—ध्रुवः)

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥ १ ॥
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत् ।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥ २ ॥
इन्द्र एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

अर्थ— (त्वा आहार्षं) तुझको यहां राजगद्दीपर लाता हूं। (अन्तः भूः) हम सबके अंदर आ। (ध्रुवः अविचाचलत् तिष्ठ) स्थिर और अविचलित होकर यहां ठहर। (सर्वाः विशः त्वा वाञ्छन्तु) सब प्रजाजन तुझको चाहें। (राष्ट्रं त्वत् मा अधिभ्रशत्) राष्ट्र तेरेसे भ्रष्ट न होवे ॥ १ ॥

(इह एव एधि) यहां आ। (मा अपच्योष्ठाः) कभी मत गिर, (पर्वतः इव अविचाचलत्) पर्वतके समान अविचलित और (इन्द्रः इव ध्रुवः) इन्द्रके समान स्थिर होकर (इह तिष्ठ) यहां ठहर और (राष्ट्रं उ धारय) राष्ट्रका पालन कर ॥ २ ॥

(इन्द्रः ध्रुवेण हविषा) इन्द्र स्थिर समर्पणसे (एतं ध्रुवं अदीधरत) इसको स्थिररूपसे धारण करता है। (तस्मै सोमः) उसको सोमने और (अयं च ब्रह्मणस्पतिः) इस ज्ञानपतिने (अधिब्रवत) उपदेश दिया ॥३॥

भावार्थ—हे राजन् ! तुमको हम सब लोगोंने चुनकर इस राजगद्दीपर लाया है, अब तू इस राजसभामें आ और यहां का कार्य स्थिर होकर कर। चंचलता छोड दे। सब दिशाओंमें रहनेवाले तेरे प्रजाजन तुम्हारे विषयमें संतोष प्रकट करें। तेरेसे इस राज्यकी अधोगति न होवे ॥ १ ॥

इस राज्य पर रह, यहांसे मत गिर जा। स्थिर होकर यहांका कार्य कर। अपने स्थानसे पदच्युत न हो और इस राष्ट्रका उद्धार कर ॥ २ ॥

इन्द्रने भी आत्मसमर्पणसे स्थिर राज्यको प्राप्त किया था और उसको ज्ञानी ब्रह्मणस्पतिने उत्तम उपदेश दिया था; इस प्रकार तूभी आत्मसमर्पणसे इस राज्यका शासन कर और यहां के ज्ञानी जन जिस प्रकार सलाह देंगे उस प्रकार इस राष्ट्रका शासन कर ॥ ३ ॥

राजाकी स्थिरता।

राजा राजगद्दीपर स्थिर किस रीतिसे हो सकता है इस बातका उपदेश बडी उत्तमतासे इस सूक्तमें दिया है। (१) राजाका सब प्रजाजनोंद्वारा चुनाव होना चाहिये, (२) राजाको इस प्रकारका राज्यशासन करना चाहिये कि, जिससे सब लोग प्रसन्न हों और उन्नतिको प्राप्त करें, (३) राजामें चंचलवृत्ति नहीं होनी चाहिये, (४) प्रजाके मनको आकर्षित करनेवाला राजा हो, (५) उसके राज्यशासनसे राष्ट्रकी अवनति न हो, (६) राजा राष्ट्रके विद्वानोंकी संमतिसे राज्यशासन चलावे। इस प्रकार राजा व्यवहार करेगा तो वह राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है, अन्यथा पदच्युत

होगा । इस उपदेशसे पता लग सकता है कि कौनसे दुर्गुण रहनेसे राजा राष्ट्रसे भ्रष्ट होता है देखिये —

(१) प्रजाकी अनुमतिके विना जो राजगद्दीपर बैठता है, (२) जो प्रजाकी प्रसन्नता नहीं प्राप्त करता, (३) जो चंचल वृत्तिका होता है, (४) जिसका अहित प्रजा चाहती है, (५) जिसके राज्यशासनसे राष्ट्रकी अधोगति होती है । (६) जो राष्ट्रके विद्वानोंकी संमतिके विरुद्ध राज्यशासन चलाता है । इस प्रकारका जो राजा होता है वह राज्यसे गिरता है ।

हरएक प्रजाजन तथा हरएक राजा इस सूक्तका विचार करे । इस सूक्तके मननसे प्रजाको भी पता लग जायगा कि उत्तम राजा कौनसा है और अधम कौनसा है; किसको राजगद्दीपर रखना चाहिये और किसको नहीं । राजाको भी पता लग जायगा कि किस रीतिसे अपनी स्थिरता होगी और किस कारण राज्यसे गिरावट होगी । राजा और प्रजा इन दोनोंको इस सूक्तसे उत्तम बोध प्राप्त हो सकता है ।

राजाकी स्थिरता ।

[८८]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता-ध्रुवः)

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ १ ॥
ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ २ ॥
ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व ।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥ ३ ॥

अर्थ- जिस प्रकार (द्यौः ध्रुवा) द्युलोक स्थिर है, (पृथिवी ध्रुवा) पृथ्वी स्थिर है, (इदं विश्वं जगत् ध्रुवं) यह सब जगत् स्थिर है, तथा (इमे पर्वताः ध्रुवासः) ये पर्वत स्थिर हैं उस प्रकार (अयं विशां राजा ध्रुवः) यह प्रजाओंका रंजन करनेवाला राजा स्थिर हो ॥ १ ॥

(राजा वरुणः ते ध्रुवं) राजा वरुण तेरे लिये स्थिर (देवः बृहस्पतिः

ध्रुवं) बृहस्पति देव तेरे लिये स्थिर (इन्द्रः च अग्निः च ते ध्रुवं) इन्द्र और अग्नि तेरे लिये स्थिर (राष्ट्रं धारयतां) राष्ट्र धारण करें ॥ २ ॥

(अच्युतः ध्रुवः शत्रून् प्रमृणीहि) न गिरता हुआ और स्थिर होकर शत्रुओंका नाश कर । (शत्रूयतः अधरान् पादयस्व) शत्रुवत् आचरण करनेवालोंको नीचे गिरा दे । (सर्वाः दिशः) सब दिशाओंमें निवास करनेवाली प्रजाएं (सध्रीचीः संमनसः) एक कार्यमें रत और एक विचार-से युक्त होकर, उन लोगोंकी (समितिः इह ते ध्रुवाय कल्पतां) सभा यहां तेरी स्थिरताके लिये समर्थ होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— द्युलोक, भूलोक, पर्वत और यह सब जगत् जिस प्रकार स्थिर हैं उस प्रकार राजा स्थिर हो जावे ॥ १ ॥

राजा वरुण, इन्द्र, अग्नि और देव बृहस्पति ये इस राजाके लिये स्थिर राष्ट्र धारण करें ॥ २ ॥

राजा स्थिर और सुदृढ होकर शत्रुका नाश करे, शत्रुके समान आचरण करनेवालोंको नीचे गिरावे । सब प्रजाजन एक विचारसे युक्त होकर अपनी राष्ट्रसभाद्वारा उत्तम राजाको राजगद्दीपर स्थिर रखें ॥ ३ ॥

स्थिरता के लिये।

राजा किन गुणोंके धारण करनेसे अपनी राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है इसका विचार इस सूक्तमें किया है । यह सूक्त कहता है कि " द्यौ, पृथिवी, पर्वत, जगत् " ये किस रीतिसे स्थिर हुए हैं इसका विचार राजा करे और उनके गुणोंको धारण करके स्थिर होवे; देखिये इनके कौनसे गुण है—

१ द्यौः— आकाश तथा सूर्य । इनमें तेज है, सूर्य तो स्वयंप्रकाशी है । इस प्रकार उत्तम तेजस्वी राजा स्थिर हो सकता है ।

२ पृथ्वी— पृथ्वी सबका उत्तम प्रकार धारण और पोषण करती है। जो राजा सब प्रजाजनोंका इस प्रकार धारणपोषण करता है वह स्थिर होता है ।

३ पर्वत— अपने स्थानमें स्थिर रहते हैं कभी पीछे नहीं हटते । इस प्रकार युद्धमें जो अपने स्थानमें स्थिर रहता है, भागता नहीं, वह राजा राष्ट्रमें स्थिर रहता है ।

४ जगत्— चलता है, परंतु अपनी मर्यादामें घूमता है । इस प्रकार जो अपनी मर्यादासे प्रगति करता है वह स्थिर होता है

इस प्रकारके गुण धारण करनेवाला राजा राजगद्दीपर स्थिर रहता है। इन गुणोंसे भी और अधिक एक गुण है-

५ विशां राजा ध्रुवः— प्रजाओंका रञ्जन करनेवाला राजा स्थिर रहता है।

यह गुण सब गुणोंसे श्रेष्ठ है और इसके रहनेसेही अन्य गुण कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। " राजा " शब्दका ही अर्थ (प्रजारंजकः) प्रजाको प्रसन्न करनेवाला है। इस प्रकारके प्रजाकी प्रसन्नता संपादन करनेवाले राजाको ही इन्द्रादि देव राजगद्दीपर स्थिर रखनेकी सहाय्यता करें। इन देवताओंसे बोधित होनेवाले राज्यके लोग राजाकी सहाय्यता करें। इन देवतावाचक शब्दोंसे बोधित होनेवाले ये लोग है-

१ बृहस्पतिः, अग्निः=ज्ञानी, विद्वान् आदि ब्राह्म बल,

२ इन्द्रः= शूर वीर, सैनिक आदि क्षत्रिय बल,

३ वरुण= वरिष्ठ लोक,

ये सब लोग उत्तम राजाकी सहाय्यता करें और उसकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करें। इनकी सहाय्यता प्राप्त करके राजा संपूर्ण शत्रुओंको दूर करे, सब प्रजाजनोंमें एकता स्थापित करे और राष्ट्रीय महासभाकी सहाय्यतासे अपनी स्थिरता करे। राष्ट्रमहासभा भी योग्य राजाको ही अपनी सहानुभूति प्रदान करें और अयोग्य राजाको कभी सहाय्यता न दें।

इस प्रकार राजा और प्रजा को बडा बोध देनेवाला यह सूक्त है। आशा है कि ये दोनों इसका मनन करके अधिकसे अधिक लाभ उठावेंगे।

परस्पर प्रेम।

[८९]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता-रुद्रः, मन्त्रोक्ताः)

इदं यत् प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम्।
ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि ॥ १ ॥
शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः।
वातं धूम इव सध्र्यङ् मामेवान्वेतु ते मनः ॥ २ ॥
मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती।
मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम् ॥ ३ ॥

अर्थ- (प्रेण्यः इदं यत् वृष्ण्यं शिरः) प्रेम करनेवालेका जो यह बलवान् सिर है, जो (सोमेन दत्तं) सोमने दिया है, (ततः प्रजातेन) उससे उत्पन्न हुए बलसे (ते हार्दिं परि शोचयामसि) तेरे हृदयके भावोंको उद्दीपित करते हैं ॥ १ ॥

(ते हार्दिं शोचयामसि) तेरे हृदयके भावोंको उद्दीपित करते हैं, (ते मनः शोचयामसि) तेरे मनको उत्तेजित करते हैं, (वातं धूम इव) वायुके पीछे जिस प्रकार धूवां जाता है, उस प्रकार (ते सध्र्यङ् मनः मां एव अन्वेतु) तेरा अनुकूल मन मेरे पासही आवे ॥ २ ॥

(मित्रावरुणौ त्वा मह्यं) मित्र और वरुण तुझको मुझे देवें, (देवी सरस्वती मह्यं) सरस्वती देवी मुझे देवे। (भूम्या मध्यं) भूमिका मध्य तथा (उभौ अन्तौ) दोनो अन्तभाग (त्वा मह्यं समस्यतां) तुझको मुझे देवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रेम करनेवालेका सिर और हृदय प्रेमके साथही उद्दीपित होता है ॥ १ ॥

हृदयको और मनको उत्तेजित करते हैं जिस प्रकार धूवां वायुको अनुसरता है, उसी प्रकार मन हृदयको अनुकूल होवे ॥ २ ॥

मित्र, वरुण, सरस्वती, भूमिका मध्यभाग और अन्तिम भाग ये सब हम सबको मिलाकर रखें ॥ ३ ॥

एकताका मन्त्र।

मनुष्यका सिर और हृदय प्रेमसे उत्तेजित होता है। इस प्रकार उत्तेजित हुआ और प्रेमसे भरपूर हुआ मनुष्य ही इस जगत्में कुछ विशेष कार्य करनेमें समर्थ होता है।

हृदयके अनुकूल मन ऐसा होवे कि, जिस प्रकार वायुकी गतिके अनुकूल धूवां होता है। सरस्वती अर्थात् विद्याकी और भूमि अर्थात् मातृभूमिकी भक्ति ये दोनों मनको ऐसा अनुकूल करें, कि वह कभी हृदयको छोडकर अर्थात् उस नेताके हृदयसे दूर न भाग जावें।

इस प्रकार मनसे सुविचार और हृदयसे भक्ति करते हुए मनुष्य उन्नत हो सकते हैं।

शरीरसे बाणको हटाना ।

[९०]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता—रुद्रः)

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च ।
इदं तामद्य त्वद् वयं विषूचीं वि वृहामसि ॥ १ ॥
यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः ।
तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि ॥ २ ॥
नमस्ते रुद्रास्यते नमः प्रतिहितायै ।
नमो विसृज्यमानायै नमो निपतितायै ॥ ३ ॥

अर्थ— (रुद्रः यां इषुं) रुद्र जिस बाणको (ते अङ्गेभ्यः हृदयाय च आस्यत) तेरे अङ्गों और हृदयके लिये फेंकता है, (अद्य तां) आज उस बाणको (वयं त्वद् विषूचीं) हम तेरेसे विरुद्ध दिशासे (इदं विवृहामसि) इसप्रकार दूर करते हैं ॥ १ ॥

(याः ते शतं धमनयः) जो तेरे शरीरमें सैंकडों धमनियां (अङ्गानि अनु विष्ठिताः) अवयवोंमें रहती हैं (ते तासां सर्वासां) तेरी उन सब धमनियोंसे (विषाणि निः ह्वयामसि) सब विषोंको निश्शेष करते हैं ॥ २ ॥

हे रुद्र ! (ते अस्यते नमः) फेंकते हुए तुझे नमस्कार हो । (प्रतिहितायै नमः) फेंके हुए बाणको नमन हो । (विसृज्यमानायै नमः) छोडे गये बाणको नमन हो और (निपतितायै नमः) लक्ष्यपर लगे बाणको नमस्कार है ॥३॥

भावार्थ- शरीरमें लगे बाणको युक्तिसे हटाना चाहिये और शरीरको विषरहित करना चाहिये ॥ १-३ ॥

जलचिकित्सा।

[२१]

(ऋषिः—भृग्वंगिराः । देवता-यक्ष्मनाशनं, मन्त्रोक्ताः)

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः ।
तेना ते तन्वो३ रपोऽपाचीनमप व्यये ॥ १ ॥
न्यं१ग् वातो वाति न्यक् तपति सूर्यः ।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग् भवतु ते रपः ॥ २ ॥
आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ- (इमं यवं) इस जौको (अष्टायोगैः षड्योगैः) आठ बैलजोडियोंवाले अथवा (षड्योगैः) छः बैलजोडियोंसे की हुई (अचर्कृषुः) कृषिसे उत्पन्न करते हैं। (तेन ते तन्वः) उससे तेरे शरीरके (रपः अपाचीनं अपव्यये) रोगबीजको निम्नगतिसे दूर करते हैं ॥ १ ॥

(वातः न्यक् वाति) अपानवायु निम्न गतिसे चलता है, (सूर्यः न्यक् तपति) सूर्य निम्न भागमें तपता है, (अघ्न्या नीचीनं दुहे) गौ निम्नभागसे दूध देती है। इसप्रकार (ते रपः न्यक् भवतु) तेरा दोष दूर होवे ॥२॥

(आपः इत् वै उ भेषजीः) जल निःसन्देह औषधी है, (आपः अमीवचातनीः) जल रोग दूर करनेवाला है, (आपः विश्वस्य भेषजीः) जल सब रोगोंकी औषधि है, (ताः ते भेषजं कृण्वन्तु) वह जल तेरे लिये औषध बनावे ॥ ३ ॥

जल सब रोगोंको दूर करनेवाली औषधि है, जल सब दोष शरीरसे दूर करता है और सब विष दूर करके आरोग्य देता है। जलप्रयोगसे अपानकी निम्नगति होती है और उस कारण बद्धकोष्ठता दूर होती है। बद्धकोष्ठ दूर होनेसे पूर्ण आरोग्य होता है। इस आरोग्य के लिये उत्तम जौका अन्न खाना चाहिये और इस पथ्यके साथ अष्टांगयोग अथवा षडंगयोग करना चाहिये। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग योगके हैं। पहिले दो अंग अथवा अंतिम दो छोडनेसे, षडंगयोग होता है। इस से भी रोग दूर होते हैं और आरोग्य प्राप्त होता है ॥

अश्व।

[९२]

(ऋषिः—अथर्वा। देवता—वाजी)

वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः।
युजन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥१॥
जवस्ते अर्वन् निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत् परीत्तः।
तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः ॥ २ ॥
तनूष्टे वाजिन् तन्वं नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम्।
अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात् ॥३॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—हे (वाजिन) अश्व ! (युज्यमानः वातरंहाः भव) जोतने पर वायुके वेगसे युक्त हो, (इन्द्रस्य प्रसवे मनोजवाः याहि) इन्द्र की इस सृष्टिमें मनोवेगसे चल। (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युजन्तु) सब ज्ञानसे युक्त मरनेतक उठनेवाले वीर तुझे नियुक्त करें। (त्वष्टा ते पत्सु जवं आदधातु) त्वष्टा तेरे पांवोंमें वेग रखे ॥ १ ॥

हे (अर्वन्) गतिशील ! (यः गुहा निहितः ते जवः) जो हृदयमें रहा हुआ तेरा वेग है, (यः श्येने वाते उत परीत्तः) जो वेग श्येनपक्षीमें और जो वायुमें है और जो अन्यत्रभी है; हे (वाजिन्) अश्व ! (तेन त्वं बलवान) उस वेगसे तू बलवान होकर (समने पारयिष्णुः) संग्राममें पार करनेवाला होता हुआ (आजिं जय) युद्धमें विजय कर ॥ २ ॥

हे (वाजिन्) अश्व ! (ते तनूः तन्वं नयन्ती) तेरा शरीर हमारे शरीरको ले चलता हुआ (अस्मभ्यं वामं धावतु) हम सबके लिये अल्प कालमें पंहुचावे और (तुभ्यं शर्म) तुम्हारे लिये सुख देवे। (अह्रुतः देवः) अकुटिल देव (धरुणाय) सबकी धारणाके लिये (दिवि ज्योतिः इव) द्युलोकमें जैसा तेजस्वी सूर्य है, उसके समान (महः स्वं आ मिमीयात्) सबको बडा तेज निर्माण करके देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—घोडा वेगवान् हो, चलनेके समय मनके वेगके समान शीघ्र दौडे। ऐसे घोडेको वीर जोतें और ईश्वर ऐसे घोडेके पांवमें बडा वेग रखे ॥१॥

जो वेग वायु, श्येन पक्षी और अन्य वेगवान् पदार्थोंमें है वह वेग इस घोडेमें हो। ऐसा वेगवान् और बलवान् घोडा युद्धमें विजयको प्राप्त करनेवाला हो ॥ २ ॥

यह घोडा मनुष्योंको अतिशीघ्र दूरतक पंहुंचावे। वह स्वामीको सुख देवे और स्वयं सुखी होवे। द्युलोकमें सूर्यके समान ऐसा घोडा यहां चमकता रहे ॥ ३ ॥

उत्तम घोडेका वर्णन इस सूक्तमें है। घोडा बलवान् और चपल तथा शीघ्रगामी हो। युद्धमें जानेवाले सैनिक ऐसे घोडोंका उपयोग करें और विजय प्राप्त करें। इत्यादि बोध इस सूक्तमें है।

हमारी रक्षा।

[९३]

(ऋषिः— शन्तातिः। देवता-रुद्रः)

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥ १ ॥
मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भवाय।
नमस्येभ्यो नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रास्मदघविषा नयन्तु ॥ २ ॥
त्रायध्वं नो अघविषाभ्यो वधाद् विश्वे देवा मरुतो विश्ववेदसः।
अग्नीषोमा वरुणः पूतदक्षा वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ— (यमः) नियामक, (मृत्युः) मारक, (अघ-मारः) पापियोंको मारनेवाला, (निर्ऋथः) पीडक, (बभ्रुः) पोषक, (शर्वः) हिंसक, (अस्ता) शस्त्र फेंकनेवाला, (नीलशिखण्डः) नीले ध्वजसे युक्त तथा (देवजनाः) सब दिव्य जन, (सेनया उत्तस्थिवांसः) सेनाके साथ चढाई करनेवाले, (अस्माकं वीरान् परिवृञ्जन्तु) हमारे वीरोंको बचावें ॥ १ ॥

(अस्त्रे शर्वाय) अस्त्र फेंकनेवाले हिंसकके लिये (उत भवाय राज्ञे) और उन्नति करनेवाले राजाके लिये (मनसा घृतेन होमैः हरसा) मनसे, घीसे, होमोंसे और शक्तिसे (एभ्यः नमस्येभ्यः नमः कृणोमि) इन नमन

करने योग्योंको नमन करता हूं। (अघविषः अस्मद् अन्यत्र नयन्तु) पापरूपी विषसे परिपूर्ण लोक हमसे दूर हों ॥ २ ॥

(विश्वेदेवाः विश्ववेदसः मरुतः) सब दिव्य और सब जाननेवाले मरने तक कार्य करनेवाले वीर तथा (अग्निषोमौ पूतदक्षाः वरुणः) अग्नि, सोम, पवित्रबलवाला वरुण, (अघविषाभ्यः बधात् त्रायध्वं) पापियोंके वधसे हमें बचावें। (वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम) वायु और पर्जन्यकी सुमतिमें हम सदा रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब शूरवीर हमारे बालबच्चों और हमारे वीरोंको बचावें॥१॥

जो नमन करने योग्य हैं उनका मनसे और दानके साथ सत्कार किया जावे। पापी हम सबसे दूर हों ॥ २ ॥

सब देव हमें पापीयोंसे बचावें और हम उनकी उत्तम मतिमें रहकर उत्तम कार्य करें ॥ ३ ॥

संगठन का उपदेश।

[९४]

(ऋषिः- अथर्वांगिराः। देवता-सरस्वती)

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥ १ ॥
अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ २ ॥
ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्चर्ध्यास्मेदं सरस्वती ॥ ३ ॥

अर्थ—(वः मनांसि सं) तुम्हारे मन एक भावसे युक्त करो, (व्रता सं) तुम्हारे कर्म एक विचारसे हों, (आकूतिः सं नमामसि) तुम्हारे संकल्पोंको एक भावमें झुकाते हैं। (अमी ये विव्रताः स्थन) यह जो तुम परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हो, (तान् वः सं नमयामसि) उन सब तुमको हम एक विचारमें झुकाते हैं ॥ १ ॥ (अथर्व० ३।८।५)

(अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि) मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको लेता हूं । (मम चित्तं चित्तेभिः अनु आ-इत) मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर आओ । (मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि) मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंको मैं करता हूं । (मम यातं अनुवर्त्मानः आ-इत) मेरे चालचलनके अनुकूल चलनेवाले होकर यहां आओ ॥ (अथर्व० ३ । ८ । ६)

(द्यावापृथिवी मे ओते) द्युलोक और भूलोक ये मेरे से मिलेजुले हैं । (देवी सरस्वती ओता) सरस्वती देवी मेरेसे मिली है । (इन्द्रः च अग्निः च मे ओतौ) इन्द्र और अग्नि मेरे साथ मिले हैं । हे सरस्वति ! (इदं ऋध्यास्म) इससे हम समृद्ध हों ॥ ३ ॥ (अथर्व० ५।२३।१)

ये तीनों मंत्र पूर्वस्थानमें आये हैं । ऊपर उनका पता दिया है । इसलिये विशेष स्पष्टीकरण पूर्वस्थानमें ही पाठक देखें । तृतीय मंत्रका चतुर्थ चरण इस सूक्तमें पूर्वकी अपेक्षा भिन्न है, परंतु वह अति सरल होनेसे विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा नहीं रखता ।

कुष्ठ औषधि ।

[९५]

(ऋषिः- भृग्वंगिराः । देवता-वनस्पतिः)

अ॒श्व॒त्थो दे॑व॒सद॑नस्तृ॒तीय॑स्यामि॒तो दि॒वि ।
त॒त्राऽमृत॑स्य॒ चक्ष॑णं दे॒वाः कुष्ठ॑मवन्वत ॥ १ ॥
हि॒र॒ण्ययी॒ नौर॑चर॒द्धिर॑ण्यबन्धना दि॒वि ।
त॒त्राऽमृत॑स्य॒ पुष्पं॑ दे॒वाः कुष्ठ॑मवन्वत ॥ २ ॥
गर्भो॑ अ॒स्योष॑धीनां॒ गर्भो॑ हि॒मव॑तामु॒त ।
गर्भो॒ विश्व॑स्य भू॒तस्ये॒मं मे॑ अग॒दं कृ॑धि ॥ ३ ॥

अर्थ- (इतः तृतीयस्यां दिवि) यहांसे तीसरे द्युलोकमें (देवसदनः अश्वत्थः) देवोंके बैठने योग्य अश्वत्थ है । (तत्र अमृतस्य चक्षणं) वहां अमृतका दर्शन होनेके समान (कुष्ठं देवाः अवन्वत) कुष्ठ औषधिको देवोंने प्राप्त किया है ॥ १ ॥ (अथर्व० ५ । ४ । ३)

(हिरण्ययी हिरण्यबन्धना नौः) सोनेकी बनी और सुवर्णके बन्धनोंसे बन्धी नौका (दिवि अचरत्) द्युलोकमें चलती है। (तत्र अमृतस्य पुष्पं कुष्ठं) वहां अमृतके पुष्पके समान कुष्ठ औषधिको (देवाः अचन्वत) देवोंने प्राप्त किया है ॥ २ ॥ (अथर्व० ५।४।४)

(ओषधीनां गर्भः असि) औषधियोंका मूल तू है। (उत हिमवतां गर्भः) और हिमवालोंकाभी तू गर्भ है। (तथा विश्वस्य भूतस्य गर्भः) सब भूतमात्रका गर्भ है; (मे इमं अगदं कृधि) तू मेरे इस रोगीको नीरोग कर ॥ ३ ॥ (अथर्व० ५।२५।७)

ये भी तीनों मंत्र पूर्व स्थानमें आगये हैं। अतः पाठक इनका विवरण पूर्वस्थानमें देखें। तृतीय मंत्रमें कुछ पाठभेद है, परंतु उसके विशेष स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है।

रोगोंसे बचना।

[९६]

(ऋषिः— भृग्वङ्गिराः। देवता-वनस्पतीः, ३ सोमः)

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥
मुञ्चन्तु मा शपथ्याऽदथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वींशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ २ ॥
यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः।
सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु ॥ ३ ॥

अर्थ— (याः सोमराज्ञीः बह्वी ओषधयः) जो सोम औषधि जिनमें मुख्य है ऐसी अनेक औषधियां हैं और जिनसे (शत-विचक्षणाः) सैंकडों कार्य होते हैं, (बृहस्पति-प्रसूताः ताः) ज्ञानीके द्वारा दी हुई वे औषधियां (नः अंहसः मुञ्चन्तु) हमें पापरूपी रोगसे बचावें ॥ १ ॥

(मा शपथ्यात् मुञ्चन्तु) मुझको दुर्वचनसे हुए रोगसे बचावें, (अथो उत वरुण्यात्) और जलके कारण होनेवाले रोगसे बचावें। (अथो यमस्य

पड्वीशात्) अथवा यमके पाशस्वरूप असाध्य रोगोंसे बचावें तथा (विश्वस्मात् देवकिल्बिषात्) सब देवोंके संबंधके पापोंसे उत्पन्न हुए रोगोंसे बचावें ॥ २ ॥

(यत् चक्षुषा मनसा) जो पाप चक्षु और मनसे तथा (यत् च वाचा) जो वाणीसे (जाग्रतः यत् स्वपन्तः उपारिम) जागते समय और जो सोते समय हम (उपारिम) प्राप्त करते हैं (नः तानि) हमारे वह सब पाप (सोमः स्व-धया पुनातु) सोम अपनी शक्तिसे पुनीत करके दूर करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब औषधियोंमें सोम औषधि मुख्य है। इन औषधियोंसे सैंकडों रोगोंकी चिकित्सा होती है। ज्ञानी वैद्यद्वारा दी हुई ये औषधियां हमें रोगमुक्त करें ॥ १ ॥

दुर्वचनसे, जलके बिगडनेसे, यमके पाशरूप दोषोंसे और सब पापोंसे उत्पन्न हुए रोगोंसे औषधियां हमें बचावें ॥ २ ॥

आंख, मन, वाणी आदि इंद्रियोंद्वारा जाग्रतावस्थामें और स्वप्नावस्थामें जो पाप हम करते हैं; उन पापोंसे उत्पन्न हुए रोगोंसे सोम आदि औषधियां हमें बचावें ॥ ३ ॥

पापसे रोगकी उत्पत्ति।

इस सूक्तमें पापसे रोगोंकी उत्पत्ति होनेकी कल्पना बताई है। सब रोग मनुष्योंके किये पापोंसे उत्पन्न होते हैं। यदि मनुष्य अपने आपको पापसे बचावेंगे, तो निःसंदेह वे रोगोंसे बच सकते हैं।

मनुष्य सोते हुए और जागते हुए अपने इंद्रियोंसे अनेक पाप करते हैं और रोगी होते हुए दुःखी होते हैं। इनको उचित है कि, ये पापसे बचे रहें और अपने इन्द्रियोंसे पाप न करें।

' शपथ ' अर्थात् गालियां देना, बुरे शब्द बोलना और क्रोधके वचन कहना यह भी पाप है। इससे अनेक रोग होते हैं। क्रोध भी स्वयं रोग उत्पन्न करता है। अतः इससे बचना उचित है।

रोग होनेपर औषधिप्रयोगसे रोगनिवृत्ति हो सकती है, परंतु औषध (बृहस्पति-प्रसूत) ज्ञानी वैद्यद्वारा विचारपूर्वक दिया हुआ होना चाहिये।

इस रीतिसे इस सूक्तमें बहुत उत्तम बोध दिये हैं। यदि पाठक इन सबका योग्य विचार करेंगे तो वे अपने आपको बहुत कष्टोंसे बचा सकते हैं ॥

शत्रुको दूर करना।

[९७]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता-मित्रावरुणौ)

अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः।
अभ्यहं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः ॥ १ ॥
स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत् क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम्।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥ २ ॥
इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ ३ ॥

अर्थ—(यज्ञः अभिभूः) यज्ञ शत्रुका पराभव करता है, (अग्निः अभिभूः) अग्नि शत्रुका पराजय करता है, (सोमः अभिभूः) सोम शत्रुका पराभव करता है, (इन्द्रः अभिभूः) इन्द्र शत्रुका पराभव करता है। (यथा अहं विश्वाः पृतनाः अभि असानि) जिससे मैं सब सेनाओंका पराभव करूं (एवा) इस प्रकार हम भी (अग्निहोत्राः इदं हविः विधेम) अग्निहोत्र करनेवाले होकर इस हविका समर्पण करेंगे ॥ १ ॥

हे (विपश्चिता मित्रावरुणा) ज्ञानी मित्र और वरुण! आपके लिये (स्वधा अस्तु) यह अन्नभाग हो। (प्रजावत क्षत्रं इह मधुना पिन्वतं) प्रजायुक्त क्षत्रिय बल यहां सींचो। (निर्ऋतिं पराचैः दूरे बाधेथां) दुर्गतिको दूर करके दूरही नष्ट करो और (कृतं चित् एनः) किये हुए पापको भी (अस्मत् प्रमुमुक्तं) हमसे दूर करो ॥ २ ॥

हे (सखायः) मित्रो! (उग्रं ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं वीरं) उग्र स्वभावयुक्त, गांवको जीतनेवाले, गौको जीतनेवाले अथवा इंद्रियोंको वश करनेवाले, वज्रधारण करनेवाले वीर, (ओजसा अज्म प्रमृणन्तं)

बलसे शत्रुबलका नाश करनेवाले और (जयन्तं) विजय करनेवाले (इन्द्रं अनु सं रभध्वं) इन्द्रके अनुकूल अपने सब व्यवहार करो ॥ ३ ॥

भावार्थ- यज्ञ अर्थात् परोपकार, अग्नि, सोमादि औषधि, शूर वीर ये सब अपने अपने शत्रुओंको दूर करते हैं। उस प्रकार मैं भी सेनासे आक्रमण करनेवाले शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूंगा। मैं इस विजयके लिये ऐसा आत्मसमर्पण करूंगा जैसा अग्निहोत्रमें हविर्द्रव्य अपने आपका समर्पण करता है ॥ १ ॥

इस राज्यमें सब क्षत्रियोंको उत्तम शूरवीर बालबच्चे हों और वे राष्ट्रमें ऐसा प्रबंध करें कि; उससे सब दुर्गति नष्ट होवे और सब पाप दूर होवे ॥ २ ॥

जो शत्रुके गांवको जीतनेवाला, शूरवीर, शस्त्रधारण करनेवाला अपने बलसे शत्रुसेनाका नाश करता है, उस विजय संपादन करनेवाले वीरके अनुकूल अपना आचरण करो ॥ ३ ॥

विजयके साधन ।

इस सूक्तमें विजयके कई साधन वर्णन किये हैं। प्रथम मंत्रमें इन साधनोंकी गणना की है, देखिये—

१ यज्ञः— यज्ञसे विजय होता है। यह सबसे मुख्य साधन है। यज्ञ अर्थात् ' सत्कार, संगठन और उपकार '। सत्कार करनेयोग्य जो हैं उनका सत्कार करना, अपने अंदर संगठनसे बल बढाना, और दुर्बलोंके ऊपर उपकार करना यह यज्ञ है। इस यज्ञसे वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सब शत्रु दूर होते हैं। ये यज्ञ अनेक प्रकारके हैं। उन सबका यहां वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यज्ञ मातृभूमिका रक्षण करता है यह बात अथर्व० कां० १२।१।१ में भी कही है; वह मंत्र यहां पाठक देखकर इसके साथ उसकी तुलना करें।

२ अग्निः—अग्नि शब्दसे ज्ञान, प्रकाश और उष्णता का बोध यहां लेना योग्य है। ज्ञानसे विजय सर्वत्र होता है। प्रकाश भी विजय देनेवाली है और उष्णता अर्थात् गर्मी मनुष्यमें रही तो वह मनुष्य कुछ न कुछ पराक्रम करनेमें समर्थ हो सकता है।

३ सोमः—सोम आदि औषधियां रोगादि शत्रुओंका पराभव करती हैं।

४ इन्द्रः—शूरवीर शत्रुसेनाका पराजय करते हैं।

यज्ञ कैसा हो ?

विजयप्राप्तिके लिये यज्ञ कैसा हो ? इस प्रश्नके उत्तरमें प्रथम मंत्रने कहा है कि जैसा अग्निहोत्रमें हवि आत्मसमर्पण करता है, अग्निहोत्र करनेवाले लोक अपनी आहुतियोंका जैसा समर्पण करते हैं, जिस प्रकार (न मम) इसपर अब मेरा अधिकार नहीं ऐसा कहते हुए समर्पण करते हैं, उस प्रकार जब आत्मसमर्पण होगा, तब शत्रुपर विजय प्राप्त होगा। विजय प्राप्त करनेवाले अपने आपका समर्पण पूर्ण रीतिसे करें, यही यज्ञ है और यही विजय देनेवाला है।

विजयके लिये (स्वधा अस्तु) स्वकीय धारणा शक्ति चाहिये। अपने अंदर धारणा शक्ति जितनी अधिक होगी उतना विजयप्राप्तिका निश्चय अधिक होगा।

साथही साथ क्षत्रियोंमें वीर पुरुष भी उत्तम प्रकार निर्माण होने चाहियें। इन्हींसे विजय होता है। और सब लोगोंका प्रयत्न इस कार्यके लिये होना चाहिये कि; अपने राष्ट्रके अंदर जो विपत्ति है वह पूर्णरूपसे दूर हो। और सब लोग विपत्ति और कष्टसे मुक्त होकर समृद्धि तथा सुख प्राप्त करें।

सब लोग शूरवीर, प्रतापी और पुरुषार्थी मनुष्यके अनुकूल अपना आचरण करें और कभी प्रतिकूल आचरण न करें। क्यों कि नेताके प्रतिकूल आचरण करनेसे नाश ही होगा और लाभ होनेकी आशा भी नहीं रहेगी।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके पाठक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

विजयी राजा।

[९८]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- इन्द्रः)

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधिरा॒जो राज॑सु राजयातै।
च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॑ नम॒स्यो॑ भवे॒ह ॥ १ ॥
त्वमि॑न्द्राधिरा॒जः श्र॑व॒स्युस्त्वं भू॑र॒भिभू॑ति॒र्जना॑नाम्।
त्वं दैवी॒र्विश॑ इ॒मा वि रा॒जायु॑ष्मत् क्ष॒त्रम॒जरं॑ ते अस्तु ॥ २ ॥
प्राच्या॑ दि॒शस्त्वमि॑न्द्रासि॒ रा॒जोतोदी॑च्या दि॒शो वृ॑त्रहञ्छत्रु॒हासि।
यत्र॒ यन्ति॑ स्रो॒त्यास्तज्जि॒तं ते॑ दक्षिण॒तो वृ॑ष॒भ ए॑षि॒ हव्यः॑ ॥ ३ ॥

अर्थ- (इन्द्रः जयाति) शूर पुरुषका जय होता है, (न पराजयातै) कभी पराजय नहीं होता। (राजसु अधिराजः राजयातै) राजाओंमें जो सबसे श्रेष्ठ अधिराजा होता है उसकी शोभा बढती है। हे राजा! तू (इह) इस राष्ट्रमें (चर्कृत्यः ईड्यः) शत्रुका नाश करनेवाला और स्तुति के लिये योग्य, (वन्द्यः उपसद्यः नमस्यः भव) वन्दनीय, प्राप्त करने योग्य और नमस्कारके लिये योग्य हो ॥ १ ॥

हे इन्द्र! (त्वं अधिराजः) तू राजाधिराज और (श्रवस्युः) कीर्तिमान हो। (त्वं जनानां अभिभूतिः भूः) तू प्रजाजनोंका समृद्धिकर्ता हो। (त्वं इमाः दैवीः विशः विराज) तू इन दैवी प्रजाओंपर विराजमान हो। (ते आयुष्मत् क्षत्रं अजरं अस्तु) तेरा दीर्घायुयुक्त क्षात्र तेज जरा-रहित होवे ॥ २ ॥

हे इन्द्र! (त्वं प्राच्याः दिशः राजा असि) तू प्राचीन दिशाका राजा है। हे (वृत्रहन्) शत्रुनाशक! (उत उदीच्या दिशः शत्रुहा असि)और तू उत्तर दिशाके शत्रुओंका नाश करनेवाला है। (यत्र स्रोत्याः यन्ति) जहां नदियां जाती हैं वहां तकके प्रदेश को (तत् ते जितं) तूने जीत लिया है। तथा (वृषभः हव्यः दक्षिणतः एषि) बलवान् और आदरसे पुकारने योग्य होकर दक्षिण दिशासे तू जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो पुरुष शूर होता है, उसीका जय होता है कभी पराजय नहीं होता। जो राजा सब राजाओंमें श्रेष्ठ बनता है वही अधिक प्रभाव-शाली, प्रशंसनीय, वंदनीय और उपास्य होता है ॥ १ ॥

उत्तम राजा कीर्तिमान् और प्रजाओंकी समृद्धि बढानेवाला होवे। अपनी प्रजाको दैवी संपत्तिसे युक्त करे और अपने राष्ट्रका क्षात्रतेज बढाकर दीर्घ आयु भी बढावे ॥ २ ॥

चारों दिशाओंमें शत्रुओंका पराजय करके राजा विजयी बने, बलवान् बने और सबके आदरके लिये पात्र बने ॥ ३ ॥

❀ ❀ ❀

राजा विजयी होकर किस रीतिसे यशका भागी होता है, यह बात इसमें स्पष्ट शब्दोंमें कही है। इस सूक्तका भाव अति सरल और सुबोध है। "शौर्य और बल बढाने और प्रजाकी समृद्धि वृद्धिंगत करनेसे राजा विजयी होता है," यह इस सूक्तका मुख्य आशय है।

कल्याणके लिये यत्न।

[९९]

(ऋषिः— भृग्वङ्गिराः। देवता-वनस्पतिः, सोमः सविता च)

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्धुवे।
ह्वयाम्युग्रं चेत्तारं पुरुणामानमेकजम् ॥ १ ॥
यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन् न उदीरते।
इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः ॥ २ ॥
परि दद्म इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः।
देव सवितः सोम राजन्त्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये ॥ ३ ॥

अर्थ— हे इन्द्र! (पुरा अंहुरणात्) पाप कर्म होनेके पूर्व ही (वरिमतः त्वा त्वा अभि हुवे) श्रेष्ठ कर्मके कारण तेरी ही सब प्रकारसे पुकार करते हैं। तथा (उग्रं चेत्तारं) शूरवीर चेतना देनेवाले (एकजं पुरुनामानं ह्वयामि) अकेले परंतु अनेक यशोंसे संपन्न पुरुषकी हम प्रशंसा करते हैं॥ १ ॥

(यः अद्य सेन्यः वधः) जो आज सेनाका शस्त्र हमें मारनेके लिये (उत् ईरते) ऊपर उठता है, (तत्र इन्द्रस्य बाहू समन्तं परि दद्मः) वहां प्रभुके बाहू चारों ओर हम धरते हैं॥ २ ॥

(इन्द्रस्य बाहू समन्तं परि दद्मः) प्रभुके बाहू चारों ओर हम धरते हैं, (त्रातुः नः त्रायतां) उस रक्षकके बाहु हमारी रक्षा करें। हे (सोम राजन् देव सवितः) सोम राजा देव! प्रभो! (स्वस्तये मा सुमनसं कृणु) कल्याणके लिये मुझे उत्तम मनवाला कर॥ ३ ॥

भावार्थ—जिससे पाप कर्म नहीं होता है और जो श्रेष्ठ कर्म करता है; उसीकी प्रशंसा करनी चाहिये। इसी प्रकार जो शूरवीर, जनताको चेतना देनेवाला और अनेक प्रकारसे यश प्राप्त करनेवाला है, उसीका गुणगान करना योग्य है॥ १ ॥

जिस समय सेनासे हमला होता है और शस्त्रसे वीर एक दूसरेको काटते हैं, उस समय प्रभुके हाथ ही रक्षा करते हैं॥ २ ॥

ऐसे तथा अन्य प्रकारके कठिन प्रसंगोंमें प्रभुके हाथ ही हमारी रक्षा करें। मनुष्यको यदि सचमुच कल्याण का साधन करना है तो वह

अपना मन शुभ विचारोंसे परिपूर्ण रखे ॥ ३ ॥

कल्याण का मुख्य साधन।

इस सूक्तमें जो कल्याण का मुख्य साधए कहा है वह देखने योग्य है-

स्वस्तये सुमनसम्। (मं० ३)

" कल्याण प्राप्त करनेके लिये उत्तम मन होना चाहिये। " यदि मन उत्तम शुभ संकल्पोंसे युक्त हुआ, तो ही मनुष्यका सचमुच कल्याण हो सकता है। मनमें दोष रहे, तो अवश्य कष्ट होंगे। इसीप्रकार कितनी भी आपत्ति आगई तो भी उस समय प्रभुका हाथ अपनी पीठपर है ऐसा विश्वास होना चाहिये, इस विषयमें देखिये-

सेन्यः वधः जिघांसन् उदीरते।
तत्र इन्द्रस्य बाहुः समन्तं नः त्रायताम् ॥ (मं० २, ३)

" जब सेनाके शस्त्र वधकी इच्छासे ऊपर उठते हैं, तब प्रभुका हाथ चारों ओरसे हमारी रक्षा करे।" प्रभुका हाथ सब प्रकारसे हमारी रक्षा कर रहा है, यह विश्वास मनुष्यको बडी शान्ति देता है और बल भी बढाता है।

इसके अतिरिक्त मनुष्यको तीन बातें ध्यानमें धारण करनी चाहिये, (१) पाप न करना, (२) श्रेष्ठ कर्म करना और (३) उग्र बनकर जनताको श्रेष्ठ कर्म करनेकी प्रेरणा करना। ये तीन कर्म करनेसे ही मनुष्य श्रेष्ठ और यशस्वी बनता है।

पाठक इस सूक्तका बहुत मनन करें; क्यों कि यह छोटासा सूक्त होनेपर भी बडा उत्तम उपदेश देता है और मनुष्यको श्रेष्ठ होनेकी प्रेरणा करता है।

विषनिवारण का उपाय।

[१००]

(ऋषिः—गरुत्मान्। देवता—वनस्पतिः)

दे॒वा अ॑दुः सूर्यो॑ अदाद् द्यौर॑दात् पृथि॒व्य॑दात्।
ति॒स्रः सर॑स्वतीरदुः सचि॑त्ता विष॒दूष॑णम् ॥ १ ॥
यद् वो॑ दे॒वा उ॑पजी॒का आसि॑ञ्च॒न् धन्व॑न्युद॒कम्।
तेन॑ दे॒वप्र॑सूतेने॒दं दू॑षयता वि॒षम् ॥ २ ॥
असु॑राणां दुहि॒तासि॒ सा दे॒वाना॑मसि॒ स्वसा॑।
दि॒वस्पृ॑थि॒व्याः संभू॑ता॒ सा च॑कर्था॒रसं॑ वि॒षम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (देवाः विषदूषणं अदुः) देवोंनें विषनिवारक उपाय दिया है। (सूर्यः अदात्) सूर्यने दिया है। (द्यौः अदात, पृथिवी अदात्) द्युलोक और पृथ्वी लोकने भी दिया है। (सचित्ताः तिस्रः सरस्वतीः अदुः) एक विचारवाली तीनों सरस्वती देवियोंने विषनिवारक उपाय दिया है ॥ १ ॥

हे (देवाः) देवो! (उपजीकाः यत् उदकं) उपजीक नामक औषधियां जो जल (धन्वनि वः असिंचन्) मरुदेशमें आपके समीप सींचति हैं, (तेन देवप्रसूतेन) उस देवसे उत्पन्न जलसे (इदं विषं दूषयता) इस विषका निवारण करो ॥ २ ॥

हे औषधि! तू (असुराणां दुहिता असि) असुरोंकी दुहिता है। (सा देवानां स्वसा असि) वह तू देवोंकी बहिन है। (दिवः पृथिव्याः संभूता) द्युलोक और भूलोकसे उत्पन्न हुई (सा विषं अरसं चकर्थ) वह तू विषको निर्बल बना ॥ ३ ॥

भावार्थ—पृथ्वी, सूर्य, वायु जल आदि सब देव विषको दूर करते हैं। तथा विद्याएं भी ऐसी हैं जो विषदूर करती हैं ॥१॥ मरुदेशमें भी जो जल होता है वह विष दूर करता है ॥२॥ औषधिभी विषदूर करनेवाली है॥३॥

* * *

यह सूक्त बडा दुर्बोधसा है। पहिले मंत्रमें कहा है कि पृथ्वी आदि अनेक देव विषनाशक गुण रखते हैं। अग्नि, जल, सोम आदि के प्रयोगसे विष दूर होनेकी बात वैद्यक ग्रंथोंमें भी कही है।

द्वितीय मंत्रमें ' उपजीका ' मरुदेशमें जल उत्पन्न करती है वह जल विषनाशक है, ऐसा कहा है। यह उपजीका कौनसी वनस्पति है इसका पता नहीं चलता। 'उपजीक' शब्दका अर्थ ' दूसरेके ऊपर रहकर अपनी उपजीविका करनेवाली '। इससे संभव प्रतीत होता है कि वृक्षोंपर उत्पन्न होनेवाली कोई वनस्पति हो, जिसमें रस बहुत आता हो और जो मरुदेशमें भी विपुल रससे युक्त होती हो। इस वनस्पतिके रससे या उसके जलसे विष दूर होता है।

यह वनस्पति (असु-राणां दुहिता) प्राण रक्षण करनेवालोंको सहाय्यक और (देवानां स्वसा) इंद्रियोंके लिये भगिनीरूप है। अर्थात् यह आरोग्यवर्धक है, यह निर्जल भूमिमें उगती है और विष दूर करती है। वैद्योंको इस वनस्पतिकी खोज करना चाहिये।

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ़	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	- १)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	।॥)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	,, ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	।॥) "	।)
१२ राजधर्मपर्व	[७७–८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
१३ आपद्धर्मपर्व	[८४–८५]	२	२३२	१।)	।-)

कुल मूल्य ४५) कुल डा. व्य. ८ =)

सूचना — ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री — स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक — श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

R. NO. B. 1463

ओं

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ११

अंक ६

क्रमांक १२६

ज्येष्ठ

संवत् १९८७

जून

सन १९३०

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष ११
अंक ६
क्रमांक १२६

ज्येष्ठ
संवत् १९८७
जून
सन १९३०

वैदिक धर्म

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र ।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि० सातारा ।

कारीगरोंका सहकार्य ।

नापाभूत न वोऽतीतृषामानि:शस्ता ऋभवो यज्ञे अस्मिन् ।
समिन्द्रेण मदथ सं मरुद्भिः सं राजभी रत्नधेयाय देवाः ॥ ११ ॥

ऋग्वेद ४ । ३४ । ११

" हे (ऋभवः देवाः) कारीगर देवो ! तुम (अस्मिन् यज्ञे अनिःशस्ताः) इस यज्ञ में अनिन्दित कार्य करनेवाले होकर (न अपाभूत) दूर न जाओ, अर्थात् यहीं रहो । क्यों कि (वः न अतितृषाम) तुमको हम तृषित नहीं रखेंगे । तुम (इन्द्रेण सं) इन्द्रसे, नरेन्द्रसे, (मरु-उद्भिः) मरुतों से, मरने तक उत्साहके साथ कार्य करनेवाले वीरोंसे और (राजभिः सं) मांडलिक राजाओं के साथ मिलजुल कर (रत्न-धेयाय मदथ) रत्नों के धारण करने के लिये आनंदित हो जाओ । "

जिस प्रकार देवों के कारीगर ऋभु ये इन्द्र, मरुत् आदि देवों के साथ मिलजुल कर कार्य करते हैं, और रत्नोंकी संख्या बढाकर देवों का ऐश्वर्य बढाने का प्रयत्न करते हैं, और सदा प्रशंसनीय कर्म करके देवोंके लिये होनेवाले यज्ञ में भाग लेते हैं, उसी प्रकार मानवी समाजमें रहनेवाले कारीगर लोग राजा, महाराजा, सरदार, मांडलिक, वीर तथा अन्य लोग इन से मिलजुल कर रहें, उनका अर्थात् सब राष्ट्रका ऐश्वर्य बढाने के लिये उत्पादक कार्य करें, किसी कारण अप्रशस्त कर्म कदापि न करें, सबके लिये जो हित-कारी कार्य होगा उसमें आनंदसे भाग लें, और सबके सुखमें अपना सुख है यह ध्यानमें रख कर अपना व्यवहार करें ।"

अथर्व वेदका परिचय।

(ले० २)

पिछले लेख में अथर्व वेद के संबंध में साधारण परिचय की बातें बतलाई गई। इस लेख में वही विषय कुछ उदाहरण देकर अधिक स्पष्ट करेंगे। प्रथम व्यक्तिगत उन्नति का विचार करें।

मेधाजनन।

व्यक्ति की उन्नति में मेधाजनन का महत्त्व सबसे अधिक है। क्यों कि उसीपर मनुष्य की मनुष्यता निर्भर है। मेधा के माइने धारणावती बुद्धि है। इसी बुद्धि को बढाने का नाम मेधाजनन है। सुना हुआ विषय और अध्ययन की हुई विद्या स्मरण में रखने का काम जिस बुद्धि-विभाग के सुपुर्द रहता है उस बुद्धि-विभाग को मेधा कहते हैं। लौकिक संस्कृत में मेधा शब्द का इतना ही अर्थ है। परन्तु वेद में इसका अर्थ " शक्ति, बल, मानसिक और इंद्रियसंबंधी सामर्थ्य " भी होता है। अर्थात् वेद में 'मेधा' शब्द का व्यापक अर्थ है " बौद्धिक शक्तियों से लगाकर शारीरिक शक्तियों तक की सब शक्तियां "। अतः भूलना न चाहिए कि वेद के मेधाजनन में अपनी सब शक्तियों की वृद्धि की योजना अंतर्भूत है। मेधाजनन का प्रकरण अथर्व-वेद के प्रारंभ में बिलकुल पहले सूक्त में आया है। उसका पहला मंत्र यह है:—

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥

अथर्व० १।१।१

" जो (तीन + सत्ते) इक्कीस तत्त्व संसार की संपूर्ण वस्तुमात्रों के विविध रूप धारण करके फिरते हैं, उन इक्कीस तत्त्वों की शक्तियां आज ही मेरे शरीर में वाणी का पति आत्मा स्थिर करे "।

यह मंत्र अनेक दृष्टिसे विचारणीय है। सारे संसार की रचना कैसे हुई, संसार के भिन्न भिन्न पदार्थों को रंग, रूप और आकार किस के कारण प्राप्त हुआ और संसार की विविध सृष्टि का हमारी भलाई बुराई से क्या संबंध है आदि प्रश्न मनुष्य के हृदय में बारंबार उत्पन्न होते हैं। इस मंत्र ने इन सब प्रश्नों के उत्तर दे दिए हैं।

(१) मूल में सात पदार्थ हैं। उनमें से प्रत्येक को तीन तीन अवस्थाएँ प्राप्त होकर मूलभूत सात पदार्थों के इक्कीस बनते हैं। ये ही मूल (तीन सत्ते) इक्कीस तत्त्व हैं।

(२) ये इक्कीस तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में एक दूसरे से संयुक्त होकर, उससे इस संसार के सब पदार्थों के रूप बनते हैं। येही तत्त्व जगत् के विविध रंग, रूप और आकार धारण करते हैं।

(३) इन इक्कीस पदार्थों में विलक्षण शक्तियां हैं। इनसे उत्पन्न होनेवाले विविध पदार्थमात्रों में भी विलक्षण शक्तियां हैं।

(४) ये शक्तियां मनुष्य के शरीर में आकर रह सकती हैं। इनकी शक्तियां जितनी अधिक मात्रा में मनुष्य के शरीर में रहेगीं उतना ही वह अधिक बलवान् बनेगा और वे जितनी कम मात्रा में रहेंगी उतनाही वह निर्बल बनेगा।

मनुष्य की सबलता और निर्बलता इसपर अव-लंबित है। इस मंत्र से विदित हो सकता है कि मनुष्य की शारीरिक, इंद्रियविषयक, मानसिक, बौद्धिक आदि शक्तियों के विकास के लिए क्या उपाय करें। मनुष्य में जिस शक्ति की कमी है उस शक्ति को बढानेवाले पदार्थों का योग्य विधिपूर्वक सेवन करना और आत्मिक दृढ निश्चयसे उस शक्ति को स्थिर करना ही मेधाजनन के प्रयोग का संक्षिप्त स्वरूप है। इसके आगे के ही दूसरे मंत्र में—

दिव्य मन।

देवेन मनसा सह एहि॥ २॥

" दिव्य मन के साथ आओ " यह उपदेश किया

गया है। मन के दो भाग हैं एक ' देव मन ' और दूसरा ' राक्षस मन '। इनमें से देव मन की वृद्धि करना मनुष्य को उचित है। जिससे उसकी शक्ति बढेगी, मेधावृद्धि होगी और सब प्रकारसे सच्ची और चिरस्थाई उन्नति होगी। वाचक जानते ही हैं कि कितनी ही द्रव्यकी अनुकूलता हो, साधनों की समृद्धि हो, खानपान की विपुलता हो, पर मनुष्यका मन शुद्ध और पवित्र रहनेसे ही इन अनकूल साधनों से उसे सच्चा लाभ हो सकता है। पर यदि उसके मन में राक्षसी भावनाएं प्रबल हुईं, आसुरी और पैशाची वृत्तियोंने सिर उठाया तो उपरोक्त सब साधन उसका नाश ही करेंगे। ये बातें प्रतिदिन आंखोंके सामने होती हैं। अतः इनका अधिक स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसी सूक्त के तीसरे मंत्र का उपदेश अब देखिए—

इहैव वितनूभे आर्त्नी इव ज्यया ॥ ३ ॥

अथर्व० १।१।३

" धनुष्य के दोनो छोर जैसे रस्सीसे सज्ज किए हुए रहते हैं वैसे ही तुम दोनो को सज्ज रहना चाहिए। "

धनुष्य की लकडी और रस्सी अलग अलग हो या एक ही स्थान में हों, उनसे शत्रुनिवारण की दृष्टि से बिलकुल शक्ति निर्माण नहीं हो सकती। परन्तु यदि वही धनुष्य सज्ज किया हुआ हो, तो उसपर बाण चढाकर शत्रु का नाश सहज ही में किया जा सकता है। अतः इस संसार में उत्कर्ष के लिए ऐसे सज्ज होकर ही वर्तना चाहिए वर्ना इस संसार में हम उन्नति का मार्ग ही निश्चित नहीं कर सकते।

थोडेसे विचार से पता चलेगा कि इस मंत्र में कितने महत्त्व का उपदेश है। व्यक्तिशः, कुटुंबशः, संघशः, जातिशः और राष्ट्रशः यदि हम बिलकुल तैयार हों और पूर्ण तैयारी से ही आगे पैर बढावें तो निश्चयसे हमें यश प्राप्त होगा। यदि ऐसा नहीं है तो आलसी, सुस्त, और मंद मनुष्य कितनीही साधन-संपन्नता में क्यों न रखे जांय उनकी उन्नति होना संभव नहीं। मनुष्य को चाहिए कि वह स्वतः को धनुष्य के समान समझे और चाहे जैसे अवसर के लिए सज्ज रहकर उत्साह से आगे बढे।

इस प्रकार मेधाजनन का यह प्रथम सूक्त अतीव महत्त्वका है। इस में बडी खूबी से बतलाया गया है कि अपनी शक्तियों को किस प्रकार विकसित करें।

यहां जो धनुष्य का दृष्टान्त है वह बहुत अर्थपूर्ण है। धनुष्य की रस्सी नरम और तननेवाली होती है तथा लकडी कडी और मजबूत होती है। यहां अत्यन्त महत्त्व की बात यह बतलाई गई है कि नरम और कडे का मिलाप किसी कार्य के लिए होने से विलक्षण उन्नति होती है। सब रस्सियां यह समझ कर कि वे तननेवाली अतएव युद्ध के लिए बेकाम समझकर अलग हो जावेंगी और सब लकडी अपने कडेपन की घमण्ड में तनी रहीं और तननेवाली रस्सी से न झुकी, तो धनुष्य ही नहीं बन सकेगा और उसके सज्ज न होने से शत्रु सदा के लिए बना रहेगा। इसीसे रस्सीको अपनी नरमियत और लकडी को अपना कडापन एक कार्य के लिए एक मतसे अर्पण करना चाहिए। तभी शत्रु को दूर कर सकेंगे

शरीर में बुद्धि, मन आदि अंतः शक्तियां बहुतही कोमल और सूक्ष्म हैं और शरीर स्थूल, कठोर और भारी है। दोनों की एक दूसरे को सहायता होनी चाहिए। शरीररूपी स्थूल लकडी को मनरूप रस्सी लगाकर इन दोनों का एक सज्ज धनुष्य बनाना चाहिए। और उसे सदैव तैयार रखना चाहिए। स्वसंरक्षण और शत्रु-दूरीकरण इन दोनों कार्यों में सुस्ती करने से काम न चलेगा। प्रथम सूक्तने यही बतलाया है कि इस प्रकार कमर कस के काम करने से ही मनुष्य की उन्नति होती है। इस उपदेश के अनुसार चलनेसे मेधाजनन अर्थात् अपनी अंतर्बाह्य शक्तियों की वृद्धि निश्चय से होगी।

धनुष्य का दृष्टांत।

यही धनुष्य का दृष्टांत अथर्व वेदके द्वितीय सूक्त में भी आया है। इस सूक्त में इसी उपमा को लेकर वह अच्छे गृहस्थाश्रम का चित्र पाठकोंके सन्मुख रखता है। वह मंत्र इस प्रकार है—

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं
शरमर्चन्त्यृभुम् ॥ ३ ॥ अथर्व वेद १ । २ । ३

इस मंत्र को यहां देनेका और भी एक कारण है । वेदका अर्थ करते समय कौन कौन सी कठिनाइयां होती हैं और योग्य परिशीलन के पश्चात् ही पूर्वअपर संबंध पर ध्यान रखते हुए यदि मंत्र का अर्थ न करें तो अर्थ का अनर्थ कैसे होता है सो भी वाचकों की समझ में आ जावेगा । इस बात के समझने के लिए प्रथम सीधा शब्दार्थ यहां देते हैं ।

" When the kine, embracing the tree, sing the quivering dexterous reed "

(Mr. W. D. Whitney)

" जब गायें, वृक्षको आलिंगन देती हुई, वेगवान् चपल बांस को बजाती हैं । "

जर्मन पण्डित व्हिट्ने ने यह अर्थ अपनी पुस्तक में दिया है। केवल शब्दों का ही अर्थ देखा जाय तो यह अर्थ ठीक है। पर इससे निष्पन्न क्या हुआ? गायें वृक्ष को कब आलिंगन देती हैं और बांस को कब बजाती हैं ? कुछ समझ में नहीं आता । इस अर्थ को देखकर ऊपरी दृष्टि से देखनेवाले को यही लगता है कि यह काव्य नहीं है किन्तु एक अर्थहीन वाक्य है । परन्तु यदि इसकी खूबी जानना है तो कुछ भीतर प्रवेश करने की आवश्यकता होगी ।

वैदिक भाषा में ' लुप्त तद्धित' प्रत्यय होते हैं । जो लोग इस बात को समझते नहीं वे इस प्रकार अर्थ का अनर्थ कर देते हैं । ' शन्तनु' से 'शान्तनव' 'मनु' से ' मानव' जैसे रूप संस्कृत भाषामें बनते हैं । परन्तु वैदिक भाषा में कई बार ऐसे रूप न बनकर 'शन्तनु, मनु' ऐसे ही रूप रहते हैं । और उनका अर्थ 'शान्तनव, मानव' सरीखा होता है । इसे वैयाकरणी वा निरुक्तकार ' लुप्त तद्धित ' कहते हैं । इसी नियम के अनुसार उपरोक्त मंत्र में 'वृक्षं' और 'गावः ' शब्द हैं । ये शब्द यहां केवल वृक्ष और गाय का ही अर्थ नहीं बतलाते वे ' वृक्ष से बना हुआ पदार्थ ' और 'गायसे बना हुआ पदार्थ ' यह अर्थ बतलाते हैं । (इस संबंध में इस स्थान पर अधिक ऊहापोह करने की आवश्यकता नहीं । जिज्ञासु निरुक्त २ । ५ प्रकरण देख सकते हैं ।)

गाय के चर्म से धनुष्य की रस्सी बनती है और वृक्षों की लकडी से धनुष्य बनता है और आगे पात लगाने से बरू का बाण बनता है । इन बने हुए तीन पदार्थों के लिए याने धनुष्य, रस्सी और बाण के लिए मूल शब्द वृक्ष, गाय और बरू इस मंत्र में प्रयुक्त हुए हैं । जो लोग वैदिक भाषाकी यह प्रथा नहीं समझते वे उक्त प्रकार से अर्थ में भूल करते हैं । यह उनके अज्ञान का ही दोष है । अब उक्त मंत्र का अर्थ देखिए—

" जब धनुष्य पर रस्सी चढाई जाती है, तब चपलता से और वेगसे निकलनेवाला बाण शब्द करते हुए आगे जाता है । "

इस मंत्र का यह अर्थ जर्मन पण्डित व्हिट्ने महोदय के भी ख्यालमें आया था, अतः उन्होंने यह अर्थ उक्त मंत्र के नोट में दिया है—

That is apparently when the gut-string on the wooden bow makes the reed-arrow--whistle.

जब धनुष्य पर रस्सी चढाई जाती है तब बाण शब्द करते हुए शत्रुपर जाता है ।

इस प्रकार यह मंत्र मननीय है । भाषा की विशेषता समझमें आ जाय तो मंत्र का अर्थ कितना सरल हो जाता है । कडे धनुष्य से कोमल रस्सी का मिलाप होने से ऐसा प्रचण्ड सामर्थ्य उत्पन्न होता है कि उस एकजीव एकता में से ही शत्रु का निःपात करनेवाला अस्त्र निकलता है । एक बात अवश्यही ध्यान में रहे कि धनुष्य की लकडी को अपना कडापन न छोडना चाहिए और रस्सी को अपने तनने के गुणसे भी उकताहट न होनी चाहिए । दोनों को चाहिए कि वे अपने अपने गुण कायम रखें । रस्सी को लकडी बनने में तथा लकडी को रस्सी बनने में अपनी शक्ति का व्यय न करना चाहिए । किन्तु अपनी अपनी विशेषता कायम रखते हुए और परस्पर मित्रता के नाते बर्ताव करके दोनों को मिलकर एक ही कार्य
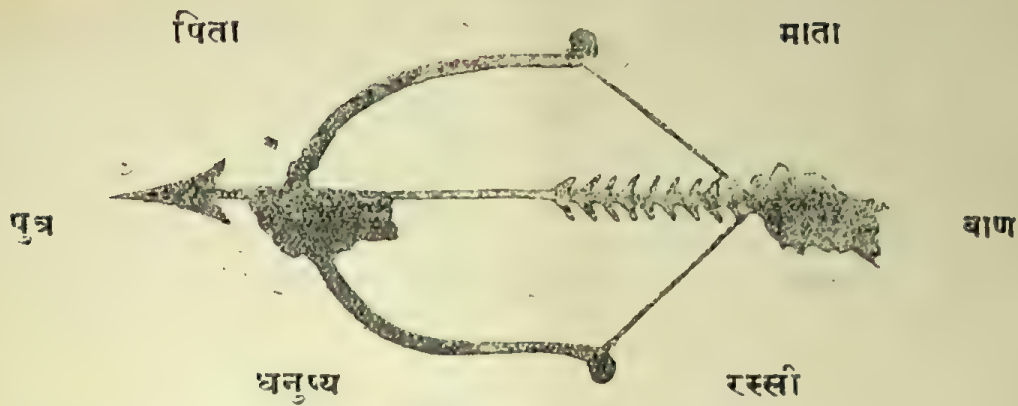
की सिद्धि में लग जाना चाहिए। तभी इस सहयोग में आत्मरक्षा का अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न हो सकता है।

इस संगठन के तथा आपसी एकता की आवश्यकता के समय उपरोक्त उपदेश सुवर्णाक्षरों से प्रत्येक को अपने हृत्पट पर लिख रखना चाहिए। यदि सब लोग अपनी विशेषता को न खोकर किन्तु उसे कायम रखकर जो कुछ करना संभव है वह करने को तत्पर हों तो सर्वांगीण उन्नति जल्दी हो सकती है।

यह उपदेश उक्त अलंकार में स्पष्ट है। परन्तु केवल इस लिए भी यह मंत्र यहां नहीं आया है और न केवल यह बतलाने को ही आया है कि धनुष्य से बाण छूटते हैं। रूपकालंकार से गृहस्थ धर्म का एक उच्च तत्त्व दिखलाने के लिए यह मंत्र यहां आया है।

धनुष्य का लकडी का घना भाग पुरुष है, तननेवाली रस्सी स्त्री है और इन स्त्रीपुरुषों का पुत्र बाण है। इस मंत्र में यही अलंकार है। इस द्वितीय सूक्त में " मा, बाप और पुत्र " इस त्रयी का वर्णन प्रथम मंत्र से ही आया है। पुरुष शौर्य, वीर्य, धैर्य, पराक्रम और परिश्रम के कार्य करता है अतएव वह कडा होता है। स्त्री प्रेम, दया, श्रद्धा, ममता, सुकुमारता आदि कोमल गुणों से मंडित होने के कारण कोमल रस्सी के सदृश होती है। इस प्रकार कठोरता और कोमलता का मिलाप घरमें कुटुम्ब में होता है। इस से पुत्र उत्पन्न होता है। वह पिता की शक्ति और माता की श्रद्धा से एक लक्ष्य के लिए प्रेरित हो संसार में जाता है और विजय पाता है।

केवल पिता की शक्ति काम नहीं कर सकती, केवल माता की ममता भी काम नहीं कर सकती; परन्तु दोनो की इकट्ठी शक्ति से प्रेरित हुआ पुत्र ही संसार में अपना रास्ता निकाल सकता है। इस रूपकसे स्पष्ट समझेगा कि माबाप पुत्रको कैसी शिक्षा दें और मातापिता की अभेद्य एकता से और एक विचार से अपने कर्तव्य में दक्ष रहने की कितनी आवश्यकता है। मातापिता की शक्ति यदि लडकों को योग्य दिशामें प्रेरक न हुई तो वे लडके नादान क्यों निकलते हैं सो भी इस अलंकार से विदित होता है। इसी से इस अलंकार का मनन अच्छी तरह करना चाहिए।

गृहस्थाश्रमी मनुष्य इससे जो बोध ले सकता है वह यदि कोई लिखना चाहे तो एक बडा भारी ग्रंथ ही होगा। उसका सब प्रकार से विचार करने का यहां कोई प्रयोजन नहीं। यहां केवल अथर्व वेद का थोडा परिचय कराने के लिए उपदेश का नमूना दिखलाना है। वाचक उसे देखें और जान लें कि अथर्व वेद का उपदेश कितना व्यापक और कैसा अत्यंत उपयोगी होता है।

ब्रह्मचर्य।

व्यक्ति की उन्नति में मेधाजनन के बाद दूसरा विषय "ब्रह्मचर्य" है। इस संबंधमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि ब्रह्मचर्य के संबंध में वेद में जितने विस्तार से उपदेश हैं उतने किसी भी अन्य ग्रंथ में नहीं हैं। राज्य के सब अधिकारी, सेनाविभाग के सब सैनिक और शिक्षाविभाग के सब कार्यवाह

ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले हों और वे संपूर्ण राष्ट्र में ब्रह्मचर्य का शुद्ध वायुमण्डल निर्माण करें-

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥ १६ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥ १८ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ १९ ॥

अथर्व वेद ११।५ (७)

" विद्या सिखानेवाला ब्रह्मचारी होवे, प्रजाका पालन करनेवाला ब्रह्मचारी होवे, इस प्रकार का प्रजापालकही विशेष सुहाता है और इस प्रकार अपनी इंद्रियां वश करके बर्ताव करनेवाला इन्द्र पदवी के योग्य होता है। ब्रह्मचर्य रूप तप से ही राजा राष्ट्र का योग्य रीति से पालन कर सकता है और शिक्षक भी ब्रह्मचर्य रूप तप से ब्रह्मचारियों की-विद्यार्थियों की-उन्नति कर सकता है। ब्रह्मचर्य पालन करके कन्या जवान पति प्राप्त कर लेती है। ब्रह्मचर्य रूप तपसे ही देवोंने मृत्यु को दूर किया। इन्द्रने भी ब्रह्मचर्य से ही देवों को प्रकाश दिया।"

इस प्रकार का ब्रह्मचर्य का वर्णन वेद में है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है सर्व इंद्रियों का संयम। मन को वश में करके उसके द्वारा सब इंद्रियों का संयम करके अपनी सब शक्तियों का उपयोग अपनी सर्वांगीण और सच्ची उन्नति के लिए करने का ही नाम ब्रह्मचर्य है। इसमें कई बातें आती हैं। परंतु उन सबका वर्णन करने की यहां आवश्यकता नहीं। दीर्घ आयुष्य, नीरोगता, शक्ति, सदा जागृत उत्साह, बुद्धि की तेजी आदि बातें ब्रह्मचर्य के पालन से सधती हैं। इसके लिए प्रत्येक स्त्री को और प्रत्येक पुरुष को प्रथम आयुमें आवश्यक और अखंड तथा आगे की आयुमें नियमित वा मर्यादित ब्रह्मचर्य पालन करना अत्यंत आवश्यक है।

पाठशाला, महाविद्यालय, विश्व-विद्यालय वैसे ही शिक्षा विभाग इन में कार्य करनेवाले सब कार्यकर्ता उत्तम ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले और स्वतः के अनुभव से ब्रह्मचर्य का महत्त्व जाननेवाले हों तो वे सब विद्यार्थियों के मनपर ब्रह्मचर्य के वायुमण्डल का अच्छा प्रभाव डाल सकेंगे। पर वे यदि निशाचरी वृत्ति से रहनेवाले हों तो शिक्षा विभाग में इष्ट सुधार होकर विद्यार्थियों का कल्याण होने की आशा कैसे सफल होगी? इसी प्रकार यदि राज्य के अन्य अधिकारी मन और इंद्रियां वश में रखनेवाले हों, तो उस राज में प्रजाको कितना सुख होगा, सो तो वाचक ही कल्पना करें। आजकल लोभ, लांच, दंदफंद, धोकेबाजी आदि कितनी ही बातें अधिकारियों में हैं और उससे दिनोंदिन प्रजा का हित होने के बजाय प्रजा का शोषण ही कैसे होता है इसका अनुभव तो प्रतिदिन हो सकता है। ऐसी दशा में वेदके उपरोक्त उपदेश व्यवहार में आने से जनता का अमित हित होगा इसके संबंध में क्या कोई संदेह हो सकता है?

आजकल पृथ्वी में जितने देश हैं उनमें से एक भी देश ने इस संबंध में प्रगति नहीं की। सब में बढा चढा जर्मनी देश है। परन्तु उस देश में भी प्रतिशत ६७ विद्यार्थी उपदंश रोग से पीडित हैं। तब अन्य देशों का हाल क्या कहना है! अपने इस भारतवर्ष ने इस विषय में बहुत प्रगति की थी। यद्यपि आज वह प्रगति कायम नहीं है तथापि वैदिक धर्म के जो कुछ संस्कार आज अवशिष्ट हैं उनसे उपदंश का प्रतिशत साठ प्रमाण अब भी हमारे देश में नहीं है। आज जैसी गिरी हुई दशामें भी हिन्दूधर्म पालन करनेवालों की व्यक्तिगत नीतिमत्ता अन्यधर्मियों से अधिक ऊंची है यह आशा बढानेवाली बात है। प्राचीन काल में जिस समय अपना धर्म अधिक जाग्रत था उस समय लोगों की आयु डेड सौ दो सौ वर्षकी होती थी। यह बात भी उक्त कथन की सत्यता सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त है। तात्पर्य यही कि अथर्व वेद ने इस संबंध में लोगों को जो उपदेश किया है वह अबतक जनताके व्यवहार में आना बाकी है। तब वे जानेंगे कि वैदिकधर्मियों के सन्मुख कितना भारी कार्य है।

प्राण-शक्ति।

इस प्रकार प्राणशक्ति बढानेवाले सूक्त अथर्व वेद में हैं। उनका थोडा नमूना ही बतलाना चाहें तो ग्रंथ विस्तार बहुत होगा। इन सूक्तों ने मार्के की बात बतलाई है कि सब शरीर का बल प्राणों में होता है। बहुतेरे लोग समझते हैं कि औषधि आदि उपायों से मनुष्य नीरोग होता है। पर यह भूल है। जब तक शरीर में प्राणशक्ति रहती है तभी तक ये उपाय कार्य कर सकते हैं। यही बात इन सूक्तों में स्पष्टतया बतलाई गई है।—

आथर्वणीरांगिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥१६॥
अथर्व० ११।४।(६)

"आथर्वण, आंगिरस, दैवी, मनुष्यकृत औषधि आदि चिकित्साएं तभी तक लाभदायक होती हैं जबतक शरीरमें प्राण अपना बल रखते हैं।" उस के अपना बल निकाल लेते ही सब चिकित्साएं निष्फल हो जाती हैं।

इसी लिए ब्रह्मचर्य-पालन और प्राणायाम से शरीर में प्राणशक्ति स्थिर करनी चाहिए। प्रत्येक को इस उपदेश पर विचार करना चाहिए। इस मंत्र में बतलाई हुई विविध चिकित्साएं इस प्रकार हैं—

१ आथर्वणी चिकित्सा— मन की शक्तिसे और आत्मा की बल-वृद्धि से रोग दूर करना।

२ आंगिरस चिकित्सा— अंगों के रसों को योग्य चालना देकर रोग दूर करना।

३ दैवी चिकित्सा— सूर्य-किरण, चंद्र किरण, जल, अग्नि, वायु इन से रोग दूर करना।

४ मनुष्यजाः— मनुष्यों की बनाई हुई गुटिकादि कृत्रिम उपायों से रोग दूर करना।

५ औषधयः— औषधियों के रस आदि का सेवन करके रोग दूर करना।

इस प्रकारकी अनेक चिकित्साएं वेद ने बतलाई हैं और बल बढाने के उपाय भी दिखलाए हैं। ये सब प्रकार विस्तार से दिखलाने की यहां आवश्यकता नहीं है। परन्तु नमुने के लिए हस्तस्पर्श से और वाणि की प्रेरणा से रोग दूर करने की रीति सूचित करनेवाले दो एक मंत्र यहां दिए जाते हैं—

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाऽभि मर्शनः ॥ ६ ॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभिमृशामसि॥७॥
अथर्व वेद ४।१३

"ऐ रोगी मनुष्य! यह देखो! इस मेरे हाथ में विलक्षण शक्ति है और इस दूसरे हाथ में तो उससे भी विलक्षण सामर्थ्य है। इस मेरे हाथ में सब औषधियां ही निवास करती हैं और मेरा यह हात तो आरोग्य की वर्षा ही करनेवाला है। मेरे इन दोनों हाथों से मैं तुझे स्पर्श करता हूं और वाणिसे तुझे प्रभावित करता हूं। इन आरोग्य बढानेवाले मेरे हाथों से मैं तुझे स्पर्श करके तुझे पूर्ण रोगरहित करता हूं।"

आजकल यूरप में मेस्मेरिझम्, हिप्नाटिजम्, विद्युन्मानसशास्त्र, स्वसंवेदना द्वारा नीरोगता प्राप्त करनेका शास्त्र, इत्यादि शास्त्र पिछले शतक के अंत में उत्पन्न हुए हैं और चालीस, पचास वर्षमें बढे हैं। परन्तु ये सब शास्त्र इतने प्राचीन कालमें भी ऋषियोंने हस्तगत कर लिए थे। यह बात उक्त मंत्रोंसे सहज ही विदित होगी और इससे अपने धर्मकी महत्ता भी सहज ज्ञात होगी। इन में दूसरा मंत्र ऋग्वेद में (ऋ० १०।१३७।७) देखिए। वेद शिक्षा देता है कि ये प्रयोग कैसे करने चाहिए। इसके लिए इंद्रियों का संयम करना, मनको एकाग्र करके उसका बल बढाना और उसे अपने वश में लाना, बुद्धि को तेज करना और आत्मा में आत्मिक बल बढाना इनके अनेक मार्ग वेदने बतलाए हैं। इस प्रकार वैयक्तिक आत्मोन्नति का पाठ अथर्ववेद देता है। अगले लेखमें कौटुम्बिक उन्नतिका आदर्श वेद में किस प्रकार बतलाया है सो देखेंगे।

ब्रह्मचर्य और राष्ट्रोन्नति ।

(ले० श्री० त्र्यं० ग० जावडेकर, धुलिया)

वर्जयेन्मधु मांसं च गंधमाल्यरसान्स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥
(मनु०)

ब्रह्मचर्य अवस्था एक ऐसी महत्त्व की अवस्था है कि उसका यथोचित पालन होनेपर ही गृहस्थाश्रम की दारोमदार निर्भर है। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम की यशस्विता भी ब्रह्मचर्य के यथोचित पालन पर निर्भर है । जो लडका नीचे की कक्षा में ही इच्छी तरह उत्तीर्ण नहीं हुआ उसे ऊपर की कक्षा में वैसे ही भरती कर लेनेपर उसकी इस कक्षा की पढाई भी यथा तथा ही रहती है । यही नियम यहां भी लागू है । जो अपनी प्रथम अवस्था के कर्तव्यों में उचित रीति से उत्तीर्ण नहीं हो सका वह द्वितीय अवस्था के कर्तव्यों को किस प्रकार निभा सकता है ? इसी से परम आवश्यक है कि प्रथम अवस्थामें ही जितनी फिकर हो सकती है, की जाय । युवा अवस्थामें शरीर के सप्त धातु बढते हैं । उस समय यदि उनका बचाव अच्छी तरह न किया तो आगे का सब काम बिगड जावेगा । शरीर की सुस्थिति के लिए योग्य आहार की आवश्यकता है । बहुतेरे मनोविकार आहार के अनुसार ही बनते हैं । यह बात अब पश्चिमके शास्त्रोंने भी सिद्ध की है। विद्याध्ययन के पवित्र कालमें तो बहुत ही अधिक फिकर की जरूरत है । इसी लिए मनु महाराज ने बतला दिया है कि विद्यार्थि के लिए कौन कौन बातें मना हैं। ऊपर के श्लोक में ' मधु ' शब्द है । इस का सामान्य अर्थ ' शहद ' या ' मीठा पदार्थ ' है । पर यहां ' मधु ' शब्द से यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है । यहां उसका विशेष अर्थ है और वह है ' मद्य '। क्यों कि उसीके आगे का पद मांस है । आज भी समाज में ' मद्य ' और 'मांस' की जोडी ही देखने में आती है । जहां मद्य प्राशन होता है वहां मांसका अशन होता ही है । इसके लिए अपवाद क्वचित् ही है । मद्य-प्राशन और मांसाशन के दुष्ट परिणाम कितनी दूरतक जाते हैं इसका प्रत्यक्ष अनुभव आसुरी संपत्तिवाले पाश्चात्यों को भी हो चला है। अमेरिका में मद्य-पान-निषेध के कानून बने हैं । इंग्लैण्ड अमेरिका जैसे देशों में भी केवल शाकाहारी समितियां स्थापन हुई हैं । यह स्थान नहीं है कि जहां यह चर्चा की जाय कि मद्यप्राशनके समान मांसाशन भी क्या किसी भी अवस्था में वर्ज्य है । इतना अवश्य ही है की वह ब्रह्मचर्य-आश्रम में बिलकुल ही मना है । हिंदुस्थान में क्षत्रिय और तत्सम दूसरी जातियां हैं । इन जातियों के विद्यार्थि पूछेंगे कि उनकी जातियों में मांसाशन का प्रचार है तब उन्हे क्या करना चाहिए ? जवाब में यही कहना होगा कि तुझे भी मांस खाने से दूर रहना होगा । इसका कारण बिलकुल स्पष्ट है कि मद्य और मांस दोनों चीजें बडी कामोद्दीपक हैं । और ब्रह्मचर्य-अवस्था में कामोद्दीपन बिलकुल न होना चाहिए । तब सब बात स्पष्ट ही हो जाती है । जिन जातियों को मांस के अशन की अनुज्ञा है वे यदि चाहें तो इस हवस को गृहस्थाश्रम प्राप्त होनेपर पूरी कर लें । तब तक नहीं । हमारे देशवासियों के बालक जो बडे धनीजनों के पुत्र रहे हैं अमेरिका, इंग्लैण्ड और जर्मनी आदि देशोंमें विद्या उपार्जन करने गये थे और वहां न मालुम कितने प्रकार के रोगोंसे ग्रसित हो काल के गाल में समागए । वे इस लिए नहीं मरे कि उन्हे उन देशों की अति शीतसे बचने के लिए योग्य वस्त्र न थे । किन्तु यदि उनकी अकाल मृत्यु का कारण एक ही शब्द में बतलाना हो तो वह ' ब्रह्मचर्यव्रत-भंग ' शब्द से ही कहा जा सकता है । इस प्रश्न के संबंध में आगे चलकर अधिक विवेचन होनेवाला है । यहां इतना कहना पर्याप्त है कि ऐसी मृत्यु का असली कारण है " मद्य, मांस और स्त्री " ।

मनुजीने विद्यार्थियों के लिए गन्ध मना किया है। यहां गंध से मतलब है सुगंधी पदार्थ (Perfumes)। लक्षाधीशों के पुत्र कहेंगे कि 'हमें सामर्थ्य रहते हम इत्र लगाकर क्यों न घूमें'। पर ब्रह्मचर्य अवस्था वह अवस्था नहीं है जिसमें तुम अपनी संपत्ति सब को दिखाते फिरो। इस के लिए योग्य समय है उत्तर अवस्था। प्रथम अवस्था में लक्षाधीश और कंगाल सभी को एक ही दर्जे के बनना चाहिए। इसका प्रमाण दिखलाने के लिएही साक्षात् लक्ष्मीकांत भगवान् श्रीकृष्ण गरीबों में गरीब सुदामदेव के साथ गुरुगृह में रहे और एक से ही नियमों का पालन करते रहे। जिस प्रकार मद्य और मांस कामोद्दीपक होते हैं उसी प्रकार इत्र और उबटन भी कामोद्दीपक हैं। माल्य भी विद्यार्थि के लिए मना है। विद्यार्थि को फूल की मालाएं न पहननी चाहिए। गंध माल्य विलास की वस्तुएं हैं और ये बातें विवाह के बाद ही उचित हैं! विद्यार्थि के लिए रस भी वर्ज्य है। इतना कहते ही लडके कहेंगे कि तो क्या हम आम्ररस, इक्षुरस आदि का पान भी न करें? पर इस प्रश्न से लडके अपना अज्ञान जाहिर कर रहे हैं। मनुजीका कहना उनकी समझ में न आया। यहां रस का अर्थ आम्ररस, या इक्षुरस नहीं है। रसका मतलब है कि चिरपिरी और बघार दी हुई वस्तुएं लडकों को न खाना चाहिए। ये वे वस्तुएं हैं जिन्हे अंग्रजी में Sauce या Condiments कहते हैं। विद्यार्थि को चाहिए कि वह उन सब वस्तुओं को वर्ज्य करे जिन्हे शुक्त पदार्थ कहते हैं। आजकल के विद्यार्थि को आंग्लभाषा मातृभाषा से भी बढकर हो गई है अतएव पहले अंग्रेजी शब्द बतलाए देते हैं जिससे कि उनके सिर में फौरन उसकी कल्पना हो जाय। जिसे अंग्रेजी में 'Acid Liquids' कहते हैं उसी को मनु महाराज ने 'शुक्तानि यानि सर्वाणि' कहा है। खमीरावाले पदार्थ बिलकुल न खाने चाहिए। बम्बई सरीखे स्थानों में सैंकडों होटेलें हैं जिनमें भजिएं, सोडा, लेमन आदि बिकते हैं। इन होटेलों प्रतिदिन सैंकडों विद्यार्थि जाते हैं और इन चीजों को खाते हैं। इन्हे देख उनकी बडी दया आती है। यह देखकर देश की भवितव्यता के बारे में किसी को भी भारी चिंता होगी। और नहीं तो भगवान् मनुकी आत्मा अवश्य ही तडपती होगी। ऊपर की बातें ऐसी हैं जो दिखने में जरासी और क्षुद्र मालूम होती हैं पर उनका परिणाम बहुत बुरा है। इसीसे उन्हे वर्ज्य कहा है। इसके बाद कहा है कि विद्यार्थि को स्त्री वर्ज्य है। यह बात तो इतनी स्पष्ट है कि उसकी चर्चाही करने की आवश्यकता नहीं है! और एक महत्त्व की बात रह गई है। वह यह है कि ब्रह्मचारी को प्राणिहिंसा न करनी चाहिए। हिंसा का अर्थ केवल मार डालना ही नहीं है, इसमें जीवमात्र के क्लेश देने का भी अर्थ अभिप्रेत है। बहुतेरे विद्यार्थियों को यह बुरी आदत होती है कि वे बकरी, कुत्ता, कीडे आदि निरुपद्रवी प्राणिको पकडते हैं, अपना दिल बहलाने के लिए उन्हे चाहे जैसा सताते हैं और जब वे तडपने लगते हैं तब विद्यार्थि खुशी मनाते हैं। बेचारे प्राणि मनमें कहते हैं कि "आपका खेल होता है पर हमारी जान जाती है"। लडकों को चाहिए कि वे ऐसा कभी भी न करें। दूसरे के सुख में ही अपना सुख मानने के महत्तम सिद्धान्त की शिक्षा बालक इसी छोटी उमर में लें।

विद्यार्थि के लिए वर्ज्य बातें।

आर्यों के धर्म की विशेषता यदि किसी बात में है तो वह है उनके द्वारा स्थापित चातुर्वर्ण्य में और चतुर्विध आश्रम में। गहन विचार से निश्चित की गई यह उभयविध योजना अन्य किसी भी धर्म में उपलब्ध नहीं है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, और संन्यास इन चारों आश्रमों के कर्तव्य भिन्न भिन्न हैं। जो बातें केवल गृहस्थाश्रम में ही करने योग्य हैं वे ब्रह्मचर्याश्रम में करने देने के लाड हमारे शास्त्रकार कभी भी नहीं करते। "शतायुर्वै पुरुषः" यह श्रुति प्रमाण मानकर उन्होने प्रत्येक की आयु के चार स्वतंत्र भाग मान लिए हैं। उन्होने गुंजाइश ही नहीं रखी कि एक दूसरे के कर्तव्यों में कोई

गडबड कर सके। उसमें भी जो पहला आश्रम है उस पर उनका कटाक्ष बहुत तीव्र है। आजकल के फौजी कानून में भी जितनी कडी शिस्त न होगी उतनी उन्होंने ब्रह्मचारी के नियमों में रखी है। इसमें उनकी दूरदर्शिता स्पष्ट दीख पडती है। किसी भी अन्य धर्म के लोगोंने इतनी अच्छी तरह नहीं पहिचाना कि यदि असली जड और नींव निर्दोष एवं मजबूत हो तो ऊपर की इमारत सुरक्षित और टिकाऊ होने में कोई संशय नहीं।

भगवान् मनुजी ने ब्रह्मचारी के लिए जो वर्ज्य बातें बतलाई हैं उन्हे बतलाने का आरंभ पिछले लेख में ही हो चुका है। जो बातें पिछले लेख में बतलाई गई हैं उनके आगेकी बातें अब बतलानी हैं।

अभ्यंगमञ्जनं चक्ष्णोरुपानद्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥

विद्यार्थि के लिए अभ्यंग मना है। उसे शरीर में तेल न लगाना चाहिए। सुगंधि तेल और उबटन लगाना बडा घातक है क्यों कि विलास की चीजों का उपयोग करने लगते ही कामोद्दीपन का आरंभ होता है। आजकल विद्यार्थियोंमें कामिनिया तेल जैसे तेलोंका उपयोग उतना बढ गया है कि वे भूल ही गए हैं कि यह बात उनके आश्रमके लिए लांछन है।

श्लोक के शब्दोंका ही अर्थ देखें तो विदित होता है कि सादा खोपडे का तेल भी अभ्यंग में शामिल है। अतएव उसकी भी आवश्यकता न रखनी चाहिए। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक दिवाली के तेनहार के दिन भी शरीर में तेल न लगाते थे। इस पर एक डॉक्टरी आक्षेप होना संभव है। वह यह है कि शरीर की त्वचा न फुटने या तडकने पावे इसलिए उसे मुलायम रखने के लिए अभ्यंग की आवश्यकता है। जिसकी त्वचा फुटती है उसे इसकी आवश्यकता है सही पर प्रश्न यह है कि किसकी त्वचा फुटा करती है? इसका उत्तर यह है कि जिसके शरीर से 'राम' (सत्त्व) निकल गया हो। जिसके शरीरके रोम रोम में 'अविप्लुत ब्रह्मचर्य' रूपी 'सच्चा राम' संचार करता है उसके शरीर ही में तेल उत्पन्न होता है। वही नैसर्गिक तेल उसकी त्वचा को मुलायम रखता है। आजकल जो उपचार होते हैं वे ऐसे हैं कि प्रथम शरीरका 'राम' नष्ट कर दिया जाता है और उसके पश्चात् 'कामी-निया' लगाकर उस नष्ट किए रामको उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है। अतएव स्पष्ट ही है कि यह निरी मूर्खता है।

अभ्यंगके समान अंजन भी वर्ज्य है। विद्यार्थि को आंखों में अंजन या सुरमा न लगाना चाहिए। ये सब आंखोंको आकर्षक बनानेके प्रकार हैं। विद्यार्थी दशा में दूसरों को मोह उत्पन्न करनेवाली आंखें तैयार करने की क्या आवश्यकता? अभ्यंगके समान अंजन पर भी डाक्टरी आक्षेप आ सकता है कि अंजन, सुरमा आदि से दृष्टि का दोष घटता है और दृष्टि सुधरती है। पर इस पर भी मेरा उत्तर यही है कि पहले यह बतलाए कि दृष्टि बिगडती ही क्यों? वर्तमान समय में दस-दस, पंद्रा-पंद्रा, बीस-बीस वर्ष के लडकों को बिना चष्मे के दिखता ही नहीं। इसका बीज क्या है? बीज यही कि उनसे अकाल में वीर्य नाश होता है। शरीर में कैसा तेज है सो आंखें बतलाती हैं। जिसके शरीर में वीर्य अपने ठिकाने पर रहता है उसकी आंखें चमक उठती हैं।

उपानद् छत्रधारम्।

विद्यार्थि को जूता पहिनना और छत्ता लगाना भी मना किया गया है। आजकल प्रत्येक की तबियत कैसी फूल के समान नाजुक बनी है। ऐसी अवस्था में मनुजी की यह आज्ञा अमानुषी प्रतीत होगी। किन्तु संकुचित विचार के लोग बेचारे नहीं जानते कि शास्त्रकार कैसी दूर दृष्टि से कोई भी बात बतलाते हैं? शास्त्रकार साधारण जन के समान यह नहीं सोचते कि आज का समय जैसे तैसे निपटा। चलो अच्छा हुआ। कल की बात कल देखी जावेगी। उनकी दृष्टि के सामने व्यक्तिहित, देशहित, राष्ट्रहित किंबहुना विश्वहित सदैव रहता हैं। वे सदैव सोचते रहते हैं कि एक व्यक्ति के जीवन-काल में निजी आपत्ति के कारण या राष्ट्रीय आपत्ति के कारण किस समय कैसी घटना होगी सो कहा नहीं जा सकता। प्रथम ही से यदि तबियत को नाजूक बना ली जावे कि जरा धूप लगनेसे आंखें सफेद हों

या सडक के कंकर गडनेसे आंसू आजावें और जी घवडा जाय, तो ऐसे नाजुक मनुष्य निजी हित भी नहीं साध सकते तव वे देशहित और राष्ट्रहित क्या साधेंगे? पहलेही से जो मनुष्य भूक, प्यास, और कष्ट सहने का अभ्यास कर लेता है, वह उतरती उमर में भला किसी बात को असंभव एवं असाध्य मानने चला है ? नरवीर नेपोलियन बोनापार्ट के कोश में 'Impossible' (असंभव) शब्द ही नहीं था। पर दुःख तो यही है कि हम लोगों के कोश में बार बार नजर आनेवाला यदि कोई शब्द है तो वह है 'असंभव'! हरएक मनुष्य का यह रोना प्रायः जन्म के अंत तक चला ही रहता है कि अमुक हो नहीं सकती और अमुक बात असंभव है। हिन्दुस्थान के वर्तमान इतिहास में जिसे Punjab Atrocities (पंजाबका हत्याकाण्ड) कहते हैं, उसका वर्णन पढने से शरीर कांप जाता है। उस समय के फौजी कानून ने हायस्कूल और कालेजके विद्यार्थियों को तो "त्राहि भगवन्" "त्राहि भगवन्" चिल्लाने को विवश किया था । ऐसी अचिन्त्य आपत्तियों का भी सामना करनेकी हिम्मत रखनी चाहिए। यहि बात हमारे शास्त्रकार प्रथम ही से सोच रखते हैं और इन्ही कारणोंसे उन्हे 'द्रष्टा' संज्ञा प्राप्त होती है।

कामं क्रोधं च लोभं च ।

ब्रह्मचारी के लिए काम,क्रोध और लोभ मना हैं। फौरन शंका ली जावेगी कि तो क्या उसे साधु ही बनना होगा ? वास्तवीक बात यही है कि ब्रह्मचारी को एक प्रकारसे साधु ही बनना होगा। काम,क्रोध और लोभ को गृहस्थ आश्रममें शास्त्रकारोंने काफी गुंजाइश रखी है, क्यों कि उचित प्रमाण में ये तीनों बातें गुण ही होगी। यहां 'काम' का अर्थ सामान्य इच्छा नहीं हैं यह वह है जिसे अंग्रेजी में 'Lust' (स्त्रीविषयक इच्छा) कहते हैं । मनुष्य क्रोध करता है सोभी इसी लिए न कि वह आत्मसंयम कर नहीं सकती? और आत्मसंयमपर तो जीवित की दारोमदार हैं। जो आत्मसंयम को तनिक भी नहीं जानता वह कालत्रय में भी कोई महान् कार्य नहीं कर सकता । जितने जगद्विख्यात पुरुष संसार में हुए हैं उनकी जीवनी से यही पता चलता है कि वे सब आत्मसंयमी थे। जो स्वतः को वश में नहीं रख सकता वह संसार को किस प्रकार वश में रखेगा? इसी लिए अपने पूर्वजों ने कह रखा है कि "जिस ने आत्मा को जीता उसने जगत् को जीता।" लोभ का भी यही हाल है। विद्यार्थि दशा में लोभ बिलकुल न होना चाहिए। लोभ विद्यार्थि के स्वभावको मलिन बनाता है। अतएव विद्यार्थि का मन ऐसा होना चाहिए जैसे शुद्ध गंगाजल।

विद्यार्थि दशा जैसे पवित्र गंगाजलमें इस दुनिया का मैल न मिलने पावे। जब वह इस दशा को पूर्ण कर व्यवहार के प्रवाह में पड जावेगा तब उसे काम के सिवा गति नहीं, क्रोध के बिना उसका चल नहीं सकता और लोभ तो उसके साथ ही लगा है। अतएव शास्त्रकारों की सावधानी इस लिए है कि कम से कम प्रथम अवस्था में तो भूमि शुद्ध रहे ।

नर्तनं गीतवादनम्।

नाच, गाना, बजाना आदि बातों की विद्यार्थि के लिए मनाई है। परन्तु हम अपने चारों ओर क्या देखते हैं ? यही न कि 'तरुण-भारत' आज नटों एवं नटियों की तानों में लुब्ध हो गया है। आज दिन भारतमें नाटक इतने अधिक चल पडे हैं कि मालूम होता है वे असीम हैं। इन नाटकों से भारत की जवान पीढी का जैसा सत्यानाश हुआ है वैसा शायद किसी अन्य बात ने न किया होगा। कुमार अवस्थामें जब काम का लेश भी न होना चाहिए ठीक उसी अवस्था में रंगमंच पर खुले आम चली हुई प्रणय क्रीडा देखकर किस कुमार और कुमारी के हृदयमें काम-विकार उत्पन्न हुए बिना रह सकता है। नाटक-कर्ता, नाटक-खेलनेवाले और नाटक देखनेवाले क्या यह सोचते हैं कि कोमल और निर्मल अंतःकरण पर इन प्रणय-चेष्टाओं का कोई दुष्परिणाम न होगा ? संपूर्ण हिंदुस्थान भी यदि रसातल को जाय तब भी उपरोक्त त्रिवर्ग उसका परवाह न करेंगे। फिकर तो जिसकी उसे कर लेनी चाहिए। जो तरुण-भारत आज भरत-भूमि के उद्धार के लिए

पागल होना चाहिए वही आज 'नटों' और 'नटियों' के पीछे पागल हो रहा है। सोभी उसकी तानों से मोहित हो उनके समान केवल चैन और शान-शौकत एवं नजाकत सीखनेके लिए। नाटक लिखने-वाले तो सोचें कि नाटक कैसे और किस समय लिखे जाने चाहिए और नाटक खेलनेवाले भी सोचें कौन नाटक किस समय और किस प्रकार खेला जाय। देश दासता की बेडी से जकडा हुआ है। उसका प्राचीन धवल यश मिट्टी में मिल चुका है। उसका आत्मगौरव नष्ट हो चुका है। भारतवर्षका ऐसा शोचनीय नाटक हो चुका है पर नाटक-लेखक का लेखन अभी तक खतम नहीं होता। हमारे देशका यह भारी दुर्भाग्य है। यदि विद्यार्थियों की आवाज मीठी हो और उन्हे गाने की इच्छा हो तो 'भारत हमारा देश है' जैसे मर्दानी गाने वे लोग गावें। पर नामर्द बने हुए लोगों को मर्दानी गाना कैसे सूझेगा? यदि गाना सूझा भी तो वह होगा 'छोटी वडी सूइयांरे' या इसी के समान अन्य कोई। जिस देश के कुमार और कुमारिकाओं के मुंह से इनके सिवा दूसरे गाने नहीं सुने जाते उसकी अवनती प्रायः सीमा ही हो चुकी। अब ऐसे देश की उन्नति की आशा भी किस बुनयाद पर की जाय!! इस दशा को देखकर यही प्रतीत होता है कि भगवान् मनु का कहना कि 'विद्यार्थियों को गाने बजाने का शौक न हो' यथार्थ है।

सूर्य-नमस्कार से क्षयरोग निकल गया।

(लेखक— श्री० दत्तात्रय हरी बडवे, शिंगणापूरकर; इंदापूर।)

मुझे सन १९२६के जून माससे ज्वर आने लगा। आगे चलकर खांसी की शिकायत भी हुई। दो एक महीनों तक मैंने कोई भी औषधि न ली और न कोई उपचार ही किया। इसके पश्चात् मेरी बदली 'बारामती' की हुई। इस नगर में आनेसे मेरी बीमारी और भी बढ गई। क्यों कि इस स्थान की जलवायु मैं बिलकुल बरदाश्त न कर सका। आरम्भ में मुझे ज्वर और खांसी की शिकायत थी और बारामती में पहुँचते ही मुझे दमा की शिकायत हो गई। यह आगे चलकर ऐसी बढ गई कि मुझे स्कूलमें जाना तो क्या पर दिशा जाना भी मुश्किल हो गया। ऐसी दशा में मैं वैद्य, डाक्टर की शरण लेने को विवश हुआ। परन्तु उनकी औषधिसे कुछ भी लाभ न हुआ। किन्तु बीमारी भर बढती ही गई। अनन्तर एक अच्छे एवं विख्यात वैद्य से मैंने अपनी तबियत की परीक्षा कराई। उन्होंने जांच कर मुझे बतलाया की ये क्षयरोग के पूर्वचिन्ह हैं।

छुटपनसे मेरा स्वास्थ्य अच्छा था और मैं सुदृढ भी था। क्यों कि मुझे व्यायाम की आदत थी। यद्यपि मैं इतना बीमार था, तब भी ठण्डे पाणी से स्नान और सूर्यको बारा नमस्कार बिना नागा डाला करता था। अनन्तर मेरा तबादला इंदापुर को हुआ। यहाँ आनेपर मुझे यहाँ के व्यायाम-प्रेमी शिक्षक गुरुवर्य भाऊसाहब जावडेकरजी के परिचय एवं सहवास का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरी तबियतका हाल देखसुनकर गुरुवर्य जावडेकरजी मास्टरसाहब ने मुझे सलाह दी कि "रोज सबेरे जितने बन सके उतने नमस्कार डालिए। क्यों कि श्रीसूर्यनारायण के नमस्कारों से मेरे पेट का दर्द हट गया।" जिस व्यायाम से पेट का दर्द हट गया उससे मेरा रोग

क्यों न हटेगा ? यही विचार मेरे मन में आया। इस लिए निश्चयसे नमस्कार के व्यायाम को मैं ने आरंभ किया। करीब तीन माहमें ही श्रीसूर्यनमस्कार का इष्ट परिणाम मुझे दिखाई देना लगा। इष्ट परिणाम होते देख मैंने नमस्कार बढा दिए और ब्रह्मचर्य का भी अच्छी तरह पालन किया। इससे थोडे ही समय में मेरी तबियत पहले के समान सीधे रास्तेपर आने लगी। अब प्रायः एक वर्ष पूरा हुआ मेरा स्वास्थ्य बिलकुल अच्छा है और मैं उत्तम स्वास्थ्य और नीरोग बन कर समाज में बैठता उठता हूं।

जिसके बारे में वैद्य और डाक्टरों ने अनुमान किया था कि इसे क्षयरोग जैसा भयंकर रोग हुआ है अतएव यह बहुत थोडे दिनका साथी है वही मैं आज समाज से नीरोग कहा जाता हूं। जिन की कृपासे मुझे आरोग्य प्राप्त हुआ उन भगवान् श्री सूर्यनारायण को मैं शतशः प्रमाण करता हूं। साथ ही जिन्होंने मुझे योग्य सलाह दी उन श्रीयुत भाऊसाहब जावडेकरजी का भी मैं अत्यंत आभारी हूं।

श्रीमंत बालासाहब पंत प्रतिनिधि बी. ए. चीफ् ऑफ् औंध जीने स्वानुभवसे श्रीसूर्यनमस्कार की महत्ता जनता को समझा ने का अत्यंत उज्ज्वल कार्य उठाया है। इस के लिए मैं उनका भी आभारी हूं। जो व्यक्ति समाज का स्वास्थ्य बढाने के लिए अहोरात्र प्रयत्न करते हैं उन्हे भगवान् श्रीसूर्यनारायण उद्दण्ड आयुरारोग्य देवे ऐसी प्रार्थना करना मैं अपना आद्य कर्तव्य समझता हूं।

श्रीसूर्यनमस्कार से क्षयरोग जैसे दुःसाध्य रोग भी हट जाते हैं। जनता के लाभ के हुतु मैं अपना अनुभव प्रसिद्ध करता हूं।

सन१९२०का वर्ष होगा। उस समय मैं मिरज में शिक्षा प्राप्त करने आया था। मेरे मामा का मकान मिरज है। में मैं उन्हीं के घर रहता था। मेरे मामा एक प्रसिद्ध डाक्टर हैं। वे बम्बई में रहते हैं। मिरज में भी उनके घर में एक डाक्टर हैं। ये मिरज के डाक्टर साहब मेरे मामा के नोकर नहीं। वे अपना निजी डाक्टरी का धन्धा करते हैं। इनके पास एक जवान मराठा जाति का लडका काम करने के लिए नौकर था। इस लडके को अखाडा खेलने तथा व्यायाम का अच्छा शौक था। वह सुन्दर भी था। जिस समय मैं प्रथम मिरज में आया उस समय यह मराठा लडका अच्छा तेजस्वी दिखता था। हमारे घरमें ही दवाखाना था। इससे उस लडके के साथ मेरी मित्रता हुई। मित्रता बढ जाने पर वह मुझे अखाडे में लिवा ले जाने लगा। मेरे शरीर एवं स्वास्थ्य की उस समय की दशा भारी करुणास्पद थी। मेरा मुख तो तेजहीन था ही पर शेष शरीर तो विलक्षण ही था। क्यों कि बम्बई जाकर लौटते समय मैं मलेरिया को अपना जिगर दोस्त बना लाया था।

मेरा मराठा मित्र अच्छा तैयार था। उस समय उसकी अवस्था पंद्रह या सोलह वर्ष की होगी। छुटपन से उसे कुस्ती, दण्ड, बैठक आदि का अच्छा शौक था और घरमें किसी बात की विशेष कमी न थी। इससे हमारे अखाडे में वह अच्छे तैयार लडकों में से एक था। उसकी छाती, उसकी भुजाएं और उसके पैर सुडौल एवं कसे हुए दिखते थे। उस समय यदि कोई इस मराठा बालक के संबंध में कहता कि वह आठ, नौ वर्ष में मर जावेगा, तो उस भविष्यवादी को हम पागल कहते। यह मित्र मुझे अखाडे में ले जाने लगा और दण्ड, बैठक आदि मुझे सिखला दी। चार एक महिनों में उसने मेरे बम्बई के दोस्त मलेरिया महाराज को मेरे पास से भगा दिया। इस प्रकार दो चार वर्ष बीत गए। एक समय हनुमान जयंती के दिन हमारे अखाडे में बैठकों की परीक्षा थी। थोडेसे थोडे समय में अधिक से अधिक बैठकें लगाना थीं। मेरा मराठा मित्र भी उसमें सम्मिलित था। उसने उस दिन कमाल कर दिखाई। केवल ३७ मिनटमें इसने१५०० बैठकें लगाई। इतनी बैठकें वह विना विश्राम किए एक दम में लग गया।

इसी प्रकार और एक वर्ष अच्छी तरह बीता। तदुपरान्त मिरज में एक नाटक कम्पनी आई। यह

कम्पनी बहुत मशहूर थी। जैसे सब लोग नाटक देखने गए, वैसे मैं भी अपने कंपाउंडर दोस्त के साथ नाटक देखने गया। नाटक बहुत अच्छा हुआ। उसमें सीन-सीनरी बहुत ही अच्छी थी। पर इस नाटक ने मेरे मित्र को व्यायाम करने से परावृत्त किया। क्यों कि दो चार ही दिन बाद वह इस कोशिश में लगगया कि मैं सुन्दर कैसे दिखूंगा। कुछ ही दिन बाद अखाडे की मिट्टी का रंग झलकानेवाली धोती गायब हुई और उसका स्थान मॅंचेस्टर की पतली धोती ने लिया। और वह उस धोती को साफ रखने की भारी कोशिश करने लगा। धोती के समान अन्य कपडों में भी फरक हो गया। सिर के साफे का स्थान टोपी ने लिया। बदन पर कोट झलकने लगा। मतलब यही कि ये महाशय कपडे में पूर्ण रीति से फॅशनेबिल बन गए।

यह बात यहीं पर रुक जाती तो बहुत ही अच्छा होता। पर ऐसा न हुआ। क्यों कि आगे चलकर इन महाशय ने अखाडे में जाना इस लिए बन्द कर दिया कि अखाडे में कपडे लाल हो जाते हैं। अब इन्हें दूसरा शौक हुआ। ये नाटकों में काम करनेवाले सुन्दर नटों के फोटो खरीदने लगे। ये फोटो इन्होंने एक बोर्ड पर चिपका दिए। और डाक्टर साहब के पास जो कॅटेलाग आते उनमें भी इन्ही फोटोको आप चिपकाकर रखने लगे। साथ ही इन फोटों की ओर घण्टों तक टकटकी लगाकर देखने ये महाशय अपना समय व्यय करने लगे। इसका अनिष्ट परिणाम थोडे ही समय बाद दिखाई देने लगा। चाय से आप का इतना प्रेम हो गया कि दिन में पांच पांच और छः छः बार चाय पीना उनके लिए मामूली बात हो गई। कुछ समय पश्चात् उसे स्वप्नावस्था होने लगी। वह खुले दिल का था इससे हमलोगों को सब कुछ कह सुना देता। आगे चल कर स्वप्नावस्था की मात्रा बढने लगी और स्वास्थ्य मिट्टी में मिल गया।

और भी आगे चलकर वह हर एक नाटक और हर एक सीनेमा देखने लगा। आगे चलकर उसे एक भयंकर और घातक...आदत लग गई। फिर क्या था? पांच, छः महीनों में ही यह क्षयरोगी के समान दिखने लगा और उसके शरीर का तेज लुप्त हो गया। आगे चलकर गणेशोत्सव में लडकों ने नाटक किया। उस नाटक में इस कंपाउंडर ने एक स्त्री का काम किया। उसके लिए मिहनत से जगाकर उसने काम दिया। चाय का व्यसन और भी बढ गया। इन बातों के उसका वेतन कैसे पूज सकता था? इससे उससे काम भी योंही होने लगा और वह भी चिडचिडाते हुए।

डाक्टर साहेब के घरके लोगों के साथ अब उसका बर्ताव ऐंठ का होने लगा। सारांश यह कि वह अपने नाश के मार्ग पर अग्रसर हुआ। घातक आदतों से शरीर घुरने लगा था। हम लोगों उसे हर तरह से समझाया। पर वह चिकने घडे पर पानी ही सिद्ध हुआ। इस प्रकार उसकी बातें बढ जानेसे उसे बारीक ज्वर ने धर दबाया। उक्त बुरी आदतों से उसकी छाती बहुत ही बिगड गई। उसके स्वभाव में चिडचिडापन और डर आगया। रात के समय अंधेरे में केवल देखना भी उसके लिए कठिन हो गया। तब घुमना फिरना कहां से हो सकता था? आगे चलकर वह लगातार बीमार पडने लगा। पर तब भी वह नित्य क्रम में जरा भरक नहीं करता था।

तब एक दिन उसने बिछोना पकडा। इसी बीच सांगली में व्यायाम परिषद का अधिवेशन हुआ। उस समय जो सामने हुए उनके लिए हम लोग सांगली को गए थे। मेरे शरीर दशा अब बहुत कुछ बदल गई थी। अब मैं अच्छी कुश्ती लडनेवालों में से एक तथा मलखांब करनेवाला समझा जाता था। इसीसे मैं सांगली गया था। जिस दिन मैं सांगली से लौटा, वह दिन हमारी पार्टी में से प्रत्येक को बडा आनन्ददायक था। क्यों कि हम लोगों में से प्रत्येक को कुछ न कुछ पारितोषक मिला था। इसीसे वह दिन बडी खुशी में बीतना चाहिए था। पर घर आते ही घर के लोगोंने खबर दी की तुह्मारा मित्र बहुत बीमार हैं। वह विषम ज्वर से पीडित था। मैं जब उसके घर पहुंचा तब वह इधर उधर लौट पोट

हो रहा था। मैं उसके पास बैठ गया। उसने मुझे पहचान लिया और वह बोला, "दद्दाजी, अच्छा हुआ आप आगए।" उसके कष्ट मुझसे देखे न गए। मैंने बड़ी कोशीश की पर मैं अपने को रोक न सका। मैंने सिसक सिसक कर रो दिया। मेरी नजर के सामने मेरे मित्र की आठ वर्ष के पूर्व की स्थिति स्पष्ट दिखाई देने लगी। वह क्या था और अब क्या हो गया है? मैं तुर्त ही वहाँ से उठा और घर आया। डाक्टर साहब से मेरे मित्र के संबंध में पूछा। वे बोले "विषमज्वर से पीडित रोगी बचते जरूर हैं, पर इस रोगी की छाती बहुत ही खराब हो गई है। यदि छाती नीरोग होती तो बहुत आशा की जा सकती थी।" मुझे अच्छी तरह विदित था कि मेरे मित्र की छाती क्यों और किस प्रकार बिगडी है। वह जब चंगा था (अर्थात् जब वह अखाडे को जाता था उस समय नहीं किन्तु विषमज्वर से पीडित होने के पूर्व), उसकी छाती के ठोके विचित्र प्रकार से पडते थे। उसी रात को नौ बजे वह इस संसार से चल बसा।

अत्यंत दुःख की बात तो यह थी कि वह तेरह वर्ष की पत्नी को इस संसार में छोडकर चल बसा था। उसके माता-पिता बहुत वृद्ध हैं। एक भाई बहुत छोटी अवस्था का है। कमानेवाले नौ जवान पुत्र की मृत्यु से उसके माता पिता को जो भारी दुःख हुआ उसका वर्णन करना मेरी लेखनी के लिए असंभव है।

अन्तमें दयाघन परमेश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि मेरे मित्र की आत्मा को शान्ति देवे। साथ ही उसी परमात्मा से विनय है कि मेरे जिन बन्धुओं को ऐसी आदतें होंगीं उन्हे इन दुष्ट आदतों के त्यागने की बुद्धि दे। और मेरे भाइयों से भी मेरी यह अरज है कि वे भी यदि ऐसी आदतोंके गुलाम बने हों तो भरसक प्रयत्न करके अपना छुटकारा कर लें।

"उद्योगिनो राष्ट्रस्य भाग्यम् देवो न जानाति।"

(ले० श्री० मोहनीराज शंकर मूले, एम्. ए, स्टेटलैबोरेटरी, औंध)

प्राप्नोति फलमुद्योगात् लभते सर्वसम्पदम्।

राष्ट्र से मतलब है राष्ट्र के जीवित बुद्धिमत्ता के और उत्तरोत्तर वर्धिष्णु पुरुषार्थवाले लोग। केवल अत्युच्च पर्वतराजी, या जलपूर्ण सरिताएँ अथवा केवल श्वासोच्छ्वास करनेवाले पर कर्तृत्वहीन लोगों से जीवित राष्ट्र नहीं बनता। क्षेत्रफल में एवं मनुष्य संख्या में जो छोटा है उस जर्मनी की उससे भी छोटे इंग्लैड और जपान की गणना, आज दिन, संसार के शक्तिमान् राष्ट्रमालिका में अग्रणी के नाते होती है। उसीके विपरित, ३२ करोड लगों की श्रमासान बस्तीवाला भारतवर्ष तथा ५० करोड लोक-लहरों से शतशः विदीर्ण होनेवाला चीन राष्ट्रमालिका में कौनसा स्थान पाता है? जीवरहित पर्वतों की कतारोंसे, जीवनसे परिपूर्ण होते हुए भी निर्जीव नदियों से या कर्तृत्वहीनता से प्राणरहित समझे जानेवाली बृहत् जनसंख्या से यदि राष्ट्र बन सकता तो संसार का सार्वभौम पद हिन्दुस्थान या चीन

को ही प्राप्त हुआ होता ! पृथ्वी के आधे से अधिक मनुष्यों को धारण करनेवाले चीन या हिन्दुस्थान को यह आत्मप्रत्यय हो जावे, सत्य ज्ञान-कर्म की जागृति हो जावे, और सच्चे कार्य को अखण्ड चालन मिल जावे, तो हिन्दुस्थान के और चीन के तथा तदन्तर्गत सम्पूर्ण जगत् के भाग्य को सीमा न रहेगी।

राष्ट्र का भरण-पोषण करनेवाला, राष्ट्र के वैभव को सब प्रकारसे बढानेवाला कोई भी व्यवसाय लीजिए, उसे रसायन ज्ञान करणी की मजबूत नीव की आवश्यकता है। जर्मनी, जपान, इंलैण्ड या अमेरिका में कृषि-सम्पत्ति भी रसायन-ज्ञान-क्रिया पर ही वृद्धि कर रही है। जर्मनीने अपनी उपज की वृद्धि, पिछले २० वर्षों में ५० प्रति शतसे १००।१२५ प्रतिशत तक की है। यह वृद्धि दो, एक या दस बीस खेतों में ही नहीं हुई है, बरन् सम्पूर्ण जर्मनी के खेतों में हुई है। गल्ले की समृद्धि के कारण जर्मनी के अकाल नष्ट हुए। गरीबों को पेट-पालन के लिए पर्याप्त एवं सात्त्विक अन्न मिलने लगा। भोजन के अभाव में होनेवाले लोगोंसे कष्ट और उन्हीं से उद्भूत कर्तव्यहीनता नष्ट हुई। छोटे बडे कारखानों को अतीव आवश्यक जो कच्चा माल वह भी पुजोया जाने लगा। लोग भी अधिकाधिक सामर्थ्य से, आशा से और शौकसे अपने अपने काम करने लगे। खेती की और पशुओं की अच्छी निगरानीके साथ ही देशके उद्योग भी उन्नति करने लगे। और जर्मनी में जिधर देखो उधर समृद्धि का सुख संचार करने लगा। रसायन-ज्ञान-क्रिया का एवं कर्तव्य-जागरूकता का ऐसा दिव्य फल मिलता है।

विविध धन्धों की बात क्षणभर छोड दें और केवल एकही जर्मन उद्योग पर विचार करें तो भी यही सत्य हृत्पटपर प्रतिबिंबित होता है। बीट की शक्कर का ही रुजगार देखिए। हिन्दुस्थान में गाजर होते हैं। उसी के समान और उन्हीं के गुणधर्मों को धारण करनेवाले 'बीट' जर्मनी में उत्पन्न होते हैं। १८४० ई० के पूर्व इन गाजरों में ३ प्रतिशत शक्कर मिलती थी। और वह भी मीठी-कडवी शक्कर होती थी। हिन्दुस्थान का शर्करा खण्ड उत्पन्न करनेवाला गन्ना जर्मनी में न तो होता था और न अब भी होता है। शक्कर की आवश्यकता दिन में दस बार होती थी पर गन्ना तो बिलकुल ही नहीं होता। तब क्या किया जाय ? कर्तव्योत्साही मन कदापि पसंद नहीं करता कि जीभ की लालसा तृप्त करने के लिए परदेश का माल मनचाही कीमत में खरीदा जाय। जर्मन-लोगों को परदेशी शक्कर मीठी न लगती थी। जर्मन रसायनशास्त्रज्ञ लोग सोचने लगे कि कुछ मीठे कुछ कडवे बीट से शक्कर उत्पन्न की जाय और उससे देश की रोज की गरज शांत की जाय। न कुछ सैकडा तीन शक्कर धारण करनेवाले 'बीट' के कारखाने ! और हजारों वर्षों से सारे संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त गन्ने की स्पर्धा! कैसी हँसी की बात !!! पडोसी देश के लोग और स्वयं जर्मनी के लोग भी खिलखिला-कर हंसने लगे। उपहास के और अवहेलना के ठण्डा करदेनेवाले निराशा के वायुमण्डल में समर्थ जर्मन कृषि-रसायन-वेत्ताओं ने प्रयोग शुरू किए। सुख-दुःख, यश-अपयश, लाभ-अलाभ की यत्किंचित् भी फिकर न कर वे प्रयोग अखण्ड जारी रखे। चुने हुए बीज का उपयोग करके बीट की खेती बडे परिश्रम की गई। इस प्रकार के एकध्येय से प्रेरित, अविश्राम ४०-५० वर्षोंके प्रयत्न प्रयोगों के उपरान्त उसी अनुपजाऊ जर्मनी में प्रतिशतक१७ से २० तक शक्कर देनेवाला 'बीट' उत्पन्न होने लगा। कहाँ सैकडे पीछे २०—याने गन्ने में जितनी शक्कर होती है उससे भी अधिक शक्कर! यह कह सकते हैं कि जर्मनीके रसायन शास्त्रज्ञों ने कडुए करेलोंसे शक्कर निकाली !! वह भी थोडी नहीं। बीट से शक्कर निकालने के प्रचण्ड कारखाने सारी जर्मनी भर में निकले। आज दिन सारे संसार में जितनी शक्कर उत्पन्न होती है, उसमें से आधी बीट से और आधी गन्ने से उत्पन्न होती है। और संसार में बीट से जितनी शक्कर उत्पन्न होती है उसका एकसप्तमांश वाँ भाग अकेली जर्मनी में होता है। जिस स्थान में गन्ने का नाम तक न था, जहाँ शक्कर का एक कण भी होना स्याने और जानकार मनुष्यों को असंभव मालूम होता था, उसी छोटी सी, दरिद्री, आपसी

झगडों से टूटीफूटी जर्मनी में 'बीट' जैसे केवल सूअरों का खाद्य बने बने हुए पदार्थ से हरसाल शक्कर के पहाड उत्पन्न होवें और उन्हे यह महत्व प्राप्त होवे और उनका इतना प्रसार हो कि वे संसार से गन्ने की शक्कर के व्यापार को आधे अंश में निकाल भगावें यह आश्चर्यों में से बृहत् आश्चर्य है!!! यह आश्चर्य क्या है ? जीवित मानवी बुद्धिका और जीवित पुरुषार्थ का सामर्थ्य है। यह आश्चर्य क्या है? जर्मन सरकारके, जर्मन जनता के, जर्मन रसायनशास्त्रज्ञोंके किसान एवं कारखानदारों के सौ-पचास वर्षोंका अध्यवसाय, दृढ प्रतिज्ञा एवं एकता के प्रयत्नों का दिव्य फल है। बीट की शक्कर ने आठ लाख लोगों को नये रुजगार में लगाया। आज आठ लाख लोगों को अन्न-वस्त्र एवं सुखके साधन बीट की शक्कर पूर्ण रीतिसे पुजोती है। हर साल ३० करोड रुपये की बीट की शक्कर उत्पन्न होती है। उनमें से साडेबीस करोड कारखानेके काम-करनेवालों को वेतन आदि देने में बाँटा जाता है। प्रतिवर्ष इसी बीट से तीन करोड रुपयों का पौष्टिक चारा ढोरों के लिए तैयार होता है। शक्कर निकाल लेनेपर जो कुछ छिलका आदि बचता है उसकी बहुमोल खातु खेतों के लिए बनती है। अब जरा सोचिए कहाँ करेले की भी कीमत न लानेवाला कडुआ बीट था और कहाँ संपदुत्पादन सामर्थ्य में सुवर्ण-रत्न-खदानों को भी नीचा दिखानेवाला आजका शक्कर से भी मीठा बीट ! राष्ट्रभाग्य का अत्युच्च ध्येय सामने रखकर करोडों रुपये खर्च करके की हुई रसायन तपस्या का यह निश्चित फल है। यदि सच्ची कर्तूत दिखाई जावे ता राष्ट्रके भाग्योदय में कमी किस बात की है ? इसी के विपरीत हिन्दुस्थान सरकार और हिन्दी जनता को देखिए; हिन्दुस्थानी गन्ने को और हिन्दुस्थानी गाजर को देखिए ! पिछले १५० वर्षों में क्या कुछ भी इस संबंध में हुआ है ? जहाँ यही निश्चय है कि कुछ करना ही नहीं वहाँ यदि देश स्वर्ग के समान देवों का प्रिय भी हो तो क्या हो सकता है? वहाँ से ध्येय और बुद्धिसामर्थ्य, कर्तबगारी और भाग्य ये सब लापता हो जावें तो आश्चर्य ही क्या ? हिन्दुस्थान के लाखों एकरों में से प्रतिवर्ष लगातार गन्ने की उपज होते हुए यहाँ कितने शक्कर के कारखाने अच्छी तरह चल रहे हैं और उनमें से प्रतिवर्ष ऐसी कितनी शक्कर बनती है ? जहाँ शक्कर का माबाप जो गन्ना वही मरने लगा, वहाँ गाजर को, जो बीट से स्वभावतः ही अधिक श्रेष्ठ है, कौन पूछता है ? जर्मनी का असली में करेले की कीमत का बीट २०।२५ वर्ष में उत्तम से उत्तम गन्ने का कार्य प्रचण्ड मात्रा में करने लगता है और हिन्दुस्थान का गन्ना? जर्मनी का बीट लाखों लोगों के पेटपानी का उत्तम प्रबन्ध कर सकता है और हिन्दुस्थानका शक्कर से परिपूर्ण गन्ना स्वयं मृत्यु की राह चल रहा है। कितना भारी अन्तर है ! जर्मन सरकाने, किसानों ने और शास्त्रज्ञों ने सारे जर्मन खेतों में फसल की सालीना वृद्धि सैकडा ५० से सैकडा १००—१२५ तक अव्याहत वृद्धि की और हिंदुस्थान सरकारने, लाखों रुपये प्रतिवर्ष खानेवाले कृषिकालेजोंने और उनसे निकलनेवाले हजारों पदवीधारियोंने हिन्दुस्थानी फसल की कितनी वृद्धि की है ? हर साल के अकाल की और सर्वत्र फैली हुई अन्न के लिए मौतादी की भर बहुत अधिक वृद्धि होती दीख रही है। जर्मनी में स्वयंस्फूर्ति का, बुद्धिमत्ता का, कर्तबगरीका काम है और हिन्दुस्थान में ऐरगैर का।

जर्मनी ने रसायन-ज्ञान का और पौष्टिक रासायनिक खातुओं का कुशलता से भडिमार करके अपनी कृषिसम्पत्ति बढाली; सात्त्विक अन्न की समृद्धि कर ली; जानवरों की, दूधमक्खनकी विपुलता कर दी; लोगों का शारीरिक सामर्थ्य, बुद्धिवैभव और कार्यक्षमता बढाली; सम्पूर्ण महत्व के राष्ट्र-सामर्थ्य के संबंध के धन्धे स्थापित किए और वे धन्धे विलक्षण लाभकारी रीति से चलाकर कर्तबगारीके लिए संसारभर में नाम कमाया। इतना ही नहीं उसका नाम अजरामर बना दिया। उसको कहते हैं 'राष्ट्रका भाग्य'। इसके विपरीत हिदुस्थान का—हिन्दु-मुसलमानों के और ब्राह्मण-अब्राह्मणों के—'झगडों का भाग्य'! अनेक अनेक वर्ष तक करोडों रुपये केवल एक सत्हेतु के

लिए खर्च करने पर अब वे रसायन-शालाएँ जिनमें ३ लाख रुपये खर्च होते हैं, जर्मनी में प्रतिवर्ष १५ लाख रुपयों की आमदनी कराने लगी हैं । रसायन-प्रयोगों से और उनकी सहायता से जर्मन कारखानों ने जर्मनी की संपत्ति आश्चर्यकारक रीति से बढा दी है । जर्मन किसान की मजदूरी रोजीना कम से कम २॥) से ३॥) रुपये है । साधारण जर्मन मजदूर को सप्ताह में-छः दिनके—२३), २४), रुपये मिलते हैं । अर्थात् वर्ष का ७५०) से १०००) रुपये की कमसे कम आमदनी हुई । जर्मन किसान को उसकी रोज की मजदूरी के सिवा फसल की आय का कुछ भाग भी मिलता है । यदि शांत चित्त से परन्तु कर्तबगारी कर दिखाने के उत्साहसे किसान की, कारखाने के काम करनेवाले की वा विश्वविद्यालय से पेट से निकालनेवाले उपाधिधारी की रोज क मजदूरी या वार्षिक आय का विचार करें तो ' हिन्दुस्थान का भाग्य ' हमे कैसा दिखेगा ?

" बुद्धिर्यस्य बलं तस्य ।"

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।

हितोपदेश ।

जीवित और स्वतंत्र बुद्धि तथा उधार ली हुई बुद्धि इन दोनों में जमीन अस्मान का अन्तर है । सच्चा स्वार्थत्याग और स्वार्थत्याग का स्वांग इन दोनों में उतना ही अन्तर है जितना सच्चे जनपद-हितकर्ता सम्राट् में और नाटक में सम्राट् पोषाक चढाकर नाचनेवाले में है । वास्तव में राष्ट्र को उच्च पद प्राप्ति के लिए जीवित बुद्धिस्वातंत्र्य एवं स्वार्थ-त्याग की आवश्यकता है । बुद्धिस्वातन्त्र्य का स्वांग और स्वार्थत्याग का स्वांग रचने से,बहुत होगा तो, राष्ट्र की कर्तूत का नाटक भर कुछ समय तक दिखलाया जा सकेगा । सच्ची प्रतिभा राष्ट्रको काव्यस्फूर्ति देनेवाले काव्य को जन्म देती है । खींचातानीसे लाई हुई कल्पनाशक्ति दुर्गन्धित वाङ्मय की धूल उडाती है और अंतर्बाह्य दृष्टि को अंध बना देती है ।

हम हिंदुस्थानी लोग स्वयंस्फूर्ति से विचार नहीं करते और बोलते भी नहीं । जो कुछ पुस्तक बोलता है उसे हम तोते के समान बोलते हैं । हमारे देश में ग्रन्थ बोलता है, दूसरे वैभवशाली देश में बडे मनुष्य की बडी कृति बोलती है । बुद्धि उन्मेष-शालिनी होनी चाहिए,दूसरों की पढाई हुई न होनी चाहिए । विद्या सत्कर्मप्रवण होनी चाहिए; पुस्तक न होनी चाहिए । बुद्धिस्वातंत्र्य का धडाका सूर्य प्रकाश के समान तेजस्वी, स्फूर्तिदायक, और सतत कार्यक्षम होना चाहिए । वह दियासलाई के प्रकाश के सदृश मद्दा, अल्पजीवी और हीन कार्यकर न होना चाहिए । सलाई सिलगाकर सिगरेट, बिडी या स्टोव सिलगा सकेंगे; पर सलाई का मलिन, पीलासा और सम्पूर्ण स्फूर्ति को ठण्डी करनेवाला प्रकाश देखकर पक्षीगण आनन्द से नाचने या गाने न लगेंगे । प्रसन्न सूर्य-प्रकाश और सलाई के प्रकाश में जो अंतर है, वही अंतर स्वतंत्र संशोधन, स्वतंत्र कार्य और रटंत विद्या में, अल्पक्षेमकर कार्य में है ।

हमारे शरीर का दैवी सामर्थ्य और नेत्रों का स्वयंभू तेज जाता रहा और हम निःसत्व और अंधे बने । हमारे शरीर भी बिक गए और आंखें भी बिक गईं । हम लोगों ने परदेशी अंगरखे खरीदे और चष्मे भी खरीदे । शरीर की रक्षा के लिए दूसरे का मुह असहायता से ताका और आंखें तो परप्रत्ययनेयदृष्टि हुईं । अधिक से अधिक मार्ग और कम से कम उपयुक्त व्यावहारिक पेटपालने का ज्ञान

ऐसा अपूर्व संयोग अकेले हिन्दुस्थान में ही दिखता है! हिन्दुस्थानकी बिनमोल शिक्षा पद्धतिने-शास्त्रीय संशोधनात्मक एवं औद्योगिक शिक्षा के अभाव में-अन्नपूर्णा गृहकी तो नहीं, पर बडेभारी, टुटे फुटे-भिक्षापात्र की उपाधि आक्रमित की है।

हिन्दुस्थान के पूर्ण परिचय का हो गया है कि बुद्धि की स्वतंत्रताके, स्वार्थत्यागके तथा कर्तबगारी के स्वांग से कौनसा बडप्पन प्राप्त किया जा सकता है। अब देखें जीवित बुद्धिस्वातंत्र्य, जीवित स्वार्थ-त्याग और जीवित स्फूर्तिप्रद कर्तव्यप्रवणता से राष्ट्र बडा पद कैसे प्राप्त करते हैं। यह इतिहास परदेश का ही होगा और यही इतिहास प्रस्तुत विकट परिस्थितिमें हम लोगों को कर्तव्य का सीधा मार्ग दिखलावेगा।

पश्चिम के बुद्धिमान् राष्ट्रों ने सृष्टिसामर्थ्यका पूर्ण उपयोग कर लिया है। हमलोग जानते हैं कि पानी के प्रवाह से विद्युत् शक्ति उत्पन्न कर उस शक्ति से बडे बडे कारखाने चलाए जा सकते हैं। बम्बई को जाते समय टाटाके प्रचण्ड जल विद्युत् के कारखाने दिखाई देते हैं हवा की शक्तिका उपयोग पवनचक्की। के लिए, विद्युत् शक्ति उत्पन्न करके उससे खेती काम लेना तथा खेती-बाडी रात्रीके समय प्रकाशित करने में होने लगा है। ये सृष्टि के जल-वायु-विद्युत् सामर्थ्य, यदि प्रारंभिक रचना तथा चालू खर्च छोड दे, तो बिलकुल मुफ्त में मिलते हैं। उसके लिए कुछ भी खर्च नहीं करना पडता और बहुमोल कार्य अखंड लिया जा सकता है। इन सृष्टि-सामर्थ्यों को आत्मसात् कर के राष्ट्रीय कार्य में लगाने के पश्चात् महत्त्वाकांक्षी शास्त्रज्ञ और राष्ट्रों का ध्यान सूर्य की उष्णता और पृथ्वी के पेट की उष्णता ने आकर्षित किया। पृथ्वी के पेट में स्थित उष्णता अनंत है वैसे ही प्रतिदिन प्रकाशनेवाले सूर्य की उष्णता भी अनंत है। ये दो अनंत सामर्थ्य हस्तगत हो जावें तो वास्तव में मनुष्य अनंत कार्य करेगा। वे भी अतीव उपयुक्त और मुफ्त में। इटली में तथा अमेरिका के केलिफोर्निया प्रायःद्वीप में प्रयत्न जारी है कि पृथ्वी की उष्णता अर्थात् ज्वालामुखी पर्वत के पेट की प्रचण्ड उष्णता का उपयोग कार-खानों को चलाने के लिए किया जाय। वे प्रयत्न बहुत कुछ आशाप्रद रीतिसे सफल भी हुए हैं। इसी प्रकार सूर्य की उष्णता का उद्योगधन्धों के उत्कर्ष के लिए उपयोग करने के प्रयत्न भी जारी हैं। पृथ्वी के पेट की उष्णता और सूर्य के पेट की उष्णता ये दोनों बिना खर्च के उपयोग में आनेवाले प्रचण्ड सृष्टि-सामर्थ्य हैं। जीवित बुद्धि सामर्थ्य, जीवित स्वार्थत्याग और जीवित कर्तबगारी के कारण यूरोपीयन एवं अमेरिकन राष्ट्र उच्च पदवी किस प्रकार प्राप्त कर रहे हैं इसका यह किंचित् दिग्दर्शन हुआ। हिन्दुस्थान के चार करोड लोगों को ठण्डीके दिनों में तापने के लिए लकडी नहीं मिलती और पतले पडे हुए पेट में अन्न से कुछ उष्णता उत्पन्न करना चाहें तो उन्हे रात का भोजन भी नहीं मिलता। यूरोपीयन वा अमेरिकन लोगों की स्पृहणीय आर्थिक सुस्थिति और हिन्दुस्थानियों की अनुकम्पनीय आर्थिक दुःस्थिति इनमें इस प्रकार का जमीन-अस्मान का अन्तर क्यों पडा? यदि दोनों की स्थितियों का अन्तर ढूंढना चाहें तो वह पूर्ण स्वातंत्र्य-बुद्धि और गमाई हुई या उधारी की बुद्धि में निश्चय से मिल जावेगा।

पिछले यूरोपीय महायुद्ध के भयंकर दिन थे। महायुद्ध की फैलनेवाली ज्वालाओं से सम्पूर्ण जगत् जलभुन रहा था। उसमें भी जर्मनी का तो यह हाल था कि वह चारों ओर से घिरा था और दम घुटकर उसके प्राण जाने की नौबत आ गई थी। जर्मनी के अन्नजल, वस्त्रपात्र आदि जीवनैक साधन समाप्त हो रहे थे। शत्रु राष्ट्रों का अभेद्य घेरा पडा था। बाहर से अन्नजल, वस्त्रपात्र मिलने की बिल-कुल आशा न थी। कोयले के पेट्रोल के न होने से कारखाने चटपट मरने लगे थे और खेती नष्ट होने से जर्मनी अन्न के लिए मौताद हो रहा था। ऐसी विकटतम राष्ट्रीय आपत्ति में एक सच्चे कर्तृत्ववान् शास्त्रज्ञ का उदय हुआ। वह शास्त्रज्ञ था विद्युत्-विद्या का ज्ञानी और उसका नाम था "हरमन् क्लौसन"। जलौघ, कोयला, पेट्रोल आदि सृष्टि-

सामर्थ्य का जर्मनी में अकाल पडा देख ' हरमन् प्लौसन ' का ध्यान हवा की विद्युत की ओर आकर्षित हुआ। जैसे पृथ्वी की और सूर्य की उष्णताके सामर्थ्य की सीमा नहीं और जैसे इस सामर्थ्य में कमी कमी नहीं होती वैसे ही ' मरुत् विद्युत् ' के सामर्थ्य की भी सीमा नहीं है और वह कभी कम भी नहीं होता। सम्पूर्ण पृथ्वी के इर्दगिर्द हवा का प्रचण्ड सागर फैला हुआ है। इस मरुत्-सागर के सदृश ही विस्तीर्ण किंबहुना उससे भी बहुत अधिक विस्तार का विद्युत्-सागर भी पृथ्वी के इर्दगिर्द आकाश में फैला हुआ है। भिन्न भिन्न देशों में भू-गर्भ-रचना के अनुसार जलप्रपात, कोयला, पेट्रोल आदि सृष्टिसामर्थ्य होंगे वा नहीं होंगे। परन्तु आकाशान्तर्गत ऐसा जो निःसीम विद्युत् सागर उसमें भेद-भाव नहीं है कि एक देश में लहरों का आंदोलन करना और दूसरे का बहिष्कार करना। इस विद्युत् सागरके संबंधमें निसर्ग जननी या परमेश्वर पिताने अब तक कोई भेदभाव नहीं किया। यह आकाशस्थित विद्युत् सामर्थ्य पृथ्वी के सब देशों पर समानता से खेल रहा है। वह हिन्दुस्थान पर भी विद्यमान है। ज्ञानी लोग और राष्ट्र इस बात को जानते हैं। यह बात भिन्न है कि हिन्दुस्थान को यह बात विदित नहीं है। यही ज्ञान ' हरमन् प्लौसन ' के अतीव राष्ट्रीय महत्ता की शास्त्रीय खोज की नींव है। ' हरमन् प्लौसन ' ने लगातार प्रयत्न प्रयोग जारी रखे कि राष्ट्रीय कारखानोंको चलाकर सम्पूर्ण देश के अन्नजल की समस्या को हल करनेवाला यह अखण्ड सामर्थ्य आकाश से पृथ्वीतल पर खींच लाकर सत्कार्य में किस प्रकार लगाया जाय। अनेक प्रयोग फजूल हुए। अनेकों ने ' प्लौसन ' की निराशा की। पर प्रयोग स्थगित न हुए। जीवित बुद्धिमत्ता और जीवित राष्ट्रहित की चावसे किए हुए प्रयोग आज नहीं तो कल, दस वर्ष में, पचास वर्ष में सफल होने ही चाहिए। इसी निश्चय से ' प्लौसन ' साहब कार्य में तत्पर रहे और उनके प्रयोग भी पूर्ण सफल हुए। सृष्टिमाता प्रयत्न-सातत्य की परीक्षा देखती है। इस परीक्षामें उत्तीर्ण होते ही सृष्टिमाता और उसके साथ ही सृष्टिसामर्थ्य भी प्रसन्न हो जाते हैं और सम्पूर्ण सृष्टि-संपत्ति अर्थात् ऋद्धिसिद्धि उस महान् शास्त्रज्ञ पुरुष की और उसके राष्ट्रकी या यों कहिए कि सम्पूर्ण जगत् की सेवा में तत्परता से लग जाती है।

' प्लौसन ' ने हवा में स्थित विद्युत् सामर्थ्य बिना-खर्च पृथ्वीतल पर मन चाही मात्रा खींचकर उसे दिनरात सत्कार्य में लगाने में सिद्धि प्राप्त की। यंत्र रचना भी पूर्णता को पहुँचा दी। आकाशस्थ विद्युत् को नीचे लानेवाले प्लौसन के यंत्र की रचना बिलकुल सरल है। यंत्र-रचना में प्रथम लगानेवाले खर्च के सिवा आगे चलकर यंत्र चलाने के लिए या कारखाना चलाने के लिए अन्य किसी भी प्रकार का खर्च नहीं लगता। पानी के जलप्रपात से उत्पन्न होनेवाली विद्युत् शक्ति कोयले की या पेट्रोल की शक्ति से उत्पन्न होनेवाली विद्युत् से बहुत ही कम खर्च में प्राप्त होती है। यह बात सत्य है। परन्तु इस जलविद्युत् शक्ति को प्रारंभिक खर्च बहुत ही अधिक लगता है। इसके लिए पानी का संचय तथा अन्य यंत्रों की रचना का प्रचण्ड खर्च भारी पूंजी के बिना किया ही नहीं जा सकता। प्लौसन की यंत्र रचना और योजना अत्यंत सरल और वास्तव में बिना खर्च की है। जैसे जलप्रपात अमेरिका, आफ्रिका, नार्वे या हिन्दुस्थान में हैं वैसे जर्मनी में नहीं हैं। और कृत्रिम जलौघ या जलप्रपात उत्पन्न करने योग्य जर्मनी की भूरचना भी नहीं है। भूरचना की इस प्रतिकूलता को देखकर ही, ' प्लौसन ' ने अपना ध्यान ' हवा की बिजली' की ओर लगाया; और इस राष्ट्रहित-कार्य में ' न भूतो न भविष्यति, ऐसी सिद्धि प्राप्त की। प्लौसन की योजना अति अल्प पूंजी की है। बहुत थोडी पूंजी से खेतों खेतों में, झोपडी में, छोटे कारखाने में, छोटे छोटे गांव-खेडों में प्लौसन की इस विद्युत् योजना को काम में ला सकते हैं। प्लौसन की यह विलक्षण यंत्र-रचना बहुत सरल है:—

प्लौसन ने अल्युमिनिअम की पतली चद्दर का एक बडे कंदील के आकार का वायुयान तैयार किया। उसे टिकाऊ बनाने के लिए भीतर की पोली जगहमें उचित आधार का प्रबन्ध किया गया। इन

आधारों के कारण वायुयान की बाजुएँ काफी मजबूत भी बन गईं और उनमें नबने का भी गुण रहा। वायुयान की पोली जगह उदज् (हैड्रोजन) वायु से भर दी। आजकल 'हेलियम्' नाम के हलके और उदज् वायु से अधिक बिनधोके की वायुसे पोलास्थान भरा जाता है।

'उदज्' या 'हेलियम्' वायु हलकी होती है इससे अल्युमिनिअम का वायुयान हवा में बिना आयास के उतराता है। वायुयान के बाहर की ओर से हर एक कोने पर तथा ऊपर जस्ते की जस्ता-तांबे की कँटीली सींकें खडी जोडी जाती है। जस्ते के कांटे की नोंके स्वभाव-धर्म के अनुसार हवा की बिजली आकर्षित करतीं हैं। यह आकृष्ट विद्युत् वायुयान में तथा जस्ते की सींकों में जुडी हुई तारके मार्ग से नीचे विद्युत्गृह में आती है। वहाँ प्रस्तुत उपलब्ध साधनों से विद्युत् संचय पात्र में संचय करके रखते हैं। इस संचय में से आवश्यक विद्युत् शक्ति दूसरे यंत्रों तथा कारखानों के चलानेके कार्य में लाई जाती है। प्रत्यक्ष प्रयोगों से 'प्लौसन' ने निर्विवाद रीतिसे सिद्ध कर दिया है कि दो सौ फुट की उँचाई पर उतरानेवाला खास आकार का ॲलम् वायुयान कम से कम दो सो अश्वशक्ति का अखण्ड विद्युत् सामर्थ्य उत्पन्न कर सकता है। इस दैवी शक्ति से एक कोई भी छोटा कारखाना या पाच छः कार्यगृह (वर्कशाप्स) चल सकते हैं अथवा किसी छोटे गांव के सब विद्युद्दीप जलाने का तथा उष्णता पुजोने का कार्य बिना खर्च के किया जा सकता है।

प्लौसन के आकाश-विद्युत् के खोज से और व्यावहारिक उपयोग से जगत् के उद्योगधंधों में विलक्षण क्रांति होनेवाली है। दो एक वर्ष में सम्पूर्ण जर्मनी में उँचे खंबों पर से करीब २००।३०० फुट की उँचाई पर उतरानेवाले 'ॲलम् वायुयान' जहाँ तहाँ दिखने लगेंगे। जर्मनी के गांवखेडों पर से, खेतों पर से और कदाचित् बडे बडे शहरोंपर से ये विद्युत् वायुयान मकडी के जाल के समान लतराते हुए नजर आवेंगे। इन विद्युत्-वायुयानोंके महत्व, उपयुक्तता और कार्य-सामर्थ्य का यथार्थता से वर्णन करना असंभव है। पृथ्वीका दैन्य दूर करनेवाला और मानवी सुखसम्पत्ति में असीम पूर्ति करनेवाला यह दैवी साधन जल्दी ही जर्मनी में कार्य करने लगेगा। इंग्लैण्ड ने भी निश्चय किया है कि इस अप्रतिम जर्मन खोज का उपयोग अपनी खेती की वृद्धि करने करना। और इंग्लैण्ड तथा जर्मनी से दस गुना बडे हिन्दुस्थानने क्या किया? भारतसरकार समर्थ है। अनेक भारतीय कारखानदार प्रगमनशील और साहसी हैं। हिन्दुस्थानी विश्वविद्यालयों से सैकडों बुद्धिमान् विद्युत्-यन्त्रशास्त्रज्ञ निकलते हैं। सहस्रों रसायनशास्त्रज्ञ भी उद्योग ढूंढते हुए देशभर में भटकते फिरते हैं। लाभ होने की आशा होनेपर कुछ पूंजी पुजोनेवाले धनिक भी शहरों में पाये जाते हैं। ऐसा मालूम पडता है कि सब कुछ मौजूद है; पर ध्यान कौन देता है?

'प्लौसन' की खोज से सर्व प्रथम जर्मनी की कृषि-सम्पत्ति में अवर्णनीय वृद्धि होगी। गांवखेडों के, गरीब किसानों की खेतीबाडी, झोपडी के धन्धों को तथा घरेलू धन्धों को 'प्लौसन' सादी यंत्र-रचना से प्रायः मुफ्त में विद्युत् शक्ति मिलेगी। आगे चलकर जर्मन गांवखेडों में आकाश-विद्युत् शक्ति से बिजली के दीप लगेंगे। वर्ष के आठ माह में जब कि कडी ठण्ड रहती है जर्मनों की झोपडियां काफी मात्रा में गरम रखनेका कार्य भी यही विद्युत् शक्ति करेगी। घरके या खेत के कुएँ का पानी निकालकर उचित कार्य में लगाने का कार्य भी यही शक्ति करेगी। फसल को तथा बीज को आवश्यक उष्णता देकर कीडे को मारडालने का कार्य और धान्य, फूल, फल आदि के संवर्धन का कार्य भी यही शक्ति करेगी। गरीब पर सद्गुणी एवं कर्तव्यदक्ष जर्मन गृहिणियों के कपडे सीने के यंत्र इसी शक्तिके बल से चलेंगे। दुहना, दूध मथकर मलाई निकालने का या दहिसे मक्खन निकालनेका अथवा खेतीबाडी के तथा घरेलू हर एक काम इसी दिव्य शक्ति से इच्छानुसार परन्तु बगैर खर्च के रोज लिया जावेगा। इस प्रकार के उदज वायु से भरे हुए ॲलम वायुयान यदि २०० फुट की उँचाई पर उतराते हुए रखे जाँय तो उस से मिलनेवाली

विद्युत् शक्ति से उस गांव को लगनेवाली उष्णता एवं प्रकाश देने पर भी खेती का हर एक काम हर चलाने से लगाकर कटाई, उडाई आदि सब काम- बिना रुकावट के और अधिक अच्छे होंगे। ऐसा सर्वगामी और सर्वकर्मकर साधन सामर्थ्य हस्तगत होने पर जर्मन किसान और जर्मन राष्ट्र सच्चा सुखी क्यों न होगा? दंभ का, तिलक-टोपी का, गप्पों का, झूटी धर्माधर्म कल्पनाओं का फल स्वर्ग कदापि नहीं है। आज दिन तक का इतिहास यही बतलाता है कि अविश्रांत सत् कृतिका और सदुद्यम का ही निश्चित फल स्वर्ग है।

प्लौसन का यह भी कथन है कि इस आकाश- विद्युत् की योजना के हो जाने से बिजली गिरके या बिजली के तूफान से खेतीवाडी या किसी भी प्रकार की जायदादमें, आगे चलकर, हानि न होगी। कारण यह है आकाश में इकट्ठा हुआ विद्युत्- संचय इस ॲलम के वायुयान में से तारद्वारा नीचे उतर कर अपना नियम शान्तता से करेगा, या वह संचय बहुत ही अधिक हुआ हो तो उसमें से तार के मार्ग से जमीन में प्रवेश कर किसी भी प्रकारका उत्पात किए बिना शान्त हो जावेगा। हवामें जितना विद्युत् संचय अन्य ऋतुओं में होता है उससे दुगनी विद्युत् ठण्ड की ऋतुमें हवामें रहती है। इससे ठण्ड की ऋतु में उसी यन्त्र से और किसी भी प्रकार का अधिक खर्च किए बिना, दुगनी विद्युत् शक्ति मिलकर दुगने काम उतने ही समय में होंगे। प्लौसन ने अपने आकाश-विद्युत् के यन्त्र को एक घूमनेवाले विद्युत् विकार (ट्रॅस्फॉर्मर) यन्त्र भी जोड दिया है। इससे विद्युत् प्रवाह अधिक प्रबल होकर, अधिक सुलभ एवं अधिक कार्यक्षम हुआ है।

एक मनुष्य की बुद्धिस्वतन्त्रता से या एक ही खोजसे, एकही सत्कृति से और सदुद्यम से सारे संसार का भाग्य उदय होने का संभव किस प्रकार होता है सो प्रसिद्ध जर्मन विद्युत् शास्त्रज्ञ 'हर- मन् प्लौसन' के ऊपर वर्णन किए हुए खोज से कर्मशील और उत्साही हिन्दी युवकों के ध्यान में सहज ही में आ सकता है। छोटे, गरीबी के उद्योग धन्धे परिश्रमी किसान और कुशल पर पूंजीहीन कारीगर इन सब को प्लौसन द्वारा संपादित विद्युत् सामर्थ्य से पुनरुज्जीव प्राप्त होगा। प्लौसन ने अपने अप्रतिम व्यावहारिक खोजसे भूखों मरनेवाले बेकारों को काम और अन्नदान तथा मरनेवाले एवं मरे हुए उद्योगधन्धों को और कला कौशल को वास्तवमें प्राणदान किया है। जर्मनी, शत्रुस्थान में स्थित इंग्लैण्ड, किसी भी स्थान में न रहनेवाला हिन्दुस्थान किंबहुना सम्पूर्ण जगत् 'प्लौसन' के धन्यवाद क्यों न गावे? सहस्रावधि लोगों के पेटपानी की अपनी बुद्धिमानी से, खोज से, और प्रत्यक्ष कर्तबगारी से उचित व्यवस्था करनेवाला, इसी प्रकार मरी हुई और मरनेवाली कर्तृत्वशक्ति को संजीवन देनेवाला मनुष्य ही सच्चा साधुसंत और सच्चा महात्मा है। पुराण की गप्पें झोंक कर श्रोताओं को स्वर्ग में ले जाने का बहाना करनेवाला कदापि महात्मा नहीं होता। दंभ से और गप्पों से उत्पन्न किया हुआ शाब्दिक स्वर्ग दीनता से, दरिद्रता से और दुःख से भरा है। अपने लोगों के स्वार्थी उत्पातों से स्वर्गस्थित देवों का भी अधःपतन होता है। इस के विपरीत 'हरमन प्लौसन' जैसे महान् लोग अपनी जीवित बुद्धि-स्वतन्त्रता से, जीवित स्वार्थत्याग से और लोकोपयोगी कर्तृत्व से दीनता, दुःख बिलकुल नष्ट करके इसी पृथ्वीपर इसी पृथ्वी का स्वर्ग बना देते हैं। हम आशा करते हैं कि उत्साही और कर्मशील हिन्दुस्थानी विद्युत्- शास्त्रज्ञ और रसायन-शास्त्रज्ञ 'प्लौसन' से यही उपदेश ग्रहण करेंगे कि 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य।'

बौद्धिक व्यायाम की आवश्यकता।

(लेखक— श्री० वासुदेव सिद्धनाथ कुलकर्णी, बी. ए.)

आजकल जहां कहीं देखें यही दिखाई देता है कि आरंभ किए हुए कार्य में असफलता ही होती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी भूलपर पछताता हुआ नजर आता है। कार्य में सफलता तभी होती है जब उचित समय पर उचित विचार सूझें। मूल से असफलता हाथ आती है और भूल क्या है? समय पर उचित विचार न सूझना। परन्तु भूल प्रत्येक मनुष्य से होती है और उसके परिणाम भी भुगतने पडते हैं। ऐसे समय पर मनुष्य के मुह से सहजस्फूर्त उद्गार निकलते हैं। ये उद्गार प्रायः इस प्रकार होते हैं। "पत्थर पडे मेरी बुद्धि पर! यही बात पहले सूझती तो क्या ही अच्छा होता?" "मुझे ऐसा ही लगता था, पर फिर न मालूम क्यों दूसरी बात सूझी और ये ऐसा कर बैठा।"

क्या किसीने कभी सोचा है कि उपर्युक्त वाक्य किस बातको सूचित करते हैं? यदि कहा जाय कि किसीने नहीं सोचा, तो गलती न होगी। मनुष्य अपनी बुद्धि को दोष देता है। अर्थात् उसकी बुद्धि में कोई कमी अवश्य है। तब यदि किसी उपाय से बुद्धि यह कमी पूरी की जावेगी, तो अवश्य ही यश-प्रदान करनेवाले उचित विचार उत्पन्न होंगे। और उन्हीसे मनुष्य ऐहिक और पारमार्थिक सुख प्राप्त करेगा। वह उपाय "बौद्धिक व्यायाम" है। शरीर का रोग नष्ट करके उसे स्वस्थ बनाए रखने को शारीरिक व्यायाम आवश्यक है। ठीक इसी प्रकार बुद्धि का विकार नष्ट कर उसे अच्छी दशामें रखने के लिए 'बौद्धिक व्यायाम' ही आवश्यक है। उस के लिए अन्य उपाय ही नहीं हैं।

"Sound mind in a sound body." 'शरीर बलवान् हो तो मन भी बलवान् रहेगा'। इस उक्ति की बात कुछ अंश में सत्य है। पर स्वस्थ शरीर के बलपर प्राप्त की हुई मानसिक शक्ति धारण करने-वाले मनुष्य भी उपरोक्त उद्गार निकालते हुए पाए जाते हैं। इतना अवश्य है कि उसका मन बलवान् होनेसे वह घबडाता नहीं। शंका यही है कि क्या वह मनुष्य ऊपर बतलाए हुए उद्गार कहने के मौके टाल सकता है।

प्रत्येक मनुष्य को दुःख के समय परमेश्वर और साधु पुरुषों के वचनों का स्मरण होता है। वह उन्ही वचनों पर विचार भी करने लगता है। वर्तमान समय में परिस्थिति भी ऐसी ही है। अतएव हमारा विचार है कि गायत्री मंत्र की उपयुक्तता दिखा दें जिससे लोग इस मंत्ररूपी बौद्धिक व्यायाम का अवलंबन करें। इस लेख में हम दिखलावेंगे कि इस मंत्ररूपी व्यायाम का अपनी उन्नति के लिए किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है।

गायत्री मंत्र को हम बौद्धिक व्यायाम इस लिए कहते हैं कि सविता के ध्यान से बुद्धि को प्रेरणा होती है। कहाही है—

'धियो यो नः प्रचोदयात्।'

बुद्धि की उन्नति मंत्र के वारंवार उच्चार करने पर अवलंबित है। अतएव व्यायाम का सिद्धांत यहां ठीक लागू होता है। व्यायाम में भी थकावट आने तक शरीर से कुछ विशेष प्रकार की हल-चल कराई जाती है। वही बात मंत्रोच्चार से भी होती है।

'गायत्री' शब्द का अर्थ इस प्रकार कहा है:—

'गायंतं त्रायते यस्माद्गायत्री त्वं ततः स्मृता।'

अर्थात् गानेवाले का रक्षण करनेवाली देवता। यदि विचार किया जाय तो विदित होगा कि मनुष्य की रक्षा करने के लिए कोई देवता प्रत्यक्ष नहीं आती। मनुष्य स्वयं ही अपनी रक्षा करता है। अर्थात् समय पर उचित विचार सूझनेही से उसकी रक्षा होती है। कारण यही है कि सब अनर्थों का बीज, और सब संकटों की जड बुरे विचार हैं। यदि मनुष्य उन बुरे विचारों को ही टाल सके तो

दुष्परिणाम से वह अवश्य ही बच गया ।

' उद्धरेदात्मनात्मानं ।'

वा

' मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः । '

आदि वाक्यों से भगवान् श्रीकृष्णजी ने स्पष्ट ही कर दिया है कि मनुष्य के अधीन ही सब बातें हैं ।

तब भी लोगों में गायत्री मंत्र के प्रति अनास्था है और लोग उसे टालना चाहते हैं । कारण यही है कि लोग उस मंत्र के रहस्य को नहीं समझते । इसीसे प्रथम यही देखेंगे कि मानस-शास्त्र की दृष्टि से गायत्री का रहस्य क्या है ।

मानस-शास्त्र में मनके दो भाग माने गये हैं । एक अंतर्मन और दूसरा बहिर्मन । जागृत अवस्था में बहिर्मन के द्वारा अंतर्मन पर परिणाम होता रहता है । प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्यही होती है । इस सिद्धान्त के अनुसार जो जो बातें अंतर्मन पर उछली होंगीं उनका असर बहिर्मन पर अवश्य ही होगा । यहां तक देखा गया है कि अंतर्मन के संस्कारों का असर शरीर के व्यापारोंपर भी होता है । कोई नाटक या उपन्यास पढते समय उसमें जिस घटना का हाल पढते हों उसी के समान क्रिया अपन करने लगते हैं । इसका मजा देखना हो तो रस्सा खींचते समय ध्यान से अवलोकन कीजिए । प्रेक्षक वर्ग वर्ग किसी एक पक्ष को उत्साह देता है और उस समय इतना तल्लीन हो जाता है कि चिल्लाते चिल्लाते झुक जाता है मानो वह स्वयं ही रस्सा खींचता हो ।

अंतर्मन जिन जिन विचारों की लहरें ग्रहण करता है उनकी प्रतिक्रिया बहिर्मन पर और शरीर पर भी करता है । जो डरपोक होते हैं, जिनमें असली वीरत्व नहीं होता, उन्हे वीर-रस के गाने सुनाकर और रणवाद्य बजाकर लडने को तैयार करते हैं। जो स्वभाव ही से शूर वीर होते हैं उन्हें स्फूर्ति होती है । इसी प्रकार बहिर्मन के द्वारा जप की सहायता से और सविता का ध्यान करके यदि वारंवार सूचना की जावे कि बुद्धि को प्रेरणा हो तो उसकी प्रतिक्रिया सदैव अच्छी ही होगी । बुद्धि को प्रेरणा दो बातों की ही चाहिए । एक उचित विचारों की और दूसरी समयोचित विचारों की । इसीपर सारा यश निर्भर है। इसीसे बुद्धिको उचित चालना देने के लिए उत्कृष्ट साधन गायत्री मंत्र है । इससे बुद्धि का वैगुण्य नष्ट कर सकते हैं। जो बुद्धिमान् हैं वे अपनी बुद्धि अधिक ओजस्विनी बना सकेंगे । साधारण मनुष्य को मालूम होगा कि हमे क्या करना अवश्यक है और वह कई अडचनों से मुक्त होगा । व्यायाम से साधारण मनुष्य अपना शरीर मजबूत बना सकता है और जिनका शरीर पहले ही से अच्छा है वे व्यायाम करके पहलवान बन सकते हैं । वही बात बुद्धिके संबंध में भी सत्य है ।

परन्तु, यह सधेगा किस प्रकार ? केवल मंत्र के अक्षरों को रटनेसे यह काम कदापि सिद्ध न होगा । आज तक हम सब मंत्रों के अक्षर रटते ही रहे पर लाभ कुछ भी न हुआ । जैसे व्यायाम लाभकारी तभी होता है जब उसमें मन एकाग्र किया जाय। वैसे ही मंत्र जप में भी गायत्री-मंत्र के पुरश्चरणविधि में जो रीति बतलाई गई है उसी रीतिसे मन की एकाग्रता करनी चाहिए । विधि इस प्रकार है –

तज्जपस्तदर्थ भावनम् । (योगसूत्र)

अर्थात् मंत्र के अर्थ का स्मरण करते करते जप करना चाहिए तभी लाभ होता है । गायत्री का जप करते समय सदैव ध्यान रखना होगा कि " उस सविता देवता का ध्यान बुद्धिको अच्छे कामों में प्रवृत्त करे "। इस सूचना से ही बुद्धि को अच्छी आदतें पड सकती हैं ।

प्रत्येक कार्य के करने में बुद्धि की आवश्यकता है । उस बुद्धि को कार्यक्षम बनानेका एकमात्र उपाय गायत्री मंत्र है । इस मंत्र के जप से बुद्धि को व्यायाम होता है ।और इस व्यायाम से समयसूचकता आवेगी । समय पर योग्य विचार सूझना ही महत्व का है । कहा भी है कि ' समय चूक फिर का पछताने ।' गायत्री मंत्र को वेदों में भी श्रेष्ठता इसी लिये दी गई है ।

(अपूर्ण)

बल प्राप्त करना।

[१०१]

(ऋषिः— अथर्वाङ्गिराः । देवता-ब्रह्मणस्पतिः)

आ वृ॑षायस्व श्वसि॒हि वर्ध॑स्व प्र॒थय॑स्व च ।
य॒था॒ङ्गं व॑र्धता॒ं शेप॒स्तेन॑ यो॒षित॒मिज्ज॑हि ॥ १ ॥
येन॑ कृ॒शं वा॒जय॑न्ति॒ येन॑ हि॒न्वन्त्या॒तुर॑म् ।
तेना॒स्य ब्र॑ह्मणस्पते॒ धनु॑रि॒वा ता॑नया॒ पस॑: ॥ २ ॥
आहं त॑नोमि ते॒ पसो॒ अधि॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नि ।
क्रम॒स्वर्श॑ इव रो॒हित॒मन॑वग्लायता॒ सदा॑ ॥ ३ ॥

अर्थ— (आ वृषायस्व) बलवान् हो, (श्वसिहि) उत्तम प्राण धारण कर, (वर्धस्व प्रथयस्व च) बढ और अंगोंको फैला। (यथा शेपः अङ्गं वर्धताम्) जिससे प्रजननांग पुष्ट हो, और तू (तेन योषितं इत जहि) उससे स्त्रीको प्राप्त हो ॥ १ ॥

हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानी ! (येन कृशं वाजयन्ति) जिसे कृश मनुष्यको पुष्ट करते हैं, (येन आतुरं हिन्वन्ति) जिससे रोगीको समर्थ बनाते हैं, (तेन) उस उपायसे (अस्य पसः धनुः इव आतानय) इसका अंग धनुष्य जैसा फैला ॥ २ ॥

(अहं ते पसः तनोमि) मैं तेरी इंद्रियको फैलाता हूं,(धन्वनि अधि ज्याम् इव) जैसे धनुष्यपर डोरीको तानते हैं। (ऋशः रोहितम् इव) जिस प्रकार रीछ हरिनपर धावा करता है (अनवग्लायता सदा क्रमस्व) न थकता हुआ आक्रमण कर ॥ ३ ॥ (देखो अथर्व० ४ । ४ । ७)

भावार्थ— हे मनुष्य ! तू बलवान् बन, प्राणका बल बढा, शरीर पुष्ट कर, और मोटा ताजा कर। इस प्रकार सब शरीर उत्तम पुष्ट होनेके पश्चात् स्त्रीको प्राप्त कर ॥ १ ॥

हे ज्ञानी पुरुष ! जिस उपायसे कृशको पुष्ट करते हैं और रोगीको नीरोग करते हैं, उस उपायसे तुम्हारे सब रोगी और निर्बल लोग नीरोग और बलवान् बनें ॥ २ ॥

धनुष्यकी डोरीके समान शरीरमें बल और लचीलापन होवे और ऐसा बल प्राप्त करके हरिणपर रीछ हमला करनेके समान न थकते हुए तू सदा हमला कर ॥ ३ ॥

चार प्रकारका बल।

इस सूक्तमें चार प्रकारका बल कहा है। हरएकको यह चार प्रकारका बल प्राप्त करना चाहिये। (१) आ वृषायस्व=यह वीर्यका बल है, शरीर वीर्यवान् हो; (२) श्वसिहि- प्राणका बल बढे, श्रम का थोडासा कार्य करते ही श्वास लगना नहीं चाहिये; (३) वर्धस्व- शरीरकी लंबाई चवडाई पर्याप्त हो, मनुष्य अच्छा मोटा ताजा प्रतीत हो; और (४) प्रथयस्व- हरएक अवयव अच्छी प्रकार पुष्ट हो। यह चार प्रकारके बलोंका वर्णन है। मनुष्यको ये चारों प्रकारके बल प्राप्त करने चाहिये। वीर्य, प्राण, शरीरकी वृद्धि और पुष्टी ये चार प्रकार हैं। हरएक मनुष्यको अपना शरीर इन चतुर्विधबलोंसे युक्त करना चाहिये।

कोई मनुष्य किसी कारण रोगी अथवा कृश हुआ तो उसको उचित है कि वह सुयोग्य वैद्यसे चिकित्सा करवाकर नीरोग और हृष्टपुष्ट बने। उत्तम हृष्टपुष्ट, नीरोग और बलवान् मनुष्य ही स्त्रीसे संबंध करे। अन्य अशक्त मनुष्य दूर रहे। तथा मनुष्य बलवान् बनकर सदा पराक्रम करे।

परस्पर प्रेम।

[१०२]

(ऋषिः- जमदग्निः। देवता-अश्विनौ)

यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते।
एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्तताम् ॥ १ ॥
आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव।
रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः ॥ २ ॥
आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च।
तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे ॥ ३ ॥

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (यथा अयं वाहः सं एति) जिस प्रकार यह घोडा साथ साथ जाता है, और (सं वर्तते च) मिलकर साथ साथ रहता है, (एवा ते मनः मां अभि) इस प्रकार तेरा मन मेरे (सं आ एतु) साथ आवे और (सं वर्ततां च) साथ रहे ॥ १ ॥

(अहं ते मनः आ खिदामि) मैं तेरे मनको खींचता हूं (पृष्ट्यां राजाश्वः इव) जिस प्रकार पीठके साथ बंधी गाडीको घोडा खींचता है। (यथा रेष्म-छिन्नं तृणं) जैसा वायुसे छिन्नभिन्न हुआ घास एक दूसरेसे लिपटता है, वैसा (ते मनः मयि वेष्टतां) तेरा मन मेरे साथ लिपटा रहे ॥ २ ॥

(तुरः भगस्य) त्वरासे प्राप्त होनेवाले, भाग्ययुक्त, (आञ्जनस्य मदुघस्य) अञ्जनके समान हर्षित करनेवाले (कुष्ठस्य नलदस्य हस्ताभ्यां) कूठ और नलके समान हाथों द्वारा (अनुरोधनं उद्धरे) अनुकूलता को प्राप्त करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार गाडीको जोते हुए दो घोडे साथ साथ रहते हैं और साथ साथ चलते हैं, उस प्रकार परस्परका मन एक साथ रहे, परस्पर विरोध न करे ॥ १ ॥

जिस प्रकार घोडा गाडीको अपनी ओर खींचता है, उस प्रकार एक मनुष्य दूसरेके मनको खींचे और इस प्रकारके प्रेमके वर्ताव से मनुष्य परस्पर संगठित होवें ॥ २ ॥

त्वरासे कोई कार्य करना, भाग्य प्राप्त होना, अञ्जन आदि भोगविलास करना, हरएक प्रकारका आनन्द कमाना इत्यादि अनेक कार्योंमें परस्परकी अनुकूलता परस्परको देखना चाहिये ॥ ३ ॥

प्रेमका आकर्षण।

एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको प्रेमके साथ आकर्षित करे और इस प्रकार सब मनुष्य संगठित होकर रहें। स्त्रीपुरुष, पितापुत्र, भाई भाई, तथा अन्य मनुष्य एक दूसरेको प्रेमसे आकर्षित करे और सब संगठित होकर एक विचारसे अपनी उन्नतिका साधन करें।

शत्रुका नाश।

[१०३]

(ऋषिः- उच्छोचनः । देवता—इन्द्राग्नी, बहुदैवतम्)

संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत् ।
संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विना ॥ १ ॥
सं परमान्त्समवमानथो सं द्यामि मध्यमान् ।
इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ २ ॥
अमी ये युधमायन्ति केतून् कृत्वानीकशः ।
इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ ३ ॥

अर्थ— हे शत्रुओं! (बृहस्पतिः वः संदानं करत) बृहस्पति तुम्हारा खंडन करे, (सविता संदानं) सविता नाश करे, (मित्रः संदानं, अर्यमा संदानं) मित्र और अर्यमा टुकडे करे, (भगः अश्विना संदानं) भग और अश्विदेव तुम्हारा नाश करे ॥ १ ॥

शत्रुओंके (परमान् अवमान् अथो मध्यमान् सं सं सं द्यामि) दूरके पासके और बीचके सैनिकोंको काटता हूं, (इन्द्रः तान् परि अहाः) इन्द्र उन सबका निवारण करे। हे अग्ने! (त्वं तान् दाम्ना सं द्य) तू उनको पाशसे स्वाधीन रख ॥ २ ॥

(केतून् कृत्वा) झण्डोंको उठाकर (अमी ये अनीकशः युद्धं आयन्ति) ये जो अपनी अपनी टुकडियोंके साथ युद्धके लिये आते हैं, (तान् इन्द्रः परि अहाः) उनका इन्द्र निवारण करे, हे अग्ने! (त्वं तान् दाम्ना सं द्य) तू उनको पाशसे बांधे रख ॥ ३ ॥

भावार्थ—ज्ञानी, शूर, मित्र, न्यायकारी, धनवान्, अश्ववान ये सब राष्ट्रकी रक्षा के लिये अपनी अपनी शक्तिसे शत्रुका संहार करें, कोई डर कर पीछे न रहे ॥ १ ॥

शत्रुसेनामें जो पासवाले, बीचके और दूरके सैनिक हैं,उनका निवारण किया जावे और जो पास मिलें उनको अपने आधीन किया जावे॥ २ ॥

जो सैनिक झण्डोंको उठाकर छोटे छोटे विभागोंमें मिलकर हमला करते हैं, उनका भी पूर्वोक्त प्रकार नाश किया जावे ॥ ३ ॥

शत्रुका दमन।

जिस समय राष्ट्ररक्षा का प्रश्न उपस्थित हो उस समय (बृहस्पति) ज्ञानी जन, (सविता) शूर वीर, (मित्र) मित्रदलके लोग, (अर्य—मा) न्याय करनेवाले, श्रेष्ठ कौन है और कौन नहीं इसका प्रमाण निश्चित करनेवाले, (भगः) ऐश्वर्यवान्, (अश्विनौ) अश्ववाले, अर्थात् घोडोंपर सवार होनेवाले वीर, (इन्द्र) नरेन्द्रमंडल, शूर, वीर, (अग्निः) प्रकाशक आदि सब प्रकारके लोग अपने राष्ट्रकी रक्षा के लिये कटिबद्ध होकर हरएक प्रकारसे शत्रुका नाश करें और अपने राष्ट्रका बचाव करें। इन-मेंसे कोई भी पीछे न रहे, अपनी अपनी शक्तिके अनुसार जो हो सके, वह हरएक मनुष्य करे और अपने राष्ट्रकी रक्षा करे।

इस सूक्तमें जो देवतावाचक नाम आगये हैं वे देवोंके दिव्य राष्ट्रके अनेक ओहदे-दार हैं, देवराष्ट्रमें उनके कार्य निश्चित हैं। वेही कार्य करनेवाले मानवराष्ट्रके ओहदे-दार उसी प्रकार के अपने अपने कार्य करें और अपने राष्ट्रकी रक्षा करें, यह इस सूक्तका आशय है। जैसा देव करते हैं वैसा मनुष्य यहां करें और देव बन जांय।

शत्रुका पराजय।

[१०४]

(ऋषिः— प्रशोचनः। देवता–इन्द्राग्नी, बहवो देवताः)

आदानेन संदानेनामित्राना द्यामसि।
अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन् ॥ १ ॥
इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम्।
अमित्रा येत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥ २ ॥
ऐनान् द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ।
इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः ॥ ३ ॥

अर्थ— (आदानेन संदानेन) पकडने और वश करनेसे (अमित्रान् आ द्यामसि) शत्रुओंको नष्ट करते हैं। (एषां ये च प्राणाः अपानाः) इनके जो प्राण और अपान हैं उन (असून् असुना सं अच्छिदम्)

प्राणोंको प्राणोंसे ही काट डालता हूं ॥ १ ॥

(इन्द्रेण तपसा संशितं) इन्द्रने तपके द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ (इदं आदानं अकरं) यह पाश मैंने बनाया है, (ये अत्र नः अमित्राः सन्ति) जो यहां हमारे शत्रु हैं, हे अग्ने! (तान् त्वं आ द्य) उनका तू नाश कर ॥२॥

(इन्द्राग्नी एनान् आ द्यतां) इन्द्र और अग्नि इनका नाश करे। (सोमः राजा च मेदिनौ) सोम और राजाभी आनंदसे यह कार्य करे। (मरुत्वान् इन्द्रः) मरुतोंके साथ इन्द्र (नः अमित्रेभ्यः आदानं कृणोतु) हमारे शत्रुओंको पकड रखे ॥ ३ ॥

भावार्थ-शत्रुको पकडकर उनको प्रतिबंध में रखने के द्वारा हम उनका नाश करते हैं। उनके प्राणोंका बलही हम कम करते हैं ॥ १ ॥

तपके द्वारा बनाया यह पाश है उससे शत्रुको बांध और उनका नाश कर ॥ २ ॥

सब देव शत्रुनाश करनेके कार्य में हमें सहायता करें ॥ ३ ॥

शत्रुको पकडना।

शत्रुको पकडकर उसको प्रतिबंध करना चाहिये। उसकी शत्रुताका प्रतिबंध हुआ तो शत्रु नष्ट हुआ, यह बात स्पष्ट है। अपने तपके प्रभावसे शत्रु प्रतिबंधित होता है और तप न होनेसे शत्रु प्रबल होता है। इस बातका हरएक मनुष्य अनुभव कर सकता है। इसलिये इसके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।
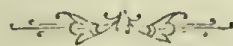
खांसीको दूर करना।

[१०५]

(ऋषिः-उन्मोचनः। देवता-कासा)

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत मनसोनु प्रवाय्यम् ॥ १ ॥

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ २ ॥

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पंत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(यथा आशुमत् मनः) जिस प्रकार शीघ्रगामी मन (मनस्केतैः परा पतति) मनके विषयोंके साथ दूर जाता है, (एवा) इस प्रकार, हे (कासे) खांसी आदि रोग ! (त्वं मनसः प्रवाय्यं अनु प्र पत) तू मनके प्रवाहके समान दूर भाग जा ॥ १ ॥

(यथा सुसंशितः बाणः) जिस प्रकार अतितीक्ष्ण बाण (आशुमत् परापतति) शीघ्रतासे दूर जाकर गिरता है (एवा) इस प्रकार, हे (कासे) खांसी ! (त्वं पृथिव्याः संवतं अनु प्रपत) तू पृथ्वीके निम्न स्थलमें गिर जा ॥ २ ॥

(यथा सूर्यस्य रश्मयः) जिस प्रकार सूर्यकिरण (आशुमत परापतन्ति) वेगसे दूर भागते हैं, (एवा) इस प्रकार, हे (कासे) खांसी ! तू (समुद्रस्य विक्षरं अनु प्रपत) समुद्रके प्रवाहके समान दूर गिर जा ॥ ३ ॥

भावार्थ--मन, सूर्यकिरण और बाण इनका वेग बडा है। जिस वेगसे ये जाते हैं, उस वेगसे खांसी की बीमारी दूर होवे ॥ १-३ ॥

(संभवतः खांसी निवारणका उपाय मनके नीरोग संकल्प और सूर्यकिरणके संबंध में होगा।)

घरकी शोभा।

(ऋषिः— प्रमोचनः । देवता-दूर्वाशाला)

[१०६]

आयंने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः ।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥ १ ॥
अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥ २ ॥
हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि ।
शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (ते आयने परायणे) तेरे घरके आगे और पीछे (पुष्पिणीः दूर्वाः रोहन्तु) फूलोंसे युक्त दूर्वा घास उगे। (तत्र वा उत्सः जायतां) और वहां एक हौद हो, (वा पुण्डरीकवान् ह्रदः) अथवा वहां कमलोंवाला तालाव बने ॥ १ ॥

(इदं अपां न्ययनं) यह जलोंका प्रवाहस्थान होवे, (समुद्रस्य निवेशनं) समुद्रके समीपका स्थान हो, (ह्रदस्य मध्ये नः गृहाः) तालावके बीचमें हमारे घर हों, (मुखाः पराचीना कृधि) घरके द्वार परस्पर विरुद्ध दिशामें कर ॥ २ ॥

हे शाले! (त्वा हिमस्य जरायुणा) तुझे शीतके आवरणसे (परि व्ययामसि) घेरते हैं। (नः शीतह्रदाः भुवः) हमारे लिये शीतल जलवाले तालाव बहुत हों, और हमारे लिये (अग्निः भेषजं कृणोतु) अग्नि शीत निवारणका उपाय करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— घरके आगे और पीछे दूर्वाका उद्यान हो, उसमें बहुत प्रकार के फूल उत्पन्न हों, वहां पानीका हौद हो, व कमलोंवाला तालाव हो ॥ १ ॥

घरके पास जलके प्रवाह चलें, घरका स्थान समुद्रके किनारेपर हो, अथवा तालावके मध्यमें हो, और घरके दरवाजे या खिडकियां आमने सामने हों ॥ २ ॥

घरके चारों ओर जल हो,शीत जलके हौद हों, और यदि सर्दी अधिक हुई तो शीतनिवारण के लिये घरमें अग्नि जलानेका स्थान हो ॥३॥

घरके आसपासकी शोभा कैसी हो, यह इस सूक्तने उत्तम रीतिसे बताया है। घरके चारों ओर बाग हो, कमलोंसे भरपूर तालाव हो, जलके नहर बहें, उद्यान उत्तम हो और चारों ओर रमणीय शोभा बने। ऐसा सुरम्य घरके आसपासका स्थान होना चाहिये। घरके द्वार और खिडकियां आमने सामने हों, जिससे घरमें शुद्ध वायु विना प्रतिबंध आजाय। घरमें अग्नि जलता रहे। शीत लगने पर घरके लोग अग्निके पास जाकर शीतनिवारण का उपाय करें।

पाठक देखें कि वेदने कैसे उत्तम उद्यानयुक्त घरकी कल्पना दी है। हरएकको अपना घर जहांतक हो सके वहांतक उद्यान और जलसे युक्त करना चाहिये।

अपनी रक्षा ।

[१०७]

(ऋषिः— शन्तातिः । देवता-विश्वजित्)

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि ।
त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ १ ॥
त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि ।
विश्वजिद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥२॥
विश्वजित् कल्याण्यै मा परि देहि ।
कल्याणि द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥३॥
कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि ।
सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ-हे (विश्वजित्) जगत् को जीतनेवाले ! (मा त्रायमाणायै परि देहि) मुझे रक्षा करनेवाली शक्ति के लिये दे । हे (त्रायमाणे) रक्षक शक्ति ! (नः द्विपात् चतुष्पात् च सर्वं रक्ष) हमारे द्विपाद और चतुष्पाद सब की रक्षा कर और (यत च नः स्वं) जो अपना धन है उसकी भी रक्षा कर ॥ १ ॥

हे (त्रायमाणे) रक्षक शक्ति! (मा विश्वजिते देहि) मुझे जगत्का विजय करनेवाले के पास दे । हे जगज्जेता ! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पाद सब की रक्षा कर ॥ २ ॥

हे जगज्जेता ! (मा कल्याण्यै परिदेहि) मुझे कल्याण करनेवाली शक्तिके आधीन कर । हे कल्याणि ! मेरा धन और द्विपाद चतुष्पाद की रक्षा कर ॥ ३ ॥

हे कल्याणि । (मा सर्वविदे परि देहि) मुझे सर्वज्ञके पास पहुंचा । हे सर्वज्ञ ! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पादकी रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ-जगत् को जीतनेकी इच्छा करनेवाला रक्षकके सुपुर्द रक्षणीय वस्तुमात्र को करे । वह रक्षक सबकी यथायोग्य रक्षा करे । रक्षक उन सब पदार्थोंको विश्वविजयी के पास देवे । और वह विश्वविजयी सबकी योग्य रक्षा करे । यह सब रक्षा सबके कल्याण के लिये हो, अर्थात् सबकी

रक्षासे सबका यथायोग्य उत्तम कल्याण हो। कल्याण होने का अर्थ यह है कि सब विशेष ज्ञानीके पास रहें क्यों कि सब प्रकारका कल्याण ज्ञानसे ही होगा ॥ १-४ ॥

इस सूक्तसे यह बोध प्राप्त हो सकता है— (१) हरएकको अपने अन्दर रक्षा करनेकी शक्ति बढानी चाहिये। (२) मैं विजय प्राप्त करूंगा ऐसी महत्त्वाकांक्षा धारण करना चाहिये। (३) सब को अधिकसे अधिक कल्याण करनेके लिये यत्न करना चाहिये और (४) ज्ञानीकी संगतिमें सबको लगना चाहिये।

मेधा बुद्धि।

[१०८]

(ऋषिः— शौनकः। देवता—मेधा)

त्वं नो॑ मेधे प्रथमा गोभि॒रश्वे॑भि॒रा ग॑हि।
त्वं सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॒स्त्वं नो॑ असि य॒ज्ञिया॑ ॥ १ ॥
मे॒धाम॒हं प्र॑थ॒मां ब्रह्म॑ण्वतीं॒ ब्रह्म॑जूता॒मृषि॑ष्टुताम्।
प्रपी॑तां ब्रह्मचा॒रिभि॑र्दे॒वाना॒मव॑से हुवे ॥ २ ॥
यां मे॒धामृ॒भवो॑ वि॒दुर्यां मे॒धामसु॑रा वि॒दुः।
ऋष॑यो भ॒द्रां मे॒धां यां वि॒दुस्तां मय्या वे॑शयामसि ॥ ३ ॥
यामृष॑यो भूत॒कृतो॑ मे॒धां मे॑धा॒विनो॑ वि॒दुः।
तया॒ माम॒द्य मे॒धया॑ग्ने मेधा॒विनं॑ कृणु ॥ ४ ॥
मे॒धां सा॒यं मे॒धां प्रा॒तर्मे॒धां म॒ध्यन्दि॑नं॒ परि॑।
मे॒धां सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॒र्वच॒सा वे॑शयामहे ॥ ५ ॥

अर्थ—हे (मेधे) मेधाबुद्धि! (त्वं नः प्रथमा यज्ञिया असि) तू हमारे पास प्रथम स्थानमें पूजनीय है। तू (गोभिः अश्वेभिः आगहि) तू गौओं और घोडों अर्थात् सब धनोंके साथ हमारे पास आओ। तथा (त्वं सूर्यस्य रश्मिभिः नः आगहि) तू सूर्यकिरणों के साथ हमारे पास आओ ॥१॥

(अहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं) मैं श्रेष्ठ ज्ञानियोंसे युक्त (ब्रह्मजूतां ऋषिस्तुतां)

ज्ञानियोंसे सेवित और ऋषियोंद्वारा प्रशंसित (ब्रह्मचारिभिः प्रपीतां) ब्रह्मचारियों द्वारा स्वीकार की गई (मेधां देवानां अवसे हुवे) मेधाबुद्धी की इंद्रियोंकी रक्षा के लिये प्रार्थना करता हूं ॥ २ ॥

(ऋभवः यां मेधां विदुः) कारीगर जिस बुद्धिको जानते हैं, (असुराः यां मेधां विदुः) असु अर्थात् प्राणविद्यामें रमनेवाले जिस मेधाको जानते हैं, अथवा असुरोंमें जो बुद्धि है, (यां भद्रां मेधां ऋषयः विदुः) जिस कल्याणकारिणी बुद्धिको ऋषि लोग जानते हैं (तां मयि आ वेशयामसि) वह बुद्धि मेरे अंदर प्रविष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

(भूतकृतः मेधाविनः ऋषयः) पदार्थों को उत्पन्न करनेवाले बुद्धिमान् ऋषि (यां मेधां विदुः) जिस बुद्धिको जानते हैं, हे अग्ने ! (तया मेधया) उस मेधाबुद्धिसे (अद्य मां मेधाविनं कृणु) आज मुझे बुद्धिमान् कर ॥४॥

(मेधां सायं) बुद्धिको शामके समय, (मेधां प्रातः) बुद्धिको प्रातः-काल, (मेधां मध्यं दिनं परि) बुद्धिको मध्य दिनके समय (मेधां सूर्यस्य रश्मिभिः) बुद्धिको सूर्यकी किरणोंसे (वचसा आ वेशयामसि) और उत्तम वचनसे अपने अंदर प्रविष्ट कराते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— धारणावती बुद्धि सबसे अधिक पूज्य है वह सब प्रकारके धनके साथ हमें प्राप्त हो। यह धारणावती बुद्धि ज्ञानियोंमें रहती है, ऋषि इसकी प्रशंसा करते हैं, ब्रह्मचारी इसका सेवन करते हैं, इसलिये इसकी प्रशंसा हम करते हैं। कारीगर, ऋषि और असुर जिस बुद्धिके लिये प्रसिद्ध हैं वह बुद्धि हमें प्राप्त हो। बुद्धिमान् ऋषि जिस बुद्धिके लिये प्रसिद्ध थे वह बुद्धि हमें प्राप्त हो। सबेरे, दोपहर, शामको तथा अन्य समय हमारा व्यवहार ऐसा हो कि हमें सद्बुद्धि प्राप्त हो और हमें सदुपदेश मिले ॥ १–५ ॥

यह सूक्त बुद्धिकी प्रशंसापर है। मेधाबुद्धि वह है कि जिसको धारणावती बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि जितनी अधिक होगी उतनी मनुष्यकी विशेष योग्यता होती है। लोग ऋषियोंका विशेष सन्मान करते हैं इसका कारण यह है कि उनमें यह बुद्धि थी और रहती है। ब्रह्मचारीगण गुरुके सन्निध रहकर इस बुद्धीकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं। यह बुद्धि रहनेसे ही मनुष्य इह परलोकमें उत्तम अवस्था प्राप्त कर सकता है।

कारीगर लोगोंमें एक प्रकारकी धारणाबुद्धि रहती है, असुरों में विश्वको जीतनेकी महत्त्वाकांक्षा रहती है, ऋषियोंमें बडी सत्वगुणी बुद्धि रहती है, यह बुद्धि विशेष उच्च रूपमें हमें प्राप्त हो। विशेष कर बुद्धिमान् ज्ञानी ऋषियोंमें जो विशाल बुद्धि थी वैसी बुद्धि हरएकको प्राप्त करना चाहिये। प्रातःकालसे सायंकाल तक अपने प्रयत्नसे यह बुद्धि अपने अंदर बढानेका प्रयत्न करना चाहिये। हरएक मनुष्य ऐसा प्रयत्नवान् हुआ तो वह इस बुद्धिको अवश्य प्राप्त कर सकेगा।
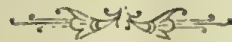
पिप्पली औषधि।

[१०९]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता–पिप्पली)

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३तातिविद्धभेषजी।
ता देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् ॥ १ ॥
पिप्पल्य१ः समवदन्तायतीर्जननादधि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ २ ॥
असुरास्त्वा न्यखिनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः।
वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (पिप्पली क्षिप्तभेषजी) पिप्पली औषधि उन्माद रोगकी औषधि है, (उत अतिविद्धभेषजी) और महाव्याधिकी औषधी है, (देवाः तां समकल्पयन) देवोंने उसको समर्थ बनाया है कि (इयं जीवितवै अलं) यह औषधि जीवनके लिये पर्याप्त है ॥ १ ॥

(जननात् अधि आयतीः) जन्मसे आती हुई (पिप्पल्यः समवदन्त) पिप्पली औषधियां बोलती हैं कि, हमको (यं जीवं अश्नवामहै) जिस जीवको खिलाया जावे (सः पुरुषः न रिष्याति) वह पुरुष मरता नहीं ॥ २ ॥

तू (वातीकृतस्य भेषजीं) वात रोगकी औषधी (अथो क्षिप्तस्य भेषजीं) और उन्माद रोगकी औषधी है, उस तुझको (असुराः त्वा न्यखनन्)

असुरोंने पहिले खोदा था, और (पुनः देवाः त्वा उदवपन्) फिर देवोंने लगाया था।

भावार्थ-पिप्पली औषधी उन्माद और वात अथवा महाव्याधिकी औषधी है। यह एक ही औषधि आरोग्य और दीर्घायु के लिये पर्याप्त है ॥ १ ॥

जो रोगी पिप्पली का सेवन करता है वह रोगसे दुःखी नहीं होता, यह इस औषधिकी प्रतिज्ञा है ॥ २ ॥

इस वातरोग और उन्मादरोग की औषधीका पता पहिले असुरोंको लगा, इसलिये इन्होंने इसको भूमीसे उखाडा और पश्चात् देवोंने इसको विशेषरूपसे बढाया ॥ ३ ॥

पिप्पली औषधि ।

पिप्पली औषधि अकेली ही मनुष्यके आरोग्य के लिये पर्याप्त है, इतना निश्चयपूर्वक कथन प्रथम और द्वितीय मंत्रमें है। जो पिप्पली का सेवन करता है वह रोगी नहीं होता यह बात द्वितीय मंत्रमें विशेष रीतिसे कही है। इस विषयमें वैद्यक ग्रंथोंमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

> ज्वरघ्नी वृष्या तिक्तोष्णा कटुतिक्ता दीपनी मारुतश्वासकासश्लेष्मक्षयघ्नी च। रा० नि० व० ६
>
> मधुना सा मेदोवृद्धिकफश्वासकासज्वरघ्नी मेधाग्निवृद्धिकरी च। गुडेन सा जीर्णज्वराग्निमान्द्यहरी च। तत्र भागैकं पिप्पल्या भागद्वयं च गुडस्येति। भा० प्र० १

" पिप्पली ज्वरनाशक, वीर्यवर्धक है मेद-कफ-श्वास-खांसी-ज्वर इनका नाश करती है; बुद्धि और भूख को बढाती है। शहदके साथ भक्षण करनेसे मेद, कफ, श्वास, खांसी और ज्वर दूर करती है, बुद्धि और पाचनशक्ति बढाती है। गुडके साथ भक्षण करनेसे जीर्णज्वर और अग्निमान्द्य दूर करती है। पिप्पली एक भाग और गुड दो भाग लेना चाहिये। "

इससे पता लगता है कि इस पिप्पलीके सेवनसे कितना लाभ हो सकता है और देखिये—

(१) पिप्पली रसायन— बुद्धिवर्धक है। इसविषयमें चरकका कथन है—

तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्णे भुक्त्वाग्रे भोजनस्य च।
पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः।
प्रयोज्या मधुसर्पिर्भ्यां रसायणगुणैषिणा ॥ चरक चि० १

" घीमें भुनी और पलाश के क्षारसे मिश्रित पिप्पलियां शहद और घीके साथ मिलाकर सबेरे तीन और भोजनके पश्चात् तीन खानेसे उत्तम रसायनगुण प्राप्त होता है। " यह रसायन बुद्धिवर्धक है। कमजोर बुद्धिवाले वैद्यकी अनुमतीके साथ इसका प्रयोग करें।

(२) **वर्धमानपिप्पलीरसायन-** पहिले दिन दस पिप्पली दूधमें कषाय करके सेवन करना, दूसरे दिन वीस, तीसरे दिन तीस इस प्रकार दस दिन करना पश्चात् दस के अनुपातसे न्यून करके वीस दिन तक सेवन करना। षाष्टिक चावल दूधके साथ खाना, और जितना पचन हो उतना दूध पीना और घी भी खाना। यह उत्तम मात्रा है, जो अशक्त हैं वे छः या तीन के अनुपातसे भी सेवन कर सकते हैं। इसके गुण बहुत हैं। मनुष्य सुदृढांग बन सकता है। परन्तु ये सब प्रयोग उत्तम वैद्यकी अनुकूलतामें ही करना चाहिये। अन्यथा हानि की संभावना रहेगी।

नवजात बालक।

[११०]

ऋषिः—अथर्वा। देवता—अग्निः)

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥ १ ॥
ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्।
अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ २ ॥
व्याघ्रेह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः।
स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम् ॥३॥

अर्थ-तू (प्रत्नः हि अध्वरेषु कं ईड्यः) पुरातन और यज्ञोंमें सुखसे स्तुती करने योग्य (सनात् च होता) सनातन कालसे दाता और (नव्यः च

सतिस) नवीन जैसा सर्वत्र विद्यमान है। हे अग्ने ? तू (स्वां तन्वं अस्मभ्यं पिप्रायस्व) अपने शरीर रूपी इस ब्रह्माण्डको हमें पूर्णरूपसे दे। और (सौभगं आ यजस्व) उत्तम ऐश्वर्य प्रदान कर ॥ १ ॥

(ज्येष्ठ-घ्न्यां जातः) ज्येष्ठ का नाश करनेवाली में यह उत्पन्न हुआ है। (वि-चृतोः यमस्य मूलबर्हणात् एनं परि पाहि) विशेष हिंसक यमके मूलछेदनसे इसकी रक्षा कर। (विश्वा दुरितानि एनं अति नेषत्) सब दुःखोंसे इसे पार कर और (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) सौवर्षकी दीर्घायु के लिये इसको पहुंचाओ ॥ २ ॥

(व्याघ्रे अह्नि) क्रूर दिनमें (वीरः अजनिष्ट) वीर पुत्र उत्पन्न हुआ है, (नक्षत्र-जाः जायमानः सुवीरः) योग्य नक्षत्रके समय उत्पन्न हुआ यह उत्तम वीर है। (सः वर्धमानः पितरं मा वधीत्) वह बढता हुआ पिताको न मारे, (जनित्रीं मातरं च मा प्रमिनीत) उत्पादक माताको भी दुःख न दे ॥ ३ ॥

भावार्थ— ईश्वर पुरातन, पूजनीय, सुख देनेवाला, और नवीन जैसा सर्वत्र वर्तमान है। यह जगत् उसका शरीर है, वह हमें उससे सुख प्रदान करता है। और ऐश्वर्य भी देता है ॥ १ ॥

जिस स्त्रीका पहिला संतान मरता है उस स्त्रीका यह पुत्र है, मानो यमके द्वारमें ही यह है, इसलिये नाल छेदनके समयसे ही इसकी रक्षा करो, इसके सब कष्ट दूर हों और यह दीर्घायु हो ॥ २ ॥

किसी अनिष्ट समयमें भी यह लडका उत्पन्न क्यों न हुआ हो, यह उत्पन्न होनेके बाद उत्तम वीर बने, और बढता हुआ अपने माता पिताको कोई क्लेश न पंहुचावे ॥ ३ ॥

[यह सूक्त थोडासा क्लिष्ट है। इसके सत्य अर्थकी खोज विशेष करनी चाहिये। अभीतक इसके ठीक अर्थका निश्चय नहीं हुआ है।]

मुक्तिका अधिकारी।

[१११]

(ऋषिः— अथर्वा-देवता-अग्निः)

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति।
अतोधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोसति ॥ १ ॥
अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम्।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोससि ॥ २ ॥
देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यदानुन्मदितोसति ॥ ३ ॥
पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः।
पुनस्त्वा दुर्विश्वे देवा यथानुन्मदितोससि ॥ ४ ॥

अर्थ-हे अग्ने! (यः बद्धः सुयतः लालपीति) जो बद्ध मनुष्य उत्तम बद्ध होनेके कारण बहुतसा आक्रोश करता है, (मे इमं पुरुषं मुमुग्धि) मेरे इस पुरुष को मुक्त कर। (यदा) जब मनुष्य (अनुन्मदितः असति) उन्मादरहित होता है (अतः ते भागधेयं अधि कृणवत्) तब तेरा भाग्य सब प्रकारसे होगा ॥ १ ॥

(अग्निः ते निशमयतु) तेजस्वी देव तेरे अन्दर शान्ति उत्पन्न करे (यदि ते मनः उद्युतं) यदि तेरा मन उखड गया है। (यथा अनुन्मदितः असासि) जिससे तू उन्मादरहित होगा, (भेषजं विद्वान् कृणोमि) वैसा औषध जानता हुआ मैं वैसा करता हूं ॥ २ ॥

(देव-एनसात् उन्मदितं)देव संबंधी पापसे उन्माद हुआ हो (राक्षसः परि उन्मत्तं) राक्षसके पापसे उन्माद हुआ हो, (विद्वान् भेषजं कृणोमि) मैं जानता हुआ औषध करता हूं (यदा अनुन्मदितः असति) जिससे तू उन्मादरहित होगा ॥ ३ ॥

(अप्सरसः त्वा पुनः दुः) अप्सरोंने तुझे पुनः दिया है, (इन्द्रः पुनः, भगः पुनः) इन्द्र और भग ने तुम्हें पुनः दिया है। (विश्वे देवाः त्वा पुनः अदुः) विश्वे देवोंने तुझे फिर दिया है, (यथा अनुन्मदितः असासि)

जिससे तू उन्मादरहित हुआ है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो बद्ध है और बंधमुक्त होनेके लिये आक्रोश करता है, उसकी मुक्तता होती है। जो उन्मत्त नहीं बनता उसका भाग्य उदय होता है ॥ १ ॥

जिसका मन उदास हुआ है उसको परमेश्वर ही शान्ति देगा। जो उन्मत्त नहीं होता है उसकी उन्नतिके लिये उपाय हो सकता है ॥ २ ॥

दैवी और राक्षसी पाप करनेके कारण जो उन्मत्त होते हैं, उनका उपाय करके उन्मादको दूर किया जासकता है ॥ ३ ॥

अप्सरा, इन्द्र, भग और सब इतर देव इनकी सहायतासे इस रोगीको पुनः आरोग्य प्राप्त हुआ है। अर्थात् इसका उन्माद दूर हुआ है ॥ ४ ॥

मुक्त कौन होता है?

जो मनुष्य बद्ध होनेकी अवस्थामें बद्धतासे त्रस्त हुआ होता है, और मुक्त होनेके लिये तडपता है, आक्रोश करता है और बद्धतासे पूर्ण असमाधान व्यक्त करता है, वह मुक्तिका अधिकारी है, देखिये—

यः सुयतः बद्धः लालपीति, इमं पुरुषं मुमुग्धि ॥ (मं० १)

" जो उत्तम रीतिसे बद्ध हुआ मनुष्य आक्रोश करता है, उस पुरुषको मुक्त कर " जो बद्ध अवस्थामें संतुष्ट रहते हैं उनकी मुक्तता नहीं होगी। क्योंकि वे जन्मसे ही गुलाम हैं और गुलामीमें रहनेके लिये सिद्ध हैं और गुलाम रहनेमें आनन्द मानते हैं अथवा कई तो अपनी गुलामी सुदृढ होनेके लिये प्रयत्न भी करते हैं। ऐसे लोग तो सदा गुलामीमें रहेंगे ही। गुलामीसे मुक्त वे होंगे कि जो गुलामीमें रहना नहीं चाहते और मुक्त होने के लिये तडफते हैं और गुलामीसे छूट जानेके लिये महाआक्रोश करते हैं। ' मैं गुलामीसे संतप्त हूं, मैं इसके बाद गुलामीमें रहना नहीं चाहता, देवो! मुझे बन्धन तोडनेमें सहाता देओ, मैं मर जाऊंगा परंतु इतःपर गुलामीमें नहीं रहूंगा ' इस प्रकार आक्रोश द्वारा जो अपने मनके भाव व्यक्त करता है वह मुक्तिका अधिकारी है। इस प्रकार आक्रोश करता हुआ भी जो प्रमाद करेगा वह मुक्त नहीं होगा, परंतु प्रमाद-रहित होकर यत्न करेगा वही मुक्त होगा, इस विषयमें मंत्रका उपदेश देखिये—

यदा अनुन्मदितः असति, अतः भागधेयं अधि कृणवत् ॥ (मं० १)

" जब उन्मत्त नहीं होता, तब पश्चात् उसका दैव उदय होता है " अर्थात् केवल

गुलामी के विरुद्ध मनके भाव प्रकट करनेसे ही कार्य नहीं होगा, गुलामीसे त्रस्त हुआ मनुष्य यदि पागल बनेगा और अयोग्य वर्तन करेगा, तो उससे उसका लाभ नहीं होगा। वह उन्मत्त अथवा प्रमादी बनना नहीं चाहिये, प्रत्युत दक्ष और योग्य दिशासे स्वकर्तव्यतत्पर होना चाहिये, तभी उसका भाग्य उदय को प्राप्त होता है। बंधसे मुक्त होनेकी आतुरता, मनके भाव स्पष्टशब्दोंमें व्यक्त करनेका धैर्य, दक्षतासे स्वकर्तव्य करना ये तीन साधन करनेके पश्चात् उसका भाग्य उदय होने लगता है।

सामान्यतः मुक्ति प्राप्त करनेके ये उपाय हैं। यह मुक्ति आध्यात्मिक हो, राजकीय हो, सामाजिक हो, या रोगोंसे मुक्ति हो, ये नियम सब मुक्तियोंके लिये सामान्य हैं।

मन उखड जानेपर।

मुक्तिका पथ बडा कठीण है, किसीसमय सिद्धि मिलती है और किसी समय उलटी हानी भी होती है। हानिके समय मन उखड जाता है, उदास होता है, किंकर्तव्यतामूढ होता है, उस समय–

यदि ते मनः उद्युतं, अग्निः निशमयतु। (मं० २)

" यदि तेरा मन उखड गया हो, तो तेजस्वी देव तुझे शान्ति देवे। " उस समय मुक्तिकी इच्छा करनेवाला मनुष्य प्रभु की प्रार्थना करे, प्रभुसे शान्ति प्राप्त होगी। मन कितना भी दुःखी हुआ हो प्रभुकी शरणमें जानेसे उसे शान्ति प्राप्त होगी। अतः मुक्तिकी इच्छा करनेवाले लोग उदासीनताके समय प्रभुकी शरण लें, अथवा कभी उदासीनता न आजाय इस लिये प्रतिदिन उसकी भक्ति करें। इससे मन शान्त रहेगा, प्रमाद नहीं होंगे और उन्नतिका मार्ग सीधा खुला होगा।

पापके दो भेद।

पापके दो भेद हैं, एक देवोंके संबंधके पाप और दूसरे राक्षसों के कारण होनेवाले पाप। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, औषधि आदि अनेक देवताएं हैं, इनके विषयमें पाप मनुष्य करते हैं, भूमिका अपहरण, जलका बिगाड करना, वायुको दोषी बनाना आदि जो हैं वे सब देवोंके संबंधमें पाप हैं। इन पापोंसे दोष होते हैं और मनुष्य प्रमाद करते हैं और दुःख भोगते हैं। दंभ, दर्प, अभिमान आदि राक्षसी भाव हैं, जिनके कारण मनुष्य पाप करता है और दोषी होकर दुःख भोगता है। ये दो प्रकारके पाप हैं, मनुष्य इन दोनों प्रकारके पापोंसे अपने आपको बचावे, यह आदेश देने के लिये निम्नलिखित मंत्रभाग है–

देव-एनसात् उन्मदितं, रक्षसस्परि उन्मत्तम्।
भेषजं कृणोमि यदा अनुन्मदितः असति ॥ (मं० ३)

" देवताओंके संबंधके पापसे जो दोष हुआ है, और राक्षसों के पापसे जो दोष हुआ है, उनको दूर करनेके लिये मैं उपाय करता हूं, जिससे तू उन्मादरहित होगा। " इस मंत्रका भाव अब पाठकोंके ध्यानमें आगया होगा। ये दो प्रकारके दोष दूर होनेसे ही मनुष्यका भाग्य उदय होता है और उसके बंधन दूर हो सकते हैं, तथा मुक्तिभी उसको मिल सकती है।

अन्तिम मंत्रका भाव यह है कि जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार निर्दोष होता है, उसको सब देवगण सहायता करते हैं और वह प्रमादरहित होता है।

यह सूक्त कुछ क्लिष्टसा है, तथापि इस दर्शायी हुई रीतिसे विचार करनेपर यह सूक्त कुछ अंशमें सुबोध हो सकता है ॥

पाशोंसे मुक्तता।

[११२]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता-अग्निः ।)

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् ।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥ १ ॥
उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन् ।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् ॥ २ ॥
येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च ।
वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने (अयं ज्येष्ठं मा वधीत) यह बडे भाईका वध न करे। (एषां मूलबर्हणात एनं परिपाहि) इनके मूलविच्छेदसे इसकी रक्षा कर। (सः प्रजानन्) वह तू जानता हुआ (ग्राह्याः पाशान् विचृत) पकडनेवाले रोगादिके पाशोंको खोल दे। (विश्वे देवाः तुभ्यं अनुजानन्तु) सब देव तुझे अनुमति देवें ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (त्वं पाशान् उन्मुञ्च) तू पाशोंको खोल (येभिः त्रिभिः एषां त्रयः उत्सिताः आसन्) जिन तीनोंसे इनके तीन बन्धनमें पडे हैं। (सः प्रजानन्) वह तू जानता हुआ (ग्राह्याः पाशान् विचृत) पकडनेवाले रोगादिके पाशोंको खोल दे। (पितापुत्रौ मातरं सर्वान् मुञ्च) पिता पुत्र और माता इन सबको छोड दे ॥ २ ॥

(येभिः पाशैः परिवित्तः विबद्धः) जिन पाशोंसे जेठे भाईके पूर्व विवाह करनेवाला बांधा गया है, (अंगे अंगे आर्पितः उत्सितः च) हरएक अंगमें जकडा और बांधा है, (ते विमुच्यन्तां) वे तेरे पाश खुल जांय (हि विमुचः सन्ति) क्योंकि वे खुले हुए हैं। हे (पूषन्) पोषक देव ! (भ्रूणघ्नि दुरितानि मृक्ष्व) गर्भघात करनेवाली अंदर विद्यमान पाप दूर कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— छोटा भाई बडे भाईके नाशके लिये प्रवृत्त न होवे, किसीका मूल उच्छिन्न न होवे। रोग जडसे दूर हों और सब देवतोंकी अनुकूलता होवे ॥ १ ॥

सब बंधन करनेवाले पाश तोड दे। तीन गुणोंसे तीन लोग बांधे गये हैं। रोग जडसे दूर हों और माता पिता और पुत्र कष्टोंसे बचें ॥ २ ॥

जिन कमजोरियोंके कारण बडे भाईके पूर्वही छोटा भाई शादी करता है, वे लोभके पाश हरएक अवयवमें बांधे हैं। वे पाश खुले हों और गर्भघात आदि प्रकारके सब दोष दूर हों ॥ ३ ॥

सूक्त ११० के सदृश यह सूक्त है अतः उसके साथ पाठक इस सूक्तका विचार करें। गृह सुख बढानेके उत्तम आदेश इस सूक्तमें हैं।
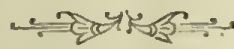
ज्ञानसे पापको दूर करना।

[११३]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता–पूषा)

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥ १ ॥
मरीचीर्धूमान् प्र विशानु पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान्।

नदीनां फेनाँ अनु तान् वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥ २ ॥
द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि ।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥ ३ ॥
॥ इति एकादशोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (देवाः एतत् एनः त्रिते असृजत) देवोंने-इंद्रियोंने-यह पाप त्रितमें-मनमें-रखा और उसने (एनत् मनुष्येषु ममृजे) यह मनुष्योंमें रखा है (ततः यदि त्वा ग्राहिः आनशे) उससे यदि तुझे गठिया आदि रोगने पकड रखा हो, तो (देवाः ते तां ब्रह्मणा नाशयन्तु) देव तेरी उस पीडाको ज्ञानके द्वारा दूर करें ॥ १ ॥

हे (पाप्मन्) हे पापी ! (मरीचीः धूमान् प्रविश) सूर्यकिरणोंमें या धूएमें घुस जा अथवा (उदारान् अनु गच्छ) ऊपर आये भांपमें अनुकूलतासे जा, (उत वा नीहारान्) अथवा कुहरमें लीन हो। (नदीनां तान् फेनान् अनुविनश्य) नदीके उन फेनोंमें छिप जा, हे पूषा ! (भ्रूणघ्नि दुरितानि मृक्ष्व) गर्भघातकीमें पापोंको रख ॥ २ ॥

(त्रितस्य अपमृष्टं द्वादशधा निहितं) त्रितका धोया हुआ पाप बारह प्रकारसे रखा है। यह (मनुष्य-एनसानि) मनुष्यके पाप हैं। (ततः यदि त्वा ग्राहिः आनशे) उससे यदि तुझे गठिया आदि रोगने पकडा हो (देवाः ते तां ब्रह्मणा नाशयन्तु) देव तेरे उस रोगको ज्ञानके द्वारा नष्ट करें ॥ ३ ॥

भावार्थ— इन्द्रियोंका किया पाप मनमें इकट्ठा होता है और मनमें एकत्रित हुआ पाप मनुष्यमें व्यक्त होता है। यदि इससे विविध रोग हुए तब ज्ञानसे उसको दूर किया जा सकता है ॥ १ ॥

सूर्यकिरण, अन्धेरा, कुहरा अथवा दूसरे स्थान कहांभी पापी गया तो उसका पाप दूर नहीं होता। उसका जितना पाप होता है उतना सब गर्भघातकीमें रहता है ॥ २ ॥

मनका पाप बारह प्रकारका समझा जाता है वह मनुष्योंमें रहता है। उससे विविध रोग होते हैं जो ज्ञानपूर्वक उपाय करनेसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रियोंद्वारा पाप किये जाते हैं वे सब संस्काररूपसे मनमें जमा होते हैं। उन पापोंका परिणाम मनुष्यशरीरमें रोगोंके रूपमें दिखाई देता है। ये पाप कभी छिपाये नहीं जाते। सबसे अधिक पाप गर्भका घात करनेसे होता है। इनसे पापोंको दूर करना हो तो ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये। क्यों कि ज्ञानसे ही सब पाप दूर होते हैं।

यज्ञका सत्य फल।

[११४]

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता—विश्वेदेवाः)

यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ १ ॥
ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥
मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः।
अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (देवासः) देवो! (वयं देवासः यत् देवहेडनं चकृम) हम स्वयं दैवी शक्तिसे युक्त होते हुए भी जो देवोंका अनादर करते हैं, हे (आदित्याः) आदित्यो! (यूयं तस्मात् नः ऋतस्य ऋतेन मुञ्चत) तुम सब उससे हमें यज्ञके सत्य द्वारा छुडाओ ॥ १ ॥

हे (आदित्याः) आदित्यो! हे (यजत्राः) याजको! हे (यज्ञवाहसः) यज्ञ चलानेवालो! (यत् यज्ञं शिक्षन्तः न उपशेकिम) यदि हम यज्ञकी शिक्षा प्राप्त करते हुए उसको यथावत् न कर सकें (नः ऋतस्य ऋतेन इह मुञ्चत) हमें यज्ञके सत्यद्वारा यहां मुक्त करो ॥ २ ॥

हे (विश्वेदेवाः) सब देवो! (वः शिक्षन्तः अकामाः न उपशेकिम) आपसे शिक्षा प्राप्त करते हुए हम विफल होकर यदि उसे पूर्ण न कर सके, तो भी (मेदस्वता स्रुचा आज्यानि जुह्वतः) घृतयुक्त चमस से घीका हवन करते हुए हम (यजमानाः) यजमान तो हो जावें ॥ ३ ॥

भावार्थ- देवोंके संबन्धमें जो तिरस्कार कभी कभी हमसे होता हो, तो उस पापसे हम यज्ञके सत्य फल के द्वारा मुक्त हों ॥ १ ॥

हम अपनी ओरसे सांग यज्ञकी तैयारी करते हैं तथापि उसमें जो त्रुटी होती हो तो उस पापसे हम यज्ञके सत्यफलद्वारा मुक्त हों ॥ २ ॥

हम उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेपर भी जो दोष हमसे होता है उसका निवारण यज्ञमें जो घृतकी आहुतियां हम देते हैं उससे हो और हम उत्तम यज्ञकर्ता बनें ॥ २ ॥

मनुष्यके प्रयत्न करनेपर भी अनेक दोष उससे होते हैं, सत्ययज्ञसे ही वे दोष दूर हो सकते हैं। यज्ञ करनेका भाव यह है कि जनताकी भलाई के लिये आत्मसमर्पण करना। यह यज्ञ सब दोषोंको दूर कर सकता है।

पापसे बचना।

[११५]

(ऋषिः—ब्रह्मा। देवता—विश्वेदेवाः)

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योकरम्।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥ २ ॥

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥ ३ ॥

अर्थ-- (यत् विद्वांसः यद् अविद्वांसः) जब जानते हुए अथवा न जानते हुए (वयं एनांसि चकृम) हम पाप करें, हे (विश्वेदेवाः) सब देवो! (यूयं सजोषसः तस्मात् नः मुञ्चत) आप एक मतसे उस पापसे हमें मुक्त कराओ ॥ १ ॥

(यदि जाग्रत् यदि स्वपन्) यदि जागते हुए अथवा सोते हुए (एनस्यः एनः अकरं) मैं पापी होकर भी पाप करूं, तो (द्रुपदात इव) खूंटेसे

पशुको जैसा छोडकर मुक्त करते हैं उस प्रकार (भूतं भव्यं च तस्मात् मा मुञ्चतां) भूत अथवा भविष्य कालका जो पाप है उससे मुझे छुडाओ ॥ १ ॥

(द्रुपदाद् इव मुमुचानः) जिस प्रकार पशु बंधनस्तंभसे मुक्त होता है अथवा (मलात् स्विन्नः स्नात्वा इव) जैसा मलसे स्नानके बाद मुक्त होता है (पवित्रेण पूतं आज्यं इव) अथवा जैसे छाननीसे घी पवित्र होता है, उस प्रकार (विश्वे मा एनसः शुम्भन्तु) सब मुझे पापसे पवित्र करें ॥ ३ ॥

भावार्थ–जानते हुए अथवा न जानते हुए जो पाप हमसे होगा, उससे छुटकारा प्राप्त करना चाहिये ॥ १ ॥

जागते समय अथवा सोते समय जो पाप मुझसे होगा, वह भूत कालका हो अथवा वर्तमान कालका हो, उससे छुटकारा प्राप्त करना चाहिये ॥ २ ॥

जैसा स्तंभसे पशु छुटजाता है, शरीरसे स्नानकेद्वारा मल दूर होता है और जैसा छाननेसे घृत पवित्र बनता है, उस प्रकार मैं निर्दोष हो जाऊंगा ॥ ३ ॥

निष्पाप बननेके तीन प्रकार।

शुद्ध होनेके तीन प्रकार हैं, अन्तःशुद्धि, बहिःशुद्धि और संबंधशुद्धि। इसके तीन उदाहरण तृतीय मंत्रमें दिये हैं देखिये—

१ अन्तःशुद्धि— (पवित्रेण पूतं आज्यं इव) छाननीसे जिस प्रकार घी शुद्ध होता है। घी छानते हैं, उससे घीके अंदर के मल दूर होते हैं, इस प्रकार मनुष्य के अन्तःकरणके मल दूर करने चाहिये। यह अन्तःशुद्धि है।

२ बहिःशुद्धि— (मलात् स्नात्वा स्विन्न इव) जैसे शरीरपर लगे हुए मलसे स्नान करनेसे शुद्धता होती है। यह बहिःशुद्धि है। मल शरीरपर बाहरसे लगता है उस प्रकार बाह्य दोषोंसे यह शुद्धता करनी होती है।

३ संबंधशुद्धि— (द्रुपदात् मुमुचानः इव) स्तंभके बंधनसे जैसे पशुको छुडाते हैं अथवा वृक्षसे फल परिपक्व होनेसे जिस प्रकार वह वृक्षसे छूट जाता है। उस प्रकार संबन्ध के लोभसे मुक्त होना। यह संबंधशुद्धि है।

इस प्रकार ये शुद्ध होनेके तीन भेद हैं । मनुष्यको भी जो निर्दोषता प्राप्त करनी है, वह इन तीनों प्रकारकी है । मनुष्य अपने संबंधोंको शुद्ध करे और पापी संबंधोंको दूर करे, अपनी बाह्य शुद्धता करे और उसके लिये अपना रहना सहना पवित्र रखे, तथा अपनी अन्तःशुद्धी करे और उसके लिये अपने विचारोंको पवित्र करे । इस प्रकार मनुष्य परिशुद्ध होता है ।

मनुष्य जानता हुआ अथवा न जानता हुआ, जागता हुआ अथवा सोता हुआ पाप करता है । इन सब पापोंसे मुक्तता प्राप्त करनी चाहिये । परमेश्वरकी कृपा, ज्ञानियोंका सत्संग और आत्मशुद्धि का प्रयत्न करनेसे पापसे छुटना संभव है ।

यह सूक्त विशेष महत्त्वका है । पाठक इसका अधिक विचार करें और सब प्रकारसे शुद्धता प्राप्त करनेका प्रयत्न करें ।
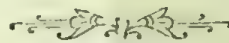
अन्नभाग ।

[११६]

(ऋषिः– जाटिकायनः । देवता–विवस्वान्)

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया ।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् ॥ १ ॥
वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति ।
मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे ॥ २ ॥
यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन् ।
यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥ ३ ॥

अर्थ— (अग्रे कार्षीवणाः निखनन्तः) पहिले कृषी करनेवाले लोग भूमिको खोदते हुए (विद्यया अन्नविदः न) ज्ञानसे अन्न प्राप्त करनेवालोंके समान (यत् यामं चक्रुः) जो नियम करते रहे, (तत् वैवस्वते राजनि जुहोमि) उनको वैवस्वत अर्थात् बसानेवाले राजा में समर्पित करता हूं । (अथ नः यज्ञियं अन्नं मधुमत् अस्तु) अब हमारा यजनीय अन्न मधुर होवे ॥ १ ॥

(वैवस्वतः भागधेयं कृणवत) सबको बसानेवाला राजा सबको अन्नका

विभाग करे, (मधुभागः मधुना सं सृजाति) अन्नका मधुर भाग और मीठेके साथ युक्त करता है। (मातुः इषितं यत् एनः नः आगन्) मातासे प्रेरित हुआ जो पाप हमारे पास आगया है, (यत् वा अपराद्धः पिता जिहीडे) अथवा जो हमारे अपराधसे पिताके क्रोधसे हुआ है ॥ २ ॥

(यदि मातुः यदि वा पितुः) यदि मातासे और पितासे (भ्रातुः पुत्रात्) भाईसे और पुत्रसे (इदं एनः नः चेतसः परि आगन्) यह पाप हमारे चित्तके पास आगया है, (यावन्तः पितरः अस्मान् सचन्ते) जितने पितर हमसे संबंधित होते हैं, (तेषां सर्वेषां मन्युः शिवः अस्तु) उन सबका क्रोध हमारे लिये कल्याणकारी होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रारंभमें खेती करनेवाले किसानोंने जो नियम बनाये, वेही राजा के पास संमत हुए, उनके पालनसे सबको अन्न मीठा लगने लगा और यज्ञके लिये भी समर्पित होने लगा ॥ १ ॥

राजाने भूमिसे उत्पन्न हुए अन्नका योग्य भाग बनाया, उसको अधिक मधुर मानकर लोग सेवन करते हैं। उसी प्रकार मातासे और पितासे भी हमारे पास अन्नभाग आता है, उसकाभी हम वैसाही सेवन किया करें ॥२॥

माता, पिता, भाई, पुत्र इनसे हमारे पास जो भाग आता है, यदि उसके साथ उनका क्रोध भी हुआ हो, तो वह हमारे कल्याणके लिये ही होवे ॥ ३ ॥

प्रजाकी संमति।

खेती करनेवाले सब प्रजाजन स्वसंमतिसे आपसके वर्ताव के नियम करें, सब प्रजाने एकमतसे बनाये नियम राजा माने और उसके अनुसार राज्यशासन करे। ऐसा करनेसे राजा और प्रजाका उत्तम कल्याण होगा और सबको अन्नका स्वाद अधिक मिलेगा। राजा अन्नका योग्य भाग करके सबसे लेवे और प्रजामें भी योग्य भाग बांट देवे। जो जिसको प्राप्त हो उसमें वह संतुष्ट रहकर उसका भोग आनंदके साथ करे और कोई किसी दूसरे के भागका अन्यायसे हरण न करे। मातापिता आदिका जो दायभाग आता है उसी प्रकार उनका क्रोध भी आया, तबभी उससे संतानका कभी अहित नहीं होगा, क्योंकि उसमें माता पिताका प्रेम रहनेके कारण उससे संतान का हित ही होगा ॥

ऋणरहित होना ।

[११७]

(ऋषिः- कौशिकः । देवता-अग्निः)

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि ।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान् विचृतं वेत्थ सर्वान् ॥ १ ॥
इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत् ।
अपमित्य धान्यं१ यज्जघसाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि ॥ २ ॥
अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥ ३ ॥

अर्थ— (यत् अपमित्यं अप्रतीत्तं अस्मि) जो वापस करने योग्य परंतु वापस न करनेके कारण मैं ऋणी रहा हूं, और (यमस्य येन बलिना चरामि) नियन्ताके वशमें जिस ऋणके बलसे पहुंचा हूं, हे अग्ने ! (इदं तत अनृणः भवामि) अब मैं उस ऋणको चुकाकर ऋणरहित हो जाऊं-गा, (त्वं सर्वान् विचृतान पाशान् वेत्थ) तू सब ऋणके खुले हुए पाशों-को जानता है ॥ १ ॥

(इह इव सन्तः एनत् प्रति दद्म) यहांही रहते हुए इस ऋणको चुका देते हैं, (जीवाः जीवेभ्यः एनत् निहरामः) इसी जीवनमें अन्य जीवोंके इस ऋणको हम निःशेष करते हैं। (यत् धान्यं अपमित्य अहं जघस) जो धान्य उधार लेकर खाया है, हे अग्ने ! (इदं तत् अनृणः भवामि) यह वह है और इस रीतिसे मैं ऋणरहित होता हूं ॥ २ ॥

(अस्मिन लोके अनृणाः) इस लोकमें हम ऋणरहित हो जांय, (पर-स्मिन् अनृणाः) परलोकमें ऋणरहित हो जांय, और (तृतीये लोके अनृणाः स्याम) तृतीय लोकमें भी हम ऋणरहित हो जाय; (ये देवयानाः पितृयाणाः च लोकाः) जो देवयान और पितृयान के लोक हैं, (सर्वान् पथः अनृणाः आक्षियेम) इन सब मार्गोंमें हम ऋणरहित होकर रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो कर्जा लिया होता है वह समयपर वापस करना चाहिये। यदि वापस न किया तो ऋण लेनेवाला दोषी होता है। इस दोषसे मुक्त होनेके लिये शीघ्र ऋणमुक्त होनेका यत्न करना चाहिये। सब अपने पाश तोड कर पहिले ऋणमुक्त होना योग्य है ॥ १ ॥

इस संसारमें जीवित रहनेतक ही अपने कर्जासे मुक्त होना चाहिये, अर्थात् स्वयं किया हुआ कर्जा अपने बाल बच्चोंके लिये छोडना उचित नहीं। धान्य का कर्जा हो अथवा धन आदिका हो उसको शीघ्र वापस करना चाहिये ॥ २ ॥

इस लोकका ऋण दूर करना चाहिये, परलोक के ऋणसे मुक्त होना चाहिये, और अन्य ऋणोंसे भी मुक्त होना चाहिये। देवयान और पितृयाण के सब स्थानोंमें ऋणरहित होना योग्य है ॥ ३ ॥

* * *

मनुष्यको सब प्रकारके ऋणोंसे मुक्त होना चाहिये। ऋणी रहकर मरना योग्य नहीं है। यह सूक्त सुबोध है, इस लिये अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है।

[११८]

(ऋषिः-कौशिकः। देवता-अग्निः)

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः ॥ १ ॥
उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्।
ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत् ॥ २ ॥
यस्मा ऋणं यस्य जायामुपैमि यं याचमानो अभ्यैमि देवाः।
ते वाचं वादिषुर्मोत्तरां मद्देवपत्नी अप्सरसावधीतम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(अक्षाणां गत्नुं उप लिप्समानाः) जुएके स्थान के प्रति जाने की इच्छा करनेवाले हम (यत् हस्ताभ्यां किल्बिषाणि चकृम) जो हाथोंसे अनेक पाप करते हैं। (तत् वः ऋणं अद्य) वह हमारा ऋण आज (उग्रंपश्ये उग्रजितौ अप्सरसौ अनुदत्तां) उग्रतासे देखनेवाली और उग्रतासे जीतनेवाली दोनों अप्सराएं हमसे दिलावें ॥ १ ॥

हे (उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत्) उग्रतासे देखनेवाली और हे राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाली ! (यत् अक्षवृत्तं) जो जुएबाजीका पाप है और जो (किल्बिषाणि) अन्य पाप हैं, (नः एतत् अनु दत्तं) हमसे यह सब बदला दिया हुआ है। (ऋणात् ऋणं न एत्संमानः) ऋणीसे ऋणको वापस न प्राप्त करनेपर ऋण देनेवाला (अधिरज्जुः यमस्य लोके नः आयत्) रस्सी लेकर यमके लोकमें हमारे पास आवेगा ॥ २ ॥

हे (देवाः) देवो ! (यस्मै ऋणं) जिसको ऋण वापस करना है, (यस्य जायां उपैमि) जिसकी स्त्रीके पास सहाय्य याचनार्थ जाता हूं, तथा (यं याचमानः अभ्येमि) जिसके पास याचना करता हुआ पहुंचता हूं, (ते मत् उत्तरां वाचं मा वादिषुः) वे मुझसे अधिक कठोर भाषण न करें। हे (देवपत्नी अप्सरसौ) देवपत्नी अप्सराओ ! (अधीतं) स्मरण रखो यह मेरी प्रार्थना ॥ ३ ॥

भावार्थ— जुएके स्थानपर जाकर जो पाप किया जाता है और अन्यत्र जो पाप होता है, उसी प्रकार जो हम ऋण करते हैं, उस सबको दूर करना चाहिये ॥ १ ॥

जूएका पाप, अन्य पाप और ऋण यदि दूर न किया तो हमें बंधनमें जाना पडेगा ॥ २ ॥

जिससे ऋण लिया है अथवा जिससे कुछ याचना की है वह हमें दुरुत्तर न बोले, ऐसी व्यवस्था करना चाहिये ॥ ३ ॥

[ये मंत्र कुछ अंशमें संदिग्ध हैं, इसलिये इनके विषयमें विशेप स्पष्टीकरण करना असंभव है। क्योंकि इनके कई शब्दोंका संबंध स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता।]

[११९]

(ऋषिः—कौशिकः। देवता—अग्निः)

यददीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि ।
वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥
वैश्वानराय प्रति वेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु ।
स एतान् पाशान् विचृतं वेद सर्वानथ पक्केन सह सं भवेम ॥ २ ॥

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगरमभिधावाम्याशाम् ।
अनाजानन् मनसा याचमानो यत् तत्रैनो अप तत् सुवामि ॥३॥

अर्थ—(यत् अहं अदीव्यन्) जो मैं जूआ न खेलता हुआ (ऋणं) ऋण करूं, (उत अदास्यन् संगृणामि) और उसको न चुकाता हुआ चुकानेकी प्रतिज्ञा करता जाऊं, हे अग्ने ! (वैश्वानरः वसिष्ठः अधिपाः) विश्वका नेता सबको वसानेवाला अधिपति (नः सुकृतस्य लोकं इत् उन्नयाति) हमें पुण्यलोकमें जाने योग्य ऊपर उठावे ॥ १ ॥

(वैश्वानराय यत् ऋणं प्रतिवेदयामि) विश्वके नेताको मैं जो ऋण है वह कहूंगा, तथा (देवतासु यः संगरः) देवताओंमें जो प्रतिज्ञा हुई है, वह भी मैं कहूंगा। (सः एतान् सर्वान् पाशान् विचृतं वेद) वह इन सब पाशोंको खोलनेकी विधि जानता है। (अथ पक्केन सह संभवेम) अब हम परिपक्कके साथ मिल जांय ॥ २ ॥

(पविता वैश्वानरः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला विश्वका नेता मुझे पवित्र करे। (यत् संगरं आशां अभिधावामि) जिस प्रतिज्ञा को करता हुआ जिस आशाके पीछे मैं दौडता हूं, (अनाजानन् मनसा याचमानः) न जानता हुआ तथापि मनसे याचना करता हुआ (तत्र यत् एनः) वहां जो पाप होता है (तत् अप सुवामि) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— जूआ न खेलता हुआ अन्य कारणसे जो ऋण मैं करता हूं, और उसको समयपर वापस न करता हुआ वापस करनेकी प्रतिज्ञा करता रहता हूं, उस दोषसे बचावे और ईश्वर मुझे ऊपर उठावे और पुण्य लोकमें पहुंचावे ॥ १ ॥

जो ऋण मैने किया और उस संबंधमें जो प्रतिज्ञाएं मैंने की उन सबको मैं निवेदन करता हूं। इस प्रकारके पापोंसे ईश्वर मेरा बचाव करे, क्यों कि वही इन बंधनोंसे दूर करके हमें ऊपर उठानेके उपाय जानता है। हम परिपक्क हुए ज्ञानियोंके साथ रहें, जिससे हमसे दोष नहीं होंगे ॥ २ ॥

ईश्वर सबको पवित्र करनेवाला है, वह मुझे पवित्र करे। जिस आशाके पीछे पडकर मैं वारंवार प्रतिज्ञा करता हूं, और पाप को न जानता हुआ जो वारंवार याचना करता रहता हूं; वह सब पाप दूर होवे ॥ ३ ॥

इस सूक्तका भाव स्पष्ट है। ऋण मोचनके ये सब सूक्त यही उपदेश विशेषतया करते हैं कि, कोई मनुष्य ऋण न करे, और यदि करे तो उसको ठीक समयपर वापस करे। वृथा असत्य प्रतिज्ञाएं करते न रहे। इत्यादि बोध इन सूक्तोंसे सारांशरूपसे प्राप्त होता है।

मातापिताकी सेवा करो।

[१२०]

(ऋषिः- कौशिकः। देवता- मन्त्रोक्ताः)

यद॒न्तरि॑क्षं पृथि॒वीमु॒त द्यां यन्मा॒तरं॑ पि॒तरं॑ वा जिहिंसि॒म।
अ॒यं तस्मा॒द् गार्ह॑पत्यो नो अ॒ग्निरुदिन्न॑याति सुकृ॒तस्य॑ लो॒कम् ॥ १ ॥

भूमि॑र्मा॒तादि॑तिर्नो ज॒नित्रं॒ भ्राता॒न्तरि॑क्षम॒भिश॑स्त्या नः।
द्यौर्नः॑ पि॒ता पित्र्या॒च्छं भ॑वाति जा॒मिमृ॒त्वा माव॑ पत्सि लो॒कात् ॥ २ ॥

यत्रा॑ सु॒हार्दः॑ सु॒कृतो॒ मद॑न्ति वि॒हाय॒ रोगं॑ त॒न्व॑१ः स्वायाः॑।
अश्लो॑णा॒ अङ्गै॒रह्रु॑ताः स्व॒र्गे तत्र॑ पश्येम पि॒तरौ॑ च पु॒त्रान् ॥ ३ ॥

अर्थ- (यत् अन्तरिक्षं पृथिवीं उत द्यां) यदि हम अन्तरिक्ष, पृथिवी और द्युलोककी तथा (यत् मातरं पितरं वा जिहिंसिम) यदि हम माता और पिता की हिंसा करें, (अयं गार्हपत्यः अग्निः) यह हमारा गार्हपत्य अग्नि (नः तस्मात् इत् सुकृतस्य लोकं उन्नयाति) हमें उस पापसे उठा कर पुण्यलोकमें पहुंचावे ॥ १ ॥

(अदितिः भूमिः माता नः जनित्रं) अदीन मातृभूमि हमारी जननी है। (अन्तरिक्षं भ्राता) अन्तरिक्ष हमारा भाई है और (द्यौः नः पिता) द्युलोक हमारा पिता है। वह (अभिशस्त्याः नः शं भवाति) विपत्तीसे हमें बचाकर कल्याणदायी होवे। (जामिं ऋत्वा पित्र्यात् लोकात्) संबंधीको प्राप्त कर पितृलोकसे (मा अवपत्सि) मत् गिरजा ॥ २ ॥

(यत्र सुहार्दः सुकृतः) जहां उत्तम हृदयवाले पुण्यकर्ता पुरुष (स्वायाः तन्वः रोगं विहाय) अपने शरीरसे रोगको दूर करके (मदन्ति) आनंदित

होते हैं,(अंगैः अश्लोणाः अन्हुताः)अंगोंसे अविकृत और अकुटिल होकर (तत्र स्वर्गे पितरौ च पुत्रान् पश्येम) उस स्वर्गमें पितरों और पुत्रोंको देखें ॥ ३ ॥

भावार्थ— इस संपूर्ण जगत् में हम कहीं भी हों, यदि हम वहां अपने मातापिताको कष्ट पहुंचाएं, तो तेजस्वी देव हमें उस पापसे मुक्त करे और पुण्यलोकमें जाने योग्य पवित्र हमें बनावे ॥ १ ॥

हमारी माता यह भूमि है और हमारा पिता यह द्युलोक है, अन्तरिक्ष हमारा भाई है। इस प्रकार जगत्से हमारा संबंध है। यह सब जगत् हमारा कल्याण करे और हमें विपत्तिसे बचावे। कोई ऐसा संबंधी न होवे कि जिसके कारण हमें पितृलोकसे गिरना पडे ॥ २ ॥

जहां शरीरको रोग नहीं होते और जहां हृदयके उत्तम भावसे पुण्य- करनेवाले लोग आनंदसे रहते हैं, वहां हम पहुंचें और सुदृढ अंगोंसे रहें और अपने पितरों और पुत्रोंको देखें ॥ ३ ॥

कोई मनुष्य अपने मातापिताको किसी प्रकारका कष्ट न देवे। मातापिताको कष्ट देनेवाले गिरते हैं। परंतु जो मातापिताको सुख देता है वह ऐसे श्रेष्ठ लोकमें पहुंचता है कि जहां कभी रोग नहीं होते और शरीर स्वस्थ रहता है। इसलिये हरएक मनुष्य अपने मातापिताकी सेवा करे और उनको सुख देवे।

बंधनसे छूटना।

[१२१]

(ऋषिः- कौशिकः। देवता- मंत्रोक्ताः)

वि॒षा॒णा पाशा॒न् वि ष्या॒ध्य॒स्मद् य उ॑त्त॒मा अ॑ध॒मा वा॑रु॒णा ये।
दु॒ष्वप्न्यं॑ दुरि॒तं नि ष्वा॒स्मद॑थ॑ गच्छेम सुकृ॒तस्य॑ लो॒कम् ॥ १ ॥
यद् दारु॑णि ब॒ध्यसे॒ यच्च॒ रज्वां॒ यद् भूम्यां॒ बध्यसे॒ यच्च॑ वा॒चा।
अ॒यं तस्मा॒द् गार्ह॑पत्यो नो अ॒ग्निरुदिन्न॑याति सुकृ॒तस्य॑ लो॒कम् ॥ २ ॥
उद॑गातां॒ भग॑वती वि॒चृतौ॒ नाम॒ तार॑के।
प्रेहामृत॑स्य यच्छतां॒ प्रैतु॑ बद्धक॒मोच॑नम् ॥ ३ ॥

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम् ।
योन्या इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वाँ अनु क्षिय ॥ ४ ॥

अर्थ— (ये अधमाः उत्तमाः ये वारुणाः) जो अधम और उत्तम वरुण देवके पाश हैं उन (पाशान् विषाणा अस्मत् अधि विष्य) पाशोंको तोडता हुआ हमसे उन पाशोंको दूर कर। (दुष्वप्न्यं दुरितं अस्मत् नि ष्व) बुरे स्वप्न और पाप हमसे दूर कर। (अथ सुकृतस्य लोकं गच्छेम) अब हम पुण्यलोकमें जावें ॥ १ ॥

(यत् दारुणि यत् च रज्वां बध्यसे) जो काष्ठस्तंभमें और रस्सीमें बांधा जाता है और (यत् भूम्यां) जो भूमिमें और (यत् च वाचा बध्यसे) जो वाणीसे बांधा जाता है, (तस्मात्) उस बंधनसे (अयं गार्हपत्यः अग्निः) यह गार्हपत्य अग्नि (नः सुकृतस्य लोकं इत् उत् नयासि) हमें सुकृतके लोकमें ले जाता है ॥ २ ॥

(भगवती विचृतौ नाम तारके) भाग्यवान् छुडानेवाली और तारण करनेवाली दो देवताएं (उदगातां) उदयको प्राप्त हुई हैं। वे दोनों (अमृतस्य प्रयच्छतां) अमृत का भाग देवें जिससे यह जीव (बद्धक-मोचनं प्रैतु) बद्ध अवस्थासे छुटनेका साधन प्राप्त करे ॥ ३ ॥

(विजिहीष्व) विशेष प्रगति कर, (लोकं कृणु) अपने लिये योग्य स्थान बना। (योन्याः प्रच्युतः गर्भ इव) योनीसे बाहर आये बालक के समान (बन्धात् बन्धकं मुञ्चासि) बंधनसे बन्धके कारण को अलग कर। (सर्वान् पथः अनु क्षिय) सब मार्गोंमें अनुकूलतासे रह ॥ ४ ॥

भावार्थ—निम्नस्थान, मध्यस्थान और उत्तम स्थान पर जो पाश हैं उनको दूर करनेका प्रयत्न कर। मनुष्य पापरहित होवे और उसका चिन्ह उत्तम स्वप्न आना उसके अनुभवमें आजावे। इस प्रकार वह निर्दोष होकर पुण्यलोक को प्राप्त होवे ॥ १ ॥

जो अनेक प्रकारके बंधन हैं वे सब ईश्वरकी कृपासे दूर हो जांय और हमें पुण्यलोक प्राप्त होवे ॥ २ ॥

बंधसे मुक्तता करनेवाली और रक्षा करनेवाली दो शक्तियां हमें अमृतका भाग देवें, जिससे हम बंधनसे मुक्त होकर पूर्ण स्वतंत्र हो जांय ॥ ३

विशेष प्रगति कर, पुण्यस्थान प्राप्त कर, बंधसे मुक्त हो, जैसा पूर्ण

हुआ बालक माताके उदरसे छुटकर बाहर आता है और इस जगत्में अनुकूल परिस्थितिमें विराजता है ॥ ४ ॥

सब प्रकारके बंधनोंसे मुक्त होना चाहिये और पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त करना चाहिये। इसकी सिद्धताके लिये मनुष्य पापसे दूर हो जावे। कभी पापका विचारतक न करे। विचार शुद्ध होनेसे स्वप्नभी उत्तम आने लगेंगे और कभी बुरे स्वप्न नहीं आवेंगे। सब बंधन पापसे मुक्त होनेसेही दूर हो सकते हैं और उस मनुष्यको उत्तम लोक प्राप्त हो सकते हैं। पुण्यसे ही बंधनसे मुक्तता करनेवाली शक्ति और आत्मरक्षा करनेकी शक्ति प्राप्त हो सकती है और इसहीसे आगे अमृतका लाभ हो सकता है और पूर्णतया बंधन दूर होकर पूर्ण स्वाधीनताका लाभ प्राप्त हो सकता है।

इसलिये हे मनुष्य! तू विशेष प्रयत्नसे उन्नतिलाभ कर, पुण्यवान् बन, बंधनसे मुक्त होकर पूर्ण स्वातंत्र्य को प्राप्त कर और जगत् में अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करके आनंदके साथ विराजमान हो जा।

पवित्र गृहस्थाश्रम।

[१२२]

(ऋषिः— भृगुः। देवता-विश्वकर्मा)

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य।
अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम ॥ १ ॥
ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव ॥ २ ॥
अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥ ३ ॥
यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाके सधमादं मदेम ॥ ४ ॥
शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥ ५ ॥

अर्थ--हे (विश्वकर्मन्) हे समस्त जगत्के रचयिता ! तू (ऋतस्य प्रथमजाः) सत्य नियमका पहिला प्रवर्तक है। इस बातको (विद्वान्) जानता हुआ मैं (एतं भागं परि ददामि) इस मेरे भाग को तेरे लिये पूर्णतासे देता हूं। (जरसः परस्तात् अस्माभिः दत्तं अच्छिन्नं तन्तुं) बुढापेके पश्चात् भी हमने दिया हुआ विच्छेदरहित जो यज्ञका सूत्र है, उससे हम (अनु संतरेम) निश्चयपूर्वक अनुकूलताके साथ हम पार हो जांयगे ॥ १ ॥

(एके ततं तन्तुं अनु तरन्ति) कई लोग इस फैले हुए यज्ञसूत्रके अनुकूल रहकर पार हो जाते हैं। (येषां आयनेन पित्र्यं दत्तं) जिनके आनेसे पितृसंबंधी देय ऋणभाग दिया होता है। (एके अबन्धु ददतः) कई दूसरे बंधुगणोंसे रहित होकर भी (ददतः) दान देते हैं वे (प्रयच्छन्तः च इत् दातुं शिक्षान्) दान देते हुए यदि देनेके लिये समर्थ हुए, तो (सः स्वर्ग एव) वह स्वर्गही है ॥ २ ॥

हे (दम्पती) स्त्रीपुरुषों ! (अनु आरभेथाम्) अनुकूलताके साथ शुभ कार्यका प्रारंभ करो, (अनुसंरभेथां) अनुकूलताके साथ हलचल करो। (एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते) इस गृहस्थाश्रमरूपी लोक को श्रद्धा धारण करनेवाले प्राप्त होते हैं। (यत् वां पक्वं) जो तुम दोनोंका परिपक्व फल होगा और (अग्नौ परिविष्टं) अग्निद्वारा सिद्ध हुआ है, (तस्य गुप्तये संश्रयेथां) उसकी रक्षाके लिये परस्पर आश्रित हो ॥ ३ ॥

(तपसा यन्तं बृहन्तं यज्ञं) तपसे चलनेवाले बडे यज्ञके ऊपर (सयोनिः मनसा अनु आरोहामि) समान स्थानमें उत्पन्न हुआ मैं अनुकूलताके साथ मनसे चढता हूं, प्राप्त होता हूं। हे अग्ने ! (जरसः परस्तात् उपहूताः) बुढापेके पहिले बुलाये हुए हम (तृतीये नाके सधमादं मदेम) तृतीय स्वर्ग धाममें साथ साथ रहकर सुखको प्राप्त करें ॥ ४ ॥

(इमाः यज्ञियाः शुद्धाः पूताः योषितः) ये पूज्य शुद्ध और पवित्र स्त्रियें हैं, इनको (ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि) ज्ञानियोंके हाथोंमें पृथक् पृथक् प्रदान करता हूं। (अहं यत्कामः इदं वः अभिषिञ्चामि) मैं जिस कामनासे इस रीतिसे तुमको अभिषिक्त करता हूं, (सः महत्वान् इन्द्रः) वह बडा प्रभु (मे तत् ददातु) मुझे वह देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे जगत्के रचयिता प्रभो ! तू ही सत्यधर्मका पहिला प्रवर्तक हो, यह मैं जानता हूं, इसलिये मैं अपने भागको तेरे लिये समर्पित करता हूं। इस समर्पणसे जो अविच्छिन्न यज्ञ बनेगा, उसकी सहायतासे हम दुःखके पार हो जांयगे ॥ १ ॥

इस यज्ञका आश्रय करके ही कई लोग पार हुए हैं। जिनका कुछ पैतृक ऋण चुकाना होता है, वे बंधनोंसे हीन होनेपर भी कठिन समय आनेपर भी उस ऋणको वापस करते हैं। ऐसे लोक जहां होते हैं वहां स्वर्गधाम होजाता है ॥ २ ॥

हे स्त्रीपुरुषो ! तुम दोनों इस गृहस्थाश्रममें प्राप्त होनेपर शुभ कार्य करते रहो और उन्नतिके लिये हलचल करो। इस गृहस्थाश्रममें श्रद्धावान् लोगही सुखपूर्वक रहते हैं। जो इसमें परिपक्व हुआ हो और जो पूर्ण हुआ हो, उसकी रक्षा करनेके लिये तुम दोनों प्रयत्न करो ॥ ३ ॥

जो यज्ञ तपसे होता है, उसीमें मन रख कर उसको पूर्ण करना योग्य है। इस प्रकार बुढापेतक कर्म करनेसे उच्च स्वर्गधाम प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

ये पवित्र और शुद्ध कन्याएं हैं, इनको ज्ञानियोंके हाथमें पृथक् पृथक् अर्पण करता हूं। जिस कामनासे मैं यह यज्ञ करता हूं वह मेरी कामना सफल हो जावे ॥ ५ ॥

पवित्र गृहस्थाश्रम।

गृहस्थाश्रमको अत्यंत पवित्र करके उससे आनंद प्राप्त करनेके विषयमें इस सूक्तमें बहुतसे अनमोल उपदेश हैं। ये उपदेश हरएक गृहस्थाश्रमी पुरुषको मनन करने चाहिये। (१) संपूर्ण जगत्का निर्माता जो प्रभु है, वही सत्यनियमोंका पहिला प्रवर्तक है, ऐसा मानकर उसके लिये शुभ कर्म करना, उसके लिये यज्ञ करना और जो कुछ करना हो वह उसकी प्रीतिके लिये करना चाहिये। इस प्रकारके शुभ कर्मोंके करनेसे मनुष्य दुःखमुक्त होता है। (२) इस प्रकारके यज्ञसे ही मनुष्यका बेडा पार हो जाता है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। (३) जैसा अपना किया हुआ कर्जा आदा करना चाहिये, उसी प्रकार पितृपितामहोंका किया हुआ कर्जा भी उतारना चाहिये। जहां विशेष आपत्तीकी अवस्था प्राप्त होनेपर भी इस प्रकार ऋण वापस करते हैं और ठगाते नहीं; वही देश स्वर्गधाम है। (४) गृहस्थाश्रममें स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं, वे सदा शुभकर्म करें, शुभ कर्मोंसे ही श्रेष्ठ लोक प्राप्त होते हैं। (५) जो परिपूर्ण हुआ है।

उसकी रक्षा कीजिये और उसको देखकर अन्यकी परिपक्कता संपादन करनेका यत्न करना चाहिये। (६) सब यज्ञ तपसे ही बनते हैं। इस प्रकारके यज्ञ करनेका विचार मनसे सदा करना चाहिये। (७) यदि वृद्धावस्थातक इस प्रकारके शुभ कर्म किये तो उत्तम स्वर्गधामका आनन्द प्राप्त हो सकता है। (८) गृहस्थाश्रम करना हो तो पवित्र और शुद्ध स्त्रीके साथ करना चाहिये। (९) स्त्रीको भी ज्ञानी मनुष्यके हाथमें समर्पित करना चाहिये। इस प्रकार पवित्र स्त्री और ज्ञानी पुरुषसे जो गृहस्थाश्रम बनता है वह विशेष सुख देनेवाला होजाता है। (१०) ऐसी गृहस्थाश्रमकी अवस्थामें रहनेवाला मनुष्यही अपनी कामना सिद्ध होनेका आनंद प्राप्त कर सकता है। प्रभु इसीको सिद्धि देता है।

इस सूक्तका इस प्रकार आशय है। जो पाठक इस सूक्तके मंत्रोंका अर्थ और भावार्थ विचारपूर्वक पढेंगे वे यह आशय स्वयं जान सकते हैं। क्यों कि यह अतिस्पष्ट है।

मुक्ति।

[१२३]

(ऋषिः—भृगुः। देवता—विश्वेदेवाः)

एतं संधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमिन् ॥ १ ॥
जानीत स्मैनं परमे व्योमिन् देवाः सधस्था विद लोकमत्र।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै ॥ २ ॥
देवाः पितरः पितरो देवाः।
यो अस्मि सो अस्मि ॥ ३ ॥
स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम् ॥ ४ ॥
नाके राजन् प्रति तिष्ठ तत्रैतत् प्रति तिष्ठतु।
विद्धि पूर्तस्य नो राजन्स देव सुमना भव ॥ ५ ॥

अर्थ-हे (सधस्थाः) साथ साथ रहनेवालो! (वः एतं शेवधिं परिददामि) तुमको यह खजाना मैं देता हूं, (यं जातवेदाः आवहात्) जिसको

जातवेदाने तुमतक पहुंचाया है। जो (यजमानः स्वस्ति अनु आगन्ता) यजमान कुशलताके साथ आवेगा (तं परमे व्योमन् जानीत) उसको परम स्वर्गमें स्थित जानो ॥ १ ॥

हे (सधस्थाः देवाः) साथ रहनेवाले देवो! (एनं परमे व्योमन् जानीत स्म) इसको परम स्वर्गधाममें स्थित जानो और (अत्र लोकं विद) इसीमें यह लोक है यह समझो। (यजमानः स्वस्ति अनु आगन्ता) यज्ञकर्ता सुखसे पीछेसे आवेगा। (अस्मै इष्टापूर्तं आविः कृणुत स्म) इसके लिये इष्ट और पूर्ति प्रकटतासे प्राप्त हो ऐसा करो ॥ २ ॥

(देवाः पितरः) देव पितर हैं और (पितरः देवाः) पितर देव हैं अर्थात् (पितरः) पालक (देवाः) देवता हैं, पूजनीय हैं, और जो पूजनीय हैं वे ही सच्चे पालक होते हैं। (यः अस्मि सः अस्मि) जो वास्तवमें मैं हूं, वही मेरी वास्तविक स्थिति है ॥ ३ ॥

(सः पचामि) वह मैं पकाता हूं, (सः ददामि) वह मैं देता हूं, (सः यजे) वह मैं यज्ञ करता हूं। (सः दत्तात् मा यूषं) वह मैं दानसे पृथक् न होऊं ॥ ४ ॥

हे राजन्! (नाके प्रतितिष्ठ) स्वर्गधाममें प्रतिष्ठित हो, (तत्र एतत् प्रतितिष्ठतु) वहां यह हमारा यज्ञ प्रतिष्ठित होवे। हे राजन्! (नः पूर्तस्य विद्धि) हमारी पूर्तिका उपाय जान और हे देव! (सुमनाः भव) उत्तम मनवाला हो ॥ ५ ॥

भावार्थ— सर्वज्ञ देवने जो तुम्हारे स्थानतक पहुंचाया है, उस आत्मशक्तिके खजानेको मैं तुम्हें देता हूं। इसीके पीछे पीछे यजमान आवेगा और वह परम स्वर्गधामको पहुंच जायगा ॥ १ ॥

सत्कर्म करनेवाला परम धाममें स्थित होता है, यह निश्चित बात है। यज्ञकर्ता उसी धाममें पहुंचता है, उसका इष्टापूर्तसे स्वागत करो ॥ २ ॥

जो पालन करते हैं वे देव हैं और जो दैवी भावसे युक्त हैं वे पालना करते ही हैं। मनुष्य अपनी योग्यता बाहर कितनी भी बतावे, जितनी अन्तरात्माकी अवस्था होगी उतनी ही उसकी वास्तविक योग्यता है ॥ ३ ॥

मैं यज्ञके लिये अन्न पकाता हूं, मैं दान देता हूं, मैं यज्ञ करता हूं। मैं दान करनेसे कभी निवृत्त न होऊं ॥ ४ ॥

स्वर्गधाममें स्थिर हो जा। यह हमारा कर्म स्वर्गमें स्थिर रहे। अपनी पूर्णता करनेका उपाय जान और उत्तम मनसे युक्त हो ॥ ५ ॥

मुक्ति प्राप्त करनेके लिये सबसे प्रथम यह बात स्मरणमें रखनी चाहिये कि शक्तिका खजाना अपनी आत्मामें है और बाहर नहीं है। अन्दरसे शक्ति प्राप्त होनी है और बाहरसे नहीं। जो इस कल्पनाको मनमें धारण करते हैं, वे स्वर्गधाममें पहुंचते हैं और जो समझते हैं कि शक्ति बाहरसे प्राप्त होनी है, वे पीछे रह जाते हैं। जो सत्कर्म करते हैं, वे ही स्वर्गधामको प्राप्त होते हैं; अन्य लोग पीछे रह जाते हैं। सत्कर्मका अर्थ जनताका पालन करना, इसी कार्यसे देवत्व प्राप्त होता है और जिनमें देवत्व होता है, वे जनताका पालन करते ही है। मनुष्य अपनी शुद्धता के विषयमें ढोंग मचाकर दूसरोंको ठगा सकता है, परंतु सत्कर्मकी कसौटीसे उसकी योग्यता वास्तविक जितनी होती है उतनी ही होती है, ढोंगसे उसकी योग्यता बढती नहीं। मनुष्य पकाना, देना, आदि जो कर्म करे वह यज्ञके लिये अर्थात् जनताकी भलाईके लिये ही करे और इस कर्मसे कभी पीछे न हटे। इसीसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और वहां सुख प्राप्त होता है।

वृष्टीसे विपत्तीका दूर होना।

[१२४]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- मन्त्रोक्ता उत दिव्या आपः)

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥ १ ॥
यदि वृक्षादभ्यपप्तत् फलं तद् यद्यन्तरिक्षात् स उ वायुरेव।
यत्रास्पृक्षत् तन्वो३ यच्च वाससं आपो नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः ॥ २ ॥
अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तदु पूत्रिममेव।
सर्वा पवित्रा वितताध्यस्मत् तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥ ३ ॥

॥ इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

अर्थ- (बृहतः दिवः अन्तरिक्षात) बडे द्युलोकके अवकाशसे (अपां स्तोकः रसेन मां अभि अपप्तत्) जलके बूंदोंके रससे मेरे ऊपर वृष्टि हुई है।

हे अग्ने! (अहं इन्द्रियेण पयसा) मैं इंद्रियके साथ, दूध आदि पुष्टि-रसके साथ, (छन्दोभिः यज्ञैः सुकृतां कृतेन सं) छन्दोंसे यज्ञोंसे और पुण्य कर्म करनेवालोंके सुकृतसे युक्त होऊं॥ १॥

(यदि वृक्षात् फलं अभि अपतत) यदि वृक्षसे फल गिरे अथवा (यदि अन्तरिक्षात तत्) यदि अन्तरिक्षसे यह जल गिरे, तो (स उ वायुः एव) वह वायु ही है अर्थात् वायुमेंसे ही वह गिरता है। (यत्र तन्वः अस्पृक्षत्) जहां शरीरके भागसे वह जल स्पर्श करे अथवा (यत् वाससः) जहां कपडोंको स्पर्श करे, तो वह (आपः पराचैः निर्ऋतिं नुदन्तु) जल दूरसे ही अवनतिको दूर करे॥ २॥

(अभ्यंजनं) तैलका मर्दन, (सुरभि) सुगंध, (हिरण्यं) सुवर्ण, (वर्चः) शरीरका तेज (सा समृद्धिः) यह सब समृद्धि है। (तत् उ पूत्रिमं एव) वह जल पवित्र करनेवाला है। (सर्वा पवित्रा वितता) सब पवित्र करने-वाले जगत् में फैले हैं। (अस्मत् अधि निर्ऋतिः मा तारीत्) हमपर दुर्गति मत आवे और (अरातिः मा उ) शत्रु भी न हमला करे॥ ३॥

भावार्थ—आकाशसे उत्तम पवित्र जलकी वृष्टी होती है, इस वृष्टीसे अन्न रस दूध आदि उत्पन्न होता है, इससे यज्ञ होता है और यज्ञसे सुकृत होता है। यह सुकृत प्राप्त करनेकी इच्छा हरएक को मनमें धारण करनी चाहिये॥ १॥

वृक्षसे फल गिरनेके समान आकाशसे वायुमेंसे वृष्टिकी बूंदें हमारे पास आती हैं। उस जलसे हमारा शरीर और हमारे वस्त्र मलरहित होते हैं। इस वृष्टीसे बहुत धान्य उत्पन्न होने द्वारा हमारी विपत्ती दूर होवे॥ २॥

शरीरको तैलका मर्दन करना, सुगंधीद्रव्यका उपयोग करना, सुवर्ण धारण करना, शरीर सुडौल और तेजस्वी होना यह सब समृद्धिके लक्षण हैं। जल समृद्धिका लक्षण होता हुआ पवित्रता करनेवाला है, उससे सब जगत्में पवित्रता फैली है। इस जलसे विपुल धान्य की उत्पति होनेसे हमारी विपत्ती दूर हो जावे और सब संपत्ति हमारे पास आजावे। शत्रु भी हमें कष्ट न पहुंचावे॥ ३॥

आकाशसे पवित्र अमृत जलकी उत्पत्ति होती है। उससे धान्य, फल, पुष्प आदि तथा वृक्ष वनस्पतियां भी उत्पन्न होती हैं। घास आदि उत्पन्न होकर उससे पशु पुष्ट

और प्रसन्न होते हैं । अर्थात् इस प्रकार आकाशकी वृष्टी सब प्राणिमात्रोंकी विपत्तीको दूर करनेवाली है । वृष्टी न होनेसे सबपर विपत्ती आती है और वृष्टीसे वह दूर होती है । यह जल शरीरको अंदरसे और बाहरसे निर्मल करता है, पवित्रता करना इसका स्वभाव धर्म है । वस्त्र आदिकोंको भी यह पवित्र करता है । जब इस प्रकार उत्तम वृष्टिसे पशुपक्षी और मनुष्य आनंदयुक्त होते हैं, तब मनुष्य अभ्यंगस्नान करते, सुगंध शरीर पर लागाते, सुवर्णभूषणोंको धारण करते हैं और उनका शरीर भी यथायोग्य पुष्ट और सुडौल होता है । सर्वत्र पवित्रता होती है और सब विपत्ती दूर होती है ।

यह वृष्टीकी महिमा है, इसलिये मानो, वृष्टी यह परमात्माकी कृपासे ही होती है ।

युद्धसाधन रथ ।

[१२५]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता—वनस्पतिः)

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।
गोभिः संनद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥ १ ॥
दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः ।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज ॥ २ ॥
इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ।
स इमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (वनस्पते) वृक्षसे बने रथ ! (वीडु+अंगः हि भूयाः) तू सुदृढ अवयवोंसे युक्त हो । तू (अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः) हमारा मित्र तारण करनेवाला और उत्तम वीरोंसे युक्त है। तू (गोभिः संनद्धः असि) गौके चर्मकी रस्सियोंसे खूब कसकर बंधा हुआ है । तू (वीडयस्व) हमें सुदृढ कर और (ते आस्थाता जेत्वानि जयतु) तुझपर चढनेवाला वीर विजय प्राप्त करे ॥ १ ॥

(दिवः पृथिव्याः ओजः परि उद्धृतं) द्युलोक और पृथ्वीलोकका बल यह रथरूपसे प्राप्त किया है और (वनस्पतिभ्यः सहः पर्याभृतं) वृक्षोंसे

यह सामर्थ्य संग्रहित किया है। (अपां आत्मानं गोभिः परि आवृतं) जलोंसे बने आत्मारूप वृक्षसे उत्पन्न हुआ गौके चर्मसे बांधा (इन्द्रस्य वज्रं रथं) इन्द्रके वज्रके समान सुदृढ रथको (हविषा यज) अन्नसे युक्त कर ॥२॥

हे (देव रथ) दिव्य रथ! तू (इन्द्रस्य ओजः) इन्द्रका बल है, तू (मरुतां अनीकं) मरुतोंका सेनासमूह, (मित्रस्य गर्भः) मित्रका गर्भ और (वरुणस्य नाभिः) वरुणकी नाभि है। (सः त्वं) वह तू (नः इमां हव्यदातिं जुषाणः) हमारे इस अन्नदान का सेवन करता हुआ (हव्या प्रति गृभाय) हवनीय अन्नका ग्रहण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—रथ वृक्षकी लकडीसे बनता है। यह रथ हमारा सचा मित्र है, क्योंकि यह युद्धकी आपत्तीसे हमें पार करता है। यह रथ गोचर्मकी रस्सीसे दृढ बांधा है। इस सुदृढ रथसे हमारा विजय निःसन्देह होगा ॥ १ ॥

पृथ्वी और द्युलोक का बल और वृक्षोंका सामर्थ्य इस रथमें इकट्ठा हुआ है। जलसे वृक्ष उत्पन्न होते हैं और वृक्षोंसे रथ बनता है; इसलिये यह जलोंका आत्माही है, इसको गोचर्मकी रस्सीयोंसे बांधकर दृढ बनाया है। अब यह इन्द्रके वज्रके समान दृढ है। इस रथमें अन्नादि पदार्थ भरपूर रख ॥ २ ॥

यह रथ इन्द्रका बल,मरुतोंकी सेना, मित्रका गर्भ और वरुणकी नाभी है। अर्थात् देवोंका सत्वरूप रथ है। यह रथ हमारे हव्यका सेवन करे, अर्थात इस रथके साथ रहनेवाले वीर हमारे अन्नसे पुष्ट और सन्तुष्ट हों ॥ ३ ॥

युद्धका बडा महत्व का साधन रथ है। वीर लोग इसपर चढकर युद्ध करते और विजय कमाते हैं। यह रथ वृक्षकी लकडीसे बनता है और गौके चर्मकी रस्सीसे बांधकर सुदृढ बनाया जाता है। पृथ्वीपर यह रथ एक बडी भारी शक्ति है। मानो, इसमें देवोंका बल भरा है। इस लिये रथको अच्छी अवस्थामें रखना चाहिये और रथके सब कर्मचारियोंको यथायोग्य अन्नसे पुष्ट करना चाहिये।

दुंदुभि ।

[१२६]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- दुन्दुभिः)

उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ वन्वतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त् ।
स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद् दवी॑यो॒ अप॑ सेध॒ शत्रू॑न् ॥ १ ॥
आ क्र॑न्दय॒ बल॒मोजो॑ न॒ आ धा॒ अ॒भि ष्ट॑न दुरि॒ता बाध॑मानः ।
अप॑ सेध दुन्दुभे दु॒च्छुना॑मि॒त इन्द्र॑स्य मु॒ष्टिर॑सि वी॒डय॑स्व ॥ २ ॥
प्रामूं ज॑या॒भी॒३॒मे ज॑यन्तु के॒तुम॒द् दु॑न्दु॒भिर्वा॑वदीतु ।
सम॑श्वप॒र्णाः पत॑न्तु नो॒ नरो॒ऽस्माक॑मिन्द्र र॒थिनो॑ जयन्तु ॥ ३ ॥

अर्थ—हे (दुन्दुभे) नक्कारे ! तू (पृथिवीं उपश्वासय) पृथ्वीमें (उत द्यां) और द्युलोकमें भी जीवन उत्पन्न कर (पुरुत्रा विष्ठितं जगत् ते वन्वतां) बहुत प्रकारसे विशेष रूपमें स्थित जगत् तेरे आश्रय से रहे। (सः इन्द्रेण देवैः सजूः) वह तू इन्द्रके और देवोंके साथ रहनेवाला (दूरात् दवीयः) दूरसे दूर (शत्रून् अप सेध) शत्रुओंका नाश कर ॥ १ ॥

हे (दुन्दुभे) नक्कारे ! (आक्रन्दय) शत्रुसेनाको रुला । (नः ओजः बलं आधाः) हमारे अंदर वीर्य और बल धारण कर । (दुरिता बाधमानः अभि स्तन) पापोंको बाधित करता हुआ गर्जना कर । (दुच्छुनां इतः अपसेध) दुःख देनेवाली शत्रुसेनाको यहांसे भगा । तू (इन्द्रस्य मुष्टिः असि) इन्द्रकी मुष्टि है, तू (वीडयस्व) सुदृढ रह ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (अमुं प्र जय) इस शत्रुसेनाको पराजय कर (इमे अभि जयन्तु) ये वीर विजय करें । (केतुमत् दुन्दुभिः वावदीतु) झण्डेवाला नक्कारा बहुत बडा नाद करे । (नः नरः अश्वपर्णाः संपतन्तु) हमारे वीर घोडोंसे युक्त होकर हमला चढावें और (अस्माकं रथिनः जयन्तु) हमारे रथी वीर जय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—दुन्दुभीका शब्द होनेसे लोगोंमें एक प्रकारका नवचैतन्य उत्पन्न होता है। इस लिये वीरोंको युद्धमें चेतना देनेके लिये इस नक्कारेका

उपयोग करते हैं। इसमें दिव्य शक्ति है इसलिये यह शत्रुओंको दूरसे ही भगा देता है ॥ १ ॥

दुन्दुभिका भयानक शब्द सुनकर शत्रुसेना घबडा जाती है और अपने सैन्यमें बल और वीर्य आता है। अपने सैन्यके दोष दूर होते हैं और शत्रु भाग जाते हैं। अर्थात् यह दुन्दुभि एक प्रकारका बल है, इसलिये वह दुन्दुभि हमें बल देवे ॥ २ ॥

यह दुन्दुभी शत्रुसेना का पराजय करे, और हमारे सैन्य का विजय होवे। अपने राष्ट्रीय झण्डेके साथ दुन्दुभि बडा शब्द करे। उस शब्दके साथ हमारे घुडसवार शत्रुपर चढाई करें। और हमारे रथी जयको प्राप्त करें ॥ ३ ॥

युद्धके स्थानपर नकारे का शब्द सेनामें बडा उत्साह बढाता है। इसलिये हरएक सेनाके साथ रणभेरी अर्थात् बडे दुन्दुभी रहते हैं। यह एक विजय प्राप्तिका साधन है। इस दृष्टिसे यह दुन्दुभिका काव्य बडा मनोरंजक और बोधप्रद है।

कफक्षय की चिकित्सा।

[१२७]

(ऋषिः- भृग्वङ्गिराः। देवता- वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनं)

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते।
विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन ॥ १ ॥
यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ।
वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम् ॥ २ ॥
यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः।
वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम् ॥
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि ॥ ३ ॥

अर्थ—हे (वनस्पते) औषध ! (बलासस्य विद्रधस्य) कफक्षय, फोडे फुन्सी, (लोहितस्य विसल्पकस्य) रुधिर गिरना और विसर्प अर्थात त्वचाके विकारका (पिशितं मा चन उच्छिषः) मांस बिलकुल मत शेष रहे ॥ १ ॥

हे (बलास) कफरोग ! (ते यौ मुष्कौ कक्षं अपश्रितौ) तेरेसे बनी जो दो गिल्टियां कांखमें उठी हैं। (तस्य भेषजं अहं वेद) उसका औषध मैं जानता हूं। उसका (अभि चक्षणं चीपुद्रुः) उपाय चीपुद्रु औषधि है ॥ २ ॥

(यः अंग्यः) जो अंगोंमें, (यः कर्ण्यः) जो कर्णमें, (यः अक्ष्योः) जो आंखोंमें, (यः विसल्पकः) जो विसर्प रोग है, (विसल्पकं विद्रधं हृदयामयं) उस विसर्प, फोडे और हृदयरोगको (विबृहामः) नाश करते हैं। (तं अज्ञातं यक्ष्मं) उस अज्ञात यक्ष्म रोगको (अधराञ्चं परा सुवामसि) नीचेकी गतिसे दूर करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— खांसी, कफक्षय, फोडे, फुन्सी और त्वचापर बढनेवाला विसर्प रोग, खांसीसे रक्त गिरना, और मांसमें दोष उत्पन्न होना, यह सब इस चीपुद्रु नामक औषधीसे दूर होता है ॥ १ ॥

किसी रोगसे गिल्टियां बढती हैं, उसका भी औषध यही चीपुद्रु औषधि है ॥ २ ॥

जो अंगोंमें, कानोंमें आंखोंमें, हृदयमें, रक्तके अथवा मांसके रोग होते हैं, जो विसर्प रोग है और फोडे फुन्सीका रोग है, अथवा इस प्रकारका जो अज्ञात रोग है, उसको इस औषधि द्वारा हम निम्नगतिसे दूर करते हैं ॥ ३ ॥

"चीपुद्रु" एक औषधि है। यह नाम वेदमें है अन्य ग्रंथोंमें नहीं मिलता। इस सूक्तमें इसका बहुत वर्णन है, परंतु यह वनस्पति इस समय अज्ञात ही है। इस कारण इस विषयमें अधिक लिखना असंभव है। इस औषधि की खोज करनी चाहिये। इसका कोई दूसरा नाम आर्यवैद्यकग्रंथोंमें हो तो उसका भी पता लगाना चाहिये।

राजाका चुनाव।

[१२८]

(ऋषिः— अथर्वाङ्गिराः । देवता-सोमः, शकधूमः)

शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत ।
भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥ १ ॥
भद्राहं नो मध्यंदिने भद्राहं सायमस्तु नः ।

भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः ॥ २ ॥

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् ।
भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि ॥ ३ ॥

यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा ।
तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥ ४ ॥

अर्थ— (यत् नक्षत्राणि शकधूमं राजानं अकुर्वत) जिस प्रकार नक्षत्रोंने शकधूम को राजा बनाया और (अस्मै भद्राहं प्रायच्छत्) इसके लिये शुभ दिवस प्रदान किया, इसलिये कि (इदं राष्ट्रं असात) यह राष्ट्र बने ॥ १ ॥

(नः मध्यंदिने भद्राहं) हमारे लिये मध्यदिनमें शुभ समय हो, (नः सायं भद्राहं अस्तु) हमारे लिये सायंकालका शुभ समय हो, (नः अह्नां प्रातः भद्राहं) हमारे लिये दिनका प्रातःकाल शुभ हो और (नः रात्री भद्राहं अस्तु) हमारे लिये रात्रीका समय शुभ हो ॥ २ ॥

हे (शकधूम) शकधूम ! (त्वं अहोरात्राभ्यां) तू अहोरात्रके द्वारा, (नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्यां) नक्षत्रों और सूर्य तथा चन्द्रमा द्वारा (अस्मभ्यं भद्राहं कृधि) हमारे लिये शुभ दिवस कर ॥ ३ ॥

हे (नक्षत्रराज शकधूम) नक्षत्रोंके राजा शकधूम ! (यः नः सायं नक्तं अथो दिवा) जो हमारे लिये सायंकाल, रात्रीको और दिनमें (भद्राहं अकरः) शुभ समय बना दिया है, (तस्मै ते सदा नमः) उस तेरे लिये सदा नमन है ॥ ४ ॥

भावार्थ— सब नक्षत्रोंने मिलकर, अपना एक संघटित राष्ट्र बन जाय इस हेतुसे, अपने लिये एक राजा बनाया ॥ १ ॥

इसके बननेसे प्रातःकाल, मध्यदिनमें और सायंकाल तथा रात्रीके समयमें सबको सुख होने लगा ॥ २ ॥

राजा सूर्य चन्द्र, नक्षत्र और अहोरात्र इनसे मनुष्योंका कल्याण करता है ॥ ३ ॥

जिस कारण राजा सब प्रजाजनोंका दिनरात्र हित करनेमें तत्पर रहता है, इस कारण उसका सदा सन्मान होना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रजा अपना राजा चुने ।

प्रजा अपनी उन्नति करनेके लिये सुयोग्य राजाको चुने और उसको राजगद्दीपर बिठलावे, उसको सन्मान देवे और उसके शासनमें सुखका उपभोग लेवे। इस उपदेश को इस सूक्तमें उत्तम अलंकारके द्वारा बताया है। अलंकार इस प्रकार है।

" आकाशमें अनेक नक्षत्र हैं, उनका परस्पर कोई संबन्ध नहीं था। यह अनवस्था उन्होंने देखी और अपना एक बडा राष्ट्र बनानेके लिये उन सबने मिलकर अपना एक राजा चुना, उसका नाम चन्द्रमा है। इस राजाके राजगद्दीपर आनेके पश्चात् सबको उत्तम सुख लाभ हुआ और उनकी सब आपत्ती हटगयी। "

यह तो इसका उत्तानार्थ है, परंतु इसका वास्तविक अर्थ श्लेषालंकारसे जाना जाता है और वह अर्थ सूक्तका गुह्य अर्थ है। इसमें जो 'न-क्षत्र' शब्द है वह शब्द क्षात्र धर्मसे रहित सामान्य प्रजा अर्थात् जो प्रजा अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती ऐसी प्रजा। ज्ञानी, व्यापारी और कारीगर यह प्रजा, इसमें क्षत्र वर्ग संमिलित नहीं। यह प्रजा

इदं राष्ट्रं असात् इति। (मं० १)

अपना एक बडा राष्ट्र निर्माण करनेके लिये-

नक्षत्राणि राजानं अकुर्वत ॥ (मं० १)

" क्षत्रियोंसे भिन्न प्रजाएं अथवा क्षात्रगुणसे रहित प्रजाजनोंने अपना एक राजा बनाया।" पूर्वापर संबंध से वह राजा क्षत्रियोंमें से चुना होगा। यह आशय 'शक-धूम' शब्दसे भी व्यक्त हो सकता है। स्वयं (शक) समर्थ होकर जो शत्रुओंको (धू) कंपायमान कर लेता है उसका यह नाम है। सब प्रजाजनोंने देखा कि यह तेजस्वी पुरुष राजा बनानेसे इसके सामर्थ्यके कारण हमारे सब शत्रु परास्त होंगे। और शत्रु परास्त होनेसे हमें सुख लाभ होगा और हमारा राष्ट्र बडा तेजस्वी होगा।

इस प्रकार राजाका चुनाव करनेसे उनको "भद्राहं" (भद्र+अहं) कल्याणका समय प्राप्त हुआ और वे सब आनंदसे रहने लगे। कोई शत्रु उनको कष्ट देनेके लिये उनके पास नहीं आया और सब प्रजा बडे आनंदके साथ रहने लगी।

राजाका यह प्रताप देखकर सब उस राजाका सन्मान करने लगे। इस प्रकार जो मनुष्य अपने राष्ट्र के लिये सुयोग्य राजाको चुनेंगे और उसका आदर करने लगेंगे, वे सब सुखी होंगे। इसका विचार करके प्रजा अपने लिये उत्तम राजाको चुने और सुखी होवे।

भाग्यकी प्राप्ति।

[१२९]

(ऋषिः- अथर्वाङ्गिराः। देवता-भगः)

भगेन मा शांशपेन साकमिन्द्रेण मेदिना।
कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरातयः ॥ १ ॥
येन वृक्षाँ अभ्यभवो भगेन वर्चसा सह।
तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः ॥ २ ॥
यो अन्धो यः पुनःसरो भगो वृक्षेष्वाहितः।
तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः ॥ ३ ॥

अर्थ— (शांशपेन भगेन मेदिना इन्द्रेण) शांशप वृक्षकी शोभाके समान आनंद करनेवाले इन्द्रसे (मा भगिनं कृणोमि) मैं अपने आपको भाग्यशाली करता हूं। (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु दूर हों ॥ १ ॥

(येन वृक्षान् अभ्यभवः) जिससे वृक्षोंका पराजय करता है, उस (भगेन वर्चसा सह) भाग्य और तेजके साथ (मा भगिनं कृणु) मुझे भाग्यवान् कर और (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु दूर भाग जांये ॥ २ ॥

(यः अन्धः) जो अन्नमय और (यः पुनःसरः) जो वारंवार गतिवाला (भगः वृक्षेषु आहितः) भाग्यका अंश वृक्षोंमें रखा है (तेन मा भगिनं कृणु) उससे मुझे भाग्यवान् कर, (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु दूर भाग जांय ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार शंशपा वृक्ष सुंदर दीखता है, उस प्रकार ईश्वरकी कृपासे भाग्ययुक्त होकर मेरी सुंदरता बढे। साथ ही साथ मेरे शत्रु दूर भाग जावें ॥ १ ॥ जिस प्रकार यह वृक्ष अन्य वृक्षोंकी अपेक्षा अधिक सुंदर दीखता है, उस प्रकार भाग्य और तेज प्राप्त होकर मेरी शोभा बढे। मेरे शत्रु दूर हो जांय ॥ २ ॥ वृक्षोंमें जो अन्नका भाग और अन्य भाग होता है, उस प्रकार मुझमें पुष्टि और बल आवे। और मेरे शत्रु दूर हों ॥ ३ ॥

अपने अंदर पुष्टि, बल, भाग्य, ऐश्वर्य और सौंदर्य बढे और अपने जो घातक शत्रु हैं वे दूर हो जांय। इस प्रकार इस सूक्तका आशय सरल है।

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	- १)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	,, ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ राजधर्मपर्व	[७७–८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
१३ आपद्धर्मपर्व	[८४–८५]	२	२३२	१।) सवा	।-)

कुल मूल्य ४६।) कुल डा. व्य. ८।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ११

अंक ७

क्रमांक

१२७

आषाढ

संवत् १९८६

जोलाई

सन १९३०

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष ११

अंक ७

क्रमांक १२७

आषाढ

संवत् १९८७

जोलाई

सन १९३०

वैदिक धर्म.

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक — श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

किसका विजय होता है।

अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या।

अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥१५॥

ऋग्वेद ४। ५०। ९

" (अ-प्रति-इतः प्रतिजन्यानि उत या सजन्या) पीछे न हटनेवाला वैयक्तिक और जो सामुदायिक (धनानि) धन हैं, उन सब धनों को (सं जयति) जीत कर प्राप्त करता है। (यः राजा अवस्यवे ब्रह्मणे वरिवः कृणोति) जो राजा रक्षा की इच्छा करनेवाले ज्ञानीको योग्य धन देता है, (तं देवाः अवन्ति) उसकी देव रक्षा करते हैं। "

कुछ धन वैयक्तिक होते हैं और कुछ सामुदायिक होते हैं। इनमेंसे किसी प्रकार के धन को प्राप्त करना हो, अथवा किसी प्रकारका विजय प्राप्त करना हो, तो अपना पांव पीछे न लेनेकी तैयारी करनी चाहिये। विजय के लिये सच बात तो यह है कि, अपना पांव आगे ही बढाना चाहिये, परंतु वैसा न होता हो, तो कमसे कम अपना पाव पीछे तो नहीं हटाना चाहिये। विजय का यही नियम है। तथा जो राजा ज्ञानी श्रेष्ठ सज्जनों की योग्य सहायता करता है, उसीको देवताओंकी सहायता प्राप्त होती है। अर्थात् यदि कोई राजा अपनी पाशवी शक्ति की घमण्डसे सज्जनोंको कष्ट देने लगजाय, तो समझना चाहिये कि उसको देवताओंका सहाय्य नहीं मिलेगा और वह शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जायगा।

यम और पितर।

'यम और पितर' नामक पुस्तक, जिसमें यम के और पितरों के विषयके वेदमंत्रोंका संग्रह है, श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि-सभाओंके उपदेशकों के पास सवा मास के पूर्व ही भेजे गये हैं। पंजाब, युक्तप्रांत, बंगाल, राजस्थान, गुजरात आदि स्थान की प्रतिनिधि-सभाओंके पास, तथा गुरुकुल-विद्यालयोंके पास तथा प्रतिष्ठित आर्यसमाजों के उपदेशकों के पास ग्रंथ भेजे गये हैं। इसके अतिरिक्त १०० विद्वानों के पास स्वतंत्र रीतिसे भेजे हैं। अब हमारे पास थोडेसे पुस्तक शेष हैं, जो संगति लगाने की सहायता करेंगे उनही के पास अब भेजे जांयगे। इस विषयमें प्रयत्न करनेवाले विद्वान् अपनी अपनी सभाद्वारा इस पुस्तक की मांग करें।

पुस्तकें भेजनेके बाद सवा महिना गुजर गया है। इतने समयमें किसीके पास से प्राप्तिकी सूचना तक नहीं आयी है!! करीब २०० से अधिक पुस्तक भेजे गये हैं और उनपर डा० व्य० ही करीब ७५) से अधिक लगा है। पुस्तक छपाईका व्यय भी बहुत हो चुका है। पैका टाइप के वै० धर्मके आकारके २५० पृष्ठोंका पुस्तक मुद्रित करनेके लिये कितना धन लगता है, इसका अनुमान पाठक कर सकते हैं। इतना व्यय किया, परंतु अभीतक किसीसे केवल प्राप्ति की सूचना तक नहीं आयी है !! अब आगे दो तीन मासों में कहां कहांसे संगति लगाकर लेख आते हैं यह देखेंगे। यहां तो इस संगति की प्रतिदिन आतुरता के साथ प्रतीक्षा हो रही है।

जिनके पास ये पुस्तक गये हैं वे संगति लगानेकी शीघ्रता करें, क्यों कि मंत्रोंका संग्रह उनके पास है। अब केवल उनकी इच्छा और प्रयत्न ही होना चाहिये।

वर्ण—व्यवस्था ।

(ले०-श्री० स्वर्गीय रा० सा० कृष्णाजी विनायक वझे, इंजिनियर, नासिक)

आज यही देखना है कि आर्यों की वर्णव्यवस्था में शास्त्रीय तत्त्व क्या है । इस विषय का विचार आरम्भ करने के पूर्व स्मरण रखना होगा कि यह " वर्णव्यवस्था " है । इस वर्ण व्यवस्था या जाति-व्यवस्था को लोग आजकल ' वर्ण भेद ' या ' जाति भेद ' समझा करते हैं । परन्तु यह अनर्थ है । 'व्यवस्था' शब्द का अर्थ भिन्न है और 'भेद' शब्द का अर्थ भिन्न है । हमारी आर्यों की जातिसंस्था या वर्णसंस्था व्यवस्थापक संस्था है, भेद करनेवाली कदापि नहीं । जिन परकीयों की समझ में यह बात नहीं आई, अथवा जो लोक यही सोचते थे कि इस एकरूप संस्था में अनेक भेद उत्पन्न होवें, उन्हीं लोगों ने यह भेद का पिशाच उत्पन्न कर दिया है । इस पिशाच ने हम लोगों में से कुछ को पछाडा और वे अब 'भेद भेद' कह कर चिल्ला रहे हैं । वास्तव में ये संस्थाएं हमारे समाज की 'व्यवस्था' करनेवाली हैं,न कि 'विभक्तता' उत्पन्न करनेवाली । यह तो हमारे देश का दुर्दैव है, कि परकीयों द्वारा की हुई दिशाभूल से हम लोग ठगे जा रहे हैं । अतएव परम आवश्यक है कि, हमारे लोगों की असमंजस को दूर करने के लिए उन्हे स्पष्ट रीतिसे दिखलाया जावे कि यह वर्ण-व्यवस्था है कैसी ।

शास्त्रदृष्टि ।

किसी भी बात को शास्त्रीय दृष्टि से देखना चाहिए । शास्त्रीय दृष्टि और सामान्य दृष्टि में महत् अन्तर है । सामान्य दृष्टि से देखनेवाला ऊपरी बातें देखता है । इससे उसे चिरस्थायी हितकर बातें बिलकुल नहीं दिखाई देतीं । परन्तु शास्त्र (१) विचार, (२) आचार और (३) व्यवहार का विचार करके चिरकाल टिकनेवाली व्यवस्था देता है । इसलिए विचार करते समय यही दृष्टि इष्ट है । इसी शास्त्र-दृष्टि से हम वर्ण-व्यवस्था का विचार करेंगे ।

जब हम निश्चय करते हैं कि हम शास्त्रदृष्टि से विचार करेंगे तब हमे तीन प्रकार के विचार से विचार करना पडता है-(१) तत्त्व की दृष्टि से वर्ण व्यवस्था का विचार करना पडेगा, (२) परिस्थिति के कारण उत्पन्न हुए आचार का विचार करना पडेगा, और अन्त में (३) सदैव बदलनेवाले व्यवहार की दृष्टि से विचार करना पडेगा । इन तीन प्रकारों से विचार करने पर जो बात स्थिर तथा लाभकारी सिद्ध होगी वही शास्त्रदृष्टि से सिद्ध समझी जावेगी ।

शास्त्र कभी भी परिस्थिति और व्यवहार को नहीं छोडता । यदि कोई कहे कि वह इन दो बातों को छोडकर ही होता है तो निश्चय जानो कि वह बिलकुल बेकाम है । कोई भी इस बात को कदापि न भूले कि सब आर्यशास्त्र "तत्त्वज्ञान व परिस्थिति के अनुसार आचार व बदलनेवाला व्यवहार " इन बातों का पूर्ण विचार करता है ।

१ विचार विभाग ।

वर्ण-व्यवस्थाका तात्त्विक विचार।

उक्त ' तत्त्व, आचार और व्यवहार' इन तीन भागों में अपना विषय विभक्त है । इसलिए इन तीन भागों से वर्णव्यवस्थाका विचार करें । सब प्रथम वर्णव्यवस्था का तात्त्विक विचार करना है । इससे देखना होगा कि सृष्टि में कौनसा सर्व-साधारण तत्त्व दिखाई देता है ।

सृष्टि नियम
"विषमतामिश्रित समता।"

सृष्टि में हमे न तो समता ही दिखती है और न केवल विषमता ही दिखती है। चारों ओर जो कुछ दिखता है वह 'विषमतामिश्रित समता' या 'समतामिश्रित विषमता' है। आप कहीं भी चले जाइए वहां आप केवल शुद्ध समता न पावेंगे और न शुद्ध विषमता ही पावेंगे। जहां कहीं आप देखेंगे यही पावेंगे कि कुछ बातों में समता है और वहीं पर कुछ बातों में विषमता है। इस संसार में समता और विषमता का मिलन है।

यदि मुख्य बातों में समता और अन्यत्र विषमता हो तो काम रुकता नहीं। परन्तु यदि कोई यह चाहे कि हर जगह, जहां देखें वहीं समता ही समता होवे तो यह बात होना असंभव है, यह इच्छा कदापि सफल नहीं हो सकती। यदि हम एक विषमता निकालने की चेष्टा करें तो वहां दूसरी अनेक विषमताएं आ जाती हैं। संसार में कार्य करनेवाले प्रत्येक मनुष्य को इस बात का अनुभव हर दिन है। इसीलिए विचारशील लोग देखें कि "समता में विषमता किस प्रकार है" और "विषमता में समता किस प्रकार है।" और यह जानकर कि सृष्टि-नियम ही ऐसा है संभवनीय बातें करने की चेष्टा करें और असंभव के पीछे पडकर अपने परिश्रमों को व्यर्थ न होने दें। इसके लिए एक उदाहरण देखिए।

किसी स्थान में भोजन है। वहां केवल इतनी ही समता रखी जा सकती है कि सब को एकसा भोजन मिले। परन्तु यदि कोई यह चाहे कि सबको एक ही स्थान में, एक ही समय, एकसी उष्णता का भोजन मिले तो वह असम्भव है। क्यों कि यदि दस मनुष्य भोजन करने बैठें तो उनकी पत्नी एक पंगत में रखनी होंगी। वे एकही स्थान में तो रखी ही नहीं जा सकती। इससे एक मनुष्य को पंगत के आरम्भ में बैठना होगा और दूसरे को अन्तमें। अब यदि गरम जलेबी परोसना हो तो पहिले नम्बरवाले को अधिक गरम जलेबी मिलेगी और उसी पंगत में आखीर में बैठनेवाले को कम गरम। तब यह स्पष्ट है कि एक कमरे में, एकही समय भोजन करने बैठना और एकही अन्न मिलना इतनी बातों की समानता रखी जा सकती है। तब भी अन्य विषमताएं होंगी ही। किसी को खिडकी की ओर बैठना होगा, किसी को दरवाजे में बैठना होगा और किसी को बीच में बैठना पडेगा। इत्यादि इत्यादि। कोई कुछ भी क्यों न करे परन्तु बिलकुल सर्वांगीण समता होना ही असंभव है। इसी प्रकार सभा का भी हाल होगा। क्योंकि समता रखने के लिए सब को एक ही कुर्सी पर बैठना चाहिए पर वह तो असंभव है। उन्हे आगे पीछे भिन्न भिन्न कुर्सियोंपर बैठने की विषमता सहनी ही पडेगी। उन्हे केवल इतनी ही समता मिलेगी कि सभा के स्थान में बैठना। अन्य बहुतसी विषमताएं उन्हे सहनी होंगी। उन्हे एक ही कमरेमें आगे, पीछे, बीचमें, सामने, बाजूमें आदि बैठने की विषमताएं सहनी होंगी और जगह न मिली तो स्थान मिलेगा वहां खडे रहने की भी विषमता माननी पडेगी। यही नियम सब बातों में लागू होता है।

बहुत लोगों के रहने के लिए एक चाल (मकानों की कतार) बनवाई गई। उसमें चार मंजिल बनाए गए। और हरएक मंजिल में दस दस कमरे रखे। सब कमरे की बनावट बिलकुल एकसी रखी। यह भी मानलिया कि हर एक कमरे के लिए नापतौल कर बिलकुल एकसा ही सामान लगाया गया। तब भी ऊपर के कमरों को अधिक खुली हवा मिलेगी, बिलकुल छोर के कमरों को तीन ओर से हवा मिलेगी और बाकी के कमरों को केवल दो ओरसे। इस तो नहीं टाल सकेंगे। यदि चौथी मंजिल की खुली हवा चाहनी हो, तो तीन जीने चढने का परिश्रम अपरिहार्य होगा। ऐसी अनंत विषमताएं रहेंगीं ही। किसी भी उपायसे वे दूर न की जा सकेंगीं। इस चाल में रहनेवाले किरायेदार यदि कहें कि विषमता न रहे इस गरज से हम एकही कमरे में रहेंगे तो वह असंभव है। और एक कमरे में भी रहें तब भी वहां भी विषमता रहेगी ही।

क्यों कि वे सब बिलकुल एक ही स्थान में तो बैठ न सकेंगे। तब सिद्ध यही होता है कि यदि विचार करें तो स्पष्ट होगा कि मुख्य बातों में समता देखी जावे और बाकी की विषमताओं की ओर ध्यान न दिया जाय। सृष्टिनियम से तो हम यही सिद्धान्त ले सकते हैं।

नियम-व्यवस्था।

कहीं कहीं प्रवेश के लिए या बैठने के लिए नियम रहते हैं। इन नियमों के अनुसार ही समता या विषमता समझ लेना अवश्यक होता है। जैसे पदवीधारी अमुक स्थान पर बैठें, अमुक योग्यता के उम्मीदवार अमुक द्वार से आवें आदि प्रकार के नियम होते हैं। इन नियमों का पालन करके ही अन्य समताएं देखनी पडती हैं। ऐसी जगह समता केवल भीतर प्रवेश मिलने ही में हो सकती। परंतु प्रवेशद्वारों की विषमता का स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है। कहीं कहीं स्त्रियों के लिए तथा अन्यों के लिए खास स्थान रखना आवश्यक होता है। सभापति को मुख्य कुर्सी पर बैठना होता है। समता चाहने पर भी और सभापति तथा अन्य मनुष्य समान होने पर भी बैठने के स्थान की विषमता माननी ही पडती है। प्रबन्ध एवं शिस्त के नियमों के कारण आनेवाली समतामें की विषमता सब को मानती पडती है।

यदि कई लोग इन नियमों का पालन न करें तो उस कार्य में बडी गडबड हो जावेगी। यद्यपि मनुष्यमात्र समान है तथापि जहां शिक्षित, अशिक्षित, पदवीधारी, अर्धशिक्षित आदि के मत लेने का स्थान जहां होगा वहां प्रवेश के नियमों का पालन करने में आनेवाली विषमता का स्वीकार करना ही पडेगा। यदि इस विषमता का स्वीकार नहीं करते तो जो गडबड एवं अव्यवस्था होगी उसकी कल्पना विचारी लोगों को सहज ही में हो सकती है।

व्यवस्था की जाती है, नियम पाले जाते हैं सो किस लिए? वह सब इसीलिए होता है कि शक्ति का व्यर्थ व्यय न होवे, बारबार भूलें न होवें, कार्य जल्दी और अच्छे प्रकारसे हो, एकके कार्यमें दूसरे की रुकावट न होवे। इन नियमों का पालन करने में भी मुख्य महत्व की बातों में समता और अन्य बातों में विषमता का स्वीकार करनाही पडेगा।

ऐसे समय अन्तिम अधिकार किसी एक को देना ही पडता है, फिर चाहे वह एक व्यक्ति हो, दोचार मनुष्यों का मंडल हो, प्राचीन ग्रंथ हो या चालू रीति हो। सुव्यवस्था के लिए इस प्रकार के अधिकार एक केन्द्र में केन्द्रीभूत करना आवश्यक होता है। यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार अधिकार चलाने लगे तो अनवस्था होगी, शिस्त न रहेगी और काम भी सिलसिले से न होगा।

न्यायाधीश को सब अधिकार रहते हैं, राजाको भी सब अधिकार रहते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इन अधिकारों का दुरुपयोग कभी होता ही नहीं। परन्तु समता के सिद्धान्तके आधारपर सभी को सभी अधिकार देकर समता स्थापन करने के प्रयत्न से जो गडबड होगी उससे कम गडबड इन सब अधिकारों को केन्द्रीभूत करने में और अल्प आवश्यक विषमता कृत्रिम रीतिसे उत्पन्न करने में होगी। इस प्रकार नियमपालन के लिए, शिस्त रखने के लिए, अधिक गडबडी न होनेदेने के लिए अपने ही नियमों से उत्पन्न होनेवाली विषमता माननी पडती है। जहां अधिक बडा जनसंघ इकट्ठा होता है, वहां इन कारणोंसेही अधिक विषमता का होना अपरिहार्य होता है। ऐसे स्थान में नियमों से आनेवाली विषमता का स्वीकार न करें और सभी लोग समता के बहाने कानून अपने ही हाथ में लेलें, तब समता स्थापन करते करते उन्हीं का अस्तित्व शंकित हो जाता है जिनके लिए समता स्थापन करनी होती है। इसलिए यदि यह इच्छा है कि अपनी उन्नति होवे, तो नियमों के कारण उत्पन्न होनेवाली समता के पेटमें स्थित विषमता का स्वीकार करने को सभी को तैयार होना पडेगा।

वर्गीकरण

उन्नति के लिए वर्गीकरण की अत्यंत आवश्यकता है। पदार्थ-संग्रहालय में जितनी वस्तुएं इकत्रित

रहती हैं उन वस्तुओं का वर्गीकरण किया हुआ होता है। संग्रहालय का महत्त्व का अर्थ ही यह है कि वर्गीकरण किया जाय। बिना वर्गीकरण के संग्रहालय का कुछ भी उपयोग न होगा। यदि सब वस्तुओं का एक ढेर बनाकर रख दिया जाय तो उसे कोई भी संग्रहालय का महत्त्व न देगा। वर्गीकरण प्रगति का मूल है। जब वर्गीकरण होता है तब एक को एक वर्ग में और दूसरे को दूसरे वर्ग में बैठना आवश्यक होता है। जब ऐसा हुआ तब विषमता आही गई। परन्तु इस विषमता का स्वीकार ही महत्त्व के कार्य की दृष्टिसे, करना उचित होता है। पदार्थ-संग्रहालय में धान्य, फल, फूल, लता, खनिज पदार्थ, लकडी और अन्य पदार्थ अपने अपने वर्ग में ही रखने पडते हैं। इतना ही नहीं परन्तु उनके जितने छोटे वर्ग कर सकें उतने वर्ग करना ही ज्ञान की प्रगति की दृष्टि से आवश्यक होता है। वर्ग निश्चित करना और उन वर्गों को मानना इसी का नाम ज्ञान है। वर्गोंको न मानना अज्ञान है।

सब वस्तुओं के लिए केवल इतनी ही समता मिल सकती है कि पदार्थ संग्रहालय में स्थान मिलना। यदि प्रत्येक पदार्थ इससे अधिक समता मांगने लगा और उसके लिए हठ करने लगा तो संग्रहालय नष्ट ही होगा। अन्य बातों की सब विषमता यदि प्रत्येक पदार्थ मान लेवे तभी उन विषमता माननेवाले पदार्थों के संघ से पदार्थ-संग्रहालय जैसा ज्ञानवृद्धि का आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण कार्य बन सकेगा। इससे स्पष्ट होगा कि ज्ञानवृद्धि एवं कार्यशक्ति की वृद्धि के लिए वर्गीकरण आवश्य है तथा वर्गीकरण हो जानेपर समता की अपेक्षा विषमता ही अधिक आवश्यक होती है।

इससे वाचकों को स्पष्ट होगा कि समता और विषमता ये सापेक्ष अवस्थाएं हैं। उनमें से कोई भी एकही लाभकारी है यह नहीं। विशेष प्रसंग और कार्य की दृष्टि से मुख्य बातों में समता और गौण बातों में विषमता का स्वीकार करके ही अपनी उन्नति साधन करना उचित होगा। मनुष्य को अपनी स्वतः की उन्नति करना है। समता और विषमता की दोनों अवस्थाएं मार्ग के आगंतुक कारणों से उत्पन्न होती हैं। इसीलिए इन्ही बातों में फंसे न रहकर अपने ध्येय की ओर ध्यान दे, उसके साधने के लिए जो आवश्यक साधन, वर्गीकरण, नियम आदि होंगे उनके पालन में असावधानी न होने देना चाहिए। यदि ऐसा न करें तो मुख्य साध्य तो मिलेगा ही नहीं, पर साधन के लिए ही सारा जीवन खर्च हो जावेगा।

उन्नतिके इन नियमों के पालन के लिए मनुष्यों का जो वर्गीकरण अत्यंत आवश्यक होता है वह वर्गीकरण अपनी 'वर्णव्यवस्था'में किस प्रकार है सो आज देखना है।

इस के लिए एक उदाहरण लेंगे। भौतिक शास्त्र का ही उदाहरण देखिए। क्यों कि इस शास्त्र के नियम न बदलनेवाले हैं। अब देखिए कि 'वायुमण्डल' कैसा है। पृथ्वी के चारों ओर जो ४ मील का वेष्टन है वही वायुमण्डल है। वास्तवमें वायुमण्डल सब जगह एकसा है। उसमें समता है। वह समरसता से चारों ओर व्याप्त है। तिसपर भी वह जमीन के पास अधिक घना है और जैसे जैसे ऊपर जावें वैसा ही वैसा वह बिरळा होता गया है। यह इस वायुमण्डल की विषमता है। ऊपर के वायु का बोझ नीचे के वायु को सहना पडता है। यह सहनशीलता का गुण तली के वायु में रहना आवश्यक होता है। ऊपर का वायु भलेही विरल होवे पर नीचे का विरल न होना चाहिए।

सरकस के खेल में एक शक्तिमान् मनुष्य अपने कंधेपर दो चार मनुष्यों को खडा करता है। ऐसा करने में नीचे खडे होनेवाले को ऊपर के मनुष्यों का बोझ सहना पडता है। यदि यह सहनशीलता नीचे के मनुष्य में नहीं है तो वह दूसरों को उठाही नहीं सकेगा।

इस मनुष्य के कंधेपर दूसरा मनुष्य चढता है। चढनेवाले को ऊपर जाने का मान मिलता है सही, परन्तु इसे नीचे के मनुष्य से पतन का डर अधिक होता है। इससे इसे अधिक सावधान रहना पडता

है। ऊपर चढने के सुखके साथ ही इसे सावधान रहने का अधिक कार्य करना ही पडता है। इसके भी सिरपर चढनेवाला यदि तीसरा मनुष्य हो तो उसे अधिक ही होशियार होना आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो वह कार्य करही नहीं सकता। इस तीसरे के सिरपर चढनेवाला चौथा मनुष्य तो अत्यन्त तत्पर होना चाहिए।

सहनशीलता,सावधानी,होशियारी और तत्परता ये चार गुण ऊपर की एक एक सीढी के मनुष्य में आवश्यक होते हैं। यह बात कोई भी और कभी भी न भूले कि ऊपर के मनुष्य को पतन का भय अधिक होता है इससे इन गुणों की आवश्यकता उसी को अधिक होती है।

मानलो कि एक पचास हाथ गहरा कुआं है और उसी के पास एक पचास हाथ ऊंचा खंभा है। एक मनुष्य कुएं में है, दूसरा जमीन पर है और तीसरा खंभे पर थोडा चढा है, चौथा खंभे के मध्य तक पहुंचा है और पांचवां खंभेके ऊपर चढ चुका है। ऊपर चढने से दृष्टिक्षेत्र अवश्य बढ गया, पर उसके साथ ही पतित होने का भय भी बढ गया। कुएं में उतरे हुए मनुष्य का दृष्टिक्षेत्र अत्यंत संकुचित होता है और खंभे के ऊपर पहुंचे हुए का हजारों मील विस्तृत। परन्तु उसी हिसाब से उसकी जबाबदेही भी अत्यन्त बढी हुई होती है। यहां उच्चता, कार्यक्षेत्र का विस्तार और जबाबदेही की विषमता विचारणीय है। यद्यपि यह बात सत्य है कि सब मनुष्य समान हैं, तबभी उनके स्थानों के अनुकूल उनके कर्तव्योंकी विषमता भी रहती है।

गुणोंके कारण भिन्नता

मनुष्योंमें गुणों के कारण भी भिन्नता होती है। कुछ गुण ऐसे हैं कि वे स्वभावतः प्राप्त होते हैं और कोई भी उन्हे बदल नहीं सकता। ऐसे गुणोंमें 'वय' का विचार प्रथम करना चाहिए। वय प्रयत्न से नहीं बदला जा सकता और पुरुषार्थ से बढा भी नहीं सकते। वय या उमर बढने से उसे जो संसार का और निसर्ग का अनुभव होता है वह भारी महत्त्व का है । इसे 'ज्येष्ठं' अर्थात् ज्येष्ठता या बडप्पन कहा है। अधिक वय या उमरवाले मनुष्य का घर में या स्वजातिमें आदर होता है, वह इसी श्रेष्ठता के कारण। यह वय की ही विशेषता है। इससे इस विषमता को सहना अन्य जनों के लिए आवश्यक ही होता है। समतावादी भी इस विषमता को नहीं मिटा सकते। इस शारीरिक स्थिति के बडेपनमें केवल शरीर की आवश्यकताएं, इच्छाएं, कामनाएं एवं भावनाएं बढी होती हैं। इसी लिए जब केवल शारीरिक वृद्धि का विचार करना होता है तब 'काम' पुरुषार्थ का विचार किया जाता है। इसीमें अन्य गुण शामिल हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि वय या उमर के विचार से बडप्पन मानना शूद्रवर्ण में ही योग्य है।

इसके आगे का दर्जा है 'धन' के बडप्पन का। जिस के पास धन अधिक होता है उसे गांव में बडा कहते हैं। क्यों कि यह धनी मनुष्य गांव का हित कर सकता है। धन के कारण गांव के बहुत से लोगों से उसका संबंध हो जाता है। पैसे के कारण उसे यह श्रेष्ठता प्राप्त होती है। वेदने इसका वर्णन " श्रैष्ठ्यं " शब्द से किया है। चतुर्विध पुरुषार्थों में से 'अर्थ' नामका पुरुषार्थ यहां दिखाई देता है। लक्ष्मी चंचल है। वह कहीं भी स्थिर नहीं रहती। यह सत्य होने पर भी उसके कारण मनुष्य को गांव में विशेष आदर प्राप्त होता है यह बात भी निःसंदेह है। गांव के सब लोगों को धनप्राप्ति के मार्ग यद्यपि समानता से खुले हैं, तथापि गांव का हर एक मनुष्य एकसा धनवान् होना असंभव है। इसलिए यह आर्थिक विषमता सर्वथा निर्मूल होना असंभव है। समतावादियों ने राष्ट्र की सम्पूर्ण सम्पत्ति यदि सब लोगों को एकसी बांटभी दी तब भी कुछ ही समयबाद पुनः आर्थिक विषमता अवश्य ही उत्पन्न होगी। इसीलिए इस विषमता को मानना ही आवश्यक है।

इससे आगे चलकर समाज में श्रेष्ठता प्राप्त करने का गुण 'बल' है। बल में शारीरिक बल के साथ शौर्यवीर्य आदि भी सम्मिलित हैं। इसी प्रकार सांघिक बल का भी अंतर्भाव इसीमें होता है। जो स्वतः शरीरसे तथा योजक शक्ति से समर्थ है, मन से धीर, वीर एवं गम्भीर है और जो बहुतसे

अनुयायी इकट्ठे कर सकता है तथा उनकी संघ-शक्तिसे विशेष कार्य कर दिखा सकता है, अपने लिए मताधिक्य की अनुकूलता प्राप्त कर सकता है, उसीका आदर या उसीकी मान्यता समाज में या प्रांत में होती है। इसलिए इसे 'आधिपत्यं' याने शासक होने का गुण कहा है। मताधिक्य प्राप्त करने की गरज से, लोगों को अपनी ओर खींचने की गरजसे कभी सच्चे और कभी चालाकी के मार्गसे जाना आवश्यक होता है। इसके लिए वीरत्व के धर्म के पुरुषार्थ की जरूरत होती है। इसीको ' धर्म ' नाम है। यहां धर्म शब्द का अर्थ है समाज की स्थिरता की रक्षा के लिए आवश्यक कर्तव्य।

'ज्यैष्ठ्यं, श्रैष्ठ्यं और आधिपत्यं' इन वैदिक शब्दों का परस्पर संबंध इस प्रकार का है। उनका क्रमसे " काम, अर्थ और धर्म " नाम के तीन पुरुषार्थों से और " शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रिय " इन तीन वर्णों के कर्तव्यों से संबंध है।

अब बचा ' मोक्ष ' पुरुषार्थ। यदि अपन विचार करें कि यह कैसे सधता है तो दिखाई देगा कि ऋण चुकने से ' मोक्ष ' प्राप्त होता है। सम्पूर्ण ऋण चुकाने पर ही मनुष्य ' अनृणी ' होता है और जब किसी का भी ऋण चुकाना बाकी नहीं रहता तभी उसे पूर्ण स्वतन्त्र या मुक्त समझना चाहिए। पहले के तीन वर्ण यह कहते रहते हैं कि 'मुझे चाहिए'। कोई धन मांगता है, कोई अधिकार मांगता है, कुछ न कुछ मांगता जरूर है। पूर्णतया उपकारों को वापिस करके विरक्त होकर अनृणी होने का भाव जिसमें अधिक होगा वही मोक्ष का अधिकारी होगा इसका अधिकार सबपर है। सभी लोग इसका आदर करते हैं। उसके इस आदर की इच्छा न करने पर भी लोग उसका आदर करते हैं। इसे जो यह सार्वभौम अधिकार प्राप्त होता है इसका कारण है उसका त्याग, उसकी विरक्ति, और उसका सदाचार।

यहां पर सदाचार की एकही परिभाषा देना पर्याप्त होगा। वह परिभाषा इस प्रकार है कि ' जो आचार सबके करने से सब का हित होता है वह सदाचार है और जिस आचार के करने से सबको कष्ट होता है वह सदाचार नहीं है।' शुद्धता, संतोष, अहिंसा आदि सदाचार हैं क्यों कि उनका पालन सब लोग करने लगें तो सभी को अधिकाधिक सुख होता जावेगा। परन्तु चौर्य, हिंसा, अशुचिता आदि अनाचार हैं। कारण यही है कि बहुत लोक इन्हे करने लगें तो समाज में भयंकर अस्वस्थता फैलेगी।

ऊपर बतलाया हुआ आनृण्य करनेवाला, उपकारों को अदा करनेवाला, सबसे अधिक सदाचारों का पालन करता है। इसीसे इसे सदाचार-सम्पन्न कहते हैं। अन्य लोग अपने अपने व्यवसाय के अनुसार न्यूनाधिक सदाचारी होते ही हैं। परन्तु विशेष सदाचार का पालन ही इसका धर्म है। इसी लिए इसे अधिक सम्मान प्राप्त होता है।

वर्ण-धर्म।

वर्ण का अर्थ है रंग। सभी लोगों को विदित है कि वर्णों में प्रकाश लेना और प्रकाश परावृत्त करना याने दूसरे को देने का प्रमाण भिन्न भिन्न है। देखिए—

१ सफेद रंग- आया हुआ प्रकाश सब का सब बाहर फेंकता है, प्रकाश का पूर्ण परावर्तन करता है, अपने पास कुछ भी नहीं रखता। जितना प्राप्त होगा दूसरों को दे डालता है।

२ लाल रंग- आये हुए प्रकाश में से थोडासा अपने पास रखता है और बहुत कुछ परावृत्त करता है अर्थात् बहुत चुका देता है।

३ पीतवर्ण— आये हुए प्रकाश में से बहुत कुछ अपने पास रख लेता है और थोडा परावृत्त करता है।

४ नीलवर्ण- बहुतसा प्रकाश स्वयं लेता है और बहुत थोडा बाहर छोडता है।

५ कृष्णवर्ण- जितना प्रकाश आवेगा सभी हडप कर जाता है। बाहर बिलकुल नहीं छोडता।

गुणों का भेद वर्णोंद्वारा बतलाना हो तो इस प्रकार बतलाया जावेगा कि सफेद वर्ण अपने पास जो कुछ आवेगा उसे लौटाकर पूर्ण विरक्त वृत्ति से रहनेवाला है और कृष्णवर्ण आया हुआ प्रकाश निगलजानेवाला है। बीच के वर्ण बीच की सीढियों पर हैं। पूर्ण स्वार्थ और पूर्ण परोपकार इनके बीचमें पांच सीढियां ये वर्ण दिखलाते हैं। एक आचार अनाचार देखता ही नहीं और दूसरा उसीके संबंध में विचार और आचार करता है। इन सब बातों का विचार वर्णों से दिखलाना हो तो वह इन चार वर्णों से दिखलाया जाता है। अतएव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के क्रम से सफेद, लाल, पीला और नीला या काला इस प्रकार जो वर्ण बतलाए गए हैं, वे केवल शरीर के बाहरी वर्ण का बोध नहीं करते, उनका संबंध उपर्युक्त व्यवहार से है। इस बात को सदैव ध्यान में धरना चाहिए। तात्पर्यार्थ यही है कि एक का बर्ताव पूर्ण त्याग का होवे और दूसरे का बर्ताव वैसा न हो तो चल सकता है। सम्मान बढते ही त्याग की परमावधि करने का उत्तरदायित्व भी आगया। तब निश्चित होगा कि ऊपर चढने से पतन का भय भी बढा है।

उमर के लिहाज से संमान, पैसे के लिहाज से कीर्ति, बलसे शासनाधिकार और विरक्ति से मोक्ष प्राप्त होता है। इसका तत्त्व तथा उसका वर्ण-धर्म से संबंध उक्त विवेचन से विदित होगा।

कर्म–भेद ।

कर्मशक्ति की भिन्नता से भी मनुष्य में अनेक भेद हो जाते हैं। कोई भी कार्य क्यों न करना हो उसे फिकर से करना पडता है। इस फिकर के गुण की गणना प्रथम करने योग्य है। कई लोग ऐसे होते हैं कि आरम्भ में तो वे फिकर एवं चिंतासे कार्य करते हैं परंतु सदैव नहीं करते। थोडा समय बीतनेपर उसे वैसा ही छोड देते हैं। यह लगातार कार्य करते रहने का गुण यदि कार्यचिंता का साथी न हो तो कार्य में यश प्राप्त होना कठीन होता है। कई लोग कार्यचिन्ता रखते हैं, लगातार कार्य करते रहते हैं परन्तु उसे बुद्धिपूर्वक नहीं करते। इसलिए सफलता प्राप्त नहीं कर पाते।

इतना सब करने पर भी केवल तत्त्व के लिए जो आत्मसमर्पण करता है उसी की योग्यता सर्वश्रेष्ठ है। वही यशका सच्चा हकदार होता है। अर्थात् कुछ कार्य करना है उसे फिकर से,सदैव और बुद्धिपूर्वक करना चाहिए साथ ही तत्त्व के लिए आत्मसर्वस्व का त्याग करने को तत्पर रहना चाहिए। तभी मनुष्य यश प्राप्त करेगा। कोई मजदूरी के लिए कार्य करते हैं, कोई धन पाने के लिए करते हैं और कोई अधिकार-वृद्धि के लिए कार्य करते हैं। परंतु जो विरक्ति से तत्त्व के लिए पुरुषार्थ करता है वही श्रेष्ठ है। कर्म करने की इस पद्धतिके विचार से भी मनुष्यों के चार भेद होते हैं।

व्यवस्था ।

यह तो निःसंदेह बात है कि संसार की संपूर्ण घटनाओं का व्यवस्थापक ईश्वर है। वह सब के शुभ अशुभ कर्मों को जानता है। पूर्व कर्मों के अनुसार वह लोगोंको विविध जातियोंमें जन्म देता है। जन्म के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को निश्चित कर्तव्य करना आवश्यक होता है। इसी को धर्म कहते हैं। इस धर्म-भेद का वर्णन तत्त्व की दृष्टि से अबतक किया गया। जन्मसे प्राप्त कर्तव्य कर्म करने से मनुष्य की योग्यता बढती है। यही अपना कर्तव्य फिकरसे, सदैव, बुद्धिपूर्वक एवं तत्त्व के लिए करना चहिए। तभी मनुष्य यशस्वी होगा।

स्मृति-शास्त्रों ने जातिव्यवस्था और वर्णव्यवस्था जन्म से मान ली है। उसका तत्त्व इस प्रकारका है। इस प्रकार जातिव्यवस्था मानने से तथा जाति के अनुसार कर्मों का बंटवारा हो जाने से पहला लाभ यह होता है कि स्पर्धा के बढनेसे होनेवाली हानि नहीं होती। क्यों कि एक जाति का मनुष्य दूसरी जाती का धंधा न करेगा। इससे स्पर्धा बढना ही असम्भव है। स्पर्धा नुकसान की जड है। दो व्यापारी स्पर्धा करने लगते हैं तब वस्तुकी कीमत घट जाती है। और दर घट जाने से नुकसान अवश्य

होगा। हम लोगोंमें जाति-व्यवस्था होने के कारण तथा जन्मपर कर्म निर्भर होने के कारण कोई भी किसी से स्पर्धा नहीं कर सकता।

जातिव्यवस्था से दूसरा लाभ यह है कि प्रत्येक जाति के मनुष्य का घर ही उसके बालकों को 'धन्धे की शिक्षा की पाठशाला' होती है। बालक छुटपन से हथियारों के साथ खेलता है और छुटपन ही से पिता का धन्धा सीख लेता है। हजारों रुपये खर्च करने पर भी धन्धे की शिक्षा के ऐसे स्कूल कदापि नहीं खोले जा सकते। ये पाठशालाएं जातिसंस्था के कारण बिनखर्च के चलीं हैं। बढई का बालक १० या १५ वर्ष का होते ही रुपाया, आठ आना रोज सहज ही प्राप्त करलेता है। वही बालक यदि पाठशाला में जाने लगे तो कमाई करने में असमर्थ हो जाता है। घरेलू आनुवंशिक धन्धों के कारण इस शिक्षा के प्रबन्ध का महान् लाभ होता है। आनुवंशिक संस्कार यदि नष्ट कर दिये जावें तो राष्ट्र की इतनी भारी हानि होगी कि वह अन्य किसी बात से पूरी न की जा सकेगी।

जातिके अनुसार धन्धे होनेसे तीसरा लाभ है ग्राहक निश्चित रहना। कार्यकर्ता पुरुष की मृत्यु हो जाने पर भी स्त्रियां और बच्चे असहाय नहीं होते। अब नौकरों का हाल देखिए। वह पिता जो नौकर है यदि मर जावे तो उसके सभी आश्रित असहाय हो जाते हैं। क्यों कि पुत्र को पिता की नौकरी मिलना असम्भव हो जाता है। इसलिए नौकरी के पेशेवालोंके कुटुम्ब उनके मरने से मिट्टी में मिल जाते हैं। परन्तु जातिका धन्धा करनेवाले कुटुम्बों में पुत्र पिता का धन्धा तुर्त ही उठा लेते हैं इसलिए वे उध्वस्त नहीं होते।

जातिगत धन्धा और धन्धे की जाति होने के कारण और उनकी रहनसहन धन्धे के अनुकूल होने के कारण, उनकी आवश्यकताएं और प्रकार निश्चित होते हैं। जब अपन लोगों को विदित हो जाता है कि अमुक जाति का मनुष्य अपने घर आया है, तब तुर्त ही समझ में आ जाता है कि उसको क्या चाहिए और उसके अनुकूल प्रबंध भी कर दिया जाता है। इस व्यवस्था में ऐसे अनेक लाभ हैं। अब तक वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था में तत्त्व क्या है सो देखा। अब आचार की दृष्टिसे इसका विचार करना है।

२ आचार–विभाग।

पहले दिखला चुके हैं कि 'ज्यैष्ठ्य, श्रैष्ठ्य, आधिपत्य, राज्य, महाराज्य, स्वराज्य, वैराज्य' आदि का अधिकार क्या है। धर्ममें वर्ज्य, धर्म्य, विहित, निषिद्ध आदि अनेक कर्म बतलाए गए हैं। उनके पूर्ण पालन से या अंशतः पालन से भी मनुष्य के कुछ वर्ग बनते हैं। इनका विचार इस आचारविभाग में करना आवश्यक है। इस विषय के आचारसूत्र दो हैं-

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
शौचसंतोषतपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानि नियमाः॥
योगदर्शन

इसमें यम-नियमों की पांच जोडियां बतलाई गई हैं। उनके पालन या न पालन से मनुष्य के छः विभाग होते हैं। इसका विचार करना आचारविभाग में शामिल है। इससे अब इसी को देखें —

उक्त दो सूत्र में दस गुण बतलाए गए हैं। उनकी पांच जोडियां इस प्रकार बनती हैं— "(१) ईश्वरप्रणिधान तथा अपरिग्रह, (२) संतोष और अहिंसा, (३) तप और सत्य, (४) स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य, (५) शौच और अस्तेय।" इन पांच जोडियों का यथायोग्य पालन करने या न करने से मनुष्य में अनेक भेद होते हैं।

महत्त्व की बात

एक महत्त्व की बात ध्यान रखना चाहिए कि शास्त्रकारों की यह समझ नहीं है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण एकसे दूसरा अधिक पतित है। यह मान लेना कि इन वर्णों में एक से दूसरा अधिक पतित है, भारी भूल है। ब्राह्मण पतित होनेसे क्षत्रिय नहीं बनता, क्षत्रिय पतित होने से वैश्य नहीं बनता और वैश्य पतित होने से शूद्र नहीं बनता। इसके विरुद्ध वैश्य श्रेष्ठ हो जाने से क्षत्रिय नहीं बनता, या क्षत्रिय श्रेष्ठ हो जाने से ब्राह्मण भी नहीं बनता। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यदि

अपने अपने कर्तव्य उत्तम प्रकार से करने लगें और वे श्रेष्ठ बनेभी तो अपने अपने वर्ण में ही श्रेष्ठता पावेंगे या आध्यात्मिक गुणों का आधिक्य संपादन कर 'संत महंत' बनेंगे। चारों वर्ण अपने अपने जन्म से प्राप्त कर्तव्य उत्तमता से करके यदि अपनी अपनी आध्यात्मिक उन्नति करने लगें तो उनकी 'संत, महंत' इस एक ही दर्जे में उन्नति होती है। इसके माइने जिस प्रकार ब्राह्मण अपना ब्राह्मण्य का धर्म पालन करते करते श्रेष्ठ बनते बनते 'संत' बन जाते हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अतिशूद्र भी अपने अपने कर्तव्य योग्य रीतिसे करते करते अपनी आध्यात्मिक उन्नति करके 'संत-महंतों की श्रेणी में' अपना प्रवेश करा ले सकते हैं। वहां किसी को मनाई नहीं है। यह हुई उत्कर्ष की बात। इसी प्रकार अपकर्ष या अवनति कोई कर ले तो चारों वर्ण के लोग एकही से पतित हो अंत्यज बनते हैं। चारों वर्णों के पतित लोग इस इस वर्ग में आते हैं। जिस प्रकार चारों वर्णों को उच्च होने का मार्ग खुला है, वैसे ही उन्हे पतित होने का मार्ग भी खुला है। जैसे संतमहंतों में सब जाति के लोग पाए जाते हैं वैसे ही अंत्यजों में भी सब जाति के लोग दिखाई देते हैं। अंत्यजों में चारों वर्णों के लोगों के कौटुम्बिक नाम धारण करने-वाले लोग हैं। उन्हे देखने से पता चलेगा कि कौन-सा अत्यंज कुल किस मूल वर्ण से पतित हुए हैं।

जिन्हे उच्च होना सम्भव नहीं है या जो पतन होने के हीन कर्म नहीं करते, चातुर्वर्ण्य में अपनी अपनी जन्मप्राप्त जाति में रहें और जन्मप्राप्त कर्म करें। यह व्यवस्था है। उन्नति का मार्ग सबके लिए समानता से खुला है। आध्यात्मिक उन्नति कर लेने के लिए किसी को भी प्रतिबंध या रुकावट नहीं है।

इस प्रकार विचार करनेसे हमे आर्यों के तीन ही वर्ग दिखाई देंगे। निम्न लिखित कोष्टक में उनका स्वरूप देखिए-

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण मध्य अवस्था में हैं। यदि उच्च हुए तो वे ही सन्त महन्त बनेंगे, यदि अवनत या पतित हुए तो वे ही अन्त्यज होंगे। दोनों ओर न गए तो वे जहां हैं वहीं रहेंगे।
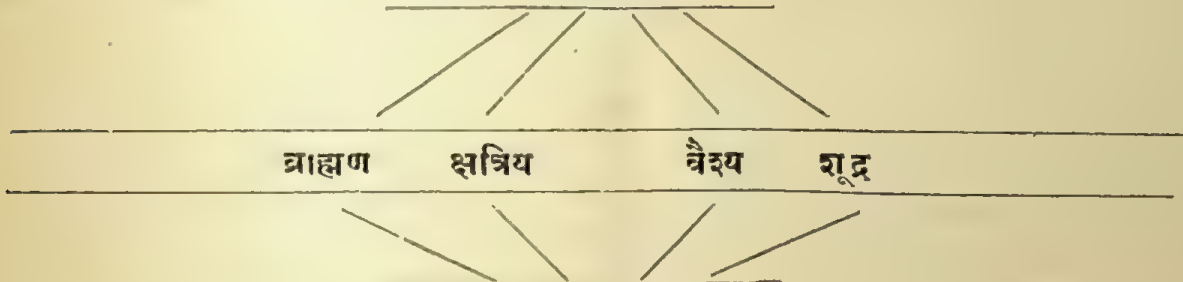
मनुष्य को वास्तव में जो उन्नति कर लेना है वह आध्यात्मिक उन्नति है। इस उन्नति को प्राप्त करने की स्वतंत्रता अपने धर्म में सबको है। जो लोग समझते हैं कि अपने धर्ममें प्रतिबंध है वे इस वस्तु-स्थिति को देखें।

अब दिखलाना है कि पहले कहे हुए दस गुणों से मनुष्यों के इन तीन या छः विभागों का संबंध किस प्रकार है।

(१) सन्तमहन्त, साधु, महात्मा, सत्पुरुष दसों गुणोंका पालन करते हैं। वे इन गुणों को आत्मसात् कर लेते हैं। " [ईश्वरप्रणिधान, अपरिग्रह+संतोष, अहिंसा+तप,सत्य+स्वाध्याय,और ब्रह्मचर्य+शुद्धता और आस्तेय] " इन सब गुणों को जो आत्मसात् किए हुए होते हैं वे ही अपने में स्थित मनुष्यता का विकास करके सन्तमहन्त बनते हैं। उन्हें पूर्ण मनुष्य कह सकते हैं।

(२) ब्राह्मण= [सन्त—(ईश्वरप्रविधान+ अपरिग्रह) सन्तों से ईश्वरप्रणिधान और अपरि-ग्रह इन दो गुणों को कम करनेसे जो कुछ रहता है वह ब्राह्मण के बराबर है। ब्राह्मण प्रपंच करते है इसलिए वे निष्कांचन दशा में नहीं रह सकते

इसी लिए अपरिग्रह जैसा संत पालन करते हैं वैसा ब्राह्मणों को पालन करना असम्भव है। इसी प्रकार साधुसन्त सर्वसंग-परित्याग के कारण जैसे ईश्वर-प्रणिधान कर सकते हैं वैसे करना प्रापंचिक ब्राह्मणों के लिए असंभव है। इतर जनों की अपेक्षा वे कुछ अधिक गुणों का पालन करेंगे परन्तु सन्तों की बराबरी से वे गुणों का पालन नहीं कर सकते। सभी लोग इस बात को समझ सकते हैं। इन दो गुणों को छोड अन्य आठ गुण (सन्तोष व अहिंसा+तप और सत्य+स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य+शुद्धता तथा आस्तेय) ब्राह्मणों के लिए आवश्यक हैं। यदि वे इन गुणों का पालन न करेंगे तो उनकी योग्यता न बढेगी। इन गुणों का पालन करते हुए बचे हुए दो गुणों को अपनाने की महत्त्वाकांक्षा रखना ब्राह्मणों का कर्तव्य है।

(३) क्षत्रिय= [ब्राह्मण- (संतोष+अहिंसा)]। ब्राह्मणों के लिए संतोष और अहिंसा अत्यावश्यक है। परन्तु क्षत्रियों की वृत्ति और उनका जन्मप्राप्त कर्म ही युद्ध याने हिंसा का कर्म है और राज्यवृद्धि असंतोष से ही संभव है। इसीलिए संतोष और अहिंसा का पालन क्षत्रियों के लिए असंभव है। ईश्वरप्रणिधान और अपरिग्रह भी उनके लिए असंभव है। क्योंकि धन, अधिकार आदि इन्हीं के सुपुर्द होने से वे अपरिग्रह अर्थात् अकिंचन वृत्ति से रह ही नहीं सकते। राज्यप्रबंध के कार्यबाहुल्य से ईश्वरप्रणिधान भी वे अधिक नहीं कर सकते। बचे हुए छः गुणों का पालन उसे कर्तव्य समझ करना ही चाहिए। वे छः गुण इस प्रकार हैं (तप और सत्य+स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य+शुद्धता और अस्तेय)। यदि वे इन गुणों का पालन न करेंगे तो उनकी उन्नति न हो सकेगी। शीतोष्ण सहने की तपस्या यदि क्षत्रिय से नहीं बनेगी तो युद्धादि कर्म उसके लिए असंभव हो जावेंगे। इसी प्रकार अन्य बातें जाननी होंगीं।

(४) वैश्य=[क्षत्रिय-(तप+सत्य)]। क्षत्रिय जिस प्रकार शीतोष्ण सह सकता है, वैसे बैठे बैठे काम करनेवाला सेठजी न कर सकेगा। व्यापारधंदामें सत्य भी दूर ही रहेगा। तराजू का कांटा अपनी ओर ही झुका रहेगा। यह स्पष्ट ही है। इसी से उसके धंधे के कारण इन गुणों का पूर्ण पालन उसके लिए असंभव है। तब भी उसे अन्य चार गुणों का कर्तव्य समझकर पालन करना आवश्यक है। वे इस प्रकार है (स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य+शुद्धता और अस्तेय)। इन गुणों का पालन न करने से उसकी उन्नति न होगी।

(५) शूद्र= [वैश्य- (स्वाध्याय+ब्रह्मचार्य)] शूद्र का आचरण ऐसा है कि उससे स्वाध्याय बनेगा नहीं और ब्रह्मचर्य-पालन सधेगा नहीं। तब भी उसे शुद्धता और आस्तेय का पालन करना ही होगा। इसका पालन न करने से उसकी उन्नति न होगी। शास्त्रकारोंने शूद्र के दो वर्ग किए हैं। एक सच्छूद्र जो कारीगरी से जीवन निर्वाह करते हैं और नौकरी नहीं करते; और दूसरे असच्छूद्र जो दूसरों की नौकरी किया करते हैं। यदि इन में शुद्धता और अस्तेय न होगा तो वे सेवाधर्म के लिए भी अयोग्य सिद्ध होंगे। अतएव इनमें इन दो गुणों की आवश्यकता है।

(६) अन्त्यज=ये लोग सब वर्णों में से पतित हुए लोग हैं। ये इस प्रकार होते हैं [शूद्र-(शुद्धता+अस्तेय)] स्वच्छता और अस्वच्छता का इन्हे विचार ही नहीं रहता। चोरी आदि की ओर इनकी प्रवृत्ति रहती है। क्योंकि आजकल भी इसमें से कई लोगों का यह व्यवसाय ही माना जाता है।

इस प्रकार इन छः भेदों के गुणकर्म हैं। इनमें से पहला और अन्त का छोड दें तो बीच के चारवर्ण इसमें आते हैं। गुणकर्मों का भेद रहते हुए भी राष्ट्रीय दृष्टिसे उनकी समान योग्यता है। कर्म भेद के कारण यद्यपि वे कुछ गुणों का पालन नहीं कर सकते तब भी यह न भूलना चाहिए कि राष्ट्र को सभी की आवश्यकता है।

सन्त अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं और पतित उनकी गुनहगारी के कारण राष्ट्र को अप्रिय हो जाते हैं। मांग, रामोशी आदि लोगों को आज भी(Criminal tribes) गुन्हा करनेवाली जातियां कहते हैं। और उनपर पुलीस की अधिक देखरेख रहती है। तब भी इनमें से कुछ लोगों को यदि अनुताप

हो जावे तो वेभी आध्यात्मिक उन्नति कर सन्तमहन्तों में जा सकते हैं उनके लिए यह रास्ता बंद नहीं है जिससे कि मनुष्यता का विकास होता है।

बीचमें स्थिर चार वर्णों में व्यवसायभिन्नता के कारण अनेक जातियां हुई हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, बानी, तेली, माली, दर्जी, कुम्हार, आदि। ये सब व्यवसाय हैं। वे व्यवसाय जन्म से ही करने लगें तो स्वाभाविक रीतिसे अच्छी तरह कर सकते हैं। आनुवंशिक संस्कारों से अनेक लाभ हैं। पिता का इकट्ठा किया हुआ साहित्य लडके के काम में आता है, छुटपनही से धंधे की शिक्षा का प्रबंध घरमें ही हो जाता है, कार्यकर्ता पुरुष की मृत्यु हो जाने पर भी कुटुम्ब के तीन तेरह नहीं होते, स्पर्धा न होने से प्रत्येक संतुष्ट रहता है और सर्वत्र शिस्त तथा व्यवस्था रहती है। सबकी वृत्ति निश्चित और निडर रहती है। हरएक को दूसरे को जरूरत होने से और सब परस्पर अवलंबित होने से सब लोग एकता से रहकर इतरों से स्पर्धा न कर जीवन निवाह सकते हैं। यदि आनुवंशिक संस्कार लुप्त हो जावें तो स्पर्धा बढेगी और बेकारी बढकर सभी की अवस्था शोचनीय होगी!

व्यापक चातुर्वर्ण्य।

आगे चलकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार नाम चार प्रमाण बतलानेवाले बन गए। इससे मूलाक्षरों से ग्रहोंतक प्रत्येक पदार्थ की उत्तमता, मध्यमता आदि अवस्थाएं बतलाने में इन शब्दों का उपयोग होने लगा। मूलाक्षरों में जो स्वर हैं वे ब्राह्मण हैं और अन्य वर्णों के दूसरे अक्षर हैं। इसी प्रकार घर, झाड, पशु, पक्षी, खनिज पदार्थ, सूर्यादि ग्रह इनमें भी गुणकर्मभिन्नता के कारण चातुर्वर्ण्य है। यह बात शिल्प-संहिता आदि ग्रंथों में स्पष्ट बतलाई गई है और यह बदली नहीं जा सकती।

प्रत्येक में दो भेद।

इन चार वर्णों में से हर एक के दो भेद हैं। (१) सन्त-महन्तों में एक बिलकुल निःसंग वृत्ति से रहनेवाले उदासी और दूसरे अंतर्वृत्ति से विरक्त पर बाहर से साधारण लोगों के समान दिखनेवाले। (२) ब्राह्मणों में एक वे जो दूसरों का यजन करके पण्डिताई की वृत्ति से रहनेवाले हैं और दूसरे शास्त्री, पण्डित या गृहस्थ। (३) क्षत्रियों में एक प्रत्यक्ष राज्य शासन करनेवाले और दूसरे अप्रत्यक्ष सहायता करनेवाले। (४) वैश्यों में एक साहूकारी करनेवाले और दूसरे व्यापार करनेवाले। (५) शूद्रों में एक सच्छूद्र कारागिरी का धंधा करनेवाले और दूसरे सेवावृत्ति से रहनेवाले। (६) अन्त्यजों में एक अपना अपना धंधा करनेवाले और दूसरे गुन्हेगार जातियों के नामसे जो प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार प्रत्येक में दो भेद हैं। यह कह देना आवश्यक है कि अंत्यजों में धंधे के कारण पतित हुए, आचरण से पतित हुए, हिंसा के अतिरेक से पतित हुए, अभक्ष्य-भक्षण से पतित हुए, प्रतिलोमविवाह से भ्रष्ट हुए और इसी प्रकार के अनेक कारणों से बहिष्कृत हुए लोग हैं।

पितृसावर्ण्य और मातृसावर्ण्य।

बहुत प्राचीन कालमें माता किसी भी वर्ण की या जाति की होवे वीर्यप्राधान्य के कारण बाप की जाति या वर्ण संतति को प्राप्त होता था। यदि व्यभिचार न होगा तभी पितृसावर्ण्य का संबंध पहिचानना संभव होगा। आगे चलकर इस संबंध की अनेक अडचने उपस्थित हुई। इस लिए फिर माता के वर्ण से जाति या वर्ण निश्चित करना सर्वमान्य हुआ। क्यों कि यह मालूम कर लिया जा सकता है कि अमुक माता है। इस निश्चय के कारण माता के वर्ण या जाति की संतति मानने की प्रथा सर्वसंमत हुई।

जन्म से जाति या वर्ण निश्चित करना ही सरल, समंजसताका और आनुवंशिक संस्कारोंके नियमों के अनुकूल है। यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि जाति का मिश्रण न होने दिया जावे। संकर होने से शुद्ध संस्कार रहना कदापि संभव नहीं होता।

इस प्रकार आचार भाग का विचार हुआ और इससे चातुर्वर्ण्य की मर्यादा भी अपन देख चुके। अब व्यवहार-भाग का विचार करेंगे।

३ व्यवहार-भाग।

तत्त्वविचार की दृष्टि से वर्णव्यवस्था का तत्त्व क्या है और आचार की दृष्टिसे वही तत्त्व आचार में किस प्रकार लाया जाता है इन बातों का विचार हुआ। अब देखें इसके व्यवहार में क्या लाभ होता है।

पहले मनुष्य के आचरण में ' धर्म ' केंद्रीभूत था। उसकी जगह आज ' अर्थ ' माने पैसा केन्द्र बना है। इसके कारण मनुष्य के व्यवहार में भारी परिवर्तन हो गया है। सर्व प्रथम यही बात ध्यान में रखनी चाहिए। तब भी आज भी नियम और व्यवस्था की अत्यंत आवश्यकता है। उसे छोड देने से अपने समाज का आधार ही नष्ट हो जावेगा।

प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ पूर्व कर्म रहता ही है। उस कर्म के अनुसार उचित कुल में सर्वज्ञ ईश्वर उसे जन्म देता है। इसके आगे सज्ञान होने पर मनुष्य के पुरुषार्थ का आरंभ होता है। जन्म से प्राप्त कर्तव्य उत्तम रीतिसे पूरा करने की यदि महत्त्वाकांक्षा रखी जाय, तो प्रत्येक जाति के कर्मक्षेत्र में काफी स्थान है। बसोर, बढई, लुहार आदि जातियों को देखिए इनमें से प्रत्येक को अपना कार्य-क्षेत्र बढाने के लिए गुंजाइश है। ये लोग अपने कार्य मन चाहा बढा सकते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण को भी अपना कार्य जन्मसे जितना निश्चित है उससे बहुत अधिक बढाने को स्थान है। कोई इसमें प्रतिबंध कर नहीं सकता। प्रत्येक जातिमें कम और अधिक बुद्धि के लोग रहते हैं। अधिक बुद्धि के लोगों को चाहिए कि वे अपने जन्मसिद्ध कार्य का क्षेत्र खूब बढावें और उसमें कम बुद्धि के स्वजातीय लोगों को काफी कार्य दें। इस प्रकार उन्नति करते रहने से मनमानी उन्नति हो सकती है। साथ ही अस्वाभाविक स्पर्धा न बढकर सभी की भलाई भी हो सकती है।

इस प्रकार अपनी अपनी उन्नति के लिए सदैव, फिकर से, मन-प्राण से, बुद्धिपूर्वक अपना ध्येय दृष्टि के सन्मुख रख, निष्ठा से योग्य नियमपालन के साथ प्रयत्न करना आवश्यक है। तभी अपनी उन्नति की जा सकती है। आज भी अपनी उन्नति के प्रयत्न में किसी को भी स्वधर्मियों की ओर से यत्किंचित् भी बाधा नहीं हुई। बाहर के कारणों से यदि बाधा होती होगी तो उसमें स्वधर्मी लोगों का कोई दोष नहीं है।

ध्येय।

प्रत्येक मनुष्य को यह ध्येय अपने सन्मुख रखना चाहिए कि अपनी जाति को जो कर्तव्य प्राप्त हुआ है उस कर्तव्यकर्म में मैं परम सीमा तक उन्नति करूंगा। मन के संकल्प इसी दिशा की ओर दृढ करने चाहिए। तदनुसार प्रयत्न करने चाहिए। तब अन्त में अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होगी। गांव में जितनी जातियां होती हैं, उनके कर्म भिन्न भिन्न होते हैं और वे सब में समानता से बंटे रहते हैं। साथही उनके कामों की सब को समान गरज होती है। इसीलिए इस ग्रामव्यवस्था का कोई भी मनुष्य बेकार नहीं रहता। वह परस्पर ऐसा बंधा होता है कि सब मिलकर एक सजीव समाज बनता है। जाति का प्रत्येक धंधा इतना बडा हो सकता है कि उसमें कितनी भी बडी बुद्धि के मनुष्य को अपना कार्य-क्षेत्र मनचाहा बढाने की गुंजाइश होती है। इस प्रकार विचार करने से विदित होगा कि मनुष्य अपनी उन्नति धंधों का संकर न करते हुए भी कर सकता है।

प्रत्येक जाति के पंच होते हैं, जाति के नियम होते हैं, जाति के धर्म होते हैं और जाति के कार्य भी निश्चित होते हैं। उनकी आमदनी, उनका खर्च, उनकी आकांक्षाएं और परस्परावलम्बन के कारण वह जाति किसी भी आपत्ति का सामना इस प्रकार कर सकती है जैसे उसमें जीवितशक्ति प्रबल वेग से दौड रही हो।

समाज-संस्था।

सब जातियां मिलकर एक बडी जीवित समाज-संस्था बनी है। इस समाजसंस्था के सदस्य प्रत्येक जाति संघशः और प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिशः है। यह कल्पना धार्मिक नहीं है कि एक जाति बडी है दूसर

छोटी और एक उच्च है दूसरी नीच। यह कल्पना अधार्मिक है। ग्रामसंस्था में सभी जाति के कामों की समान आवश्यकता है। इसीसे ग्रामसंस्था में सभी का अधिकार एकही सा था और अब भी है। ये जातियां एक के नीचे एक नहीं हैं और न ये वर्ण ही एक के नीचे एक हैं। ये वर्ण एक सीधी रेखा में हैं। सब को चाहिए कि इस बात को पहिचाने और अपनी वर्ण-व्यवस्था का मर्म जान कर तथा अपनी जातिव्यवस्था का कर्म समझ कर उसके अनुकूल अपनी उन्नति कर लेवे। ऐसा करनेसे व्यक्ति का, जाति का और राष्ट्र का भी कल्याण होगा।

बौद्धिक व्यायामकी आवश्यकता।

(ले० श्री० वासुदेव सिद्धनाथ कुलकर्णी बी. ए.)

(गतांकसे आगे)

पराशरस्मृति में कहा है कि यद्यपि चारों वेद मंत्ररूप हैं उन सब में गायत्री मंत्र उत्तम है। इसका मतलब यह नहीं कि अन्य मंत्र की महत्ता कम है। परंतु अन्यान्य मंत्रों में कोई खास खास सिद्धियें प्राप्त करने के साधन हैं और इस मंत्र में सब क्रियाओं का मूल जो विचार उसे चालना देनेवाली बुद्धि मांगी गई है। कारण 'यदि बुद्धि उत्तम हो, तो विचार भी उत्तम होंगे' और तब क्रिया अवश्यही उत्तम होगी। यदि कार्य उत्तमता से होवे तो सिद्धि या सफलता में कोई संदेह ही नहीं रहता।

जब यह निश्चय हुआ कि गायत्री मंत्र बौद्धिक व्यायाम है, तब दो, एक प्रश्न उठते हैं। एक प्रश्न यह है कि इसमें सविता देवता का ही ध्यान क्यों कहा गया है? दूसरे यह व्यायाम कब और कहां लेना चाहिए। तीसरे कितनी देर तक गायत्री मंत्र कहते रहने से परिणाम दिखने लगेगा। इन बातों का विचार क्रम से होगा। प्रथम यह देखिए गायत्री मंत्र का स्थान संध्यामें है। यह जानने के लिए कि अपने धर्म के ब्रह्मा, विष्णु, गणपति, दुर्गा आदि देवताओं को छोड सविता को ही इस मंत्र में महत्व क्यों दिया गया है? यह मालूम कर लेना होगा कि संध्याका, जिसमें गायत्री मंत्र है, महत्व क्या है ?

विकास प्रत्येक वस्तु का धर्म है। मनुष्य में भी वृद्धि के लिए आवश्यक कई गुणधर्म हैं। इन गुणधर्मों के होने ही से मनुष्यकी उन्नति होती है। प्राणिमात्र को जिस जीवनशक्ति की आवश्यकता है उस जीवनशक्ति को वह पंचमहा-भूतों से खींच लेता है और अपनी बाढ पूरी कर लेता है। भौतिक शास्त्रविदों ने पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश में स्थित जिन द्रव्यों का निश्चय कर लिया है उनके सिवा पंच महाभूतों में एक और शक्ति है और वह जीवनशक्ति है। यह अब सिद्ध हो चुका है कि पंच महाभूतों में जीवन-शक्ति नाम की कोई शक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति अनजाने इस जीवनशक्ति का उपयोग करता है। परंतु पंच महाभूतों से अधिक से अधिक मात्रा में जीवन शक्ति प्राप्त की जाती है। गुप्तमार्गी (occultists) लोग बतलाते हैं कि इस जीवन-शक्ति का अधिक से अधिक मात्रा में ग्रहण कर तथा उसका शरीर में संचय कर अपनी उन्नति साधने के मार्ग कौन हैं। गुप्तमार्गी जो मार्ग बतलाते हैं वे वस्तुतः पुरातन योगपद्धति के आधार पर रचे गए हैं और सुलभातिसुलभ करके बतलाए जाते हैं। परंतु हठयोग अत्यंत कठिन है और गुप्तमार्गी लोगों के मार्ग बहुत लम्बे हैं। अतएव उन दोनों को छोड दीजिए। यदि ऐसे मार्ग की आवश्यकता हो जिस में उक्त दोनों मार्गों के सिद्धान्त मौजूद हों तो संध्या यह एक ही मार्ग है। संध्या में केवल उक्त दोनों मार्गों के सिद्धान्त ही नहीं हैं परंतु वह अपने नित्य कर्ममें रख दिये गये हैं।

संध्या योग की सर्वप्रथम सुलभ और सर्वांगसुंदर सीढी है। क्यों कि संध्या में बतलाया है कि

पंच महाभूतों से जीवनशक्ति क्रमसे अधिक से अधिक मात्रा में किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए और वैयक्तिक, शारीरिक और मानसिक उन्नति कैसे प्राप्त करना चाहिए । अब अपन देखेंगे कि संध्या व्यक्तिगत, शारीरिक एवं मानसिक उन्नति का उत्कृष्ट साधन किस प्रकार है ।

प्रथम शौच, मुखमार्जन, आदि आचारों में मिट्टी का उपयोग होता है । अर्थात् इन बातों में पृथ्वी तत्त्व का उपयोग बतलाया गया है । इसी प्रकार पानी भी लगता है । साथ ही संध्या में समय पर आचमन और मार्जन आते हैं । तब इन बातों में आप् तत्त्व का उपयोग बतलाथा गया है । संध्या में बीच बीच में प्राणायाम करना पडता है । प्राणायाम का महत्त्व किसी से छिपा नहीं है । वायु तत्त्व से शरीर को आवश्यक प्राणसंचय आप ही आप श्वासोच्छ्वास से होता है । पर प्राणायाम में बतलाया गया है कि श्वसनक्रिया को वश में कर वायु से अधिक मात्रा में प्राण संचय कैसे करना चाहिए ।

अब केवल दो तत्त्व बचे । तेज और आकाश । तेज जैसे अग्नि में है वैसे वह सूर्य में भी है। संध्या में अग्नि से प्राणसंचय करने का उपाय नहीं है, उस में सूर्य के तेज से प्राणसंचय करने का मार्ग है। संध्या करने को पवित्र नदी का किनारा वा अन्य किसी जलाशय का किनारा आवश्यक है । तब यह निश्चय ही है कि वहां सूर्य का प्रकाश अधिक होगा । दूसरी बात यह है कि संध्या के लिए जो समय बतलाए गए हैं उन समयोंमें सूर्य के प्रकाश में एक विशेष प्रकार की प्राणशक्ति होती है। और मनुष्य उसको उपयोग में ला सकता है। सूर्य प्राणशक्तिका अत्यंत बडा खजाना ही है । उसके हर एक किरण में प्राणशक्ति होती है । पृथ्वी के सब पदार्थ इस प्राण को खींच लेते हैं और अपनी वाढ करते हैं। जहां सूर्यप्रकाश पहुंचता नहीं वहां कोई भी वनस्पति नहीं होती। इसीसे पता चलता है कि जीवनवृद्धि के लिए सूर्यकिरणों की कैसी भारी आवश्यकता है ?

अब देखेंगे कि आकाश तत्त्व से प्राप्त करने का साधन कैसा है । आकाश तत्त्व में केवल शब्द ही काम करते हैं । इसी लिए गायत्री मंत्र की योजना की गई है। मंत्र में बुद्धि को प्रेरणा अर्थात् गति देने की प्रार्थना है । गति प्राण का लक्षण है। जिस वस्तु में प्राण नहीं वह वस्तु स्तब्ध होती है । जिन मनुष्यों में तेजी,फुर्ती और हलचल नहीं होती उन्हे व्यवहार में हमलोग निर्जीव,निःसत्त्व कहा करते हैं। इसके विपरित जिनमें तेजी, फुर्ती, और हलचल नहीं होती उन्हे सजीव कहते हैं । केवल शरीर में प्राण रहनेसे सजीवत्व नहीं प्राप्त होता। बुद्धिमें प्राण हो, तो मनमें भी प्राण होंगे और इंद्रियों में भी होंगे और तभी मनुष्यको जीवित या सजीव कह सकेंगे।

इस प्रकार संध्या की रचना है। उसमें जो विधि बतलाए गए हैं वे इस प्रकार हैं—शौच अर्थात् अंतःशुद्धि, स्नान, आचमन, मार्जन, प्राणायाम, आसनविधि, भूतशुद्धि, न्यास और ध्यान। साधक को आसन और न्यास की अत्यधिक आवश्यकता होती है । यह बात ध्यानमार्गी लोग भी मानते हैं । ध्यान अंत में आता है क्यों कि आकाश तत्त्व भी अंतिम तत्त्व है ।

अब अपन पहले सिद्धान्त का विचार करेंगे । सविता देवता का ध्यान करने का कारण यह है कि हम लोग वृद्धि के मार्ग का आक्रमण करना चाहते हैं । और सूर्य में वृद्धि का तत्त्व भरा है इसी से उसे '(सव्= बढना, अधिक होना) सविता अर्थात् बढनेवाला ' कहते हैं। क्यों कि उसका तेज बढता ही है । वृद्धि तत्त्व का लक्ष्य करके यदि किसी देवता की उपासना करनी हो तो विष्णु, रुद्र, गणपति के नाम नहीं सुझा सकते। इन देवताओं के नाम भिन्न भिन्न तत्त्वों से रखे गए हैं। वृद्धितत्त्व का कार्य जहां हो वहां केवल सविता ही नजर आता है । अतएव वही देवता ध्यान के लिए योग्य है । क्यों कि यह तो स्पष्ट ही है कि बुद्धि की वृद्धि करनी हो तो बढनेवाली देवता का ही ध्यान करना चाहिए ।

अब कोई कह सकता है कि अग्नि भी बढता है । तब उसका ध्यान क्यों न करें? यह सच है कि अग्नि

बढता है परंतु अग्नि से दूसरे की बाढ नहीं होती। इसके विपरीत अग्नि के तेज से संहार होता है। सूर्य का तेज प्राणिमात्र की वृद्धि करता है। अतएव सूर्य की बराबरी अग्नि नहीं कर सकता। इसीसे सूर्य का ध्यान करना चाहिए।

बुद्धि को चालन देने के लिए सविता का ध्यान करना चाहिए। तेजसे गति प्राप्त होती है और वृद्धि भी होती है। उष्णता से बरफ पिघलता है और फैलाता है। इसीसे

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमही

कहकर आगे कहा है—

धियो यो नः प्रचोदयात्।

इस प्रकार एक बार संध्या की महत्ता विदित हो जावे तो सहजी में समझ जावेंगे कि उसमें गायत्री का स्थान आखीर में क्यों है।

आकाश तत्त्व अंतिम तत्त्व है। यह तत्त्व सर्व तत्त्वों में श्रेष्ठ है। तब यह बात क्रमप्राप्त ही है कि पहले पृथ्वी, आप् आदि तत्त्वों का उपयोग कर लेने के बाद ही अंतिम तत्त्व पर पहुंचना योग्य है। स्थूल से आरंभ कर उन्नति करते सूक्ष्म को पहुंचना ही यथोचित है। आकाश तत्त्व अति सूक्ष्म है। वायु का भास अवश्य होता है। पर आकाश अर्थात् पोलास्थान उसके भी परे है। इसी कारण गायत्री मंत्र संध्या के अंतिम भाग में बतलाया गया है। और इस प्रकार उसे अतीव महत्त्व दिया गया है। इसके पूर्व की क्रियाएं केवल गायत्री के जप की तैयारी मात्र हैं। ऐसी दशा में सब क्रियाएं भर पूरी करना और मंत्र केवल तीन बार या दस बार कहलेना। और वह भी जल्दी जल्दी। इसे क्या ज्ञान कहें?
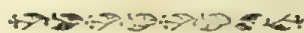
सामूहिक और वैयक्तिक।

आर्यसमाज में इस समय एक विवाद चल रहा है। आर्यसमाज सामूहिक रूपसे मद्यपाननिषेध करने के लिये हलचल करे या न करे। महामना आचार्य रामदेवजीका मत है कि मद्यपाननिषेध करनेके लिये पिकेटिंग, धरना धरना आदि रूपसे आर्यसमाज सामूहिक रूपसे प्रयत्न करे। इस विषयमें आपने एक घोषणापत्र भी प्रसिद्ध किया है। यह घोषणापत्र हमने देखा नहीं और नहीं इस विवादका पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष देखा है, क्योंकि संभवतः यह विवाद ऊर्दू पत्रों द्वारा हुआ होगा। तथापि जो कुछ हमने इस विवाद के विषय में सुना है, उसका विचार करने पर हमारा यह मत हुआ है कि मद्यपान विषयमें जो भूमिका आचार्य रामदेवजीने ली है वही योग्य है। इस समय सामूहिक रूपसे आर्यसमाजको मद्यपाननिषेध की हलचलमें भाग लेना चाहिये।

जो कहते हैं कि सामूहिक रूपसे मद्यपाननिषेध का प्रयत्न आर्यसमाजको नहीं करना चाहिये, उनके मत से आर्यसमाज क्या चीज है यह हमारे समझमें नहीं आता है। हम कई वर्षोंसे मन उदासीन होने तक येही झगडे देखते आये हैं, और हमारा निश्चित मत यह हुआ है, कि जबसे सामूहिक रूप का कर्तव्य और वैयक्तिक रूप का कर्तव्य भिन्न भिन्न है ऐसा कहने का अभ्यास शुरू हुआ है, तबसे इस संस्थाकी कार्य करने की शक्ति न्यून होती गई है।

आर्यसमाजमें हमारे मत का मूल्य कुछभी नहीं है, यह हमें पता है, इसलिये इस विषयमें हमें कुछ भी लिखना नहीं चाहिये। परंतु यदि हरएक संस्था इस प्रकारकी युक्तियों से अपनी जिम्मेवारी टालती गई तो भारतवर्षका क्या होगा, यह विचार मनमें आता है और यही विचार इस विषयमें कुछ न कुछ लिखने के लिये प्रेरित करता है।

श्री० आचार्य रामदेवजीने लिखा है कि 'आर्यसमाज के लिये खादी पहनना कोई आवश्यक बात नहीं है, क्यों कि लार्ड आर्यविन् यदि आर्यसमाज

के सदस्य होने के लिये उपस्थित हुए तो उनको यह खादी की शर्त कहना अनुचित होगा। 'यह युक्तिवाद देख कर हमें अत्यंत आश्चर्य हुआ। आर्यसमाज का जन्म होनेके बाद इतने वर्ष हुए, परंतु इतने समयमें हमने एक भी युरोपीयन, विशेष कर एक भी लार्ड आर्यसमाजमें संमिलित हुआ है, यह बात नहीं सुनी। हम जानते हैं कि, इस समय तक का सब समय आर्यसमाजने अपने अंदरूनी झगडों में गमाया है और उसने कोई ऐसा उच्च साहित्य निर्माण ही नहीं किया कि जिसको देखकर कोई विदेशी मनुष्य आर्य समाज में प्रविष्ट होने के लिये उद्युक्त होवे। लार्ड आर्यविन तो विजेता राष्ट्रके प्रतिनिधि हैं, भारतवर्ष इस समय पराजित राष्ट्र है। विजेता वीर पराजित राष्ट्रका धर्म स्वीकारेंगे,यह बात कल्पनासे बाहर की है, फिर आचार्यजी लार्ड आर्यविन के आर्यसमाज में प्रविष्ट होनेके समय की मीठाई मन ही मनमें क्यों खा रहे हैं, इस का पता हमें नहीं है। यदि आचार्यजी सचमुच यह समझते हैं कि कोई लार्ड आजकी दशामें वैदिक धर्ममें प्रविष्ट होगा, तो उनका यह बडाभारी भ्रम है। वैदिक धर्म का प्रचार हो सकेगा परंतु उसके लिये स्वधर्म के ज्ञानी, विचारी, मननशील और आचरण करनेवाले लोग चाहिये और साथ साथ बुद्धधर्मियों में जो भावना की तीव्रता थी वह चाहिये। इसका एक अंश भी नहीं है फिर ऐसे स्वप्न देखनेसे कौनसा लाभ होगा?

लार्ड आर्यविन आर्यसमाजमें आवें या न आवें, उनके आनेसे न तो आर्यसमाज की उन्नति होगी और उनके न आनेसे कोई हानि की संभावना भी नहीं है। हरएक अवस्थामें आर्यसमाज को अपने वैदिक धर्म का पालन करना आवश्यक है। खादी के विषयमें वैदिक धर्म की आज्ञाएं स्पष्ट हैं। [देखो -स्वा० मंडल द्वारा प्रकाशित 'वेदमें चर्खा' पुस्तक] वेदमें ऐसी स्पष्ट आज्ञाएं मिलती हैं कि हरएक स्त्री पुरुष सूत काते, कवी और ज्ञानी भी अपने काते हुए सूत का कपडा बुनें, धर्मपत्नी अपने पतिके लिये कपडा बनाने के लिये सूत काते और स्वयं कपडा बुनकर पतिको समर्पण करे, माता अपने बच्चे के लिये उसी प्रकार कपडा बनावे और पहनावे, स्त्रियां वीरों के लिये कपडा बनाकर देवें। इस प्रकार की सेकडों आज्ञाएं वेदमें हैं। वेदमंत्र देखनेसे ऐसा पता लगता है कि वस्त्रनिर्माण का व्यवसाय घरेलू होना वेदको अभीष्ट है। स्त्री पुरुष उत्तम सूत्र निर्माण करनेमें अहमहमिका करें। गृहस्थकी उत्तम पतिव्रता धर्मपत्नीका यही विशेष लक्षण है कि वह सूत काते और कपडा बुने। जो पतिव्रता नहीं है वह चाहे सूत न काते। द्विजों के स्त्री पुरुषों को तो वेदमंत्रों की आज्ञानुसार सूत्र अवश्य ही कातना चाहिये। आर्योंका जो वैदिक धर्म है वह यही है। यह आर्योंका वैयक्तिक धर्म नहीं है अपितु सामुदायिक धर्म है। यदि भारतीय आर्यसमाज वेदकी आज्ञाको माननेवाला है तो उसको हाथ से बने सूत की भारतवर्ष में बनी अथवा भारतीय आर्यसमाजीयों द्वारा बनी खादी ही अवश्य पहननी चाहिये। लार्ड आर्यविन आवेंगे इस आशासे खादी को दूर करना वेदके धर्म से स्वयं कई कोस दूर भागना है। लार्ड साहब आये तो वे अपने देशके कपडे पहन कर आवें, भारतीय आर्योंको भारत का बना कपडा जैसा पवित्र है वैसा ही अंगरेजों को अंगरेजी कपडा पवित्र होगा। जब भारतीय आर्य अंगरेजके आर्यसमाजमें आगमन के भ्रमसे भारतीय खादीसे दूर रहेंगे, तो वह बडा भारी पाप होगा। क्या यह खादी पहनना आर्यसमाज का वैदिक धर्म नहीं है?

कहते हैं कि स्वराज्य के आंदोलन में आर्यसमाजी सामूहिक रूपसे भाग न लें? क्यों न लें? वेदमें 'यतेमहि बहुपाय्ये स्वराज्ये' (ऋग्वेदकी) ऐसी आज्ञा है। अथर्ववेदमें भी स्वराज्यकी आज्ञाएं स्पष्ट हैं। फिर सामूहिक रूपसे स्वराज्यका आन्दोलन करना आर्यसमाजका धर्म क्यों नहीं? थोडेसे सरकारी नौकर आर्यसमाज में हैं इस लिये? आर्य होते हुए जो नौकरी करते हैं और जिन को नौकर पेशाकी घृणा नहीं, वे समाज में रहे, या गये, तो समाजकी धार्मिकता में कौनसा लाभकारी है इस का विचार करने का समय आगया है।

वेदकी स्वराज्यविषयक स्पष्ट आज्ञाएं देखते हुए हमारा यह निश्चय हो चुका है कि स्वराज्य का आन्दोलन करना सब वैदिक धर्मियों का परम कर्तव्य है। इस समय वेद को धर्मग्रंथ माननेवाले हिंदू और आर्यसमाज ये दोनों हैं। इसलिये इन दोनोंको इस स्वराज्य-आन्दोलन में पूर्ण सर्वस्व अर्पण पूर्वक संमिलित होना चाहिये। जो नहीं होंगे वे उतने अंशमें वेदकी आज्ञाका पालन करनेसे दूर रहे ऐसा सिद्ध होगा।

श्री० पूज्यपाद स्वामिजीने ' सत्यार्थप्रकाश ' में लिखा है कि धर्मसभा, विद्यासभा और न्याय-सभा ये तीन सभाएं स्थापन करना चाहिये और सब आर्योंके व्यवहार इन सभाओं द्वारा नियंत्रित होने चाहिये। वेदकी आज्ञानुसार इन तीन सभाओं का निर्माण करना आर्यों का धर्म है। वेद की आज्ञा और महर्षिजीका लेख इनके अनुसार उक्त तीन सभाओं का निर्माण करना और उनके द्वारा अपने व्यवहार चलाना सब आर्योंका परम श्रेष्ठ धर्म है। यह आर्यससमाज का सामूहिक धर्म है। परंतु आर्यसमाजका जन्म होके करीब आधी शताब्दि गुजर गयी, इतने समयमें इस विषय में कितना कार्य हुआ है? कहां कभी किसी आर्य-समाजने " न्यायसभा " स्थापन की है और अपने नगर के सब मुकदमे उस में अन्तिम निश्चय करने के लिये लाये हैं और उनका अन्तिम निश्चय किया है? पचास वर्ष होने पर भी ग्रामपंचायत का यह कार्य आर्यसमाज द्वारा नहीं हुआ है, फिर वेद का धर्म आचार में लानेका दावा कहां सिद्ध हो सकता है?

आर्यसमाज में वकील लोग बहुत हैं और समाज के अधिकारी भी वकील हैं। जो सभासद अपनी आर्यन्यायसभा स्थापन नहीं करते, और विदेशी सरकारकी अदालतों में मुकदमेबाजी करते हैं, वे आर्य कहलाने योग्य भी हैं वा नहीं यह बडी भारी शंका है। वेद का आदेश स्वयं पालन नहीं करना और ठीक उसके विरुद्ध आचरण करना, यह कार्य जितना अधिक होगा, उतनाही धर्मसभा का नाश अधिक होता है। यही दशा इस समाज की इस समय हो गई है।

जो अवस्था ' न्यायसभा ' की है वही विद्यासभा की है। कुछ गुरुकुल स्थापन करनेसे विद्यासभा का कार्य हुआ, यह बात नहीं है। कितने आर्यसमाजी हैं, उन के बालक और बालिकाएं कितनी हैं, उन में कालेजों तथा सरकारी विद्यालयोंमें कितने जाते हैं और गुरुकुलों में कितने जाते हैं, तथा लडके गुरु-कुलों में जाने से अपने आपको कृतार्थ समझते हैं अथवा कालेजों में जानेसे कृतकृत्य समझते हैं, इसका निर्णय करनेसे आर्यसमाजमें विद्यासभा की अवस्था क्या है इस बात का पता लग सकता है। कालेज खोलनेका उद्देश्य स्वामिजी का कभी नहीं था। जिस प्रकार अपनी न्यायसभा द्वारा आर्योंका न्याय होना स्वामिजीको मंजूर था, उसी प्रकार अपनी विद्यासभा द्वारा आर्य बालकों की पढाई होना स्वामिजीको मंजूर था। जो विद्यालय गुलाम निर्माण करनेके लिये हैं, उनकी पढाई पढाकर आर्य बालकों को गुलाम बनाना स्वामिजीको कदापि अभीष्ट न था। परंतु इस समय क्या हो रहा है? और गुरुकुलों की अवस्था कालजोंकी अपेक्षा कैसी है? कौनसी संस्थाएं बढ रही हैं और कौनसी घट रही हैं? इसका विचार करनेसे पाठकों को स्पष्ट हो जायगा कि अंदरकी बात कितनी खोखली है!

अपनी राजसभा का तो आर्यसमाजमें पता ही नहीं है। आर्यसमाजको हम धर्मसभा कह सकते हैं, परंतु वह धर्म इतना ही है कि जो आचारमें लानेवाला नहीं है। जब तक वेदके स्वराज्य के लिये सामुदायिक जिम्मेवारी के साथ प्रयत्न नहीं होता, जब तक अपनी न्यायसभा द्वारा अपने मुकदमे नहीं मिटाये जाते, जब तक आर्यसमाजी वकालत और नौकरी पेशामें रत हैं, जब तक गुरुकुलों की स्थिति कालेजोंसे बढ कर नहीं होती है, जब तक मद्यपाननिषेध का कार्य भी सामूहिक रूपसे अपने सिरपर लेनेका हौसला नहीं बढता, और जब तक वेदकी आज्ञा होते हुए खादीका

पोषाख आर्यों के लिये आवश्यक नहीं समझा जाता, तब तक धर्म आचार में लानेका यत्न हो रहा है ऐसा कौन कह सकता है ?

इस समय तक सामूहिक रूपसे अपना धर्म आर्यसमाजियोंने यही समझा है कि " मृतक श्राद्ध न करना, मूर्तिपूजा न करना, पुराणों को न मानना और तीर्थों को न मानना " इ०। परंतु न मानना और न करना यह धर्म कैसा हो सकता है। यह मंतव्यही गलत है। न करने के पीछे लगना ठीक नहीं है। कुछ करना चाहिये। श्री स्वामिजीने न्यायसभा आदि ऊपर लिखे हुए कार्य करनेका उपदेश किया था। वह तो समाजने नहीं लिया। परंतु जितना न करने और न माननेका उपदेश था वह अमलमें लाया। क्यों कि वह सुगम था। इसलिये गत पचास वर्षों में समाज के पल्ले कुछ भी नहीं पडा। यदि समाज करनेकी बातों की ओर ध्यान देता, तो दिन बदिन बढता जाता; परंतु दुर्भाग्यवश न करनेके मोहमें फंस जानेके कारण विस्तार से दूर चला जा रहा है। क्यों कि न करनेके कार्यक्रमसे कभी कोई आकर्षित नहीं होसकता। आकर्षण के लिये कुछ कार्य होना चाहिये। वह तो करीब करीब नहीं हो रहा है और कुछ दिशामें विरुद्ध ही हो रहा है।

यदि आर्यसमाज उक्त तीन सभाएं स्थापन करता और जोर से उनके कार्य में दत्तचित्त होता, और कालेज तथा वकालत आदिमें अपने मन को न भुलादेता, तो इसकी बहुत उन्नति होना संभव था।

उक्त तीन सभाओं द्वारा श्री महर्षि स्वामिजीने क्या कहा था ? न्यायसभा स्थापन करके सरकारी अदालतों पर बहिष्कार करनेको कहा था, विद्या-सभा द्वारा कालेजोंपर और गुलाम बनानेवाले शिक्षालयोंपर बहिष्कार करनेको कहा था, और राजसभा या धर्मसभा द्वारा अपना शासन अपने हाथमें रखने के लिये आज्ञा दी थी। परंतु इनमें से कौनसी बात आर्योंने की है ? यदि आर्यसमाज इन बातोंको करता तो महात्मा गांधीजी को अपने तीनों बहिष्कार पुकारनेका अवसर ही न मिलता और स्वयं महात्माजी आर्यसमाजके सदस्य बनकर तीनों बहिष्कारोंको चलाते। परंतु वह सौभाग्य आर्यसमाज को कहां है? ऐसा क्यों हुआ? इस का कारण इतनाही है कि इसके नेतागण " वैयक्तिक और सामुदायिक " कार्यक्षेत्रोंके झंझट में आर्य जनताको फंसानेमें दत्तचित्त हुए हैं।

'आर्याभिविनय' श्रीस्वामिजीका हृदय बताता है। इस पुस्तकमें क्या लिखा है ? " हम चक्रवर्ती राज्य करेंगे, हम जगज्जेता बनेंगे, हम साम्राज्य चलावेंगे हम समुद्रवलयांकित भूमिका अखंड साम्राज्य उपभोग करेंगे " इस प्रकार प्रार्थनाएं इस पुस्तक में स्वामिजीने लिखी हैं ! किस प्रयोजन के लिये ये प्रार्थनाएं हैं ? क्या यह साम्राज्य विना प्रयत्न आसमानसे गिरेगा, या इसकी प्राप्तिके लिये स्वराज्य साधनके प्रयत्न करने आवश्यक हैं? यदि मानेंगे कि केवल प्रार्थना मात्र से हमें साम्राज्य मिलेगा, तब तो सब झगडा ही मिट गया और यदि कहेंगे कि उस स्वराज्य प्राप्ति के लिये स्वयं प्रयत्न करना चाहिये, तो प्रश्न करना है कि वह प्रयत्न कब होगा करीब ४५ वर्ष गुजर गये, तो भी अभी तक मद्यपाननिषेधका प्रयत्न करना या न करना इसका निश्चय नहीं हुआ, स्वराज्यविषयक प्रयत्न करना तो अभी विवादकी कोटीमें भी नहीं आया है !! इतनी अल्पगतिसे चलना है तो स्वामिजी की साम्राज्यविषयक मनीषा पूर्ण होने के लिये लाखों वर्षों का समय भी अत्यल्प ही होगा। क्यों कि स्वामिजी के परलोक में जानेके समय जो आर्योंकी मृतक श्राद्धों के विवादमें स्थिति थी वही आज भी वहां ही है। यदि आचार्यपाद श्री० रामदेवजी जोर न लगाते तो मद्यपाननिषेध की हलचल का प्रश्न भी सन्मुख न आता।

दूसरी बातें जाने दें। 'वेदका भाषामें अर्थ करके मुद्रित करना और उसको अत्यल्प मूल्य में जनता को देना ' यह तो कार्य आर्यसमाज का सामूहिक रूपसे है न ? परंतु गत ५० वर्षोंमें इस विषयमें कितने सामूहिक प्रयत्न हुए हैं ? हमारा जहांतक ख्याल जाता है वहां तक हमें मालूम है कि इस

विषय में भी कोई सामुदायिक प्रयत्न नहीं हुए हैं। जो हुए हैं वे सब वैयक्तिक हुए हैं और जिन्होंने वेदविचार करनेका प्रयत्न किया है वे करीब करीब बहिष्कृत के समान हुए हैं। इसका कारण इतना ही है कि वेद न पढनेवाले नेताओंने जो वैदिक (?) सिद्धान्त जनता में प्रचलित किये थे, उनका समर्थन वेद से वे वेदविचारक कर नहीं सके, और समय समय पर उनके प्रतिकूल भी वेद का सरल अर्थ उनको लिखना पडा। जो जो वैयक्तिक प्रयत्न हुए या हो रहे हैं उनको तो यहां देखनेका भी प्रयोजन नहीं है। सामूहिक रूपसे जो जिम्मेवारी आर्यसमाजपर थी क्या वह उसने सामूहिक रूपसे सिरपर लेकर उस विषयका कार्य किया है ?

आर्यसमाज को स्थापन होकर जितने दिन गुजर गये हैं उतने भी चारों वेदों में मंत्र नहीं है। यदि प्रतिदिन एक मंत्रका सरल अर्थ भी सामूहिक रूपसे लिखा जाता, तो इस समय तक सब वेदोंका अर्थ जनता के सामने आजाता, परंतु शास्त्रार्थ के बाह्य झगडों और अंदरूनी विवादोंके कारण इस कार्य के लिये उसके पास समय कहां बचता है?

यह भी छोड दें। स्वामिभाष्य का सस्ता मुद्रण करना यह तो सरल कार्य है। क्या इस का भी विचार कौन करता है? कोई नहीं। क्यों कि झगडे झगडने के पश्चात् ऐसे कार्योंके लिये समय कहां है?

जो कहते हैं कि यह कार्य सामूहिक रूपसे आर्यसमाज को करना नहीं चाहिये वह उनके पास कौनसे सामूहिक कार्य देना चाहते हैं? मृतक श्राद्ध शास्त्रार्थ, पुराणखंडन के विवाद, तीर्थस्नान-विवेचना तथा इस प्रकारके रेतसे तेल निकालनेके मूढमतिके कार्य गत पचास वर्षोंमें चल रहे हैं। इन के सिवाय एक भी कार्य न लिया है और न करके बताया है। कौनसे ग्रंथ निर्माण किये हैं? क्या कोई ऐसे ग्रंथ हैं कि जो जनता को आध्यात्मिक उन्नतिके मार्गपर सहाय्यक हो सकते हैं ? यदि नहीं तो गत पचास वर्षों में किया क्या है? झगडे झगडना क्षणभंगुर कार्य है, चिरस्थाई कार्य सामूहिक रूपसे कौनसा किया है?

यह सब अवनति इन नेताओंकी दुर्बलता के कारण हुई है। ये समझते और प्रचार करते हैं कि स्वराज्यप्राप्ति का कार्य, शिक्षालयोंका बहिष्कार, अदालतोंका बहिष्कार, मद्यपाननिषेध आदि अनेकानेक कार्य आर्यसमाज को सामूहिक रूप से नहीं करने चाहिये। इस प्रकार इन इन नेताओंने इतने दिन आर्यसमाज को सब जनताके उपयोगी कार्य करने से रोका है। उसका परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज यह ऐसी सभा बनी की जो कोई उपयोगी कार्य तो न करे प्रत्युत सदा झगडों की जड बनी रहे। इसी कारण इस की उन्नति चारों ओर से रुक गई है।

हमारा विचार यह है कि परमात्माने श्री स्वामिजी को भारतवर्षमें इसीलिये भेजा था कि उनके द्वारा जो परमात्मा का धर्म प्रकट हुआ वह आर्यसमाज द्वारा भारतवर्ष में फैल जाय और भारतवर्ष स्वराज्य-साम्राज्य का उपभोग ४०।५० वर्षों के अंदर अंदर करने लग जावे। स्वामिजी द्वारा प्रकट हुआ धर्म सारांश रूपसे यही है कि- (१) राजसभा द्वारा स्वराज्य का आन्दोलन होवे, (२) न्यायसभा द्वारा सरकारी अदालतों पर पूर्ण बहिष्कार पडे, (३) विद्यासभा द्वारा अपने शिक्षालय खुलें और अन्य खाली होते जांय, (४) मद्यपानादि दुष्ट व्यसन दूर हों, (५) अंध विश्वास में कोई न रहे और चारों ओर सत्य विद्या प्रचलित हो, (६) सब स्थानपर आर्य स्वराज्य की धुंद बढ जावे, वैदिक आदर्श चारों ओर के वायुमंडलमें भर जांय और अंतमें (७) आर्य सार्वदेशिक सभाके आधीन भारतवर्षके सब कार्यक्षेत्र के सूत्र होवें। आजकल जो अपनी शक्ति शत्रुको बढानेमें लग रही है वह शत्रुका बल बढानेके कार्य में न खर्च होवे परंतु वह अपनी पुष्टिमें लग जावे। परमेश्वर का यह उद्देश्य था और इसी कार्य के लिये स्वामिजी को उन्होंने भेजा था। स्वामिजी आये और उन्होंने अल्प समयमें बहुत कार्य करके

दिखा दिया। उन्होंने जनतामें बहुत उत्साह भर दिया। परंतु वह उत्साह आगे बंद हुआ। थोडे ही दिनों में आर्य कालेज खुले, आर्य वकील होकर अदालतोंमें गये, नौकरी पेशासे धन कमाने लगे, रायसाहब और रायबहादर बने। सब कुछ जो नहीं होना चाहिये था वह जोर से होने लगा।

परमात्माने देखा कि मैंने जो भारतवर्ष के उठाने के लिये इतना बडा ऋषि भेजा और उसने जो कार्य आरंभ भी किया वह इतने अल्प समयमें इन जनोंने बिगाड दिया ! अब फिरसे उस दीनदयालु परमात्माने वही कार्य करने के लिये महात्मा गांधी जीको भेजा है। हमारा यह विश्वास है श्री० स्वामिजीका प्रारंभ किया हुआ कार्य सुबोध रीतिसे महात्मा गांधीजी कर रहे हैं। वही स्वराज्यकी धुंद, वेही तीन बहिष्कार, वही ब्रह्मचर्य की लालसा, वही दुर्व्यसननिषेध, वही कार्य करनेका जोर। परमात्माकी इच्छा है भारतवर्ष उठे। उठानेका कार्य परमात्माने सबसे प्रथम आर्यसमाजके हाथमें दिया, परंतु वह उसको निभा नहीं सका। इसलिये उसको पीछे हटाकर अब महात्मा गांधीजीको परमात्माने आगे किया है। यदि इनके अनुयायी जैसा कार्य इस समय कर रहे हैं वैसा आगे न करेंगे तो कोई तीसरा आदमी आवेगा। परंतु इस समय महात्मा गांधीजी और उनके अनुयायी अच्छी प्रकार कार्य चला रहे हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि उनके कार्यसे परमेश्वर संतुष्ट भी हो रहा है।

वस्तुतः श्री० स्वामिजीद्वारा जिस कार्यका प्रारंभ हुआ था वही यह कार्य है। धर्मको सामूहिक आचरणमें लानेका यह कार्य है। इसलिये सामूहिक रूपसे आर्यसमाजको इस में पहिले से ही संमिलित होना चाहिये था। परंतु नौकरपेशा लोगोंका बोझ समाजमें बडा होनेके कारण वे इसको अपना पांव आगे बढनेसे रोकते हैं। इस समयमें भी यदि सामूहिक रूपसे आर्यसमाज इस हलचलमें संमिलित हो जाय, तो भी उसकी उपयुक्तता सिद्ध हो सकती है, और परमात्माका संतोष भी हो सकता है।

आशा है कि विचारी लोग इसका विचार करेंगे!

वैदिक राष्ट्रगीत।

(ले०- वैदिक-धर्मविशारद श्री पं० सूर्यदेवशर्माजी साहित्यालंकार M. A.)

(क्रमांक १२५ से आगे)

(६)

विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥

विश्वविधात्री वसुधावन जो बहुधन को भरने हारी।
जंगम जग का आश्रय होकर पद प्रदान करने हारी ॥
जनसमूह परिपूर्ण राष्ट्र का जो भूमी नित भार धरे।
वह नेता ज्ञानी कर हमको धन दे अरि संहार करे ॥ ६ ॥

(७)

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधुप्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

निरालस्य हो देव विबुध जन जिसकी रक्षा करते हैं।
सुधी सर्वदा भूमि सर्वदात्री का हित चित धरते हैं ॥ ७ ॥

मंगल मय मुद मधु प्रिय दात्री मातृभूमि अति सुखकारी।
तेज राशि गुण गरिमा देवे हमें ज्ञान गौरव भारी ॥ ८ ॥

(८)

याऽर्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः॥
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ५ ॥

जो पृथ्वी पय पूर्व रूप में वारिधि बीच विचरती थी।
सत्य सिद्ध प्रभु सत्ता से जो हृदय अमृतवत् धरती थी॥
व्योम बीच में मान्य मनीषी जिसे नीतिसेवित करते।
इसी भूमि में श्रेष्ठ राष्ट्र बल तेज रहें हमभी भरते ॥ ५ ॥

(९)

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥

जिसमें संन्यासी परिव्राजक चारों ओर विचरते हैं।
रात्रि दिवस समदृष्टि सलिलवत् पर प्रमाद परि हरते हैं।
बहु विधि से पय पेय आदि की जो माता देने हारी।
वही मातृभू बल प्रताप दे हमें ज्ञान गौरव कारी ॥ ९ ॥

(१०)

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

जिस भू का भर्ता ज्ञानी जन मान सदा करते आये।
जिसमें विक्रम विविध विष्णु ने समय समय पर दिखलाये॥
इन्द्र वेद पति वीर रहे जिसके नित ही आज्ञाकारी।
वही मातृभू हम पुत्रों को पय दे प्रिय प्रमोद भारी ॥ १० ॥

(११)

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीम् ॥ ११ ॥

(गीतिका छन्द)

हे मातृभू! कान्तार तेरे सौख्यकारी सब बनें।
गिरि गुहा पर्वत प्रदेशों में अघी अरि हम हनें॥
ध्रुव विश्व रूपा जो रही कृषि पोषिणी भारत मही।
हम वीर बन कर हों न हत भोगें अजित अक्षत वही ॥११॥

(१२)

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः पर्जन्यः पिता
स उ नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

हे मातृभू! तव मध्य में आकाश में वा जो रहे ।
मानव समूह बलिष्ठ हो तुव हेतु सब संकट सहे ॥
भूमि माता है हमारी पुत्र हम उसके सभी ।
पर्जन्य पालक है पिता जो अन्न दे आनंद भी ॥ १२ ॥

(१३)

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ॥ १३ ॥

जिस भूमि में वेदी बने वर वेद बोध विचार हो ।
सत्कर्म कर्ता सज्जनों का यज्ञ से सत्कार हो ॥
वर वीर्य उन्नति शील जन का यज्ञ कर्म विशेष हो ।
निज मातृभू उद्धार हित हमको सदा सन्देश हो ॥ १३ ॥

(१४)

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान् मनसा यो वधेन ।
तन्नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

जो दुष्ट हमसे विश्वमें विद्वेष व्यर्थ बढा रहा ।
हम को दबाने के लिये जो सैन्य रखता हो महा ॥
मनसे हमें सा मारकर जो दास करना चाहता ।
हे मातृभू ! कर नाश उसका, मूढ मरना चाहता ॥१४॥

(१५)

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन् सूर्यो-
रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

तुमसे हुये उत्पन्न जन जो नित्य तुम में ही रहें ।
मानव चतुष्पद आदि सब तव ज्योति जीवन में बहें ॥
सूर्य किरणों से अमृतवत् ज्योति जिनको दे रहा ।
हे मातृभू ! हम मानवों ने आपका आश्रय गहा ॥ १५ ॥

(१६)

ता नः प्रजाः संदुहतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्॥ १६ ॥

हे मातृभूमे ! आपके हम पुत्र प्यारे हैं सभी ।
वरदान दे माता हमें हम हों न कटुभाषी कभी ।
प्रिय सत्य से संयुक्त वाणी में सुधा बहता रहे ।
दे शक्ति माता पुत्र नित मधु इष्ट ही कहता रहे ॥ १६ ॥

(१७)

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ॥
शिवां स्योनामनुचरम विश्वहा ॥ १७ ॥

सर्व औषधि आदिकी जननी अटल निश्चल मही ।
धर्म से धारण हुई वसुधा सुविस्तृत है वही ॥
कल्याण कर सुखदा सदा हम मातृभू सेवा करें ।
उसके लिये जीवें सदा उसके लिये ही हम मरें ॥ १८ ॥

(१८)

महत्सधस्थं महती बभूविथ महान् वेग एजथुर्वेपथुष्टे ॥
महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् ॥
सा नो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥

हे मातृ भू ! तुम हम सबों का एक वासस्थान हो ।
यह नित्य संचालन तुम्हारा वेग सहित महान् हो ॥
तव शत्रु नाशक इन्द्र अलसरहित हो रक्षा करे ।
हो कनकवत् तुम में न कोई द्वेष में पडकर मरे ॥ १८ ॥

(१९)

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु ॥
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥१९॥

अग्नि है इस भूमि में जल में तथा पाषाणमें ।
अग्नि व्यापक औषधी में मनुज अन्तःप्राण में ॥
अश्व में गो आदि पशु में जो हमें मिलती सदा ॥
अग्नि वह धारण करें हो तेज पुत हम भी तदा ॥ १९ ॥

(२०)

अग्निर्दिवः आतपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम् ॥
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ २० ॥

(दिक्पालछन्दः)

आकाश में तपे जो नित सूर्य रूप प्यारा ।
उरु अन्तरिक्ष में भी जिस अग्नि का पसारा ॥
संसार में रहे जो बहु रूप हव्यवाही ।
दीपित घृतादि से जन उसको करें सदा ही ॥ २० ॥

(२१)

अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥२१॥

है व्याप्त अग्नि से जो नित मातृभू हमारी ।
जो कृष्ण कज्जलों से हो ज्ञात भव्य मारी ॥
वह मातृभू बनावे हमको प्रकाशकारी
तेजस्वि हो यशस्वी ध्रुवधर्म ध्येयधारी ॥ २१ ॥

(२२)

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम् ।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः ॥
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥२२॥

जिस भूमिमें अलंकृत नित देव यज्ञ करते ।
मानव स्वधान्नसे जहँ जीवन सुखेन धरते ॥
वह मातृभू हमें भी दीर्घायु प्राण देवे
निज गोदमें बिठाके सद् वृद्धि त्राण देवे ॥२२ ॥

(२३)

यस्ते गन्धः पृथिवि सम्बभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः ।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु ॥
मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २३ ॥

जो गन्ध भूमि ! तेरी जल ओषधादि पाते ।
गन्धर्व सूर्यरश्मी जिसको सदैव ध्याते ॥
उस गन्ध से हमें भी सुरभित यशस्वि कीजै
कोई बने न द्वेषी वरदानदिव्य दिजै ॥ २३ ॥

(२४)

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे ।
अमर्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु ।
मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२४॥

जो गन्ध भूमि ! तेरा पुष्कर प्रवेश पाता ।
प्रातः पवन उषामें जिसको विविध वहाता ॥
उस गन्धसे हमें भी सुरभित यशश्वि कीजै ।
कोई बने न द्वेषी वरदान दिव्य दीजै ॥ २४ ॥

(२५)

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः ।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु ।
कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्मां अधि संसृज मा नो द्विक्षत कश्चन॥२५॥

जो गन्ध नारि नरमें हो तेजरूप आया ।
मृग अश्व हाथियों में जो ओज हो समाया ॥
माता ! कुमारिका सा तेजोनिधान कीजै
कोई बने न द्वेषी वरदान दिव्य दीजै ॥ २५ ॥

(२६)

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता ।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥२६॥

पाषाण पर्वतों से वा पूर्ण पांसु से है ।
वह मातृभू हमारी उत्तम उपांशु है ॥

आकर अनेक जिसमें कनकादि धातु के हैं।
उसको करें नमस्ते हम पुत्र मातु के हैं ॥ २६ ॥

(२७)

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा ।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥२७॥

जिस भूमि में वनस्पति वृक्षादि फूलते हैं।
सुस्थिर वितान ताने झुकते न, झूलते हैं ॥
वह विश्वकी विधात्री है मातृभू हमारी।
माता ! तुझे नमस्ते ! कल्याण कीर्तिकारी ॥

(२८)

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥२८॥

आसीन हों कहीं हम होवें खडे कहीं वा।
चलते हुये रहें वा लेटे पडे कहीं वा ॥
इस भूमि पर हमारा पैदल अगर भ्रमण हो।
कोई न कष्ट पावे, रमणीय हो रमण हो ॥ २८ ॥

(२९)

विमृग्वरीं पृथिवीमावदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभिनिषीदेम भूमे ॥२९॥

अन्वेषणीय जो है अखिलेशने बढाई।
घृत अन्नशक्तिशीला बलपुष्टि जहँ समाई॥
विस्तृत वसुन्धरा है माता महामही है।
दीजे शरण हमें भी बस प्रार्थना यही है ॥ २९ ॥

(३०)

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं निदध्मः ।
पवित्रेण पृथिवि मोत पुनामि ॥३०॥

हे मातृभू ! बहें जल निर्मल यहां सदा ही।
सब स्वास्थ्य सहित सेवें सानन्द सम्पदा ही ॥
माता ! अलग रखो जो हमको अनिष्ट होवे।
पावन करो उसीसे जो पुण्य इष्ट होवे ॥ ३० ॥

(३१)

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात्।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा निपप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥३१॥

(रोला-छन्दः)

पूर्व उदीची दिशा भूमि ! जो श्रेष्ठ तुम्हारी।
अधर उपरि पश्चात् उपदिशा प्रदिशा सारी ॥
गमनशील मम हेतु बनें वे सब सुखकारी।
रहे देश स्वाधीन, न अवनति होय हमारी ॥ ३१ ॥

(३२)

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत ।
स्वस्ति भूमे नो भवमाविदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥३२॥

पूर्व और पाश्चात्य दिशासे नाश न कीजै ।
ऊपर नीचे कहीं हमारा ह्रास न कीजै ॥
मातृ भूमि ! दे स्वस्ति हमें अरित्रास न दीजै ।
वीर बनें, हम हनें शत्रु को पास न कीजै ॥

सरकस और सीनेमा।

(ले०-श्रीयुत व्यंकटेश गणेश जावडेकर, धूलिया)

जबसे पश्चिम के देशवासियों का निकट संबंध हिन्दुस्थानियों से होने लगा है, अथवा यों कहिए कि जबसे हिन्दुस्थान में ब्रिटिश राज्य दृढमूल हुआ है, तबसे हम हिन्दुस्थानवासियों को एक अत्यन्त बुरी आदत लग गई है। हम लोग हर एक बातमें पश्चिम के लोगों की नकल करते हैं। यही नहीं इस अनुकरण में ही कृतकृत्याता मानते हैं। नकल करते समय चाहे यह उद्देश नभी रहता हो कि हम लोगों के धनका प्रवाह अनेक दूरदूरके विदेशों में बह जावे और हम दरिद्री बनें; किन्तु नकल का परिणाम अवश्य ही यह होता है। सम्भवतः इस नकल का हेतु यह है कि हम लोग पश्चिम के लोगों की बराबरी के बन जावें। बराबरी के किस प्रकार समझे जावेंगे ? तभी जब हम हर एक बात वैसी ही करेंगे जैसी पश्चिम के लोग करते हैं। यदि हम हर एक बात उन लोगों के सदृश करेंगे तो वे हमें अपनी बराबरीके मानेंगे। परन्तु यह निरा भ्रम मात्र है। नकल कितनी भी अच्छी क्यों न हो वह असल होही नहीं सकती।

राष्ट्रीय सभाके जन्मकाल के समय हम लोगों में समझ जारी थी कि यदि हम हिन्दुस्थानी लोग अंग्रेजोंके समान अंग्रेजी बोल सकें, उन्हीं के समान अंग्रेजी में लम्बी वक्तृताएं झाड सकें, तो हमारे देश की दशा सुधर जावेगी। यह समझ इतने वर्षों के पश्चात् अब गलत सिद्ध हुई है। केवल बन्दर के समान दूसरे का अनुकरण करने से जिस प्रकार कोई भी लाभ नहीं हो सकता, उसी प्रकार केवल चिकनी चुपडी बातें करने से भी कोई लाभ नहीं हो सकता। हम लोग प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि तोता जितनाही अधिक बोलता है उतना ही उसका मालिक उसे अधिक चाहता है। अर्थात् तोता अधिक अधिक बंधन में पडता जाता है। क्या हम लोगों का हाल वैसेही नहीं हुआ ? यदि वह तोता अपनी मुक्तता का सच्चा उपाय नहीं सोच सकता तो वह मनही मन हरिका भजन करते बैठा रहे, किन्तु मुहसे कुछ भी न बोले। क्योंकि ऐसा करने से सम्भव है कि मालिक यह सोचकर कि तोता तो कुछ भी नहीं बोलता, किसी समय उसे छोड देगा। परन्तु यदि वह तोता समय असमय में बोलता ही रहेगा, तब तो उसका छुटकारा तभी होगा जब उसके प्राणपखेरू उड जावेंगे। तब उसका छुटकारा होने से भी लाभ ही क्या? अस्तु। पश्चिम के लोगों की जो अनेक नकलें हम लोग कर रहें हैं उन्ही में से सर्कस भी एक है।

हिन्दुस्थानमें जो सरकसें निकली हैं वे पाश्चात्यों के अनुकरण का ही फल है। उन लोगों ने सर्कसें निकालीं यह देखकर हम लोगों ने भी निकालीं और इस कार्य में बडी बहादुरी मान ली। पर हम लोगों को नहीं मालूम हुआ कि इस की कीमत क्या हुई। इसकी उचित कीमत तो वेही जानते हैं जिनकी नकल हम लोक कर रहे हैं। इस प्रकार मर्कट की सी नकल करने से क्या उसकी बराबरी हो सकती? जिस प्रकार बच्चों को भिन्न भिन्न प्रकार के खिलौने देकर किसी भी प्रकार उन्हे काम में लगाए रखना चाहिए, वैसे ही ये सर्कसें और सीनेमा हैं। ये तो केवल चोचले भर हैं।

सरकसें दो प्रकार की होती हैं। एक में अधिक तर मनुष्य रहते हैं और दूसरे में जानवर। जिस प्रकार नाटकों को देखने से कोई शूरवीर नहीं हो सकता, वैसे ही सरकस में काम करने से सौ पीछे एक भी मनुष्य शूरवीर नहीं हो सकता। क्योंकि उनका सम्पूर्ण शौर्य बैण्ड के ताल पर तम्बू के भीतर दिखाई देता है। बहर उसका कुछ भी उपयोग नहीं। उससे कुछ लाभ हुआ भी तो वह इतना थोडा होता है कि देश की हानि की तुलना में यह लाभ नहीं के बराबर है।

प्रथम जानवरों की सर्कस की नकल आरम्भ हुई। तत्पश्चात् मनुष्यों की सरकस की। पहले प्रकार की सरकस में प्रथम छत्रे महाशय और उनके पीछे देवल महाशयने अग्रिम स्थान प्राप्त किया। दूसरे प्रकार की सरकसमें प्रथम प्रो० राममूर्ति और श्री० दोरास्वामी इन दो मद्रासी महाशयों ने और उनके पीछे कुमारी ताराबाई और श्री० एकनाथ मूर्ति इन दो महाराष्ट्रीयोंने नाम कमाया। इन दोनों विषयों में उक्त महाशयों के सिवा अन्य कई व्यक्तियों ने सर्कसें निकालीं। उनमें कोई मराठे हैं और कोई मुसलमान। इन सरकसों से वास्तविक लाभ यदि किसी को होता है तो वह परदेसियों को ही। क्योंकि इन सरकसों में जो सामान लगता है वह प्रायः बाहर देश से ही आता है। सरकस में जिस कपडे का उपयोग किया जाता है वह कपडा शोभा बढाने-वाला होता है अतः वह विलायती ही होता है। क्यों कि सरकसवाले यही देखते हैं कि वह कपडा सुन्दर दिखे और सस्ता मिले। उनमें स्वदेश हित बुद्धि की जागृति क्वचित् ही होती है। सरकसों में सैकडों मनुष्य और पशु होनेके कारण उनके रेलद्वारा होनेवाले आवागमन से परदेश में अब तक लाखों रुपये चले गये हैं।

ऐसी सर्कसों के बिना हमारा क्या बिगडेगा? परदेशियों ने सर्कसें निकालीं, इसीसे हम लोगों ने भी निकालीं हैं न? परन्तु यह बात हन लोगों के ध्यान में न आई और अभी भी नहीं आ रही है कि 'मोर का नाच देखकर मोरनी को न नाचना चाहिए'। मोर को परमेश्वर ने सुन्दर पूंछ दी है। जब उस पूंछ को फैलाकर मोर नाचने लगता है तब देखनेवालों को वह दृश्य बहुत ही आल्हादकारी होता है। ऐसी सुन्दर पूंछ मोरानी के नहीं होती और जो होती है वह बहुत ही छोटी। इसलिए जब वह नाचने लगती है तब शोभा तो दिखती ही नहीं, किन्तु उसका नाच हास्यास्पद होता है। नाटक, सरकस, सीनेमा जैसी मनोविनोद की बातें स्वतंत्र देशों को ही करना उचित है। उन्हीं देशों को इनसे लाभ है। क्यों कि वे बातें उन देशों के भीतरी धन्धों एवं व्यवसायों को उत्तेजना देती हैं। देश का पैसा देश के भीतर ही रह जाता है। वह उन देशों की सीमा का उल्लंघन तो करता ही नहीं अपितु बाहर का पैसा अनेक रूपों से देश के भीतर लाता है। पश्चिम की नकल करने में हिन्दुस्थान जो स्वांग रचेगा उसमें उसका रुपया तो यहां कदापि न रहेगा किन्तु यहीं का रुपया बाहर चला जावेगा, गया है और जा रहा है। यही हम रोज देखते हैं न? अस्तु। यह हुई सरकस की बात।

अब कुछ सीनेमा के सम्बन्ध में देखें। सीनेमा की बला भी कई वर्षों से हिंदुस्थान में जारी है। यह नाटकसे कुछ अधिक ही अनीति को बढानेवाला तथा उसका प्रसार करनेवाला है। उसमें स्त्री-

पुरुषों के अशिष्ट दृश्य होते हैं। नौजवान लडके और लडकियां उन्हे देखते हैं और वे उन्ही दृश्यों का अनुकरण करने लगते हैं। इसके सिवा उसमें डाकू, चोर, धोखेबाज और घर फोडनेवालों के दृश्य होते हैं। उन्हे देखकर कई लडके चोरी, घरफोडना और धोखा देना सीख गये हैं और गांव गांव में सीखते जाते हैं। उनके उदाहरण भी मुझे विदित हैं, परन्तु लेख के बढ जाने के भय से मैं उन्हे यहां नहीं लिखता। सुना है कि पूने की पुलीस ने सीनेमा के नवयुवकोंपर होनेवाले कुपरिणामकी रिपोर्ट सरकारमें कुछ समय पूर्व ही कर दी है। मालूम होता है उन नवजवानों ने धोखा-देनेका धन्धा सर्व प्रथम उठाया। सीनेमा से होशियारी सीख कर पूने के एक गरीब लडके ने उसी नगर के वकीलसाहब की धर्मपत्नि को सौ रुपये का धोखा दिया। किन्तु वह लडका भाग न जा सका स्टेशनपर माल समेत पकडा गया।

हिन्दुस्थान में अमेरिकन और ब्रिटिश फिल्मों का ही प्रचार अधिक है। उसमें भी शायद अमेरिकन फिल्में ही अधिक हैं। अतएव साम्राज्य-फिल्मों की रक्षा की हद बनाने का विचार हुआ है। इस बात की जांच के लिए काले-गोरों की एक मिश्र कमेटी भी बैठी थी। उस कमेटी में सदा की प्रथा के विपरीत काले मनुष्यों का बहुमत रखा गया था। परिणाम यह हुआ कि कमेटी बनाने का उद्देश सफल न हुआ। पश्चिम के लोगों की देखा सीखी हमारे देशवासियों ने भी सीनेमा की कम्पनियां निकाली हैं। वे बारहों महीने बडे बडे शहरों में चित्रपट दिखाने का कार्य करते हैं। परन्तु इनसे देश को लाभ ही क्या ?

बिजली की दीयाबत्ती परदेशियों का माल है। केवल उजेला भी हमारा निजका नहीं। वह भी उन लोगोंका है और उसमें हमलोग काम करेंगे ! ये हुई बाहरी वस्तुएं। भीतरी बातों का पूछना ही क्या है। लाखों रुपये भिन्न भिन्न रूप से परकीयों के घर में जा रहे हैं। कुछ दृश्य फालके आदि देशी लोगों के बनाए हैं। हमने दस वर्ष पूर्व एक सीनेमा देखा। वह चित्रपट था लंकादहन का। उसके बाद मैंने अब तक कोई सीनेमा देखा नहीं। जिसमें परकीयों को धन मिलता है उसे देखने की मुझे इच्छा भी नहीं होती। केवल अनुकरणप्रिय जो हम हिन्दुस्थानी हैं वे अत्यन्त राष्ट्र-विघातक व्यवसाय से परावृत्त होते नहीं दीखते। इससे लोगों की नीति तो खराब हो ही रही है, साथ ही उनकी दृष्टि पर भी घातक असर पहुँच रहा है। बहुत ही जल्द हिलनेवाले चित्र बारबार देखने से मनुष्य की दृष्टि बिगड जाती है यह तो पश्चिमके ही डाक्टरों का कथन है।

देशी चित्रपटों को उत्तेजना देने के उद्देश से बडी धारा सभा के सदस्य उस सभा में एक प्रस्ताव लाए। परन्तु उसे भी राष्ट्र के दुर्दैव ने सहायता की। दोनों पक्षों की वोटें समान हुई और माननीय पटेल ने प्रस्ताव के विरुद्ध वोट दी। इस प्रकार प्रस्ताव गिर गया। पटेलजी ने किस विचार से विरुद्ध वोट दी यह तो निश्चय से कोई कह नहीं सकता। असेम्ब्ली में कुछ भी होवे मुझे उससे कुछ मतलब नहीं। क्यों कि हिन्दुस्थान को स्वातंत्र्य मिलकर जब तक वह स्वतः का स्वामी नहीं बनता, तबतक इस प्रकार की किसी भी बात की राष्ट्र को कोई कीमत नहीं। यही नहीं किन्तु ये बातें प्रत्यक्ष अपकर्षक एवं द्रव्यापहारक हैं इसलिए मैं इस प्रकार की बातों की कोई कीमत ही नहीं समझता।

सरकस और सीनेमा में से मैं सरकस अधिक पसंद करूंगा सही, परन्तु उसमें भी सत्त्व क्या है ?

सरकस के घोडेपर काम करनेवाले से घुडदौड के घोडे की दौड तो बनेगी नहीं उसे जैकी का काम भी न बनेगा। वह तो केवल रिंग में ही काम कर सकेगा। इसके विपरीत अब सरकसें न थीं तब क्या होता था सो मैं एक उदाहरण से बतला सकता हूं। करीब पैंतालीस वर्ष पहले की बात है। अक्कलकोट ग्राम में एक घोडे की कसरत करने- वाला आया था। उसका निजका शिक्षित अश्वभी न था। वह महाराज साहब को अपनी चतुराई बतलाने आया था। इसलिए उसने सरकारी घुडशाला से चाहे कैसा भी नटखटी घोडा लाने

को कहा। उसके कार्य के लिए न तो तम्बू था और न रिंग था। मैदान में घोडा लाकर खडा किया। उस मनुष्य का काम था कि उस घोडे को खूब तेज़ी से दौडाना और वैसे दौडते में उस पर काम करना। यही नहीं उसके पार्श्वभाग के नाजुक स्थान में वह छूता और उसे चिढाता था और उस घोडे को तेढी मेढी उछाल मारने को विवश करता था। घोडा जब इस प्रकार मनमानी टेढी मेढी उछालें मारता, तब भी उसकी कसरत जारी रहती। वह मनुष्य एक बार भी नीचे न आया। एक आधे घण्टे ही में उस घोडे के शरीर से पसीने की धारें निकलने लगीं और वह पूर्णरीतिसे ठिकाने आ गया। यह बात मैंने छुटपन में अपनी आंखों देखी है।

खेल की शूरता रणक्षेत्र में काम नहीं कर सकती। सरकस में शेर की सवारी करनेवाला मनुष्य जंगल के शेर के सन्मुख खडा भी नहीं हो सकता। परन्तु जो सच्चा शिकारी है वह तो शेर के सामने खडा रहकर ही शिकार करता है। सरकस के खेलों में भी हम लोग पाश्चात्यों की बराबरी नहीं कर पाये हैं। बहुत वर्ष पूर्व मैंने बम्बई से हार्मस्टन की सरकस देखी थी। 'Looping the loop' नामका जो अत्यंत धोके का खेल है वह मैंने उसमें देखा। मैं ने आजतक नहीं सुना की देशी सरकसों में वह खेल करके दिखाया जाता है। यह प्रयोग करनेवाला एक गोरा ही था। उसका केवल उतना ही काम था। परन्तु केवल उतने भर के लिए वह दस या पंद्रह पौंड लेता था। यदि मैं इस प्रयोग का वर्णन विस्तार से करने लगूं तो बहुत जगह लग जावेगी।

सारांश यही कि नाटक, सिनेमा और सरकसें इत्यादि अनेक रूपों से राष्ट्र के उत्साह का अपव्यय (Dissipation of energy) हो रहा है। वास्तव में इस प्रकार का अपव्यय करने की राष्ट्र को गुंजाइश नहीं है। नदी का जल मनमाना इधर उधर फैला देने से लाभ न होकर हानि ही अधिक होगी। यदि नदी में बंधान बांधकर उस पानी को किसी निश्चित मार्ग से बहने दें तो हजारों एकड जमीन वह जल उपजाऊ बना देगा। वही बात मनुष्योंके उत्साह की है। यदि उसे राष्ट्र के लिए बलदायी बनाना हो तो उसे जिधर राह मिले उधर भटकने न देना चाहिए किन्तु समय का ध्यान रखकर किसी निश्चित ध्येय की ओर या निश्चित मार्ग से ही उसे लेजाने का प्रबंध करना चाहिए। तभी लाभ होगा। ऐसा न करें तो दिनों दिन पैर नीचे ही नीचे खिसकेगा जैसा कि अभी हो रहा है।

सरकसें और सीनेमाकी जैसी बला है वैसे ही विलायती उपाधियों की भी बला है जो हम लोगों के पीछे पडी हैं। विलायत में चार हजार हिन्दुस्थानी विद्यार्थी हैं। उनके पीछे हर वर्ष करीब दो करोड रुपये वहाँ खर्च किए जाते हैं। क्या इससे अधिक मूर्खता हो सकती है ?
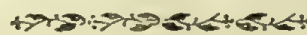
आसन-व्यायामका महत्त्व।

आपके पत्र वैदिक धर्म में यौगिक व्यायामोंके सम्बधमें अकसर महाशय अपने अनुभव प्रकाश किया करते हैं यह बहुत अच्छी बात है, इससे कई रोगियों और इतर लोगों को बडा उत्साह मिलता है। मैं ऐसे लेखों को बडे शौक से पढता हूं और यथार्थ तो यह है कि, मैं ऐसे ही लेखों के लिये इस पत्रका ग्राहक बना हूं। जब किसी अंकमें इस विषयका मैं कोई लेख नहीं पाता, तो मुझे यह कहनेसे क्षमा की जाय, कि मुझे फिर यह पत्र फीका और रूक्षसा प्रतीत होता है।

मुझे इस विषय की ओर कैसे रुचि हुई यदि इसका संक्षेपसे कुछ वृत्तान्त आपके बहुमूल्य पत्रमें

दिया जावे तो अनुचित न होगा। मेरी आयु इस समय लग भग ५० वर्ष की है, मुझे अपने छुटपन के काल से आज से वर्ष दो वर्ष पूर्व कभी व्यायाम की ओर रुची नहीं रही है, केवल थोडा बहुत भ्रमण करने की आदत जरूर रही है,परन्तु वह भी नियम-बद्ध नहीं थी। मुझे यद्यपि कोष्ठबद्धता (कब्ज) की शिकायत न थी, परन्तु शौच में गडबडी रहती थी; भोजन पाने के थोडी देर पीछे शौच की जरूरत पडती थी और ऐसे ही अनियमसे यह आदत जारी थी।

मैं इस बेढंगेपन से बहुत दिक आया हुआ था। इस को नियम में लानेके लिये हकीमों (वैद्यों) की भी शरण ली गई; परन्तु कुछ भी लाभ न हुआ। इसके अतिरिक्त मेरी नासिका को एक ऐसा रोग लगा रहता था, जिससे कोई बार सांस रुक जाता था और मुखद्वारा सांस लेना पडता था। यह नाक की बवासीर बतलाई जाती थी। लाहौर में मैने इस का Operation भी कराया; फिर भी ठीक लाभ नहीं हुआ। कई साल मायूसी में गुजर गये। मैं इलाज से रुष्ट होगया और बीमारी को अपने हालपर छोड दिया।

परमात्माको चूंकि मेरी रोगनिवृत्ती मंजूर थी। मुझे एक महाशय से आप की प्रकाश की हुई "आसन" पुस्तक के देखने का अवसर मिल गया। जब मैंने कई महाशयों के यौगिक व्यायाम के सम्बन्ध में अनुभवी लेख पढे, तो मेरी आंखें खुल गईं और मुझे भी यह व्यायाम करने का शौक पैदा हुआ। मैंने सबसे पूर्व " शीर्षासन " का अभ्यास करना पसन्द किया, परंतु ज्यों ही दीवार के सहारे आसन लगाता, मेरी नासिका बन्द हो जाती और मुझे सांस लेने के लिये आसन तोडना पडता। कुछ दिन तक ऐसी ही अवस्था रही, परन्तु धीरे धीरे सांस ठेरता गया और अब मैं २० २५ मिनट तक अच्छी प्रकार से शीर्षासन कर सकता हूं और मेरे शरीर की दोनों व्याधियां दूर हो रही हैं और शरीर में नया बल और उत्साह अनुभव हो रहा है और वृद्धावस्थाके जो चिन्ह प्रगट हो रहे थे, उनका भी नाश हो रहा है। इस लिये मैं आपका अति धन्यवाद करता हूं कि ऐसी अमूल्य व्यायामपद्धति प्रकाश करके आपने संसार का बडा भारी उपकार किया है और साथ ही प्राचीन व्यायामके साधन के गौरव को स्थापित किया है। ' वैदिक धर्म ' में वेदव्याख्या और आरोग्यसाधन तथा योगसाधन के अतिरिक्त दूसरे विषयों की भरती नहीं होनी चाहिये।

आपका दास
ताराचन्द्र विज, क्लर्क,
गिलगित (काश्मीर)

नूतन पुस्तक

१ वैदिक धर्म।

[इस पुस्तक के लेखक श्री० स्वा० वेदानन्द-तीर्थ हैं और प्रकाशक म०सन्तरामजी आर्य-पुस्तक-भण्डार, लाहोरी दरवाजेके अन्दर, लाहौर। मूल्य ॥।) है।]

इस पुस्तक में विविध विषयोंको दर्शानेवाले वेदमंत्रों का संग्रह है। मंत्रोंका अर्थ सरल है और टिप्पणियां भी बडी उद्बोधक हैं। पुस्तक उपयोगी और संग्राह्य है।

२ श्रीमद्भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची।

(संपादक- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्याय-मंडल,औंध, जि.सातारा मू.।=)छःआने।)

इस पुस्तक में श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादि वर्णानुसार "आद्याक्षरसूची" है और श्लोकार्धोंकी अन्त्य वर्णानुसार "अन्त्याक्षरसूची" है। पुस्तक १२८ पृष्ठोंकी है और मूल्य केवल।=) है। श्रीमद्भगवद्गीता के पाठ करनेवालों के लिये यह अत्यंत उपयोगी पुस्तक है।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

(ले० – श्री०महात्मा मोहनदास कर्मचन्द्र गांधीजी)

सन् १८८८-८९ में जब मैंने गीता का पहली बार दर्शन किया, तभी मुझे यह प्रतीत हुआ कि यह कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, इसमें तो भौतिक युद्ध के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निरन्तर वर्तमान द्वन्द्व युद्ध का ही वर्णन है, हृदयगत युद्ध को दिलचस्प बनाने के लिए मानुषी योद्धाओं की कल्पना कर ली गई है। यह प्राथमिक स्फूर्ति, धर्म और गीता का विशेष विचार करने पर और भी दृढ बन गई। महाभारत पढ चुकने पर तो इस विचार की ततोधिक पुष्टि हुई। महाभारत ग्रंथ को मैं आजकल के अर्थ में इतिहास नहीं मानता। इस बात के जोरदार प्रमाण आदिपर्व में ही हैं। पात्रों की अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्ति का वर्णन करके व्यास भगवान् ने राजा-प्रजाके इतिहास को मिटा डाला है। महाभारत में जिन पात्रों का जिक्र आया है, वे मूलतः ऐतिहासिक भले हों, स्वयं महाभारत में तो व्यास भगवान् ने उनका उपयोग मात्र धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है।

महाभारत के रचियता ने भौतिक युद्ध की आवश्यकता सिद्ध नहीं की है; बल्कि उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। उन्होंने विजेता को रुलाया है, उनसे पश्चात्ताप करवाया है और उनके लिए सिवा दुःख के और कुछ भी रहने नहीं दिया है।

इस महाग्रंथ में गीता का स्थान मुकुट-मणि के समान सर्वोच्च है। गीता का दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध के संचालन की बातें बतलाने की अपेक्षा स्थितप्रज्ञ के लक्षण सिखाता है। स्थितप्रज्ञ के लक्षणों से मुझे तो यही प्रतीत हुआ है कि ऐहिक युद्ध के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। और यह संभव नहीं कि मामूली कौटुम्बिक झगडों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करने के लिए गीता जैसे ग्रंथ निर्माण हुआ हो।

मूर्तिमन्त,शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञानही गीता के कृष्ण हैं,पर वह काल्पनिक हैं। मेरे इस कथन से कृष्ण नामक अवतारी पुरुष का निषेध नहीं होता। मेरे कहने का मतलब केवल यही है कि सम्पूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं, सम्पूर्णावतार का पीछे से किया गया आरोपण है।

अवतार का अर्थ है, शरीरधारी पुरुष विशेष। जीव-मात्र ईश्वर का अवतार है, लेकिन सब को हम अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धार्मिक है, उसे आनेवाली सन्तान अवतार मान कर पूजती है। इसमें मैं कोई दोष नहीं पाता; इसके कारण न ईश्वर की महत्ता को हानि पहुँचती है, न सत्य को आघात। ' आदम खुदा नहीं, लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं। ' जिसमें अपने युग की अपेक्षा सर्वाधिक धर्म-जागृति है वह विशेषावतार है। इसी विचारधारा के कारण कृष्णरूपी सम्पूर्णावतार आज हिंदूधर्म का सम्राट—सर्वश्रेष्ठ अवतार बना हुआ है।

यह दृश्य मनुष्य की अन्तिम सुन्दर अभिलाषा का सूचक है। मनुष्य को ईश्वर-रूप बने बिना चैन नहीं पडती, शांति नहीं मिलती। ईश्वर-रूप बनने का यह प्रयत्न ही सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है। यही आत्म-दर्शन भी है। इस आत्मदर्शन का उल्लेख सब धर्म-ग्रन्थों में है, गीता में भी है। लेकिन गीता के

रचयिता ने केवल इस विषय के प्रतिपादन के लिए गीता की रचना नहीं की है। गीता का आशय तो आत्मार्थी को आत्म-दर्शन का एक अद्वितीय उपाय बताना है। जो वस्तु हिन्दू-धर्म में यत्र-तत्र बिखरे हुए रूप में पाई जाती है, उसे गीता ने अनेक रूप में, अनेक शब्दों में, पुनरुक्ति दोष को स्वीकार करके भी, भली-भाँति सिद्ध की है।

कर्म-फल का त्याग ही वह अद्वितीय उपाय है।

इस मध्यबिन्दु के चारों ओर ही गीता का पुष्पहार गूँथा गया है। भक्ति, ज्ञान वगैरा उसके आसपास तारामण्डल के रूप में गूँथ दिये गये हैं। जहाँ देह है, वहाँ कर्म तो है ही। उससे कोई मुक्त नहीं। फिर भी सब धर्मों ने यह प्रतिपादन किया है कि देह को प्रभुका का मन्दिर-निवासस्थान मानकर बरतने से मोक्ष मिलता है। पर कर्म-मात्र में कुछ-न-कुछ दोष तो रहता ही है। और मुक्ति तो निर्दोष को ही मिल सकती है। तो फिर कर्मबन्धन से अर्थात् दोषस्पर्श से कैसे छूटा जाय? गीताजी ने निश्चयात्मक शब्दों में इसका जवाब यों दिया है— 'निष्काम कर्म से। यथार्थ कर्म करके। कर्म-फल को त्यागकर। सब कर्मों को कृष्णार्पण करके; अर्थात् मन, वचन और काया को ईश्वरार्पण करके।'

पर निष्कामता, कर्म-फल-त्याग कहने मात्र से सिद्ध नहीं होते। यह निरी बुद्धि का काम नहीं है। हृदय-मंथन से ही इसकी उत्पत्ति है। इस त्यागशक्ति को पैदा करने के लिए ज्ञान चाहिए। एक तरह का ज्ञान तो बहु तेरे पंडितों के पास होता है वेदादि उन्हें कण्ठस्थ होते हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश योगादि में लिपटे रहते हैं। इस भय से कि कहीं ज्ञान का अतिरेक शुष्क पाण्डित्य में न बदल जाय, गीताकार ने ज्ञान के साथ भक्ति को जोडा और उसे प्रथम स्थान दिया। भक्ति-विहीन ज्ञान निष्फल होता है। इसी लिए कहा है, 'भक्ति करोगे तो ज्ञान अवश्य ही मिलेगा।' लेकिन भक्ति का सौदा 'सिर का सौदा' है। यही वजह है कि गीताकार ने भक्त के लगभग वही लक्षण बताये हैं जो स्थितप्रज्ञ के हैं।

तात्पर्य, गीता की भक्ति कोई मिथ्या चीज नहीं, न अन्ध-श्रद्धा है। गीता में बताये गये उपचार का बाह्यचेष्टा या क्रिया के साथ कम से कम सम्बन्ध है। भक्तमाला, तिलक, अर्ध्य आदि साधनों का उपयोग भले करे, पर ये भक्ति के लक्षण नहीं हैं। जो किसी का द्वेष नहीं करता, करुणा का भण्डार है, ममतारहित है, निरहंकार है, जिसे सुख-दुःख सर्दी-गर्मी समान हैं, जो क्षमाशील है, सदा संतुष्ट है, जिसके निश्चय कभी नहीं बदलते, जिसने अपने मन और बुद्धि को ईश्वरार्पण कर दिया है, जिससे लोगों को त्रास नहीं पहुँचता, जो स्वयं लोगों से भय नहीं खाता, जो हर्ष, शोक, भय वगैरा से मुक्त है, पवित्र है, कार्य-दक्ष होते हुए भी तटस्थ है, जो शुभाशुभ का त्याग करनेवाला है, जो शत्रु-मित्र के प्रति समभाव रखता है, जिसके मन में मान-अपमान एक सरीखे हैं, जो स्तुति से फूलता नहीं, न निन्दा से दुःखी होता, जो मौनधारी है, जिसे एकान्त प्रिय है, जो स्थिरबुद्धि है, वह भक्त है। इस तरह की भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुष में नहीं पाई जा सकती।

इससे हमें पता चलता है कि ज्ञान पाना, भक्त बनना ही आत्म-दर्शन करना है। आत्मदर्शन इनसे भिन्न नहीं। जैसे एक रुपया देकर जहर भी खरीदा जा सकता है और अमृत भी, वैसे ही ज्ञान या भक्ति के बदले बन्धन और मोक्ष दोनों नहीं प्राप्त किये जा सकते। यहाँ तो साधन और साध्य यद्यपि बिलकुल एक नहीं है तो भी लगभग एक ही चीज हैं। साधन की पराकाष्ठा ही मोक्ष है। और गीता के मोक्ष का अर्थ परम शान्ति है।

पर ऐसे ज्ञान और भक्ति को कर्मफल-त्याग की कसौटी पर चढना पडता है। लौकिक दृष्टि से शुष्क पण्डित भी ज्ञानी कहा जा सकता है। वह किसी भी तरह का काम नहीं करता! पानी का लोटा उठाना भी उसके लिए कर्मबन्धन हो सकता है। जहाँ यही शून्य मनुष्य ज्ञानी माना जाता है, वहाँ लोटा उठाने-जैसी तुच्छ लौकिक क्रिया को स्थान ही कैसे हो सकता है?

लौकिक दृष्टि से भक्त वह है, जो विक्षिप्त-सा रहता हो, माला लेकर जप जपता हो और सेवा-कर्म करने से जिसके जप में बाधा पडती हो, इस कारण ऐसा भक्त खान-पान वगैरा भोगों का उपभोग करते समय ही माला को हाथ से छोडता है। चक्की पीसने या रोगी की सुश्रूषा करने के लिए कदापि नहीं।

इन दोनों प्रकार के लोगों को गीताजी ने स्पष्ट ही कह दिया है कि 'बिना कर्म के किसी को सिद्धि नहीं मिली। जनकादि भी कर्म-द्वारा ही ज्ञानी हुए हैं। यदि मैं भी आलस्य छोडकर कर्म न करता रहूं तो इन लोगों का नाश हो जाय।' ऐसी दशा में लोगों के बारे में तो पूछना ही क्या था?

लेकिन यह निर्विवाद है कि एक ओरसे कर्म-मात्र बन्धनरूप है। पर दूसरी ओर देही इच्छा-अनिच्छा से भी कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक कोई भी चेष्टा कर्म है तो फिर कर्म करते हुए भी मनुष्य बंधन-मुक्त कैसे रहे? यह पहेली गीताजी में जिस तरह बूझी गई है, मैं नहीं जानता कि दूसरे किसी एक भी धर्म-ग्रन्थ में यह इस तरह बूझी गई हो। गीता कहती है, 'फलासक्ति छोडो और कर्म करो,' 'निराशी बनो और कर्म करो,' 'निष्काम बनकर कर्म करो।' यह गीताजी की कभी न भूलने योग्य ध्वनि है। कर्म छोडनेवाला गिरता है। कर्म करते हुए उनके फल को छोडनेवाला चढता है।

इसका कोई यह अर्थ न करे कि फल-त्याग करनेवाले को त्याग का फल नहीं मिलता। गीताजी में ऐसे अर्थ को कहीं भी स्थान नहीं है। फल-त्याग का अर्थ फल के बारे में आसक्ति का अभाव है। हकीकत तो यह है कि फल-त्यागी को हजार गुना फल मिलता है। गीता का फल-त्याग तो अखण्ड श्रद्धा की कसौटी है। जो मनुष्य परिणाम की चिन्ता करता रहता है, वह बहुधा कर्म-कर्तव्य-भ्रष्ट होता है। वह अधीर बनता है, फलतः क्रोध के वश होता है और फिर अकार्य करने लगता है, एक कर्म से दूसरे में, और दूसरे से तीसरे में फँसता जाता है। परिणाम की चिन्ता करनेवाले की हालत विषयान्ध के समान हो जाती है और अन्त में वह विषयी के समान सारासारका, नीति-अनीतिका विवेक छोड बैठता है और फल-प्राप्तिके लिए चाहे जिस साधन का उपयोग करता है और उसे धर्म मानता है।

फलासक्ति के इन कडुए फलों से गीता के रचयिता ने अनासक्ति, कर्मफल-त्याग का सिद्धान्त प्रस्तुत किया और संसार के सामने उसे अतिशय आकर्षक भाषा में रक्खा। साधारणतः लोग यह मानते हैं कि, "धर्म और अर्थ विरोधी वस्तु हैं; व्यापार आदि लौकिक व्यवहार में धर्म की रक्षा नहीं की जा सकती, धर्म का कोई स्थान नहीं हो सकता, धर्म का उपयोग केवल मोक्ष के लिए किया जा सकता है। धर्म की जगह धर्म शोभा देता है और अर्थ की जगह अर्थ।" मेरी सम्मति में गीताकार ने इस भ्रम को दूर किया है। उसने मोक्ष और व्यवहार के बीच ऐसा कोई भेद नहा किया बल्कि धर्म को व्यवहार में परिणत किया है। मुझे प्रतीत हुआ है कि गीता की राय में वह धर्म धर्म नहीं जो व्यवहार में काम न दे सकता हो। अतएव गीता की सम्मति के अनुसार जो कर्म बिना आसक्ति के किये ही न जा सकें वे सब त्याज्य हैं। इस तरह का सुवर्ण नियम मनुष्य को अनेक धर्म-संकटों में से बचाता है। इस सम्मति के अनुसार खून, असत्य, व्यभिचार वगैरा कर्म सहज ही त्याज्य ठहरते हैं। मनुष्य का जीवन सरल बनता है और सरलता में से शांति उत्पन्न होती है। फल-त्याग का अर्थ परिणाम की उपेक्षा भी नहीं है। परिणाम, साधन का विचार और उसका ज्ञान बहुत ही जरूरी है। इतना कर चुकने पर जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है वह फल-त्यागी है।

इस विचार-श्रेणी का अनुसरण करते हुए मुझे यह प्रतीत हुआ कि गीताजी की शिक्षाओं को कार्य में परिणत करनेवाले को सहज ही सत्य और अहिंसा का पालन करना पडता है। फलासक्ति के अभाव में मनुष्य का दिल न झूट बोलने को ललचाता है, न हिंसा की ओर रुजू होता है। चाहे जिस हिंसा या असत्यपूर्ण कार्य को लीजिए, हमें पता

चलेगा कि उसके मूल में परिणाम की इच्छा ही काम कर रही है। लेकिन अहिंसा का प्रतिपादन गीता का विषय नहीं है। गीता-काल से पहले भी अहिंसा परम धर्म मानी जाती थी। गीता को अनासक्तिका सिद्धान्त साबित करना था। दूसरे अध्याय ही में यह बात साफ हो जाती है।

लेकिन, यदि गीता को अहिंसा मान्य थी अथवा यदि अनासक्ति में अहिंसा का सहज ही समावेश हो जाता है तो गीताकार ने भौतिक युद्ध का उपयोग उदाहरण के लिए भी क्यों किया? गीतायुग में अहिंसा के धर्म माने जाते हुए भी, चूँकि भौतिक युद्ध एक सर्व-सामान्य वस्तु थी, इसलिए गीताकार को ऐसे युद्ध का उदाहरण देते हुए संकोच न हुआ, न हो सकता था।

पर फल-त्याग के महत्त्व का माप निश्चित करते समय गीताकार के मन में क्या विचार थे, उसने अहिंसा की मर्यादा किस हद तक आँकी थी, इन सब का विचार करने की हमें जरूरत नहीं है। कवि संसार के सामने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त रखता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह हमेशा अपने-द्वारा उपस्थित सिद्धान्तों के महत्त्वको भली-भाँति जानता है या जान चुकने पर उन सब को भाषा-बद्ध कर सकता है। इसी में तो काव्य की और कवि की महिमा है। कवि के अर्थ का अन्त ही नहीं है। मनुष्य की भाँति महावाक्यों के अर्थ का भी विकास होता ही रहता है। भाषाओं के इतिहास की जाँच करने पर हमें पता चलता है कि बहुतेरे महान् शब्दों के अर्थ नित्य नये होते रहते हैं। यही हाल गीता के अर्थ का है। स्वयं गीताकार ने महान् रूढ शब्दों के अर्थ का विस्तार किया है। ऊपर-ऊपर से गीता का अवलोकन करके भी हम इसका अनुभव कर सकते हैं। गीता-युग से पहले शायद यज्ञ में पशु-हिंसा वैध मानी जाती होगी। पर गीता के यज्ञ में उसकी गंध तक नहीं है। उसमें तो जप-यज्ञ ही यज्ञों का राजा कहा गया है। तीसरे अध्याय से पता चलता है कि यज्ञ का अर्थ खास कर परोपकार के लिए शरीर का उपयोग करना है। तीसरे और चौथे अध्यायों को मिलाकर दूसरी व्याख्याओं की भी ताल जमाई जा सकती है। लेकिन-पशु-हिंसा की बात तो कहीं सिद्ध नहीं की जा सकती। यही दशा गीता के संन्यास के अर्थ की है। गीता के संन्यासको कर्म-मात्रका त्याग पसंद ही नहीं है। गीता का संन्यासी अतिकर्मी होते हुए भी अति-अकर्मी है; इस तरह गीताकार ने महान् शब्दों के व्यापक अर्थ लगाकर अपनी भाषा का भी व्यापक अर्थ करना हमें सिखाया है। गीताकार की भाषाके अक्षर से भले यह व्यक्त होता हो कि सम्पूर्ण कर्म-फल-त्यागी भौतिक युद्ध लड सकता है, परन्तु गीता की शिक्षाओं को भलीभाँति कार्य में परिणत करने के लिए लगभग ४० वर्षों से लगातार प्रयत्न करते हुए मुझे तो यही नम्र प्रतीति हुई है कि सत्य और अहिंसा के सम्पूर्ण पालन के बिना किसी मनुष्य के लिए सम्पूर्ण का कर्म-फल का त्याग असम्भव है।

गीता सूत्र-ग्रंथ नहीं है। गीता एक महान् धर्म-काव्य है। उसमें आप जितने गहरे पैठेंगे उतने ही नये और सुन्दर अर्थ आपको मिलेंगे। गीता सर्व-साधारण की चीज है और इसलिए उसमें एक ही बात अनेक तरह से कही गई है। अतएव गीता में प्रयुक्त महाशब्दों के अर्थ हरएक युग में बदलेंगे और विस्तृत होते जायँगे। पर गीता का मूलमंत्र कभी नहीं बदलेगा। जिस रीति से यह मंत्र सिद्ध किया जा सकता है उस रीति से जिज्ञासु उसका जो चाहे अर्थ करे।

गीता विधि-निषेध बतानेवाली भी नहीं है। एक के लिए जो विहित हो वही दूसरे के लिए निषिद्ध हो सकता है। एक समय, या एक देश में जो विहित या करने योग्य है, वह दूसरे समय, दूसरे देशमें, निषिद्ध न करने योग्य हो सकता है। निषिद्ध मात्र फलासक्ति है और विहित अनासक्ति।

गीता में ज्ञान की महिमा सुरक्षित है। तो भी गीता बुद्धि-गम्य नहीं, हृदयगम्य है, और इसी लिए वह अश्रद्धालु के लिए नहीं है। गीताकार ही ने कहा है—

"जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जिसे सुनने की इच्छा नहीं है, और जो मुझसे द्वेष करता है, उसे तू यह (ज्ञान) कभी न कहना।" (१८।६७)

"लेकिन जो यह परम गुप्त ज्ञान मेरे भक्तों को देंगे, वे मेरी परम भक्ति करने के कारण निःसन्देह मुझे प्राप्त करेंगे।" (१८।६८)

"साथ ही जो मनुष्य द्वेषरहित हो कर श्रद्धापूर्वक सिर्फ सुनेहीगा, वह भी मुक्त होकर पुण्यवानों के निवासस्थान-शुभ लोक को प्राप्त करेगा।" (१८।७१)
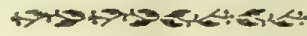
क्या गायत्री-मन्त्रमें २४ अक्षर नहीं ?

(ले०- श्री० प्रेमशरण आर्य, प्रेमनिवास, आग्रा।)

प्रयाग के श्री० गंगाप्रसादजी 'उपाध्याय' एम. ए. तथा श्री० विश्वप्रकाश बी. ए. के सम्पादकत्वमें निकलनेवाले 'वेदोदय' मासिकपत्रके प्रथम वर्षकी द्वितीय संख्या में पृष्ठ ७० पर जो एक शंकाका समाधान है कि, 'चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री' लिखकर गायत्री में २४ अक्षर बतलाने का प्रयोजन छान्दोग्यकार का 'विश्वानिदेव' आदि २४ अक्षरों वाले छन्दोंसे था; 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्र से नहीं। क्योंकि शंकासमाधान कर्ताकी सम्मति में तो इस प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्र में २३ अक्षर ही हैं।

श्री० गंगाप्रसादजी का स्वाध्याय बढा हुआ है, इस बात को विचार कर ही संभवतः उक्त समाधान के सम्बन्ध में अभीतक किसी ने कुछ लिखने का साहस नहीं किया। परन्तु हम इस लेखद्वारा यह बतला देना चाहते हैं कि हम 'उपाध्याय' जी के उक्त कथन से सहमत नहीं; और हमारा स्वाध्याय हमको बतला रहा है कि, प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में २४ अक्षर ही हैं और हमारी छान्दोग्यकार की सम्मति है कि, 'चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री' के लिखने का प्रयोजन साधारणतया वेद के प्रत्येक उस मन्त्रसे है, जो गायत्री छन्दमें है, और विशेषतः प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्र से जो 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' आदि के रूप में ऋग्यजुसाम वेदों में कई स्थलों में आया है।

वस्तुतः सन्ध्या और जपादिका अर्थ चिरकाल से प्रयुक्त होनेवाला मन्त्र—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः।
तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्।'

यही है। इसकी महिमा छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में गाई गई है। मनुस्मृतिमें इस के जपका विधान है, गीता में इसकी गरिमा विद्यमान है और ब्राह्मणग्रन्थों में इस का प्रमाण है। हम नीचे इसके अक्षरों की गणना सप्रमाण करते हुए (उपाध्यायजी) के उक्त समाधान की समीक्षा करते हैं।

यह जो कहा गया है कि, 'ओ३म् भूर्भुवः स्वः' को मिलाकर गिननेसे गायत्री-मन्त्र की अक्षर-संख्या २४ से बहुत अधिक बढ जाती है;यह समझ में नहीं आता कि, क्यों ऐसी कल्पना की गई, जब कि मूल मन्त्र वेदों में 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' से ही आरम्भ होता है, जबकि यह बात प्रत्येक वैदिक धर्मी जानता है कि वेद-मन्त्रों के आरम्भमें 'ओ३म्' बोलने का नियम है; और मनुने तो यहां तक कहा है कि—

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोंकृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यते॥
मनु० अ० २ श्लो० १४

वेदपाठके आरम्भ और अन्तमें सदा ओंकार कहे। जिसके पहले और पीछे ओम् नहीं वह निष्फल है।'

'इस लिये 'ओम्' की गणना आवश्यक नहीं और न यह गायत्री-मन्त्रका भाग है। इसी प्रकार 'भूर्भुवः स्वः' नहीं; यह महाव्याहृतियां हैं; इस लिये इनकी

भी गणना नहीं की जा सकती । यद्यपि 'ओ३म् भूर्भुवः स्वः' यह पद वेदों में हैं और वहीं से लेकर गायत्री-मन्त्र के साथ जपार्थ संमिलित किये जाते हैं; देखिये मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक ७६ में स्पष्ट है।

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च ॥

अर्थ— ब्रह्माने अ, उ, म (जिनसे ओम् बना है) और भूर्भुवः स्वः यह तीन महाव्याहृतियाँ वेदत्रयी से दुही हैं ।

वस्तुतः ओ३म् वेद में अनेक स्थलों में है; यथा 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' में तथा 'आपो ज्योति रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्' आदि में ओंकार स्पष्ट है, इसी प्रकार महाव्याहृतियां भी 'भूर्भुवः स्वः' रूपमें एकही स्थल पर दृष्टिगोचर होती हैं ।

यह सभी जानते हैं कि, 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' यह मन्त्र वेदों में अनेक स्थलों पर है और इस सावित्री-मन्त्र को वहीं से लिया गया है;जैसा कि स्मृतिकार मनु का मन्तव्य है—

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादपादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥

अर्थात् ब्रह्माने 'तत्...' इत्यादि सावित्री ऋचा का पाद पाद तीनों वेदों से दुहा।

इस सावित्री ऋचा अथवा गायत्री-मन्त्र के पूर्व महाव्याहृति और उससे पूर्व प्रणव जोडकर जप करने की विधि अतीत काल से ऋषि मुनि और वेदवेत्ताओं द्वारा सुसेवित है । मनुने अपनी स्मृति में स्पष्ट लिखा है—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥

'इस अक्षर (ओम्) को और व्याहृतियां पूर्व लगा कर इस सावित्री को दोनों सन्ध्याओं में जपता हुआ वेदवेत्ता ब्राह्मण वेदके पुण्यसे युक्त होता है । '

ऐसाही अन्य विष्णु और वसिष्ठादि स्मृतिकारों का मत है कि, ओम्, व्याहृति और सावित्री का ग्राम से बाहर जप करना चाहिये । इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि ' तत्सवितुर्वरेण्यम् ' आदि ही गायत्री-मन्त्र है और इसी की अक्षर गणना करना अवश्यक है तथा ऋग्वेद ३।४।१०, यजुर्वेद ३।३५; २२।९; ३०।२ और सामवेद ६।३० में "तत्सवितुर्वरेण्यम्, मन्त्र है, फिर 'ओ३म् भूर्भुवःस्वः' इस प्रणव और महाव्याहृतियों को मिलाकर गायत्री छन्द समझना और इसके समेत गायत्री छन्द की अक्षरगणना की कल्पना कितनी निर्मूल है यह प्रत्येक पाठक समझ सकता है ।

" चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री " इस छान्दोग्य के अनुसार यह तो विदित ही है कि, गायत्री छन्द २४ अक्षरों का होता है और यह भी विदित होना चाहिये कि, गायत्री छन्द तीन ही पाद का होता है तथा मनु ने भी लिखा है कि-

' त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् '
अध्याय २ श्लोक ८२

अर्थात् यह तीन पादवाली गायत्री वेदका आरम्भ अथवा ब्रह्मका मुख जाननी चाहिये; और पिङ्गल शास्त्र के ' गायत्र्या वसवः' सूत्र के अनुसार गायत्री का एक चरण वसु अर्थात् ८ अक्षरों का होता है । इससे सिद्ध है कि गायत्री ८×३=२४ अक्षरों की ही होती है ।

अब हम प्रसिद्ध गायत्री मन्त्रके २४ अक्षरों की गणना के लिये बृहदारण्यकोपनिषद् के अध्याय ५ चतुर्दश ब्राह्मण के कुछ वचन उद्धृत करते हैं; जिनके आधार पर प्रचलित गायत्री मंत्र ' तत्सवितुर्वरेण्यम्' में २४ अक्षरों का होना सिद्ध होता है । उपनिषद्वाक्यों का पदार्थ वेदज्ञ पं० शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ कृत है; देखिये—

' भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं
ह वा एकं गायत्र्यै पदम्...॥१॥

पदार्थ- (भूमिः अन्तरिक्ष द्यौः इति अष्टौ अक्षराणि) भु, मि, अं, त, रि, क्ष, ये छः अक्षर होते हैं और 'द्यौ' में दि, यौ विश्लेष करने से दो अक्षर होते हैं इस प्रकार तीनों में आठ अक्षर होते हैं और तत् स, वि, तुर्, व, रे, ण्यम् (णि, यम्) इस प्रकार (गायत्र्यै+एकम्+पदम्+अष्टाक्षरम्+ह+वै) गायत्री का प्रथम पाद भी अष्टाक्षर है अर्थात् इसमें भी आठ अक्षर हैं ।

' ऋचो यजूंषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदम्... ॥२॥'

पदार्थ- (ऋचः। यजूंषि। सामानि। इति। अष्टौ। अक्षराणि) ' ऋ, चः, य, जूं, षि, सा, मा, नि ' ये आठ अक्षर हैं। (गायत्र्यै। एकम्। पदम्। अष्टाक्षरं। ह। वै) और गायत्री के 'भर्गो देवस्य धीमहि' इस एक पाद में भी आठ ही अक्षर हैं।

' प्राणोऽपानो व्यान इत्याष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदम्'...॥३॥

पदार्थ- (प्राणः। अपानः। व्यान। इति। अष्टौ। अक्षराणि) प्राण, अपान, व्यान (वियान) इन तीनों में आठ अक्षर हैं (गायत्र्यै। एकम्। पदम्। अष्टाक्षरम्। ह। वै) और गायत्री के ' धियो यो नः प्रचोदयात् ' इस एक पद में भी आठ अक्षर हैं।

बस उपर्युक्त विधिसे गणना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्र ' तत्सवितुर्वरेण्यम् ' में २४ अक्षर हैं २३ नहीं; और छान्दोग्य के कर्ता का सङ्केत इसी प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्रकी ओर है। हम आशा करते हैं कि श्री० गंगाप्रसादजी हमारे उक्त उद्धरण पर विचार कर अपने शङ्का-समाधानका यथोचित संशोधन करेंगे।

सूचना- ' द्यौ' को ' दियौ ' उच्चारण करते हैं, इसी प्रकार 'व्यान' को 'वियान' और 'वरेण्यम्' को ' वरेणियम् ' उच्चारण करते हैं। ऐसा पं० राजारामजी ने अपने बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में पृष्ठ ३०४ पर लिखा है।

ओजशक्ति।

(लेखक—श्री० लालचन्द्रजी)

मनुष्यके अन्तर एक छिपी हुई शक्ति है जिसके रहते हुए प्रत्येक रोगकी चिकित्सा हो सकती है, परन्तु जिसके कम होजाने से नाश अवश्य है, चाहे शरीर नाशके होने तक मनुष्य जीता भी रहे, पर वह सुख अनुभव नहीं कर सकता। साधारण लोगों का प्रायः यह विचार है कि ओषधियां रोग को दूर करती हैं, पर वास्तवमें ओषधि उस अन्तर्हित शक्ति को उकसाती हैं और वह रोग-निवारिणी शक्ति रोग को दूर करती है और मनुष्य पुनः अपने आपको स्वस्थ अनुभव करता है।

'स्वस्थ, शब्द पर थोडा ध्यान देना आवश्यक है। 'स्वस्थ' का अर्थ है, अपने आपमें स्थित। स्थिर-बुद्धि, स्थितप्रज्ञ, युक्त आदि शब्द जो हमारे पुराने ग्रन्थों में आते हैं उनका यही अभिप्राय है। जब मनुष्य डांवाडोल नहीं होता, जब उसका चित्त चंचल नहीं होता, जब वह अपने अन्दर कर्तव्य करने का सामर्थ्य अनुभव करता है, तभी हम उसे स्वस्थ कहेंगे। इससे इतर अवस्थामें सब ही लोग अस्वस्थ कहे जाएंगे।

अस्वस्थ अवस्था का कारण मन और शरीर दोनों ही हो सकते हैं। शरीर के कारण मन और मनके कारण शरीर स्वस्थ अथवा अस्वस्थ हो सकता है। जिस मनुष्य का मन कर्तव्यविमुख होने लगता है, तो अवश्य समझलेना चाहिये कि अब शरीर में मनद्वारा कुछ रोग प्रवेश होनेवाला है; और धीरे धीरे यदि मनको रोक कर कर्तव्यपर दृढ न किया जाय तो जहां मनुष्य कर्तव्यच्युत हो जाता है वहां साथही रोगी भी हो जाता है; और अन्तमें यश और श्रीभी हाथ से खो बैठता है। ऐसे शारीरिक रोगी की मानसिक चिकित्सा ही एक साधन है। ऐसा भी हो सकता है कि कहीं चोट लगने आदिसे अथवा बुरी वायु अथवा अशुद्ध जलके कारण शारीरिक रोग हो, किन्तु ऐसी अवस्था में भी एक मुक्त मनवाला मनुष्य कम रोगी होगा और यदि हो भी जाय तो शीघ्र स्वस्थ हो जायगा।

मन और शरीरका घनिष्ट संबंध है जो सबको मालूम होजाना बहुत हितकर है। मानसिक रोग की प्रथम अवस्था आलस्य है जबकि लोग वास्तव में आलस्य में फंसे हुए प्रायः अपने आपको आराम करते हुए कहा करते हैं; अथवा कर्तव्य को टाल देते हैं और समझते हैं कि वह कर्तव्य उनसे टल गया। वास्तव में कर्तव्य न करनेसे जो चित्त में

ग्लानि उत्पन्न होती है और मानसिक रोगोंका बीज रूप बना करती है उसे लोग नहीं समझते ! कर्तव्य न करने से अथवा टाल देने से टला नहीं करते, वास्तव में उनका करना फिर अधिक कठिन होजाता है और प्रायः मनुष्य अवसर खो बैठनेपर अपने आपको कर्तव्य करने के लिये समर्थ भी नहीं पाया करता। इस प्रकार के कर्तव्यविमूढ अपने अन्दर से ऐसी अमूल्य शक्तिका ह्रास करते हैं जिसे पाना उनके लिये फिर असम्भवसा दिखाई देता है। वह शक्ति जो वीर्य, बल और उत्साह की मूल शक्ति है उसे प्राचीन भारत के ऋषियों ने 'ओजशक्ति' कहा है।

सात्त्विक वीर्यबलके साथ साथ ओजशक्ति का विकास होता है जिससे मनुष्य के अन्दर उत्साह बढता है और फिर द्वन्द्व सहनेका सामर्थ्य उत्पन्न होता है। द्वन्द्वों का सहन ही सच्ची तपस्या है। ओजशक्ति अन्दर रहनेवाली ज्योति है जिसके सहारे हृदयाकाशमें सदैव प्रकाश रहता है। ओजशक्ति ही शरीर में वह गरमी स्थिर रखती है जिससे जीवन की वृद्धि होती है और मनुष्य नित्य नवजीवन अनुभव करता है। आनन्द इसी अन्तर्हित शक्ति पर निर्भर है।

ओजके माहात्म्यके विषयमें वाग्भटाचार्य लिखते हैं-

ओजश्च तेजो धातूनां सक्रांतानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्॥
यस्य प्रवृद्धो देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयः।
यन्नाशे नियतो नाशो यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्॥
निष्पर्धन्ते यतो भावी विविधा देहसंश्रयाः।
उत्साहः प्रतिभा धैर्यं लावण्यं सुकुमारता॥

रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र, शरीरमें रहनेवाली इन सातों धातुओंका तेज (तत्त्व) ओज होता है। वह हृदय में रहते हुए ही सारे शरीरमें व्याप्त रहता है। इसी ओजके बढने से तुष्टि (मनका उत्साह), पुष्टि (शरीरके सब अंगों की मजबूती) और बलका उदय होता है। इसी ओजके नाश होनेसे अथवा जीर्ण होनेसे निश्चय ही मनुष्य का नाश हो जाता है। इसी ओजके स्थिर रहने से मनुष्यकी जीवनशक्ति (आरोग्यता) स्थिर होती है और उत्साह, प्रतिभा, धैर्य, लावण्य, सौन्दर्य और सकुमारता आदि सारी संपत्ति मिलती है।

प्रिय पाठक! अपना निरीक्षण करो और देखो कि आप आपनी ओजशक्ति का अनुभव करते हो या नहीं? आपका अन्य लोगों पर कैसा प्रभाव पडता है! अपके शब्द कठोर तो नहीं होते? क्या आपकी वाणी में मधुरता है? आपकी क्रियातों में रुचि है? क्या आप प्राकृतिक सौन्दर्य को अनुभव करते हैं? क्या आप आपने कर्तव्योंको आरम्भसे अन्ततक उत्साहपूर्वक करते हैं? क्या आप अपने विचारों को प्रकट करने के अवसर तक गुप्त रख सकते हैं? क्या आप अपनी शक्ति पर विश्वास रखते हैं? क्या आपको निश्चय है कि आप अपना भविष्यत् अधिक सुन्दर और उन्नत बना सकते हैं? क्या आपको भगवान के सत्य नियम पर भरोसा है? क्या आप उत्साहपूर्वक आगे बढना अपना कर्तव्य समझते हैं? यदि आप इन प्रश्नों का उत्तर आपने आपको दृढतापूर्वक 'हां' कहकर दे सकते हैं तो आपके अन्दर ओजशक्ति है और आपकी प्रगति और उन्नति में कोई बाधा नहीं हो सकती। वरना यदि आप निश्चयपूर्वक 'हां' ऐसा उत्तर देने में संकोच करते हो, तो भी घबराओ मत, नियमानुसार जीवन व्यतीत करने, अर्थात् सात्विक भोजन खाने और समय पर सोने जागने, व्यायाम, प्राणायाम, भगवत् भजन तथा अपने कर्तव्यों को प्रेम और दृढतापूर्वक करने से आपमें ओजशक्ति उत्पन्न हो सकती है। ओजशक्ति शुद्ध आचरण रखने से, सत्य पालन करने तथा नियमपूर्वक जीवनचर्या करने से अवश्य स्थिर रहती है और फिर प्रेम और उत्साह बढकर साधक का चित्त निरंतर प्रसन्न रहता है। प्रसन्नचित्त मनुष्य की बुद्धि सुगमतासे एकाग्र और निश्चित हो जाती है और फिर भगवान् की कृपासे साधक का यश, श्री और प्रभाव अवश्य बढता है।

कामको वापस भेजो।

[१३०]

(ऋषिः-अथर्वांगिराः । देवता-स्मरः)

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः ।
देवाः प्र हिंणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥
असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति ।
देवाः प्र हिंणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ २ ॥
यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन ।
देवाः प्र हिंणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ ३ ॥
उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु ॥ ४ ॥

अर्थ— (रथजितां राथजितेयीनां अप्सरसां) रथसे जीतनेवाली और रथसे जीतीगई अप्सरोंका (अयं स्मरः) यह काम है। हे देवो ! (स्मरं प्रहिणुत) इस कामको दूर करो, (असौ मां अनुशोचतु) वह मेरा शोक करे ॥ १ ॥

(असौ मे स्मरतात् इति) यह मुझे स्मरण करे, (प्रियः मे स्मरतात इति) मेरा प्रिय मुझे स्मरण करे। हे देवो ! (स्मरं प्रहिणुत) इस कामको दूर कर। (असौ मां अनुशोचतु) वह मेरा शोक करे ॥ २ ॥

(यथा असौ मम स्मरात्) जिस प्रकार यह मेरा स्मरण करे (अमुष्य अहं कदाचन न) उसका मैं कदापि स्मरण न करूं, हे देवो ! (स्मरं०) इस कामको दूर करो, वह मेरा शोक करे ॥ ३ ॥

हे मरुतो ! (उन्मादयत) उन्मत्त करो। (अन्तरिक्ष ! उन्मादय) हे अन्तरिक्ष ! उन्मत्त करो। हे अग्ने ! (त्वं उन्मादय) तू उन्माद कर। (असौ मां अनुशोचतु) वह मेरा शोक करे ॥ ४ ॥

कामको लौटादो।

इसका आशय स्पष्ट है। किसीके विषयमें मनमें काम उत्पन्न हो जाय, तो उसको जिसके कारण वह काम उत्पन्न हुआ हो उसके पास वापस करना चाहिये। अपने मनमें उसको स्थान देना नहीं चाहिये। दूसरेके मनमें कितना भी काम विकार रहे परंतु उसको अपने मनमें स्थान देना नहीं चाहिये। जिस अवस्थामें दूसरे लोक-स्त्री या पुरुष-कामके कारण उन्मत्त, प्रमत्त और बेहोपसे होते हैं, वैसी अवस्था प्राप्त करनेपर भी कामका असर अपने मनपर नहीं होने देना चाहिये। इस प्रकार अपना मन काम विकारसे दूर रखना चाहिये।

---

[१३१]

(ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः। देवता—स्मरः)

नि शीर्षतो नि पत्तत आध्योऽ३ नि तिरामि ते।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥
अनुमतेन्विदं मन्यस्वाकूते समिदं नमः।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ २ ॥
यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥ ३ ॥

अर्थ—(ते आध्यः शीर्षतः पत्ततः) तेरी व्यथाएं सिरसे और पांवसे (नि नि नि तिरामि) हटा देता हूं। हे (देवाः) देवो! (स्मरं प्रहिणुत) कामको दूर करो (असौ मां अनुशोचतु) वह काम मेरे कारण शोक करे ॥ १ ॥

हे (अनुमते) अनुमति! (इदं अनुमन्यस्व) इसको तू अनुकूल मान। हे (आकूते) संकल्प! तू (इदं नमः सं) यह मेरा नमन स्वीकार कर। हे देवो! कामको दूर करो, और वह मेरे कारण शोक करे ॥ २ ॥

(यत् त्रियोजनं धावसि) जो तीन योजन दौडता है, अथवा (आश्विनं पञ्चयोजनं) घोडेपरसे पांच योजन जाता है, (ततः त्वं पुनः आयासि)

वहांसे तू पुनः आता है (नः पुत्राणां पिता असः) हम पुत्रोंका तू पिता है ॥ ३ ॥

यह सूक्त भी पूर्वसूक्तके समान ही कामविकारको दूर करनेकी सूचना देता है। कामविकार को दूर करना चाहिये। जिस किसीके विषयमें काम विकार उत्पन्न हुआ हो, वह चाहे शोक करता रहे, या तडफता रहे, परंतु स्वयं उस कामके वशमें नहीं होना चाहिये।

तृतीय मंत्रका कथन है कि चाहे कितना भी दूर-घरसे बहुत दूर-काम काजके लिये घरके मनुष्य क्यों न जांये, उनको अपने घर अवश्यही वापस आना चाहिये और घरके बाल बच्चोंका पालन करना चाहिये। अर्थात् अपने घरमें आकर सोना चाहिये। बाहर दूसरेके घरमें सोना उचित नहीं। इस मंत्रका अर्थ प्रकरणानुकूल समझना चाहिये, अर्थात् घरमें सोनेसे कामवशता की संभावना कम होती है। इस विषयमें इतने संकेतसेही पाठक जानसकते हैं कि, मंत्रका निर्देश क्या है। अधिक विवरण की आवश्यकता नहीं है।

[१३२]

(ऋषिः- अथर्वाङ्गिराः। देवता-स्मरः)

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ १ ॥
यं विश्वे देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ २ ॥
यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चदप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ३ ॥
यमिन्द्राग्नी स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ४ ॥
यं मित्रावरुणौ स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ५ ॥

अर्थ— (देवाः, विश्वेदेवाः, इन्द्राणी, इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ) देव, सब

देव, इन्द्रशक्ति, इन्द्र और अग्नि तथा मित्र और वरुण ये सब देव (यं शोशुचानं स्मरं) जिस शोक करानेवाले कामको (आध्या सह) व्यथाओंके साथ (अप्सु अन्तः आसिञ्चन्) जलके प्रतिनिधिभूत वीर्यमें सींचते हैं,(वरुणस्य धर्मणा) वरुण नामक जल देवके धर्मसे (ते तं तपामि) तेरे उस कामको तपाता हूं। अर्थात उस तापसे वह तप्त होकर दूर होवे, और हमें कभी न सतावे ॥ १—५ ॥

सब देवोंने शरीरके अंदर जो रेत है उस रेतमें कामको रखा है। वहां रहता हुआ यह काम मनुष्योंको सताता है और विविध कष्ट देता है। यह काम जो उस रेतके स्थानमें रहता है उसके साथ (आध्या सह) अनेक आधियां अर्थात् मानसिक व्यथाएं रहती हैं। काम जहां होता है वहां मानसिक कष्ट बहुत होते हैं। इसका सिलसिला ऐसा है—

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ॥
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥
भ० गी० २

" विषयोंके संगसे काम होता है, कामसे क्रोध, क्रोधसे मोह, मोहसे भ्रम, भ्रमसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे सर्वस्वनाश होता है। "

इस प्रकार कामके साथ नाश लगा है। अतः उसको दूर करना चाहिये। जितना धर्मानुकूल काम हो उतना ही लेना चाहिये। धर्मविरुद्ध कामको छोड देना चाहिये। इसलिये कहा है कि कामके साथ अनेक विपत्तियां लगी हैं और विपत्तियोंसे मनुष्य (शोशुचान) शोकाकुल हो जाता है। यह काम सबको शोकसागर में डालनेवाला है। (शुच् धातुके दो अर्थ हैं तेजस्वी होना और शोकयुक्त होना) ये दोनों इसके कर्म हैं। स्वयं तेजस्वी दीखता हुआ सबको शोकमें डाल देता है। इसलिये मनःसंयमसे उसको तपाना या सुखाना चाहिये, जिससे वह दूर होगा और कष्ट न दे सकेगा ॥

मेखलाबंधन ।

[१३३]

(ऋषिः-अगस्त्यः । देवता-मेखला)

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज ।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उ नो वि मुञ्चात् ॥ १ ॥

आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम् ।
पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥ २ ॥

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय ।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ ३ ॥

श्रद्धाया दुहिता तपसोधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव ।
सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥ ४ ॥

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे ।
सा त्वं परि ष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥ ५ ॥

अर्थ—(यः देवः इमां मेखलां आबबन्ध) जिस आचार्य देवने इस मेखलाको मेरे शरीरपर बांधा है, (यः संननाह) जो हमें तैयार रखता है और (यः उ नः युयोज) जो हमें कार्यमें लगाता है । (यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः) जिस आचार्य देवके आशीर्वादसे हम व्यवहार करते हैं, (सः पारं इच्छात) वह हमारे दुःखके पार होनेकी इच्छा करे और (सः उ नः विमुञ्चात) वही हमें बंधनसे छुडावे ॥ १ ॥

हे मेखले ! (आहुता अभिहुता असि) तू सब प्रकारसे प्रशंसित है । तू (ऋषीणां आयुधं असि) ऋषियोंका आयुध है । तू (व्रतस्य पूर्वा प्राश्नती) किसी व्रतके पूर्व बांधी जाती है । तू (वीरघ्नी भव) शत्रुके वीरोंको मारनेवाली हो ॥ २ ॥

(यत् अहं मृत्योः ब्रह्मचारी अस्मि) जिस कारण मैं मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी हूं, उस कारण मैं (भूतात् पुरुषं यमाय निर्याचन्) मनुष्य प्राणियोंसे एक पुरुषको मृत्युके लिये मांगता हूं और (तं अहं) उस पुरुषको मैं (ब्रह्मणा तपसा श्रमेण) ज्ञान, तप और परिश्रम करनेकी शक्तिके साथ (एनं अनया मेखलया सिनामि) इस पुरुषको इस मेखलासे बांधता हूं ॥ ३ ॥

यह मेखला (श्रद्धाया दुहिता) श्रद्धाकी दुहिता, (तपसः अधिजाता) तपसे उत्पन्न हुई, (भूतकृतां ऋषीणां स्वसा बभूव) भूतोंको बनानेवाले ऋषियोंकी भगिनी हुई है। हे मेखले! (सा) वह तू (न मतिं मेधां आधेहि) हमें उत्तम बुद्धि और धारणाशक्ति दे। (अथो तपः इन्द्रियं च नः धेहि) और तपशक्ति और उत्तम इंद्रियां हमें प्रदान कर ॥ ४ ॥

हे मेखले! (यां त्वा पूर्वे भूतकृतः ऋषयः परिबेधिरे) जिस तुझको पूर्वकालके भूतोंको बनानेवाले ऋषि बांधते रहे (सा त्वं दीर्घायुत्वाय मां परिष्वजस्व) वह तू दीर्घायुके लिये मुझे आलिंगन दे ॥ ५ ॥

भावार्थ—गुरु शिष्यकी कमरमें मेखला बांधता है और उसको सत्कर्म करनेके लिये, मानो, तैयार करता है। ऐसे गुरुके आशीर्वादके साथ जो शिष्य व्यवहार करते हैं वे संपूर्ण दुःखोंसे पार होते हैं और अन्तमें मुक्ति भी प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

मेखलाकी सब प्रशंसा करते हैं, यह मेखला ऋषियोंका शस्त्र है। हर-एक कार्य करनेके पूर्व कमर बांधकर तैयार होनेकी शिक्षा इससे मिलती है। इस प्रकार कटिबद्ध होकर कार्य करनेसे सब शत्रु दूर होते हैं ॥२॥

मेखला बांधनेका अर्थ कटिबद्ध होना है। विशेष कार्यके लिये मेखला बंधन करनेसे, मानो, वह मृत्युको स्वीकारनेके लिये ही सिद्ध होता है। सब ब्रह्मचारी मृत्युको स्वीकारनेके लियेही तैयार होते हैं। इतनाही नहीं परंतु वे मनुष्योंमेंसे कई मनुष्योंको इस प्रकार मृत्यु स्वीकारनेके लिये तैयार करते हैं। ज्ञान तप, परिश्रम और कटिबद्धता इन गुणोंसे वे युक्त होते हैं ॥ ३ ॥

मेखला श्रद्धासे बांधी जाती है। उससे तप करनेकी प्रवृत्ति होती है। श्रेष्ठ ऋषियोंसे यह कटिबंधनका प्रारंभ हुआ है। यह कटिबंधन सबको उत्तम बुद्धी, धारणा शक्ति, इंद्रियशक्ति और तप देवे॥ ४॥

ऋषिलोग इस मेखलाको बांधते हैं, अतः यह मेखला हमें दीर्घायु देवे॥ ५॥

कटिबद्धता।

मेखलाबंधन 'कटिबद्धता' का सूचक है। हरएक कार्यके लिये कटिबद्ध होना आवश्यक होता है, अन्यथा वह कार्य बन नहीं सकता। भाषामें भी कहते हैं कि कमर कसके वह मनुष्य इस कार्यको करने लगा है, अर्थात् कार्य ठीक होनेके लिये कमर कसनेकी आवश्यकता है। ऋषिलोग तथा ब्रह्मचारीगण मेखला बंधन करते थे इसका अर्थ यही है कि वे कमर कसके धर्मकार्य करनेके लिये सदा तैयार रहते थे। इसी कारण वे यश प्राप्त करते थे।

साधारण कार्य करनेमें कोई विशेष डर नहीं होता है, परंतु कई ऐसे महान कार्य होते हैं कि उनके करनेसे प्राण जानेकी भी संभावना होती है। देशहित, राष्ट्रहित या जातिहित करने आदिके महान कार्योंमें कई मनुष्योंको अपने सर्वस्वकी आहुती देनी होती है,इस कार्यके लिये गुरु शिष्योंको तैयार करता है—

इमां मेखलां आबबन्ध, संननाह, नः युयोज। (मं० १)

" हमारे गुरुने यह मेखला हमपर बांधी, उसने हमें तैयार किया और हमें सत्कार्यमें लगाया " यह गुरुका कार्य है। और यही विद्या सीखनेका हेतु है। विद्या पढकर ब्रह्मचारीगण जनपदोद्धार करनेके कार्यके लिये सिद्ध हो जावें और अपने आपको उस कार्य में तत्परताके साथ लगा देवें। पाठशालामें पढानेवाले गुरु भी ऐसे हों, कि जो अपने विद्यार्थियोंको इस ढंगसे तैयार करें और राष्ट्रीय विद्यापीठकी पढाई भी ऐसी होनी चाहिये कि, जिनमें पढे हुए विद्यार्थी जनहितके कार्य करनेके लिये सदा तैयार हों, सदा कटिबद्ध हों। जो शिष्य इस प्रकार अपने गुरुजीका आशीर्वाद लेकर कार्य करते हैं, उनका बेडा पार होजाता है—

यस्य प्रशिषा चरामः, स पारं इच्छात, स नः विमुञ्चात्। (मं० १)

" जिस गुरुके आशीर्वादको प्राप्त करके हम कार्य करते हैं, वह हमें दुःखसे पार करता है और बंधनोंसे मुक्त भी करता है। " ऐसे गुरु और ऐसे शिष्य जहां होंगे उस देशका सौभाग्य हमेशा ऊंची अवस्थामें रहेगा। इसमें संदेह नहीं है।

यह मेखला इस प्रकार कटिबद्धताकी सूचना देती है इसीलिये सब लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। हरएक कार्यका प्रारंभ करनेके पूर्व इसी कारण मेखला बांधी जाती है और इसी कारण इससे शत्रुका बल कम होता है।

विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य करनेके समय सर्वस्वनाश का भय होता है, मृत्युका भी भय होता है। यदि इस भय की कल्पना न होगी तो वैसा समय आनेपर मनुष्य डर जायगा और पीछे हटेगा। ऐसा न हो इस लिये प्रारंभसे ही इस विद्यार्थीको यह शिक्षा दी जाती है कि—

अहं मृत्योः ब्रह्मचारी अस्मि। (मं० ३)

"मैं मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी हूं।" ब्रह्मचारी समझता है कि मैंने मृत्युको ही आलिंगन दिया है। मृत्युको ही स्वीकारा है। जब कोई मनुष्य आनंदसे मृत्युका अतिथि बनता है, तब उसको और कौनसी अवस्था है कि जिसमें उसको डर लग जावे? जिसने आनंदसे मृत्युको स्वीकारा उसका सब डर मिट गया, क्योंकि सबसे बडे भारी डरको उसने हाजम किया है। ब्रह्मचारीको इस प्रकारकी शिक्षा मिलनी चाहिये। इस प्रकारका निडर बना ब्रह्मचारी भी—

भूतात् यमाय पुरुषं नियाचन्। (मं० ३)

"जनतासे मृत्युके लिये एक पुरुषकी याचना करता है।" अर्थात् वह ब्रह्मचारी जैसा स्वयं निर्भय होकर कार्य करता है, उसी प्रकार अन्य मनुष्योंको भी निर्भय बनाता है, इस निर्भय बने हुए मनुष्य—

ब्रह्मणा, तपसा, श्रमेण, मेखलया। (मं० ३)

"ज्ञान, तप अर्थात् शीतोष्ण सहन करनेकी शक्ति, परिश्रम करनेका बल और मेखलाबंधन अर्थात् कटिबद्ध होनेका गुण" इनसे युक्त होते हैं। और जो इनसे युक्त होते हैं वे सबसे श्रेष्ठ होते हैं।

मेखलाबंधनसे मति, धारणाबुद्धि, शीतोष्णसहन करनेका सामर्थ्य और सुदृढ इंद्रिय की प्राप्ति होती है। तथा दीर्घायु भी प्राप्त होता है। इस प्रकार मेखलाका महत्त्व है। पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करें।

——

शत्रुका नाश।

[१३४]

(ऋषिः- शुक्रः । देवता- मन्त्रोक्ता, वज्रः)

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम् ।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः ॥ १ ॥
अधरोधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत् ।
वज्रेणावहतः शयाम् ॥ २ ॥
यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि ।
जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं ऋतस्य वज्रः तर्पयतां) यह सत्यका शस्त्र तृप्ति करे, यह (अस्य राष्ट्रं अवहन्तु) इसके शत्रुभूत राष्ट्रका नाश करे और (जीवितं अपहन्तु) शत्रुके जीवनका भी नाश करे। (शचीपतिः वृत्रस्य इव) इन्द्र जैसा वृत्रका पराभव करता है, उस प्रकार यह शत्रुकी (ग्रीवाः शृणातु) गर्दनोंको काटे और (उष्णिहा प्र शृणातु) धमनियोंको काट देवे ॥ १ ॥

(उत्तरेभ्यः अधरः अधरः) उत्कृष्टोंसे नीचे और नीचे होकर (पृथिव्याः गूढः) पृथ्वीमें छिपकर रहे और (मा उत्सृपत) कभी ऊपर न आवे। तथा (वज्रेण अवहतः शयाम) वज्रसे मारा जाकर पडा रहे ॥ २ ॥

हे वज्र ! (यः जिनाति तं अन्विच्छ) जो हानि करता है उसको ढूंढ निकाल। (यः जिनाति तं इत् जहि) जो कष्ट पहुंचाता है उसीको मार डाल। (त्वं जिनतः सीमन्तं अन्वञ्चम् अनुपातय) तू दुःख देनेवालेके सिरको सीधा गिरा दे ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह वज्र सत्यका संरक्षण करता है और असत्यका नाश करता है। जो इस राष्ट्रका नाश करना चाहता है उस शत्रुका नाश इस वज्रसे होगा। यह वज्र उनका नाश करे जो दूसरोंको सताते हैं ॥ १ ॥

शत्रुका अधःपतन होवे, वे अपना सिर कभी ऊपर न करें और अन्तमें वज्रसे मारे जाकर भूमिपर गिर जावें ॥ २ ॥

जो विनाकारण दूसरेका नाश करता है उसीका नाश करना योग्य है। उसी दुष्टका सिर काटा जावे ॥ ३ ॥

वज्रादि शस्त्रोंका उपयोग।

वज्र आदि शस्त्रास्त्रोंका उपयोग जनताकी हानि करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके कार्यमें ही किया जावे। सत्य पक्षकी सहायता करने और असत्पक्षका विरोध करनेके कार्यमें इन शस्त्रोंका उपयोग किया जावे। असत्पक्षके लोग समयसमयपर प्रबल भी हुए तथापि वे दिन प्रतिदिन नीचे गिरते जाते हैं। उनका पक्षही ऐसा होता है कि, वह उनको उठने नहीं देता। जिसके कारण जनताकी हानि होती है, सब मिलकर उसका नाश करें।

---

[१३५]

(ऋषिः-शुक्रः। देवता-मन्त्रोक्ता, वज्रः)

यद॒श्नामि॒ बलं॑ कुर्व इ॒त्थं वज्र॒मा द॑दे।
स्कन्धा॑नमु॒ष्य॑ शा॒तय॑न् वृ॒त्रस्ये॑व॒ शची॒पतिः॑ ॥ १ ॥
यत् पिबा॑मि॒ सं पि॑बामि समु॒द्र इ॑व संपि॒बः।
प्रा॒णान॒मुष्य॑ सं॒पाय॒ सं पि॑बामो अ॒मुं व॒यम् ॥ २ ॥
यद् गिरा॑मि॒ सं गि॑रामि समु॒द्र इ॑व संगि॒रः।
प्रा॒णान॒मुष्य॑ सं॒गीर्य॒ सं गि॑रामो अ॒मुं व॒यम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(यत् अश्नामि बलं कुर्वे) जो मैं खाऊं उससे मैं अपना बल बढावूं। (इत्थं वज्रं आददे) इस प्रकार मैं वज्र हाथमें लेता हूं और (अमुष्य स्कन्धान् शातयन्) उस शत्रुके कन्धोंको काटता हूं (शचीपतिः वृत्रस्य इव) इन्द्र जैसे वृत्रको काटता है ॥ १ ॥

(यत् पिबामि संपिबामि) जो मैं पीता हूं वह ठीक पी जाता हूं। (समुद्रः इव संपिबः) समुद्र जैसा पीता है। (अमुष्य प्राणान् संपाय) उस शत्रुके प्राणोंको पीकर (वयं अमुं सं पिबामः) हम उसको पी जाते हैं ॥ २ ॥

(यत् गिरामि संगिरामि) जो मैं निगलता हूं उसको ठीक गलेके

नीचे उतार देता हूं (समुद्रः इव संगिरः) समुद्रके समान निगलता है। (अमुष्य प्राणान् संगीर्य) उसके प्राणोंको निगलकर (वयं अमुं संगिरामः) हम उसको गलेके नीचे उतार देते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मैं खाता हूं और गलेके नीचे उतारता हूं, उसका मैं अपने अंदर बल पैदा करता हूं। जिस प्रकार समुद्र नदियों और वृष्टि-जलोंको पीता है और अपनाता है, उसी प्रकार मैं भी खाये और पीये हुए अन्नरसोंको अपनाता हूं और उनसे अपना बल बढाता हूं। और उस बलसे युक्त होकर हाथमें सत्य पक्षकी रक्षाके लिये शस्त्र लेता हूं और दुष्टोंका नाश करता हूं ॥ १-३ ॥

अपना बल बढाकर उस बलका उपयोग दुष्टोंके दमन करनेके कार्यमें करना चाहिये।

केशवर्धक औषधि।

[१३६]

(ऋषिः-वीतहव्योऽथर्वा। देवता-वनस्पतिः)

देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे।
तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि ॥ १ ॥
दृंह प्रत्नान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि ॥ २ ॥
यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते।
इदं तं विश्वभेषज्याभि षिञ्चामि वीरुधा ॥ ३ ॥

अर्थ—हे ओषधे! तू (देवी देव्यां पृथिव्यां अधि जाता) दिव्य औषधी पृथिवी देवीमें उत्पन्न हुई है। हे (नितत्नि) नीचे फैलनेवाली औषधि! (तां त्वा केशेभ्यः दृंहणाय खनामसि) उस तुझ औषधिको केशोंको सुदृढ करनेके लिये खोदते हैं ॥ १ ॥

(प्रत्नान् दृंह) पुराने केशोंको दृढ कर, (अजातान् जनय) जहां नहीं उत्पन्न होते वहां उत्पन्न कर। (जातान् उ वर्षीयसः कृधि) और जो उत्पन्न हुए हैं उनको बडे लंबे बनाओ ॥ २ ॥

(यः ते केशः अवपद्यते) जो तेरा केश गिर जाता है, (यः च समूलः वृश्चते) और जो मूलके सहित टूट जाता है, (इदं तं विश्वभेषज्या वीरुधा अभिषिञ्चामि) इस केशको केशदोषको दूर करनेवाली लताके रससे भिगा देता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— नितत्नी नामक औषधी पृथ्वीपर उगती है उसके प्रयोगसे केश सुदृढ होते हैं। केश पुराने हों, जो टूटते हों, गिरजाते हों, इस औषधीके रसके लगानेसे वह सब दोष दूर होजाता है और बाल सुदृढ हो जाते हैं। जहां बाल उगते नहीं वहां इस औषधिका रस लगानेसे बाल आते हैं और जहां आते हैं वहांके बाल बडे लंबे हो जाते हैं ॥ १-३ ॥

यह नितत्नी नामक औषधी केशवर्धक करके कही है, परंतु यह कौनसी औषधी है इसका पता नहीं चलता। वैद्योंको योग्य है कि वे इस औषधिकी खोज करें और प्रकाशित करें।

[१३७]

(ऋषिः- वीतहव्योऽथर्वा । देवता- वनस्पतिः)

यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम् ।
तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः ॥ १ ॥
अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ २ ॥
दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ ३ ॥

अर्थ- (जमदग्निः यां केशवर्धनीं दुहित्रे अखनत्) जमदग्निने जिस केशवर्धक औषधिको अपनी कन्याके निमित्त खोदा (तां वीतहव्यः असितस्य गृहेभ्यः आभरत्) उसको वीतहव्यने असितके घरोंके लिये भर लिया ॥ १ ॥

जो (अभीशुना मेया आसन्) केश अंगुलियोंसे मापे जाते थे वे (व्यामेन अनुमेयाः) हाथोंसे मापने योग्य होगये। (ते शीर्ष्णः परि) तेरे सिर पर (असिताः केशाः) काले केश (नडाः इव वर्धन्तां) नरकट घासके समान बढें ॥ २ ॥

हे औषधे ! (मूलं दृंह) केशका मूल दृढ कर (अग्रं वि यच्छ) अग्रभागको ठीक कर और (मध्यं यामय) मध्यभागका नियमन कर । (ते शीर्ष्णः परि) तेरे सिरके ऊपर (असिताः केशाः नडाः इव वर्धन्तां) काले केश नरकट घासके समान बढें ॥ ३ ॥

उक्त केशवर्धक औषधिके रसके उपयोगसे केश बहुत बढ जाते हैं । जलके स्थानमें जैसा घास बहुत बढता है उस प्रकार केश बढते हैं और केशोंके मूल भी सुदृढ हो जाते हैं, इस कारण वे टूटते नहीं । यह केशवर्धक औषधि वही है कि जो पूर्व सूक्तमें वर्णित है । यह औषधि अन्वेषणीय है । क्योंकि इसका पता नहीं चलता ।

[१३८]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- वनस्पतिः)

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे ।
इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि ॥ १ ॥

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि ।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ ॥ २ ॥

क्लीब क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम् ।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि ॥ ३ ॥

ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम् ।
ते ते भिनद्मि शम्ययामुष्या अधि मुष्कयोः ॥ ४ ॥

यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना ।
एवा भिनद्मि ते शेपोमुष्या अधि मुष्कयोः ॥ ५ ॥

अर्थ- हे ओषधे ! (त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमा अभिश्रुता) तू औषधियोंमें सबसे अधिक श्रेष्ठ सर्वत्र प्रसिद्ध है। (अद्य इमं मे पूरुषं) आज इस मेरे पुरुषपशुको (क्लीबं ओपशिनं कृधि) क्लीब स्त्रीसदृश कर ॥ १ ॥

(क्लीबं ओपशिनं कृधि) क्लीब और स्त्रीसदृश कर। (अथो कुरीरिणं कृधि) और सिरपर बाल रखनेवाला कर। (अथ इन्द्रः ग्रावभ्यां) और इन्द्र दो पत्थरोंसे (अस्य उभे आण्ड्यौ भिनत्तु) इसके दोनों अण्डकोश छिन्नभिन्न करे ॥ १ ॥

हे क्लीब ! (त्वा क्लीबं अकरं) तुझे क्लीब बना दिया है। हे (वध्रे) निर्बल ! (त्वा वध्रिं अकरं) तुझे निर्बल बना दिया है। हे (अरस) रसहीन ! (त्वा अरसं अकरं) तुझे रसहीन बना दिया है। (अस्य शीर्षणि कुरीरं) इसके सिरपर बाल और उनमें (कुम्बं च अधिनिदध्मसि) आभूषण भी धर देते हैं ॥ ३ ॥

(ये ते देवकृते नाड्यौ) जो तेरी देवोंद्वारा बनाई नाडियां हैं, (ययोः वृष्ण्यं तिष्ठति) जिनमें वीर्य रहता है, (ते ते अभिमुष्कयोः अधि) वे तेरे दोनों अण्डोंके ऊपर (अमुष्या शम्यया भिनद्मि) इस दण्डेसे तोड देता हूं ॥ ४ ॥

(यथा स्त्रियः कशिपुने नडं अश्मना भिन्दन्ति) जिस प्रकार स्त्रियां चटाई बनानेके लिये नरकुलेको पत्थरोंसे कूटते हैं। (एवा अमुष्य ते शेपः) इस प्रकार तेरा इंद्रिय (ते मुष्कयोः अधि भिनद्मि) तेरे अण्डकोशोंके ऊपर कूटता हूं ॥ ५ ॥

बैल घोडा आदि पुरुष पशुओंको पुरुषत्वसे हीन बनानेके लिये वीर्यकी नाडियां तोडना, अंडोंको कूटना, बधिया करना या अखता करना आदिकी विधि इसमें लिखी है। किसी औषधिका प्रयोग भी कहा है, परंतु उस औषधिके नामका पता नहीं लगता है। वीर्यनाडीयां काटना, अण्डकोशोंको तोडना, इत्यादि बातें आज भी प्रसिद्ध हैं।

सौभाग्यवर्धन।

[१३९]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-वनस्पतिः)

न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम ।
शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः ।
तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते ॥ १ ॥

शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम् ।
अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ २ ॥

संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद ।
अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥ ३ ॥

यथोदकमपपुषोपशुष्यत्यास्यम् ।
एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ ४ ॥

यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः ।
एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति ॥ ५ ॥

अर्थ—(मम सुभगंकरणी न्यस्तिका रुरोहिथ) मेरा सौभाग्य बढानेवाली और दोष दूर करनेवाली यह औषधी उत्पन्न हुई है। (तव शतं प्रतानाः) तेरी सौ प्रकारकी शाखाएं हैं और (त्रयस्त्रिंशत् नितानाः) तैतीस उपशाखाएं हैं। (तया सहस्रपर्ण्या) उस सहस्रपर्णी औषधिसे (ते हृदयं शोषयामि) तेरा हृदय शुष्क करता हूं॥ ९ ॥

(ते हृदयं मयि शुष्यतु) तेरा हृदय मेरे विषयमें विचारके सूख जावे। (अथो आस्यं शुष्यतु) और मुख सूख जावे। (अथो मां कामेन नि शुष्य) और मुझे कामसे शुष्क करके (अथो शुष्कास्या चर) शुष्क मुखवाली होकर चल॥ २ ॥

हे (बभ्रु कल्याणि) पोषण करनेवाली अथवा पीले रंगवाली और कल्याण करनेवाली ! तू (संवननी समुष्पला) सेवन करने योग्य और उत्साह बढानेवाली है। तू (अमूं संनुद) उसको प्रेरित कर,(मां च संनुद)

मुझे प्रेरित कर। हमारा (हृदयं समानं कृधि) हृदय समान कर ॥ ३ ॥

(यथा जलं अपपुषः) जिस प्रकार जल न पीनेवाले का (आस्यं शुष्यति) मुख सूख जाता है। (एवा मां कामेन नि शुष्य) इस प्रकार मेरे विषयक कामसे शुष्क होकर (अथो शुष्कास्या चर) सूखे मुखवाली होकर चल ॥ ४ ॥

(यथा नकुलः अहिं विच्छिद्य) जैसा नेवला सांपको काटकर (पुनः संदधाति) फिर जोडता है। (एवा वीर्यावति) इस प्रकार हे वीर्यावती औषधि ! (कामस्य विच्छिन्नं) काम के टूटे हुए संबंधको (सं धेहि) जोड दे ॥ ५ ॥

भावार्थ– सहस्रपर्णी औषधि सौभाग्य बढानेवाली और दोष दूर करनेवाली है। इसकी सेकडो शाखाएं होती हैं। इससे स्त्रीपुरुष वीर्यवान् होते हैं और परस्परके वियोग को सह नहीं सकते अर्थात् वियोग होनेपर सूख जाते हैं ॥ १-२ ॥

यह वनस्पति पुष्टि करनेवाली और सब प्रकार आनंद देनेवाली है, उत्साह भी बढाती है, इसलिये गृहस्थी स्त्रीपुरुषोंको सेवन करने योग्य है। स्त्रीपुरुषोंको परस्पर इच्छाकी प्रेरणा इसके सेवनसे होती है और दोनोंका हृदय समानतया परस्परके प्रति आकर्षित होता है ॥ ३ ॥

जिस प्रकार जल न मिलनेसे मनुष्य सूख जाता है, इस प्रकार कामसे स्त्रीपुरुष परस्पर प्राप्तिकी इच्छासे सूखते हैं ॥ ४ ॥

जिस प्रकार नेवला सांपको काटता है और पुनः जोडता है, उसी प्रकार वियुक्त स्त्रीपुरुषोंको पुनः जोड देना योग्य है ॥ ५ ॥

सहस्रपर्णी औषधि।

इस सूक्तमें सहस्रपर्णी औषधीका वर्णन है। यह औषधी स्त्री पुरुषोंको परस्पर संबंध करनेके योग्य पुष्ट और वीर्यवान बना देती है। इसके सेवन करनेपर स्त्रीपुरुषोंको परस्परका वियोग सहन करना असंभव है। निर्वीर्य पुरुष भी बडा उत्साहसंपन्न होता है। इस प्रकारकी यह सहस्रपर्णी औषधी कौंनसी वनस्पति है, इसका पता आजकलके वैद्यकग्रंथोंसे नहीं चलता। वैद्योंको इस विषयकी खोज करना चाहिये।

नेवलेका सांपको काटना और जोडना।

इस सूक्तके पंचम मंत्रमें " नेवला सांपको काटता है और उसको फिर जोड देता है" (नकुलः अहिं विच्छिद्य पुनः संदधाति) ऐसा कहा है। यह विश्वास प्रायः सर्वत्र भारतवर्ष में है। अथर्ववेदमें भी यहां यही बात कही है। अतः इस विषयकी खोज करनी चाहिये। यदि इस प्रकार की कोई वनस्पति मिली तो बडी लाभकारी हो सकती है।

दांतोंकी पीडा।

[१४०]

(ऋषिः– अथर्वा। देवता– ब्रह्मणस्पतिः)

यौ व्याघ्रावर्वरूढौ जिघंत्सतः पितरं मातरं च।
तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः ॥ १ ॥
व्रीहिमंत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ २ ॥
उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ।
अन्यत्र वां घोरं तन्वः परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ ३ ॥

अर्थ– (यौ व्याघ्रौ अवरूढौ) जो बाघके समान बढे हुए दो दांत (मातरं पितरं च जिघत्सतः) माता और पिताको दुःख देते हैं, हे ब्रह्मणस्पते ! हे (जातवेदः) ज्ञानी ? (तौ दन्तौ शिवौ कृणु) वे दोनों दांत कल्याण करनेवाले कर ॥ १ ॥

(व्रीहिं अत्तं यवं अत्तं) चावल खाओ, जौ खाओ, (अथो माषं अथो तिलं) उडद और तिल खाओ। (एष वां भागः रत्नधेयाय निहितः) यह तुम्हारा भाग रत्नधारणके लिये निश्चित हुआ है। हे दांतो ! पितरं मातरं च मा हिंसिष्टं) माता पिताको कष्ट न दो ॥ २ ॥

(सयुजौ स्योनौ सुमंगलौ दन्तौ उपहूतौ) साथ साथ जुडे हुए सुख-

दायी मंगलकारी दोनो दांत प्रशंसनीय हैं। (वां तन्वः घोरं अन्यत्र परैतु) तुम्हारे शरीरका कठोर दुःख दूर होवे। हे (दन्तौ) दांतो! (पितरं मातरं मा हिंसिष्टं) माता पिताको कष्ट न दो ॥ ३ ॥

बालकोंको जिस समय दांत आते हैं, उस समय उनको बडे कष्ट होते हैं, उनमें भी दो दांत ऐसे हैं कि जिनके कारण बालकोंको बडाही कष्ट होता है। बालकोंको कष्ट देख कर उनके मातापिता भी बडे दुःखी होते हैं।

इस समय बालकको चावल, जौ, उडद और तिल खाने देना चाहिये। जिस रीतिसे पचन हो जांय उस रीतिसे अच्छी प्रकार अन्न खाने देना चाहिये। इसके खानेसे दांत सुदृढ होते हैं और रत्नोंके समान सुन्दर होते हैं।

वैद्योंको सोचना चाहिये कि, यह पथ्य बालकोंसे किस प्रकार कराना चाहिये। हरएक बालकको दांतोंका कष्ट होता है, यदि यह पथ्य हितकारक सिद्ध हुआ, तो हरएक गृहस्थीका घर इससे लाभ उठा सकता है।

गौवोंपर चिह्न।

[१४१]

(ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—अश्विनौ)

वायुरेनाः समाकरत् त्वष्टा पोषाय ध्रियताम्।
इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद् रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु ॥ १ ॥
लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥ २ ॥
यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत।
एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना ॥ ३ ॥

अर्थ—(वायुः एनाः संआकरत) वायु इन गौओंको इकट्ठा करे, (त्वष्टा पोषाय ध्रियतां) त्वष्टा पुष्टी करे, (इन्द्रः आभ्यः अधिब्रवत) इन्द्र इनको पुकारे और (रुद्रः भूम्ने चिकित्सतु) रुद्र वृद्धिके लिये चिकित्सा करे ॥ १ ॥

(लोहेन स्वधितिना) लोहेकी शलाकासे (कर्णयोः मिथुनं कृधि) कानोंके ऊपर जोडीका चिन्ह कर । (अश्विनौ लक्ष्म अकर्ता) अश्विदेव चिन्ह करें, (तत् प्रजया बहु अस्तु) वह सन्ततिके साथ बहुत हितकारी हो ॥ २ ॥

(यथा देवासुराः चक्रुः) जिस प्रकार देवों और असुरोंने चिन्ह किये, (उत यथा मनुष्याः) और जैसे मनुष्यभी करते हैं, हे अश्विनौ ! (एवा सहस्रपोषाय लक्ष्म कृणुतं) इस प्रकार हजार प्रकारकी पुष्टी के लिये चिन्ह करो ॥ ३ ॥

गौवोंको इकट्ठा किया जावे, उनको यथोचित जल, घास आदि देकर पुष्ट किया जावे और उनको रोगरहित रखा जावे । लोहेके शस्त्रसे गौओंके कानोंपर चिन्ह करना योग्य है । इससे पहचानने में सुभीता होता है । यह चिन्ह कानपर सब देशोंमें किया जाता है और इससे बहुत लाभ होते हैं । वेदमें अन्यत्रभी गौओंके कानोंपर चिन्ह करनेका उल्लेख आता है । (अथर्व० १२।४।६ देखो)

अन्नकी वृद्धि

[१४२]

(ऋषिः-विश्वामित्रः । देवता-वायुः]

उच्छ्र्यस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव ।
मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत् ॥ १ ॥

आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वाच्छावदामसि ।
तदुच्छ्रयस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः ॥ २ ॥

अक्षितास्त उपसदोक्षिताः सन्तु राशयः ।
पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥ ३ ॥

॥ इति त्रयोदशोऽनुवाकः ॥

॥ इति षष्ठं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ—हे यव ! (स्वेन महसा उच्छ्रयस्व) अपनी महिमासे ऊपर उठ और (बहुः भव) बहुत हो, (विश्वा पात्राणि पृणीहि) सब बर्तनों को भर दे। (दिव्या अशनिः त्वा मा वधीत्) आकाश की बिजली तेरा नाश न करे ॥ १ ॥

(आशृण्वन्तं देवं त्वा यवं) हमारी बात सुननेवाले देवरूपी तुझ यव को (यत्र अच्छावदामसि) जहां हम उत्तम प्रशंसा की बात कहते हैं, वहां (द्यौः इव तत् उच्छ्रयस्व) आकाशके समान ऊंचा हो और (समुद्रः इव अक्षितः एधि) समुद्रके समान अक्षय हो ॥ २ ॥

(ते उपसदः अक्षिताः) तेरे पास बैठनेवाले अक्षय हों, (ते राशयः अक्षिताः सन्तु) तेरी राशियां अक्षय हों, (पृणन्तः अक्षिताः सन्तु) तृप्त करनेवाले अक्षय हों और (अत्तारः अक्षिताः सन्तु) खानेवाले भी अक्षय हों ॥ ३ ॥

अन्न आदि खाद्य पदार्थोंकी बहुत उत्पत्ति होवे। घरके धान्य भरनेके पात्र भरे हुए हों। और लोग उसको खाकर तृप्त हों, खानेवाले और खिलानेवाले भी उन्नत हों। प्रति वर्ष धान्य विपुल पैदा हो और सब लोग सुखी हों।

अथर्ववेद षष्ठ काण्ड

समाप्त.

अथर्ववेदके षष्ठ काण्डका थोडासा मनन ।

इस षष्ठ काण्डमें १४२ सूक्त हैं और उनमें निम्नलिखित विषयोंका विचार हुआ है । एक एक विषयका विचार करनेके समय निम्नलिखित प्रकरणोंके अनुसार सूक्तोंको विचार करेंगे तो पाठकोंको अधिक लाभ हो सकता है—

ईश्वर ।

ईश्वर संबंधी विचार करनेवाले निम्नलिखित सूक्त इस काण्डमें है— " १ अमृत प्रदाता ईश्वर, ३४ तेजस्वी ईश्वर, ३५ विश्वका संचालक देव, ३६ जगत्का एक सम्राट्," ये चार सूक्त परमेश्वरका वर्णन करते हैं " ३३ ईश्वरका प्रचण्ड सामर्थ्य, ६१ परमेश्वरकी महिमा," ये दो सूक्त परमेश्वरका अपार बल बता रहे हैं । यह परमेश्वर अपने हृदयमें है यह बात " ७६ हृदयमें अग्निकी ज्योति ।" इस सूक्तद्वारा प्रकट हो रही है और इसकी पूजा करनेका मार्ग "८० आत्मसमर्पण से ईश्वरकी पूजा," इस सूक्तद्वारा बताया है । यदि पाठक ये आठ सूक्त इकट्ठे पढेंगे, तो यह विषय उनके ध्यानमें ठीक प्रकार आ सकता है ।

आत्मोन्नति ।

आत्मोन्नति के विषयमें निम्नलिखित सूक्त इकठे विचार करने योग्य हैं—

पापसे बचाव करनेके विषयमें "११३ ज्ञानसे पापको दूर करना, ११५ पापसे बचना" ये दो सूक्त इकट्ठे विचार करने योग्य हैं । पापसे बचकर अपनी पवित्रता करनी चाहिये । इसलिये इस विषयके सूक्त " ६२ अपनी पवित्रता, २६ पापी विचार का त्याग करो, ४३ क्रोधका शमन, १९ आत्मशुद्धिके लिये प्रार्थना, ५१ अन्तर्बाह्यशुद्धता, १८ ईर्ष्या निवारण" ये हैं ।

संपूर्ण उन्नतिके लिये "१५ मैं उत्तम बनूंगा, ८९ सबसे श्रेष्ठ बनना" यह इच्छा चाहिये । इसीसे सब उन्नति होगी । यह इच्छा न रही तो उन्नतिकी संभावना नहीं है । इसी प्रकार अपने अंदर शक्ति है और "४१ अपनी शक्तिका विस्तार" करना चाहिये यह प्रबल इच्छा अवश्य चाहिये । अन्यथा उन्नति होना कठिन होगा ।

"५८ यशकी इच्छा, ६९ यशकी प्रार्थना, ३९ यशस्वी होना, ३८ तेजस्विताकी प्राप्ति, ४८;९९ कल्याणके लिये प्रार्थना," ये सूक्त मनुष्यको यशकी अभिलाषासे ऊपर उठाना चाहते हैं। जो यश कमाना चाहता है वह "५५ उत्तम मार्गसे जाने" को तैयार होता है और श्रेष्ठमार्गपरसे जाने के लिये " ४० निर्भय बननेकी प्रार्थना" करता है। क्यों कि निर्भय बननेके विना मनुष्य श्रेष्ठ नहीं बन सकता और श्रेष्ठ बननेके विना यशस्वी भी नहीं हो सकता। हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपनी उन्नतिके लिये "१०८ मेधाबुद्धि" की प्राप्तिके लिये यत्न करे और अपने अन्दर उसकी वृद्धी करे।

मुक्ति।

मनुष्यकी अन्तिम श्रेष्ठतम अवस्था मुक्ति है। यह दर्शाने के लिये इस काण्डमें निम्नलिखित सूक्त हैं- " ६३ बंधनसे मुक्त होना, १२१ बंधनसे छूटना, ११२ पाशोंसे छूटना, १२३ मुक्ति " ये सूक्त देखनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि बंधनकी निवृत्ती किस प्रकार हो सकती है, इस विषयका अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूक्त " १११ मुक्तिका अधिकारी " है, इन सब सूक्तोंमें कहा है कि जनताके उद्धारके कार्यमें आत्मसमर्पण करनेके विना मुक्ति मिल नहीं सकती। देवोंके संबंधी पाप मनुष्य करता है और राक्षसोंसे मित्रता करता है, इसलिये बद्ध होता है, इत्यादि भाव इन सूक्तोंमें विशेष रीतिसे देखने योग्य हैं।

अपनी रक्षा।

बालकसे लेकर वृद्धतक सब मनुष्य चाहते हैं कि अपनी रक्षा हो, मैं सुरक्षित रहूं। इस लिये वेदमें भी अपनी रक्षा करनेका विषय विशेष रीतिसे कहा है। इस विषयके सूक्त ये हैं- " ५३; ७९; ९३; १०७ अपनी रक्षा, ३; ४; ४७ रक्षाकी प्रार्थना, ७७ सबकी स्थिरता " इत्यादि सूक्त इस विषयमें बडे उपयोगी हैं। अपनी रक्षा होनेका अर्थ यह है कि, अपना " ८४ दुर्गतिसे बचाव " करना। इस कार्यके लिये अपने अन्दर " १०१ बल प्राप्त करना " चाहिये। बलके विना कोई मनुष्य दुर्गतिसे अपना बचाव नहीं कर सकता। हरएकको कटिबद्ध होकर अपने बचावका और अपनी उन्नतिका कार्य करना चाहिये। इसीलिये " १३३ मेखलाबंधन " करते हैं। यह सूक्त अनेक दृष्टियोंसे विचार करने योग्य है।

चिकित्सा ।

इस काण्डमें चिकित्सा विषयके सूक्त करीब २६ हैं। चिकित्सा विषय अथर्ववेदका प्रधान विषय है। इस काण्डमें " क्षयरोगचिकित्सा " के १३; २०; ८५; १२७; ये चार सूक्त हैं। इसी रोगके साथ "खांसी" का संबंध है इसलिये "१०५ खांसी को दूर करने" का उपाय बतानेवाला सूक्त भी उक्त सूक्तोंके साथही पढना योग्य है।

'जलचिकित्सा' के सूक्त २३; २४; ५७; ९१ ये चार सूक्त हैं और 'सौर-चिकित्सा' का ५२ यह एक सूक्त है। रोगोत्पादक कृमियोंका नाश करनेका हवन सूक्त ३२ में कहा है। 'सर्पविषनिवारण' विषयपर सूक्त १२; ५६; ये दो सूक्त हैं और 'विषनिवारण' पर १०० वां एक सूक्त है। ये सब सूक्त विशेष महत्त्वके हैं और बडे खोज करने योग्य हैं।

१६ वे सूक्तमें 'औषधिरसपान' का महत्त्वपूर्ण विषय है। 'केशवर्धन' के विषयपर सूक्त २१; १३६; १३७ ये तीन सूक्त हैं। यह केशवर्धनका विषय सौंदर्य-वर्धनकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वका है।

सूक्त ३० में 'शमी औषधि'; ४४ में 'रक्तस्राव की औषधि'; ५९ में 'अरुंधति औषधि;' ९४ में 'कुष्ठ औषधि'; १०९ में 'पिप्पली औषधि' का वर्णन बडा उपयोगी है। आर्यवैद्यकका वेदमें मूल देखना हो, तो ये सूक्त देखने योग्य हैं।

८३ सूक्तमें 'गण्डमालाका निवारण'; ९६ में 'रोगोंसे बचना,' ये वर्णन विशेष अन्वेषण करने योग्य विषय हैं। वीरोंके शरीरसे बाण निकालकर उनकी चिकित्सा करनेका विषय ९० वे सूक्तमें देखने योग्य है। 'दांतोंकी पीडा' निवारण का उपाय १४० वे सूक्तमें भी देखने योग्य है।

घोडा बैल आदिकोंको क्लीब बनानेका विषय १३८ वे सूक्तमें है। यह सूक्त कई कारणोंसे विशेष खोज करने योग्य है।

चिकित्सा द्वारा रोगनिवृत्ति करके मृत्युको ही दूर किया जाता है। इस मृत्युके विषयके सूक्त १३; ४५; ४६ ये हैं। सब दुःखोंका कारण " पाप " है, यह बात सूक्त ३७ में कही है और इन कष्टोंको दूर करनेका विषय सू० २५ में है।

कुटुंबका सुख ।

गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंका आधार है, यह आश्रम ब्रह्मचर्यव्रतकी समाप्ति होनेपर प्रारंभ होता है। वरके लिये वधूकी खोज करने और 'कन्याके लिये वर' की खोज करनेका विषय ८२ वे सूक्तमें कहा है। यह 'गृहस्थाश्रम अत्यंत पवित्र' है यह बात सू० १२२ में दर्शायी है। 'विवाह' विषय ६० वें सूक्तमें वर्णन किया है। दम्पति अर्थात् स्त्रीपुरुष 'परस्पर प्रेमसे रहें' यह उपदेश सू० ८; ९ इन दो सूक्तोंमें विशेष बलसे कहा है।

तरुण पुरुषको तरुण स्त्री की प्राप्ति होते ही वे अपने माता पिताको भूल न जांय इसलिये सूक्त १२० में 'मातापिताकी सेवा करो' यह आदेश दिया है। ऋण करके तेहवार बनानेसे गृहस्थाश्रम दुःखका आगर बनता है; इस लिये 'ऋणरहित होने' का उपदेश सूक्त ११७-११९ इन तीन सूक्तोंमें बडी उत्तम युक्तियोंके साथ किया है। इसके पश्चात् क्रमप्राप्त विषय '७२ वाजीकरण, १७ गर्भधारण; ११ पुंसवन, ७८ स्त्रीपुरुषकी वृद्धि, ११० नवजात बालक' ये हैं। इस क्रमसे इन सूक्तोंका अभ्यास पाठक करेंगे, तो इन सूक्तोंसे अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इतना होते भी कामविषयक संयम रखनेका उपदेश सू० १३२ में विशेष सावधानीकी सूचना देनेवाला है। गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी काम विषयक संयम आवश्यक है। गृहस्थीका घर कैसा होना चाहिये, इस विषयका वर्णन सू० १०६ में पाठक अवश्य देखें। यह सूक्त हरएक गृहस्थीको मार्गदर्शक होगा। अपनी परिस्थितिमें अपने घरकी शोभा जहांतक बढाई जा सकती है, वहां तक बढाना चाहिये, यह उपदेश वेद इस सूक्त द्वारा देरहा है।

गृहस्थियोंको "७० गौसुधार; १४१ गौवोंकी पहचानके लिये चिन्ह करना, ९२ अश्वपालन करना, २७-२९ कबूतरकी पालना" करना इत्यादि विषयोंका विचार करना योग्य है।

राज्यव्यवस्था ।

राज्यव्यवस्था विषयके सूक्तभी इस काण्डमें अनेक हैं। सू० १२८ में प्रजा अपने राष्ट्रके लिये स्वसंमतिसे "राजाका चुनाव" करे ऐसा कहा है। इससे राजा प्रजाका हित करनेपर ही राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है। तथापि "राजाकी स्थिरता" का विषय सू० ८७ और ८८ इन दो सूक्तों में विशेष रीतिसे कहा है। राजाको उचित है कि वह ऐसा राज्यशासन चलावे कि, उसका 'विजय

होवे' यह विषय सूक्त २ और ९८ में पाठक अवश्य देखें।

राजाको उचित है कि अपने शासनद्वारा वह अपने " राष्ट्रकी ऐश्वर्यवृद्धि " (सू० ५४) करे, युद्धसाधन रथ और दुन्दुभि आदि (सू० १२५; १२६) तैयार रखे। शत्रुआते ही उसका पराजय करनेकी तैयारी रखे यह इस सब उपदेशका तात्पर्य है।

शत्रुनाश।

शत्रुका नाश करनेका विषय जैसा राष्ट्रीय है वैसाही वैयक्तिक भी है। इस विषय के सूक्त ६; ६५-६७; ७५; ९७; १०३; १०४; १३४-१३५ ये हैं। ये बडे मनन-पूर्वक देखनेसे वैयक्तिक शत्रु दूर करनेका और सामाजिक तथा राष्ट्रीय शत्रु दूर करने का ज्ञान पाठकोंको हो सकेगा। इस दृष्टीसे ये सूक्त बडे मननीय हैं।

संगठन।

इस काण्डमें संगठन का महत्त्व विशेष रीतिसे वर्णित हुआ है। सू० ६४ और ९४ में विशेषकर 'संगठन' का उपदेश किया गया है। 'परस्पर मित्रता' का उपदेश ४२; ८९; १०२ इन सूक्तोंमें किया गया है। सब लोग 'एक विचारसे रहें' यह उपदेश सू०७३-७४ में विशेष मनन करने योग्य है। और सूक्त ७ में 'अद्रोहका मार्ग' कहा है वह सबको ध्यानमें धरना योग्य है। क्यों कि अद्रोह वृत्तिसे बर्ताव करनेके विना संगठन होना असंभव है। इसलिये यह अद्रोह सूक्त पाठक विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे पढें।

यज्ञ।

"यज्ञसे उन्नति" का विषय सू० ५ में और 'यज्ञका सत्य फल' मिलता है यह उपदेश ११४ वे सूक्तमें मनन करनेयोग्य है। यज्ञसे योग्य समयपर वृष्टि होती है और '१२४ वृष्टिसे विपत्ति दूर होती है' २२; ४९ मेघोंका संचार होकर वृष्टि होती है। ७१; ११६; १४२ अन्न विपुल प्रमाण" में प्राप्त होता है और सब लोगोंका कल्याण होता है।

इस प्रकार इस काण्डमें विशेष महत्त्वके विषय हैं तथापि कई सूक्त संदिग्ध, क्लिष्ट और समझमें न आनेवाले हैं। इसलिये बहुतसे सूक्त खोजकेही विषय हैं। आशा है कि सब पाठक विशेष प्रयत्न करेंगे तो यह काण्ड भी विशेष प्रयत्नके पश्चात् सुबोध बनेगा और लाभदायी सिद्ध होगा।

" संपादक "

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

षष्ठ काण्डकी विषयसूची ।

श्री-महर्षि-व्यास-प्रणीत

महाभारत ।

आर्योंके विजयका अपूर्व इतिहास ।

(भाषाभाष्यसमेत)
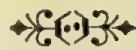
सम्पादक और प्रकाशक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्यायमण्डल, औंध (जि० सातारा)

अतिशीघ्र ग्राहक होकर पढिये, पीछेसे मूल्य बढेगा ।

संवत् १९८६

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	- १)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	,, ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥।) "	।)
१२ राजधर्मपर्व	[७७–८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
१३ आपद्धर्मपर्व	[८४–८५]	५	२३२	१।) सवा	।-)

कुल मूल्य ४६।) कुल डा. व्य. ८।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

ओ३म्

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ११

अंक ८

क्रमांक १२८

श्रावण

संवत् १९८७

अगस्त

सन १९३०

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

कौन सुख देता है?

को वस्त्राता वसवः को वरूता द्यावाभूमी अदिते त्रासीथां नः।
सहीयसो वरुण मित्र मर्तात् को वोऽध्वरे वरिवो धाति देवः॥१६॥

ऋग्वेद ४।५५।१

हे (अदिते द्यावाभूमी) अहिंसक द्युलोक और भूलोको! (नः त्रासीथां) हमारी रक्षा करो। हे (वसवः) निवासको! (वः कः त्राता) तुम्हारा कौन रक्षक है? और (कः वरुताः) श्रेष्ठ पालनकर्ता कौन है? हे (वरुण मित्र) श्रेष्ठ और मित्र! (सहीयसः मर्तात्) बलवान् दुष्ट मनुष्यसे रक्षा करके (कः देवः) कौनसा देव (वः अध्वरे वरिवः धाति) तुम्हें अहिंसामय सत्कर्म में उत्तम धन और सुख देता है?

इस द्युलोक से भूलोक तक रहनेवाले सब देवो! तुम हमारी रक्षा करो। इस भूमिपर निवास करनेवालों की रक्षा कौन करता है? और उनकी उत्तम पालना भी कौन करता है? दुष्टोंसे सब को कौन बचाता है? कौन देव हमें श्रेष्ठ कर्मोंमें उत्तम सहायता करके हमें धन और ऐश्वर्य देता है? ऐसा कौन देव है कि जो इस त्रिलोकी में सब की रक्षा करता है? उस एक देवकी हम भक्ति करेंगे।

——:o:——
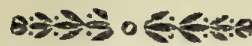
श्रीमद्भगवद्गीता।

इस 'वैदिक धर्म' मासिकमें इस अंकसे 'श्रीमद्भगवद्गीता' का सुबोध अर्थ और विस्तृत विवरण दिया गया है। आगे इसी प्रकार दिया जायगा। पाठक कई दिनोंसे इस विषयकी प्रेरणा कर रहेथे। परंतु इस समय तक श्रीमद्भगवद्गीताकी ओर ध्यान देनेके लिये समय ही मिला नहीं था। 'श्रीमद्भगवद्गीता' ग्रंथ केवल ७०० श्लोकोंका होने पर भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसीलिये इसको मान्यता सर्वत्र हो गई है। इस पर अनेकोंने अनेक अर्थ लिखे हैं और टीकाटिप्पणी भी बहुत हो चुकी है। इसलिये वस्तुतः इसपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। तथापि इस ग्रंथके विवरण में गीताके उपदेशकी तुलना हम उपनिषद् और वेद-संहिताके मंत्रोंके साथ करेंगे और इसके विवरणमें अन्यान्य विषय भी स्थान स्थानपर आजांयगे। जिस दृष्टिसे हमने विचार करनेका ढंग सोच रखा है, वैसा विचार श्रीमद्भगवद्गीतापर किसीने इस समय तक किया नहीं है। इस अभाव की पूर्णता करने के हेतुसे यह-

'पुरुषार्थबोधिनी भाषाटीका'

श्रीमद्भगवद्गीतापर लिखी जा रही है। आशा है कि परमेश्वर की कृपासे इसमें सफलता होगी। यह अपने नये ढंग की नयी टीका होगी। इतनाही यहां कहना पर्याप्त है।

श्रीमद्भगवद्गीता श्लोकार्धसूची।

श्रीमद्भगवद्गीता की श्लोकार्धसूची तैयार हो गई है। जो लोक श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करना चाहते हैं, उनको इस ग्रंथका अवश्य संग्रह करना चाहिये। इस पुस्तक में "आद्याक्षरसूची" है और "अन्त्याक्षरसूची" भी है। इस प्रकार दोनों सूचियां इस समयतक किसीने बनाई नहीं थी। भगवद्गीताके अध्ययनके लिये इस पुस्तकसे बडी सहायता मिलती है। अतः जो भगवद्गीताका अध्ययन करनेके इच्छुक हैं वे इस पुस्तकको अवश्य मंगवायें।
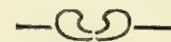
अथर्ववेदसुबोधभाष्य।

सप्तम काण्ड।

अथर्ववेद सुबोध भाष्य का षष्ठ काण्ड संपूर्ण तैयार हो गया। अब सप्तम काण्ड इस अंकसे प्रारंभ हुआ है जिसके सात सूक्त इस अंकमें विवरण के सहित दिये हैं। अथर्ववेदके उपदेश का अद्भुत ढंग है। हरएक काण्डमें आत्मविद्या अथवा ब्रह्मज्ञान का विषय थोडा थोडा दिया जाता है। और हरएक सूक्तमें नये ही अद्भुत ढंग से इस ब्रह्मविद्यापर नयाही प्रकाश डाला जाता है। यदि पाठक प्रत्येक काण्डके इस विद्याके सूक्त साथ साथ पढेंगे तो उनको वेदकी ब्रह्मविद्याका ज्ञान सहज ही में हो सकता है।

इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंका अभ्यास करना पाठकों को उचित है। नये ग्राहक जिनके पास पूर्व के छः काण्ड न हों वे तैयार हुए काण्ड सजिल्द अथवा विना जिल्द जैसे चाहिये वैसे मंगावें। सजिल्द का मूल्य २) और विना जिल्दका १॥) है। प्रत्येक का डा० व्य० ॥) है।

इस 'वैदिक धर्म' में ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय छप रहे हैं इसलिये ग्राहकों का कर्तव्य है कि वे नये दो ग्राहक बना दें और इस धर्मप्रचारके कार्य की सहायता करें।

प्रबंधकर्ता

एकता का सरल उपाय।

मनुष्य का स्वभाव ही है कि वह संघ बनाकर रहे। स्वार्थ की दृष्टि से भी मनुष्य को अत्यन्त आवश्यक है कि वह समाज में एकता कर अपना बल बढावे। पशु, पक्षी आदि मनुष्येतर जीव संघशक्ति की अभावावस्था में सम्भवतः जी सकते हैं किन्तु मनुष्य प्राणी यदि संघ न बनावे तो उसका निस्संदेह नाश हो जावेगा।

प्राचीन कालमें मनुष्य छोटे छोटे संघ बनाता था। आगे चलकर जब जीवनसंग्राम बढ गया, तब ये छोटे छोटे संघ मिलकर एक बडा संघ बन जाते और तब वह जीवित रहने के योग्य बनता।

मनुष्य के संघों की वृद्धि का इतिहास बहुतही रोचक है। किन्तु उस सम्पूर्ण इतिहास को बतलाने की आवश्यकता हमे प्रतीत नहीं होती। यहाँ हम केवल इतना ही बतलाना आवश्यक समझते हैं कि यह संघशक्ति मनुष्यने स्वतः को जीवित रखने ही के लिए बढाई है। जब उसने देखा कि एक बडा गिरोह छोटे गिरोह को नष्ट कर देता है, तब उसने अनेक छोटे छोटे संघों को इकट्ठा कर एक प्रचंड गिरोह बनाया। इस प्रचण्ड गिरोह के बनने ही से उसे जीवित रहना सम्भव हुआ। आज दिनतक मनुष्य इसी लिए जीवित रह सका कि उसने संघ-शक्ति को बढाया। यदि वह आगे चलकर अपनी संघशक्ति बढावेगा तभी जीवित रह सकेगा। यदि ऐसा न होगा तो उसे किसी अन्य बडे संघ में मिलकर विलीन हो जाना पडेगा।

उपास्य देवता के कारण, पंथ के अभिमान के कारण, वंश के अभिमान के कारण आदि अनेक कारणों से आज तक मनुष्यों में अनेकानेक संघ हुए। वर्तमान समय में वह परिस्थिति उपस्थित हुई है जब कि उपरोक्त कारणों में से किसी भी कारण से बना हुआ संघ उपयोगी सिद्ध न होगा।

इन्द्र, वरुण आदि प्राचीन वैदिक उपास्य देवताओं को छोड दें तब भी वर्तमान समय की कोई भी देवता ऐसी नहीं है जो भारतवर्ष के लोगों में एकता उत्पन्न करे। यही हाल धर्म के पंथों का तथा वंश के अभिमान का है। उपास्य देवता, धर्मपंथ तथा वंशाभिमान अनावश्यक नहीं हैं। वस्तुतः येही एकता के सच्चे साधन हैं। किन्तु वर्तमान समय में ये बातें ही झगडों की जड बन गई हैं। इसी लिए यह देखना आवश्यक हो गया है कि क्या अन्य कोई साधनों से भारतवर्ष के विभिन्न समाजों में एकता बनाई जा सकती है?

वर्तमान समय में हमारा भारतवर्ष ऐसी युद्ध-भूमि में खडा है जहाँ विजय-प्राप्ति के लिए उसे अपने सब अंग, उपांगों में पूर्ण एकता रखना आवश्यक है। जब तक इस प्रकार की एकता न होगी तब तक वर्तमान युद्धमें विजयप्राप्ति नहीं हो सकती।

भारतवर्ष में प्रथम केवल चार वर्ण थे। इन चार वर्णों में एकता हो जाने से उस समय के भारतीयों का उद्देश सिद्ध होता था। हमारे भारतवर्ष का मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, मध्यभाग वैश्य तथा पैर शूद्र है। इस प्रकार यह देश चातुर्वर्ण्यमय राष्ट्रपुरुष है। मनुष्यों के मन में यह बात जमजाने के कारण उस समय एकता होना सम्भव था। किन्तु वर्तमान समय में अनेक धर्मपंथ उत्पन्न हुए हैं। इन सब पंथों में उपरोक्त विचार के आधार पर एकता होना असम्भव है।

हिन्दू, पारसी, ज्यू, ईसाई, मुसलमान और अन्य अनेक मतांतरों के लोगों में जब तक एकता नहीं होती तब तक हमारे देश की उन्नति नहीं हो सकती। इन विभिन्न धर्मानुयायियों में 'चातुर्वर्ण्य राष्ट्रपुरुष' के विचार के आधार पर एकता होने का सम्भव नहीं है।

आपसमें मित्रता का भाव उत्पन्न होने ही से एकता होती है। मित्रता के अभाव में एकता होना असम्भव है। मित्रता के भावों की दृष्टि उत्पन्न होने के विषयपर शुक्ल-यजुर्वेद में एक मन्त्र है। वह मन्त्र अत्यन्त बोधप्रद है। इस मन्त्र को नजर के सामने रखने से तथा उस पर विचार करने से हमे एकता का उपाय सूझ सकता है। इसीलिए उस श्लोक को हम यहाँ लिखते हैं।–

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्॥
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे॥
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

शु० यजुर्वेद ३६।१८

इस मन्त्र में तीन वाक्य हैं– (१) सब प्राणी मुझे मित्रता की दृष्टि से देखें। (२) मैं सब प्राणियों को मित्रता की दृष्टि से देखूं। (३) हम आपस में एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें।

प्रत्येक प्राणि की वा प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा होती है कि अन्य सब मनुष्य हम पर प्रेम करें। हमे कोई भी दुख न दे। इतनाही नहीं किन्तु अन्य सब लोग मेरे लिए स्वार्थत्याग करें और मुझे सुख देवें।

यद्यपि हरएक मनुष्य यही चाहता है तब भी यह सम्भव कैसे हो सकता है? दूसरा हमसे अमुक प्रकार का बर्ताव करे यह न कह कर यदि हर एक मनुष्य खुद ही दूसरोंके साथ वैसा आचरण करे तो दूसरों में से कुछ अवश्य ही उस पर प्रेम करेंगे। जिस प्रकार का बर्ताव हम दूसरों से चाहते हैं, उस प्रकार आचरण करना हमही आरम्भ कर दें। यही बात उपरोक्त मन्त्र के अन्तिम भाग में बतलाई गई है।

उपरोक्त मन्त्र के प्रथम भाग में कहा है, (१)'अन्य सब लोग हम पर प्रेम करें।' सब लोगों की यही इच्छा रहती है। परन्तु यह अतीव कठिन बात है। इससे जो कुछ हो सकता है उसे खुद ही शुरु कर देना सरल है। यह बात लोगों के मनमें जमजावे इसीलिए दूसरा वाक्य कहा है। (२) 'मै खुद दूसरों पर प्रेम करता हूं।' हर एक मनुष्य खुद का मालिक है। वह जिस प्रकार चलना चाहेगा, चल सकता है। इसी लिए यह निश्चय करलेना कि मैं सब मनुष्यों से मित्रता का भाव रखूं। उसके लिए सम्भव है तथा यह भी कि मैं उस निश्चय के अनुसार बर्ताव करूं। यदि एक भी मनुष्य इस प्रकार का आचरण करे तो आधा संसार सुधरजाने के बराबर है। इन दो वाक्यों से हमारे सामने दो मार्ग आजाते हैं।

(१) 'मुझपर सब लोग प्रेम करें। मैं दूसरों पर प्रेम करूं।' यह साधारण मार्ग है।

(२) 'दूसरे लोग मुझसे कैसा भी बर्ताव क्यों न करें, मैं अपना कर्तव्य समझकर उन पर प्रेम करता हूं।' यह श्रेष्ठ मार्ग है।

इस सर्वोत्तम मार्ग से संसार में एक बृहत् क्रान्ति हो सकती है। किन्तु इन दोनों मार्गों में एक भारी रुकवट है। वह इस प्रकार है–

पहले मार्ग के अनुसार यदि मुझपर सब लोग प्रेम करें और मैं उन पर न करूं, तो उसका बहुत ही घातक परिणाम होगा। यदि मैं दूसरोंपर बहुत प्रेम करूं किंतु वे जैसा प्रेम करना चाहिए वैसा न करें, तब भी सबका कल्याण नहीं हो सकेगा। ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिए सो तीसरे वाक्य में बतलाया है –

(३) 'हमे आपस में एक दूसरे के प्रति मित्रता रखनी चाहिए।'

जब यह दशा आजावेगी तभी सब में एकता होगी। इसीलिए एकता के लिए अत्यन्त आवश्यक बात है, आपस में एकदूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न होना।

गरीबों की भलाई के लिए।

मनुष्य जब चर्खे में स्थित अद्भुत एवं सुप्त शक्ति का विचार करता हैं, तब उसे आश्चर्य होता है कि चर्खे का सादा संदेश अभी तक सार्वत्रिक क्यों नहीं हुआ। 'नासतो विद्यते भावः' अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि इस वचन के केवल शब्दों को ही देखें तो मालूम होता है कि चरखा सिद्ध करता है कि इस वचनमें ग्रथित सिद्धान्त गलत है। क्यों कि वह किसी भी उपयोगी वस्तु का नाश करना नहीं चाहता। और प्रयत्न करता है राष्ट्र की जो साधन-सामग्री बेकाम पडे सड रही है उसका और राष्ट्र की फुरसत के समय का उपयोग होवे।

आज दिन राष्ट्र के प्रत्यक्ष प्राण भक्षण करनेवाली यदि कोई वस्तु है, तो वह है आलस। फिर चाहे आप इस आलस को जबरदस्ती का समझिए अथवा खुशी का सौदा मानिए। मैं गांवों में और खेडों में फिरता हूं। मैं देहात में जितना ही अधिक फिरता हूं उतनी ही अधिक ग्रामिणों की प्राणहीनता देखता हूं। इस प्राणहीनता को देख मेरी आंतों में भारी बल पडता है, मेरा हृदय गहरी चोट खाता है। लोगों के लिए केवल ऐसा ही काम बचा है कि वे बैलों की तरह जुते रहें। अतएव मैं प्रायः लोगों को बैलों की तरह जुते हुए मजदूरी करते पाता हूं। करोडों लोग ऐसे हैं जो हाथ का हाथ के समान उपयोग करना नहीं जानते। यह भारी शोक की बात है। विदित होता है कि निसर्ग यह देखकर कि मनुष्य को दी हुई हस्त-रूप अनमोल देनगी का वे कुछ भी उपयोग नहीं करते और वह पडे पडे सड रही है, मानो बदला भंजा रहा हो। हम लोग इस देनगी से लाभ उठानेसे इन्कार करते हैं। परंतु जिन थोडी बातों के कारण हम लोग पशु से भिन्न हैं इन्हीं में हाथ हैं। करोडों मनुष्य आज इन हाथों का उपयोग केवल पैर के सदृश कर रहे हैं। अतएव वे शरीर और मन से कमजोर बन रहे हैं।

लापरवाही से होनेवाली यह हानि केवल चर्खे से रुक सकती है। इस हानि को रोकने का एक मात्र साधन चर्खा है जिसमें न तो अधिक पैसा ही लगेगा और न अधिक बुद्धि ही खर्च करनी होगी। इस फजूल खर्ची के कारण हम लोग प्रायः प्राणहीन बन गए हैं। यदि इस प्राण को पुनः उत्पन्न करना है तो प्रत्येक घर सूत कातने का कारखाना बनना चाहिए और हरएक गांव सूत बुनने का पुतली घर बनना चाहिए। जिस दिन ऐसा होगा उसी दिन प्राचीन समय की सूत कातने की कला का उद्धार होगा। जिस राष्ट्र के लोग पेटभर के खाना नहीं पाते उस राष्ट्र में धर्म, कला या संघटन का होना असंभव है।

चरखे के विपक्षी एक ही दोष को रटते हैं। वह दोष यही कि चरखा से आमदनी बहुत कम होती है। हमारा कथन यह है कि चरखे से यदि प्रतिदिन एक भी पैसा मिल सके तो भी वह आजकी हरएक मनुष्य की प्रतिदिन की छः पैसेकी औसत आमदनी से अवश्य ही अधिक अच्छा होगा। अमेरिका के प्रत्येक मनुष्य की औसत आमदानी चौदह रुपये है और प्रत्येक अंग्रेज की औसत आमदनी छः रुपये है। जरा इससे हिंदुस्थानी की आमदनी की तुलना तो कीजिए। चरखा चलाकर राष्ट्र के साठ करोड रुपये भी यदि हम बचा सके-जो कि बहुत आसान है-तो हम देश की

आमदनी साठ करोड से बढा देंगे । और इस प्रयत्न में हमारे ग्रामोंका संगठन सहजही में होगा । इतना ही नहीं यह प्रयत्न सम्पत्ति का न्याय्य और साधारणतः सामान्य बँटवारा करने का उपाय हो जावेगा । कारण स्पष्ट ही है कि ये साठ करोड रुपये हमे उन्ही को बांटने होंगे जो की अत्यंत गरीब हैं । इसके सिवा एक बात का विचार और भी करना होगा । वह बात यह है कि सम्पत्ति का इस प्रकार समान बंटवारा करने में नैतिक दृष्टि से देश की उन्नति होगी । इन बातों से चरखे का पक्ष अजेय सिद्ध होता है ।

स्वदेशी का व्रत ।

' स्वदेशी' का व्रत धार्मिक एवं आर्थिक व्रत है । 'स्वदेशी' ऐसा आंदोलन है जिसमें हिन्दुस्थान में जन्म लेनेवाले प्रत्येक मनुष्य को, चाहे वह गरीब हो या धनवान्, चाहे वह हिन्दु, मुसलमान, पारसी, ईसाई, कोई भी क्यों न हो, हाथ बंटाना सहज है ।

किसी के घर में आटा, पानी, अग्नि आदि साधन मौजूद हैं । जिसपर भी वह रोटियां बाहर से बनवा लाता हो, तो मैं उसे मूर्ख ही कहूंगा । बस यही हाल हिन्दुस्थान का है । यहां कपास की पैदायश काफी मात्रा में होती है साथ ही सूत कातने तथा कपडा बुनने के लिए आवश्यकता से अधिक लोग हैं । तब भी हिन्दुस्थान कपडा मांगता है बाहर से; तब वह मूर्ख नहीं है तो और क्या है ? चपाती बनाने में जो समय लगता है, उस समय को चपाती बनाने से अधिक उपयोगी काम में जो लगावेगा वह मनुष्य मूर्ख नहीं चतुर ही कहलावेगा। ठीक है । पर आज हिन्दुस्थान की हालत ऐसी नहीं है । देड सौ वर्ष पूर्व सूत और कपडा दोनो यहीं बनते थे । मुलायम कपडा भी बनता था । और वह इतना बनता था कि वह हिन्दुस्थान के निवासियों को केवल पूजता ही न था, बल्कि बचता भी था । अतएव वह बाहर भी भेजा जाता था । पर अब क्या होता है? प्रतिवर्ष साठ करोड रुपये का कपडा हम बाहर से मंगाते हैं और प्रतिवर्ष इतने रुपये मिट्टी में झोंक दिए जाते हैं । हिन्दुस्थान के तीस करोड लोगोंमें से अठाईस करोड किसान हैं। इन स्त्रीपुरुषों को छः महीने खेती का काम रहता है;और शेष छः महीने काम न होने से भूखों मरना पडता है ! ये लोग आलसी नहीं हैं । काम न होने से काम ढूंढने शहरों में जाया करते हैं । इससे निश्चय होगा कि अठाईस करोड किसान छः महीने खाली रहकर देश में कपास के होते भी भूखों मरते हैं ।

बडोदा रियासत के बीजापुर गांव में श्री गंगाबाई के प्रयत्न से चार सौ मुसलमान स्त्रियों की जान बच्ची । ये स्त्रियां परदे के कारण भूखों मर रहीं थीं । उन्हे सूत कातने के लिए कपास दिया गया । उसका बना सूत मोल लिया गया और इस प्रकार उनके प्राण बचे । अब वे स्त्रियां श्री० गंगाबाई की दुवा मनाती हैं ।

इसी प्रकार चरखे का आंदोलन आर्थिक दृष्टिसे भूखोंमरना रोक कर साठ करोड रुपये की बचत करावेगा । यूरोपीय महायुद्ध के समय जब अनाज की कमी हुई तब लोगों ने अपने आंगन में ही आलू बोए ! इससे चरखा चलाना निश्चय से बहुत ही आसन है ।

अब धर्म की दृष्टि से विचार करिए 'दया । धरम का मूल है '। भूखों मरनेवाले पास के मनुष्य को छोड कर दूर के मनुष्य की ओर दौडना न तो दया ही है और न धर्म ही । पूने में मिलनेवाला माल बम्बई से न मंगाना चाहिए और बम्बई में मिलनेवाला बाहरसे न मंगाना चाहिए । हिंदुस्थान में कपडा मिल सकता है तिसपर भी उसे बाहर से मंगाना और अठाईस करोड मनुष्यों को भूखों मारना न तो दया का ही काम है और न धर्म का । अन्य किसी भी व्यवसाय में बाधा न डालते हुए हिन्दुस्थान को जितनी आवश्यकता है उतने कपडे के बुनने का काम और उसे आवश्यक सूत कातने का काम हिन्दुस्थान ही में हो सकता है । पूना यदि अपनी आवश्यकता पूरी कर लेगा और देशके अन्य शहर भी अपनी अपनी आवश्यकताएं पूरी कर लेंगे, तो स्वदेशी-व्रत सहज ही में यशस्वी होगा । आर्थिक तथा धार्मिक दोनों दृष्टिसे स्वदेशी

व्रत का पालन अतीव आवश्यक है। विशुद्ध व्रत यही है कि हिन्दुस्थान में हाथ से काते हुए सूत का कपडा पहनने की शपथ लेना। हिन्दुस्थानमें हजारों पुतली घर क्यों न खुलें पर उनसे छः महीने भूखों मरनेवाले किसानो की रक्षा कैसे होगी? इसी लिए प्रत्येक हिन्दुस्थानी का कर्तव्य है कि वह स्वदेशी का आंदोलन करे और खादी तैयार करे॥

प्रतिज्ञा।

(१) ईश्वर के समक्ष मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि आजसे मैं ऐसे कपडे का उपयोग कदापि न करूंगा जिसकी कपास, रेशम वा ऊन हिन्दुस्थान में उत्पन्न हुई नहीं है, जिसका सूत हिंदुस्थान में काता हुआ नहीं है, या जो हिंदुस्थानी बुननेवालों ने बुना नहीं है।

(२) मिश्र स्वदेशी व्रत—

ईश्वर के समक्ष मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि आजसे मैं वैसे कपडे का उपयोग कदापि न करूंगा जो हिन्दुस्थान में बुना हुआ न हो।

शुद्ध स्वदेशी वही है जिसमें हाथ से काता हुआ सूत और उससे केवल हिंदुस्थानियों द्वारा हातमाग पर बुने हुए कपडे का उपयोग हो।

विद्यार्थि का वस्त्र-परिधान।

(ले० श्री० व्यं० ग० जावडेकर, धूलिया।)

शास्त्रकारों ने जैसे यह बतलाया है कि ब्रह्मचारी को क्या खाना चाहिए, क्या पीना चाहिए; वैसे ही उन्होंने यह भी बतला दिया है कि वे शरीर पर कितने कपडे पहनने चाहिए। आजकल के किसी भी विद्यार्थी को आप देखिए वह तो 'op to date gentleman मालूम होगा। विद्यार्थि तो 'जंटलमन्' नहीं है। विद्यार्थिदशा एक पवित्र आश्रम है। आगामी आयु की संपूर्ण तैयारी इसी अवस्थामें करनी पडती है शर्ट, जाकिट, वास्किट, लांग कोट, मफलर, नेकटाय, कालर, बूट, पँट आदि सब ठाठ सच्चे विद्यार्थि के लिए नहीं है। वह सब जंटलमन के लिए है। यदि किसी को अधिक कपडे लगते हों तो जितने अधिक कपडे उसे लगें उतनाही अधिक नादान और दुर्बल उसे समझना चाहिए। स्थविर अवस्था में, जब कि गात्र शिथिल रहते हैं, शीत नीवारण के हेतु जितने कपडों की आवश्यकता होती है उतने कपडे यदि पौगंड या यौवन अवस्थामें लगने लगें, तो उस अवस्था को यौवनावस्था कैसे कह सकते हैं! क्या वह जवानी में आया हुआ बुढापा नहीं है? जिसे उतरती आयु में बडे बडे साहस के और बहादुरी के कार्य करने होते हैं, उसे ब्रह्मचर्य आश्रम में, ठण्ड उष्णता, हवा, पानी, भूख, प्यास आदि सब कुछ सहने की तैयारी चाहिए। जो छुटपन से अपने को नखशिखांत कपडे में लिपटे रखता है वह आगे चलकर इन बातों को कैसे सह सकेगा? यह आपत्ति टालने के लिए ही मानो बतलाया गया है-

" नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्"

इसका अर्थ यह है कि कटिवस्त्र जो कुछ भी होगा, उतना ही रहने दें, ऊर्ध्वांग पर केवल एक उत्तरीय को छोड अन्य कोई वस्त्र न हो। वह दाहिने हाथ के नीचे से लेकर बांए कंधेपर गठन लगाई जाय। ऐसा करने से दाहिना हाथ सदोदित खुला रह सकेगा।

शरीर को खुली हवा और सूर्यप्रकाश प्रत्यक्ष मिलने चाहिए। उसका महत्व अब पाश्चिमात्यों के

भी ध्यान में आने लगा है। सन १९२५ में इंग्लैण्ड में डॉक्टरों की एक सभा हुई थी। उसमें डॉ० हिल्ने कहा था ' हमे लोगों को बतलाना चाहिए कि वे कम कपडे पहने, कॉलर और लंबे पैजामें फेंक दें और शरीर के चमडे में सूर्यप्रकाश दिखाना सीखें।'

हम हिन्दुस्थानियों में कपडों का महत्व अत्यधिक बढने का कारण अंग्रेजों का सहवास है। फैशन की शान बढी सो भी उनकी देखासीखी। पर अब तो उन्हीं की आंखें खुलने लगीं हैं। अतः अंदाज किया जाता है कि अब हम लोगों कीं भी आंखें खुलेंगीं। क्यों कि ज्ञान का गोमुख हैं अंग्रेज। भगवान् मनु थोडे ही हैं ! शास्त्रकार तो निरे पागल हैं ! पाश्चात्य लोग भर बडे बुद्धिमान् ! ऐसा होते हुए भी अब तो मौका ऐसा आया है कि पागल प्राचीन आर्यों कीं बहुत सी बातें सच सिद्ध होगीं !

पश्चिम के कुछ देशों में तो अब Nudity clubs (नग्नमूर्ति-मंडल) स्थापन हुए हैं। सप्ताह में एक दिन प्रत्येक सदस्य को कुछ घण्टों तक दिगंबर अवस्थामें रहकर धूप खानी पडती है। अपने देश के लोगों का काम चालीस वर्ष के पूर्व गरमी में एक सूती बंडी पहननेसे और ठण्ड में एक ऊपरी बण्डी या एक ऊनी बंडीसे निकलता था। अब जिस किसीके शरीर के कपडे देखिए प्रायः हरएकके पास एक गधेका बोझ मिलेगा। परंतु अब कम कपडे पहिनने की ज्ञान-गंगा तो पश्चिम से ही बह कर आना आरंभ हुआ है। तो शायद अब हमारे देशवासी उसे पीने लगेंगे।

मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि वेदकाल के अनुसार बिलकुल तंतोतंत आज भी ब्रह्मचारी वस्त्र परिधान करें। मेरा कहना इतना ही है कि आठ महिने एक कुडतेसे और सिरपर गांधी टोपी से काम निकलना चाहिए। ये दो चीजें पूर्ण पोषाख के लिए धोती के साथ पर्याप्त समझनी चाहिए। शीतकाल में कुडते के भीतर से या ऊपर से अन्य कोई कपडा न पहिन कर एक कोट पहनसे काम निकलना चाहिए। ऐसा करने से शरीर में हवा और सूर्यप्रकाश काफी मिलेगा और कपडों का फजूल खर्च बच जावेगा।

आर्य-समाज और स्वदेशी आन्दोलन।

(लेखक — श्री आचार्य रामदेवजी, गुरुकुल कांगडी)

कुछ समय पूर्व " आर्य भाईयों से अनुरोध " इस शीर्षक से मैं ने एक निवेदन भारतवर्ष भर की अधिकांश आर्यसमाजों की सेवामें भेजा था। मेरा वह लेख अनेक समाचार-पत्रों में भी प्रकाशित हुआ था। और उस पर खासी बहस उठ खडी हुई थी। मेरे उस लेख से जो महानुभाव असहमत थे, उनमें से बडी संख्या का विश्वास था कि मैं ने आर्य-समाज को शराबके विरोध में पिकेटिंग आदि करने की सलाह देकर प्रत्यक्ष रूपसे उसे राजनीतिके क्षेत्र में कूद पडने की सलाह दी है। और इस तरह आर्यसमाज को एक बडे खतरे में डालने का प्रयत्न किया है। परन्तु " वैदिक धर्म " के पिछले अंकमें मेरे उस लेख के सम्बन्ध में इस उपर्युक्त धारणा से बिलकुल विपरीत परिणाम निकाला गया है। 'आर्य भाईयोंसे अनुरोध'लेखके बाद मेरा एक और लेख " आर्य समाज और पालिटिक्स " शीर्षक से लाहौर के ' आर्य ' में प्रकाशित हुआ था। इस लेखमें मैं ने स्पष्ट रूप से लिखा था कि 'आर्यसमाज को राजनीति में भाग लेना नहीं चाहिए। क्योंकि आर्यसमाज एक सार्वभौम संस्था है। यह एक-देशीय नाहीं, सर्वदेशीय है। किसी देशविशेष की राजनीतिसे व्यावहारिक रूप में सम्बन्ध जोड लेने से यह सार्वभौम संस्था संकुचित करदी जावेगी। इसलिए भारतवर्ष की व्यावहारिक

राजनीतिमें आर्यसमाज को भाग नहीं लेना चाहिए। मेरी इस स्थापना का एक मुख्याधार यह भी था कि यदि आर्यसमाज को व्यावहारिक राजनीति में सामूहिक रूपसे डाल दिया जावे, तो इम से उसके मानवीयता की दृष्टि से आवश्यक अन्य कार्यों को अवश्य हानि पहुंचेगी। क्योंकि व्यावहारिक राजनीति में अनेक मार्गों का अवलम्ब किया जा सकता है। उस क्षेत्र में सशस्त्र क्रान्तिवादी, अहिंसात्मक असहयोगवादी, कांग्रेसी, नरम, गरम, उदार, वैध आन्दोलक-अनेक विभिन्न तरह के लोग हैं। यदि आर्य समाज सामूहिक रूपसे व्यावहारिक राजनीति में कूद पडना चाहे उस के सामने यह समस्या रहेगी कि वह राजनीति के उपर्युक्त अनेकों मार्गों में से किस मार्ग का अनुसरण करे। उस दशा में यदि आर्य समाज अपने बहुमत के आधार पर किसी एक मार्ग का अनुसरण करेगा, तो इसी बात को लेकर उस में अनेक धडे बन्दियां हो जावेंगी। इन दो तथा अनेक अन्य आधारों पर उस लेख में मैंने आर्य समाजों को सामूहिक रूप से डाल देने के सम्बन्ध की विचारधारा का विरोध किया था। हां! मेरी राय में व्यक्तिगत रूपसे इस समय प्रत्येक आर्य समाजीका कर्तव्य है कि वह मातृभूमिके स्वाधीनता के इस पवित्र यज्ञ में जी जान से कूद पडे। आर्य समाज का सन्देश स्वाधीनता का सन्देश है। वेद पराधीनता को असह्य स्थिति बताते हैं। इसलिए प्रत्येक भारतवासी का चाहे वह हिन्दु हो, मुसलमान हो, आर्य हो, ईसाई या सिख हो अथवा किसी और मत का अनुयायी हो, यह पहला कर्तव्य है कि वह अपनी मातृभूमि को पराधीन न रहने दें। परन्तु आर्य समाज इस उद्देश्य से नहीं खोला गया।

अपने उसी लेखमें मैं ने आर्य समाज को शराब सत्याग्रह में सामूहिक रूप से कूद पडने की सलाह देते हुए लिखा था कि आज कल प्रत्येक भारतवासी को अपने देश में बनी खद्दर धारण करना चाहिये परन्तु यह होते हुए भी आर्य समाज को यह नियम नहीं बनाना चाहिए कि प्रत्येक आर्य समाजी समाज के अधिवेशनों में हिन्दोस्तान में बना खद्दर पहन कर ही जाय क्योंकि आर्यसमाज के सदस्य तो लार्ड इरविन महोदय भी हो सकते हैं।

मेरी इस बात का 'वैदिक धर्म' ने जो अभिप्राय लिया है, वह मुझे कदापि अभीष्ट नहीं था। "वैदिक धर्म"का कथन है कि यदि आर्यसमाज शराब के विरोध में सामूहिक रूप से भाग ले सकता है तो वह उसी प्रकार खद्दर के प्रचार के लिए सामूहिक प्रयत्न क्यों नहीं कर सकता। परन्तु "वैदिक धर्म" के माननीय सम्पादक महोदय यदि मेरे उपर्युक्त वाक्य से अगलाही वाक्य पढ जाते तो उन्हें यह सन्देह न रह जाता। मैंने लिखा था "हां, आर्य समाजी मात्र को बडी बडी मिलोंका कपडा न पहन कर खद्दर ही धारण करना चाहिए क्योंकि वेद का सन्देश कपडे के व्यवसायमें बहुमात्रोत्पत्ति के खिलाफ है।"

"वैदिक धर्म" के सम्पादक महोदयने भी शायद खद्दरके पक्ष में वेद के उसी मन्त्र का हवाला देना चाहा है, जिस का कि जिकर मैंने अपने इस ऊपर के वाक्य में किया है। परन्तु इस वेदमन्त्र का यह मतलब लेना तो मेरी राय में सरासर अन्यायही होगा कि वेद संसार भर को भारतवर्ष में बना कपडा पहनने का आदेश देता है। जिस तरह भारतवासियों को भारतवर्ष में बना कपडा पहनना चाहिए उसी तरह अन्य देशों के निवासी यदि चाहें तो अपने देश में बना कपडा पहिन सकते हैं। लार्ड इरविन यदि आर्य समाजी बनकर यदि अपने देश का कपडा पहिनें तो उन्हें भारतवर्ष में बना खद्दर पहिन कर ही आर्य समाज मन्दिर में जाने की आज्ञा देना तो अनुचित होगा। दूसरी ओर शराब का मामला तो पहले धार्मिक है और फिर राजनीतिक। शराब सब पापों की जड है किसी भी देश में शराब पीने को पाप ही माना जायगा। अतः इस धार्मिक कार्य में यदि आर्यसमाज धार्मिक दृष्टि से ही अपनी शक्ति लगा दे तो लाभ ही है। आर्यसमाज शराब का इस लिए विरोध नहीं करेगा कि वह विदेशी है। आर्य समाज की दृष्टि में शराब शराब है। वह चाहे बाहर से आये, चाहे इस देश में बने- उसका पीना अपराध है।

साथ ही सम्पादक जी ने अदालतों तथा सरकारी शिक्षणालयों के बहिष्कार में आर्य समाज को सामूहिक रूपसे कार्य करने की सलाह दी है। मैं इस बात से सहमत हूं, इसलिये कि इसे मैं राजनैतिक कार्य न समझ कर भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए आवश्यक कार्य समझता हूं। मुझे विश्वास है कि आर्य समाज कांग्रेस से पहले ही वह काम कर रहा है। स्वामी दयानन्द ने आर्य-समाजियों को अपने झगडे आपस में निपटालेने की जो सलाह दी है वह इसी बात का प्रमाण है। राष्ट्रीय शिक्षा का कार्य भी गुरुकुलों की स्थापना के रूप में ३६ वर्षों से हो रहा है। इन दोनों कार्यों को बढाने की अवश्य आवश्यकता है।

आशा है मेरी उपर्युक्त स्थापनाओं से 'वैदिक धर्म' के सम्पादक महोदय को असहमति न होगी।

'धरना और धर्मसभा'

श्रीयुत मान्यवर महानुभाव श्री० संपादकजी 'वैदिक धर्म' नमस्ते!

कृपा करके इस लेखको अपने अमूल्य तथा आर्य जाति हितकारी पत्रमें स्थान देकर उपकृतकरें।

पाताल देश निवासी योगीराज श्री० डेविस जी के महावाक्य हैंकि Be instructed by the past
Be thankful for the present,
Be hopeful for the future
Harm to none and good some "

(अर्थ)"भूतकालके कार्योंसे शिक्षा ग्रहण करो।
वर्तमानकालके लिये धन्यवाद करो।
आगामी कालके लिये आशावान बनो।
हिंसा वा हानी किसी एक की भी न करो
और भला थोडे मनुष्यों का कर सको।"

Teacher, preacher and plysician अर्थात् गुरु, उपदेशक और वैद्य को वह पातालनिवासी योगिराज एक कोटिमें रखते हैं।

सुश्रुत ग्रन्थ के पूज्य कर्त्ता महर्षीने उक्त ग्रन्थमें एक स्थल पर लिखा है कि संसार में तीन प्रकारके वैद्य जब समान योग्यता के देखने में आवें तो उस समय किस वैद्यको ब्राह्मण और किसको अन्य वर्णस्थ समझा जावे तो इस प्रश्नका वह वैद्य महर्षि यह उत्तर देते हैं की जो वैद्य सर्वहित वा पूर्णहित की दृष्टिसे अपना धंदा करता है वह वैद्य ब्राह्मण, जो यश संपादन के मनोभावसे धंदा करता हैं वह क्षत्रिय, जो धन बटोरने के मनोभाव से धंदा करता है वह आर्य वैद्य वैश्य है।

महर्षि दयानन्दजीने तीन सभाएं बनाने का जो वेदमूलक तथा उत्तम उपदेश दिया उसकी भारी जरुरत आजकल आर्यजनता अनुभव कर रही है।

आर्यसमाज जैसा कि उसके १० नियम दर्शाते हैं तथा महर्षि दयानन्दजी की अन्तिम इच्छा जो " स्वीकारपत्र " में छपी हुई हैं वह भी आर्यसमाज को धर्मसभा ही सिद्ध करती हैं।

इस समय मेरी तुच्छ मतिमें प्रत्येक आर्यसमाज तो वैदिक आर्यधर्मसभा है और प्रत्येक आर्यप्रतिनिधी सभा आर्यविद्यासभा है कारण कि यह गुरुकुलें चलाती है।

लाहौर में पं० श्रीरामगोपालजी आदि अनेक आर्यकर्मवीरों नें जो गत ७ वर्ष से एक उत्तम कोटिकी

आर्य स्वराज्य सभा

बना रखी है वह आर्यराज्यसभा मेरें नम्र मतमें पूर्ण रूपसे है।

The Modern Review for July 1930 पर निम्न महत्त्वपूर्ण शब्द हैं उनपर आर्य मात्र को विचार करना होगा—

"A complete seperation of the church and the state was effected in Turkey."

(भाव) टरकी देशमें धर्मसभा और राज्यसभा को एक दूसरे से पृथक् किया गया।

सब जानते हैं कि वर्तमान टरकी की सच्ची उन्नति तब ही हो सकी जब उक्त दो प्रकार की संस्थाओं को एक दूसरेसे वहां पृथक् किया गया।

शराब की दुकानों पर जो युवक आर्यवीर धरना देना चाहें वह जरूर देवें पर यदि वह सामूहिक रूपसे चाहते हैं तो हजारों की संख्यामें अति शीघ्र लाहौर की आर्यस्वराज्य सभाके सभासद बन जावें और वह आर्य राज्य सभा सामूहिक रूप से धरना देने को तत्पर हो सकती है। आर्यसमाज जो सौभाग्य वा दुर्भाग्य से आजतक धर्मसमाज बन रहा है उसको सज्जन धर्मसभा समझें और राज्य का काम न दिया जावे।

प्रत्येक आर्यसमाज के सभासद तथा सहायक का परम धर्म है कि वह स्वदेशीय वस्तु खादी आदि स्वयं धारण धर्म दृष्टिसे करे बहिष्कार की दृष्टिसे नहीं। उसके घर की देवियां स्वयं खादी बुनें कातें इत्यादि जैसा कि वेद भगवान का आदेश है। धर्मसभा का महा वाक्य "Harm to none and good to some" "किसीको दुःख न पंहुंचाना परंतु भला करना' ही रहेगा। अतः धर्मसभा बहिष्कार दृष्टिसे नहीं किन्तु परमधर्मपालन दृष्टिसे प्रत्येक स्वदेशीय वस्तु का ग्रहण तथा प्रचार करे।

कोई कहेगा कि खादी को धर्म दृष्टिसे धारण करने से भी बात वही हो जावेगी जो बहिष्कार दृष्टिसे धारण करनेवाले करते हैं। इसके उत्तर-संबंधी पूज्य महर्षि सुश्रुतकार के लेख का भाव ऊपर दिया है। जो धर्म दृष्टिसे धंदा करता है वह तो ब्राह्मण है, जो यश दृष्टिसे वह क्षत्रिय इत्यादि। इस लिये आर्य समाज जो धर्मसभा है वह शिक्षण, कथा, लेख आदेश, प्रचार द्वारा वही करे शराब रोकने का कर सकता है पर धरना देकर वा धरना वा बहिष्कार दृष्टिसे नहीं जो कि क्षत्रिय जनों वा राज्यसभा के सभ्यों का काम है।

बडोदा — सेवक
ता० १२-७-३० — आत्माराम प्रभृतसरी

सार्वभौम धर्मसंस्था।

ऊपर श्री० आचार्य रामदेवजी का एक पत्र और राजरत्न श्री आत्मारामजीका एक पत्र पाठकों के सन्मुख रखा है। ये दो विद्वान आर्य समाज के सुप्रसिद्ध नेता हैं, इसलिये वे आर्य समाज की नीति जो चाहे सो निश्चित करें।

आचार्यजी (१) शराब के विरोध में सामूहिक रूपसे प्रयत्न करने के लिये आर्य समाज को प्रेरित करना चाहते हैं। इसी प्रकार (२) अदालतोंका बहिष्कार और (३) सरकारी विद्यालयोंका बहिष्कार करनेके विषयमें भी संमति देते हैं। अर्थात् आचार्यजीके मतसे आर्य समाज सामूहिक रूपसे ये तीन कार्य करें। इससे हमारा कोई विरोध नहीं है।

इस विषयमें हमारा कथन इतनाही है कि, इस समय अदालतोंमें कार्य करनेवाले जज और वकील, विद्यालयों में कार्य करनेवाले अध्यापक और

विद्यार्थी, तथा अन्य सरकारी कार्यालयों में कार्य करनेवाले छोटेमोटे ओहदेदार बहुतसे आर्य समाजी हैं। हमारा जहां तक ख्याल है वहां तक कमसे कम सौमें पचास आर्य समाजी उक्त संस्थाओंसे संबंध रखते हैं। कई कालेज आर्य समाज चलाती है और उनमें कई हजार छात्र पढ रहे हैं। यह सब आर्य समाजियोंकी लीला हमारे मतसे श्री० महर्षि स्वामि दयानंदजी के उपदेशके विरुद्ध है। यदि किसी मनुष्यने स्वामिजीका थोडासा विरोध किया, तो जो आर्य समाजी उसका सिर तोडनेके लिये और स्वामिजीके यशवर्धन के कार्य में अपना बलिदान करनेके लिये भी तैयार रहते हैं, वे उक्त संस्थाओंमें अपने आपको बेच डालते हैं और स्वयं स्वामिजीके विरुद्ध आचरण करते हैं, इसका विचार कोई नहीं करता है। वस्तुतः उक्त संस्थाओंसे आजीविका पानेवाले आर्य समाज के सदस्य नहीं रह सकते,वे चाहे सहायक रह सकेंगे।

श्री० महर्षिजीके जीवन चरित्र में एक कथा है कि किसी स्थानपर स्वामिजीने देखा कि 'एक ब्राह्मण किसी युरोपीयन के ऊपर पंखा खींच रहा है।' यह देखकर श्री० स्वामिजीके दोनों आंखोंसे अश्रुधाराएं चलीं। त्रैवर्णिक सेवावृत्ति न करें, विशेष कर विदेशियोंकी सेवा न करें, यह तो स्वामिजीके उपदेश का सार है। यहां प्रश्न होता है कि, उक्त संस्थाओंसे आजीविका पानेवाले आर्य-समाजी त्रैवर्णिक हैं या चतुर्थ वर्ण में उनकी गिनती है ? यदि आर्यसमाज धर्मसंस्था है तो वह इस का निर्णय करे और आर्य समाज के ओहदेदार त्रैवर्णिक ही रहें।

खद्दरके विषयमें हमारा निश्चित मत यह है कि, जो आर्यसमाजी भारतवर्षको अपनी मातृभूमि कहते हैं उनको खद्दर पहनना आवश्यक है। वेद के अनुसार त्रैवर्णिकों को सूत कातना और अपना कपडा स्वयं बनाना आवश्यक है। कमसे कम यज्ञोपवीत स्वयं काते सूत का होना चाहिये। यह प्रथा अर्थात् यज्ञोपवीत अपने काते सूत का बनाने की रीति भारत वर्षके द्विजोंमें बहुत प्राचीन समयसे थी और इस समय दक्षिण भारत के ब्राह्मणोंमें कुछ अंशमें है। आर्य समाजमें यदि कोई द्विज होंगे, तो वे कदापि सूत कातनेसे दूर नहीं भागेंगे। वैदिक कालके कवि स्वयं सूत कातते और कपडा बुनते थे। यही यजुर्वेद में कहा आदर्श हमारा इस समय का आदर्श हो सकता है।

जो आर्य समाजी भारतवर्षको अपनी मातृभूमि नहीं समझते वे चाहे खद्दर न पहने। उनके लिये यह नियम नहीं है। वे अपनी मातृभूमी का कपडा पहने। श्री० आचार्य रामदेवजी को लार्ड आर्यविन के आर्य समाज में प्रविष्ट होने के स्वप्न इस पत्रमें भी आरहे हैं !! यदि ऐसे स्वप्नों से उनको हर्ष होता है, तो उसके विरोधमें हमें कुछ कथन करने की आवश्यकता नहीं है।

श्री० आचार्यजी के पत्रमें एक विधान है जो हमारे मस्तिष्क में शल्यके समान चुभ रहा है। वह यह है कि, " आर्य समाज सार्वभौम संस्था है इसलिये भारतवर्षीय आर्यसमाज को भारतीय स्वराज्यके संग्राममें भाग नहीं लेना चाहिये।"

पं० गुरुदत्तजीके विषयमें एक कथन हमने सुना है कि वे विदेशी वस्त्र पहनते थे और पूछनेपर कहते थे कि "हम आर्य समाजी सार्वभौम धर्मके अनुयायी हैं, इसलिये हमें पुरुषार्थी लोकोंके व्यापार को उत्तेजना देना चाहिये। युरोपीयन लोग पुरुषार्थी हैं और भारतवासी पुरुषार्थशून्य हैं, अतः हम युरोपीयनों का बना कपडा पहनते हैं।" इ०

यह पं० गुरुदत्तजी का गुणवर्णन प्रो० बालकृष्णजी द्वारा कांगडी गुरुकुल में किसी व्याख्यानमें हुआ था, जो हमने अपने कानोंसे सुना था। अर्थात् इसकी सचाईके विषयमें श्री० प्रोफैसरजी (आजके प्रिन्सीपल, राजाराम कालेज, कोल्हापूर) जिम्मेवार हैं।

सार्वभौमधर्मी होनेके मदसे स्वदेशी व्रतका त्याग करने का आर्थिक सिद्धान्त इस समय पांच वर्षका बालक भी माननेको तैयार नहीं है, इतनी आत्म-शुद्धि इस समय भारतवर्ष की हो चुकी है। इसी प्रकार श्री० आचार्यदेवजीका सार्वभौम धर्म का सिद्धान्त भ्रमसे बना हुआ है।

जो सच्चा मानव धर्म होता है वह सार्वभौम अर्थात् सब मनुष्यों के लिये समान होता है। वैदिक धर्म, सनातन धर्म, आर्ष धर्म अथवा आर्य धर्म शुद्ध मानव धर्म है इसलिये वह सार्वभौम धर्म है इसमें संदेह नहीं है और इस धर्मका प्रचार करनेवाली संस्था सार्वभौम है इसमें संदेह नहीं है।

सार्वभौम संस्था होनेपर भी वह संस्था जिस देशमें होगी उस देशसंबंधी कर्तव्य करनेसे वह दूर नहीं भाग सकती तथा यदि उस सार्वभौम संस्थाके सदस्य उस देशके पुत्र हुए तो मातृभक्ति के धर्मसे वे कदापि दूर नहीं हो सकते। सब संन्यासी सार्वभौम धर्म के प्रचारक ही होते हैं, तथापि वे अपनी माताके सामने सिर झुकाते ही हैं और यदि वे अपना सिर माताकी सेवा के लिये नम्र न करेंगे तो वे अपने धर्मसे गिर जांयगे। जिस प्रकार माताकी सेवा संन्यासी होनेपर भी नहीं छूटसकती, उसी प्रकार मातृभूमि की सेवा भी नहीं छूटसकती। यदि कोई सार्वभौम धर्मप्रचारक होनेके मिषसे अपनी मातृभूमिकी सेवासे दूर होंगे तो वे अपने कर्तव्यसे गिर जांयगे। भारतवर्षमें जो आर्यसमाज संस्था है, वह सार्वभौम मानव धर्म की प्रचारक है, तथापि वह संस्था भारतवर्षमें है इसलिये वह मातृभूमिकी सेवा से दूर नहीं रह सकती।

आर्यसमाज एक सार्वभौम धर्म प्रचारकी संस्था है, जिस मकानम में वह संस्था कार्य करती है, उस मकानको आग लग जानेपर उन सदस्यों का पहिला कार्य आग बुझानेका ही होना चाहिये। जिस ग्राममें यह सार्वभौमधर्मकी प्रचारक संस्था रहेगी, उस ग्रामको चारों ओरसे आग लगजाय तो इस संस्थाको वह आग बुझानेके कार्य में पहिले लगना चाहिये। इसी प्रकार भारतवर्षको कई वर्षोंसे आग लग गई है, इस आगमें भारत का हृदय जलने लगा है। श्री महर्षिजी चाहते थे कि आर्यसमाज इस आगको बुझा देवे, परंतु श्री० पूज्यपाद आचार्य जी जैसे धर्ममूर्ति और त्यागमूर्तियोंको भी अपने सार्वभौमिक धर्मके मोहसे मातृभौमिक धर्म का त्याग करनेका भ्रम हुआ है। यह भारतवर्षका और उस ऋषिका दुर्दैव है। और जिस सार्वभौमिक धर्मके ये अपने आपको प्रचारक समझते हैं उस ऋषिप्रणीत धर्मका भी दुर्दैव है। क्यों कि जो धर्मसभा अपने आपको निज मातृभूमिकी सेवासे दूर रखनेके नये नये ढंग सोचती रहती है,उस धर्मसभा का उपदेश सुननेके लिये भी इस समय जगत में कोई तैयार नहीं है।

इस समय भारतवर्ष की स्वाधीनताके संग्राममें भाग लेना सार्वभौम वैदिक धर्मका आचार से प्रचार करना है। इस समय भारत की स्वाधीनता पर संपूर्ण जगत् की शान्ति निर्भर है, अतः सार्वभौमिक शान्तिस्थापनका प्रयत्न सार्वभौमिक धर्म के आचार का भाग है। कोई युक्ति नहीं है जो इस कर्तव्यसे आर्यसमाजियोंको दूर कर सके।

विचारक इसका विचार करें। "संपादक"

वैदिक प्रार्थना।

(श्री० कवि श्री० लोचनप्रसादजी पाण्डेय, रायगढ)

(१)

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च
नमः शिवाय च शिवतराय च

यजु० १६। ४२

शमदमस्वामी अहो शम्भु भगवान !
नमस्कार है तुमको ज्ञाननिधान !
अहो मयोभव सर्वसुखालय ईश !
भक्तिसहित हैं तुम्हें झुकाते शीश ॥
हे शङ्कर ! हे विश्वनाथ, शुभधाम !
तव पदकमलोंमें है विपुल प्रणाम ॥
देव मयस्कर प्राणमनेन्द्रियनाथ !
नमस्कार है, कीजै हमें सनाथ ॥
मङ्गलमय शिवभव कल्याणनिवास
प्रणति ग्रहण कर, हरिए पातकत्रास ॥
हे शिवतर ! हे शुभतर ! हे जगदीश !
नमस्कार हैं अमित तुम्हें योगीश ॥

(२)

प्रार्थना ।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव-
संकल्पमस्तु ॥ यजु० ३४ । १

विचरत जाग्रत दशा माहिँ मन दूर दूर जो नितहीं
सुप्त अवस्था हूं महँ जो मन भ्रमत रहत अविरतही ।
ज्योति पुंजकी ज्योति अपूरब, दूरगमन गुनधारी
निकट तथा दूरस्थ विषयको संतत चिन्तकारी ॥
अति चंचल जो है स्वभावसों, सो मन प्रभु तुअ चेरो
शिवसंकल्प विधानन में हरि! ताकी गति नित फेरो॥

(३)

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् । आराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् । दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः । सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् । निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु । फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् । योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ यजुर्वेद २२।२२

भावार्थ ।

हे जगदीश दयाल ब्रह्मप्रभु ! सुनिए विनय हमारी ।
हो ब्राह्मण उत्पन्न देशमें धर्मकर्म-व्रतधारी ॥
क्षत्रिय हों रणधीर महारथ धनुर्वेद-अधिकारी ।
धेनु दूधवाली हो सुकर, वृषभ तुङ्ग बलधारी ॥
हो तुङ्ग गति चपल,अङ्गना हों स्वरूप गुणवाली ।
विजयी रथी पुत्र जनपदके रत्न तेजबलशाली ॥
जबही जब जग करे कामना जलधर जल बरसावें

फलें पकें सुखद वनस्पति योगक्षेम सब पावें ॥

(४)

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता ॥
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥
स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा ।
दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥
अथर्व० १२। ५। ५। १-२-३

हे परमेश्वर, करुणासागर, विश्वनाथ, यह बर दीजै ।
आजीवन हम पुरुषार्थी हों तपबलयुक्त हमें कीजै ।
ज्ञान तथा धनके विषयों में वेदाज्ञाके पालक हों ।
तेजस्वी हों, वीर धीर हों, देश कार्यसंचालक हों ।
सत्यावृत, श्रीप्रावृत, यशसे परिवृत हम सब हों स्वामी !
स्वीय उपार्जित धनपर हम सन्तुष्ट रहें, अन्तर्यामी !
दीक्षासे रक्षित, श्रद्धायुत हों स्वदेशके हितकारी
रहें प्रतिष्ठित परहित व्रतमें नित हम सब हे असुरारी !

(५)

स्तुति ।

अग्निमीळे पुरो हितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥ ऋग्वेद १-१-१-१

अग्निरूप है परम पुरोहित हितकारक जो स्वयंप्रकाश
स्तुति मैं उस विभुकी करता हूं जो है शुभ्र ज्ञान आवास॥
यज्ञदेवता ऋत्विज होता वह सर्वेश जगत्-आधार ।
सूर्य आदि लोकोंका धारक है जो दिव्य रत्नभण्डार ॥

(६)

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।
देवो देवेभिरागमत्॥ ऋग्वेद १। १। १। ५

अग्नि प्रकाशक अखिल लोकके हे होता! फलदायक देव!
कवि सर्वज्ञ,जगत् कर्ता ऋतु सत्य अचल सुख-सद्म सदैव!!
चित्रश्रवस्तम सुकीर्तिकर देव दिव्यगुण परमात्मा ।
दिव्य गुणोंके सहित हृदयमें प्रकट हूजिए विश्वात्मा ॥

(७)

स्तुति ।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छा-
श्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजु० ४० । ८

आकाशसा व्याप्त चराचरोंमें
हे शुक्रतेजोमय सृष्टिकर्ता

अकाय है ब्रह्म अछेद्य सूक्ष्म
विशुद्ध है पापविहीन नित्य।
+ कविर्मनीषी परि भू स्वयंभू
+ सर्वज्ञ, विज्ञानज पूर्ण आदि
अनादि संवत्सरसे वही है
प्रजागणोंको उपदेश देता
सत्यार्थका वेद महान ज्ञानका
अज्ञान रूपी तमको मिटाने ॥

(+ सर्वज्ञ, साक्षीमनका, प्रपूर्ण)

(८)

स्तुति।

स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्।

ऋग्वेद० १।७।३।२

जो सत्य सुन्दर है सनातन कव्यता कविता-निधान।
इस प्रकृतिका इस दृश्य भवनिधिका प्रकाशक रवि महान॥
गुणयुक्त परमात्मा स्वभू जो अखिल लोकाधार है।
खग मृग लता वल्ली मनुज सुर रचयिता अविकार है॥
जो सच्चिदानन्द स्वरूप अनन्त है सुखशान्तिधाम।
पृथ्वी प्रजा ग्रह व्योम तारे यश कहैं जिसके ललाम॥
उस ज्ञान अग्नि समान बाच्छा कल्पतरु जगदीशको।
विद्वान् देव समूह धारण करैं नित्य श्रुतीशको॥

(९)

प्रार्थना।

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धिया वसुः॥ ऋग्वेद० १।१।६।१०

हमारी वाणी हो पावन।
सरस्वतिका हो आराधन॥
करें हम नित गुरुजन सेवन।
कहें धन, स्वास्थ्य, दीर्घजीवन॥
बुद्धि हो हम सबकी शुभतर।
तजें हम छल विरोध मत्सर॥
देशको नवबल दें प्रभुवर!
प्रजा हो ताकि सुखी सत्वर॥
यज्ञ हम करें देशहितकर।
सत्यका करें सदा आदर॥
प्रार्थना है इतनी ईश्वर!
न औरों पर हम हों निर्भर॥

श्रीमद्भगवद्गीता।

[पुरुषार्थ-बोधिनी भाषाटीकासे युक्त]

प्रथमाध्यायः।

अर्जुन-विषाद-योग।

(१) धृतराष्ट्रकी चिन्ता।

धृतराष्ट्र उवाच– धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

अन्वय—हे सञ्जय! धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, युयुत्सवः समवेताः, मामकाः पाण्डवाः च एव, किं अकुर्वत?

धृतराष्ट्र बोले- हे संजय! धर्मक्षेत्ररूपी कुरुक्षेत्रमें, युद्ध करनेकी इच्छासे एकत्र हुए, मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? ॥ १ ॥

भावार्थ— जिस समय अपने लोग किसी युद्धमें संमिलित होते हैं, उस समय उस युद्धका ठीकठीक वृत्तान्त शीघ्र जानना और विजयप्राप्तिके लिये अपने लोगोंकी उचित सहायता करना, प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

(१) धृतराष्ट्रकी चिन्ता।

"श्रीमद्भगवद्गीता" शब्दका अर्थ वास्तविक रीतिसे "श्रीभगवान् के मुखसे गाई गई" ऐसा होता है। श्रीभगवान् का उपदेश द्वितीय अध्याय के द्वितीय श्लोकसे प्रारंभ होता है, उसके पूर्वका यह प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका प्रथम श्लोक पूर्वसंबंध बतानेवाला प्रस्तावनारूप भाग है। इस प्रथम अध्यायमें अर्जुन के मनमें विषाद उत्पन्न होनेका प्रसंग वर्णित हुआ है। परंतु इस प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोकमें अर्जुनका विषाद भी नहीं है। इसमें तो "धृतराष्ट्रकी चिन्ता" है। अर्थात् इस अनुपमेय ग्रंथ का प्रारंभ धृतराष्ट्रकी चिन्तासे हुआ है। यह धृतराष्ट्र कौन है?

धृतराष्ट्र कौन है ?

धृतराष्ट्र एक भारतीय राजा था,यह बात सब जानतेही हैं । परंतु यहां ' धृतराष्ट्र ' एक विशेष भूमिका लिये हुए हैं । यह " धृत-राष्ट्र " है । यह ' राष्ट्र ' को 'धृत' अर्थात् हडप कर बैठा है । यह जो वास्तविक अपनी चीज नहीं और दूसरे की है, उसपर अन्याय से और पाशवी बलसे अपना अधिकार जमानेका यत्न कर रहा है । दूसरे का राष्ट्र पाशवी बलसे अपने आधीन करना, उस-पर अपना अधिकार सदाकेलिये स्थिर रखनेका यत्न करना और उसके अधिकारी पुरुष अपना स्वराज्य वापस मांगने लगे, तो उनको न देनेके लिये प्रयत्न करना, और उनको 'अनधिकारी' सिद्ध करना, यह ' धृत-राष्ट्र ' यहां कर रहा है । इसी कारण इसको चिन्ता हो रही है, और यह पूछरहा है कि, " भाई ! आज युद्धका पहिला दिन है, उस युद्धमें क्या हुआ ? "

धृतराष्ट्र और हृतराष्ट्र ।

" धृत-राष्ट्र " और " हृत-राष्ट्र " इनमें यह युद्ध हुआ है । हमेशा ऐसे ही युद्ध हुआ करते हैं । कौरव ' धृतराष्ट्र ' के पक्षपाती और पाण्डवोंका पक्ष ' हृतराष्ट्र ' का था । ' हृतराष्ट्र ' वे होते हैं कि, जिनका राष्ट्र छीना गया होता है और जो अपना गया हुआ स्वराज्य पुनः प्राप्त करनेके लिये यत्न करते हैं । इनका राष्ट्र छीना गया होनेके कारण और ये राजकीय अवनतिकी चरम सीमा तक पहुंचे होनेके कारण तथा युद्ध-में पराजय हुआ तोभी हृतराष्ट्रोंकी और अधिक हानी होनेकी संभावना न होनेके कारण हृतराष्ट्र दक्षतासे युद्धकी तैयारी करते हुए भी चिन्तासे व्याकुल नहीं होते । युद्ध का परिणाम अनुकूल हुआ तो हृतराष्ट्र लोग 'स्वराज्य' प्राप्तकरेंगे,यह आशा इनको रहती है; परंतु युद्धमें पराजय हुआ तो इनकी, पहिलेसे ही राज्य छीना जानेके कार-ण, और अधिक हानि होनेकी संभावना नहीं होती है; अतः इन को चिन्ता नहीं दुःख देती; प्रत्युत अपना सत्पक्ष होनेके कारण और राज्य प्राप्तिकी संभावना होनेके कारण, इनके अंदर एक प्रकार का अपूर्व उत्साह रहता है ।

धृतराष्ट्रकी हानि ।

परंतु ' धृत-राष्ट्र ' के पक्षकी बात वैसी नहीं है । यदि इनका विजय हुआ तो इनको प्राप्ति कुछभी नहीं होनी है, जो युद्धके पूर्व था, वही अधिकसे अधिक इनके पास स्थिर रहेगा; युद्धमें पराजय हुआ, तो अनेक अन्याय और क्रूरत्व करके कमाया हुआ राष्ट्र हाथसे चला जायगा; और जय किंवा पराजय होनेपर युद्धसे इनकी हानि ही हानि होनी है; इस कारण ये ' धृतराष्ट्र के पक्षके लोग रातदिन चिन्तासे व्यग्र रहते हैं । युद्धमें जय मिला तोभी इनकी हानि है, युद्धमें पराजय हुआ तोभी इनकी हानिकी सीमा ही नहीं है, और दोनों अवस्थाओंमें संपूर्ण जगत्की निंदा इनके माथे आती ही रहेगी । इस चिन्तासे व्याकुल होकर इस श्लोकमें ' धृत-राष्ट्र ' पूछ रहा है कि "मेरे पुत्र और पाण्डुके पुत्र युद्ध की इच्छासे इकट्ठे हुए थे, तत्पश्चात् क्या हुआ?"इस प्रश्नमें जो भय है, वह ऊपर दर्शाया ही है । यह भय सामान्य नहीं, इसी चिन्तासे सब 'धृत-राष्ट्र सम्राट् ' मनही मनमें दिनरात जलते रहते हैं ।

अन्धा धृतराष्ट्र ।

' धृत-राष्ट्र ' अंधा भी होता है । यह अन्धा क्यों न होवे ? मनुष्य पाशवी बलके कारण अन्धा होता है, परंतु जिसके पास पाशवी बल अत्यधिक होता है, वह तो सबसे पहिले और सबसे अधिक अंधा होता है । पाशवी बल बढ-जानेके कारण ही यह दूसरोंका राष्ट्र अपने आधीन करके उसका उपभोग लेता रहता है, और इस कारण उसका धन भी बढता है । इस अधिक धनके कारण भी मनुष्य अन्धा होता है। बल और धन पास रहनेपर साधारण मनुष्य तो अन्धा बनही जाता है, परंतु इनके साथ यदि शासनाधिकार प्रतिबंधरहित रीतिसे हाथ में

आगया, तो अन्धा बन जानेकी कोई सीमाही नहीं रहती। बल, धन और अधिकारके मदसे तना हुआ मनुष्य न्याय और अन्याय, धर्म और अधर्म, कर्तव्य और अकर्तव्य, नीति और अनीति, युक्त और अयुक्त देखनेमें असमर्थ होता है। वह शरीर के नेत्रोंके कारण अन्धा हो या उसकी आंखें अच्छी हों, इसका कोई संबंध नहीं, सत्य दृष्टीसे वह अन्धा ही बनता है। स्थूल शरीरके अन्धत्वकी अपेक्षा उसका जो मानसिक और आत्मिक अन्धत्व होता है, वह बहुत ही भयानक होता है; यह न केवल उसको चिन्तामें डालता है, परंतु जितने भी उसके पक्षमें होते हैं, उन सब को अपरिमित चिन्तासागरमें डुबा देता है।

अन्धेके अन्धे अनुयायी.

धृतराष्ट्रकी पत्नी भी आंखें होती हुई अन्धी बनी थी! क्यों न बनेगी ? जो अन्धे धृतराष्ट्रके साथी होते हैं उन सब का हाल ऐसा ही होना है। यह ठीक है कि, गांधारी देवीने पतिव्रता व्रतके कारण अपनी आंखें बांध रखी थीं। यह निःसन्देह ऐसाही होगा। परंतु यह गांधारी अपने घरमें अपनी स्नुषापर चलाये हुए अत्याचारका प्रतिबंध करनेमें समर्थ नहीं हुई। इस देवीने बहुत विरोध भी नहीं किया था। जब अत्यन्त अत्याचार हुआ, तब कुछ बोल उठी थी। इससे प्रतीत होता है कि, यह देवी पतिदेव धृतराष्ट्रकी संमतिके प्रतिकूल बहुत जाना नहीं चाहती थी। यदि यह दुःशासनको अपने पूरे बलसे रोक लेती, तो घर के यशकी रक्षा होना संभव था। मानो, इस देवीने जान बूझकर अपने आंखोंपर परदा डाल रखा था और सच मुच था भी ऐसाही। धृतराष्ट्र तो चाहताही था कि यदि किसी न किसी प्रकार पांडवोंकी बला टल जाय और पूर्ण साम्राज्य अपने पुत्रोंके आधीन हो, तो अच्छाही है। पतिव्रता होनेके कारण और पुत्रलोभके कारण देवी गांधारी का भी अंदर अंदरसे ऐसाही मत हुआ होगा। पुत्रों के मोहसे और पतिके अनुकूल रहनेके यत्नसे स्त्रियोंके अंदर इस प्रकारकी कमजोरी आती ही है। वे सहसा अपनी इच्छाको प्रबल करना नहीं चाहती, इस लिये आंखें होती हुई भी उनको अन्धा बननाही पडता है। यही अवस्था गांधारी देवी की हो गई थी।

अन्धे धृतराष्ट्रके पुत्रभी एकसे एक अन्धेके अनुगामी होने योग्य थे। दुर्योधन, दुःशासन, दुःसह, दुःशल, दुर्धर्ष, दुष्प्रधर्ष, दुर्मर्षण, दुर्मुख, दुष्कर्ण, दुर्मद, दुर्विगाह, दुर्विमोचन, दुष्पराजय, दुराधर, इ० ये पुत्र और इनकी भगिनी दुःशला इनके नाम का प्रारंभ "दुः" अर्थात् दुःख, दुष्टता आदि भावोंसे हो रहा है। यद्यपि शौर्यकी दृष्टिसे इनके अर्थमें कोई बुराई नहीं है, तथापि दुष्टबुद्धि के लिये इनके शौर्यका उपयोग होनेके कारण इनके शौर्यका दुरुपयोगही हुआ। जो शक्ति देवकार्य के लिये लगती है, वही उत्तम आदरणीय है, परंतु जो शौर्य आसुरी कार्यके लिये लगता है; वह शौर्यवीर्य कितना भी बढकर हुआ, तो भी वह दुःख बढानेवाला ही होता है। इसकी सूचना इन नामोंसे भली प्रकार समझमें आसकती है। 'धृत-राष्ट्र' अर्थात् जो दूसरोंका राष्ट्र अन्यायसे हडप कर बैठा होता है, उसके परिवारके लोग और उसके अनुयायी लोग उसको मदत करनेके कारण और उसका पूर्ण विरोध न करनेके कारण उसके दोषके भागी होजाते हैं। इन नामोंकी योजनासे यही स्पष्ट दीखता है। दुर्योधन वस्तुतः सुयोधन अर्थात् उत्तम लडनेवाला था, परंतु उसने अपना युद्ध-कौशल दुष्ट असत्पक्षके लिये लगानेके कारण वह 'सु-योधन' होता हुआ भी 'दुर्योधन' बनगया।

सामुदायिक पाप।

यही अवस्था भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, आदिकोंकी होगई थी। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो ये ज्ञानी, शूर, पुरुषार्थी और तेजस्वी धार्मिक पुरुष थे। अनुकरणीय और प्रातःस्मरणीय थे।

परंतु उनका सब शौर्य दुष्ट धृतराष्ट्रपुत्रोंकी अनीतिके पक्षके लिये लडनेमें खर्च हुआ !! इतने आदर्श पुरुष होते हुए भी बुरी अनीतिके असत्पक्षमें रहनेके कारण वे वधके योग्य समझे गये। सांघिक अथवा सामुदायिक पापका यही परिणाम होता है। ऐसे युद्धोंमें बुरेके साथ भला भी पीसा जाता है। और ऐसी अवस्थामें जो भले लोग पीसे जाते हैं,उनको कोई बचा नहीं सकता। अतः इस युद्धमें भगवान् श्रीकृष्ण भी भीष्मद्रोणादि सज्जनोंको बचा नहीं सके।

वैसा देखा जाय तो भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य जानते थे कि,पाण्डवोंका सत्पक्ष है और धृतराष्ट्रका असत्पक्ष है। उनका असंदिग्ध मत था कि, पाण्डवोंको स्वराज्य अतिशीघ्र मिलना चाहिये। धृतराष्ट्र और दुर्योधन पाण्डवोंकी स्वराज्यप्राप्तिमें विविध विघ्न खडे कर रहे हैं, यह अधर्म होरहा है, यह भी वे जानते थे और वे समय समयपर वैसा कहते भी थे। परंतु धृतराष्ट्रके साम्राज्याधिकारी पक्षवाले उनका उपदेश माननेको तैयार नहीं थे। दुर्योधन इनके मतको कोई मूल्य देता नहीं था। बूढेकी बक् बक् कौन सुनता है? अधिकारमदसे उन्मत्त हुए पुरुष सदुपदेश और धर्मका उपदेश सुननेको तैयार नहीं होते। कभी तैयार नहीं हुए और आगेभी सुननेको तैयार न होंगे। वे तो उस समय सुनने को तैयार होते हैं कि, जिस समय वे पूर्ण रीतिसे पराजित हुए होते हैं।

पापसे मृत्यु।

दुर्योधन यह कहता था कि, अपने पास ११ अक्षौहिणी सेना है, भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे महावीर सहायक हैं, शस्त्रास्त्र संपूर्ण प्रकारके हैं, साम्राज्यका संपूर्ण धन अपने पास है, इतना होने पर पांडवोंकी थोडीसी स्वराज्यविषयक हलचलको डरकर अपने हाथमें आया साम्राज्य क्यों छोड दें? पाण्डवोंकी सेना छोटी, उस सेनाको बहुत अनुभव नहीं है, उनके पास इतना धन नहीं अर्थात् अपनी शक्तिसे पाण्डवोंकी शक्ति सब प्रकारसे कम है, फिर हम क्यों डरें? केवल युद्ध का बलाबल ही देखा जाय, तो दुर्योधनका कहना सत्य ही था; परंतु वह नहीं जानता था कि, अपने किये हुए अनेक पापोंके कारण अपने सब योद्धा (निहताः पूर्वमेव। भ० गी० ११।३३) करीब करीब मरे हुए हैं। दुर्योधन, आंखें होते हुए भी, इस बातको देखनेके लिये वह पूरा अन्धा हुआ था। अपने पापोंके कारण सब जनताका मन और अपने बहुतसे सैनिकोंका भी मन पाण्डवोंकी ओर हुआ है, यह बात वह देखता नहीं था। सच्चा 'विजय' उसको प्राप्त होता है कि, जिसको सब जनता अपने मनसे विजययुक्त देखना चाहती है, और यह जनताका आशीर्वाद सदा 'धर्म' के पक्षवालोंको ही प्राप्त होता है। पाण्डवोंका यह धार्मिक बल दुर्योधनने ध्यानमें नहीं लिया था, वह केवल अपना पाशवी बल ही गिनता रहता था, और अपने अतुल पाशवी बल के मदसे वह उन्मत्त भी हुआ था।

परंतु अन्धे धृतराष्ट्र के मनमें यह बात दिनरात खटकती थी। वह अन्धा होते हुए भी अपने पापोंको सबसे अधिक जानता था और इसी कारण वह युद्धका समय उपस्थित होनेपर सबसे अधिक भयभीत हुआ था, और यह भय मनमें रखते हुए ही धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा था कि, 'अरे संजय! युद्धकी इच्छासे मेरे पुत्र और पाण्डुके पुत्र धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें उपस्थित हुए, इतना तो तुमने मुझे कहा, पश्चात् क्या हुआ?"

अपने पापसे भीति।

यह प्रश्न पूछनेमें उसके मनके सामने अपने सब पातक उपस्थित हुए हैं ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। वह मनमें कहता था कि,—हमने भीमको विषप्रयोग किया, उसको जलमें डुबा दिया, लाक्षागृहमें सब पाण्डवोंको जलानेका यत्न किया, पाण्डवोंकी धर्मपत्नी पतिव्रता द्रौपदीको सभामें अनंत कष्ट दिये, पाण्डवोंसे कपटद्यूत करके उनका राज्य कपटसे हरण किया, बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासके

कष्ट उनको दिये, इतना होने पर भी उन्होंने धर्मके अंदर रहकर कष्ट सहे, शक्ति होते हुए भी कोई अत्याचार नहीं किये, अनत्याचारी वृत्तीसे रहे, सब प्रतिज्ञा पालन करके वे अब अपना स्वराज्य वापस मांग रहे हैं और वह हम उनको वापस नहीं देते। हमने उनको स्वराज्य वापस देनेकी कई बार घोषणा भी की थी, परंतु वह देनेकी इच्छासे नहीं की थी, कालहरण करनेकी मनीषासे ही की थी। इतने हमने अत्याचार और कपट करनेपरभी पाण्डवोंने अन्तमें केवल पांच ग्राम ही मांगे, परंतु वह भी हमने दिये नहीं और कहा कि, युद्धके विना रत्तीभर भूमि भी नहीं मिलेगी। ये सब अत्याचार हमने पांडवोंपर किये हैं। इतने हमने पाप किये हैं, इन पापोंके कारण जनताके मनकी प्रवृत्ती पांडवोंको अनुकूल और हमारे लिये प्रतिकूल हुई है। इस कारण यद्यपि हमारा पक्ष पाशवी शक्तिसे प्रवल है, तथापि आत्मिक शक्तिसे हमारा पक्ष बहुत कमजोर हुआ है और पाण्डवोंका पक्ष तो उनकी 'धर्मके साथ स्थिति' होनेके कारण उनका आत्मिक बल कई गुना हमसे अधिक हुआ है।" धृतराष्ट्रकी यह चिन्ता थी, रातदिन वह मनही मनमें इस चिन्तासे जल रहा था और इसी कारण युद्धकी उपस्थिति होनेपर वह आतुरताके साथ पूछ रहा है कि "युद्धका आगे क्या हुआ ?"

धर्मवचनोंका दुरुपयोग।

अन्यायसे दूसरोंका राज्य हरण करनेवाले और कपटसे उसपर अधिकार स्थिर करनेका यत्न करनेवाले धर्मवचनोंको भी अपने अनुकूल बता देनेका यत्न करते हैं। जित लोगोंमें युद्धनिवारक धर्माभासके भावको जागृत करना, संपूर्ण मानवोंके हितका विचार उनके मनमें भर देना, उनको युद्धके संहारसे निवृत्त करना, इसी प्रकार जगत् नश्वर है इत्यादि विचार उनमें स्थिर करना, इत्यादि प्रकारका प्रयोग भी 'धृतराष्ट्र' के पक्षवालोंने पाण्डवोंपर कियाही था !!! कहते हैं कि सैतान भी धर्मपुस्तकोंका वचन अपने पक्षके लिये उद्धृत करता है। इसी प्रकार विजेता लोग धर्मवचनोंको अपने पक्षके अनुकूल बताते हैं, बडे बडे तत्त्वज्ञान और शान्तिवचन बोलते हैं, जगदुद्धारके लिये हम यत्न कर रहे हैं ऐसा बताते हैं, इन सबका तात्पर्य यह है कि, जित लोग इन वचनोंसे मोहित हो कर स्वराज्य-प्राप्तिके लिये कोई प्रयत्न न करें, और सदा पराधीनतामें संतोष मानें। कौरवोंने पाण्डवोंके ऊपर भी ऐसाही धर्म प्रयोग किया था। गीताके प्रथम अध्यायसे उस प्रसंगका संबंध है, इसलिये उस प्रसंगका वर्णन सारांशसे यहां करते हैं।

उद्योग पर्वमें (अध्याय २० से अ० ३२ तकके बारह अध्यायोंमें) 'संजययान-पर्व' है। पाठक मूल महाभारतमें यह संपूर्ण पर्व पढें। इसके पढनेसे ही भगवद्गीताका प्रथम अध्याय अर्थात् अर्जुनको विषाद क्यों हुआ, वीर अर्जुनका मन युद्धके प्रारंभमें ही उदासीन और विरक्त क्यों हुआ, यह बात ठीक प्रकार समझमें आसकती है। धृतराष्ट्रके पक्षवालोंने पांडवोंको धर्मवचन-द्वारा युद्धसे हटा देनेका जो अन्तिम प्रयत्न किया था, वह प्रयत्न साम्राज्यवादियोंकी चालाकीका प्रदर्शक है। धृतराष्ट्र जानता था कि, पांडव धर्मप्रवृत्तीके लोग हैं, इसलिये धर्मवचनोंके जालमें अवश्य फंसेंगे। अतः उसने इस कार्यके लिये संजयको पांडवोंकी छावनीमें भेजा था और उसने वहां पांडवोंको जो उपदेश किया था, वह अर्जुनके मनमें जमगया था, युद्धका भयानक चित्र सन्मुख आतेही उन विचारोंने अर्जुनके मन पर प्रभाव जमा दिया और अर्जुन युद्धसे विमुख हुआ। ऐसा होगा ही, यह बात धृतराष्ट्र जानता था और अपने प्रयोग की सफलता हुई या नहीं, यह जाननेकी इच्छासे धृतराष्ट्र पूछता है कि "दोनों ओरकी सेना इकट्ठी होनेके बाद क्या हुआ ? " अर्थात् हमने जो धर्मवचनोंका प्रयोग पांण्डवोंपर कियाथा, उसका अनुकूल परिणाम हुआ या नहीं हुआ। इसके जाननेकी आतुरता धृतराष्ट्रके इस प्रश्नमें है।

जो लोग संजययानपर्वके अनुसंधानसे भगवद्गीताका प्रथमाध्याय पढेंगे वेही इस अध्यायका मर्म समझ सकते हैं। इसलिये पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि, वे उद्योगपर्वके प्रारंभके ये (अ० २० से ३२ तकके) बारह अध्याय सूक्ष्म दृष्टीसे पढें। पाठकोंकी सुविधाके लिये हम यहां सारांश रूपसे वह भाग बता देते हैं—

(उद्योग० अ० २२ में) धृतराष्ट्र संजयसे कहता है कि " हे संजय ! तू पाण्डवोंकी छावनीमें जा, और उनसे कह कि, धृतराष्ट्र पाण्डवोंका हित चाहता है, पाण्डवोंके गुणोंका वर्णन करता है, और पांडवोंको वापस आये देख कर उसको बडा ही आनंद हुआ है। धृतराष्ट्र पांडवोंसे युद्ध करना नहीं चाहता, परंतु पांडवोंसे संधि करना चाहता है, इसलिये पांडव भी संधि करनेके लिये तैयार हो जांय। हे संजय ! ऐसी वैसी शान्तिकी बातें कहकर पांडवोंका युद्धविषयक जोश कम होगा ऐसा यत्न कर। "

इससे स्पष्ट होता है कि, धृतराष्ट्र शान्ति करनेका इच्छुक नहीं था; परंतु पांडवोंके स्वराज्यप्राप्तिके लिये युद्ध करनेके उत्साहको कम करनेका इच्छुक था। देखिये साम्राज्यवादियोंकी राजनीति कहांतक गहरी होती है।

आगे चलकर (अ० २३ में) संजय पांडवोंसे कहता है—" हे धर्मराज ! देखो, आप सब पांडव सज्जन हैं, कठिन प्रसंगमें भी धर्मका अतिक्रम आप नहीं करते, आप धन्य हैं। आपने तो कौरवोंके इतने अपराधोंकी क्षमा की है, ऐसे धर्मात्मा लोग आप अब अपनेही भाइयोंका-दुर्योधनादिकोंका-वध करनेका घोर कार्य करेंगे, यह कदापि हो नहीं सकता। कमसे कम मेरा मन तो कहता ही है कि, ऐसा कुलक्षय आप कभी नहीं करेंगे। हे धर्मराज ! क्षत्रियोंका धर्म तो केवल कसाइयोंका धर्म है, वह आप जैसे धर्मात्माओंके लिये शोभा नहीं देता !! मैं निश्चयसे मानता हूं कि, आप ऐसा क्रूर युद्धकर्म कभी करेंगे ही नहीं। आप जानते ही हैं कि बूढा धृतराष्ट्र आपके साथ कितना प्रेम करता है, परंतु वह बिचारा क्या करेगा ? साम्राज्यमदसे धुंद हुआ सुयोधन उसका सुनता नहीं है। क्या इसलिये उनके सब पुत्रोंको मार कर बूढे धृतराष्ट्रको पुत्रशोकमें डालनेमें आप प्रवृत्त होंगे ? यह तो आपके धर्मभावके लिये सर्वथा अनुचित है। हे अजातशत्रो! तुम्हारे मनमें तो शत्रुभाव भी नहीं है। धन्य हो ! तुम ही सच्चे धार्मिक हो। तुमने इतने दुःख सहन किये हैं और अपना धर्म रक्षण किया है, क्या ऐसे तुम इस समय कौरवोंसे शान्तिका वर्ताव नहीं करेंगे? हे धर्मराज ! तुम्हारे सब भाई भी धर्मात्मा हैं। इस लिये यह कुलक्षय हटाना अब तुम्हारे हाथमें है। मैं समझता हूं कि, सबको सुख प्राप्त हो, ऐसी यदि तुम्हारी इच्छा है, तो तुम इस समय कौरवोंसे संधि करो और अपने कुलकी रक्षा करनेका यश संपादन करो। " (अध्याय २४)

(अ० २५) " हे पाण्डवो ! धृतराष्ट्र तो शांति करनेके लिये अत्यंत उत्सुक है। आप सब पांडव जन्मसे दयावान्, धर्मवान् और उदार हैं। आप जैसे धार्मिक सज्जनोंको युद्ध जैसा क्रूरकर्म करना कदापि योग्य नहीं है। आप जैसे धार्मिक पुरुषोंने थोडासा भी हीन कर्म किया, तो वह आपके अयशके लियेही कारण होगा। कौरव तो दुष्ट हैं हि, उनके नीच कर्मोंकी तो कोई सीमा ही नहीं, परंतु आप वैसे नहीं ! आपने इस समय तक धर्मका उल्लंघन नहीं किया है, इसलिये अब आपको युद्धका क्रूर कर्म नहीं सजता है। इस युद्धमें जय मिला तो भी वह पराजयके समानही है और इसमें कुलक्षय तो निःसंदेह होगा ही; इसलिये आप जैसे धार्मिक लोगोंको यह घोर युद्ध करना उचित नहीं है। किस पक्षका जय होगा यह भी नहीं कहा जाता; किसीका भी जय हो और किसीका भी पराजय हो; दोनों अवस्थाओंमें निश्चित बात यह है कि, संपूर्ण कुलका नाश होगा। फिर ऐसा हीन कार्य क्या तुम्हारे जैसे धर्मपुरुषोंको करना योग्य है ? हाय ! हे धर्म ! तूने

इतने दिन धर्मका पालन किया और अब ऐसा हीन कर्म करनेके लिये उद्युक्त हुए हो ! युद्ध करना तो नीच पुरुषोंका कार्य है, तुम्हारे जैसे धार्मिक लोगोंको यह उचित नहीं है। कौरव भी तुम्हारे भाई ही हैं और अपने भाइयोंका हित करना तुम्हारा परम कर्तव्य ही है। और पहिले भी तुमने ऐसा ही किया है। जिस समय गंधर्वोंने कौरवोंको पराजित करके बांध दिया था, उस समय तुम पाण्डवोंने ही तो उनकी रक्षा की थी ? जिनकी तुमने रक्षा की, क्या तुम अब उनका ही वध करोगे ! नहीं नहीं, यह तो कसाइयोंका कार्य है, यह पाण्डवोंके लिये योग्य नहीं है। इस लिये आप शान्ति धारण करनेका कार्य कीजिये।"

(अ०२७) "हे धर्मराज ! तू तो धर्मात्मा है। तू जानता है कि जीवित नश्वर है। यहां कौन शाश्वत रहनेवाला है ? क्या कौरवोंका नाश करके पांडव चिरंजीव होंगे ? यह कदापि नहीं होगा ! तुम्हारा स्वराज्य था और वह कौरवोंने छीना यह भी सत्य है, परंतु वे तुम्हारे भाईही हैं, इस लिये राज्यादि नश्वर भोग तुम्हारे पास रहे या उनके पास रहे, उसमें क्या है ? यदि उन्होंने तुम्हें स्वराज्य न दिया, तो तुम भिक्षावृत्तीसे उत्तम धर्मका पालन कर सकते हैं। ऐसा न करते हुए तुम अपने कुल का संहार करोगे, तो बडा अधर्म होगा। मनुष्यजीवन अल्प है, इसलिये स्वजातियोंका वध करके राज्य भी कमाया, तो कितने दिन तुम लोग उसका उपभोग करोगे। तुम्हारे जैसे धर्मात्माओंको क्रूर युद्ध करके और वंशक्षय करके राज्य कमाना किसी प्रकार भी यशकारी नहीं है। विषयवासनाही मनुष्यको ऐसा क्रूर कर्म करनेमें प्रवृत्त करती है, इसलिये ऐसी दुष्ट वासना का तू संयम कर। तुम्हारे जैसे ज्ञानी पुरुषको ऐसी तृष्णा धारण करना उचित नहीं ! पृथ्वी का राज्य मिलनेपर भी सुख कहां होता है ? केवल धर्मसे ही सुख होता है। हे धर्मराज! तू ज्ञानी है, ब्रह्मचर्यपालन तूने किया है, अतः ऐसी विषयवासनामें फंसना तुम्हें उचित नहीं है। तुम्हारे जैसे ज्ञाता मनुष्यको इह लोक की अपेक्षा परलोक का विचार करना योग्य है। परलोकके लिये इस लोकके सुखका समर्पण करना तुम्हें उचित है। तू चाहे योग साधन कर, ध्यानधारणामें रत हो। इससे परलोककी प्राप्ति होगी। ऐसे क्रूर युद्धसे क्या लाभ होगा ? युद्धसे स्वराज्य प्राप्त भी हुआ, तोभी वह चिरकाल तो नहीं टिकेगा। अतः धर्मसंचय करना ही तुम्हें योग्य है। हे पाण्डवो ! यदि स्वार्थ भावसे तुम लोगोंने स्वकुलका नाश किया; तो तुम सबको चिरकाल नरक भोगना पडेगा। हे धर्मराज। तुमने इस समय तक क्रोधका आश्रय नहीं किया है, परंतु आश्चर्य है, इतने समयके पश्चात् तुम्हें विपरीत बुद्धि हो रही है ! हाय ! युद्ध करके तुम लोग पूज्यपाद भीष्म पितामह का और द्रोणाचार्यका भी वध करोगे ? तुम्हारे सब बंधु बांधवोंका वध होनेके बाद तुम्हें इस राज्यसे कौनसा सुख होगा ? इसलिये हे धर्मज्ञ युधिष्ठिर, इस क्रूर कर्मसे निवृत्त हो, शान्तिका अवलंब करो और कौरवोंसे युद्ध करनेका विचार छोड दो।"

सावधानीकी सूचना।

इस प्रकार संजयने पांडवोंको युद्धके पूर्व धर्मका और संन्यास का उपदेश किया था। यह सब धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे ही किया गया था। अर्जुन का विषाद इसीका प्रतिबिंब है। अर्जुन के मनमें यह उपदेश जम गया और वह समझने लगा कि, सचमुच स्वराज्यके लिये भी धर्मयुद्ध करना पाप है और भिक्षावृत्तिसे रहना पुण्य है। अर्जुनके मनपर ऐसा भाव स्थिर करानेके लियेही यह व्यूह धृतराष्ट्रने रचा हुआ था। यदि अर्जुनके मनपर यह उपदेश पूर्णरीतिसे जम जाता, तो कौरवोंका साम्राज्य स्थिर हो जाता और पाण्डव हमेशा के लिये राज्यभ्रष्ट रहते। देखिये जेता लोग - स्वयं सैतान होनेपर भी - जित लोगोंको

धर्मका उपदेश दे देकर और उच्च तत्त्व बतला बतलाकर स्वराज्यके प्रयत्न करनेसे किस प्रकार रोक रखते हैं !! अतः स्वराज्यप्राप्ति करनेवालोंको उचित है कि, वे जेता राष्ट्रके धर्मोपदेशकोंके उपदेश भी बडी दक्षतासे सुनें और सावधानतासे उसके अनुसार चलें । नहीं तो अर्जुन जैसी अवस्था ऐन युद्धके समय बनेगी, और संपूर्ण प्रयत्न फंस जायगा । पूर्वोक्त उपदेशमें धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे संजय पाण्डवोंको ही शान्तिका उपदेश दे रहा है, जैसा कि पाण्डव ही अशान्तिके कारण हैं!! सब अन्याय धृतराष्ट्रके पक्षका है और वेही इस ऐन युद्धके समय शांतिकी स्थापनाके यत्नमें अग्रेसर दीखते हैं !! वेही कह रहे हैं कि युद्धमें क्रूरता है, वैराग्य श्रेष्ठ है, हिंसा करके राज्य कमानेकी अपेक्षा शान्तिसे भीख मांगना उत्तम है, भोग वासनाका क्षय करना चाहिये !! देखिये, विजेता लोग कैसे निर्लज्ज बनते हैं और अपनी साम्राज्य रक्षाके लिये धर्मवचनोंका भी कपट युक्तिसे कैसा आश्रय करते हैं !!! यह धर्मवचनोंका प्रयोग धृतराष्ट्रने पाण्डवोंपर किया था और वह समझता था कि, इस प्रयोगका परिणाम पाण्डवोंपर अवश्य होगा क्योंकि पांडव 'धर्म' के अनुगामी हैं !

पुण्यस्थानका प्रभाव ।

दूसरी बात यह है कि, ये दोनों पक्षके सैनिक " धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र " में युद्धके लिये इकट्ठे हुए हैं। साधारण चोर और लुटेरे भी धर्मक्षेत्रमें गये, तो कुछ न कुछ धर्ममें प्रवृत्ति करते ही हैं, तीर्थ क्षेत्रोंमें अन्यस्थानोंकी अपेक्षा धर्मकी प्रवृत्ति अधिक रहतीही है । इसलिये धृतराष्ट्र समझता है कि, अपनी प्रेरणासे संजय द्वारा किया गया उपदेश धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें जानेके पश्चात् पाण्डवोंके मनपर अधिक परिणाम करेगा और प्रायः वे कुलक्षय करनेवाले युद्धसे विमुख हो जांयगे । मनमें यह भाव धारण करके वह संजयसे पूछता है कि, " हे संजय! धर्मक्षेत्रमें मेरे और पाण्डुके पुत्रोंकी सेनाने युद्धकी इच्छासे इकट्ठा होकर क्या किया ? " पूछनेका तात्पर्य यह है कि, पाण्डव तुम्हारे उपदेशके अनुसार युद्धक्षेत्र छोडकर वापस गये, या नहीं ? तुमने जो उपदेश किया, उसका परिणाम उनपर कैसा हुआ ? धृतराष्ट्रकी चिन्ताका यह स्वरूप है । इस पूर्व वर्णनका अनुसंधान करके पाठक यदि इस प्रथम श्लोकका विचार करेंगे, तो उनको इस प्रश्न करनेके समय धृतराष्ट्रके मन की चिन्तामय स्थितिकी ठीक कल्पना हो जायगी ।

पराजयकी संभावना ।

धृतराष्ट्र यह भी जानता था कि, अपने पक्षके वीरोंमें से दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण आदि थोडे वीरोंके अतिरिक्त भीष्मद्रोणादिक सब बडे वीर दिलसे लडनेवाले नहीं हैं । वे दिलसे पाण्डवोंको स्वराज्य देनेके पक्षमें हैं । इस दृष्टीसे अपने पक्षमें सैन्यबल बडा होनेपर भी दिल कच्चा होनेके कारण अपना पक्ष निर्बल है। परंतु पाण्डवोंके पक्षमें इस दृष्टीसे देखा जाय, तो हर एक वीर कौरवोंका बदला लेनेकी अपनी ओर से पूरी पूरी तैयारी किये हुए हैं । अर्जुन, भीम आदि वीर तो अपनी शक्तिसे कई गुना अधिक कार्य करके दिखा देंगे । इसकारण पाण्डवोंका सेना बल छोटा होनेपर भी हरएक वीर दिलसे कार्य करनेवाला होनेके कारण इनका पक्ष सबल है । इस दृष्टिसे संभवतः अपना पराजय भी हो जायगा । इस लिये हृदयमें दुःख करता हुआ धृतराष्ट्र संजयसे पूछता है कि, " दोनों सेनाएं इकट्ठी हो जानेपर आगे क्या हुआ ?" वह मनमें समझता ही था कि, यदि युद्ध छिड गया, तो अपने पक्षका पराभव निश्चितसाही है ।

धर्मयुद्ध ।

हमेशा ' धृत-राष्ट्र ' और ' हृत-राष्ट्र ' इन दो पक्षोंमें युद्ध हुआ करता है । धृतराष्ट्र दूसरेका राज्य अन्याय से छीनता है और उसको अपने आधीन रखनेके लिये युद्धमें प्रवृत्त होता है, इसलिये उसकी ओर से जो युद्ध होता है,

वह 'अधर्म युद्ध' कहलाता है। परंतु जो 'हृत-राष्ट्र' पक्षके लोग होते हैं, वे अपना गया हुआ स्वराज्य पुनः प्राप्त करनेके लिये धर्मपूर्वक यत्न करते हैं, इस लिये उनका सत्पक्ष होनेके कारण उनकी ओरसे जो होता है, वह 'धर्म युद्ध' होता है। एकही युद्धमें दो पक्ष एक ही स्थानपर संमिलित होते हैं, तथापि उसमें एक धर्म युद्ध करता है और दूसरा अधर्मयुद्ध करता है। यह धर्मयुद्ध और अधर्मयुद्ध का विचार पाठक उत्तम प्रकार स्मरण रखें।

धर्मका पक्ष।

पाण्डवोंका पक्ष "धर्म" का पक्ष था। इस पक्षका मुखिया 'धर्म' नाम का राजा था, यह बात गौण है, परंतु यहां इस पक्षके लोग धर्मके अनुसार आचरण करनेवाले थे, यही इस पक्ष द्वारा बताया है। धर्मराज भी यहां धर्मका प्रतिनिधि होकर वैसी भूमिका लिये हुए हैं। धर्मराज 'युधिष्ठिर' है अर्थात् यह जिस भूमिका को लेकर युद्धमें उपस्थित होता है, उससे पीछे नहीं हटता। युद्धमें अपनी भूमिका पर स्थिर रहना यह भी एक बडा कार्य हुआ करता है। 'युधि-स्थिर' शब्द द्वारा युद्धमें अपने स्थानपर स्थिर रहनेका उपदेश किया है। धर्मयुद्धमें उपस्थित होनेवाले लोग युद्धमें स्थिर रहनेको सीखेंगे, तो अच्छा होगा। 'विजय' प्राप्तिके लिये 'धर्म' का अनुयायी होना और (युधि-स्थिर) युद्धमें अपने स्थानपर स्थिर रहना अर्थात् अपने स्थानसे पीछे नहीं हटना, यह अत्यंत आवश्यक बात है। वीर पुरुष अपने स्थानसे आगे बढें, परंतु कभी डरकर पीछे न हटें।

द्वेषभावरहित मन।

यह धर्मराज "अजात-शत्रु" भी है। जिसका कोई शत्रु नहीं है, कमसे कम जो किसीका द्वेष नहीं करता। जो किसीकी हिंसा या हानि करना नहीं चाहता, शत्रुका भी द्वेष नहीं करता, शत्रुका भी सुधार होनेके लिये यत्न करता है, शत्रुके भी गुण देखता है। यह धर्मकी भूमिका है। जिसके मनसे, वाणीसे और कर्मसे द्वेष भाव दूर हुआ है, जो शत्रुका भी द्वेष नहीं करता प्रत्युत जो शत्रुके भी गुण देखता है वह 'अजात-शत्रु' पाण्डवोंका धुरीण है। सब पाण्डव इस 'अजात शत्रु धर्म' की आज्ञा शिरोधार्य मान कर उस आज्ञाके अनुसार चलनेमें अपनी कृतकृत्यता मानते हैं। अर्जुन जैसा सव्यसाची वीर, भीम जैसा बलवान योद्धा, नकुल सहदेव जैसे अद्वितीय शूर पुरुष अपने अपने मतभेद रखते हुए भी अनत्याचारी, शान्ततावादी, अजात-शत्रु धर्म की आज्ञा – अपने मतके विरुद्ध होनेपर भी प्रतिकूलताका भाव न बताते हुए— मानते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं; इसीमें उनका बल है। वस्तुतः देखा जाय तो धर्मराज ही अनत्याचारी समतावादी और अजातशत्रु था। भीम तो स्वभावतः मुसली बलराम के समान अत्याचारी ही था, अपने स्वभावके कारण धर्मराजपर क्रोध भी करता था, धर्मराजके हाथ जलानेके लिये भी तैयार होता था ; अर्जुन यद्यपि भीमसेन के इतना क्रोधी नहीं था, तथापि धर्मराज जैसा शमवादी भी नहीं था! नकुल सहदेव तो अर्जुन के पीछे पीछे चलनेवाले थे। और इनकी धर्मपत्नी वीरपत्नी द्रौपदी देवी तो केवल अकेले भीमको ही पसंद करती थी। अर्थात् धर्मराजके साथ समविचार रखनेवाला इनमें एक भी नहीं था। वस्तुतः देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मराजकी अनत्याचारी अहिंसक वृत्तीसे सब इतर पाण्डव त्रस्त हुए थे। इतना मतभेद होनेपर भी धर्मकी आज्ञा सब मानते थे और अन्त तक किसीने भी धर्मकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं किया। मानो धर्मराजका धर्मही 'अनत्याचार' था और अन्योंने नीतिके लिये वैसा बनाया था। यदि स्वराज्य आन्दोलन करनेवालोंका अनत्याचारी धर्मराज नेता माना जाय, तो उसके नीचे नीतिसे अनत्याचारी बने हुए ये अन्य लोक काम करते थे, ऐसा मानना पडेगा। अर्जुन, भीमसेन,

नकुल, सहदेव और वीरा द्रौपदी ये क्रमशः वीर बली, चतुर, और ज्ञानी पुरुषों तथा वीर स्त्रियोंके संघोंके प्रतिनिधी माने जा सकते हैं। और ऐसा माननेपर भिन्न भिन्न संघोंके मत विभिन्न होनेपर भी एक अनत्याचारी नेताकी आज्ञाके अन्दर ये सब एकविचारसे कार्य कर रहे थे, और ऐसे कार्य करते हुए उन्होंने अपनी उत्तम संघटना की, यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि ये विभिन्न मतके वीर प्रथम समयमें धर्मराजके अनत्याचारी मार्ग में न रहते और स्वयं अत्याचार करनेमें प्रवृत्त हो जाते, तो कौरववीर इनको विना आयास पीस डालते और इनके ऊपर उठनेकी कोई आशा न रहती। परंतु धर्मराजकी सहज धर्म प्रवृत्ति होनेसे और धृतराष्ट्र पक्षवालोंके किये अनेक पाशवी अत्याचार चुपचाप सूनते रहनेसे, संपूर्ण जनताकी सहानुभूति तथा कई कौरववीरों की भी अनुकूल बुद्धी पांडवों के लिये सहायक होगई, और इस कारण अन्तमें स्वराज्य प्राप्तिके अन्तिम युद्धमें इनका विजय होने योग्य शक्ति इनको प्राप्त होगई। अर्थात् अनत्याचारी वृत्तिसे रहकर आत्मोद्धारके मार्गसे जाते हुए होनेवाले अनेक कष्टोंको शान्तिसे सहन करनेसे जनताकी सहानुभूतिका अद्वितीय बल प्राप्त होता है, यह बल प्रथमसे अत्याचार करने वालोंको कभी प्राप्त नहीं हो सकता, यह बात निःसन्देह सत्य है।

ईश्वरकी सहायता।

यहां दूसरी विलक्षण बात यह है कि, काठियावाड-द्वारका-निवासी भगवान मन 'मोहन' श्रीकृष्ण पांडवोंका संचालक और परम सहायक था। यह सब प्रकारसे ज्ञानी शूरवीर और युद्ध विद्याकुशल होते हुए भी "मैं हाथमें शस्त्र नहीं धरूंगा, मैं युद्ध नहीं करूंगा" ऐसी युद्ध न करनेकी अनत्याचारकी प्रतिज्ञा करके पाण्डवोंकी सहायता करनेके लिये आया था। धर्मराज वैसा स्वभावतः शमवादी और अजातशत्रु था, और भगवान् मन 'मोहन' श्रीकृष्ण इस प्रकार युद्धसे निवृत्त रहनेकी प्रतिज्ञा किये हुए थे। इस प्रकार पांडवोंके दोनों मुखिया शमवादी थे।

धर्मका विजय।

शमवादी होनेपर भी उनको युद्ध करना पडा, और इन शमवादियोंकी अनुकूलतामें रहनेसे ही पाण्डवोंको अन्तमें विजय प्राप्त हुआ। 'विजय' 'धर्म' का भाई और परमेश्वरका सखा तथा भक्त ही हुआ करता है। विजय कभी अधर्मका भाई नहीं होता और राक्षसोंका भी मित्र नहीं हो सकता।

सनातन उपदेश।

इतने शब्दोंका विचार करनेसे पाठकोंको पता लगाही होगा कि 'धर्म, अजातशत्रु, अर्जुन, विजय' आदि नाम किसी व्यक्तिके वेशक हों, परंतु यहां ये नाम एक सनातन बात कहनेके लिये आये हैं। 'धर्म' के पक्षमें ही 'विजय' होता है अधर्मके पक्षमें नहीं। 'धर्म' के पक्षमें ही बलवान भीम होते हैं अन्य पक्षमें नहीं, क्योंकि धर्मसे ही बल बढता है और अधर्मसे बल घटता है। 'धर्म' के पक्षकी ही परमेश्वर सहायता करता है और धर्मका पक्ष पाशवी बलमें कम होनेपर भी उसको परमेश्वरका बल प्राप्त होनेके कारण अन्तमें उसीको यश प्राप्त होता है।

'धर्म' के पक्षमें 'न-कुल' (पाणिनी अष्टा० ६।३।७५) अर्थात् कोई लोग कुलवान न भी हुए तो भी वे श्रेष्ठपद प्राप्त करते हैं और वही धर्मका पक्ष 'सह-देव' अर्थात् देवोंकी शक्तिसे युक्त होता है। धर्मके पक्षका यह माहात्म्य है। परमेश्वर सहायक बननेपर उसकी शक्ति अधिक होगी ही, इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

ये सब शब्द किसी एक कुटुंबके मनुष्योंके वाचक भलेही हों, परंतु यहां एक सनातन तत्व बतानेके लिये ही विशेष हेतुसे प्रयुक्त किये गये हैं। इस धर्म पक्षवालोंके ये नाम देखिये और साथ साथ दुर्योधन, दुःशासन आदि अन्धे धृत-

राष्ट्रके अनुयायीयोंके नाम देखिये। दोनोंके नामों की तुलना करनेसे एक पक्ष साम्राज्यशाहीके पाशवी बलका प्रदर्शक और दूसरा पक्ष धर्मानुयायी स्वराज्यवादियोंके आध्यात्मिक बलका प्रदर्शक स्पष्ट प्रतीत होगा। यह भारतीय युद्ध इन दो पक्षोंमें हुआ था। सब जगतमें ऐसाही होता आया है। साम्राज्यवादियोंके व्यवहारका कपटसे प्रारंभ होता है, उनकी मध्य स्थिति चिन्तासे परिपूर्ण है और अन्तमें उनका पूर्ण नाश होता है। और स्वराज्यवादियोंके धर्म पक्षका सत्य, धर्म, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, समता, पवित्रता, ईशभक्ति, त्यागवृत्ति इत्यादि सद्गुणोंसे प्रारंभ होता है, इनको बीचमें बहुत कष्ट भोगने पडते हैं, परंतु अन्तमें इनका धवल यश ही सर्वोपरि जगतभरमें फैल जाता है, जो इस समयमें भी सबको मार्गदर्शक होनेका सामर्थ्य रखता है।

धृतराष्ट्र नित्य देखता था कि, हम साम्राज्यवादियोंके अनेकानेक कपट प्रयोग होनेपर भी स्वराज्यका यत्न करनेवाले पाण्डव बचही जाते हैं और प्रतिवर्ष पांडवोंकी शक्ति और संघटना बढती ही जाती है। इसलिये इस युद्धके प्रारंभमें वह अधीर होकर पूछता है कि, 'युद्धका समाचार क्या है ?' इस प्रश्नका सत्य उत्तर तो संजय श्रीमद्भगवद्गीताके अन्तमें देगा कि, 'जहां धर्मका पक्षपाती धनुर्धर अर्जुन है और उसका सहायक भगवान् है, वहां ही विजयश्री निश्चयसे रहेगी। (भ० गी० १८। ७८)' यह तो अन्तिम उत्तर है। परंतु यह उत्तर श्रवण करनेके लिये संपूर्ण भगवद्गीताका अध्ययन होना चाहिये। इसलिये धृतराष्ट्रका प्रश्न सुनतेही संजयने जो युद्धका वृत्तांत सुनाया, वही पहिले यहां देखेंगे।

आध्यात्मिक भाव।

इतिहासिक दृष्टिसे भगवद्गीताकी भूमिका इससे पूर्व बता दी है और उस भूमिकामें बताया है कि, धर्म,अर्जुन आदि व्यक्तियाँ इतिहासिक होने पर भी जिस ढंगसे यह कथा वर्णन की है, उस ढंगसे उनकी व्यक्ति सत्ताका कोई विशेष महत्त्व नहीं है, परंतु उनके नामोंमें अलंकार दृष्टिसे जो मुख्य उपदेशतत्त्व बताया है, वह बतानाही कथाका मुख्य उद्देश्य है। यह युद्ध कुटिल योधियोंसे धर्मनिष्ठावालोंका हुआ और उसमें धर्मानुयायियोंका विजय हुआ। यह तो एक रीतिसे विचार हुआ। इसी युद्धपर दूसरा एक विचार है और वह अध्यात्मविचार है।

अध्यात्मविचार वह होता है कि जो (अधि+आत्मा) आत्माके आश्रयसे रहनेवाले पदार्थोंके संबंधमें होता है। आत्माके आश्रयसे बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार, मन, प्राण, पंच ज्ञानेंद्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और शरीर इतने पदार्थ रहते हैं। इन प्रत्येकमें सत् और असत्प्रवृत्ति रहती है और इन भली और बुरी वृत्तियोंमें सदा झगडा चलता ही रहता है। हरएक समयमें यह झगडा मानवके अन्तःकरणमें चालू रहता है। इसकी साक्षी प्रत्येक मनुष्य दे सकता है। किसी समय मनुष्यके अन्तःकरणमें ईश्वर भक्तिकी लहर आती है और किसी समय भोग प्रवृत्तीकी लहर प्रबल होती है। दोनों वृत्तियां परस्पर झगडती हैं और दोनों वृत्तियां इस शरीररूपी क्षेत्रपर अपना प्रभुत्व जमाना चाहती हैं। जो वृत्ति दब जाती है वह प्रबल नहीं होती, परंतु जो वृत्ति दबाती है वह शरीरपर अधिकार करती है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
भ० गी० १३। १

' इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं। ' यह कर्म करनेका क्षेत्र है इसलिये इसको ' कर्मक्षेत्र ' अथवा 'कुरुक्षेत्र' कहते हैं। यह कुरुक्षेत्र प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें है और उस कुरुक्षेत्रमें भली और बुरी चित्तवृत्तियोंका युद्ध चलता है। इस युद्धका वर्णन भारतीय युद्ध द्वारा बताया है, ऐसा आध्यात्मिक लोगोंका कहना है।

अठारहकी संख्या।

महाभारतकी रचना कुछ विशेष उद्देश्यसे की

गई है, यह शंका तो ऊपर ऊपरकी दृष्टीसे महाभारतका निरीक्षण करनेवालेके ध्यानमें भी आसकती है, देखिये—

१ महाभारतके पर्व १८ हैं,
२ भगवद्गीताके अध्याय १८ हैं,
३ भारतीय युद्ध १८ दिन चल रहा था,
४ उसमें सैन्य १८ अक्षौहिणी था,

यह १८ वाली संख्या कुछ विशेष हेतुसे रखी प्रतीत होती है, यज्ञमें १८ ऋत्विज होते हैं। संभव है इसका इस संख्यासे कुछ विशेष संबंध होगा।

"पुरुषो वाव यज्ञः" (छां० उ० ३ । १६ । १)

पुरुष अर्थात् मनुष्य एक विशेष यज्ञ है। यदि मनुष्य यज्ञ है तो उसमें १८ ऋत्विज होंगे ही। २ आंख, २ कान, २ नाक, १ त्वगिंद्रिय, २ हाथ, २ पांव, १ मूत्रेंद्रिय, १ गुदा, १ मुख, १ वागिंद्रिय, १ मन, १ चित्त, १ अहंकार ये १८ यहांके ऋत्विज हैं। आत्मा यजमान है और बुद्धि यजमानपत्नी है, यह शरीर यज्ञशाला है। यह यज्ञ १०८ वर्ष तक चलना है। इसका पहिला भाग प्रातःकाल २४ वर्षका है, द्वितीय भाग ३६ वर्षका मध्यान्ह समय है और तीसरा भाग ४८ वर्षका सायंसमय है। तीनोंका समय मिलकर १०८ वर्षोंका अवधि होता है। मनुष्यका जीवन रूपी एक बडाभारी यज्ञ है। इस यज्ञमें ये १८ ऋत्विज कार्य कर रहे हैं। इस यज्ञका नाश करनेके लिये बैठे हुए राक्षस रोग, कुवासनाएं, आलस्य आदि हैं। इनका युद्ध इस युद्ध भूमिमें होता है। अर्थात् इस यज्ञमें भी १८ संख्या है।

भगवद्गीता (अ० १ श्लो० ४—६) में जहां पाण्डवोंके विशेष योद्धा गिने हैं, वे भी अठारह ही गिने हैं। देखिये १ भीम, २ अर्जुन, ३ युयुधान (सात्यकि), ४ विराट, ५ द्रुपद, ६ धृष्टकेतु, ७ चेकितान, ८ काशिराज, ९ पुरुजित् कुन्तिभोज, १० शैब्य, ११ युधामन्यु, १२ उत्तमौजा, १३ सौभद्र अभिमन्यु, १४-१८ द्रौपदीके पांच पुत्र ये अठारहही हैं। इस यज्ञके यजमान धर्मराज और यजमानपत्नी द्रौपदी है। इस यज्ञके विघ्नकर्ता दुर्योधनादिक कौरव हैं। यह सब वर्णन यदृच्छासे नहीं हुआ है। विशेष हेतुसे यह लिखा है, ऐसा इसके देखनेसे ही पता लगता है।

वंशकी उत्पत्ति ।

कौरवपाण्डवोंके वंशका वर्णन देखनेसे भी उसमें विशेष हेतु होगा ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। व्यासदेव (ब्रह्मन्) त्रिविध क्षेत्रमें (सत्व रज तमात्मक प्रकृतिमें) अपने बीज से त्रिविध संतति उत्पन्न करता है। तमोगुणात्मक अंधा धृतराष्ट्र, रजोगुणी पाण्डु और सत्वगुणी विदुर। तमोगुणी अंधा होता ही है इसमें बडा बल है, रजोगुणी भोगी होता है और भोगसे रोगी होता है, सत्वगुणी ज्ञानी होता है। एक ही आत्मशक्ति त्रिविध प्रकृतिमें जाती है और उससे त्रिविध सृष्टि पैदा होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता (अ० १४ श्लो० ३— १८) में यह विषय कहा है उसका संक्षेपसे भाव यह है-" विशाल प्रकृति में मैं गर्भ रखता हूं, उससे सब भूत उत्पन्न होते हैं। मैं (आत्मा) ही सब भूतोंका बीज देनेवाला पिता हूं। इसमें सत्वगुण सुख देनेवाला, रजोगुण वासनाओंको बढानेवाला, और तमोगुण मोह तथा प्रमाद उत्पन्न करनेवाला है। सत्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ और भोग तथा तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अप्रकाश (अंधकार) की उत्पत्ति होती है। " यह गीताका वचन महाभारतमें देखिये- सत्वगुणी विदुर ज्ञानी शुद्ध और पवित्र है। रजोगुणी पाण्डु राज्यका अधिकारी पुरुषार्थी परंतु भोगी होनेके कारण रोगी (भोगे रोगभयं) होकर अकालमें ही मरता है। तमोगुणी धृतराष्ट्र सब प्रकारसे अन्धा, प्रमादी, मोहयुक्त, मूढ, जो करता है उसमें फंसता है।

एक बीजसे क्षेत्रप्रकृतिभेदके कारण ये तीन प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं। सत्वगुणी विदुर त्याग

वृत्तिवाला होनेसे किसी राज्याधिकारमें अपना अधिकार नहीं रखता। त्यागवृत्तीका यही स्वरूप है। इसका किसीसे झगडा भी नहीं है। झगडा तो रज और तममें ही होना है। धृतराष्ट्र अन्धा होनेसे बडा होनेपर भी अनधिकारी हुआ, और पांडु छोटा होनेपर भी उसको राज्याधिकार मिला, जैसा कि रजोगुणी मनुष्यको मिलना योग्य है। परंतु भोगी रोगसे मरता है और उस भोगी के क्षेत्रमें भोग प्रवृत्तीसे ही-परंतु धर्मसे मर्यादित होकर-अन्य बीजोंसे पांच पुत्र उत्पन्न होते हैं धर्मवृत्ति बलवृत्ति वीरवृत्तिवाले बीजोंसे इनही तीन प्रवृत्तियोंके क्रमशः धर्म, भीम और अर्जुन ये तीन संतान एक क्षेत्रमें होते हैं। दूसरे क्षेत्रमें चिकित्सा (ज्ञान) वृत्ती और देववृत्तीवाले बीजसे क्रमशः नकुल और सहदेव ये दो संतान होते है। अर्थात् रजोगुणसे धर्म, बल, वीर, चिकित्सा (ज्ञान), और देवभाव ये पांच प्रवृत्तियां प्रकाशित होगई और इस कारण परमेश्वर इनका सहायकारी हुआ। रजोगुणसे यदि धर्मकी ओर प्रवृत्ति होगई तो उसका अन्तमें भला होगा ही। शुद्ध सत्वगुणी, विदुर जैसा, अपने अंदर ही संतुष्ट (आत्मन्येवात्मना तुष्टः। भ० गी० २।५५) रहेगा, इस कारण उससे जगत् में धर्म कर्मकी प्रवृत्ति नहीं होसकती। इस कार्यके लिये धर्ममें प्रवृत्त रजोगुण चाहिये; जो पूर्वोक्त रूपक में पाण्डु (शुद्ध, कलंकरहित) द्वारा बताया है। इससे पांच श्रेष्ठ चित्तवृत्तियां धर्म, बल (निर्भयता), वीरभाव, ज्ञान और देवभक्ति येह उत्पन्न होती हैं। वास्तव में मनुष्य का सब कुछ जीवन इन्हींके आधीन रहना चाहिये किंवा सब जगत्पर इन वृत्तियोंका ही राज्य होना चाहिये। परंतु ऐसा होना कठिन है ?

इन वृत्तियोंमें भी धर्मवृत्ति के आधीन ही बल और वीर ये दोनों भाव होने चाहिये, तथा ज्ञान और भक्ति ये भी भाव धर्मके आधीन ही चाहिये। यदि ऐसा न होगा, और बल (भीम) धर्मकी आज्ञा न मानेगा, वीर (अर्जुन) मन माना बर्ताव करेगा, ज्ञान (न-कुल) धर्मका रुख छोड देगा और भक्तिभाव (सह-देव) धर्मानुकूल ईश्वर भजनमें लगनेकी अपेक्षा भूत-प्रेतपिशाचराक्षसोंकी प्रसन्नता संपादन करनेमें लगेगा, तो ये चारों-बल, वीर, ज्ञान, और भक्ति-वृत्तियां मनुष्यको निःसंदेह गिरा देगीं। इसीलिये इनको यहां 'धर्म' वृत्तिकी आज्ञामें रखा है। जब ये धर्मवृत्तिके अनुकूल रहती हैं, तभी इनको ईश्वरकी सहायता मिलती है, नहीं तो नहीं। निःसन्देह मनुष्यके जीवनपर इनका राज्यशासन होना चाहिये और सब जगत्पर इन्हींका अधिराज्य होना चाहिये। परंतु ऐसा कहां होता है ?

जब ये वृत्तियां अन्तःकरणमें अंकुरित होने लगती हैं तब से ही दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, लोभ आदि घोर राक्षसी वृत्तियां उनपर हमला करती हैं और उन सद्वृत्तियोंको दबानेका यत्न करती हैं। तमोगुणी धृतराष्ट्र की संततिसे इन ही आसुरवृत्तियोंको बताया है। धर्मप्रवृत्तियोंको ये आसुरी प्रवृत्तियां छुटपनसे ही दबाती हैं, यह बतानेके लिये पाण्डवोंको बालपनसे कष्ट प्राप्त होनेका वर्णन है। अन्ततः कपटसे आसुरी वृत्तियां धर्मवृत्तियोंके राज्यमें घुसती हैं वहां अपना अधिकार जमा देती हैं और धर्मवृत्तिको अन्तःकरणके राज्यमें आने नहीं देती। धर्मवृत्ति और उसके अनुयायी सद्भावोंको परमेश्वरके आश्रयसे उक्त कारणहि युद्ध करना पडता है और जिन्होंने उनको बढाया उन्हीं को मारना पडता है। ज्ञान देनेवाले यहां ज्ञानेन्द्रियां, मन, चित्त, अहंकार, आदि होते हैं, इनसे ज्ञान प्राप्त प्राप्त किया, यह सत्य है; तथापि जब येही असद्वृत्तिको सहायकारी होने लगते हैं, तब इनका ही दमन और संयम करना पडता है। यहां अहंकार भीष्मपितामह है जो अन्योंके समान एक दोदिनों के प्रयत्नसे नाशको प्राप्त नहीं होता। १८ दिनोंके युद्धमें इसका दमन करनेके लिये १० दिन लगे हैं, तबभी यह मरा नहीं; यह अन्तमें अपनी इच्छासे
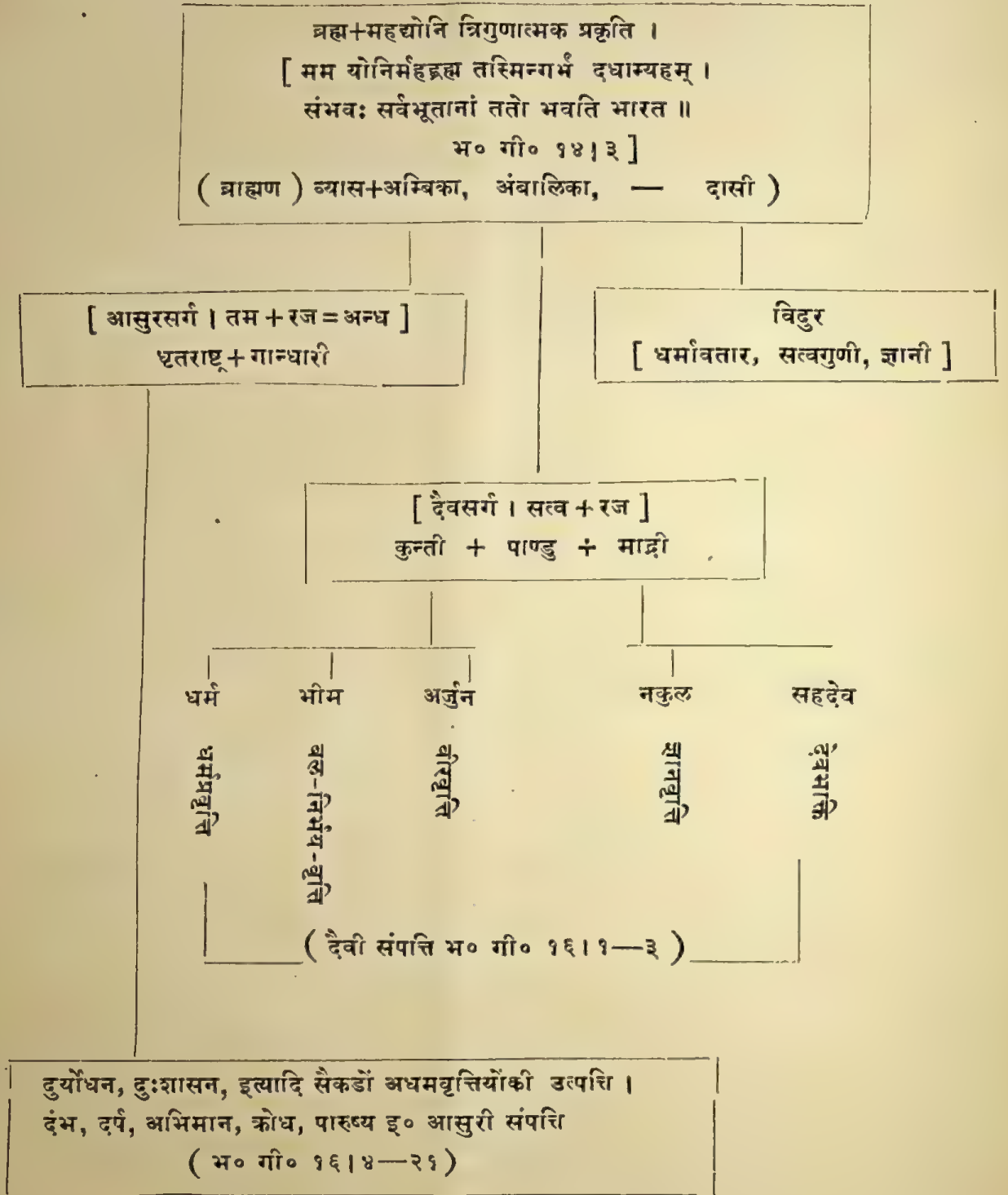
॥ दैवासुरसंपद्विभागयोगः ॥

(भ० गी० अ० १६)

संजय उवाच — दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजयः उवाच- तदा तु पाण्डव-अनीकं व्यूढं दृष्ट्वा, राजा दुर्योधनः आचार्यं उप संगम्य, (इदं) वचनं अब्रवीत्।

संजय बोले - उस समय पाण्डवोंकी सेनाको व्यूह रचकर सिद्ध हुई देख, राजा दुर्योधन (द्रोण-) आचार्यके पास जाकर, कहने लगे।

भावार्थ- शत्रुसेनाका हमला अपनी सेनापर होनेके पूर्व ही अपने और शत्रुके सैन्यके बलाबल का विचार करना योग्य है।

ही शान्त हुआ। क्यों कि यह समाधि सिद्धहोने तक रहता है, पश्चात् यह स्वयं शान्त होता है। मन द्रोणाचार्य है, यह सबको सिखाता है, परंतु इसको भी शान्त करना पडता है। इसी प्रकार अन्यान्य कौरव वीरोंकी अवस्था है। कौरव सैंकडों हैं (आशापाशशतैर्बद्धाः। भ०गी०१४ १२) क्यों कि आशा, वासना, काम क्रोधादि के सैंकडों प्रभेद इस हृदयें फैलते हैं। इस प्रकार यह कौरव संसार मनुष्य हृदयमें होता है।

अध्यात्मभूमिमें यही भारतीय युद्ध मानवी हृदयकी भूमिकापर होता है। इस युद्धमें दंभदर्प अभिमान क्रोध आदि विकार बडे प्रयत्नसे शान्त किये जाते हैं और परमेश्वरकी कृपासे धर्म प्रवृत्तियोंका राज्य होता है और इन्हींको भूमि का और स्वर्ग का राज्य मिलता है। हरएक मनुष्यके अन्तःकरणमें यह सत् और असत्प्रवृत्तियोंका युद्ध होता है और इसीका वर्णन रूपकालंकारसे महाभारतमें किया है। अध्यात्मवादियोंका सारांशसे यह मत है।

यह मत स्वीकार करनेपर धर्म और दुर्योधन आदि इतिहासिक व्यक्तियां थीं, इसका खंडन नहीं होता है। इस नामके या अन्य नामके कोई राजे हुए होंगे। परंतु इस ग्रंथके लेखकने उन व्यक्तियोंको सूचक नाम दिये और अपना ग्रंथ रचा है और यह रचना सहेतुक की है; यह बतानेके लिये कौरवादिकोंकी जन्मकी कहानियां इस ग्रंथमें अस्वाभाविक लिखी हैं। इस प्रसंगमें इस विषयमें अब अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

यह भारतीय युद्ध मानवी अन्तःकरणकी भूमि पर हुआ हो अथवा कुरुक्षेत्रमें हुआ हो, मनुष्य जीवनकेसुधारके लिये दोनोंका परिणाम एक जैसा ही है। ऐसे युद्धोंमें 'धर्म' के सत्पक्षका 'विजय' होता है और स्वार्थसे 'अन्धे' बने हुए असत्पक्ष का नाश होता है। यह सिद्धान्त मनुष्यको अपने मनमें स्थिर करना चाहिये।

आशापाशोंसे बंधे हुए मनुष्य अपना नाश देखते हुए भी अपनी जयकी आशा करते ही रहते हैं और इस लिये पूछते हैं कि 'अब यह युद्ध छिडगया है, आगे क्या होगा?' इस प्रश्नका उत्तर संजय किस प्रकार देते हैं देखिये।

(२) इस प्रथम दिनके युद्धमें कौरवोंकी महा सेनाका 'पतत्रि' नामक व्यूह भीष्मपितामहने रचा और उन्होंने अपने सैनिकोंको संबोधन करके उनका उत्साह बढानेके लिये ऐसा भाषण किया कि—"हे क्षत्रियो! यह युद्ध रूपी स्वर्गद्वार तुम्हारे लिये खुला कर दिया है, इसमें प्रविष्ट होकर चाहे तुम इन्द्रलोकमें अथवा ब्रह्मलोकमें जावो। तुम्हारे पूर्वजोंने इसी मार्गका आश्रय किया और उत्तम गति प्राप्त की थी। घरमें विस्तरेपर आनेवाला मृत्यु क्षत्रियके लिये योग्य नहीं है। रणक्षेत्रपर शस्त्रधाराके तीर्थमें जो मृत्यु आता है, वही क्षत्रियको सद्गतिदेनेवाला होता है।" (म० भा० भीष्मपर्व० अ० १७) यह पतत्रि व्यूह ऐसा

(२) पांडवसैन्यवर्णन ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

अन्वय— हे आचार्य ! तव धीमता शिष्येण, द्रुपदपुत्रेण व्यूढां पाण्डुपुत्राणां एतां महतीं चमूं पश्य ॥ ३ ॥ अत्र भीमार्जुन-समाः युधि शूराः महेष्वासाः युयुधानः, विराटः च, महारथः द्रुपदः च ॥४॥

हे द्रोणाचार्य ! आपके बुद्धिमान शिष्य, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा जिसकी व्यूहरचना की गई है, ऐसी पाण्डवोंकी इस बडी सेनाको देखिये ॥३॥ इस सेनामें भीम और अर्जुन जैसे युद्धमें शूर वीर और बडे धनुर्धारी योद्धा युयुधान (सात्यकि), विराट, महारथी द्रुपदराजा ॥ ४ ॥

होता है कि इसका आकार पक्षीके समान होता है और जिधर चाहे उधर उसका मुख होता है, इसलिये सब दिशाओंसे यह शत्रुको हमला चढानेके लिये कठिन होता है। इस ढंगसे कौरव-सेना का व्यूह होनेपर धर्मराज अर्जुन से कहने लगे, कि—"हे अर्जुन ! महर्षि बृहस्पतिका कथन है कि सेना थोडी रही तो संघसे हमला करना चाहिये और बडी सेना रही तो फैलाकर हमला करना चाहिये । हमारा सैन्य शत्रुसेनाकी अपेक्षा बहु कम है अतः सूचीमुखाकार व्यूह रचकर हमें सिद्ध होना चाहिये । " इस आज्ञाको सुनकर धनुर्धारी अर्जुनने अपनी सेनाका 'वज्र' संज्ञक व्यूह द्रुपदराजाके पुत्र द्वारा रचा दिया (म० भा० भीष्म०अ०१९)। यह व्यूह नोकदार होनेके कारण शत्रुसेनापर हमला चढानेके लिये अत्यंत योग्य है। इस प्रकार उत्तम व्यूहकी रचना होनेके कारण पाण्डवोंको सेना थोडी होनेपर भी कौरवोंकी बडी सेनाके लिये भी भारी होगई। अतः धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन किंचित् चिन्तासे व्यग्र होकर द्रोणाचार्य जी से कहने लगे ।

(३-६) इन श्लोकोंमें भीम, अर्जुन, सात्यकि, विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज कुन्तिभोज, शैब्य, युधामन्यु, उत्तमौजा, अभिमन्यु, और द्रौपदीके पांच पुत्र [धर्मराजसे प्रतिविन्ध्य, भीमसे श्रुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक, और सहदेवसे श्रुतकर्मा] ये अठारह महारथी नामनिर्देशसे कहे गये हैं । महारथी वे कहलाते हैं कि जो दस हजार धनुर्धारी वीरोंके साथ अकेले ही युद्ध कर सकते हैं । देखिये—

एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च विज्ञेयश्च महारथः ॥

महारथीका अधिकार इतना बडा है । शास्त्रोंका अध्ययन होना चाहिये, युद्धविद्यामें प्रवीणता संपादन करनी चाहिये और दस हजार धनुर्धारियोंके साथ युद्ध करनेको शक्ति चाहिये, तब 'महारथी' यह पदवी प्राप्त हो सकती है । यह पदवी तो विशेष कर्तृत्व करनेपर राजासे बहुमानपूर्वक मिलती है । यहां यह बताना है कि अभिमन्यु और द्रौपदीके पांच वीर पुत्र आयुकी दृष्टिसे छोटे होनेपर अर्थात् उनकी आयु बीस पचीस वर्षोंसे अधिक न होनेपर भी उनकी गिनती महारथियोंमें होने लगी थी। पाण्डवोंके समयकी कुमारोंकी पढाई कैसी होती थी, इसकी

अथर्ववेद

स्वाध्याय ।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।)

सप्तमं काण्डम् ।

लेखक और प्रकाशक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्यायमण्डल, औंध (जि० सातारा)

प्रथमवार
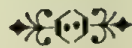
संवत् १९८६; शक १८५२; सन १९३०

एक सौ एक शक्तियाँ।

एकशतं लक्ष्म्यो ३ मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधि जाताः।
तेषां पापिष्ठा निरितः प्रहिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नियच्छ ॥

अथर्व० ७। ११५। २

"एक सौ एक शक्तियां मनुष्यके शरीरके साथ उसके जन्मते ही उत्पन्न होती हैं। उनमें जो पापरूप शक्तियां हैं, उनको हम दूर करते हैं, और हे सर्वज्ञ प्रभो! कल्याण-कारिणी शक्तियोंको हमें प्रदान कर।"

मुद्रक व प्रकाशक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
स्वाध्यायमण्डल, भारतमुद्रणालय, औंध (जि० सातारा.)

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

[अथर्ववेदका सुबोधभाष्य।]

सप्तम काण्ड।

इस सप्तम काण्डके प्रथम सूक्तकी देवता 'आत्मा' है। आत्मा देवता सब देवताओंमें मुख्य देवता होनेसे यह अत्यंत मंगल देवता है। वेदमंत्रोंमें सर्वत्र अनेक रूपसे इसी देवताका वर्णन है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि॥
कठ उ० १।२।१५

तथा—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः॥
भ०गी० १५।१५

अर्थात् "सर्व वेदके मंत्र उसी आत्माका वर्णन करते हैं।" वेदमें अनेक देवताएं भलेही हों, परंतु वेदका मुख्य विषय आत्माका वर्णन करना ही है। उसी मंगलमय आत्माका वर्णन इस प्रथम सूक्तमें होनेसे और इस मंगलका वर्णन इस काण्डके प्रारंभमें होनेसे यह सूक्त इस काण्डके प्रारंभमें मंगलाचरणरूपही है। आत्मासे भिन्न और मंगलमय देवता कौनसी हो सकती है? सबसे अधिक मंगल देवता यही है।

इस काण्डमें एक अथवा दो मंत्रवाले सूक्तोंकी संख्या अधिक है। बहुधा किसी दूसरे काण्डमें इस प्रकार छोटे सूक्त नहीं हैं। यदि मंत्रसंख्याके क्रमसे सातों काण्डोंका क्रम लगाया जावे, तो इस प्रकार क्रम लग सकता है—

क्रम	काण्ड	सूक्तसंख्या	सूक्तप्रकृति			
१	७ वां काण्ड	[११८]	१	मंत्रवाले सूक्त	५६	हैं
			२	,,	५२	,,
२	६ ठां ,,	[१४२]	३	,,	१२२	,,
३	१ ला ,,	[३५]	४	,,	३०	,,
४	२ रा ,,	[३६]	५	,,	२२	,,
५	३ रा ,,	[३१]	६	,,	१३	,,
६	४ था ,,	[४०]	७	,,	२१	,,
७	५ वाँ ,,	[३१]	८	,,	२	,,

इस सप्तम काण्डमें कुल सूक्त ११८ हैं, परंतु दूसरी गिनतीसे १२३ भी हो सकते हैं। बीचमें कई सूक्त ऐसे हैं कि,जिनके प्रत्येकमें दो दो सूक्त माने हैं, इस कारण दूसरी गिनतीमें ५ सूक्त बढ जाते हैं। हमने ये दोनों गिनतियां सूक्त क्रमसंख्यामें बतायी हैं। अब इस काण्डकी मंत्रसंख्या देखिये-

१	मंत्रवाले	सूक्त	५६	हैं और	उनमें मंत्रसंख्या	५६	है।
२	,,	,,	२६	,,	,,	५२	,,
३	,,	,,	१०	,,	,,	३०	,,
४	,,	,,	११	,,	,,	४४	,,
५	,,	,,	३	,,	,,	१५	,,
६	,,	,,	४	,,	,,	२४	,,
७	,,	,,	३	,,	,,	२१	,,
८	,,	,,	३	,,	,,	२४	,,
९	,,	,,	१	,,	,,	९	,,
११	,,	,,	१	,,	,,	११	
		कुल सूक्तसंख्या	११८		कुल मंत्रसंख्या	२८६	

इन मंत्रोंका अनुवाकोंमें विभाग देखिये-

											कुलसंख्या
अनुवाक	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	= १०
सूक्तसंख्या	१३	९	१६	१३	८	१४	८	९	१२	१६	= ११८
मंत्रसंख्या	२८	२२	३१	३०	२५	४२	३१	२४	२१	३२	= २८६

इस सप्तम काण्डकी मंत्रसंख्या केवल २८६ है अर्थात् चतुर्थ (३२४), पञ्चम (३७६), और षष्ठ (४५४) की अपेक्षा बहुत ही कम है और प्रथम (२३०), द्वितीय (२०७), तृतीय (२३०), की अपेक्षा अधिक अर्थात् २८६ है।

अब इस काण्डके सूक्तोंके ऋषि-देवता-छन्द देखिये—

सूक्तोंके ऋषि-देवता-छन्द।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः। षोडशः प्रपाठकः।				
१	२	अथर्वा(ब्रह्मवर्चसकामः)	आत्मा	१ त्रिष्टुप्, २ विराड् जगती
२	१	,,	,,	,,
३	१	,,	,,	,,
४	१	,,	वायुः	,,
५	५	,,	आत्मा	,, ३ पंक्ती; ४ अनुष्टुप्
६ (६,७)	४ (२+२)	,,	अदितिः	,, १ भुरिक्, ३—४ विराड् जगती
७ (८)	१	,,	,,	आर्षी जगती
८ (९)	१	उपरिबभ्रवः	बृहस्पतिः	त्रिष्टुप्
९ (१०)	४	,,	पूषा	१,२त्रिष्टुप्, ३ त्रिपदा आर्षी गायत्री, ४अनुष्टुप्
१० (११)	१	शौनकः	सरस्वती	त्रिष्टुप्
११ (१२)	१	,,	,,	,,
१२ (१३)	४	,,	सभा। १,२ सरस्वती, ३ इन्द्रः, ४ मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्
१३ (१४)	२	अथर्वा(द्विषोवर्चोहर्तुकामः)	सोमः	,,
द्वितीयोऽनुवाकः।				
१४ (१५)	४	,,	सविता	१,२अनुष्टुप्। ३ त्रिष्टुप्; ४ जगती
१५ (१६)	१	भृगुः	,,	त्रिष्टुप्
१६ (१७)	१	,,	,,	,,
१७ (१८)	४	,,	बहुदैवत्यम्	,, १त्रिपदार्षी गायत्री २ अनुष्टुप्, ३-४ त्रिष्टुप्

१८ (१९)	२	अथर्वा	पृथिवी, पर्जन्यः	१ चतुष्पाद्भुरिगुष्णिक्,२ त्रिष्टुप्
१९ (२०)	१	ब्रह्मा	मंत्रोक्ता	जगती
२० (२१)	६	,,	अनुमतिः	१-२ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ४ भुरिक् ५-६ जगती ६अतिशक्वरीगर्भा
२१ (२२)	१	,,	आत्मा	शक्वरीविराड्गर्भा जगती
२२ (२३)	२	,,	लिंगोक्ताः	१ द्विपदैकावसाना विराड् गायत्री, २ त्रिपदानुष्टुप्

तृतीयोऽनुवाकः।

२३ (२४)	१	यमः	दुःस्वप्ननाशनः	अनुष्टुप्
२४ (२५)	१	ब्रह्मा	सविता	त्रिष्टुप्
२५ (२६)	२	मेधातिथिः	विष्णुः,	,,
२६ (२७)	८	,,	,,	१ ,, २ त्रिपदाविराड् गायत्री ३ त्र्यवसाना षट्पदा· विराट् शक्वरी, ४-७ गायत्री, ८ त्रिष्टुप्
२७ (२८)	१	,,	मंत्रोक्ता	त्रिष्टुप्
२८ (२९)	१	,,	वेदः	,,
२९ (३०)	२	,,	मन्त्रोक्ता	,,
३० (३१)	१	भृग्वंगिरा	द्यावापृथिवी, प्रतिपदोक्ताः	बृहती
३१ (३२)	१	,,	इन्द्रः	भुरिक्त्रिष्टुप्
३२ (३३)	१	ब्रह्मा	आयुः	अनुष्टुप्
३३ (३४)	१	,,	मन्त्रोक्ताः	पथ्यापंक्तिः
३४ (३५)	१	अथर्वा,	जातवेदाः	जगती
३५ (३६)	३	,,	,,	१ अनुष्टुप् २-३ त्रिष्टुभ्
३६ (३७)	१	,	अक्षि,	अनुष्टुप्
३७ (३८)	१	,,	लिंगोक्ता	,,
३८ (३९)	५	,,	वनस्पतिः	,, ३ चतुष्पादुष्णिक्

चतुर्थोऽनुवाकः ।

३९ (४०)	१	प्रस्कण्वः	मंत्रोक्ता	त्रिष्टुप्
४० (४१)	२	,,	सरस्वती	,, १ भुरिक्
४१ (४२)	२	,,	श्येनः	,, १ जगती
४२ (४३)	२	,,	सोमारुद्रौ	,,
४३ (४४)	१	,,	वाक्	,,
४४ (४५)	१	,,	इन्द्रः,विष्णुः	भुरिक् त्रिष्टुप्
४५ (४६,४७)	२	,, (४७ अथर्वा)	भेषजम्, ईर्ष्यापनयनम्	अनुष्टुप्
४६ (४८)	३	अथर्वा	मंत्रोक्ता	त्रिष्टुप्, १-२ अनुष्टुप्
४७ (४९)	२	,,	,,	,, १ जगती
४८ (५०)	२	,,	,,	,,
४९ (५१)	२	,,	देवपत्न्यौ	१ आर्षी जगती, २ चतुष्पदा पंक्तिः
५० (५२)	९	अंगिराः (कितवबाधन कामः)	इन्द्रः	अनुष्टुप्; ३,७ त्रिष्टुप्; ४ जगती, ६ भुरिक् त्रिष्टुप्
५१ (५३)	१	,,	बृहस्पतिः	त्रिष्टुप्

पञ्चमोऽनुवाकः ।

५२ (५४)	२	अथर्वा	सांमनस्यम्, अश्विनौ	१ककुम्मती अनुष्टुप् २ जगती
५३ (५५)	७	ब्रह्मा	आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ,	१त्रिष्टुप्, ३ भुरिक् ४ उष्णिग्गर्भार्षी पंक्तिः ५-७अनुष्टुप्
५४ (५६,५७-१)	२	(५६)ब्रह्मा (५७) भृगुः	ऋक्साम, इन्द्रः	अनुष्टुप्
५५ (५७-२)	१	भृगुः	इन्द्रः	विराट्
५६(५८)	८	अथर्वा	वृश्चिकादयः, २ वनस्पतिः, ४ ब्रह्मणस्पतिः	अनुष्टुप् ४ विराट् प्रस्तार-पंक्तिः
५७ (५९)	२	वामदेवः	सरस्वती	जगती
५८ (६०)	२	कौरुपथिः	मंत्रोक्ता	१ जगती, २ त्रिष्टुप्
५९ (६१)	१	बादरायणिः	अरिनाशनम्	अनुष्टुप्

षष्ठोऽनुवाकः। सप्तदशः प्रपाठकः

६० (६२)	७	ब्रह्मा	गृहाः, वास्तोष्पतिः	अनुष्टुप्	१परानुष्टुप् त्रिष्टुप्
६१ (६३)	२	अथर्वा	अग्निः	,,	
६२ (६४)	१	कश्यपः मारीचः ,,		जगती	
६३ (६५)	१	,, ,,	जातवेदाः	,,	
६४ (६६)	२	यमः	मंत्रोक्ताः, निर्ऋतिः		भुरिगनुष्टुप्, २न्यंकुसारिणी बृहती
६५ (६७)	३	शुक्रः	अपामार्गवीरुत्	अनुष्टुप्	
६६ (६८)	१	ब्रह्मा	ब्रह्म,	त्रिष्टुप्	
६७ (६८)	१	,,	आत्मा		पुरः परोष्णिग्बृहती
६८ (७०-७१)	३	शंतातिः	सरस्वती	१ अनुष्टुप्,	२ त्रिष्टुप्,३गायत्री· पथ्यापंक्तिः
६९ (७२)	१	,,	सुखं		
७० (७३)	५	अथर्वा	श्येनः, मन्त्रोक्ताः	१ त्रिष्टुप्,	२ अतिजगतीगर्भा जगती, ३-५ अनुष्टुप् (३ पुरः ककुम्मती)
७१ (७४)	१	,,	अग्निः	अनुष्टुप्	
७२ (७५,७६)	३	,,	इन्द्रः	,,	२-३ त्रिष्टुप्
७३ (७७)	११	,,	अश्विनौ	,,	२ पथ्याबृहती; १,४, ६जगती.

सप्तमोऽनुवाकः।

७४ (७८)	४	,,	मन्त्रोक्ताः, जातवेदाः	अनुष्टुप्	
७५ (७९)	२	उपरिबभ्रवः	अघ्न्याः	१ त्रिष्टुप्	२ त्र्यवसाना पञ्चपदा भुरिक् पथ्यापंक्तिः।
७६ (८०,८१)	६	अथर्वा	अपचिद्भैषज्यं, ज्यायानिन्द्रः		१ विराडनुष्टुप्; ३-४ अनुष्टुप्; २ परा उष्णिक्; ५ भुरिगनुष्टुप्; ६ त्रिष्टुप्
७७ (८२)	३	अङ्गिराः	मरुतः		१ त्रिपदा गायत्रीः; २ त्रिष्टुप्; ३ जगतीः
७८ (८३)	२	अथर्वा	अग्निः		१परोष्णिक्,२त्रिष्टुप्
७९ (८४)	४	,,	अमावास्या	१ जगती;	२,४ त्रिष्टुप्
८० (८५)	४	,,	पौर्णमासी,प्रजापतिः	त्रिष्टुप्;	४ अनुष्टुप्

८१ (८६)	६	,,	सावित्री,	१,६ त्रिष्टुप्;	२ सम्राट्पङ्क्तिः ३ अनुष्टुप्; ४-५ आस्तारपङ्क्तिः

अष्टमोऽनुवाकः।

८२ (८७)	६	शौनकः(संपत्कामः)	अग्निः	त्रिष्टुप्;	२ ककुम्मती बृहती; ३ जगती
८३ (८८)	४	शुनःशेपः	वरुणः	१ अनुष्टुप्;	२ पथ्यापंक्तिः ३ त्रिष्टुप्; ४ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्
८४ (८९)	३	भृगुः	१ जातवेदा अग्निः २-३ इन्द्रः	त्रिष्टुप्;	जगती
८५ (९०)	१	अथर्वा(स्वस्त्ययनकामः)	तार्क्ष्यः	,,	
८६ (९१)	१	,, ,,	इन्द्रः	,,	
८७ (९२)	१	,,	रुद्रः	जगती	
८८ (९३)	१	गरुत्मान्	तक्षकः		त्र्यवसाना बृहती
८९ (९४)	४	सिंधुद्वीपः	अग्निः	अनुष्टुप्	४ त्रिपदानिचृत्परोष्णिक्
९० (९५)	३	अंगिराः	मन्त्रोक्ताः		१ गायत्री २ विराट् पुरस्ताद्बृहती; ३ त्र्यवसाना षट्पदा भुरिग्जगती

नवमोऽनुवाकः।

९१ (९६)	१	अथर्वा	चन्द्रमाः	त्रिष्टुप	
९२ (९७)	१	,,	,,	,,	
९३ (९८)	१	भृग्वंगिराः	इन्द्रः	गायत्री	
९४ (९९)	१	अथर्वा	सोमः	अनुष्टुप्	
९५ (१००)	३	कपिञ्जलः	गृध्रौ	,,	२,३ भुरिक्
९६ (१०१)	१	,,	वयः	,,	
९७ (१०२)	८	अथर्वा	इन्द्राग्नी	१-४ त्रिष्टुप्;	५ त्रिपदार्षी भुरिग्गायत्री ६ त्रिपात्प्राजापत्या बृहती; ७ त्रिपदा साम्नी भुरिग्जगती; ८ उपरिष्टाद्बृहती

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छन्द
९८ (१०३)	१	„	मंत्रोक्ताः	विराट् त्रिष्टुप्
९९ (१०४)	१	„	„	भुरिगुष्णिक् त्रिष्टुप्
१०० (१०५)	१	यमः	दुःस्वप्ननाशनम्	अनुष्टुप्
१०१ (१०६)	१	„	„	„
१०२ (१०७)	१	प्रजापतिः	„	विराट् पुरस्ताद्-बृहती

दशमोऽनुवाकः।

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छन्द
१०३ (१०८)	१	ब्रह्मा	आत्मा	त्रिष्टुप्
१०४ (१०९)	१	„	„	„
१०५ (११०)	१	अथर्वा	मन्त्रोक्ता	अनुष्टुप्
१०६ (१११)	१	„	अग्निर्जातवेदाः वरुणश्च	बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्
१०७ (११२)	१	भृगुः	सूर्यः आपश्च	अनुष्टुप्
१०८ (११३)	२	„	अग्निः	२त्रिष्टुप्; १ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्
१०९ (११४)	७	बादरायणिः	अग्निः	१ विराट् पुरस्ताद्-बृहती अनुष्टुप्; ४,७ अनुष्टुप्; २,३, ५,६ त्रिष्टुप्
११० (११५)	३	भृगुः	इन्द्राग्नी	१ गायत्री; २त्रिष्टुप् ३ अनुष्टुप्
१११ (११६)	१	ब्रह्मा	वृषभः	परावृहती त्रिष्टुप्
११२ (११७)	२	वरुणः	मन्त्रोक्ताः	१ भुरिक्; २ अनुष्टुप्
११३ (११८)	२	भार्गवः	तृष्टिका	१ विराडनुष्टुप्; २ शंकुमती चतुष्पदा भुरिगनुष्टुप्
११४ (११९)	२	„	अग्नीषोमौ	अनुष्टुप्
११५ (१२०)	४	अथर्वांगिराः	सविता,जातवेदाः	अनुष्टुप्,२-३ त्रिष्टुप्
११६ (१२१)	२	„	चन्द्रमाः	१ पुरोष्णिग्; २ एकावसाना द्विपदाऽर्षी अनुष्टुप्
११७ (१२२)	१	„	इन्द्रः	पथ्यावृहती
११८ (१२३)	१	„	चन्द्रमाः बहुदैवत्यम्	त्रिष्टुप्

इस प्रकार इस सप्तम काण्डके सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द हैं। अब इनका ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग देखिये—

ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग।

१ अथर्वा ऋषिके १-७; १३-१४; १८; ३४-३८; ४६-४९; ५२; ५६; ६१; ७०-७४; ७६; ७८-८१; ८५-८७; ९१-९२; ९४; ९७;-९९; १०५-१०६ ये त्रेचालीस सूक्त हैं।

२ ब्रह्मा ऋषिके १९-२२; २४; ३२-३३; ५३-५४; ६०; ६६-६७; १०३-१०४; १११ ये पंद्रह सूक्त हैं।

३ भृगु ऋषिके १५-१७; ५४-५५; ८४; १०७-१०८; ११० ये नौ सूक्त हैं।

४ प्रस्कण्व ऋषिके ३९-४५ ये सात सूक्त हैं।

५ मेधातिथि ऋषिके २५-२९ ये पांच सूक्त हैं।

६ अथर्वाङ्गिरा ,, ११५-११८ ये चार ,, ,,

७ शौनक ,, १०-१२; ८२ ,, ,, ,,

८ यम ,, २३; ६४; १००-१०१ ,, ,,

९ अंगिरा ,, ५०-५१; ७७; ९० ,, ,,

१० उपरिबभ्रव ,, ८-९; ७५ ये तीन सूक्त हैं।

११ भृग्वंगिरा ,, ३०-३१; ९३ ,, ,,

१२ भार्गव ,, ११३-११४ ये दो सूक्त हैं।

१३ शंताति ,, ६८-६९ ,, ,,

१४ बादरायणि ,, ५९; १०९ ,, ,,

१५ कश्यप ,, ६२-६३ ,, ,,

१६ कापिंजल ,, ९५-९६ ,, ,,

१७ वरुण ऋषि का ११२ वां एक सूक्त है।

१८ वामदेव ,, ५७ ,, ,,

१९ कौरुपथि ,, ५८ ,, ,,

२० शुक्र ,, ६५ ,, ,,

२१ शुनःशेप ,, ८३ ,, ,,

२२ गरुत्मान् ,, ८८ ,, ,,

२३ सिंधुद्वीप ,, ८९ ,, ,,

२४ प्रजापति ,, १०२ ,, ,,

इस प्रकार २४ ऋषियोंके नाम इस काण्डमें हैं। इसमें भी पूर्ववत् अथर्वाके सूक्त सबसे अधिक अर्थात् ४३ हैं और इनमें अथर्वाङ्गिराके ४; अंगिराके ४, मिलानेसे ५१ होते हैं। ये न भी गिने गये तो भी ४३ सूक्त अकेले अथर्वाके नामपर हैं। यह बात देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि इस संहितामें अथर्वाके सूक्त अधिक होनेसे इसका नाम ' अथर्ववेद ' हुआ होगा; दूसरे दर्जेपर इसमें ब्रह्माके मंत्र आते हैं, संभवतः इसी कारणसे इसका नाम ' ब्रह्मवेद ' पडा होगा। तथापि यह विचार सब काण्ड देखनेके पश्चात् करेंगे, क्यों कि उस समय सब काण्डोंका सूक्तविभाग हमारे सामने रहेगा। अब देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग देखिये।

देवताक्रमानुसार सूक्त विभाग।

१ मंत्रोक्तदेवताके १२; १९; २७; २९; ३३; ३९; ४६-४८; ५८; ६४; ७०; ७४; ९०; ९८-९९; १०५; ११९ ये अठारह सूक्त हैं। (टिप्पणी-वस्तुतः मंत्रोक्त नामकी कोई देवता नहीं है, इस प्रकारके सूक्तोंमें अनेक देवताएं रहती हैं, इसलिये अनेक देवताओंके नाम कहनेकी अपेक्षा यह एक संकेत मात्र किया है।)

२ इन्द्र देवताके १२; ३१; ४४; ५०; ५४-५५; ७२; ७६; ८४; ८६; ९३; ११७ ये बारह सूक्त हैं।

३ अग्नि देवताके ६१-६२; ७१; ७८; ८२; ८४; ८९; १०६; १०८; १०९ ये दस सूक्त हैं।

४ आत्मादेवताके १-३; ५; २१; ६७; १०३—१०४ ये आठ सूक्त हैं।

५ सरस्वतीदेवताके १०-१२; ४०; ५७;६८ ये छः सूक्त हैं।

६ सवितादेवताके १४—१७; २४; ११५ ये छः सूक्त हैं।

७ जातवेदा देवताके ३४; ३५; ६३; ७४; ८४; १०६ ये छः सूक्त हैं।

८ दुःस्वप्ननाशन,, २३; १००-१०२ ये चार सूक्त हैं।

९ चन्द्रमा ,, ९१—९२; ११६; ११८ ये चार सूक्त हैं।

१० बृहस्पति ,, ८; ५१; ५३ ये तीन सूक्त हैं।

११ विष्णु ,, २५—२६; ४४ ,, ,,

१२ अश्विनौ ,, ५२; ५३; ७३ ,, ,,

१३ अदिति ,, ६—७ ये दो सूक्त हैं।

१४ सोम ,, १३; ९४ ये दो सूक्त हैं।
१५ बहुदैवत्य ,, १७; ११८ ,, ,, (यह भी देवताओंका संकेत है जैसा मंत्रोक्तामें लिखा है।)
१६ लिंगोक्ता ,, २२; ३७ ,, ,, (,, ,,)
१७ द्यावापृथिवी ,, ३०; १०२ ,, ,,
१८ वनस्पति ,, ३८; ५६ ,, ,,
१९ आयुः ,, ३२; ५३ ,, ,,
२० श्येनः ,, ४१; ७० ,, ,,
२१ वरुण ,, ८३; १०६ ,, ,,
२२ इन्द्राग्नी ,, ९७; ११० ,, ,,

शेष देवता एक सूक्त वाले हैं। यमः ४; पूषा ९; सभा १२; पृथिवी १८; पर्जन्यः १८; अनुमतिः २०; वेद; २८; प्रतिपदोक्ता देवताः ३० (यह भी अनेक देवताओंका संकेत है); अक्षि ३६; सोमारुद्रौ ४२; वाक् ४३; भेषजं ४५; ईर्ष्यापनयनं ४५; देवपत्न्यौ ४९; सांमनस्यं ५२; ऋक्साम ५४; वृश्चिकः ५६; ब्रह्मणस्पतिः ५८; अरिष्टनाशनं ५९; गृहाः ६०; वास्तोष्पतिः ६०; निर्ऋतिः ६४; अपामार्गः ६५; ब्रह्म ६३; सुखं ६९; अघ्न्याः ७५; अपचिद्भेषजं ७६; ज्यायानिन्द्रः ७६; मरुतः ७७; अमावास्या ७९; पौर्णमासी ८०; प्रजापतिः ८०; सावित्री ८१; सूर्याचन्द्रमसौ ८१; तार्क्ष्यः ८५; रुद्रः ८७; तक्षकः ८८; गृध्रः ९५; वयः ९६; सूर्यः १०७; आपः १०७; वृषभः १११; तृष्टिका ११३; अग्नीषोमौ ११३;

इस प्रकार इस काण्डमें ६६ देवताएं आगई हैं। इनमें मंत्रोक्त, बहुदैवत्य आदि संकेतोंमें आनेवाले कई देवताएं और अधिक संमिलित होती हैं। इनकी गिनती उक्त संख्यामें नहीं की गई है। अब सूक्तोंके गणोंकी व्यवस्था देखिये–

सप्तम काण्डके सूक्तोंके गण।

१ स्वस्त्ययनगणमें ९; ५१; ८५; ९१; ९२; ११७ ये छः सूक्त हैं।
२ बृहच्छान्तिगणमें ५२; ६६; ६८; ६९; ८२; ८३ ये छः सूक्त हैं।
३ पत्नीवन्तगणमें ४७—४९ ये तीन सूक्त हैं।
४ दुःस्वप्ननाशनगणमें १००; १०१; १०८ ये तीन सूक्त हैं।

५ अभयगणमें ९; ९१ ये दो सूक्त हैं।
६ पुष्टिकगणमें १४; ६० ,, ,,
७ वास्तुगणमें ४१; ६० ,, ,,
८ इन्द्रमहोत्सवके ८६; ९१ ,, ,,
९ आयुष्यगणमें ३२ वां एक सूक्त है
१० सांमनस्यगणमें ५२ ,, ,,
११ कृत्यागणमें ६५ ,, ,,
१२ रौद्रगणमें ८७ ,, ,,
१३ अंहोलिंगगणमें ११२ वां एक सूक्त है
१४ तक्मनाशनगणमें ११६ वां ,, ,,

इस प्रकार इस सप्तम काण्डके गणोंका विचार है। अन्य सूक्तभी इसी प्रकार अन्यान्य गणोंमें विभक्त किये जा सकते हैं, परंतु वह विशेष विचारका प्रश्न है। आज ही यह कार्य नहीं हो सकता। सूक्तोंका अर्थ निश्चित हो जानेपर यह गणविभाग परिपूर्ण किया जा सकता है।

इतना विचार होनेके पश्चात् अब हम इस सप्तम काण्डके प्रथमसूक्तका मनन करते हैं-

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोधभाष्य।)

सप्तम काण्ड।

आत्मोन्नतिका साधन।

[१]

(ऋषिः-अथर्वा ' ब्रह्मवर्चसकामः ' । देवता-आत्मा ।)

धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि ।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः ॥ १ ॥

अर्थ- (ये वा मनसा धीती) जो अपने मनसे ध्यानको (वाचः अग्रं अनयन्) वाणीके मूलस्थान तक पहुंचाते हैं, तथा (ये वा ऋतानि अवदन्) जो सत्य बोलते हैं, वे (तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानाः) तृतीय ज्ञानसे बढते हुए, (तुरीयेण) चतुर्थभागसे (धेनोः नाम अमन्वत) कामधेनुके नामका मनन करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ- (१) मनसे ध्यान लगाकर वाणीकी उत्पत्ति जहांसे होती है वह वाणीका मूल देखना, (२) सदा सत्य वचन बोलना, (३) ज्ञानसे संपन्न होना और (४) कामधेनु स्वरूप परमेश्वरके नामका मनन करना, ये चार आत्मोन्नतिके साधन हैं ॥ १ ॥

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत् स भुवत् पुनर्मघः ।
स द्यामौर्णोदन्तरिक्षं स्वः स इदं विश्वमभवत् स आभवत् ॥ २ ॥

अर्थ—(सः सूनुः भुवत्) वही उत्पन्न हुआ है, (सः पुत्रः पितरं सः च मातरं वेद) वही अपने मातापिताको जानता है, (सः पुनर्मघः भुवत्) वह वारंवार दान देनेवाला होता है, (सः द्यां अन्तरिक्षं स्वः और्णोत्) वह द्युलोक, अन्तरिक्षको और आत्मप्रकाशको अपने आधीन करता है, (सः इदं विश्वं अभवत) वह यह सब विश्व बनता है, और (सः आभवत) वह सर्वत्र होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो यह चतुर्विध साधन करता है, उसीका जन्म सफल होता है, वह अपने मातापिता स्वरूप परमात्माको जानता है, वह आत्मसर्वस्वका दान करता है, जिससे वह त्रिभुवन को अपनी शक्तिसे घेरता है, मानो वह यह सब विश्वरूप बनता है और वह सर्वत्र होता है ॥ २ ॥

साधनमार्ग ।

आत्मोन्नतिका साधनमार्ग इस सूक्तमें कहा है। यह मार्ग चतुर्विध है, अथवा ऐसा समझो कि, इस मार्गको बतानेवाले चार सूत्र इस सूक्तमें हैं। आत्मोन्नतिके चार सूत्र ये हैं—

(१) ऋतानि अवदन्— सत्य बोलना। अर्थात् छलकपटका भाषण न करना और अन्य इंद्रियोंको भी असत्य मार्गमें प्रवृत्त होने न देना। सदा सत्यनिष्ठ, सत्यव्रती और सत्यभाषी होना। (मं० १)

(२) ब्रह्मणा वावृधानः— ब्रह्म नाम बंधननिवृत्तिके ज्ञान का है। (मोक्षे धीर्ज्ञानं) ज्ञानका अर्थही बंधनसे छूटनेके उपायका ज्ञान है। इस ज्ञानसे जो बढता है अर्थात् इस ज्ञानसे जो परिपूर्ण होता है। जो आत्मज्ञानके साधनका उपाय करना चाहता है उसको यह ज्ञान अवश्य चाहिये। (मं० १)

(३) धेनोः नाम अमन्वत— कामधेनुके नाम का मनन करते हैं। भक्तके मनकामनाकी पूर्णता करनेवाली कामधेनु परमेश्वर शक्ति ही है, उसके गुणबोधक नाम अनंत हैं। उन नामोंका मनन करनेसे और उन गुणोंको अपने अंदर स्थिर करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है। (मं० १)

(४) मनसा धीती वाचः अग्रं अनयन्—मनकी एकाग्रतासे ध्यानद्वारा वाणीके मूलस्थानको पहुंचना । यह आत्माके स्थानको प्राप्त होनेका साधन है । वाणी कैसी उत्पन्न होती है, यह देखिये—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ ६ ॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥ ७ ॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ॥८॥ (पाणिनीयशिक्षा)

(१) आत्मा बुद्धिसे युक्त होकर विशेष प्रयोजनका अनुसंधान करता है, (२) पश्चात् उस प्रयोजनको प्रकट करनेके लिये मनको नियुक्त करता है, (३) मन शरीरके अग्नि को प्रेरित करता है, (४) वह अग्नि वायुको गति देता है, (५) वह वायु छातीसे ऊपर आकर मन्द्र स्वर करता है, (६) वह मूर्धामें आकर मुखके विविध स्थानोंमें आघात करता है, (७) विविध स्थानोंमें आघात होनेके कारण विविध वर्ण उत्पन्न होते हैं, यही वाणी है ।

वाणीकी इस प्रकार उत्पत्ति होती है । जब मनुष्य ध्यान लगाकर वाणीकी उत्पत्ति देखता है और (वाचः अग्रं) वाणीके मूल स्थानको प्राप्त करता है, तब वह उस स्थानमें आत्माको देखता है । इस प्रकार वाणीके मूलको ढूंढनेके यत्नसे आत्माको जाना जाता है । वाणीके मूलभागको देखनेकी क्रिया अन्तर्मुख होकर अर्थात् अन्दरकी ओर देखनेसे बनती है । जैसा- पहिले कोई शब्द लें । वह शब्द कई अक्षरोंका-अर्थात् वर्णोंका बना होता है, ये वर्ण एक ही वायुके मुखके विभिन्न स्थानोंमें आघात होनेसे उत्पन्न होते हैं, वर्णोत्पत्तिके पूर्व जो वायु छातीमें संचरता है, उसमें ये विविध वर्ण नहीं होते हैं । उससे भी पूर्व जब वायुको अग्नि प्रेरणा देता है, उसमें तो शब्दका नाम तक नहीं होता है । इसके पूर्व मनकी प्रेरणा है और इससे भी पूर्व आत्माकी बोलनेकी प्रवृत्ति होती है । इस रीतिसे अंदर अंदर की ओर देखनेका प्रयत्न मानसिक ध्यानपूर्वक करनेसे वाणीके मूलस्थान का पता लगता है, और वहांही आत्माका दर्शन होता है । यही विषय वेदमें इस प्रकार वर्णित हुआ है-

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ ४५ ॥
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ४६ ॥
ऋ० १ । १६४; अथर्व० ९ । (१०) १५ । २७-२८

" वाणीके चार पांव हैं, मननशील ब्रह्मज्ञानी उनको जानते हैं। इनमेंसे तीन पांव हृदयमें गुप्त हैं, और प्रकट होनेवाला जो वाणीका चतुर्थ पाद है, वही मनुष्योंकी भाषा है जिससे मनुष्य बोलते हैं। यह वाणी जहांसे-जिस मूल कारणसे-प्रकट होती है, वह एकही सत्य वस्तु है, परंतु ज्ञानी लोग उस एक वस्तुको अनेक नाम देते हैं, उसीको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि कहते हैं। "

यही आत्मा है, जिससे वह वाणी प्रकट होती है। इसी लिये वाणीके मूलकी खोज करते करते आत्माकी प्राप्ति होती है, ऐसा इस सूक्तमें कहा है।

सारांशसे आत्माकी खोज करनेका मार्ग इस प्रकार इस सूक्तमें कहा है। इसको भी यदि संक्षिप्त करना हो, तो ' (१) सत्यनिष्ठा, (२) सत्य ज्ञान, (३) प्रभुगुण-मनन, और (४) वाङ्मूलान्वेषण ' इन चार शब्दोंसे सूचित होनेवाला यह आत्मोन्नतिका मार्ग है। मनुष्य इस मार्गसे जाकर अपने आत्माका पता लगा सकता है और सत्यके आश्रयसे और ज्ञानके प्रकाशसे यथेच्छ उन्नति प्राप्त कर सकता है। यहां ज्ञान का ' बंधनसे मुक्त होनेका निश्चित ज्ञान ' यह अर्थ विवक्षित है। अन्य पाञ्च-भौतिक ज्ञानके लिये संस्कृतमें विज्ञान शब्द है। जो इस प्रकारके श्रेष्ठ ज्ञानसे युक्त होता है, वह मनुष्य—

(५) **सः सूनुः भुवत्**= वही सच्चा उत्पन्न हुआ कहा जाता है। अर्थात् उसीने जन्म लिया और अपने जन्मका सार्थक किया, ऐसा कहा जा सकता है। अन्य लोग जन्म तो लेते ही हैं, परंतु उनका जन्म लेना व्यर्थ होता है, क्यों कि जन्मका प्रयोजन वे सफल नहीं कर सकते, अतः उनके जन्म लेनेका परिश्रम व्यर्थ होता है। उनका जन्म सफल होनेका हेतु यह है-

(६) **सः पुत्रः पितरं मातरं च वेद**=वह पुत्र अपने माता पिताको जानता है। अपने मातापिताको यथावत् जाननेसे पुत्रका जन्म सफल होता है। मातापिताको जानना तब होगा, जब वह अपने मातापिताके गुणोंका मनन करेगा। यह गुणोंके मनन करनेका उपदेश (**नाम अमन्वत** । मं० १) प्रथम मंत्रके अन्तिम चरणमें किया है। पिताका या माताका नाम लेना अथवा उनके गुणोंका मनन करना इसीलिये होता है, कि पुत्र अपने आपको सुयोग्य बनाता हुआ पिताके समान बने। माता पिताको जानने का साध्य यही है। मेरे माता पिता ऐसे शुद्धाचारी थे, मैं भी वैसाही शुद्धाचारी

बनूंगा। मातापिताके जाननेसे पुत्र के अंदर इस प्रकार अपनी उन्नतिकी प्रेरणा होती है। यहां 'पुत्र' शब्द विशेष महत्त्वका अर्थ रखता है। " पु+त्र " अर्थात् जो अपने आपको (पुनाति) पवित्र करता है और (त्रायते) अपनी रक्षा करता है, वह सच्चा पुत्र है। अपने आपको निर्दोष, पवित्र और शुद्ध बनाना, तथा अपने आपकी दोषों और पापोंसे रक्षा करनी, यह कार्य जो करता है वह सच्चा पुत्र है, जो ऐसा नहीं करते, वे केवल जन्तुमात्र हैं। इस प्रकारका सुपूत जो होता है, वह जिस समय अपने परम पिताके गुणकर्मोंका मनन करता है, उस समय उसके मनमें यह बात आती है कि, मैं भी अपने परम पिताके समान और अपनी परम माताके समान बनूंगा। यत्न करके वैसा होऊंगा। इस विचारसे वह प्रेरित होता है, इसलिये-

(७) सः पुनर्मघः अभुवत्= वह वारंवार दान देनेवाला होता है। वह अपनी सब तन, मन, धन आदि शक्तियोंको जनताकी भलाईके लिये वारंवार समर्पित करता है। दान करनेसे वह पीछे नहीं हटता। इसीका नाम यज्ञ है। अपनी शक्तियोंका यज्ञ करनेसे ही मनुष्य उन्नत होता जाता है। वह देखता है कि, वह परमपिता अपनी सब शक्तियोंको संपूर्ण प्राणिमात्रकी भलाईके लिये समर्पित कर रहा है, इस बातको देखकर वह उसीका अनुकरण करता है। और इस प्रकार परमपिताके अनुकरणसे वह प्रतिसमय अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करता है और इसको जितनी अधिक शक्ति मिल जाती है, उस प्रमाणसे वह उतना ही अधिक कार्यक्षेत्र व्यापता है। उदाहरणके लिये देखिये अनाडी मनुष्य अपने पेटके कार्यक्षेत्रमें कार्य करता है, गृहस्थी मनुष्य अपने कुटुंबके पोषणके कार्यक्षेत्रमें लगा रहता है, नगर सुधारक अपने नगरके कार्यक्षेत्रमें तन्मय होता है, राष्ट्रका नेता राष्ट्रीय कार्यक्षेत्रमें अपनी हलचल करता है, इसके पश्चात् वसुधैव कुटुंबक वृत्तीका सन्यासी संपूर्ण जनता को अपने परिवारमें संमिलित करके उनकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करता है, इस प्रकार जिसको जैसी शक्ति प्राप्त होती जाती है, उस प्रकार वह अधिकाधिक विस्तृत कार्यक्षेत्रमें कार्य करता है, इस प्रकार शक्तिकी वृद्धि होते होते अन्तमें—

(८) स द्यां अन्तरिक्षं स्वः और्णोत्= वह द्युलोक, अन्तरिक्ष और सब प्रकाशमय लोकोंको व्यापता है। मनुष्यकी शक्ति इतनी बढ जाती है। वह जिस समय विशेष उन्नत होता है उस समय संपूर्ण अवकाशमें उसकी व्याप्ति होती है। साधारण आत्माका 'महात्मा' बननेसे यह बात सिद्ध होती है। इससे-

(९) सः इदं विश्वं अभवत्= वह यह सब विश्व रूप बनता है, जब उसकी

शक्ति परम सीमातक उन्नत होती है, तब उसको अनुभव होता है कि मैं विश्वरूप बना हूं। कई मनुष्य ' शरीररूप ' होते हैं, उनके शरीरको कष्ट होनेसे वे दुःखी होते हैं, कई लोग ' कुटुंबरूप ' होते हैं उनके कुटुंबके किसी मनुष्यको दुःख हुआ तो वे दुःखी होते हैं, कई लोग ' राष्ट्ररूप ' बनते हैं उनके राष्ट्रका कोई आदमी दुःखी हुआ तो वे दुःखी बनते हैं, इसी प्रकार जो ' विश्वरूप ' बनते हैं वे संपूर्ण विश्वमें किसीको भी दुःखी देखनेसे वे दुःखी होते हैं। इसी प्रकार अधिकार भेदसे उनको सुख भी होता है। इस प्रकार मनुष्यकी शक्तिका विस्तार होता जाता है और मनुष्यका विश्वरूप बन जाना उसकी उन्नतिकी परम सीमा है इस समय-

(१०) **सः आभवत्**—वह सर्वत्र फैलता है अर्थात् विश्वरूप बना हुआ आत्मा विश्वभरमें फैलता है। प्रारंभमें मनुष्य का आत्मा अपने शरीर जितना ही फैला होता है, परंतु इसकी शक्ति बढते बढते और इसके कार्यक्षेत्र का विस्तार होते होते वह अन्तमें विश्वरूप बन जाता है। यह आत्माका फैलाव शक्ति विस्तारसे होता है। इसका उदाहरण ऐसा दिया जा सकता है,एक दीप है जिसका प्रकाश छोटेसे कमरेमें ही फैलता है, यदि किसी यंत्रप्रयोगसे उसकी प्रकाशशक्तिका विस्तार किया जाय,तो वही दीप दस बीस मील तक प्रकाश देनेमें समर्थ हो सकेगा। अग्निकी छोटीसी चिनगारी दावानल का रूप लेती है। इस प्रकार इस जीवात्माकी शक्तिका परम विकास होनेकी कल्पना पाठक कर सकते हैं।

कई मनुष्य होते हैं उनकी आज्ञा पारिवारिक लोग भी सुनते नहीं, इतनी उनकी शक्ति अत्यल्प होती है, परंतु कई महात्मे ऐसे होते हैं कि, जिनकी आज्ञा होते ही लाखों और करोडों मनुष्य अपना बलिदान तक देनेको तैयार होते हैं, यह आत्मशक्ति के विस्तार का उदाहरण है। इसी प्रकार आगे परम सीमातक आत्माकी शक्तिका विकास होना संभव है। इसी शक्तिविकासके चार साधन प्रथम मंत्रमें कहे हैं। उन साधनोंका अनुष्ठान जो करेंगे, वे अपनी शक्ति विकसित होनेका अनुभव अवश्य लेनेमें समर्थ होंगे।

आत्मोन्नतिका विचार होनेके कारण यह सूक्त प्रत्यक्ष फलदायी है। आशा है कि, पाठक इसका अधिक मनन करके अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करेंगे।

—:::—

जीवात्माका वर्णन ।

[२]

(ऋषिः- अथर्वा ' ब्रह्मवर्चसकामः ' । देवता- आत्मा)

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम् ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ १ ॥

अर्थ- (यः मनसा) जो मनसे (इमं यज्ञं अथर्वाणं पितरं) इस पूजनीय, अपने पास रहनेवाले पिता और (देवबंधुं) देवोंके साथ संबंध रखनेवाले (मातुः गर्भं) माताके गर्भमें आनेवाले (पितुः असुं) पिताके प्राण स्वरूप (युवानं) सदा तरुण आत्माको (चिकेत) जानता है, वह (इह तं नः प्रवोचः) यहां उसके विषयमें हमें ज्ञान कहे और (इह ब्रवः) यहां उसको बतलावे ॥ १ ॥

भावार्थ- जो ज्ञानी अपनी मननशक्तिद्वारा इस पूजनीय, अपने पास रहनेवाले, पिताके समान रक्षक, देवोंके साथ संबंध करनेवाले, माताके गर्भमें आनेवाले, पिताके प्राणको धारण करनेवाले, सदा तरुण अर्थात् कभी वृद्ध न होनेवाले और न कभी बालक रहनेवाले आत्माको जानता है, वह उसके विषयका ज्ञान यहां हम सबको कहे और उसका विशेष स्पष्टीकरण भी करे ॥ १ ॥

जीवात्माके गुण ।

इस सूक्तमें मुख्यतया जीवात्माके गुण वर्णन किये हैं । इनका मनन करनेसे जीवात्माका ज्ञान हो सकता है-

१ मातुः गर्भ= माताके गर्भको प्राप्त होनेवाला जीवात्मा है । जन्म लेनेके लिये यह माताके गर्भमें आता है । यजुर्वेदमें इसीके विषयमें ऐसा कहा है-

पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः।

वा० यजु० ३२। ४

" यह पहिले उत्पन्न हुआ था, वही इस समय गर्भमें आया है, वह पहिले जन्माथा और भविष्यमें भी जन्म लेगा।" इस प्रकार यह वारंवार जन्म लेनेवाला जीवात्मा है।

२ पितुः असुं= पितासे यह प्राणशक्तिको धारण करता है। पितासे प्राणशक्ति और मातासे रयिशक्ति प्राप्त करके यह शरीर धारण करता है।

३ युवानं= यह सदा जवान है। यह न कभी बूढा होता है और न कभी बालक। इसका शरीर उत्पन्न होता है और छः विकारोंको प्राप्त होता है। (जायते) उत्पन्न होता है, (अस्ति) होता है, (वर्धते) बढता है, (विपरिणमते) परिणत होता है, (अपक्षीयते) क्षीण होता है और (विनश्यति) नाशको प्राप्त होता है। यह छः विकार शरीरको प्राप्त होते हैं। इन छः विकारोंको प्राप्त होनेवाले शरीरमें रहता हुआ यह जीवात्मा सदा तरुण रहता है। यह न तो शरीरके साथ बालक बनता है और न शरीर वृद्ध होनेसे वह भी बूढा होता है। यह अजर और अबालक है अर्थात् इस को युवावस्थामें रहनेवाला कहते हैं।

४ देवबंधुं—यह देवोंका भाई है। देवोंको अपने साथ बांध देनेवाला यह जीवात्मा है। पाठक यहां ही अपने देहमें देखें कि इस जीवात्माने अपने साथ सूर्यका अंश नेत्ररूपसे आंखके स्थानमें रखा है, वायुका अंश प्राणरूप से नासिका स्थानमें रखा है, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियोंके देवतांशोंको लाकर रखा है। इन सब देवतांशोंको यह अपने साथ लाता है और अपने साथ लेजाता है। जिस प्रकार सब भाई भाई इकठे रहते हैं, उसी प्रकार यह जीवात्मा यहां इन देवताओंका बडाभाई है और ये देवतांश इसके छोटे भाई हैं। इस प्रकार यह देवोंका बन्धु है।

अथर्वाणं—(अथ+अर्वाक्=अथर्वा) अपने पास अपने अन्दर रहनेवाला यह है। इसको ढूंढनेके लिये बाहर भ्रमण करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्यों कि यही सबसे समीप है, इससे समीप और कोई पदार्थ नहीं है।

६ पितरं—यह पिताके समान है। यह रक्षक है। जबतक यह शरीरमें रहता है तबतक यह शरीरकी रक्षा करता है, मानो इसकी शक्तिसे शरीर रक्षित होता है। जब

यह इस शरीरको छोड देता है तब इस शरीरकी कोई रक्षा नहीं कर सकता। इसके इस शरीरको छोड देनेके पश्चात् यह शरीर सडने लगता है।

७ यज्ञं—यह यहां यजनीय अर्थात् पूजनीय है। इसीके लिये यहांके सब व्यवहार किये जाते हैं। अन्न, पान, भोग, नियम सब इसीकी संतुष्टीके उद्देश्यसे दिये जाते हैं। यदि यह न हो तो कोई कुछ न करेगा। जबतक यह इस शरीरमें है, तबतक ही सब भोग तथा त्याग किये जाते हैं।

ये सात शब्द जीवात्माका वर्णन करनेके लिये इस सूक्तमें प्रयुक्त हुए हैं। जीवात्माके गुणधर्म इनका विचार करनेसे ज्ञात हो सकते हैं। इनका विचार (मनसा चिकेत) मननद्वारा ही होगा। जो पाठक अपने जीवात्माका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, वे इन शब्दोंका मनन करें। जब उत्तम मनन होगा तब वह ज्ञानी इस ज्ञानका (प्रवोचा) प्रवचन करे और (इह ब्रवः) यहां व्याख्या करे। कोई मनुष्य मनन के पूर्व प्रवचन न करे। अर्थात् जब मनन पूर्वक उत्तम ज्ञान प्राप्त हो, तब ही मनुष्य दूसरोंको इसका ज्ञान देवे।

उपदेश देनेका अधिकार तब होता है कि जब स्वयं पूर्ण ज्ञान हुआ होता है। स्वयं उत्तम ज्ञान होनेके पूर्व जो उपदेश देनेका प्रयत्न होता है वह घातक होता है। ज्ञानी ही उपदेश करनेका सच्चा अधिकारी है।

यदि यह जीवात्माका ज्ञान ठीक प्रकार हुआ, तब मनुष्य परमात्माको जाननेमें समर्थ होगा। इस विषयमें अथर्ववेदकी श्रुती यहां देखने योग्य है—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ॥

अथर्व० १० । ७ । १७

"जो सबसे प्रथम पुरुषमें स्थित ब्रह्मको जानते हैं, वेही परमेष्ठी प्रजापतिको भी जानते हैं।" यही ज्ञान प्राप्त करनेकी रीति है। अपने शरीरान्तर्गत आत्माको जाननेसे परमात्माका ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस रीतिसे इस मंत्रके मननसे प्रथम जीवात्माका ज्ञान होगा और उसीको परम सीमातक विस्तृत रूपमें देखनेसे यही ज्ञान परमात्माका बोध करनेमें समर्थ होगा।

आत्मा का परमात्मामें प्रवेश।

[३]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- आत्मा)

अया विष्ठा जनयन्कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः ।
स प्रत्युदैद्धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत ॥ १ ॥

अर्थ- (अया वि-स्था) इस प्रकारकी विशेष स्थिति से (कर्वराणि जनयन्) विविध कर्मोंको करता हुआ, (सः) वह (हि वराय उरुः गातुः) श्रेष्ठ देवकी प्राप्ति करनेके लिये विस्तृत मार्गरूप और (घृणिः) तेजस्वी बनता हुआ, (सः) वह (मध्वः धरुणं अग्रं प्रति उदैत) मीठास का धारण करनेवाले अग्रभागके प्रति पहुंचनेके लिये ऊपर उठता है और (स्वया तन्वा) अपने सूक्ष्म शरीरसे उस देवके (तन्वं ऐरयत) सूक्ष्मतम शरीरके प्रति अपने आपको प्रेरित करता है ॥ १ ॥

भावार्थ- इस प्रकार वह श्रेष्ठ कर्मोंको करता है और उस कारण वह स्वयं परमात्माके पास जानेका श्रेष्ठ मार्ग बतानेवाला होता है और दूसरोंको प्रकाश देता है। वह स्वयं मधुर अमृतका धारण करनेवाले परमात्माके समीप प्राप्त होनेके हेतुसे अपने आपको उच्च करता है और समाधिस्थितिमें अपने सूक्ष्म शरीरसे परमात्माके विश्वव्यापक सूक्ष्मतम कारण शरीरके पास पहुंचनेके लिये स्वयं अपने आपको प्रेरित करता है। इस प्रकार वह स्वयं परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

जीवकी शिवमें गति।

जीवात्माकी परममंगलमय शिवात्मामें गति किस प्रकार होती है इसका विचार इस सूक्तमें किया है। इसका अनुष्ठान क्रमपूर्वक कहते हैं।—

१ अया वि-स्था कर्-वराणि जनयन्=इस विशेष स्थितिमें रहकर वह मुमुक्षु जीव श्रेष्ठ कर्म करता है। विशेष स्थितिमें रहनेका अर्थ है सर्व साधारण मनुष्योंकी जैसी स्थिति होती है वैसी साधारण स्थितिमें न रहना। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि विषयमें तथा रहने सहनेके विषयमें साधारण मनुष्य पशुके समान ही रहते हैं। इस सामान्य स्थितिका त्याग करके मनुष्य विशेष स्थितिमें रहे अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईशभक्ति करता हुआ मनुष्य अपने आपको विशेष परिस्थितिमें रखे और उस विशेष परिस्थितिके अनुरूप श्रेष्ठ कार्य करे। इससे उसको दो सिद्धियां प्राप्त होगी, वे सिद्धियां ये हैं-

२ सः घृणिः—वह तेजस्वी बनता है, वह दूसरोंका मार्गदर्शक होता है, वह जनताको चेतना देनेवाला होता है, वह अपने तेजसे दूसरोंको प्रकाशित करता है। तथा-

३ सः वराय उरुः गातुः- वह श्रेष्ठ स्थान के पास जानेवाला विस्तृत मार्ग जैसा होता है। जिस प्रकार विस्तृत मार्गपर चलनेसे प्राप्तव्य स्थानके प्रति मनुष्य विना आयास जाता है, उसी प्रकार इस पुरुष का जीवन अन्य मनुष्योंके लिये विस्तृत मार्गवत् हो जाता है। अन्य मनुष्योंको दूसरे दूसरे मार्ग देखनेका कारण नहीं होता है, इसका जीवन चरित्र देखा और उसके अनुसार चलनेका कार्य किया, तो उनका जीवन सफल होजाता है और इस जगत्में जो वर अर्थात् श्रेष्ठ है, उस श्रेष्ठ परमात्माके पास वे सीधे पहुंच जाते हैं। इस रीतिसे वह सन्मार्गगामी पुरुष अन्य मनुष्योंके लिये मार्गदर्शक हो जाता है। वह मार्ग बताता नहीं परंतु लोग ही उसका चालचलन देखकर स्वयं उसका अनुकरण करते हुए सुधर जाते हैं। अर्थात् वह मार्गदर्शक नहीं बनता प्रत्युत लोगोंके लिये विस्तृत मार्गरूप बनता है।

४ सः मध्वः धरुणं अग्रं प्रति उत् ऐत्। वह मधुरताके धारक अन्तिम स्थानके प्रति जानेके लिये ऊपर उठता है। जिस प्रकार सूर्य उदय होकर ऊपर ऊपर चढता है और जैसा जैसा ऊपर चढता है वैसा वैसा अधिकाधिक तेजस्वी होता जाता है, इसी प्रकार यह मुमुक्षु पुरुष (उदैत्) ऊपर उठता है अर्थात् अधिकाधिक उच्च अवस्था प्राप्त करता है। इसके ऊपर उठनेका हेतु यह है कि, वह (मध्वः अग्रं) मीठासके परम केन्द्रको प्राप्त करना चाहता है मधुरताकी जो जड है, जहांसे सब मधुरता फैलती है, उस स्थानको वह प्राप्त करनेका अभिलाषी होता है। और इस हेतुसे वह उच्चतर भूमिका को अपने प्रयत्नसे प्राप्त करता है। और अन्तमें—

५ स्वया तन्वा तन्वं ऐरयत= अपने सूक्ष्म (स्वभाव) से परमात्माके सूक्ष्मतम (स्वभाव) के प्रति अपने आपको प्रेरित करता है। इस मंत्रभागमें ' तनु ' शब्द है। लौकिक संस्कृतमें वह शरीरका वाचक है यह बात सत्य है, तथापि यहां 'तनु' शब्दके ' सूक्ष्म, बारीक, स्वभाव, गुण, विशेषता ' ये अर्थ विवक्षित हैं। ऊपर हमने तनु शब्दका सुप्रसिद्ध 'शरीर' यह अर्थ लेकर अर्थ लिखा है, तथापि हमारे मतसे इसका वास्तविक अर्थ "जीवात्मा अपने स्वभावधर्मसे परमात्माके स्वभावधर्ममें प्रेरित होता है" यह है। पाठक इसका अधिक विचार करें। आत्मोन्नतिकी अवस्थामें यह अवस्था सर्वोत्कृष्ट है। यह अवस्था प्राप्त होनेके लिये ही पूर्वोक्त सब अनुष्ठान हैं।

पाठक इस सूक्तके मननसे जान सकते हैं कि, इस विधिसे किया हुआ अनुष्ठान व्यर्थ नहीं जाता, परंतु हरएक अवस्थामें विशेष फल देनेवाला बनता है और अन्तमें जीवात्माकी शिवात्मामें गति होती है। यही उन्नतिकी परम सीमा है।

प्राणका साधन।

[४]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता-वायुः)

एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च ॥ १ ॥

अर्थ-हे (सुहुते वायो) उत्तम प्रकार बुलाने योग्य प्राण देवता! (एकया च दशभिः च) एक और दस से, (द्वाभ्यां विंशत्या च) दो और बीससे तथा (तिसृभिः च त्रिंशता च) तीन और तीस से तू (इष्टये वहसे) यज्ञके लिये जाता है। अतः तू (वियुग्भिः इह ताः विमुञ्च) विशेष योजनाओंसे उनको यहां मुक्त कर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे प्रशंसायोग्य प्राण! तू ग्यारह, बाईस, और तैतीस शक्तियों द्वारा इस जीवनयज्ञमें कार्य करता है, अतः तू अपनी विशेष योजनाओंद्वारा सब प्रजाओंको दुःखोंसे मुक्त कर ॥ १ ॥

प्राणसाधनसे मुक्ति।

इस शरीरमें प्राणका शासन सर्वत्र चलरहा है यह सब जानते हैं। स्थूल शरीरमें पञ्च ज्ञानेंद्रिय, पञ्च कर्मेंद्रिय और इन दस इंद्रियोंका संयोजक मस्तिष्क ये ग्यारह शक्तियां इस प्राणके आधीन हैं। इनमेंसे प्रत्येक में जाकर यह प्राण कार्य करता है अर्थात् ये ग्यारह प्राणके कार्यस्थान हैं। इसके नंतर सूक्ष्म शरीरमें येही वासना देहमें ग्यारह शक्तियां कार्य कर रही हैं, ये भी सब प्राणके ही आधीन हैं। स्थूल शरीरकी ग्यारह और सूक्ष्म शरीरकी ग्यारह, दोनों मिलकर बाईस शक्तियां प्राणके आधीन स्वभावस्थामें रहती हैं। तीसरे मज्जातन्तुओंके ग्यारह केन्द्र जो मस्तक से लेकर गुदा तक के पृष्ठवंशमें रहते हैं और जिनके आधीन शरीरके विविध भाग कार्य करते हैं, वे भी प्राणकी शक्तिसे ही अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। ये सब मिलकर तैंतीस शक्ति केन्द्र हैं; जिनमें प्राणकी शक्ति कार्य कर रही है। मानो इन तैंतीस केन्द्रों द्वारा प्राणको चलाया जाता है। अथवा ये तैंतीस प्राणके रथके घोडे हैं, जिस रथमें बैठकर प्राण शरीरभर गमन करता है और वहांका कार्य करता है।

इस सूक्तमें ग्यारह, बाईस और तैंतीस प्राणको चलाते हैं ऐसा कहा है। यह संख्या इन शक्तिकेन्द्रोंकी सूचक है। यह शरीर एक यज्ञशाला है, इसमें शतसांवत्सरिक यज्ञ चलाया जा रहा है। यह यज्ञ प्राणके द्वारा होता है और प्राण इन शक्तिकेन्द्रों द्वारा इस यज्ञभूमिमें आता और कार्य करता है।

प्राणकी योजना।

प्राणकी (वियुग्भिः विमुञ्च) विशेष योजनासे मुक्त कर अर्थात् प्राणकी विशेष योजना की जाय और उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त की जाय। यहां विचार करना चाहिये कि प्राणकी (वियुग्भिः) विशेष योजनायें कौनसी हैं और उनसे मुक्ति किस प्रकार होती है। यह देखनेके लिये पूर्वोक्त शक्तियां क्या करती हैं और इनकी स्वभाव प्रवृत्ति कैसी है यह देखना चाहिये।

हमारे पास नेत्र है, यह यद्यपि देखनेके लिये बनाया है तथापि यह दूसरोंकी ओर बुरी दृष्टीसे देखता है। कान शब्दश्रवण करनेके लिये बनाया है तथापि वह बहुत बुरे शब्द सुनता है। मुख बोलनेके लिये बनाया है, परंतु वह ऐसे बुरे शब्द बोलता है कि जिससे विविध झगडे उत्पन्न होते हैं। उपस्थ इंद्रिय सुप्रजाजनन के लिये बनाया है, परंतु वह व्यभिचार के लिये प्रवृत्त होता है। इस प्रकार इस शतसांवत्सरिक यज्ञमें

संमिलित होनेवाली सब शक्तियां अयोग्य मार्गमें प्रवृत्त होती हैं। प्राणायाम करनेसे मनकी चंचलता दूर होती है और मन स्थिर होनेसे उक्त तैतीस शक्तियां ठीक सीधे मार्गमें रहती हैं। प्राणकी विशेष योजनाएं यही हैं। इन विशेष योजनाओंद्वारा नियुक्त हुआ प्राण इन तैतीस शक्तियोंका संयम करता है, उनको बुराईयोंके विचारसे मुक्त करता है, और सत्कार्यमें प्रेरित करता है। इस प्रकार प्राणसाधनसे मुक्तिका सीधा मार्ग आक्रमण करना सुगम होता है। पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करें और प्राणसाधन द्वारा उन्नति सिद्ध करें।

आत्मयज्ञ।

[५]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता-आत्मा।)

यज्ञेनं यज्ञमंयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यांसन्।
ते ह नाकं महिमानंः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १ ॥

अर्थ— (देवाः यज्ञेन यज्ञं अयजन्त) देवगण यज्ञसे यज्ञ पुरुषकी पूजा करते हैं। (तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्) वे धर्म उत्कृष्ट हैं। (ते महिमानः नाकं सचन्ते) वे महत्त्व प्राप्त करते हुए सुखपूर्ण लोकको प्राप्त होते हैं, (यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति) जहां पूर्वके साधनसंपन्न देव रहते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—श्रेष्ठ याजक अपने आत्माके योगसे परमात्माकी उपासना करते हैं, वे मानसोपासनाके यज्ञविधि सबसे श्रेष्ठ और मुख्य हैं। इस प्रकारकी उपासना करनेवाले श्रेष्ठ उपासकही उस सुखपूर्ण स्वर्गधामको प्राप्त करते हैं कि, जहां पूर्वकालके साधन करनेवाले प्राप्त हुए हैं ॥ १ ॥

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः ।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु ॥ २ ॥
यद् देवा देवान् हविषायजन्तामर्त्यान् मनसामर्त्येन ।
मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ॥ ३ ॥
यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥ ४ ॥

अर्थ- (यज्ञः बभूव) यज्ञ प्रकट हुआ, (सः आबभूव) वह सर्वत्र फैला, (सः प्रजज्ञे) वह विशेष रीतिसे ज्ञानका साधन हुआ और (सः उ पुनः वावृधे) वह फिर बढने लगा। (सः देवानां अधिपतिः बभूव) वह देवोंका अधिपति बन गया, (सः अस्मासु द्रविणं आ दधातु) वह हममें धन धारण करावे ॥ २ ॥

(देवाः यत् अमर्त्यान् देवान्) देव जहां अमर देवोंका (हविषा अमर्त्येन मनसा अयजन्त) अपने हविरूप अमर मनसे यजन करते हैं (तत्र परमे व्योमन् मदेम) वहां उस परम आकाशमें हम सब आनंद प्राप्त करते हैं। और वहां ही सूर्यस्य (उदितौ तत् पश्येम) सूर्यका उदय होनेपर उसका वह प्रकाश देखते हैं ॥ ३ ॥

(यत् देवाः) जो देवोंने (पुरुषेण हविषा यज्ञं अतन्वत) पुरुषरूपी हविसे यज्ञ किया, (तस्मात् ओजीयः नु अस्ति) उससे अधिक बलवान् क्या है ? (यत् विहव्येन ईजिरे) जो विशेष यजन द्वारा होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— यह मानसोपासनारूपी यज्ञ पहिले प्रकट हुआ, यह सर्वत्र फैला,उसको सबने जाना और वह फिर बहुत बढगया। वह संपूर्ण उपासकोंका मानो, स्वामी बन गया। यह यज्ञ हमें धन समर्पण करे ॥ २ ॥

याजकोंने जब अमर देवोंकी उपासना अपने अमर्त्य शक्तिसे युक्त मन द्वारा की, तब सबको आनंद प्राप्त हुआ और जिस प्रकार सूर्योदय होनेसे प्रकाश प्राप्त होता है उस प्रकार यज्ञसे सबको आनंद मिला ॥३॥

याजक जो यज्ञ अपने आत्मारूपी हविसे किया करते हैं, उससे भला और कौनसा यज्ञ श्रेष्ठ है ? जो कि विविध हविर्द्रव्योंके हवनसे प्राप्त हो सकता है ॥ ४ ॥

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ ५ ॥

अर्थ-(मुग्धाः देवाः) मूढ याजक (उत शुना अयजन्त) कुत्तेसे यजन करते हैं (उत गोः अंगैः पुरुधा अयजन्त) गौके अवयवोंसे बहुत प्रकार यजन करते हैं। (सः इमं यज्ञं मनसा चिकेत) जो इस यज्ञको मनसे करना जानता है, वह (इह नः प्रवोचः) यहां हमें उसका ज्ञान देवे और (इह तं ब्रवः) यहां उसका उपदेश करे ॥ ५ ॥

भावार्थ— वे याजक मूढ हैं कि जो कुत्ते, गौ आदि पशुओंके अंगोंसे हवन करते हैं। जो याजक इस मानसिक यज्ञको मनसे करना जानता है वह ज्ञानीही यज्ञका उपदेश करे और यज्ञके महत्त्वका कथन करे ॥ ५ ॥

मानस और आत्मिक यज्ञ।

यज्ञ बहुत प्रकारके हैं, उनमें सबसे श्रेष्ठ मानस यज्ञ अथवा आत्मिक यज्ञ है। मनका समर्पण करनेसे मानस यज्ञ होता है। और आत्माका समर्पण करनेसे आत्म-यज्ञ हुआ करता है। दोनोंका करीब करीब भाव एकही है। यह समर्पण परमेश्वरके लिये करना होता है। परमेश्वरके कार्य इस जगत्में जो होते हैं, उनमेंसे—

(१) सज्जनों की रक्षा
(२) दुष्ट जनोंको दूर करना और
(३) धर्मकी व्यवस्था

ये तीन कार्य परमात्माके लिये मनुष्य कर सकता है। परमात्माके अनंत कार्य हैं, परंतु मनुष्य उन सब कार्योंको कर नहीं सकता। ये तीन कार्य अपनी शक्तिके अनुसार कर सकता है। इस लिये जब मनुष्य अपने आपको इन तीन कार्योंके लिये समर्पित करता है, तब उसका समर्पण परमेश्वरके लिये हुआ, ऐसा माना जाता है। मनसे और अपने आत्माकी शक्तियोंसे उक्त त्रिविध कार्य करनेका नामही अपने मनका और आत्माका परमेश्वरार्पण करना है।

प्रत्येक यज्ञमें भी तीन कार्य करने होते हैं।

(१) (पूजा) श्रेष्ठोंका सत्कार,
(२) अपने अंदर (संगतिकरण) संगतिकरण किंवा संघटन
(३) और (दान) दुर्बलोंकी सहायता।

प्रत्येक यज्ञमें ये तीन कार्य होने ही चाहिये। इनके विना यज्ञ सुफल और सफल नहीं होगा। मनका और आत्माका समर्पण करके जो यज्ञ करना है, वह भी इन तीन कर्मोंके साथही है। मानो, इनके विना यज्ञ ही नहीं होगा। अर्थात्—

(१) सज्जनोंकी रक्षा करके उनका सत्कार करना, (२) दुर्जनोंको दण्ड देकर दूर करना और पुनः दुर्जन कष्ट न देवें इस लिये अपनी उत्तम संघटना करना, और (३) धर्मकी व्यवस्था करके जो दुर्बल होंगे उनकी योग्य सहायता करना, यह त्रिविध यज्ञकर्म है।

यह त्रिविध कर्म अपने मनःसमर्पण और आत्मसमर्पण द्वारा करना चाहिये। यहां पाठक जानते हैं कि, जिस कार्यमें मन और आत्मा लग जाता है वही कार्य ठीक हो जाता है। अपने हस्तपादादि अवयव और इंद्रिय मनके विना कार्य नहीं कर सकते मन और आत्माके समर्पण करनेका उपदेश करनेसे अपनी शक्तियोंका समर्पण हुआ, ऐसा ही मानना चाहिये। इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें कहा है कि—

अमर्त्येन मनसा हविषा देवान् यजन्त। (मं० ३)

"अमर मन रूपी हविसे देवोंका यजन करते हैं।" घीका हवन करनेका अर्थ भी उस देवताके लिये समर्पित करना और उसका स्वयं उपभोग न करना। "इन्द्राय इदं हविः दत्तं न मम।" इन्द्र देवताके लिये यह घृतादि हवि समर्पित किया है इस पर अब मेरा अधिकार नहीं है और न मैं इसका अपने सुखके लिये उपयोग करूंगा। इसी प्रकार अपने मन और आत्माके समर्पण करनेका तात्पर्य ही यज्ञ है। अपना मन और आत्मा परमेश्वर के लिये दिया, उससे अब खुदगर्जीके कार्य नहीं किये जांयगे। जो पूर्वोक्त ईश्वरके कार्य हैं, वेही किये जांयगे। जिस प्रकार घृतादि पदार्थ यज्ञमें दिये जाते हैं, उसी प्रकार इस मानस-यज्ञमें मनका समर्पण किया जाता है और आत्मयज्ञमें आत्मसर्वस्वका समर्पण किया जाता है। अन्य घृतादि बाह्य पदार्थोंका समर्पण करने द्वारा जो यज्ञ किया जाता है, उससे कई गुणा श्रेष्ठ वह यज्ञ होगा कि, जो आत्मसमर्पण और मानस समर्पण से होगा। इसी लिये कहा है कि—

तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। (मं १)

"ये मानस यज्ञरूप कर्म प्रथम श्रेणीके हैं।" अर्थात् ये सबसे श्रेष्ठ कर्तव्य हैं। एक मनुष्य घृत, समिधा आदिके हवनसे यज्ञ करता है और दूसरा आत्मसमर्पणसे यज्ञ करता है, इन दोनोंमें आत्मसमर्पण करनेवालाही श्रेष्ठ है। इसका वर्णन इस सूक्तमें इन शब्दोंसे हुआ है—

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद्विहव्येनेजिरे ॥ (मं० ४)

"याजक लोग जो यज्ञ (अपने अंदरके प्रकृति पुरुषों में से) पुरुष अर्थात् आत्माके समर्पण द्वारा किया करते हैं, उससे कौनसा दूसरा यज्ञ श्रेष्ठ है, जो दूसरे यज्ञ (आत्मा. से भिन्न) प्राकृतिक पदार्थोंके समर्पणसे किये जाते हैं ? वे तो उससे निःसन्देह गौण हैं। मनुष्यके पास प्रकृति और पुरुष, जड और चेतन, देह और आत्मा ये दोही पदार्थ हैं, इनमें पुरुष अथवा चेतन आत्मा श्रेष्ठ और प्रकृति गौण है। अन्य यज्ञ प्राकृतिक पदार्थोंके समर्पणसे होते हैं इस लिये वे गौण हैं, और यह मानसिक अथवा आत्मिक यज्ञ आत्मसमर्पण द्वारा होता है, इसलिये वह श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ यज्ञ तो ज्ञानी याजक ही कर सकते हैं, साधारण हीन अवस्थामें रहे मूढ मनुष्य जो करते हैं, वह तो एक निन्दनीय ही कर्म होता है, देखिये-

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरंगैः पुरुधायजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ (मं ५)

" मूढ याजक कुत्तेके अंगोंसे और गौवोंके अवयवोंसे यजन करते हैं। " मूढ लोगोंके इस कृत्यको मूढताकाही कृत्य कहा जाता है। इसको कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं कह सकते। " जो श्रेष्ठ याजक इस आत्मयज्ञको मनसे करनेकी विधि जानते हैं, वेही यहां आकर उस यज्ञका उपदेश करें। " पूर्वोक्त मांसयज्ञकी अपेक्षा यह मानस यज्ञ बहुत श्रेष्ठ है। जो मानसयज्ञ करना जानते हैं वेही उपदेश करनेके अधिकारी हैं। इस मानसयज्ञकी महिमा देखिये-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ (मं०१)

" इस आत्मयज्ञसे याजक परमात्माकी पूजा करते हैं। आत्मयज्ञद्वारा परमात्मपूजा करना श्रेष्ठ कार्य है। ये याजक श्रेष्ठ होकर उस स्वर्गधाममें पहुंचते हैं कि, जहां पहिले साधन करनेवाले पहुंच चुके हैं। " इस प्रकार इस आत्मयज्ञकी महिमा है। किसी दूसरे गौण यज्ञसे यह श्रेष्ठ फल प्राप्त नहीं हो सकता। यह आत्मयज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ है, इस विषयमें मंत्र देखिये-

यज्ञो बभूव, स आबभूव, स प्रजज्ञे, स उ वावृधे पुनः।
स देवानामधिपतिर्बभूव, सोऽस्मासु द्रविणमादधातु ॥ (मं०२)

" यह आत्मयज्ञ प्रकट हुआ, यह आत्मयज्ञ सर्वत्र फैल गया, उसके महत्त्वको

सबने जान लिया, इस कारण वह बढ गया, यहांतक बढगया कि वह देवोंका भी अधिपति बनगया, उससे हमें महत्त्व प्राप्त होवे ।"

यह सबसे श्रेष्ठ आत्मयज्ञही हमारा महत्त्व बढानेमें समर्थ है । इसकी तुलना किसी दूसरे गौण यज्ञसे नहीं होसकती । इस यज्ञमें (मनसा हविषा यजन्त । (मं० २) मनरूप हवि का समर्पण करना होता है । और इस यज्ञ के करनेसे-

तत्र परमे व्योमन् मदेम । (मं० ३)

'उस परम आकाशमें हम आनन्दको प्राप्त होंगे' यह इस यज्ञके करनेका फल है । इसमें 'परम' शब्द विशेष मनन करने योग्य है । "पर, परतर, परतम" ये शब्द एकसे एक श्रेष्ठत्वके दर्शक हैं, इनमेंसे "परतम" शब्दका ही संक्षिप्त रूप 'पर-म' है, बीचके 'त' कारका लोप हुआ । अर्थात् जो सबसे श्रेष्ठ होता है वह 'परतम किंवा परम' है। इस अवस्थाके पूर्वकी दो अवस्थाएँ पर और परतर इन दो शब्दों द्वारा बतायी जाती हैं। अर्थात् व्योम तीन प्रकारके हैं (१)एक पर व्योम, (२) दूसरा परतर व्योम और (३) तीसरा परतम किंवा परम व्योम । आधुनिक परिभाषामें यदि यही भाव बोलना हो तो 'सूक्ष्म, कारण और महाकारण' अवस्था इन तीन शब्दोंसे 'पर, परतर और परतम व्योम' इनका भाव व्यक्त होता है। 'व्योमन्' शब्द भी विशेष महत्त्व का है। इसमें 'वि+ओम्+अन्' ये तीन शब्द हैं, इनका क्रमपूर्वक अर्थ 'प्रकृति+परमात्मा और जीवात्मा' यह है । सूक्ष्म, कारण और महाकारण अवस्थाओंमें प्रकृति जीव और परमात्माका जो अनुभव होता है वह इन तीन शब्दोंसे व्यक्त होता है । इन तीन अनुभवोंमें सबसे श्रेष्ठ अनुभव 'परम व्योम' शब्दसे व्यक्त होता है । और यह इस सूक्तमें कहे आत्मयज्ञके करनेसे प्राप्त होता है । अन्य गौण यज्ञोंके करनेसे जो अनुभव मिलेंगे वे इससे न्यून श्रेणीके अर्थात् गौण होंगे क्योंकि, वे अन्य यज्ञ भी इस आत्मयज्ञसे गौण ही हैं । गौण का फल गौण और श्रेष्ठ कर्मका फल श्रेष्ठ होना स्वाभाविक ही है । इस आत्मयज्ञके करनेसे जो परम व्योममें उच्चतम अवस्था प्राप्त होकर फल अनुभवमें आता है । वह कैसा अनुभव हो इस विषयमें एक दृष्टांत देते हैं-

सूर्यस्य उदितौ तत् पश्येम । (मं० ३)

" सूर्यका उदय होनेपर जैसा उसका प्रकाश दिखाई देता है, उसी प्रकार हम उस आनन्दका प्रत्यक्ष अनुभव लेंगे । अर्थात् जैसा सूर्यप्रकाश भूमिपर रहनेवालोंको दिनमें प्रत्यक्ष होता है, उस प्रकार इस तृतीय व्योममें संचार करनेवाले श्रेष्ठ आत्माओंको वहांका सुख प्रत्यक्ष होता है । जैसा यहां का यह सूर्य प्रत्यक्ष है उसी प्रकार वहां भी

एक इस सूर्यका सूर्य होगा और वह वहां प्रत्यक्ष ही होगा।

इस प्रकार आत्मयज्ञका फल इस सूक्तमें कहा है। इस सूक्तमें (पुरुषेण हविषा। मं० ४) पुरुष अर्थात् आत्मारूपी हविसे यज्ञ तथा (मनसा हविषा। मं० ३) मन रूपी हविसे यज्ञ करनेका विधान है। जिस प्रकार 'सोम' का हवन होनेसे 'सोमयाग' कहा जाता है, अज संज्ञक बीजोंका हवन होनेसे 'अजमेध' कहा जाता है, उसी प्रकार 'पुरुष' अर्थात् आत्माका समर्पण होनेसे 'पुरुषयज्ञ, आत्मयज्ञ' तथा 'मन' का हवन होनेसे 'मानस यज्ञ' कहा जाता है। उसी प्रकार भगवद्गीता (भ० गी० अ०४) में 'द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, इंद्रिययज्ञ, विषययज्ञ, कर्मयज्ञ, योगयज्ञ, प्राणयज्ञ' इत्यादि यज्ञ कहे हैं। जिस यज्ञमें जिसका समर्पण होता है वह नाम उस यज्ञका होता है।

"पुरुष" रूपी हविका समर्पण होनेसे इस सूक्तमें वर्णित यज्ञको 'पुरुषयज्ञ' कहते हैं। यहां प्रकृतिपुरुषान्तर्गत पुरुष शब्द यहां विवक्षित है और वह आत्माका वाचक है। इस सूक्तमें 'पुरुषयज्ञ अथवा पुरुषमेध' का अर्थ स्पष्ट हुआ है। यह इस स्पष्टीकरणसे विशेष लाभ हुआ है और इसीलिये इस सूक्तका थोडासा अधिक स्पष्टीकरण यहां किया है।

पुरुषमेध।

पुरुषमेध प्रकरण पुरुषसूक्तमें है। यह पुरुष सूक्त ऋग्वेद (मं०१०।९०) में है, वा० यजुर्वेद (अ० ३०) में है। सामवेदमें थोडा है और अथर्ववेद (कां १९।६) में है।

इस पुरुषसूक्तमें जिस पुरुषमेध यज्ञ का वर्णन है, वही यज्ञ इस सूक्तमें कहा है। इस लिये इस सूक्त का विचार ठीक प्रकार होनेसे 'पुरुषसूक्त' के यज्ञका स्वरूप उत्तम प्रकार ध्यानमें आसकता है। दोनों सूक्तों में एकही विषयका वर्णन हुआ है। तथा इस सूक्तमें आये "यज्ञेन यज्ञमयजन्त०' तथा 'यत्पुरुषेण हविषा०' ये मंत्रभी पुरुष सूक्तमें आगये हैं। इससे दोनों सूक्तोंका विषय एकही है, यह बात सिद्ध होगी। पुरुषसूक्तमें कई लोग मनुष्य हवन का विषय है ऐसा मानते हैं, वह अत्यंत अयुक्त है, यह बात इस सूक्तके साथ पुरुष सूक्त का मनन करनेसे स्पष्ट होगी। हमारे मतसे पुरुषसूक्तमें भी इसी आत्मयज्ञकाही विषय है।

मातृभूमिका यश ।

[६ (७)]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-अदितिः)

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥१॥
म॒हीमू॒ षु मा॒तरं॑ सुव्र॒तानां॑मृ॒तस्य॒ पत्नी॒मव॑से हवामहे ।
तु॒वि॒क्ष॒त्राम॒जर॑न्तीमुरू॒चीं सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् ॥ २ ॥

अर्थ- (अदितिः द्यौः) मातृभूमि स्वर्ग है, (अदितिः अन्तरिक्षं) मातृभूमि अन्तरिक्ष है, (अदितिः माता) मातृभूमि ही माता है, (सः पिता सः पुत्रः) वही पिता है और वही पुत्र है । (अदितिः विश्वेदेवाः) मातृभूमि ही सब देव हैं,(अदितिः पञ्च जनाः) मातृभूमि ही पांच प्रकार-के लोग हैं । (अदितिः जातं) मातृभूमि ही उत्पन्न हुए पदार्थ हैं और (अदितिः जनित्वं) उत्पन्न होनेवाले पदार्थ भी मातृभूमि ही है ॥ १ ॥

(सुव्रतानां मातरं) उत्तम कर्म करनेवालोंका हित करनेवाली, (ऋतस्य पत्नीं) सत्यका पालन करनेवाली, (तुवि-क्षत्रां) बहुत प्रकारसे क्षात्र तेज दिखानेवाली, (अ-जरन्तीं) क्षीण न करनेवाली,(उरूचीं) विशाल, (सु-शर्माणं) उत्तम सुख देनेवाली, (सु-प्र-नीतिं) सुखसे योगक्षेम चलानेवाली और (अदितिं महीं) अन्न देनेवाली बडी मातृभूमिकी (अवसे सुहवामहे उ) रक्षाके लिये प्रशंसा करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मातृभूमिही हमारा स्वर्ग है, वही अन्तरिक्ष है, वही माता, पिता और पुत्रपौत्र है, वही हमारी सब देवताएं हैं और वही हमारी जनता है, बना हुआ और बननेवाला सब कुछ हमारे लिये मातृभूमि ही है ॥ १ ॥

मातृभूमि उत्तम पुरुषार्थी मनुष्योंकी रक्षा करती है, सत्यकी रक्षक वही है, उसी मातृभूमिके लिये अनेक प्रकार के क्षात्रतेज प्रकाशित होते हैं, मातृभूमि क्षीण न करनेवाली है, विशाल सुख देनेवाली है, हमें उत्तम मार्गपर चलानेवाली और हमें अन्न देनेवाली है, उससे हमारी रक्षा होती है, इसलिये हम उसका यश गाते हैं ॥ २ ॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥ ३ ॥
वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।
यस्या उपस्थ उर्व१न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात् ॥ ४ ॥

अर्थ–(सुत्रामाणं उत्तम रक्षा करनेवाली, (द्यां अनेहसं) प्रकाशयुक्त और अहिंसक, (सुशर्माणं सुप्रणीतिं) उत्तम सुख देनेवाली और उत्तम योगक्षेम चलानेवाली (सुअरित्रां अस्रवन्तीं दैवीं नावं) उत्तम बल्लियों-वाली, न चूनेवाली दिव्य नौका पर चढनेके समान (पृथिवीं) मातृभूमि पर (स्वस्तये आरुहेम) कल्याणके लिये हम चढते हैं ॥ ३ ॥

(वाजस्य प्रसवे) अन्नकी उत्पति करनेके लिये (अदितिं मातरं महीं) अन्न देनेवाली बडी मातृभूमिका (नाम वचसा करामहे) वक्तृत्वसे यश गाते हैं। (यस्याः उपस्थे उरु अन्तरिक्षं) जिसकी गोदमें विशाल अन्त-रिक्ष है, (सा नः त्रिवरूथं शर्म नियच्छात) वह मातृभूमि हम सबको त्रिगुणित सुख देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— उत्तम बल्लियोंवाली न चूनेवाली नौकाके ऊपर चढनेके समान हम उत्तम रक्षक, तेजस्वी, अविनाशक, सुखदायक, उत्तम चालक मातृभूमिके ऊपर हम अपने कल्याण के लिये उन्नत होते हैं ॥ ३ ॥

अन्नकी उत्पत्ति करनेके लिये अन्न देनेवाली मातृभूमिका यश हम गायन करते हैं। जिसके ऊपर यह बडा अन्तरिक्ष है, वह मातृभूमि हमें उत्तम सुख देवे ॥ ४ ॥

मातृभूमिका यश ।

इस सूक्तमें मातृभूमिका यश वर्णन किया है। मातृभूमि सचमुच उत्तम कल्याण करनेवाली है, इसका वर्णन देखिये—

१ अदितिः=(अदनात् अदितिः) अदन अर्थात् भक्षण करनेके लिये अन्न देती है। अपनी मातृभूमि हमें अन्न देती है, इसीलिये हमारा (द्यौः) स्वर्गधाम वही है। हमारी माता पिता भी वही है, क्यों कि माता पिताके समान मातृभूमि हमारी पालना करती है। पुत्रादि भी वही है, क्यों कि (पुनाति त्रायते) हमें पवित्र करनेवाली और

हमारी रक्षा करनेवाली वही है। इसके अतिरिक्त वह पुष्टी करती है और उस कारण हमें संतति उत्पन्न होती है, इसलिये वह उसीकी दयासे होती है, ऐसा मानना युक्तियुक्त है। हमारे त्रिलोकी के सुख मातृभूमिके कारण ही हमें प्राप्त होते हैं। (मं० १)

२ विश्वेदेवाः अदितिः = सब देवताएं हमारे लिये हमारी मातृभूमि है। अर्थात् मातृभूमिकी उपासनासे सब देवताओंकी उपासना करनेका श्रेय प्राप्त होता है। (मंत्र१)

३ पञ्चजनाः अदितिः = हमारी मातृभूमी ही पांच प्रकारके लोग है। ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कारीगर और अशिक्षित ये पांच प्रकारके लोग प्रत्येक राष्ट्रमें रहते हैं। मातृभूमि इन्हींसे पूर्ण होती है, इस लिये कहा जाता है कि, मातृभूमि ये पांच प्रकारके लोग हैं और ये पांच प्रकारके लोग ही मातृभूमि है। अर्थात् मातृभूमि का अर्थ इन पांच प्रकारके लोगोंके साथ अपनी भूमि है। (मं०१)

४ जातं जनित्वं अदितिः = पूर्व कालमें बना और भविष्यमें बननेवाला सब मातृभूमिमें ही रहता है। पूर्वकालमें हमने वर्ताव कैसा किया यह भी मातृभूमिकी आजकी अवस्था से पता लग सकता है और मातृभूमिकी अवस्था भविष्य कालमें कैसी होगी, यह भी आजके हमारे व्यवहार से समझमें आसकता है। (मं०१)

५ सुव्रतानां माता = उत्तम सत्कर्म करनेवाले मनुष्यों को यह मातृभूमि माताके समान हित करनेवाली है। (मं०२)

६ ऋतस्य पत्नी = सत्यव्रतका पालन करनेवाली अर्थात् सत्यानिष्ठ रहनेवालोंका पालन करनेवाली मातृभूमि है। (मं०२)

७ तुविक्षत्रा = जिसके कारण विविध शौर्य करनेके लिये उत्साह उत्पन्न होता है, ऐसी यह मातृभूमि है। (मं० २)

८ अजरन्ती = जो इसकी भक्ति करते हैं उनको यह क्षीण, दीन और अशक्त नहीं बनाती है। (मं० २)

९ सुशर्मा = उत्तम सुख देनेवाली मातृभूमि है। (मं० २-३)

१० सुप्रणीतिः = (सु-प्र-नीतिः) उत्तम मार्गसे चलानेवाली, उत्तम अवस्था को पहुंचानेवाली मातृभूमि है। (मं० २—३) नीति शब्द यहां चलानेके अर्थ में है।

११ अनेहस् = (अहननीया) जो घातपात करने अयोग्य अथवा जो घातपात नहीं करती है, ऐसी मातृभूमि है। (मं० ३)

१२ स्वस्तये आरुहेम = हमारा कल्याण होनेके लिये हम अपनी मातृभूमी में रहते हैं। मातृभूमिमें न रहे तो हमारा कल्याण नहीं होगा। जो अपनी मातृभूमिमें

रहते हैं उनका कल्याण होता है। (मं० ३)

१३ स्वरित्रा अस्रवन्ती दैवी नौः = जिस प्रकार उत्तम बल्लियोंवाली न चूनेवाली, दिव्य नौका समुद्रसे पार करनेमें सहायक होती है, उसी प्रकार यह मातृभूमी हमें दुःखसागरसे पार करनेके लिये दिव्य नौकाके समान है। (मं० ३)

१४ वाजस्य प्रसवे मातरं महीं वचसा नाम करामहे = अन्न की विशेष उत्पत्ति करनेके कार्यमें हम सब मातृभूमिका यश वाणीसे गान करते हैं। मातृभूमि हमें बहुत अन्न देती है, इस कारण उसकी हम बहुत प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार मातृभूमिका गीत गाना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। (मं० ४)

१५ सा नः त्रिवरूथं शर्म नियच्छात्—वह मातृभूमि हमें तीन गुणा सुख देती है। अर्थात् स्थूल शरीरका, इन्द्रियोंका और मनका सुख इस प्रकार यह त्रिविध सुख देती है। (मं० ४)

इस सूक्तमें मातृभूमिका गुणवर्णन किया है। यह प्रत्येक मनुष्यको ध्यानमें धारण करने योग्य है। मनुष्यके लिये मातापिता मातृभूमि ही है। इसीलिये जन्मभूमिको 'मातृभूमि' तथा 'पितृदेश' भी कहते हैं। इसी प्रकार पुत्रभूमि भी यही है। उत्तम पुरुषार्थी लोगोंके लिये यही स्वर्गधाम होता है अर्थात् पुरुषार्थ न करनेवालोंके लिये यह नरक होजाता है। इसका कारण मनुष्योंका गुण या दोष ही है। मातृभूमि ही मनुष्योंका सर्वस्व है। अतः सब लोग अपनी मातृभूमिकी उचित रीतिसे भक्ति करें और उन्नतिको प्राप्त करें।

अदिति शब्द।

'अदिति' शब्द वेदमें कई स्थानोंमें विलक्षण अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। एक अदिति शब्द " अद=भक्षण करना " इस धातुसे बनता है। इसका अर्थ 'अन्न देनेवाली' ऐसा होता है। यह शब्द इस सूक्तमें है। ' गौ ' अदिति है क्योंकि वह दूध देती है, भूमि अदिति है क्यों कि वह अन्न, धान्य, वनस्पति आदि देती है, द्यौ अदिति है क्यों कि द्युलोकसे जल वर्षता है और उससे अन्नपान मनुष्योंको मिलता है। इस प्रकार अन्न देनेवालेके अर्थमें यह अदिति शब्द है। परन्तु इसका दूसरा भी अर्थ है अथवा मानो वह अदिति शब्द दूसराही है। वह (अ+दिति) जो दिति अर्थात् खण्डित अथवा प्रतिबंधयुक्त नहीं वह अदिति ' स्वतन्त्रता ' है। ये दो शब्द परस्पर भिन्न हैं। इनमें पहिला शब्द इस सूक्तमें प्रयुक्त है। इसका पाठक स्मरण रखें।

मातृभूमिके भक्तोंका सहायक ईश्वर।

[७ (८)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता-अदितिः)

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम् ।
तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥ १ ॥

अर्थ— (दितेः) प्रतिबंधताके (तेषां पुत्राणां) निर्माता उन पुत्रोंका (धाम समुद्रियं गभिषक् हि) निवास समुद्र के गंभीर स्थानमें है। वहांसे उनको (अदितेः बृहतां अनर्मणां देवानां) स्वाधीनतासे युक्त मातृभूमिके बडे अहिंसाशील दैवी गुणोंसे युक्त सुपूतोंके लिये (अव अकारिषं) हटाता हूं। क्यों कि (एनान् मनसा परः) इनसे मनसे अधिक योग्य (कश्चन न अस्ति) कोई भी नहीं है ॥ १ ॥

भावार्थ— पराधीनता फैलानेवाले राक्षस अथवा असुर समुद्रके मध्यमें अतिगंभीर स्थानमें रहते हैं। वहांसे उनको हटाता हूं और मातृभूमिकी स्वाधीनता संपादन करनेवाले श्रेष्ठ दैवी गुणोंसे युक्त अहिंसाशील सज्जनोंको योग्य स्थान करता हूं। क्यों कि इन सज्जनोंसे कोई दूसरा अधिक योग्य नहीं है।

दिति और अदिति।

दिति और अदिति शब्दोंके अर्थ विशेष रीतिसे यहां देखने चाहिये। कोशोंमें इन शब्दोंके अर्थ निम्नलिखित प्रकार मिलते हैं—

(१) अदिति=स्वतन्त्रता,स्वातंत्र्य, मर्यादा न रहना, अमर्याद, अखण्डित; सुखी, पवित्र; पूर्णत्व; वाणी, पृथ्वी, गौ, देवमाता इत्यादि अर्थ अदितिके हैं।

(२) दिति= खण्डित, पराधीनता, मर्यादित; दुःखी, अपवित्र, अपूर्णत्व; राक्षस-माता ये अर्थ दितिके हैं।

अदितिकी प्रजा ' देवता ' हैं और दितिकी प्रजा ' राक्षस ' हैं। यह सब महाभार-

तादि ग्रंथोंमें वर्णन हुआ हुआ विषय है। इस सूक्तमें (दितेः पुत्राणां) दितिके पुत्रोंका स्थान अर्थात् राक्षसोंका स्थान नाश करके देवोंको सुख देता हूं, ऐसा परमेश्वर द्वारा कहा गया है। दितिके पुत्रोंका स्थान समुद्रमें गहरे स्थानमें है, यह एक उस स्थानके प्रवेश योग्य न होनेकी बात है। वस्तुतः राक्षस जैसे समुद्रमें रहते हैं वैसे भूमिपर भी रहते हैं। गीतामें राक्षसोंके गुणोंका वर्णन इस प्रकार है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।

भ० गी० १६।४

" दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान ये राक्षसगुण हैं। " अर्थात् राक्षस वे हैं कि जो दंभी, घमण्डी, अभिमानी, क्रोधी, कठोर और अज्ञानी अर्थात् बन्धमुक्त होनेका ज्ञान जिनको नहीं है, ऐसे लोग राक्षस होते हैं। ये ऐसे हैं इसीलिये इनके व्यवहार से पारतन्त्र्य दुःख आदि फैलते हैं और जो इनकी सङ्गतमें आते हैं, वे भी पराधीन बनते हैं। इसीलिये मन्त्रमें कहा है कि, ऐसे दुष्टोंको मैं उखाड देता हूं और देवोंका स्थान सुदृढ करता हूं।

अदितिके पुत्र देव हैं। परमेश्वर इनकी सहायता करता है। राक्षसोंका दूर करना भी इसीलिये है कि, वहां देव सुदृढ बनें। दैवी गुण ये हैं—

" निर्भयता, पवित्रता, बन्धमुक्त होनेका ज्ञान, दान, इंद्रियदमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, भूतोंपर दया, अलोभ, मृदुता, बुरा कर्म करनेके लिये लज्जा, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, शुद्धता, अद्रोह, घमण्ड न करना इत्यादि गुण देवोंके हैं। (भ० गी० १६। १–३) ये गुण जिनमें बढ गये हैं वे देव हैं। ये देवही स्वतन्त्रता स्थापन करनेका कार्य करते हैं।

परमेश्वर राक्षसवृत्तिवाले लोगोंका अन्तमें नाश करता है इसका कारण यही है कि, वे जगत्में पराधीनता और दुःख बढाते हैं। और वह दैवीवृत्तिवालोंकी सहायता इसीलिये करता है कि, वे देव जगत्में स्वातन्त्र्य वृत्ती फैलाते हैं और सबको सुखी करनेमें दत्तचित्त रहते हैं। इसलिये मन्त्रमें कहा है कि (एनान् परः कश्चन नास्ति) इन देवोंसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। इसीलिये ईश्वरकी सहायता इनको मिलती है। यह विचार करके पाठक अपने अन्दर दैवी गुण बढाकर निर्भय बनें और ईशसहायता प्राप्त करें।

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	- १)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	,, ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	॥) "	।)
१२ राजधर्मपर्व	[७७–८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
१३ आपद्धर्मपर्व	[८४–८५]	५	२३२	१।) सवा	।-)

कुल मूल्य ४६।) कुल डा. व्य. ८।=)

सूचना — ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

ॐ

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ११

अंक ९

क्रमांक १२९

भाद्रपद

संवत् १९८७

सितंबर

सन १९३०

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष ११

अंक ९

क्रमांक १२९

वैदिक धर्म.

भाद्रपद

संवत् १९८७

सितंबर

सन १९३०

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र ।

संपादक — श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।

स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

दुःखसे पार करनेवाला !

त्वमपो यदवे तुर्वशायारमयः सुदुघाः पार इन्द्र ।

उग्रमयातमवहो ह कुत्सं सं ह यद्वामुशनारन्त देवाः ॥ १७ ॥

ऋग्वेद ५।३१।८

"हे (इन्द्र) प्रभो ! (त्वं पारः) तू सबको दुःखसे पार करनेवाला है। तू (तुर्-वशाय यत्-अवे) त्वरासे वश होनेवाले और अपने प्रयत्नसे अपनी रक्षा करनेवाले मनुष्यको (सुदुघाः अपः) उत्तम दोहने योग्य रस देकर (अरमयः)आनन्दित करता है। वह भक्त और तू देव ऐसे तुम दोनों मिलकर (यत् उग्रं अवयात) जब शत्रुपर चढाई करके शत्रुका नाश करते हैं और उस शत्रुद्वारा (कुत्सं सं अवहः ह) निंदित होनेवाले सज्जनको उत्तम पदपर चढाते हैं, तब (देवाः) सब देव, और (उशना वां अरन्त) कवि ये सब तुम्हें देखकर आनंदित होते हैं ॥ "

ईश्वर सबको दुःखसे पार करनेवाला है। जो मनुष्य उसकी भक्ती करता है, और अपने आपको देवकार्य के लिये समर्पित करता है, और अपने प्रयत्नसे अपनी रक्षा करनेका यत्न करता है, उसको हर एक प्रकारसे ईश्वर का सहाय्य होता है। भक्त और देव इकट्ठे होने के बाद शत्रु कितनाही प्रबल हुआ तो भी वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। जिसकी निन्दा कारण के विना लोग करते हैं, वह ईशभक्तिसे ही उत्तम यश कमाता है। इस लिये सब कवि और तेजस्वी लोग देव और उसके भक्तको देखकर आनंदित होते हैं।

बलभीम हनुमान ।

हनुमान की भक्ति यों तो अखिल हिन्दू लोग करते हैं। परन्तु दक्षिण के हिन्दुओं में यह भक्ति विशेष है। इतिहास जानता है कि श्री समर्थ रामदासजीने श्री रामचन्द्र की भक्ति और हनुमानजी की भक्ति का प्रचार महाराष्ट्र में किया और नवचैतन्य उत्पन्न कर दिया। दक्षिण में और उसमें भी विशेषतः कानडी प्रदेश में हनुमानजी के मंदिर जैसे प्रचण्ड और भव्य हैं, वैसे वे अन्य प्रान्तों में नहीं हैं। इसका क्या कारण है? यह प्रश्न विचारणीय है कि, दक्षिण में हनुमान का भजन पूजन अधिक क्यों होना चाहिए और उत्तर में उतना क्यों नहीं होना चाहिए। आर्यों के पराक्रम के इतिहास में हनुमानजी का कौनसा स्थान है? उन्होंने किसके लिए क्या किया? इसका इतिहास की दृष्टि से मनन करना चाहिए।

हनुमज्जयन्ती को हनुमानजी के प्रत्येक मन्दिर में हरिकीर्तन हुआ करता है। इन हरिकथाओं में इतिहासदृष्टि नहीं रहती। अतएव इनमें इतिहास मालूम होना संभव नहीं। तब यदि कहें कि, आर्यों के दिग्विजय में हनुमानजी का जो कार्य हुआ है उसका हाल बहुतेरे नहीं जानते, तो यह कथन असत्य न होगा।

जब से पादरी लोग हिंदुस्थान में आए, तबसे उन्होंने हमारे देवों की निंदा आरंभ कर दी और इस प्रकार उन्होंने अपनी दानवी बुद्धि प्रकट की है। इन्ही लोगों ने हमारे हनुमानजी को (Monkey-god) बन्दर-देव कहना आरंभ किया। अंग्रेज लोगों को हिंदुस्थानी लोग बन्दर या रीछ दिखाई देते हैं। कई अखबारों में प्रसिद्ध हुआ है कि, ऐसी समझ के कारण कई अंग्रेजों ने हिन्दुस्थानियों पर, पशु समझकर, गोलियां बर्साई। इन्ही अंग्रेजों के पादरी हिन्दुओं के पूजनीय देवों को यदि बन्दर कहने लगें तो वह उनकी अकल की बलहारी ही है! स्वतः को मानवी धर्म का बिलकुल ज्ञान न रहते धर्म-प्रसार का जाल फैलाने वाले ये पादरी इससे अधिक अच्छा कार्य कर ही नहीं सकते। परन्तु इन पादरियों के शब्दों पर विश्वास कर जब हम लोगों में से कुछ हनुमान जी को बन्दर-देव कहने लगते हैं तब इन दिवाभीतों की दया आती है।

किसी विशेष कारण के बिना बन्दर जैसे पशु की महत्ता इतनी बढना संभव नहीं और उसके लिए इतने मन्दिर बनना और उसकी भक्ति ऐसी बढना भी संभव नहीं। भक्ति उत्पन्न होने के लिए जड में कोई महान् कार्य की आवश्यकता होती है। महत् कार्य के बिना कोई भी किसी की पूजा करने को तैयार नहीं होगा। स्वयं श्रीरामचन्द्रजी और श्रीकृष्णचन्द्रजी की उपासना का कारण उनके असामान्य पराक्रम में स्थित है। तब श्रीरामचन्द्रजी के एक सेनापति की ऐसी भारी भक्ति का कारण उसके किसी विशेष कार्य में होना स्पष्ट ही है। अब यह देखने के लिए कि, हनुमानजी का कार्य कितना महत्त्वपूर्ण है उस समय की देशस्थिति एवं राजनैतिक परिस्थिति देखना आवश्यक है। उस समय की परिस्थिति का ठीक ज्ञान हुए बिना हनुमानजी के कार्य का महत्त्व नहीं जान सकते।

पहले देखना आवश्यक है कि, हनुमानजी के जन्म के पूर्व भारतीय देश और पास के प्रांतों की रचना कैसी थी और उनका परस्पर संबंध किस प्रकार का था। त्रिविष्टप देश अर्थात् वर्तमान तिब्बत देश 'देव' नाम की जाति का निवासस्थान

था। इसके पूर्व में हिमालय में 'भूत' जाति के लोग रहते थे। जिसे भूतान या भूतस्थान कहते हैं वह इन्हीं लोगों का देश है। हिमालय के इस पहाडी प्रदेश में काश्मीर से बंगाल तक क्रमसे पिशाच गुह्यक, सिद्ध, गंधर्व, किन्नर, भूत जातियों के देश थे। 'किन्नर' जाति के देश को आजकल 'किन्नौर' कहते हैं और वहां के निवासियों को किनौरी कहते हैं। भूत लोगों को आजकल भूतिया कहते हैं और उनके देश को भूतान। पिशाच आदि मानव जातियां आजकल विद्यमान नहीं हैं परन्तु पैशाची भाषा के ग्रंथ विद्यमान हैं। अतः इन लोगों का अस्तित्व मानने के लिए काफी आधार है। तिब्बत में 'देव' जाति के लोग और हिमालय में 'किन्नर' आदि जातियां रहती थीं। ये गुह्यकादि जातियां 'देवयोनि' याने देवों का वीर्य और हिमालय की जातियों का रज इनसे उत्पन्न हुई मिश्र जातियां थीं। आर्यावर्त में अर्थात् विंध्याचल और हिमालय के बीचके प्रदेश में आर्यों के राज्य थे। दक्षिण हिन्दुस्थान में हंपीविरूपाक्ष के आसपास वानर जाति के लोगों का राज्य था और कोंकन में सर्प जाति के लोगों का राज्य था। वानर जाति का राज्य बहुत बडा और अत्यंत बलवान था। एक समय वालिराजाने रावन जैसे असुर राजा को हराकर कैद किया था। इससे वानर जाति के राजाओं की शक्ति की कल्पना अच्छी तरह से हो सकती है। आज कल के कोंकनके मराठे सर्प जाति के हैं क्यों कि प्राचीन काल की सर्पजाति के उपनाम उनमें अबभी प्रचलित हैं। अतएव आज भी बतलाया जा सकता है कि अमुक लोग सर्प जाति के हैं। इससे विहित होगा कि 'सर्प' और 'वानर' ये मनुष्यों की ही जातियां थीं। जो लोग 'सर्प' से सांप समझते हैं और 'वानर' से बन्दर समझते हैं, वे आज मराठों के उपनामों को इतिहास की दृष्टिसे देखें, तब प्राचीन सर्पजाति के नामों को देखकर उन्हें निश्चय होगा कि, ये नाम मानव जातियों के हैं और हमारा कथन सत्य है।

तिब्बत के पश्चिम में असुर, रक्षस्, दानव आदि लोगों के देश थे। देव और असुरों में सदैव युद्ध हुआ करते थे। इसीलिए देववाणी में 'असुर' शब्द क्रूर अर्थ से आता है और असुर भाषा में 'देव' शब्द क्रूर और दुष्ट अर्थ से प्रयुक्त है। सदैव लडाइयां होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक है।

हनुमानजी के जन्म के समय इतनी जातियों का परस्पर संबंध था। इसी समय हिन्दुस्थान के दक्षिण में लंका द्वीप में रावण ने अपना राज्य जमाया था और वहां के असली देवराजा कुबेर को भगा दिया था। कुबेर हार कर हिमालय के मूल प्रदेश में रहने लगा। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि, रावण ने देवजाति का समुद्री प्रभुत्व नष्ट कर दिया और उनके कुबेर नामक सरदार को समुद्री द्वीपोंसे भगा दिया। यही नहीं लंका से नासिक तक का सर्प और वानर जाति का प्रदेश रावण ने उजाड दिया। नासिक की छावनी में रावण की सेना अड्डा जमाकर रहने लगी। और उनकी देखभाल मारीच और सुबाहू नामके दो प्रसिद्ध सेनापति करने लगे।

नासिक तक का प्रदेश रावण के अधीन होने के पूर्व उस प्रदेश में वानर जाति का बडा राज्य था। वे लोग राक्षसों की अपेक्षा पराक्रम में किसी प्रकार कम नहीं थे। वाली ने रावण को एक समय कैद किया था। यही घटना वानरवीरों के पराक्रम एवं राज्यशासन आदि की ठीक कल्पना करा सकती है। परन्तु रावण बडा चालाख था। वह जानता था कि, हार जाने पर किस प्रकार बर्ताव करना चाहिए, धीरे धीरे दूसरों के राज्य किस प्रकार पोले कर देना चाहिए और इस प्रकार दूसरों को हीनबल कर देने पर उन्हे अपने अधीन कैसे करना चाहिए। इसी नीति का अवलम्बन कर रावण ने वानर जाति के राज्य की नींव उखडा दी, सर्प जाति को अपना लिया और अन्त में दक्षिण हिन्दुस्थान का प्रदेश नासिक तक अपने वश में कर लिया।

यहां से रावण की सेना आर्यावर्त के आर्य राजाओं की पर्वाह न कर तिब्बत के देवों को शह दिया करती थी। रावण ने अनेक बार देव राजाओं का

*

पराभव किया। था इसलिए भारतवर्ष के आर्यराजा युद्ध न कर ही रावण की शरण लेते थे। ये राजा-महाराजा अपने अपने छोटे राज्यों में प्रजा के लिए अत्यन्त बलवान एवं अत्याचारी सिद्ध हुए थे, किन्तु उनमें से एक में भी यह हिम्मत न थी कि रावण की नजरसे नजर मिला ले। आर्य राजामहाराजाओं की ऐसी दशा होने का कारण संसार में प्रसिद्ध ही है। वह कारण था आपसी बैर !! उस समय के छोटे छोटे राजाओं में आपस में बहुत बैर और झगडे थे। इससे वे एकत्र होकर लंका द्वीप के राजारावण का कुछ भी बिगाड न सकते थे। इससे भी एक बडा कारण था वह था ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच का झगडा। क्षत्रिय लोग ब्राह्मणों के आश्रम लूटते, ब्राह्मणों द्वारा चलाए हुए विद्यालयों का विध्वंस करते, आश्रम लूटकर कामधेनू लूटकर ले जाते। क्षत्रियों के इन अत्याचारों से ऊबकर ब्राह्मणों ने परशुराम के नेतृत्व में क्षत्रियों को दबाने की चेष्टा की। ब्राह्मणों के इस संघ को क्षत्रियेतर जातियों की सहायता हुई। इसलिए क्षत्रियों की हार २१ बार हुई। इन २१ घनघोर युद्धों में क्षत्रियों का भारी संहार हुआ। अतएव बचे हुए क्षत्रियों में दम न रहा। वे केवल नामधारी राजा रहे और रावण का विरोध करने की सामर्थ्य उनमें न रही। इस आपसी यादवी के कारण आर्य क्षीणबल हो गए थे। इसी लिए रावण को सीधे लंका पर हम्ला करना सरल हो गया। पूरे हिन्दुस्थान में उसका विरोध करने वाला कोई न रहा। प्रथम प्रथम वानर वीरों ने वाली के नेतृत्व में एकत्रित होकर रावण का पराभव किया, परन्तु रावण की कूटनीति के कारण आगे चलकर वानर लोग सिर न उठा सके। वानरों में स्त्रीसंबंधी नीतिमत्ता कम हुई, इससे उनमें आपसी झगडे शुरू हुए। इस आपसी झगडे के कारण वह जाति हीनबल हो गई। इसीलिए बडे बडे युद्ध किए बिना ही रावण का राज्य प्रायः पूरे भारत में स्थापित होगया। इसमें रावण का पुरुषार्थ यही था कि, आर्यों के आपसी झगडों से उसने अधिक से अधिक लाभ उठाया। रावणने तिब्बत की देवजाति के राजाओं को पादाक्रांत कर उनके सब बडेबडे अधिपतियों को लंका में नजरकैद में रखा।

इन्द्र, वरुण, यम आदि देव—वीर रावण की कैद में पड गए। भारतीय राजा लोग केवल दबदबे में ही दब गए। इसलिए यदि रावण ने सोचा हो कि, उसे किसी भी ओर से विरोध न होगा तो उसमें आश्चर्य नहीं है। उस समय यद्यपि वानरों के राज्य नष्ट हो चुके थे, तथापि उनकी वीरता नष्ट न हुई थी। यद्यपि वे गांव बसा न सकते थे, राज्य स्थापन नहीं कर सकते थे, तथापि वे अपने आपको नहीं भूले थे। आर्य राजा राक्षस स्त्रियों से विवाह करने में गौरव समझते थे। वानर जातिने राक्षसों से शरीर संबंध नहीं किया था। देववीरोंके सदृश वानर वीर राक्षसों के अंकित नहीं हुए थे। देववीरों के समान वानरवीर राक्षसों के हाथ की कठपुतली नहीं हुए थे। देववीर रावण के घर की सफाई आदि भी किया करते थे परन्तु वानर इतनी हीनता को पहुंचे न थे। उन्होंने जब देखा कि राजपाट नष्ट हुआ तब वे जंगलों में रहने लगे। वस्त्र भूषण आदि वे उपयोग में नहीं लासकते थे इसलिए वे नग्न रहने लगे। सुखचैन के पदार्थ राज्यनाश के साथ नष्ट हो जाने के कारण वे कंद, मूल, फल और पत्तों पर गुजर करते थे। वानरों ने निश्चय किया कि, झिरनो का पानी पीकर और जो फल मिलेंगे उन्हें खाकर रहेंगे। रावण की सेवा करके अपने सुखचैन को वे बढाना नहीं चाहते थे। उनका निश्चय था कि, कैसे भी कष्ट क्यों न सहना पडे पर परकीयोंसे सहयोग करके अपना सुख बढाना नहीं। इस प्रकार पूर्ण स्वदेशी व्रत से ये वानरवीर घरद्वार छोडकर जंगल में रहने लगे थे।

आर्य-क्षत्रिय असुर-कन्याओं से विवाह कर मजा मारते, देववीर रावण के घर झाडाबुहारी के भी कार्य करते और रावण के दिए टुकडे पर संतुष्ट रहते, परन्तु वानर जातिने अपना अभिमान नहीं छोडा था। वानर जाति राजनैतिक दृष्टि से यद्यपि नेस्तनाबूत हो चुकी थी तथापि वह राक्षसों

के वश में यत्किंचित् भी न हुई थी। इससे यह स्पष्ट होगा कि, वानर जाति में गत वैभव पुनः प्राप्त करने की कैसी तीव्र आकांक्षा जागृत थी। परकीयों से प्राप्त हुए उपभोग के पदार्थ लेकर शरीरसुख नहीं बढाना, चाहे लंगोटी लगाने या नग्न रहने की नौबत क्यों न आवे; परन्तु वैभव नष्ट करनेवाले लोगों से सहकार्य न करेंगे। यह था वानर जाति का निर्धार। इसलिए बाहर से यद्यपि रावण का एकछत्री राज्य दक्षिण हिन्दुस्थान में स्थापित था, तथापि वानर जाति अंतःकरण में स्वतंत्र ही थी। वानर जाति के हृदय स्वतंत्रता के प्रेम में सने हुए थे; इससे बाहर से पराधीन रहते भी हृदय से वह जाति स्वाधीन ही थी। ऐसी जाति के एक मुख्य सरदार के घर हनुमानजी का जन्म हुआ था।

रावण से सहयोग करके वानरजाति के वीर शारीरिक सुख का अनुभव कर सकते थे। वानरों में बल था, शौर्य था और चातुर्य भी था। परन्तु उनका आत्माभिमान पूर्णतया नष्ट न हुआ था; अतएव वे राक्षसों से सहयोग कर स्वदेशद्रोह करने को तैयार न थे।

इधर रावण सोचता था कि, मेरे राज्य की जड पूर्णतया मजबूत हो गई है; क्यों कि त्रिभुवन के सब प्रदेशों के शत्रु नष्ट हो चुके थे, अत्यन्त पराक्रमी देववीर नौकर बन चुके थे। इससे वह साम्राज्यपद के कारण बहुत अत्याचार करने लगा। उसके अत्याचार सीमा के परे पहुंच गए। राक्षसों की धाक ऐसी जम गई कि, त्राटिका के समान एक राक्षसी चाहे जिस प्रांत में निर्भास्त हो तथा निष्प्रतिबंध हो रह सकती थी, परन्तु ऋषि, ब्राह्मण, क्षत्रिय या अन्य आर्यजाति के लोग, वानर या सर्प जाति के वीर भर अपने ही गांव में सुरक्षितता से नहीं रह सकते थे। आर्यों के धर्मकृत्य, यज्ञयाग, और अन्य उत्सव-महोत्सव राक्षसों की जादती के कारण नहीं किये जा सकते थे। सारांश यही कि आर्य लोग अपने ही देश में अधिकारहीन या परकीय बन गए थे और राक्षस जहां जाते वहीं अपने घर के समान निडर होकर रह सकते थे। लंका के राक्षस भारतवर्ष में चाहे जहां जाते, चाहे जो करते, यज्ञों का विध्वंस करते, स्त्रियों को भगा ले जाते; परन्तु उन्हे किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं होती थी। परन्तु आर्यों के लिए लंका में जाना और वहां रहना अत्यन्त खर्चे का था और राक्षस मानवों को बराबरी के हक देते न थे, इसलिए अपमान की दशा में वहां जाकर रहना उनके लिए असंभव था। यही नहीं भारतवर्ष में ही जिन भागों पर राक्षसों का अधिकार था, वहां जाना भी आर्यों के लिए कठिन हो गया था।

आर्यों के ब्राह्मण वर्ण के लोग अहिंसा और शांति के मार्गों से और धर्मप्रसार की दिशा से भारतीय लोगों में संगठन कर राक्षसी सत्ता को दूर करने का प्रयत्न कर रहे थे। इस उद्देश से दक्षिण भारत में कोई भी क्षत्रिय जाने की हिम्मत नहीं करता था। ऐसे भयंकर समय में अपने शिष्यों को साथ लेकर क्षात्रसत्ता की सहायता की अपेक्षा न कर ऋषियोंने अपने आश्रम दक्षिण में स्थापित किए। भरद्वाज, जमदग्नि आदि ऋषियों का इस दिशा का कार्य बहुत ही प्रशंसनीय है। इन ऋषियों का कार्य देखकर विश्वामित्र जैसे क्षत्रिय को भी यही लगा कि, क्षत्रियवृत्ति छोड दें और उपरोक्त ब्राह्मणी वृत्ति से आर्यसंघटन का कार्य करें।

इस इच्छा के अनुसार उसने क्षात्रवृत्ति पूर्णतया छोड दी और अहिंसा वृत्ति की ब्राह्मण-दीक्षा लेली तथा दक्षिण में आश्रम स्थापन कर यज्ञयागों के द्वारा जनसंघटन आरंभ किया। इन आश्रमों में दक्षिण के नवयुवकों को नवजीवन प्राप्त होने लगा। हनुमानजी का विद्याभ्यास इसी प्रकार के एक ऋषिके आश्रम में हुआ। जो लोग हनुमानजी को 'बन्दर' समझते हैं वे रामायण का वह भाग अवश्य देखें जिसमें हनुमानजी के विद्याभ्यास का वर्णन है। चार वेद, छः शास्त्र, इतिहास, पुराण, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, आदि में हनुमानजी प्रवीण थे। वे व्याकरणशुद्ध, प्रौढ संस्कृत भाषा बोलते थे और वे उत्तम वक्ता एवं राजनीतिज्ञ थे; वानर जाति के रहते भी हनुमानजी उत्तम प्रौढ और शुद्ध संस्कृत

भाषा बोलते थे । यह देखकर श्रीरामचन्द्रजी बहुत प्रसन्न हुए । रामायण में दिया हुआ यह वर्णन हनुमानजी की साहित्यिक योग्यता का अच्छा परिचय कराता है। युद्ध विद्या और खासकर मल्ल-युद्ध में हनुमानजी का जो प्रावीण्य था सो तो जग-प्रसिद्ध है । अकेले मनुमान ही ऐसे विद्वान न थे। किन्तु अंगदादि वीर भी ऐसे ही विद्वान एवं कर्तृत्ववान् थे।नल नील अच्छे एञ्जिनीअर थे और अन्य वीर अन्य विद्याओंमें निपुण थे । ऋषियों ने आश्रमों को स्थापन कर दक्षिण में नवयुवकों का उद्धार करने का जो प्रयत्न किया उससे पराजित जातियों ने अच्छा लाभ उठाया । क्यों कि उस समय बुद्धिभ्रंश करनेवाले नीच लोग दक्षिण में अधिक न थे। राष्ट्रोन्नति का उपाय यदि कोई बतलावे तो निष्ठा-पूर्वक उसके अनुसार चलनेवाले लोग उस समय थे। इसलिए वे जल्दी लाभ उठा सके । हनुमानजी की विद्वत्ता और योग्यता का पता चलने पर ज्ञात होगा कि वे, बन्दर न थे अपितु मानव ही थे ।

दक्षिण का वानरों का राज्य नष्टप्राय हुआ था । तथापि किष्किंधा के समान कुछ गांव अब भी बचे थे । शेष वानर जाति के लोग घरद्वारहीन हो गए थे, किन्तु उनका जातीय संगठन बहुत अच्छा था । मौका पडनेपर सब जातवाले इकत्रित होते थे । इसका मतलब ही यह है कि, उन्होंने आपसी व्यव-हार एवं आवागमन अच्छी तरह जारी रखा था । राज्य नष्ट हुआ, समाज तितर बितर हो गया, लोग जंगलों में भाग गए । ऐसी दशामें भी सुग्रीव बहुत थोडे समय में बडी भारी सेना खडी कर सका। इससे वानर जाति की भीतरी एकता की उत्तम कल्पना हो सकती है । जाति के हित का कार्य हो तो वे लोग जो चाहे सो स्वार्थत्याग करने को इकत्रित होते थे । और काम समाप्त हो जाने पर अपने वनप्रदेश में गुप्तरीति से जाकर रहते थे । इससे स्पष्ट होता है कि, उनमें स्वजाति का अभिमान कितना तीव्र था ।

एक समय वानर—राष्ट्र का बल राक्षसों से कुछ अधिक था । इसी समय बाली ने रावण को हराया था । परन्तु आगे चलकर राक्षसों ने अपना संगठन बढाया, विनाशक शस्त्र-अस्त्र बढाए, सुधार बहुत हुए और साम्राज्य भी चारों दिशाओं में फैल गया। इसके विपरीत वानरों की शक्ति क्षीण हुई। जैसे दिन बीतते गए इन दोनों जातियों के शक्तियों का अनुपात व्यस्त होते गया। तब वानरों की पुनः स्वराज्य स्थापन करने की आशा प्रायः नष्टसी ही हो गई हो तो आश्चर्य नहीं ।

ऐसे हताश समय में जो वीर भारी महान परा-क्रम करते हैं और शत्रु को कमर तोड देते हैं उन्हीं की पूजा लोग करते हैं । इसी कारण से लोग हनु-मानकी पूजा करने लगे हैं। राक्षसों का पराभव करना वानरों के लिए असंभव दीखता था । वह असंभव बात हनुमानजी ने कर दिखाई और अपने जीते जी रावण का पूर्ण नाश कर अपनी जाति और संपूर्ण आर्य जाति के उद्धार का रास्ता खुला कर दिया । हनुमानजी का यह कार्य आर्यों के उद्धार के इतिहास में चिरस्मरणीय हुआ है । इस अतुल परिश्रमके प्रशंसनीय पौरुष के कारण ही हनुमानजी सब के लिए पूजनीय हो गए हैं ।

वानर जाति का राज्य समूल नष्ट हुआ था, पुनः राज्य स्थापन करना और वह बढाना प्रायः असंभ-वसा लगता था। ऐसी दशामें नवजीवन से स्फुरित हुए हनुमानादि वीर नूतन आशा से प्रफुल्लित हुए थे, तब भी केवल निःशस्त्र वानरवीरों से स्वराज्य की रचना होना कठिन कार्य था । अस्त्रशस्त्रों से अतीव प्रबल बने हुए रावण का नाश निःशस्त्र वानर किस प्रकार करते? इंद्र को भी जर्जर करने-वाले इंद्रजित के दिव्य और आसुरी अस्त्रशस्त्रों के सन्मुख निःशस्त्र वानर प्रजा किस प्रकार टिकती? ऐसे बिकट प्रश्न वानर जातिके मुख्य मुख्य नेताओं के सामने उपस्थित हुए । ऐसी दशा में उन्हें किसी राजा की सहायता की आवश्यकता थी । वानर-वीर जिस समय बडी चिन्ता में पडे थे कि, इस प्रकार की सहायता उन्हे किस प्रकार मिलेगी, उस कठन समय में हनुमानजी की श्रीरामचन्द्रजी से भेंट हुई। अपन इतिहास में कई बार देखते हैं कि, स्वतंत्रता की प्रबल इच्छा जब मन में उत्पन्न होती है तब दैवी प्रेरणा से अकल्पित रीतिसे बाहरी

सहायता मिलती है। वानर जाति के लिए यही बात हुई। वास्तव में अयोध्या का राजपुत्र और किष्किंधा का पदभ्रष्ट दीवान इन दोनों का कोई संबंध न था। परन्तु आर्यों के स्वातंत्र्य-युद्ध में इन दोनों के मेल से ही कार्य होनेवाला था। इन दोनों में संधि हुई और दोनों जातियों ने मिलकर रावण के साम्राज्यको उलट दिया तथा देवों को राक्षसों की कैद से छुडाया। विधिघटना से और अकल्पित रीतिसे अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हुई सही, परन्तु बाह्य कारणों से उत्पन्न हुई इस इष्ट परिस्थिति से अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए अंतर्गत संघटना की अतीव आवश्यकता होती है। इस दृढ संगठन के अभाव में अनुकूल स्थिति में भी लाभ नहीं उठा सकते। संगठन होने ही से लाभ हो सकता है। वानर जाति के नेताओं ने अपनी जाति में उत्कृष्ट संगठन रखा था और भीतरी तैयारी उत्तम रखी थी। इसी लिए उन्हें श्रीरामचन्द्रजी जैसे वीर की सहायता मिलते ही वे स्वातंत्र्य युद्ध छेड सके और उस युद्ध में विजय प्राप्त कर सके। यदि उन में इस समय आपसी झगडों का जोर होता और भीतरी संगठन बलवान न होता, तो वे इस बाहरी सहायता के मिलने पर भी कुछ भी न साध सकते। इससे यही उपदेश मिलता है कि, जो लोग स्वराज्य स्थापना की इच्छा करते हैं, वे अंतर्गत संगठन उत्तम करें और यह आशा छोड दें कि, शत्रुसे सहयोग कर अपनी उन्नति होगी। वानर जाति को पूर्णरीति से ज्ञात हो चुका था कि, अपने ही सहयोग से राक्षसों का राज्य स्थापित हुआ और उसी सहयोग से वह राज्य टिक सका। इसीलिए वे लोग राक्षसों के मायावी फुसलाने से न फंसे। उन्होंने किया यही कि, राक्षसोंसे असहयोग किया, अपना संगठन बढाया और उत्सुकता से बाट जोहते बैठे कि, अनुकूल सहायता कब मिलती है और कब हम लोग स्वराज्य प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए बाहर की सहायता मिलते ही वे लोग श्रीरामचन्द्रजी के झण्डे के नीचे इकट्ठे हुए और स्वपराक्रम से शत्रु का नाश करने के लिए समर्थ हुए।

श्रीरामचन्द्र जिस आर्यराष्ट्र के राजकुमार थे उस राष्ट्र का एक भी राजा या अनेक राजाओं का एकाध संघ भी राक्षसों के विरुद्ध लडने को तैयार न था। बहुतेरे प्रायः इसी चिन्ता में लगे रहते थे कि, आज का दिन सुख से किस प्रकार बीतेगा। आर्यावर्त के आर्य क्षत्रियों की मनोवृत्ति ऐसी हो गई थी कि, अपनी स्वतंत्रता कितनी भी मर्यादित हो जावे, राक्षस कितना भी कष्ट दें और कितना भी अपमान कर अत्याचार करें, वह सब कुछ सहलेना तथा राक्षसों से अ--विरोध का बर्ताव कर उनकी हां में हां मिलाने में जो कुछ सुख मिलेगा उतने ही पर खुश रहना। इसलिए यह महत्त्वाकांक्षा किसी के भी मन में न उत्पन्न हुई थी कि, सब आर्यों का मिलकर एक संयुक्त आर्यराष्ट्र है और वह राक्षसों की जादती से मुक्त करना आवश्यक है।

श्रीरामचन्द्रजी के ही हृदय में सर्व प्रथम यह इच्छा उत्पन्न हुई। विद्याभ्यास समाप्त होते ही उन्होंने यात्रा की और राक्षसों के अत्याचार अपनी आंखों से देखे। तब वे बहुत उदास हुए और पूर्ण दैववादी बन गए। आगे चलकर जब विश्वामित्र ऋषि श्रीरामचन्द को लेने आये तब वसिष्ठजी ने रामचन्द्र को वेदान्त का अर्थात् पुरुषार्थपर ज्ञान का उपदेश दिया। उसका सारांश इस प्रकार हैः—

> उद्यमः साहसं धैर्यं बलं बुद्धिः पराक्रमः।
> षडिमे यस्य तिष्ठन्ति स सर्वं प्राप्नुयात्पुमान्॥
> योगवासिष्ठ

अर्थात् ' उद्योग, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि और पराक्रम ये छः गुण जिसमें रहते हैं, वह सब कुछ साध सकता है।' वसिष्ठ ऋषि के उपदेश का हेतु यह था कि, आज जो राक्षस चारों ओर अनन्वित अत्याचार कर रहे हैं उसका कारण यही है कि, आर्यकुमारों में ये छः गुण नहीं हैं। यदि ये गुण आर्यों में बढें तो सब राक्षसों का उत्पात रुक जावेगा इस उपदेश को सुनकर श्रीरामचन्द्र को आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ और धनुष्यबाण हाथ में ले ऋषी के साथ जाने को तैयार हुआ। फिर रामचन्द्रजी ऋषी के आश्रममें रहे और ऋषियों के राष्ट्रीय

विचारों से उत्साहित होकर तथा विश्वामित्र से बला और अतिबला विद्या सीखकर उन्होंने भारत वर्ष के शत्रुओं का पूर्ण नाश किया।

सारांश यही कि, श्रीरामचन्द्रजी के मन में भी राक्षसों का विध्वंस करने के विचार प्रबल थे। इस नवयुवक को उस समय के आर्यक्षत्रियों से तनिक भी सहायता मिलने की आशा न थी। परन्तु उनके हृदय में जबरदस्त उत्साह था और अधिकांश में परतंत्र दशा नें स्थित अपने राज्य का मरा सुख अनुभव करना छोडकर श्रीरामचन्द्र अपने निज के विचारों के नव युवक ढूंढने के विचार से दक्षिण में आए।

दक्षिण में ऋषियों ने पहले ही भूमि तैयार करके रखी थी। वानर जाति के कुमार ब्रह्मचर्य से रहकर तथा बलवृद्धिकर जातिहित और देशहित करने के लिए नेता की वाट उत्सुकता और आतुरता से देख रहे थे। वानरों को उत्तम नेता की आवश्यकता थी और श्री रामचन्द्र को आज्ञाधारक अनुयायियों की आवश्यकता थी। इन दोनों का संयोग अकल्पित रीति से हुआ, या उस समयके ऋषि इस संयोग के कारण हुए। नेता और अनुयायी एक ही विचार से भरे थे इस लिए उन्हें यश मिलने में देर न लगी। नेता रहता है पर जब उसके योग्य अनुयायी नहीं होते या जब अनुयायी रहते हैं परंतु उनके योग्य नेता नहीं होता, तब उनकी शक्ति क्षीण होती जाती है। परन्तु एक ही कार्य के लिए तडफनेवाले नेता और अनुयायी जब मिलते हैं तब उनके कार्य का तेज चमकने लगता है। इसी प्रकार स्वाभिमानी वानर वीर और उत्तम नेता श्रीरामचन्द्र की मित्रता होते ही उनके यशका सूर्य चमकने लगा।

लोग समझते हैं कि, अकेले हनुमान ही रामभक्त हैं। परन्तु वास्तव में प्रत्येक वानर अपनी अपनी शक्ति के अनुसार हनुमान ही था। शक्ति में भले ही फरक हो पर निष्ठा में अन्तर न था। वानरों में एकता, स्वार्थत्याग, नेता की आज्ञा निष्ठा से पालन करने की तैयारी, ध्येय के साधन में एकसूत्रता, व्यक्तिगत तथा सांघिक बल, स्वावलंबन, अल्प साधनों में निर्वाह करने की आदत, ऐष-आराम की ओर अ-प्रवृत्ति, युद्धकला में निपुणता आदि अनेक गुण थे और इस गुणसमुच्चय से ही श्रीरामचन्द्र को इष्ट कार्य सिद्ध करने में उनकी उत्तम सहायता मिली।

श्री हनुमानजी की राम-भक्ति तो प्रसिद्ध ही है। उनकी सामर्थ्य, उनकी एकनिष्ठा, उनका ब्रह्मचर्य, उनकी मल्लयुद्धकुशलता भी अवर्णनीय है। इसके सिवा उनकी निर्भय वृत्ति, उनका आत्मविश्वास, जो चाहे सो काम करने की उनकी तैयारी, अनुयायियों से कार्य करालेने की खूबी, अति कठिन प्रसंग आने पर भी स्थिर रहकर असीम धैर्य दिखलाने की सामर्थ्य, बडे बडे कार्य करने पर भी बिलकुल गर्वहीनता से शांत रहने की संयमी वृत्ति, कैसा भी कठिन कार्य क्यों न हो उसे आत्मविश्वास पूरा करने के लिए अथक परिश्रम करने की तैयारी इत्यादि अनेक गुण हनुमानजी में थे। इसलिए उनके कार्य के बदले अन्तमें रामचन्द्रजी ने अपना अन्तःकरण ही उन्हें इनाम में दे दिया, क्यों कि किसी भी अन्य इनाम से उनके महत्कृत्यों के उपकारों का बदला नहीं दे सकते थे।

उस समय के बलवानों में हनुमानजी की बराबरी का बलवान अन्य कोई न था। अतएव उस समय से मल्लविद्या की पाठशालाओं में या अखाडों में हनुमानजी की मूर्ति रखने की प्रथा जारी हुई और वह अब तक जारी है। हनुमानजीने अपना बल अत्यधिक बढाया था और उसका उपयोग भी अत्यधिक किया था। इसी लिए अखाडों में मिहनत करनेवाले नवयुवकों के सन्मुख हनुमानजी के चित्र के द्वारा ये दो आदर्श रखे जाते हैं "एक यह कि हर कोई अपना बल बढावे और दूसरे अपने बल का उपयोग दूसरों को कष्ट देने में न कर दूसरों की रक्षा में करे" श्री हनुमानजी ये दो आदर्श अपने उपासकों के सन्मुख रखते हैं।

हनुमानजी का चरित्र इस प्रकार उद्बोधक है। उन्होंने अपनी जाति के लिए तथा अपनी मातृभूमि के लिए जो चिर स्मरणीय कार्य किया है वह इतिहास में सदैव प्रशंसा के योग्य होगा। विशेषतः दक्षिण हिन्दुस्थान की वानर जाति का उन्होंने उद्धार किया। इसी लिए दक्षिण में उनके मंदिर अधिक हैं। उत्तर के आर्यक्षत्रिय दक्षिण में आते ही नहीं थे। वे समझते थे कि, दक्षिण द्वीप के राक्षस अजिक्य हैं। उन राक्षसों को जीतना मनुष्यों के लिए संभव है और सशस्त्र साम्राज्य की नीव वानर जैसे निःशस्त्र लोगों से भी उखाडी जा सकती है ये बातें श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं कर दिखाई। आर्यों के विजय के लिए दक्षिण दिशा का रास्ता उन्होने खुला कर दिया। इसी विजय के कारण रामचन्द्रजी की पूजा सर्वत्र होने लगी। श्रीरामचन्द्र और हनुमान की उपासना की यह जड है। इन दोनों के चरित्र स्पष्टतया दिखलाते हैं कि, असंभव बात भी प्रयत्नसे किस प्रकार संभव हो सकती है। उनके चरित्रों के मनन से कमजोरों के भी हृदय में प्रचण्ड आत्मविश्वास उत्पन्न होगा। तब जगत् को जीतनेवाले आर्यों के वंशजों को वे चरित्र पुनः विजय का मार्ग निःसंदेह दिखलावेंगे।

इस लेख से वाचकों को विदित होगा कि, श्रीसमर्थ रामदास स्वामीने खासकर श्रीरामचन्द्र और हनुमानजी की उपासना महाराष्ट्र में शुरू कर दी और जहां वह जारी थी वहां बढाई, इससे उन्होने कौनसा राष्ट्रकार्य साधन किया। इन दो विभूतियों ने पारतंत्र्य के पंक में पडे हुए लोगों को स्वातंत्र्य प्राप्त कर दिया और अपने निज के पराक्रम से शत्रूको जर्जर कर दिया, साथ ही यह भी दिखला दिया कि, अपना बल बढाए बिना नहीं चल सकता। उन्होने यह भी प्रत्यक्ष कृति से दिखलाया कि, इस बल का सदुपयोग किस प्रकार करना चाहिए। इस प्रकार के उपास्यों की उस समय महाराष्ट्र को अत्यन्त आवश्यकता थी। श्रीरामदासजी ने जब ये उपास्य महाराष्ट्र में शुरू किये उस समय के पूर्व महाराष्ट्र में उपास्य थे, परन्तु वे स्वतंत्रता का मार्ग लोगों को दिखलाने के लिए काफी नहीं थे। इस लिए रामदास स्वामी ने ये दो उपासनाएं लोगों को दिखलाई और लोगों के ध्येय में इष्ट दिशामें फरक कर डाला। श्रीसमर्थ रामदास स्वामी की समर्थता इसी बात में है। उपास्य दैवत मनुष्य का ध्येय निश्चित करता है और मनःप्रवृत्ति को दिशा दिखला देता है। जब रामदास स्वामीने देखा कि, पहले के उपास्य महाराष्ट्र का मन राष्ट्रीय विचारों से नहीं भर सकते, तब उन्होने श्रीरामचन्द्र और हनुमानजी ये दो उपास्य महाराष्ट्र को दिए और इनकी उपासना से महाराष्ट्र की कायापलट कर दी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि, पहले के उपास्यों को त्याग कर नये उपास्यों की ओर लोगों का मन खींचना कितना कठिन है। परन्तु श्री रामदासजी ने अपनी तपस्या के बलपर यह कठिन कार्य भी कर दिखाया। इससे विदित होगा कि, श्रीरामदासजीने जो कार्य किया वह जानबूझकर किया और इष्ट ध्येय प्राप्त करने के लिए ऐसा करना उनके लिए अत्यन्त आवश्यक ही था।

इस प्रकार हनुमानजी का जीवनचरित्र बहुतही बोधप्रद है। इसलिए हनुमज्जयंती का उत्सव केवल वार्षिक उत्सव न मनाकर उनके जीवन से जितना अधिक लाभ वाचक ले सकते हैं लें, तथा उनके जीवन का आदर्श सदैव अपने सन्मुख रख बारबार मनन कर उनके गुणों में से जितने अधिक गुण उठा सकें उठा लें और अपना निजी जीवन जितना उनकी जीवन दिशा में ले जा सकें ले जावें। तभी उनके उत्सव से इष्ट परिणाम होगा।

तब तक वह मिस्तर गुरुदत्त थे ।

(ले०- श्री०आत्मारामजी अमृतसरी.)

श्रीमान् प्रो० बालकृष्ण जीने जो कहीं अपने भाषण में महात्मा पं० गुरुदत्तजी के युरोपियन वेष तथा उनकी संस्कृति के परमभक्त होने की जो बात कही और आप श्रीमान् जी ने उनके आधार पर अपने उत्तम तथा आर्य जाति हितकारी सत्याग्राही पत्रमें लिखी, उसके संबंध में मुझे नीचे कुछ शब्द लिखने जरुरी हैं, ता कि जनता में कहीं भ्रान्ति न फैल सके, कारण कि गुरुदत्त एक महापुरुष हैं।

विदित हो कि गुरुदत्त जी के जीवनके तीन भाग उनके " आर्यसमाज के सभासद " होने पर भी हैं।

(१) नास्तिक और अंगरेजी संस्कृति के परम भक्त,विचार,आचार, भाषा और वेषमें पूरे 'मिस्टर.'

(२) आस्तिक, वैदिक वा आर्ष संस्कृति, आर्ष ग्रन्थों, वैदिक संस्कृत के परमभक्त। विचार, आचार,भाषा और वेषमें ऋषि दयानन्द को आदर्श माननेवाले । मिस्टर की जगह ' विद्यार्थी ' बने और जनता की दृष्टिमें गुणकर्म से पंडित वा ब्राह्मण। दयानन्द कालेज के मुख्य संचालक इस समय थे ।

(३) साधु वा योगाभ्यासी । जीवनके इस भाग में वह घरपर नंगे सिर रहते स्वदेशी धोति तथा स्वदेशी मुलतानी घाट के चोले वा लंबे कुरते को गेरुसे रंग कर पहना करते और समाज में भाषण के समय भी सिरपर कश्मीरी घाट की शुत्री रंग की काश्मीरी पट्टूकी बनी हुई टोपी और गले में लाल रंग की काश्मीरी शाल वा गरम काला ' कश्मीरा ' नामी काश्मीर के बने हुए कोट का कपडा । घर में खडावें भी धारण करते । वह वीर देशभक्त भी थे। उसके लिये नीचे की घटना पढिये।

एक दिन पं०गुरुदत्त अपने मित्र श्री रायसंसार- चंदजी एम. ए. के साथ लाहौर की ठंडी सडकपर सैर करते जारहे थे । पीछे से एक अंगरेज बडे अफसर की गाडी आई और साहेब बहादर ने जो स्वयं एक घोडेवाली दोपैया हांकर रहा था गुरुदत्त को हटने को न कहकर एक चाबुक प्रो० गुरुदत्तको मारी, ताकि यह मार्गसे परे हट जावे ।

इस अपमान को अनुभव कर प्रो० गुरुदत्त ने जो " कसरती वीर " पुरुष भी था फौरन ही साहेब के घोडे की तरफ लपककर उस को पकड रोक दिया । साहेब अंगरेज हंटर लिये हुए नीचे उतरा, साईसने घोडे को थामा और क्रोधी साहेब ने गुरुदत्त को चाबुकें मारनी प्रारंभ की । दोनों में द्वन्द्व- युद्ध चला, गुरुदत्तने अपने बूटसे साहेबकी पीठ की खूब ही मुरमत्त की । जब साहेबने भी इस को बराबरी का जवान पाया, तब हंटर मारना छोकर गाडीपर सवार हो,अपने मार्ग चल पडा और जाते हुए पूछा कि, तुह्मारा नाम आदि क्या है। आर्यवीर गुरुदत्त ने उत्तर दिया " गुरुदत्त सायन्स प्रोफेसर गवरमेंट कालेज लहौर " ईश्वर कृपासे अभीतक श्रीमान् राय संसारचंदजी पंजाब में जीवित हैं। उन्होंने इस घटना को अपनी आंखों से देखा है, कारण कि जब गुरुदत्तजी साहेब से द्वन्द युद्ध कर रहे थे, तो यह गुरुदत्त की टोपी पुस्तक आदि संभाल कर सडक पर ही तो खडे थे ।

सब को मालूम है कि ऋग्वेद मंडल प्रथम में एक मंत्र आता है जिसके अंत में " कक्षीवन्तं " इत्यादि शब्द आते हैं। पूज्य पं० गुरुदत्तजी इस मंत्र ... ('Hand-machines ') हस्त यंत्र कि विद्या तथा हस्तद्वारा कलाएं चलाने का विधान है यह उत्तम तत्व वह अपने जीवनके दूसरे वा तीसरे भाग में भाषणोंमें पंजाब को सुनाते रहे और हम से उनके अनेक शिष्य स्वदेशीय वस्तु प्रचार और हस्त यंत्र की महिमा के माननेवाले उनके इस मंत्र की व्याख्याके आधार से आजसे३५ वर्ष पहिले हो चुके हैं । और तबसे ही इनको धारण करते हैं । उक्त मंत्र नीचे लिखा आता है ।

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते ।
कक्षीवन्तं य औशिजः । ऋ० मं. १ सूक्त१७ मं. १
इस मंत्र का भाव लेख में आचुका है ।

सूर्योपासना।

(ले० श्री० राधाकृष्णजी आर्य, पेशकार, मुरादाबाद)

छठे काण्डके प्रारंभिक सूक्त के भाष्य के विषयमें मेरा आक्षेप इस प्रकार है।

सरण्यु का अर्थ वैदिक-धर्म में रात्रिका छपा देख मुझे निश्चय हुआ कि मेरे पत्र पहुंच गये। मैं ने अगर्चे किसी कोश में नहीं देखा मगर मुझे निश्चयात्मिक हो रहा कि यम सूर्य नारायण की किरणों को कहते हैं। वह सूर्य के पुत्र भी हैं औरमृत्युलोक, पितृलोक और द्यौलोक में छाई हुई भी हैं और सूर्य मण्डल से परे भी हैं। वही प्राणी का प्राण हरती हैं। और न्याय व्यवस्थानुसार गर्भ में दाखिल करती हैं। और वही मोक्षमें सूर्य के समीप जो आनन्द और ज्ञानका भण्डार है ले जाती हैं।

आपने छठे काण्ड अथर्व वेद के भाष्य के प्रारम्भ में (एक देव की भक्ति) का मजमून लिखकर मुझे चक्कर में डाल दिया है। और मुझसे सूर्य उपासक और सूर्य नारायण के गुणानुवाद गाने वाले और यज्ञ द्वारा और सावित्री मंत्र के जप करके सूर्य नारायण को प्रसन्न करके मानो वांछित फल पाने वाले, अर्थात् सूर्य नारायण को परचाने वाले, सूर्य नारायण के पुराने भक्त को एक तरह का विशेष विचार न करने वाला ठहरा लिया। मेरे पास एक पुस्तक स्वामीजी की जिन्दगी का संवत् १९३८ का मौजूद है। जिसमें स्वामी विवेकानन्द काशीवाले और श्री० स्वामीजी महाराज का वार्तालाप छपा है कि

'सूर्य में ब्रह्मबुद्धि करके और मनमें ब्रह्म-बुद्धि करके उपासना वेदों में आई है, तो शालिग्राम में ब्रह्म उपासना क्यों न की जाय'। श्री० स्वामीजी महाराजने उत्तर दिया है कि 'सूर्य और मन में उपासना तो शास्त्रोक्त है अगर शालिग्राम में कहीं हो तो दिखलाइये' इस पर स्वामी विवेकानन्दजी चुप हो गये।'

मन बिजुलीको कहते हैं और हरएक प्राणी का मन बिजली ही का अंश है। इस शास्त्रीय मर्म का समझना बडा जरूरी है। बिजली और बिजली के पुंज सूर्य में परमात्मा किस तरह से हैं और शालिग्राम और दुनिया के और किसी द्रव्य में परमात्मा कैसे हैं। श्रीमानजी! बिजली और बिजली के पुञ्ज सूर्य में परमात्मा बराये रास्त हैं, और इसी वजहसे यह सर्वव्यापक ज्योति बिजली की परमात्मा का अंग है। और सब दैविक तहरीकात और दैवी सनत इसी स्वरूप से होती हैं, जैसे कि हमारे अंग और इन्द्रियों से हमारा काम होता है उसी तरह परमात्मा के अंग और इन्द्रियों से परमात्मा का काम। शालिग्राम और पाषाणादि में परमात्मा बराये रास्त नहीं, बल्कि मय सूर्य की ज्योति के हैं, इसी बजह से वह जड बने रहते हैं। गोया सूर्य की ज्योति परमात्मा से जो इन्द्रियग्राही है स्पर्श करती है और सूर्य और पदार्थोंसे स्पर्श करता है। परमात्मा स्वयं चैतन्य है और सूर्य की ज्योति परमात्मा से चैतन्य हुई है। चूंकि सूर्य की ज्योति स्वयं चैतन्य नहीं है इस लिये उससे स्पर्श करने वाले दुनिया के और द्रव्य जड बने रहते हैं। अगर परमात्मा सब जगत में बराये रास्त होता, तो सब जगत चैतन्य हो जाता और कोई पदार्थ जड न दिखाई देता। पमात्मा और दुनिया के द्रव्यों के बीचमें सूर्य की ज्योति अर्थात् बिजली हायल होने से ही और द्रव्य जड बने रहे। जैसे कि हमारे

*

जीवात्मा से हमारा शरीर चैतन्य होता है और हमारे शरीर से छूने वाले पदार्थ जड बने रहते हैं, सूर्य और परमात्मा में अंशाअंशी भाव भी नहीं हैं, क्यों कि परमात्मा की ज्योति शान्त है और सूर्य की ज्योति पकाने और तपाने वाली है और सूर्य और परमात्मा में प्रतिनिधि और असिल मालिक होनेका भी सम्बन्ध नहीं घटता, प्रतिनिधि की जरूरत एक देशी को होती है, परमात्मा को जो सब जगह हैं उनको प्रतिनिधि की जरूरत नहीं है। हाँ सूर्य की ज्योति और परमात्मा की ज्योति में अंग और अंगी का सम्बन्ध है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

यजुर्वेद अध्याय ४० के मन्त्र १७ में हिरण्मय पात्र अर्थात् सूर्य की ज्योति से सत्य अर्थात् ब्रह्म (परमात्मा) को ढँपा हुआ कहा है। और आदित्य में जो पुरुष है उसी को परमात्मा कहा है। और अपने खुद भी 'वैदिक धर्म' में एक मंत्र देकर बतलाया था कि सूर्य परमात्माकी त्वचा है। हमारे अंग बँधे हुये मिट्टी पानी के होते हैं, परमात्का के अंग निर्विकारी ज्योतिरूप होते हैं। दुनिया के सब इन्सानों और हैवानों और कीडोंमकोडों तक को जिनके मिट्टी पानी के जिस्म बने हुये होते हैं जीवात्मा रहने तक चेतन्य मानते हैं। तो इस प्रत्यक्ष सूर्य ज्योति को जो प्राकृतिक नहीं बल्कि शक्ति रूप है और वे वजनदार मादा है, उसके अन्दर चैतन्य परमात्मा के होते हुये परमात्मासे चैतन्य क्यों न माना। परमात्मा अपने परोक्ष रूप और इस प्रत्यक्ष स्वरूप से बोल कर तो बतलाता ही नहीं, इस बातमें तो दोनों स्वरूप बराबर हैं, पर इस प्रत्यक्ष सूर्य स्वरूप से दुनिया की बनावट, मेंह बरसाना, लोक लोकान्तरों का धारण करना, वनस्पति और प्राणियों के अंग आदि बनाना तो प्रत्यक्ष में दिखाई दे रहे हैं।

श्रीमान् जी! जीवात्माओं की होने की निशाँ दही तो उनके शरीर से होती है और परमात्मा के होने की सूर्य से। वर्ना जीवात्मा और परमात्मा स्वयं अपनी हस्ती की निशाँदही नहीं कर सकती, क्यों कि वह दोनों हस्तियाँ इन्द्रियग्राही नहीं। आर्यसमाजी महानुभाव भाष्य कर्त्ता इतना तो ध्यान दें कि, वह सूर्य को तो ध्यान और उपासना में भी अलग जड मानते हैं, और परमात्मा को अलग चेतन्य और इंसानो को मिट्टी पानीका जिस्म रखने पर चेतन्य मानते हैं। अगर कहीं इन्सानों को मिट्टी पानी का शरीर होने पर इसी वजहसे उनको जड मानने लगे तो दुनिया का सब कारोबार मिट जाय।

श्रीमान् जी, किसी दूसरेका अंग किसी दूसरे के जीवात्मा से चेतन्य नहीं होता क्यों कि उस जीवात्मा (इन्द्र) की शक्तियों का विकास उसी के अंग और इन्द्रियों के द्वारा विकसित होता है। इसी तरह परमात्मा (महेन्द्र) की शक्तियों का विकास उसी के अंग (सूर्य की ज्योति) और इसी की इन्द्रियों (यज्ञ के देवताओं) के द्वारा विकसित होता है। मुझे आर्य समाज में वर्षों रहते हुये यह मालूम हुआ कि आर्य समाजियों की बुद्धि में सूर्य नारायण का प्रत्यक्ष परमेश्वर होना क्यों समझमें नहीं आता? कारण यह हुआ है कि, श्री स्वामीजी महाराज के वेदान्त में अर्थात् यजुर्वेद अध्याय ४० के ११ वें मन्त्र के भावार्थ में उनको यह लिखा हुआ मिला है कि, जैसा परमात्मा यहां है वैसा ही सूर्य में भी है। यह बात नहीं है, ऐसा कह देना पानी में खोज देना है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्॥

यजुर्वेद अध्याय १३ के मन्त्र ३ से यह प्रकट हो रहा है कि, ब्रह्म सबसे पहिले प्रकट हुआ उस ज्ञानी ने अपना तेज चारों ओर फैलाया। इसी अध्याय के चौथे मंत्रसे जाहिर है कि हिरण्यगर्भ सबसे पहिले वर्त्तमान हुआ। अगर यह प्रत्यक्ष सूर्य स्वरूप में प्रकट होना न माना जाय, तो परमात्मा के सब से पहिले प्रकट होने के क्या मानी। जब कि वेदों ने ब्रह्म जीव प्रकृति को अनादि काल से और हम उन्हें माना है।

श्रीमान् जी, आपने यह भी एक दलील दी है कि अगर दिन वाले सूर्य की उपासना और गुणानुवाद गाने वेद बताता तो रात्रि में दिन वाले सूर्य के

गुणानुवाद और ध्यान क्यों बताता? आप सोचें तो सही वर्षों की देखी हुई सूरतों का ध्यान करते हैं। खवाब में दिखाई देती हैं, हजारों लाखों वर्षों के महान पुरुषों की मूर्त्ति का ध्यान सनातनी करते हैं और उनके गुणानुवाह गाते हैं, लेकिन रोजमर्रा दिन में दीखने वाले सूर्य तमाम जगत को चलाने वाले सूर्य ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूप सूर्य का ध्यान और गुणानुवाद रात्रि में करना नामुनासिब! श्रीमानजी· रात्रि में भी सूर्य की ज्योति अग्नि-रूप से सब जगह दिखाई देती है और ध्यानी का (ध्येय) बनती है। सूर्य नारायण रात को गायब नहीं होते, महज हमारी आँख के ऊपर पृथ्वी की ओलट पड जाने से दिखाई नहीं देते। वर्ना वह तो हर समय एक ही से बने रहते हैं। सूर्य इतने तेजवान हैं कि आँख से टकटकी बाँध कर देखना दुर्लभ है, इस लिये दिनमें भी आँख मींचकर ध्यानमें सावित्री मन्त्र जपना चाहिये। और उसके 'वरेण्यम् भर्ग' को ध्येय बनाना चाहिये। क्यों कि सावित्री मंत्रमें 'तत्' का शब्द (उँगली का निर्देश) इसी 'वरेण्यम् भर्ग' वाले सूर्य पर लगाया है। वेदने इन्हीं सूर्य का ध्यान और गुणानुवाद रात्रिमें करने बतलाये। निश्चय जान लीजिये,जब इन सूर्य की जान परमात्मा है तो यही चेतन्य परमेश्वर है। अलग परमेश्वर कोई नहीं। अंगी और अंग दोनों मिलकर एक ही हैं इन्हीं जीतो जागती ज्योति वाले सूर्य का दिन और रात्रिमें ध्यानावस्थित होकर गुणानुवाद मन से गाना चाहिये इन के ध्यान और गुणानुवाद से अनोखा लाभ होता है अर्थात् जिस्मको उनके श्रेष्ठ भर्ग से और जीवात्मा को परमात्मा सत्ता से और समाधी में ध्यानावस्थित होते समय जो ज्योति चारों ओर दिखाई देती है, उसको परमात्मा की ज्योति मान लेना और सूर्य की ज्योति न मानना यह तफ़रीक कर लेना यों हँसी ठट्ठा नहीं। कि—

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः॥

यजुर्वेद अध्याय २३ के ४७ वें मन्त्रमें ब्रह्म की ज्योति को सूर्य की ज्योति सी बताई है। और यजु० अध्याय ४० के १७ वें मंत्र में सूर्य की ज्योति से ब्रह्म की ज्योति ढँपी हुई बताई है। ऐसी हालत में परमात्म ज्योति के जो इन्द्रियग्राही है किसी महान् आत्मा को ही दर्शन हुये हों। क्यों कि कोई महान् आत्मा परमात्मा ज्योतिका दर्शन करके विज्ञापन (ढिंढोरा) नहीं देता। मेरे सूर्य नारायण जिनका कि मैं उपासक हूं उनकी परमात्मा जान है और परमात्मा से वह चेतन्य हैं। गोया सूर्य उसी परोक्ष रूप परमात्मा का प्रत्यक्ष रूप हैं और परमात्मा इसी प्रत्यक्ष स्वरूप से ब्रह्मा, विष्णु महेश हैं। जैसा कि गायत्री मंत्र की तीनों व्याहृतियां बतला रही हैं।

सहस्रपर्णी।

श्रीमन्नमस्ते।

अथर्ववेद काण्ड ६ सूक्त १३९ में जिस "सहस्रपर्णी" औषधिका वर्णन है वह मेरी मतिसे 'शतावरी' नामसे प्रसिद्ध औषधि है। इसके लिये हेतु यह है कि हमारी काङगडा प्रान्तकी भाषामें इसे "सहंस पाई" कहते हैं। इसके अर्थ 'सहस्रपर्णी' के तुल्य हैं और इसी शब्दका यह अपभ्रंश है। दूसरा हेतु यह है कि वैद्यग्रंथों में इसको वीर्यपुष्टिकारक रसायन औषध कहा है, और ऐसे योगोंमें इसकी योजना है। आशा है आप इसे प्रकाशित कर संदेह की निवृत्ति करेंगे। भवदीय

परमानन्द गुप्त स्वाध्यायी. पालमपुर (कांगडा.)

कोर्ट में दिया गया पं० देवशर्माजी 'अभय' का वक्तव्य ।

सेवामें माजिस्ट्रेट साहिब
प्रिय महाशय !

अपना यह हिन्दी भाषा में लिखा वक्तव्य मैं अदालत में उपस्थित करना चाहता हूं। मैं गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय का सहायक आचार्य (Vice Principal) हूं। यह कांगडी का गुरुकुल आर्यसमाजका सबसे बडी शिक्षासंस्था है। आर्यसमाजका जन्म जगत् में वैदिकसन्देश सुनाने के लिये हुआ है। एवं एक आर्यसमाजी की हैसियत से, गुरुकुलके एक स्नातक की हैसियत से और फिर गुरुकुल के एक मुख्य कार्यकर्ता की हैसियत से मैं स्वभावतः वैदिक धर्मका प्रचारक हूं। वेद का कम से कम एक तिहाई हिस्सा ऐसा है जो कि मनुष्य को स्वाधीन और विजयी बनने के लिये प्रेरित व उत्साहित करता है। इसलिये आज जो भारतवर्ष में स्वाधीनता का एक महान् धर्ममय संग्राम चल रहा है, उसमें विना हिस्सा लिये कोई भी आर्यसमाजी, कोई भी सच्चा आर्यधर्मावलम्बी, नहीं रह सकता।

वर्णतः मैं एक साधारण ब्राह्मण हूं। वैदिक धर्म के अनुसार ब्राह्मण बनना बडा कठिन कार्य है। मैं वैदिक आदर्श के अनुसार ब्राह्मण के उच्च धर्म को पालन करने नम्रता पूर्वक सतत यत्न कर रहा हूं। शायद इसीलिये मुझे गुरुकुल में इतने बडे उत्तरदातृत्व के पद पर बैठाया गया है। ब्राह्मण का यह कर्तव्य है कि, वह न केवल अपनी स्थूल वाणी से, अपितु अपने सम्पूर्ण जीवनद्वारा सत्य को बेधडक हो कर फैलाता रहे। उसका धर्म है कि वह जनता को सचाई का, प्रेम का और पवित्रता का सन्देश हर हालत में सुनाता रहे। अतः इस धर्मयुद्ध के छिडने से पहले जहां मैं केवल गुरुकुलके महाविद्यालय (College) के ब्रह्मचारियों को वेद, योगदर्शन और भारतीय अर्थशास्त्र (Indian Economics) पढाता रहा हूं, वहां अब पिछले दो महीनों से मैंने यह आवश्यक समझा कि, मैं रुडकी तहसील की और विशेषतः पञ्चपुरी की जनता में इस धर्मयुद्ध का सन्देश सुनाने में अपना अधिक समय लगा दूं। इसके लिये मैंने सबसे पहिले यह किया कि जो सब पापों को बढाने वाली है और फिर भी जिसका कि ठेका खुद सरकार ने ले रक्खा है, उस शराब को पञ्चपुरी से हटाने के आन्दोलन को सञ्चालन मैंने अपने हाथ में लिया, इन दिनों में जो पांच छः वार मुझे ग्रामों से जाने का सुअवसर मिला, तो मेरी बातचीत व भाषणों से ग्रामीणों के अन्दर कुछ निर्भयता का सञ्चार हुआ होगा यह मैं समझता हूं। यह भी मैं मानता हूं कि मुझसे मिलनेवाले और मेरा भाषण सुनने वाले भाईयों में वर्तमान सरकार के प्रति अप्रीति फैली होगी और उनमें इस वर्तमान शासन प्रणाली को बदल देने की इच्छा उत्पन्न हुई होगी। पर इसे मैं राजद्रोह नहीं समझता। ब्राह्मण का काम राजा और प्रजा दोनों का भला चाहना और दोनों को सचाई का उपदेश करना है। वैदिक आदर्श के अनुसार ब्राह्मण राजा के भी ऊपर होता है। और वह राजा को अपनी तपस्याओं द्वारा सदा ठीक रास्ते पर रखता है। सभी स्वाधीनता प्राप्त देशों में कभी न कभी ऐसा समय आया है, जब कि वहां का पुराना बिगडा हुआ शासन प्रजा द्वारा नष्ट कर दिया गया है। ऐसी सब क्रांतियों को शुरू कराने वाले सदा ब्राह्मण रहे हैं, क्यों कि ब्राह्मण सदा विचारों की क्रान्ति पैदा करते हैं। इन क्रान्तियों की पूर्ति बेशक क्षत्रियों के भौतिक हथियारों द्वारा तथा वैश्य शक्ति द्वारा सब जगह हुई है। पर भारत में हम जो क्रान्ति चाह रहे हैं, वह उससे निरा-

ली है। यह क्रान्ति शुद्ध ब्राह्मणत्व द्वारा की जा रही है। हम अन्त तक हथियारों को बिना उठाये ही सरकार को बदल देना चाहते हैं। यह दुनिया के इतिहास में एक नई घटना होगी। बात यह है कि आजकल दुनिया में क्षत्रियत्व इतना बिगड चूका है इसमें वीरता का स्थान हिंसा ने इतना अधिक ले लिया है कि, अब ब्राह्मणत्व के उंचे हथियार द्वारा ही संसार की इस बुरी अवस्था से निकाला जा सकता है। अतएव हम देखते हैं कि, इस देशका सब सच्चा ब्राह्मणत्व आज ऊपर निकल आया है। हजारों ब्राह्मण के आजकल की हिन्दू प्रथा-अनुसार उन्हें ब्राह्मण कहा जाय या न कहा जाय, पर वे वैदिक दृष्टि से ब्राह्मण ही हैं। इस अहिंसाम य संग्राम में आ खडे हुए हैं, देश की स्वाधीनता के लिये राजा के जुलमों को खुशीसे सहते हुए(तपस्या करते हुए) सचाई को फैला रहे हैं, किसी डरकी परवाह न करके राजा और प्रजा को उनका कर्तव्य सूझा रहे हैं। मुझ एक छोटे से ब्राह्मण ने भी इस देश के एक छोटे से हिस्से में अपने भाइयों को उनका कर्तव्य बताया है। अतएव मैं कहता हूं कि मैंने राजद्रोह नहीं फैलाया है, किन्तु अपना ब्राह्मण धर्म पालन किया है मौजूदा राजकीय कानून में बेशक यह राजद्रोह है,पर ईश्वरीय कानून के अनुसार यहब्राह्मण का धर्म है। और कुछ समय बाद जब कि ब्राह्मणों की तपस्याएं इस राज्य की जगह नया सच्चा राज्य ले आवेंगी, तब यह राजकीय कानून भी हमारे अनुकूल बोलने लगेगा। यही कारण है कि, मैंने इसमें अपना अपमान समझा है कि मुझे १२४ दफा न लगा कर सरकार ने मुझ पर १०८ दफा लगायी है। इससे पता लगता है कि, शायद मैंने अपने ब्राह्मण धर्म के पालन में कुछ त्रुटी रक्खी है।

महाशय! आपने मुझसे एक मुचलका और दो जमानतें मांगी थी वे मैंने नहीं दी हैं। ये १५००) मेरे पास कहां से आते, मैं तो दुनिया में सब से द्ररिद्र देश का एक वैदिक ब्राह्मण हूं। वैदिक ब्राह्मण का तो आदर्श यह है कि, उसके पास दूसरे दिन के लिये भी खाने का सामान न हो, अतएव मेरे नाम से यदि कुछ सम्पत्ति कहीं पर है तो उससे भी मैं अपना सम्बन्ध त्याग चुका हूं; तो भी, चूंकि सर्वत्यागी हो जाने से ब्राह्मणके लिये संसार का सब धन उसका अपना हो जाता है,अतः इन१५००) का देना यदि पाप न होता तो मेरी निजू सम्पत्ति एक कौडी न होते हुए भी ये रुपये कहीं से दिये जा सकते थे। पर जमानत के नाम से तो एक फूटी कौडी भी नहीं दी जा सकती है। हां, एक चीज मैं दे सकता हूं और देना चाहता हूं। और वही ब्राह्मण का सबसे बडा कीमती धन है। लीजिये मैं देता हूं।

आप जानते हैं कि स्वाधीनता पाना प्रत्येक भारतीयका हक ही नहीं किन्तु प्राकृतिक धर्म है। इस परम पुण्य में लगे हुए महात्मा गांधी जेसे सन्त से शुरू करके सैकडों पवित्रात्मा पुरुषोंको जो सरकार पीडित कर रही है, सत्याग्रहियों पर कैसे कैसे घृणित और पाशविक अत्याचार किये गये हैं वे आप से छिपे नहीं हैं। क्या ऐसी सरकार के अङ्ग बने रहने में इस घोर पाप में सम्मिलित होने में आपको कोई हिचक नहीं होती? जरूर होती होगी। मुझे विश्वास है कि, आपका अन्तरात्मा पुकार उठता होगा, कि अब तो सरकारी नौकरी करने जाना हराम हो गया है। कृपा करके अपने इस दैवी भाव को आप जगाइये, बढाइये, इसे दबने मत दीजिये। यहां तक आपका अन्तरात्मा आपको दिन रात काटता रहे, वह आपको चैन न लेने दे, जबतक कि आप सरकारी नौकरी छोडकर हलके न हो जावें।

मैंने जो आपसे निवेदन किया है यह मैंने आपको अपनी सबसे कीमती चीज प्रदान की है। ब्राह्मण का धन ब्राह्मण की सच्ची वाणी ही है। यह मेरी सच्ची वाणी मेरी सत्य मय हार्दिक सलाह है। इन १५००) से हजार गुना कीमती है, आप इस कीमती धन को सम्हाल सकेंगे या नहीं यह परमात्मा जाने। ईश्वर से प्रार्थना है कि, वह आपको इतना बल दे, कि आप मेरे धन को सम्हाल सकें। जो हो मैंने आपको सचाई सुनाकर यहां पर भी अपना ब्राह्मण का कर्तव्य पूरा कर दिया है। अपने पास की सबसे कीमती जीज आपको दे दी है।

आप इसे अपनायेंगे तो आप पाप से बचेंगे और आपका कल्याण होगा।

यह सत्य सलाह रूपी धन मैंने आपके सामने यह जमानत करने के लिये नहीं पेश किया है, कि मैं आगे से "राजद्रोह" नहीं फैलाऊंगा, किन्तु यह दूसरी जमानत करने के लिये पेश किया है कि मेरा यह ब्राह्मण का कर्तव्य पालन कभी बन्द नहीं हो सकता है। अर्थात् आपको यह पवित्र और पुण्य सलाह देकर मैं इस बात की प्रतिज्ञा करता हूं। Guaranty देता हूं कि ब्राह्मण की वाणी को कोई १४४ जैसी दफा नहीं रोक सकती है कोई Ordinance नहीं रोक सकता है। जेल व काले पानी की कोई सजा इसे नहीं दबा सकती है। इन अत्याचारके साधनों से बेशक ब्राह्मण का स्थूल बोलना बन्द हो सकता है, पर अन्दर की उसकी मानसिक वाणी जो कि इस स्थूल वाणी की अपेक्षा हजार गुना प्रभाव रखती है कभी बन्द नहीं की जा सकती है। केवल बन्द नहीं की जा सकती यही नहीं, किन्तु बाह्य वाणी के रोकने से यह और अधिक तीव्र हो जाती है, यह दावा मैंने वेद के भरोसे किया है। अथर्व वेद के ५। १८ सूक्त में जिसमें ब्राह्मण की वाणी को ब्राह्मण की गौ कहा है और जिस में कहा है कि, ब्राह्मण की वाणी रोकने वाले राजा का विनाश हो जाता है, उस वैदिक सूक्त के आधार पर मैंने दावा किया है। 'खतरे का घण्टा' बजाने की तरह मैं इस अपने बयान द्वारा वैदिक धर्मावलम्बियों की तरफ से वेदके निम्न शब्दों में इस नामधारी सरकार को (जो कि असल में एक प्रजाद्रोही अतएव गैरकानूनी संगठन है) चेतावनी देना चाहता हूं-

'अद्य जीवाति मा श्वः'

अर्थात् ऐसा प्रजाद्रोही राजा आज बेशक जीवित है, कल नहीं रहेगा।

यदि मेरे इस कथन में सचाई है और मेरा हृदय शुद्ध है, तो जेलमें बन्द किये जाने पर भी इन सत्य विचारों की लहरें ग्रहणशील मनों में वेग से पहुंचती रहेंगी और उन्हें प्रभावित करती रहेंगी, और आपके कानों में प्रेममय पर प्रबल वाणी गूंजती रहेगी कि, 'अब सरकारी नौकरी नहीं करनी चाहिये, सरकारी नौकरी नहीं करनी चाहिये'

वन्दे मातरम्-जगमात्रर्पणमस्तु ॥

[इस बयान के पश्चात् श्री० पं० देवशर्माजी अभय, सहयक आचार्य गुरुकुल कांगडी, को एक वर्ष की कैद हो चुकी है। ऐसे धर्मात्मा सच्चे ब्राह्मणके लिये ऐसे कलिकालमें जेल ही योग्य स्थान है, जिस जेलभूमिको भगवान् श्रीकृष्णजीने अपने जन्म लेने योग्य पवित्र समझा, उस जेलमें पुरुषार्थी धर्मात्माही जांयगें।]

—सौन्दर्यभावना—

सुन्दर नीर समीर बहे नित
सुन्दर हों सब धाम हमारे
सुन्दर शान्त सहृदय सुहृद हों
सुन्दर हों सब धाम हमारे ॥१॥
सुन्दर सुमन सुरभ उपवन में
सुन्दर हों उद्यान हमारे
सुन्दर कमल खिलें तालोंमें
सुन्दर हों सब ध्यान हमारे ॥२॥
सुन्दर बून्द गिरें आंखों से
सुन्दर हों अनुताप हमारे।
सुन्दर विधि से पापदलन हो,
सुन्दर हों नित जाप हमारे ॥३॥

लालचन्द्र

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

(३) कौरवसैन्यवर्णन ।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

अन्वय- धृष्टकेतुः, चेकितानः, वीर्यवान् काशिराजः च, पुरुजित् कुन्तिभोजः, नरपुंगवः शैब्यः च ॥ ५ ॥ विक्रान्तः युधामन्युः च, वीर्यवान् उत्तमौजाः च, सौभद्रः, द्रौपदेयाः च, सर्वे महारथाः एव ॥ ६ ॥

धृष्टकेतु, चेकितान, पराक्रमी काशिराज, पुरुजित् कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य ॥ ५ ॥ विक्रमी युधामन्यु, वीर्यशाली उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु), और द्रौपदीके (पांचों) पुत्र हैं, और ये सबही महारथी हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ- शत्रुसेनामें जो जो प्रधान वीर युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुए हों, उनके गुणदोषों और युद्धकौशलोंको ठीक ठीक प्रकार जानना चाहिये और अपने वीरोंसे उनकी तुलना करनी चाहिये ।

कल्पना इससे हो सकती है। इतना सामर्थ्य कुमारोंमें होता था, इसीलिये उस समयकी आर्य जाती जीवित थी और विजयी थी ।

यह तो कुमारोंकी अवस्था है; भीम, अर्जुन, तो सत्तर वर्षकी अवस्थामें पंहुच चुके थे, विराट और द्रुपद तो उनसे भी बहुतही वृद्ध थे। इतनी बडी आयु होनेपरभी ये वीर तरुणोंके समान लडने की सामर्थ्य रखते थे। सत्तर और अस्सी वर्ष का वीर हाथमें तलवार, गदा अथवा धनुष्यबाण लेकर युद्धभूमिमें अपने स्वराज्य स्थापन करने के युद्धमें लडता है, यह दृश्य जीवित राष्ट्रमें ही हो सकता है। पराधीनतामें आयु क्षीण होती है और मन भी निरुत्साह होता है। स्वराज्य न होने से ये हानियां हैं और स्वराज्य होनेपर कुमार और वृद्धभी महारथी होना संभव है।

(म० भा० उद्योग० अ० १६४-१७१ में) दोनों ओरकी सेनाके रथी, महारथी और अतिरथियोंका वर्णन है । अध्याय १६९ में भीम और अर्जुन का वर्णन है । उद्यो०अ०१७० में अभिमन्यु तथा द्रौपदीके पांचों पुत्रोंका वर्णन है । इसीमें उत्तमौजा, सात्यकि और युधामन्युका वर्णन है। अ० १७१ में शिशुपालपुत्र चेदिराज धृष्टकेतु का वर्णन है। (अ० १६९-१७१) इन अध्यायोंमें पाण्डवोंके वीरोंका वर्णन देखने योग्य है । ' पुरुजित् कुन्तिभोज, एक ही वीरका नाम है। वृष्णिवीरोंमेंसे प्रसिद्ध योद्धा सात्यकि था। युद्धामन्यु और उत्तमौजा पाञ्चाल्य वीर थे और चेकितान यादव कुलोत्पन्न था । शिबिदेशके राजा शैब्य थे। इस प्रकार पाण्डव वीरोंका वर्णन दुर्योधनने किया है। अब वह अपने पक्षके वीरोंका वर्णन करता है—

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अन्वय—हे द्विजोत्तम ! अस्माकं तु ये विशिष्टाः, मम सैन्यस्य नायकाः, तान् निबोध। ते संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ॥ ७ ॥ भवान्, भीष्मः च, कर्णः च, समितिंजयः कृपः च, अश्वत्थामा, विकर्णः च, तथा एव च सौमदत्तिः ॥ ८ ॥ अन्ये च बहवः शूराः सर्वे मदर्थे त्यक्तजीविताः, नानाशस्त्रप्रहरणाः, युद्धविशारदाः (सन्ति) ॥ ९ ॥

हे द्विजोंमें श्रेष्ठ (द्रोणाचार्य) ! अब हमारे पक्षके जो जो प्रमुख वीर, मेरी सेनाके नायक हैं, उनके नाम सुनिये। आपको केवल सूचना देनेके लिये उन के नाम कहता हूं ॥ ७ ॥ आप स्वयं, भीष्म, कर्ण, रणविजयी कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण, तथा सोमदत्त के पुत्र (भूरिश्रवा) ॥ ८ ॥ और भी बहुतसे शूर वीर, सबके सब मेरे लिये अपना जीवन समर्पण करनेको तैयार, नाना प्रकार के शस्त्र चलानेमें निपुण और युद्धमें प्रवीण हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ-अपने सेनापति और सेनानायक किस योग्यताके हैं और वे किस किस विषयमें प्रवीण हैं, और उनमें कौन वीर दिलसे लडनेवाले हैं यह बात ठीक ठीक प्रकार राजाको जाननी चाहिये ॥ ७-९ ॥

(७-९) यहां दुर्योधन अपनी सेनाके मुख्य नायकों का वर्णन कर रहा है। सबसे मुख्य द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह ये वयोवृद्ध और अनुभवी गिने गये हैं। अठारह दिनोंके युद्धमें भीष्म पितामह १७० वर्षके वृद्ध होनेपर भी पूरे दस दिन घोर युद्ध करते रहे, द्रोणाचार्य करीब नौवे वर्षके होनेपर भी उसके बाद पांच दिन युद्ध निभानेमें समर्थ हुए। ये ऐसे बडे वीर थे। इनके पश्चात् कर्ण, कृपाचार्य, भूरिश्रवा (सौमदत्ति), अश्वत्थामा, विकर्ण आदि गिने हैं। युद्धमें इनके काम भी इसी क्रमसे हुए हैं। ये सब वीर महा प्रबल होनेपर भी दुर्योधनका पूर्ण विश्वास कर्ण पर ही था। इस लिये उनके वर्णनमें (समितिंजय) 'युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाला' यह विशेषण कृपाचार्यके लिये प्रयुक्त किया गया है। और (अन्ये मदर्थे त्यक्तजीविताः) 'दूसरे वीर मेरे लिये अपना जीवन देनेको भी तैयार हैं।' ऐसा कहा है। दुर्योधन द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह से बातचीत कर रहा है, ऐसे प्रसंगमें 'दूसरे शूर वीर मेरे विजयके लिये अपना जीवनतक देनेको तैयार हैं' ऐसा कहनेका तात्पर्य यही दीखता है, कि "आप भीष्मद्रोण विशेष योग्यता रखनेवाले वीर हैं यह सत्य है, परंतु आपका मन पाण्डवोंकी ओर होनेसे, मेरे कार्यके लिये जैसा दिलसे युद्ध करना चाहिये वैसा आपसे होना कठिन है" यह उनको बतलाना। दुर्योधनका पूर्ण विश्वास कर्णपर था, तथापि वह ऐसी विकट परिस्थितिमें था कि, वह खुले मुखसे भीष्म द्रोणको युद्धभूमिसे हटा नहीं सकता था। अतः पहिले दिनके महायुद्धका कार्य उन्होंने भीष्म पितामहके ऊपर सौंप दिया। इसका तात्पर्य यह था कि, यदि तरुण अर्जुनके साथ युद्ध करनेमें बूढे पितामहकी समाप्ति हुई, तो दूसरे वृद्ध द्रोणाचार्यको आगे करेंगे, और उनकी समाप्ति

(४) दोनों सेनाओंकी तुलना।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अन्वय-अस्माकं भीष्माभिरक्षितं तत् बलं अपर्याप्तम्, एतेषां तु भीमाभिरक्षितं इदं बलं पर्याप्तं(अस्ति)॥१०॥

भीष्मद्वारा रक्षित हुआ हमारा सैन्य अपर्याप्त है, परंतु भीमद्वारा रक्षित हुआ उनका सैन्य पर्याप्त है ॥ १० ॥

भावार्थ-युद्ध चलानेवाले राजाको उचित है कि, वह सब साधनों और अवस्थाओंका विचार करके अपनी सेनाके और पराई सेनाके बलाबलका विचार करे, और निश्चय करे कि, किसका बल पर्याप्त है और किसका नहीं है; और यदि अपना बल अपूर्ण प्रतीत हुआ, तो उसकी पूर्णता करनेका यत्न करे ॥ १० ॥

पर मेरा कार्य उत्तम प्रकार सिद्ध करनेवाले कर्णको सेनापतिका अधिकार देंगे। पश्चात् उस कर्णके युद्ध कौशलसे अपना विजय तो निःसंदेह सिद्धही होगा। प्रारंभमें नया उत्साह होता है, इसलिये ये दोनों बूढे शत्रुके द्वारा शीघ्रही समाप्त किये जायंगे। पश्चात् अपने कार्यके लिये जीवन तक देनेवाले कर्ण जैसे वीर आवेंगे, तो अपना कार्य निःसंदेह यशस्वी होगा। यह अन्तर्यामीका भाव दुर्योधनके इस वर्णनमें दिखाई देता है। यदि भीष्मद्रोणोंपर कुछ संदेहसा उनके मनमें न होता, तो 'अन्य वीर मेरे लिये जीवन देनेको तैयार हैं,'ऐसे शब्दोंसे वह अन्योंका सन्मान इनके सन्मुख न करता; उनके स्थानपर भीष्मद्रोणोंका ही सन्मान करता। "जिस प्रकार अन्य वीर मेरे कारण अपना जीवन देनेको तैयार हैं वैसे तुम दोनों नहीं, तुम्हारा मन शत्रुओंके हितमें तत्पर है।" इस प्रकार स्पष्ट बोलनेकी अवस्थामें दुर्योधन उस समय नहीं था। क्योंकि युद्ध उपस्थित हुआ है, ऐसे समयमें मुख्य राजाको योग्य ही नहीं कि, वह किसी प्रकार भी अपने वीरोंको निरुत्साह करे। परंतु दुर्योधन भीष्मद्रोणके विषयमें अपने मनमें जलता था और बाहरसे मनका भाव प्रकट करनेमें असमर्थ था; इसलिये उक्त प्रकार का वाक्य उसने कहा, और अपने अंदर का भाव संदिग्ध रीतिसे कुछ अंशमें व्यक्त किया।

युद्ध कलाका एक नियम है कि, विजय चाहनेवाले राजा अपनी सेनाके दो तीन विभाग करें और एक विभाग युद्धभूमिपर कार्यमें लगावे और दूसरा पीछे बचाकर रखे। जब अपनी आगे की सेना थक जावें, तब उसको विश्राम दिया जावे और बचाकर रखी हुई सेना आगे लाई जावे। इस प्रकार नये उत्साहवाली सेना आगे आनेसे जयकी आशा विशेष होती है। दुर्योधनने भीष्मद्रोणको युद्धमें आगे रखा था, और कर्णको बचावकी सेनाविभाग (Reserve force) में रखा था। दुर्योधनकी कल्पनासे भीष्म द्रोणके कार्यके पश्चात् कर्णका युद्धकार्य विशेष होगा। परंतु अन्तमें उलटा बनगया, यह बात और है। दुर्योधन इस हेतुसे दोनों ओरकी सेनाओंकी तुलना करता है, वह उसका भाषण अब देखिये—

(१०) इस श्लोकमें दोनों सेनाओंकी तुलना दुर्योधनने की है। यह तुलना करनेके समय उसने अपने सैन्यके लिये 'अपर्याप्त' कहा है और पांडवोंकी सेनाको 'पर्याप्त' कहा है। इसका ठीक ठीक अर्थ समझमें आनेके लिये श्लोक ७ से ९ तककी टिप्पणी पाठक देखें। ' पर्याप्त और अपर्याप्त '

शब्दके संस्कृत भाषामें दो परस्पर विरोधी अर्थ होते हैं। 'पर्याप्त' = (१) पूर्ण, बस, काफी; (२) [परितः आप्त] चारों ओरसे घेरने योग्य अर्थात् छोटी। 'अ-पर्याप्त' = (१) अपूर्ण, बस नहीं, काफी नहीं, अल्प; (२) [न परितः आप्तुं शक्या] घेरी जानेके लिये अशक्य अर्थात् बडी। ये दोनों अर्थ परस्पर विरुद्ध हैं। अतः यहां कौनसा अर्थ अपेक्षित है यह विवाद टीकाकारोंमें बहुत दिनोंसे चला आरहा है। उद्योगपर्व अ० ५४ श्लो० ६०-७० में दुर्योधन कहता है कि—

"मेरी सेना बडी और गुणवान् है, इसलिये मेरा विजय होगा।" इस कथनका विचार करनेसे पता लगता है कि, युद्धके पूर्व दुर्योधनका यह विश्वास था कि, अपनी सेना विशाल है, और सेनापति अच्छे योद्धा हैं, इसलिये जीत अपनी होगी। दूसरी बात यह है कि, कोई राजा युद्धके प्रारंभमें अपनी सेनाको अपूर्ण, अपर्याप्त और अल्प कहकर निरुत्साहित नहीं करेगा। 'अपनी सेना थोडी होने पर भी हमारा बल बडा है विजय अपनी होगी,' ऐसाही कहेगा। यह सब ठीक है। इस दृष्टीसे इस श्लोकका अर्थ यह होगा कि—' हमारी सेना भीष्मके द्वारा रक्षित है और बडी होनेके कारण घेरी जाने योग्य नहीं है, परंतु पांडवोंकी भीमके द्वारा रक्षित सेना थोडी है अतः घेरी जाने योग्य है,' अर्थात् हमारी सेना पांडवोंकी सेनाको घेर देगी और उनका पराजय करेगी, अतः युद्धके अन्तमें विजय हमारी होगी।

वस्तुतः कौरवसेना ११ अक्षौहिणी और पाण्डवोंकी ७ अक्षौहिणी थी। अतः पाण्डवोंकी छोटी और कौरवोंकी बडी होनेमें किसीको संदेह ही नहीं हो सकता।

ग्यारह अक्षौहिणी सेना सात अक्षौहिणी सेनाको घेर सकती है, इसमें क्या संदेह हो सकता है? दुर्योधन का विश्वास पहिलेसे इसी प्रकार था। परंतु हस्तिनापुरमें जो जो विविध घटनाएं हुई और भीष्मद्रोण आदि प्रमुख वीरोंके जो निज मत अनेक सभाओंके भाषणोंमें प्रकट हुए, उनसे दुर्योधनका करीब करीब यह निश्चय बनता गया कि, युद्धके समय भीष्मद्रोण अपने पूरे बलसे लडेंगे नहीं। इसी प्रकार अन्तिम संधि-सभाके प्रसंगमें जब दुर्योधनने श्रीकृष्ण भगवान्‌को पकडनेकी अनुचित आज्ञा की, उस समय उस सभामें उपस्थित हुए पुरुषोंमेंसे बहुतसे सदस्य पाण्डवोंके और श्रीकृष्ण भगवान्‌के, अनुकूल होनेकी बात दुर्योधनने प्रत्यक्ष देखी थी। (म० भा०उ०अ०१३१) इस प्रकारकी घटनाओंको प्रत्यक्ष देखनेसे दुर्योधनके मनमें यह बात करीब करीब आचुकी थी कि हमारा बल अधिक होनेपर भी वह सब का सब हमारे काममें नहीं आवेगा। सेनासंचालक भीष्म और द्रोण यदि पूरे बलसे न लडे, तो शेष सेना डेढगुणी या दोगुणी होनेपर भी क्या लाभ होसकता है? इसीलिये श्लो० ३ में पाण्डवसेनाको 'महती चमू' कहा है। वस्तुतः वह छोटी थी, परंतु आन्तरिक उत्साहसे बडी थी।

इस बातका प्रमाण देखनेके लिये बहुत दूर जानेकी जरूरत नहीं है। इसी स्थानपर पाठक देख सकते हैं। (इसी प्रथम अध्याय के श्लोक २ से ११ श्लोक तक) राजा दुर्योधन का भाषण द्रोणाचार्यकोही उद्देश करके हुआ है। राजा प्रत्यक्ष आता है और अपनी और परायी सेनाके विषयमें कुछ कहता है, कुछ अपमानके शब्द भी सुनाता है; तथापि द्रोणाचार्य एक भी शब्द नहीं बोलते हैं !!! यह देखकर (अ० १ श्लो० १२ से) भीष्म पितामहने सिंहनाद किया और शंख बजाया, परंतु येभी कुछ अनुकूल अथवा प्रतिकूल बोले नहीं। सम्राट्‌के इतना कहनेपर भी ये दो प्रमुख सेनानायक एक शब्दभी बोलते नहीं और मूकके समान चुप रहते हैं, इस का स्पष्ट अर्थ यही है कि, इनकी आन्तरिक प्रतिकूलता सम्राट्‌की राजनीतिके साथ है। सम्राट् बोलता है, सेनापति उत्तर तक नहीं देते और चुप रहते हैं, यह देख कर सम्राट्‌के अन्तःकरणमें इनसे होनेवाले युद्धके विषयमें पूर्ण निराशा हुई होगी और

इस निराशाको प्रकट करनेके लिये उसने यह कहा होगा कि,– " हमारी सेना डेढगुनी बडी होनेपर भी भीष्म (और द्रोण) के आधिपत्य में रहनेके कारण छोटी होनेके समानही बनी है, और पाण्डवोंकी सेना (वस्तुतः छोटी होनेपरभी) जोशीले भीम के नेतृत्व के अंदर होनेके कारण बडी (होनेके समान प्रभावशाली बनी) है। "

सेना संख्यामें छोटी हो या बडी हो, सेनापति के उत्साहसे कार्य करनेके कारण वह प्रभावशाली बनती है और सेनाचालक निरुत्साह हुआ, तो वही सेना पराभूत होती है। यही बात कौरवोंकी छावनीमें हो गई थी। दुर्योधन की नीतिसे भीष्मद्रोण सर्वथा असंतुष्ट थे, और अन्तःकरणसे पाण्डवोंका हित चाहते थे, तथा युद्ध करके पांडवोंका नाश करनेके सर्वथा विरुद्ध थे। यदि इनका मत कर्णके समान पांडवोंके विरुद्ध होता, तो दुर्योधन की जीत होती। यह अवस्था दुर्योधन ठीक ठीक जानता था, परंतु भीष्मद्रोणोंको युद्धभूमिसे हटा देना भी योग्य नहीं समझता था। इसके मनका यह खेद इस श्लोकमें व्यक्त हुआ है। और यह दर्शानेके लिये द्रोण से कहता है कि '-हमारी सेना भीष्मके आधिपत्य के कारण अपूर्ण है और पाण्डवोंको सेना भीमके आधिपत्यके कारण पूर्ण है। '

परंतु खुले शब्दोंसे सेनापतिका अपमान करनाभी योग्य नहीं है, अतः यह अन्तःकरणकी जलती हुई बात उसने ऐसे शब्दोंद्वारा कही कि, द्रोणके क्रोधित होनेपर इसी वाक्य का दूसरा सरल अर्थ करके बताया जावे, और अपमान करनेके हेतुसे यह वाक्य उच्चारा नहीं गया, ऐसा बताया जावे। जिस प्रकारकी मनोभूमिका में दुर्योधन था; उस अवस्थामें दो प्रकारके अर्थ बोध करनेवाला वाक्य उच्चारा जाना ही सहज प्रतीत होता है। इसी प्रकारका श्लोक भीष्मपर्व (अ० ५१।४-६) में भी है और वहां भी यही अर्थ अपेक्षित समझना योग्य है।

यहांके १० वे श्लोकमें कहा है कि कौरवसेना के अधिपति भीष्म हैं और पाण्डवसेनाके भीम हैं। वस्तुतः पांडवोंके सैन्यके अधिपति धृष्टद्युम्न थे। मुख्य-सेनापति धृष्टद्युम्न थे यह बात सत्य है, परंतु प्रथम दिनके वज्रसंज्ञक व्यूहकी रक्षा करनेके लिये विशेष कुशलताके कारण इस स्थानपर भीमको रखा गया था। इसलिये "पांडवोंकी सेनाकी रक्षा भीम कर रहा है" ऐसा दुर्योधनने यहां कहा; क्योंकि यह बात उसको वहां सामने प्रत्यक्ष दीख रही थी। प्रत्यक्षकी बात देख कर ही दुर्योधन भीमको पाण्डवोंका सेनारक्षक मानता है और वैसाही कहता है। इसी प्रकार (म० भा० भीष्म० अ० २१। १ में) पाण्डवोंकी सेनाको 'भीमनेत्र' अर्थात् भीमद्वारा चलाई जानेवाली, और कौरवसैन्यको 'भीष्मनेत्र' अर्थात् भीष्मद्वारा प्रेरित होनेवाली कहा है। अतः गीताके इस श्लोकमें कहा हुआ वर्णन पूर्वापर इतिहाससे संगत है।

कई लोग कहते हैं कि यदि भीष्मद्रोण विरुद्ध थे तो उनको उचित था कि, वे कौरवोंके पक्षको छोडकर पाण्डवोंके पक्षमें संमिलित होते। परंतु बडे लोगोंको ऐसा करना योग्य नहीं होता। यदि इस समय वे भीष्म द्रोण कौरवपक्षको छोड देते, तो सब जनता कहती कि ' ये बूढे डर गये '। किसी आर्य संतानके अन्तःकरणमें युद्ध और मृत्युको डरने और उस डरके कारण अपना स्थान छोडनेका विचारतक नहीं आना चाहिये, यह शिक्षा भावी संतानको देनेके लिये उनको अपना पक्ष छोडना उचित न था। दूसरी बात यह है कि भीष्मकी प्रतिज्ञा थी कि, सत्यवतीके संतानोंके वंशकी मैं रक्षा करूंगा। महापुरुषोंको प्रतिज्ञाभंग करना कदापि उचित नहीं होता है। तीसरी बात यह है कि, जिस पक्षमें कार्य किया उसी पक्षमें मरना ठीक है, मरनेका समय उपस्थित होनेपर दूसरे पक्षमें जाना सर्वथा अयोग्य है। भीष्मद्रोण तो जानते ही थे कि, इस युद्धमें अपने पक्षका पराजय होगा और हम मारे जांयगे। यह जानते हुए भी वे युद्धभूमिमें खडे

(५) दुर्योधन की आज्ञा।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अन्वय— भवन्तः सर्वे एव हि सर्वेषु च अयनेषु यथाभागं अवस्थिताः भीष्मं एव अभिरक्षन्तु ॥ ११ ॥

(अब) आप सब (वीर) मिलकर सब अयनों अर्थात् सेनाव्यूहोंके द्वारोंमें अपने अपने स्थानोंमें दृढ रहकर भीष्मकी ही सब ओरसे रक्षा कीजिये ॥ ११ ॥

भावार्थ—युद्धके समय सैनिकोंका कर्तव्य है कि वे अपने अपने स्थानोंमें रहें, डरकर पीछे न भागें, और सेनापतिद्वारा कहा हुआ कर्तव्य दक्षतासे सिद्ध करनेमें तत्पर रहें, और सब मिल कर सेनापति और सेनानायकोंकी रक्षा करें, और अपने पक्षकी जीत करनेके लिये अपने पराक्रमकी पराकाष्ठा करें।

रहे। यही उनका कर्तव्य था। अतः यह कोई न कहे कि वे पाण्डवोंके पक्षको मिल जाते तो अधिक योग्य होता। वे वैसा करते तो आर्य जातीके लिये बहुत बुरा उदाहरण हो जाता। जो भीष्मद्रोणोंने किया वही उनके लिये उस समय करना अत्यन्त योग्य था। उनके आचरणोंको देख कर ही हम लोग अपने कर्तव्योंको समझ सकते हैं। अस्तु। इस भाषणके पश्चात् दुर्योधन अपने सैनिकोंको जो आज्ञा देता है वह देखिये—

(११) श्लोक ३ से १० तक राजा दुर्योधनका वक्तव्य द्रोणाचार्यको संबोधन करके हुआ है। इसको सुनकर भी द्रोणाचार्य चुप रहे और कुछ भी बोले नहीं! यह आश्चर्य की बात देखकर राजा दुर्योधन कुछ देर स्तब्ध हुए। तब भी आचार्यजीसे कुछ उत्तर नहीं आया! संभव है कि, राजा दुर्योधनने आचार्यजीके चुप रहनेका कारण मनही मनमें समझा होगा। द्रोणाचार्य पाण्डवोंके विनाशके लिये चलाये इस युद्धसे सर्वथा प्रतिकूल थे। इसलिये उनसे उत्तर की प्रतीक्षा करना व्यर्थ है, और अधिक छेडनेपर कदाचित् यहां ही युद्धभूमिमें खडे होकर कुछ प्रतिकूल बातें सुनायेंगे। इस कारण इस समय द्रोणाचार्यजीको छेडना अच्छा नहीं है, ऐसा जानकर वे चुप होगये।

इस श्लोकमें दुर्योधनने कहा है कि 'सब सैनिक भीष्मकी रक्षा करें।' वस्तुतः भीष्म महाप्रतापी योद्धा थे, और उनको किसीकी सहायताकी आवश्यकता नहीं थी। तथापि उनको एक डर था, वह यह कि उनकी प्रतिज्ञा थी कि 'शिखण्डी पर शस्त्र न चलाऊंगा।' क्यों कि शिखण्डी पुरुष न था, किसी उपायसे स्त्रीका पुरुष बन गया था। भीष्मपितामह वीर थे और वीरसे लडनेके लिये सिद्ध थे। शिखण्डीभी महारथी था, परंतु स्त्री रूपमें उत्पन्न होनेके कारण उसपर शस्त्र चलानेके लिये वे तैयार न थे। अतः यदि पाण्डवोंने शिखण्डीको सामने खडा किया, तो भीष्म उसपर शस्त्र न चलावेंगे और व्यर्थ मारे जायंगे। यह दुर्योधन जानता था। इस उद्देश्यसे सब सैनिकों और सेनाध्यक्षोंको संबोधन करके राजा दुर्योधनने ऐसा भाषण किया कि " हे सैनिको! तुम्हारे आधीन जो जो पथक हैं, उसको सज्ज करो, अपने सेनाविभाग के आगे सेनापति खडे रहें, सब सावधान होकर अपने स्थानमें दक्षतासे रहें, हरएक अपने अपने अध्यक्षकी आज्ञा पालन करे, कोई वीर अपने स्थानसे पीछे न भाग जावे, हरएक अपने स्थानमें रहते हुए उत्तम प्रकार लडे, तथा आप सब मिल कर भीष्मपितामहकी ही रक्षा करें, क्योंकि इस युद्धको चलाने

(९) शंखनाद।

संजय उवाच— तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥१२॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३॥

अन्वय— तस्य हर्षं संजयन्, प्रतापवान् कुरुवृद्धः पितामहः, उच्चैः सिंहनादं विनद्य, शङ्खं दध्मौ॥ १२॥ ततः शङ्खाः च भेर्यः च पणवानकगोमुखाः सहसा एव अभ्यहन्यन्त। सः शब्दः तुमुलः अभवत्॥ १३॥

संजय बोले— (दुर्योधनके मनको) हर्षित करनेके लिये प्रतापी, कौरवोंमें अति वृद्ध, (भीष्म) पितामहने ऊंचे स्वरसे सिंहनाद करते हुए अपना शंख बजाया॥ १२॥ इसके पश्चात् अनेक शंख, नौबतें, डंके, मृदंग और गोमुख नामक बाजे एकदम बजने लगे। वह ध्वनि बहुत ही प्रचंड हुआ॥ १३॥

का संपूर्ण भार उनहींपर रखा है।" इस प्रकार सब सैनिकों, सेनानायकों और सेनापतियोंको उपदेश करनेके बादभी द्रोणाचार्यको चुप खडे रहे देख कर दुर्योधन भीष्मपितामहकी ओर देखने लगे। भीष्मपितामहभी कुछ बोले नहीं, परंतु उन्होंने गर्जना करके अपना शंख बजाया, उसका वृत्तांत आगे देखिये—

(१२) यहां संजयने कहा है कि, 'भीष्मपितामहने सिंहनाद किया और शंख फूंका, वह दुर्योधनको हर्षित करनेके लिये था।' परंतु सत्य रीतिसे देखा जाय, तो भीष्मपितामह भी इस प्रकारके युद्धके विरुद्ध थे। और यदि उनके मनमें दुर्योधनको हर्ष देना सचमुच होता, तो वे इस समय कुछ तो कह देते। कुछभी न बोलते हुए केवल सिंहनाद करते हैं और शंख बजाते हैं, इससे यहां भीष्मपितामहके मनमें क्या था, इस विषयमें प्रबल शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। पाठक इसका विचार करें। समय समयपर भीष्म पितामहकी जो वक्तृताएं हुई हैं, वे भी दुर्योधन की नीतिके विरुद्ध हैं। द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह राज्य शासनके अधिकारी होनेके कारण राजाज्ञा होनेपर आज्ञाका पालन करते हुए वे अपने सेनापतिके स्थानपर खडे हुए, यह नियमपालन की दृष्टिसे बडा योग्य है। परंतु वे मनसे दुर्योधनको हर्ष देनेके लिये सेनापतिका कार्य करते थे, ऐसी बात नहीं थी। समयके अनुसार कर्तव्य करना एक बात है, और दिलसे उस नीतिके साथ सहानुभूति रखना दूसरी बात है। द्रोण और भीष्म केवल कर्तव्य करते थे। दुर्योधनकी नीति उनको पसंद न थी।

(१३) भीष्म पितामह का सिंहनाद और शंखनाद सुनते ही कौरवोंकी सेनामें रणवाद्योंका प्रचंड घोष हुआ। शंखनाद और रणवाद्योंका नाद युद्धके उत्साहका सूचक है। रणवाद्योंका शब्द सुनतेही सैनिकोंका भय दूर होता है, युद्धकी उष्णता शरीरमें संचार करती है, और पहिला उत्साह द्विगुणित होता है। कौरवोंकी सेनाने इस प्रकारका रणवाद्योंका घोष करके पाण्डवोंको एकप्रकारसे आह्वान किया कि, 'हम युद्धके लिये तैयार हैं, तुममें युद्धके लिये हमारे सन्मुख आनेका धैर्य है, तो आओ।' पाण्डवोंकी तो पहिलेसे ही तैयारी थी, कौरवोंके सैन्यका रणवाद्योंका घोष सुनते ही, पाण्डवोंने भी वैसाही उत्तर दिया। इसका विस्तारपूर्वक वृत्तान्त देखिये—

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

अन्वय—ततः श्वेतैः हयैः युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ माधवः पाण्डवः च दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥ हृषीकेशः पाञ्चजन्यं, धनंजयः देवदत्तं, भीमकर्मा वृकोदरः पौण्ड्रं महाशङ्खं दध्मौ ॥ १५ ॥ कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः अनन्तविजयं, नकुलः सहदेवः च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥ परमेष्वासः काश्यः, महारथः शिखण्डी च, धृष्टद्युम्नः, विराटः च, अपराजितः सात्यकिः च ॥ १७ ॥ द्रुपदः, द्रौपदेयाः च, महाबाहुः सौभद्रः च, हे पृथिवीपते ! पृथक् पृथक् शङ्खान् दध्मुः ॥ १८ ॥ सः तुमुलः घोषः नभः च पृथिवीं च एव व्यनुनादयन्, धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ॥ १९ ॥

इसके पश्चात् सफेद घोडोंवाले बडे रथमें विराजमान हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी अपने दिव्य शङ्ख बजाये ॥ १४ ॥ श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य नामक शङ्ख, अर्जुनने देवदत्त शङ्ख, और भयानक कर्म करनेवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महान् शङ्ख बजाया ॥ १५ ॥ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक शङ्ख, और नकुलने सुघोष तथा सहदेवने मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥ बडे धनुष्यधारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, कभी पराजित न हुए सात्यकी, राजा द्रुपद, द्रौपदीके सब पुत्र,

(१४-१९) पाठक यहां देखें कि भीष्मपितामहके शंखनादका वर्णन कौरवसेनाके वर्णनके प्रसंगमें किया है। उसमें द्रोणाचार्यके भी शंखनादका वर्णन नहीं है; कई बडे कौरव वीरोंने विशेष उत्साहसे शंखनाद किये होते, तो उसका वर्णन अवश्य यहां किया जाता। परंतु जहां अंदरका निज उत्साहही नहीं है, जो केवल वेतन लेनेके कारण ही युद्धभूमिमें खडे हुए हैं, और जिनमेंसे कई वीर समझते हैं कि, अपना पक्ष अधर्मका है, उनके शंखनाद विशेष वर्णन करने

(७) अर्जुन का सेनानिरीक्षण।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु आदि सबोंने अपने अपने शङ्ख बजाये ॥ १७-१८ ॥ वह भय उत्पन्न करनेवाला शङ्खनाद आकाश और पृथ्वीमें गूंजने लगा, और उसने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनादिकोंके हृदयोंको फाड डाला ॥ १९ ॥

भावार्थ—युद्धके समय रणवाद्य बजाकर अपने सैनिकोंको उत्साहित करना चाहिये।

अन्वय— अथ कपिध्वजः पाण्डवः, धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् दृष्ट्वा, शस्त्रसंपाते प्रवृत्ते (सति), धनुः उद्यम्य ॥ २० ॥ (हे) महीपते! तदा हृषीकेशं इदं वाक्यं आह।—

इसके अनंतर हनुमानकी ध्वजावाले अर्जुनने, कौरवोंको उत्तम व्यवस्थासे खडे देख, शस्त्र चलानेका समय आनेपर धनुष्य उठाया ॥२०॥ और, हे राजा! श्रीकृष्ण से ऐसा भाषण करने लगे।—

भावार्थ— युद्धका समय उपस्थित होनेपर अपनी पूर्ण तैयारी करके आगे बढना चाहिये।

योग्य कदापि नहीं हो सकते। जिनका शंख नाभिस्थानके जोरसे बजता है उसीका प्रभाव विशेष होता है। इस प्रकारके शंख तो कौरवोंकी ओरसे बजे ही नहीं !! परंतु पाण्डवोंकी ओर देखिये, यहां एक एक वीरका नाम लेलेकर उसके शंख बजानेका वर्णन किया है, क्यों कि वैसे ही विशेष बलसे पाण्डवोंके शंख बजेथे। इसका कारण यहहै कि, पाण्डवोंकी ओरके सब वीरोंका निश्चय हो चुका था कि, 'या तो हम मर जांयगे अथवा अपना गया हुआ स्वराज्य अपनी शक्ति और संघटनासे प्राप्त करेंगे।' तीसरा विचार उनमें नहीं था।

इस शंखनादका प्रकरणही देखा जावे, तो पता लगता है कि कौरवोंके वीरोंमें वैसा उत्साह नहीं था, जैसा कि पाण्डवोंके वीरोंमें दिखाई देता था। इसका विचार करके देखा जाय तो १० वे श्लोकका अर्थ 'भीष्मके नेतृत्वमें जो हमारा (कौरवोंका) सैन्य है वह अपूर्ण है, परंतु भीम-के नेतृत्वमें जो पाण्डवोंका सैन्य है वह पूर्ण है।' ऐसाही प्रतीत होगा। दुर्योधन अपनी सेनाकी अवस्था देखकर ही वैसे आशयका वक्तृत्व कर रहा है। इस श्लोकका अर्थ करनेके समय ये प्रकरण भी देखने आवश्यक हैं।

इस प्रकार युद्धसूचक शंखनाद होते ही वीर अर्जुन अपनी और परायी सेनाका निरीक्षण करनेके उद्देश्यसे आगे बढते हैं, उसका वर्णन अब देखिये—

(२०) 'धृतराष्ट्र का सैन्य उत्तम रीतिसे खडा और युद्धके लिये सिद्ध हुआ देखकर अर्जुन ने अपना धनुष्य चढाया और युद्ध करनेका प्रारंभ करनेके पूर्व भगवान् श्रीकृष्णजीसे निम्नलिखित वाक्य कहा।' यह इस श्लोकका आशय है।

इस स्थानपर अर्जुन के लिये 'कपि-ध्वज' शब्दका प्रयोग किया है। अर्जुनकी ध्वजापर कपि अर्थात् 'वन्दर' किंवा हनुमानजीका चिन्ह था। महाभारतमें कई प्रसंगोंमें सचमुच हनुमानजी

अर्जुनके ध्वजदण्डपर बैठे थे, ऐसाही वर्णन है। कई स्थानोंपर तो युद्धके प्रसंगमें हनुमानजीके भूत्कारशब्द करनेका भी वर्णन है। इससे पता लगता है कि, सचमुच हनुमानजी अर्जुनके ध्वज-दण्डपर विराजमान थे। परंतु साधारणतः देखा जाय तो रथपर जो ध्वजा होती है, वह कपडेकी होती है और उसपर कुछ चिन्हविशेष होते हैं। इसी प्रकार अर्जुनकी ध्वजापर हनुमानजीका चित्र होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार हरएक वीर की ध्वजापर अलग अलग चिन्ह थे, द्रोणाचार्य की ध्वजापर कमंडलु था, इसी प्रकार अन्यान्य वीरोंकी ध्वजाओंपर अन्यान्य चिन्ह थे।

'कपि' शब्दका वेदमें अर्थ 'सूर्य' ऐसा भी है। 'क' नाम उदकका पान करनेवाला। सूर्य जलको आकर्षित करता है, इस लिये उसका यह नाम है। यदि यह अर्थ यहां लिया जाय, तो अर्जुनकी ध्वजापर सूर्यचिन्ह था ऐसा भी कहा जा सकता है। अथर्ववेदमें 'एता देवसेनाः सूर्यकेतवः।' (अथर्व० ५।२१।१२) अर्थात् सूर्य चिन्हवाली ध्वजाओंको लेकर ये देवसेनाएं चलती हैं, ऐसा वर्णन है। आर्यवीरोंका सूर्यध्वज होना स्वाभाविक है, परंतु महाभारत या रामायणमें सूर्यचिन्हवाली ध्वजाका वर्णन नहीं है। आर्यवीर अर्जुन की ध्वजा तो वंदर चिन्हवाली (हनुमानजीके चिन्हवाली) महाभारतमें निश्चित है। इसलिये 'कपि' शब्दके दूसरे कई अर्थ हों, यहां 'हनुमान' यही अर्थ अपेक्षित है, इसमें संदेह नहीं।

अर्जुनकी 'कपिध्वजा' क्या सूचित करती है? उसकी चंचलता सूचित करती है। वंदरकी चंचलता स्पष्ट है। वंदर चंचल है, और वही अर्जुनकी ध्वजा, झंडा अथवा चिन्ह है। अर्जुन की मानसिक चंचलता का अनुभव अभी थोडी देरमें पाठकोंको हो सकता है। अर्जुनपर पाण्डवोंके पक्षका पूर्ण विश्वास, अर्जुन युद्ध करेगा तोही इनके पक्षकी जीत होगी, और यदि अर्जुन युद्ध न करेगा तो पाण्डवोंको स्वराज्य प्राप्तिकी आशा नहीं। ऐसी अवस्था है, यह बात अर्जुन भी जानता था, परंतु स्वभावधर्म दूर होना कठिन है। अर्जुन युद्धकी तैयारीसे रणस्थलपर आगया; शंखनाद होते ही युद्धकी इच्छासे धनुष्य उठाने लगा; अब दोनों सैन्योंके वीरोंका निरीक्षण करनेकी इच्छा कर रहा है, और जब निरीक्षण करेगा, तब मोहित होकर युद्धसे पीछे हटनेका विचार करेगा!!! यह चंचलताकी परम सीमा है!! ऐसे वीरकी 'कपि' ध्वजा होना ही स्वाभाविक है!

स्वराज्यप्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले पक्षमें ऐसे चंचल वीर होना योग्य नहीं है। स्वराज्यके लिये लडनेवाले वीर 'स्थितप्रज्ञ' चाहिये। उनमें चंचलता नहीं चाहिये। चंचल वीर युद्धकी सब तैयारी होनेके पश्चात् ऐन युद्धके समय युद्धभूमिसे हटेंगे और सब स्वराज्यपक्षकी हानि होगी। पांडवोंका पक्ष सत्पक्ष था, इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् उनके सहायक थे; अतः उन्होंने सदुपदेशद्वारा अर्जुनकी चंचलता दूर की और उनको 'स्थितप्रज्ञ' बनाया। तत्पश्चात् अर्जुन युद्ध चलानेमें समर्थ हुआ और विजयी बना। मनकी चंचलता दूर करनेके बादही मनुष्य अपना कर्तव्य पालन कर सकता है। अर्जुनकी यह मनोभूमिका उसकी कपिध्वजासे विदित हो सकती है।

इसमें दूसरी भी एक बात है। अर्जुन इन्द्रका पुत्र है। इन्द्र नाम सामान्य 'विद्युत्' का अथवा अन्तरिक्षस्थानीय मेघमंडलमें संचार करनेवाली विद्युत्का वाचक प्रसिद्ध है। इसीका एक अंश मनुष्यका मन बना है। अन्य सूर्यादि देवताओंके अंशोंके अन्य इंद्रिय बने हैं। देखिये—

इन्द्र (विद्युत्)	मन
सूर्य	नेत्र
वायु	प्राण
दिशा	कर्ण
अग्नि	वाणी
आप्	रसना

अर्जुन उवाच- सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

अन्वय—हे अच्युत ! उभयोः सेनयोः मध्ये मे रथं स्थापय ॥ २१ ॥ यावत् अहं योद्धुकामान् अवस्थितान् एतान् निरीक्षे; अस्मिन् रणसमुद्यमे मया कैः सह योद्धव्यं ? ॥ २२ ॥

हे श्रीकृष्ण ! दोनों सैन्योंके मध्यमें मेरा रथ खडा करो ॥ २१ ॥ इतने में युद्धकी इच्छासे यहां उपस्थित हुए इन वीरोंको मैं देखता हूं ! मुझे इस युद्धमें किनके साथ लडना है ? ॥ २२ ॥

इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके अंशोंसे अन्यान्य इंद्रियां बनी हैं । जैसा विश्वमें इन्द्र सब देवोंका राजा है, इसी प्रकार देहमें मन संपूर्ण इंद्रियों (देहस्थानीय देवतांशों) का राजा है । मनका विजय होनेसे सबकी जीत और मनके पराजयसे सबकी हार होती है। जैसा पांच पांडवोंका विजय अर्जुनपर निर्भर था, उसी प्रकार इंद्रियोंका विजय मनपर निर्भर है। यह समता पाठक विचार करके जान लें । मनके साथ प्राणका संबंध नित्य है । सब योगशास्त्रोंमें यह बात स्पष्ट कही है । यह प्राणवायुका अंश है ।-

वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। ऐ० उ० १

वायु प्राण बन कर नासिकामें रहा । यह प्राण मनका सहचारी है। इस विषयमें योगग्रंथोंमें कहा है—

मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥
ह० यो० प्र० १ । ४९

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥
ह० यो० प्र० २ । ४२

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥
ह० यो० प्र० २ । २

"मारुत अर्थात् वायु स्थिर होनेसे मनुष्य मुक्त होता है । मारुत अर्थात् वायु-प्राण-मध्य संचारी होगया तो मन स्थिर होता है। प्राण चंचल हुआ तो मन चंचल होता है और प्राणके स्थिर होनेसे मन भी स्थिर हो जाता है। " इस सब वर्णनसे पता चल सकता है कि, प्राणका और मन का घनिष्ट संबंध है। ऊपर बताया है कि, इन्द्रका पुत्र मनुष्य-देहमें मन है और वायुका पुत्र प्राण है । कपि, हनुमान, मारुती जो अर्जुनके ध्वजदण्डपर था, वह भी 'वायु-पुत्र' ही है । कितना साम्य है यह देखिये। यह साम्य योंही नहीं हुआ है, यह विशेष हेतुसे ही है। इस शरीररूपी रथमें मन 'धर्म'के विजयके लिये प्रयत्न करता है, प्राण उसको सहायता करता है और ये सब 'धर्म' के कार्यमें लगे रहे तो भगवान् उनकी सहायता करते हैं ।

इन्द्रपुत्र अर्जुन और वायुपुत्र(मारुती) हनुमान के रूपकका यह तत्त्व है। इसीलिये मारुती अर्जुन की ध्वजापर है । यह सनातन तत्त्व यहां इस रूपकसे दर्शाया है । यह विचार करेंगे तो पाठकोंको वायुपुत्र मारुतीका और इन्द्रपुत्र अर्जुनका प्रत्यक्ष दर्शन हो सकेगा, और भगवानके द्वारा चलाये जानेवाले रथपर ये दो कैसे खडे हैं इसका ज्ञान होगा । अस्तु ।

अपना अर्जुन अब क्या कह रहा है देखिये—

(२१—२३) यहां अर्जुन भगवान् अच्युत श्रीकृष्णसे कहता है कि 'मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खडा करो, ताकि मैं इन सब वीरोंको देख लूं ।' यहां भगवान् श्रीकृष्णका नाम 'अच्युत' आया है । इसका अर्थ "जो कभी पतित नहीं होता, जो अपने स्थानपर दृढ रहता है, जो स्वयं ध्रुव है, जो कभी गिरता नहीं, जो स्थिर रहता है,

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥
संजय उवाच — एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥

अन्वय-दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्य युद्धे प्रियचिकीर्षवः ये एते अत्र समागताः, तान् योत्स्यमानान् अहं अवेक्षे ॥२३॥

और दुष्टबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन का प्रिय करनेकी इच्छासे जो ये यहां इकट्ठे हुए हैं, उन लडनेवाले वीरोंको मैं देख लूं ॥ २३ ॥

भावार्थ—युद्ध करनेवाले वीर का कर्तव्य है कि, वह अपने सन्मुख विरुद्धपक्षमें युद्ध के लिये उपस्थित हुए वीरोंको अच्छी प्रकार देखे, उनकी योग्यता ठीक प्रकार जाने और तदनुसार उनसे युद्ध करे ॥ २१-२३ ॥

अन्वय—संजयः उवाच—हे भारत ! एवं गुडाकेशेन उक्तः हृषीकेशः, उभयोः सेनयोः मध्ये, भीष्मद्रोण-प्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षितां (प्रमुखतः) रथोत्तमं स्थापयित्वा, 'पार्थ ! एतान् समवेतान् कुरून् पश्य, इति उवाच ॥ २४-२५ ॥

संजय बोले—हे भरतकुलोत्पन्न धृतराष्ट्र ! जब अर्जुनने श्रीकृष्णसे ऐसा वचन कहा, तब उन्होंने, भीष्म और द्रोणके सामने तथा सब राजाओंके अग्रभागमें उत्तम रथको खडा करके कहा कि, 'हे अर्जुन ! इन इकट्ठे हुए कौरवोंको देख' ॥ २४--२५ ॥

जो चंचल नहीं है, जो अविनाशी और सनातन है, सदा एकसा रहनेवाला है और जो दबता नहीं।' अर्जुन चंचल है, उसका निश्चय स्थिर नहीं रहता; परंतु उसका सहायक मित्र ध्रुव, दृढ, स्थिर है। अर्जुनका विश्वास इस सनातन मित्र-पर दृढ है, इसी लिये अर्जुन इस युद्धसे पार हुआ, विजयी हुआ, और धर्मका राज्य जगत्में स्थापन करनेके यशका भागी बना।

नर और नारायण एकही रथपर खडे हैं। नर प्रयत्न करता है और नारायण उसकी सहायता करता है। जो नर—पुरुषार्थी मनुष्य-नारायणको अपना सच्चा मित्र मानता और उसपर दृढ विश्वास रखता है, उसका बेडा पार होता है। हरएक नर युद्धभूमिमें खडा है, इसलिये नारायणपर विश्वास रखना हरएक के लिये लाभकारी है।

अपना अर्जुन अब युद्धभूमिमें जाकर वीरोंको देखता है और आगे क्या करता है देखिये—

(२४—२५) इन श्लोकोंमें श्रीकृष्णका नाम 'हृषीकेश' आया है। 'हृषीक' नाम इंद्रियोंका जो 'ईश' है वह हृषीकेश है। जिसके स्वाधीन अपनी इंद्रियां हैं। जो इंद्रियोंके आधीन नहीं हुआ प्रत्युत जिसके आधीन इंद्रियां हैं। जो इंद्रियोंको स्वाधीन रखकर उनको उत्तम सत्कर्मोंमें प्रेरित करता है और जिसकी इंद्रियां स्वभावतः ही बुरे कर्मोंकी ओर नही जातीं, वह हृषीकेश है। श्रीकृष्ण 'हृषीकेश' (हृषीक+ईश) थे, इसीलिये 'अच्युत' अर्थात् अविनाशी, स्थिर और दृढ थे।

जो सुदृढ और ध्रुव बनना चाहता है, उसको चाहिये कि वह हृषीकेश बने और अपनी सब इंद्रियां स्वाधीन रखे और उनको कभी बुरे कर्मोंमें प्रवृत्त न करे। इंद्रियां स्वाधीन रखनेसे ही 'भग+वान्' अर्थात् भाग्यवान् बनना संभव है और तभी वह 'श्री—कृष्ण' अर्थात् ऐश्वर्यको अपनी ओर खींचनेवाला किंवा 'कृष्ण' अर्थात् सबको अपनी ओर आकर्षित करनेवाला बन सकता है। 'पुरुषोत्तम, (मनुष्योंमें श्रेष्ठ) बनने की यही युक्ति है।

इन श्लोकोंमें अर्जुन का नाम 'गुडाकेश' आया है। 'गुडाका' नाम निद्राका जो 'ईश' अर्थात् स्वामी है, अर्थात् जिसने निद्रा, सुस्ती, आलस्य आदि दोषोंको जीत लिया है। कार्य करनेके समय जिसको सुस्ती या निद्रा नहीं घेरती, विश्राम लेना या न लेना जिसके आधीन है, निद्रा जिसकी आज्ञामें है, अर्थात् जब वह विश्राम लेना चाहे और जितनी देरतक विश्राम लेना चाहे, तब और उतनी देरतक ही जो गाढ निद्रासे युक्त हो सकता है, अथवा विश्रांति ले सकता है वह गुडाकेश है। जिसको दस बीस पल निद्रा लेनेकी इच्छा हुई, तो झट गाढ निद्रा लेसकता है और ठीक दस बीस पलोंके बाद उठकर कार्य करने लगता है, जो निद्राके वश हुआ तो घण्टोंतक सोया पडा नहीं रहता, वह 'गुडाका—ईश' किंवा 'निद्रा – स्वामी' है। जगत् में बहुतही थोडे मनुष्य हैं कि जिनका ऐसा प्रभुत्व निद्रापर होता है। प्रायः सभी लोग सोनेके लिये भी २०। २५ पल बिस्तरेपर कलवटें लेते रहते हैं और उठनेके लिये वैसे ही हिलाने पडते हैं। जिस प्रकार हम किसी कमरेमें झट जाते हैं उस प्रकार जो समयपर झट गाढ निद्राके वश हो जाते हैं और समयपर विना सुस्त हुए उठते हैं, उनके आधीन निद्रा हुई, ऐसा कह सकते हैं। यह एक बडी भारी सिद्धि है, जो उस समयके संपूर्ण भारतीय वीरोंमें अकेले अर्जुनको ही प्राप्त थी। यह सिद्धि अत्यंत कठिन है। मनकी एक विशेष अवस्था रही, तोही यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है; अन्यथा नहीं।

बीसवे श्लोककी व्याख्याके प्रसंगमें बताया है कि, अर्जुन इन्द्रपुत्र होनेके कारण आध्यात्मिक विचारमें शरीरमें मनस्थानीय है। पाठक जान सकते हैं कि, मन ही 'निद्राका स्वामी' है। यदि मन सोया तभी निद्रा आती है। अन्य इंद्रियां कितनी भी शान्त की जांय, या स्थिर की जांय, जबतक मन अपने व्यापारोंसे निवृत्त नहीं होता, तबतक कभी निद्रा नहीं आती। यह देखनेसे स्पष्ट होजाता है कि, मनही (गुडाकेश) निद्राका स्वामी है। अर्जुनको भी यह नाम इसी लिये दिया गया है और इसी कारण सब कौरव पांडव वीरोंमें यही अर्जुन एक निद्राका स्वामी कहा गया है। शरीरके अन्दर भी अकेला मन ही निद्राका स्वामी है। पाठकगण यह साम्य देखें और समझें कि, यह समानता किसी विशेष हेतुसे लिखी है।

इन श्लोकोंमें 'भारत' नाम धृतराष्ट्रके लिये आया है। आगे कई प्रसंगोंमें यह नाम अर्जुन के लिये भी प्रयुक्त होगा। महाभारतमें अन्यान्य स्थानोंमें यह शब्द युधिष्ठिर आदि अन्यान्य वीरोंके लिये भी प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है "भारत देशका हित चाहनेवाला, भारत देशके निवासियोंका हित करनेवाला, भारत देशकी भाषा जिसकी जन्मभाषा है और उसपर जिसका प्रेम है, तथा भारत देश, भारतीय लोग और भारती भाषा इनका हित करनेके लिये जो आत्मसमर्पण करनेको तैयार है, अथवा यह करना जिसका कर्तव्य होना स्वाभाविक है।" धृतराष्ट्रका और दुर्योधनका यह कर्तव्य था, परंतु उन्होंने यह नहीं किया; अर्जुनादि पाण्डवोंका यही कर्तव्य था और उसके लिये अर्थात् भरतभूमिमें 'धर्म' का राज्य स्थापन करने और अधर्म राज्य हटानेके लिये उन्होंने आत्मसमर्पण किया था। यही धर्मराज्य स्थापन करना ईश्वरका कार्य है, जो इस कार्यको करते हैं वे अपने कर्मसे परमे-

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अन्वय—अथ पार्थः उभयोः सेनयोः अपि, तत्र स्थितान् पितॄन्, पितामहान्, आचार्यान्, मातुलान्, भ्रातॄन्, पुत्रान्, पौत्रान् तथा सखीन् ॥ २६ ॥ श्वशुरान्, सुहृदः, च एव अपश्यत् । सः कौन्तेयः तान् सर्वान् बंधून् अवस्थितान् समीक्ष्य ॥ २७ ॥ परया कृपया आविष्टः, विषीदन् इदं अब्रवीत् ।

तब अर्जुनने दोनों सेनाओंमें वहां उपस्थित हुए अपने ही बडों, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, तथा मित्रों ॥ २६ ॥ ससुरों, और स्नेहियोंको देखा। वह अर्जुन उन सब भाईयोंको ही उपस्थित हुए देखकर ॥ २७ ॥ अत्यंत करुणासे व्याप्त हुआ और उदास मनसे बोलने लगा।—

भावार्थ—कठिन प्रसंगमें अपने संबंधियोंका मोह मनुष्यको स्वकर्तव्यसे भ्रष्ट करता है। अतः मनुष्यको ऐसे मोहसे बचना चाहिये।

श्वरकी ही पूजा करते हैं। इस लिये कहा जाता है कि, कौरवोंने अपना कर्तव्य पालन नहीं किया और पाण्डवोंने कर्तव्यका पालन उत्तम रीतिसे किया, और इस कारण परमेश्वरका सहाय्य उनको प्राप्त हुआ। जो ऐसा करेंगे उनका ईश्वर निःसंदेह सहायकारी होगा।

यहां कहा है, ' रथको दोनों सेनाओंके मध्यमें रखो'। अध्यात्म पक्षमें रथ शरीर ही है, जो बुरे और भलेके बीच सदा रखा रहता है। ' शरीरं रथमेव तु। इंद्रियाणि हयान्याहुः॥ " (कठ उ० ३। ३-४) शरीर रथ है और इंद्रियां घोडे हैं। यहां मन इंद्रियोंका संचालक है। इत्यादि बातें पाठक अब विचार करके जान सकते हैं।

अब अर्जुन दोनों सेनाओंका निरीक्षण करता है, उसमें उन्होंने क्या देखा और उसका परिणाम उसके मनपर कैसा हुआ, यह अब देखिये—

(२६-२८) यहां अर्जुन दोनों सेनाओंमें युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुए अपने सब इष्ट-मित्रों, भाईबंधुओं और पूज्य पुरुषोंको देखकर अत्यंत कृपासे खिन्न होता है। अर्जुनके मनमें बडी कृपा, दया अथवा करुणा उत्पन्न हुई है, युद्धका डर उसको नहीं था। वह वीर था और अपने पराक्रम को भी जानता था। इसलिये उसको निश्चय था कि, युद्ध शुरू होनेके पश्चात् इन सबका संहार अवश्य होगा। इनके बचनेकी कोई आशा नहीं है। अपने शौर्य और युद्धकौशल के कारण और भगवान् श्रीकृष्णकी उत्तम योजनाके कारण निःसंदेह हमें विजय होगा, और हमारे जयका अर्थ ही यह है कि, भीष्म, द्रोण तथा अन्यान्य बडे पूज्य पुरुष मारे जांय, उनमेंसे कोई न बचे, सब भाईयोंकी समाप्ति हो जावे। अपने निज शौर्यके कारण शत्रुपक्षके वीरोंके बचनेकी कोई आशा ही नहीं है, ऐसा अर्जुनके मनमें निश्चय हुआ था। इसलिये उसको उनकी दया आगई और उसके मनमें अत्यन्त खेद हुआ और वह दीन होकर कहने लगा—

(८) अर्जुनका खेद ।

शरीरपर परिणाम ।

अर्जुन उवाच— दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

अन्वय—हे कृष्ण ! इमं स्वजनं युयुत्सुं समुपस्थितं दृष्ट्वा, ॥२८॥ मम गात्राणि सीदन्ति, मुखं च परिशुष्यति, मे शरीरे वेपथुः रोमहर्षः च जायते ॥ २९ ॥ हस्तात् गाण्डीवं स्रंसते, त्वक् च एव परिदह्यते, अवस्थातुं च न शक्नोमि, मे मनः भ्रमति इव ॥ ३० ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! ये अपने ही संबंधी जन युद्ध करनेकी इच्छासे इकट्ठे हुए देखकर ॥ २८ ॥ मेरे अवयव शिथिल हो रहे हैं, मुख सूखने लगा है, मेरे शरीरमें कँपकँपी होकर, मेरे रोएँ भी खडे होते हैं ॥ २९ ॥ गाण्डीव धनुष्य हाथ से गिरने लगा है, शरीरकी चमडीमें दाह हो रहा है, मेरेसे खडा नहीं रहा जाता और मेरा मन चक्कर सा खा रहा है ॥ ३० ॥

भावार्थ— मोह और करुणा बडे वीरको भी दुर्बल बना देती है । मोहसे शरीरका बल घटता है । इसलिये मोहके वशमें नहीं होना चाहिये । ॥ ३० ॥

(२८—३०) युद्ध के लिये संमुख उपस्थित हुए स्वजनोंको देखकर अर्जुन को करुणा आगई और ऐसे युद्धसे कि जिसमें स्वजनोंके वधके सिवाय दूसरा कुछभी नहीं होगा, अर्जुनके अन्तःकरणको बडा खेद हुआ । युद्धका डर तो उसको था ही नहीं । जिसने प्रत्यक्ष भगवान् कैलासपति शंकरसे युद्ध करते डर नहीं खाया था, और जिसने निवातकवच जैसे कपटी आर्योंके शत्रुभूत राक्षसगणोंका पूर्ण नाश किया था, उसको कौरवोंसे लडनेमें डर लगनेकी संभावना ही नहीं थी । ऐसे निडर और प्रवल वीर के मनमें अपने सब संबंधियोंके वध का भयानक चित्र खडा हुआ, और वह कहने लगा कि, हाय हाय! हम यह यहां क्या करने लगे हैं ? उसके मनमें दया आगई, करुणासे मन भर गया, स्वजनोंके प्रेमने विचारशक्तिको घेर लिया, और वह प्रवल आर्य वीर इस मोहसे हतबल होगया !!

पाठक यहां धृतराष्ट्रके द्वारा प्रेषित संजय के शान्तिके उपदेशका स्मरण करें । साम्राज्यवादियोंके फैलाये मोह जालसे सरलहृदय आत्मा कैसे सरलमार्गसे दूर भाग जाते हैं यह देखिये। उस संजय के कपटमय उपदेशका परिणाम अर्जुन के मनपर होगया और वह पूर्ण रीतिसे शिथिल और उत्साहरहित होगया । अस्थानमें दया उत्पन्न होना भी बहुत ही बुरा है और धर्मकार्य करते हुए खेद उत्पन्न होना तो उससे भी बहुत बुरा है। साम्राज्यवादी शत्रुओंके कपटी उपदेशके जालसे इस प्रकार स्वराज्यके लिये

प्रयत्न करनेवाला आर्य वीर मोहित हो गया और स्वकर्तव्यसे पीछे हटा।

खेदका शरीरपर परिणाम।

खेद, मोह, दया, कृपा अथवा करुणासे सबसे प्रथम शरीरकी शक्ति घट जाती है। और बडा शक्तिशाली पुरुष भी अत्यंत निर्बल हो जाता है। इसका उत्तम उदाहरण भ्रमर का देते हैं। भ्रमर सूखी और कठिण लकडीमें भी सुराख करता है, जमीनमें छेद कर डालता है, ऐसा समर्थ भ्रमर जब कमलमें रातके समय बंद होगया, तो वह कमल की कोमल पत्तीको काट नहीं सकता। प्राण जानेका समय भी क्यों न प्राप्त हो जावे, वह कमलको सुराख करके बाहर नहीं निकलता। संसारमें बहुत वीर पुरुष स्त्री और मदिराके मोहके कारण कैसे विवेकभ्रष्ट और हतबल हो गये हैं, इसकी साक्षी इतिहास देरहा है। यही अवस्था अर्जुनकी इस समय होगई है।

खेदके कारण शरीरका रक्त ही बिगड जाता है, शरीर के हरएक अणुकी ओजःशक्ति नष्ट होती है, इसी कारण सब अंग ढीले पडते हैं, मुख सूखता है, क्यों कि लालाग्रंथियोंसे मुखमें लालानामक रसका स्राव होना बंद होजाता है, इसका परिणाम पचनशक्तिके ऊपर भी होता है और यदि यह खिन्नता बहुत दिनतक रही तो पचनशक्ति बिलकुल नष्ट होजाती है। कईयोंकी पुरुषशक्ति अथवा प्रजननशक्ति भी खेदसे नष्ट होनेके उदाहरण हैं। (अर्जुन तो अज्ञातवासमें खेदसेही नपुंसक बना था।) क्यों कि खेदसे सभी अंग शिथिल, निर्बल और निःसत्त्व होजाते हैं। शरीरका बल कम होनेके कारण शरीर कांपने लगता है, रोएं खडे हो जाते हैं, सब शरीरभर एकदम सनसनीसी पैदा होती है, हाथ की पकडनेकी शक्ति नष्ट होती है, पांवकी खडा रहनेकी शक्ति दूर होती है, चमडीमेंसे चिकनाहट दूर होती है, वह खुष्क होती है और पश्चात् अंदरका मल वहां संचित होकर वहां जलन शुरू होने लगती है।

खेदके कारण बाहरसे खाया अन्न पचन होकर शरीरका बल बढाता नहीं; तथा अन्दरके मलोंको बाहर भेजनेकी क्रिया बंद हो जानेके कारण सब मल अन्दरही अन्दर रुधिरमें संचार करने लगते हैं, इस कारण मन चक्कर खाने लगता है और मस्तिष्क विचार करनेमें असमर्थ हो जाता है। अतः यदि यह खेदकी अवस्था बढगई अथवा कई दिनतक रही, तो मनुष्य मर भी जाता है, पागल बनता है और इहपरलोकके कोई कर्तव्य करनेके लिये असमर्थ हो जाता है, देखिये एक मोहका कितना घातक परिणाम होता है। और यदि इसके साथ काम, लोभ, मद और मत्सर मिल जांयगे, तो उसके नाशकी कोई सीमाही नहीं रहेगी।

साम्राज्यवादी धृतराष्ट्रने संजयके द्वारा जो कपटी धर्मोपदेशका जाल पांडवोंपर फैलाया था, उस कारण अर्जुनके मनमें केवल मोह और मोहसे खिन्नताही उत्पन्न होगई थी। अन्य दोष उसके मनमें घुसने नहीं पाये थे। यदि पांडवोंके वीर स्वराज्यका प्रयत्न न करते हुए कौरव पक्षकी कुमारिकाओंके प्रेमके वश होजाते, यदि कौरवोंके धनके लोभमें पड जाते, अथवा कौरवोंके राजशासनमें बडी ओहदेदारीके स्थान प्राप्त करनेके लोभमें फंस जाते, उन प्राप्त अधिकारोंके मदसे 'हम बडे होगये' ऐसा मानने लग जाते और उस कारण आपसमें परस्पर विद्वेष करने लगते, तो उनको पुनः स्वराज्य प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं थी।

साम्राज्यवादी लोग जित लोगोंके विचारोंमें परिवर्तन करते हैं, उनमें आत्मविश्वास रहने नहीं देते, उनमें कर्तृत्वशक्ति बढने नहीं देते, उनमें काम उत्पन्न होजाय इसलिये स्त्री प्रयोग भी करते हैं, उनको नाना प्रकारके प्रलोभन देते हैं और स्वराज्यविषयक प्रयत्नसे उनको हटा देते हैं, उनमें वृथा घमंड उत्पन्न करते हैं, उनमें आपसका मत्सर बढा कर उनके अंदर आन्तरिक कलह बढाते हैं। इनमेंसे कुछ प्रयोग कौरवोंने

[८ (९)]

(ऋषिः- उपरिबभ्रवः । देवता- बृहस्पतिः)

भ॒द्रादधि॒ श्रेयः॑ प्रेहि॒ बृह॒स्पतिः॑ पुरए॒ता ते॑ अस्तु ।
अथे॒मम॒स्या वर॒ आ पृ॑थि॒व्या आ॒रेश॑त्रुं कृणुहि॒ सर्व॑वीरम् ॥ १ ॥

अर्थ— (भद्रात् अधि) सुखसे परे जाकर (श्रेयः प्रेहि) परम कल्याणको प्राप्त हो । (बृहस्पतिः ते पुरएता अस्तु) ज्ञानी तेरा मार्गदर्शक होवे । (अथ) और (अस्याः पृथिव्याः वरे) इस पृथ्वीके श्रेष्ठ स्थानमें (इमं सर्ववीरं) इस सब वीर समुदायको (आरे-शत्रुं कृणुहि) शत्रुसे दूर कर ॥ १ ॥

भावार्थ- हे मनुष्य ! तू सुख प्राप्त कर, परंतु सुख की अपेक्षा जिससे तुम्हारा परम कल्याण होगा, उस मार्गका अवलम्बन कर और वह परम कल्याणकी अवस्था प्राप्त कर । इस पृथ्वीके ऊपर जो जो श्रेष्ठ राष्ट्र हैं, उनमें सब प्रकारके वीर पुरुष उत्पन्न हों, उनके शत्रु दूर हो जांय । अर्थात् सब राष्ट्रोंमें उत्तम शान्ति स्थापित होवे ॥ १ ॥

यहां 'भद्र' शब्द साधारण सुख के लिये प्रयुक्त हुआ है । अभ्युदय का वाचक यह शब्द यहां है । जगत् में भौतिक साधनोंसे जो सुख मिलता है वह साधारण सुख है । आहार, निद्रा, निर्भयता और मैथुन संबंधी जो सुख है वह साधारण है । इससे जो श्रेष्ठ-सुख है उसको 'श्रेयः' कहते हैं । मनुष्यको यह परम कल्याण प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये; इसके लिये ज्ञानी (बृहस्पति) पुरुषको गुरू करके उसकी आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये । ज्ञान भी वही है कि जो (मोक्षे धीः) बन्धन से छुटकारा पाने के लिये साधक हो । यह प्राप्त करना चाहिये । इसका उद्देश्य यह है कि इस पृथ्वीपर जो जो राष्ट्र हैं, वे श्रेष्ठ राष्ट्र बनें, और सब स्त्रीपुरुष तेजस्वी वीरवृत्तीवाले निर्भय बनें और किसी स्थानपर उनके लिये शत्रु न रहे । मनुष्यको यह अवस्था जगत्‌में स्थिर करना चाहिये ।

ईश्वरकी भक्ति।

[९ (१०)]

(ऋषिः—उपरिबभ्रवः। देवता-पूषा)

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥१॥
पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥ २ ॥

अर्थ— (पूषा) पोषक ईश्वर (दिवः प्रपथे) द्युलोक के मार्गमें (पथां प्रपथे) अन्तरिक्षके विविध मार्गोंमें और (पृथिव्याः प्रपथे) पृथ्वीके ऊपरके मार्गमें (अजनिष्ट) प्रकट होता है। (उभे प्रियतमे सधस्थे अभि) दोनों अत्यन्त प्रिय स्थानोंमें (प्रजानन् आ च परा च चरति) सबको ठीक ठीक जानता हुआ समीप और दूर विचरता है ॥ १ ॥

(पूषा सर्वाः इमाः आशाः अनुवेद) पोषणकर्ता देव सब इन दिशाओंको यथावत् जानता है। (सः अस्मान् अभयतमेन नेषत) वह हम सबको उत्तम निर्भयताके मार्गसे लेजाता है। वह (स्वस्ति-दाः आघृणिः) कल्याण करनेवाला, तेजस्वी, (सर्ववीरः) सब प्रकारसे वीर, (प्रजानन्) सबको यथावत् जानता हुआ और (अप्रयुच्छन्) कभी प्रमाद न करनेवाला (पुरः एतु) हमारा अगुवा होवे ॥ २ ॥

भावार्थ-परमेश्वर इस त्रिलोकीके संपूर्ण स्थानोंमें उपस्थित है। वह सब सुखदायक स्थानोंको अथवा अवस्थाओं को जानता है और वह हम सबके पासभी है और दूरभी है ॥ १ ॥

यह सबका पोषण करता है और सबको यथावत जानता है। वही हमको निर्भयताके मार्गसे ठीक प्रकार और सुरक्षित ले जाता है। वह हम सबका कल्याण करनेवाला, सब को तेज देनेवाला, सब में वीरवृत्ती उत्पन्न करनेवाला, सबकी उन्नतिका मार्ग जाननेवाला, और कभी प्रमाद न करनेवाला है, वही हम सबका मार्गदर्शक होवे, अर्थात् हम सब उसको अपना मार्गदर्शक मानें ॥ २ ॥

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन। स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ३ ॥

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि ॥ ४ ॥

अर्थ- हे (पूषन्) पोषक देव ! (वयं तव व्रते कदाचन न रिष्येम) हम तेरे व्रतमें रहनेसे कभी नष्ट नहीं होंगे। (इह ते स्तोतारः स्मसि) यहां तेरे गुणोंका गान करते हुए हम रहेंगे ॥ ३ ॥

(पूषा परस्तात् दक्षिणं हस्तं परि दधातु) पोषकदेव अपना दायां हाथ हमें देवे। (नः नष्टं पुनः नः आजतु) हमारा विनष्ट हुआ पदार्थ पुनः हमें प्राप्त होवे। (नष्टेन सं गमेमहि) हम विनष्ट हुवे पदार्थ को पुनः प्राप्त करेंगे ॥ ४ ॥

भावार्थ- इस ईश्वरके व्रतानुष्ठानमें हम रहेंगे तो हम कभी विनाशको प्राप्त नहीं होंगे, इस लिये हम उसी ईश्वरके गुणगान करते हैं ॥ ३॥

वह पोषक ईश्वर अपना उत्तम सहारा हमें देवे। हमारे साधनों में जो विनष्ट हुआ हो, वह योग्य समयमें हमें पुनः प्राप्त होवे ॥ ४ ॥

भक्तका विश्वास।

भक्तका ऐसा विश्वास होना चाहिये कि, परमेश्वर (पूषा) सब का पोषणकर्ता है। सबकी पुष्टी उसीकी पोषकशक्तिसे हो रही है। वह ईश्वर सर्वत्र उपस्थित है यह दूसरा विश्वास होना चाहिये कि, कोई स्थान उससे रिक्त नहीं है। तीसरा विश्वास ऐसा चाहिये कि,वह हमारे सब बुरे भले कर्मोंको यथावत् जानता है और वह जैसा हमारे पास है वैसाही दूर है। चौथा विश्वास ऐसा चाहिये कि, वह ईश्वर ही हमें निर्भयता देकर उत्तमसे उत्तम मार्गसे ले जाता है और कभी बुरे मार्गको नहीं बताता। वह सबका कल्याण करता है और सबको प्रकाशित करता है। कभी प्रमाद नहीं करता और सबको उत्तम प्रकार चलाता है।

पांचवां विश्वास ऐसा चाहिये कि, उसके व्रतानुसार चलने से किसीका कभी नाश नहीं होगा। छठां विश्वास ऐसा चाहिये कि, वह हमें उत्तम प्रकार सहारा देता रहता है, हमको ही उसके सहारेकी अपेक्षा करना चाहिये। सातवां विश्वास ऐसा चाहिये कि, यदि किसी कारण हमारा कुछ नाश हुआ तो उसकी सहायता से वह सब ठीक हो सकता है। ये विश्वास रखकर सब मनुष्योंको उचित है कि, वे ईश्वरके गुणगान करें और उन गुणोंकी धारणा अपने अंदर करके अपनी उन्नतिका साधन करें।

सरस्वती।

[१० (११)]

(ऋषिः-शौनकः। देवता-सरस्वती)

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः॥ १॥

अर्थ—हे सरस्वति! (यः ते शशयुः स्तनः) जो तेरा शान्ति देनेवाला स्तन है और (यः मयोभूः यः सुम्नयुः) जो सुख देनेवाला, जो शुभ मनको देनेवाला, (यः सुहवः सुदत्रः) जो प्रार्थनीय और जो उत्तम पुष्टि देनेवाला है, (येन विश्वा वार्याणि पुष्यसि) जिससे तू सब वरणीय पदार्थोंकी पुष्टि करती है, (तं इह धातवे कः) उसको यहां हमारी पुष्टिके लिये हमारी ओर कर॥ १॥

भावार्थ—सरस्वती देवी जगत्को सारवान् रस देती है, उसके स्तनमें वह पोषक दुग्ध है, वह सुख, शान्ति, सुमनस्कता, पुष्टी आदि देता है। इससे सबका ही पोषण होता है। हे देवी! वह तुम्हारा पोषक गुण हमारे पास कर, जिससे उत्तम रस पीकर हम सब पुष्ट हो जांय॥ २॥

सरस्वती विद्या है। विद्याही सबका पोषण करती है, सबको शान्ति, सुख, सुमनस्कता और पुष्टी देती है। विद्यासेही इह लोकमें और परलोकमें उत्तम गति प्राप्त होती है। इसलिये यह विद्या हरएक को अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

मेघोंमें सरस्वती ।

[११ (१२)]

(ऋषिः- शौनकः । देवता- सरस्वती ।)

यस्ते पृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वो दैवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम् ।
मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य ॥ १ ॥

अर्थ- (यः ते पृथुः स्तनयित्नुः) जो तेरा विस्तृत, गर्जना करनेवाला, (ऋष्वः दैवः केतुः) प्रवाहित होनेवाला और दिव्य ध्वजाके समान मार्गदर्शक चिन्ह (इदं विश्वं आभूषति) इस जगत्को भूषित करता है, उस (विद्युता) बिजुलीसे (नः मा वधीः) हमें मत मार। तथा हे देव ! (उत) और हमारा (सस्यं सूर्यस्य रश्मिभिः मा वधीः) खेत सूर्यके किरणोंसे मत नष्ट कर ॥ १ ॥

भावार्थ- हे सरस्वती ! जो तेरा विस्तृत और गर्जना करनेवाला, स्वयं वृष्टिरूपसे प्रवाहित होनेवाला, जिसमें बिजुलीकी चमक होती है और जो इस विश्वका भूषण होता है, वह मेघ अपनी बिजुलीसे हमारा नाश न करे, परंतु ऐसा भी न हो कि, आकाशमें बादल न आजांय, और सूर्यके तापसे हमारी सब खेती जल जावे। अर्थात् आकाशमें बादल आजांय, मेघ बरसे और खेती उत्तम हो जावे; परंतु मेघोंकी विद्युत्से किसीका नाश न होवे ॥ १ ॥

'सरस्वती' का दूसरा अर्थ (सरः) रसवाली है। अर्थात् जल देनेवाली। वह जल अथवा रस मेघोंमें रहता है और वह हमारे धान्यादिकी पुष्टी करता है। पूर्वसूक्तमें 'विद्या' अर्थ है और इसमें 'जल' अर्थ है।

राष्ट्रसभाकी अनुमति।

[१२ (१३)

(ऋषिः—शौनकः । देवता-सभा; १-२ सरस्वती; ३ इन्द्रः, ४ मन्त्रोक्ता)

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु॥१॥
विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ २ ॥

अर्थ— (सभा च समितिः च) ग्रामसमिती और राष्ट्रसभा ये दोनों (प्रजापतेः दुहितरौ) प्रजाका पालन करनेवाले राजाके पुत्रीवत् पालने योग्य हैं और वे दोनों (संविदाने) परस्पर ऐकमत्य करती हुई (मा अवतां) मुझ राजाकी रक्षा करें। (येन संगच्छै) जिससे मैं मिलूं (सः मा उपशिक्षात्) वह मुझे शिक्षा देवे। हे (पितरः) रक्षको! (संगतेषु चारु वदानि) सभाओंमें मैं उत्तम रीतिसे बोलूंगा ॥ १ ॥

हे सभे! (ते नाम विद्म) तेरा नाम हमें विदित है। (नरिष्टा नाम वै असि) ' नरिष्टा ' अर्थात् अहिंसक यह तेरा नाम वा यश है। (ये के च ते सभासदः) जो कोई तेरे सभासद हैं (ते मे सवाचसः सन्तु) वे मुझ राजासे समताका भाषण करनेवाले हों ॥ २ ॥

भावार्थ—ग्रामसमिति और राष्ट्रसभा राष्ट्रमें होनी चाहिये और राजाको उनका पुत्रीवत् पालन करना चाहिये। ये दोनों सभाएं एकमत से राष्ट्रका कार्य करें और प्रजारंजन करनेवाले राजाका पालन करें। राजा जिस सभासद से राज्यशासनविषयक संमति पूछे, वह सभासद योग्य संमति राजाको देवे। राजा तथा अन्य सभासद सभाओंमें सभ्यतासे वादविवाद करें ॥ १ ॥

इन लोकसभाओंका नाम ' नरिष्टा ' है, क्यों कि इनके होनेसे राजाका भी नाश नहीं होता और प्रजाका भी नाश नहीं होता है। इन सभाओंके जो सभासद हों, वे राजासे अपनी संमति निष्पक्षपातसे स्पष्ट शब्दों में कहें ॥ २ ॥

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥
यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

अर्थ- (एषां समासीनानां) इन बैठे हुए सभासदोंसे (विज्ञानं वर्चः अहं आददे) विशेष ज्ञानरूपी तेज मैं-राजा-स्वीकारता हूं। हे इन्द्र ! (अस्याः सर्वस्याः संसदः) इस सब सभा का (मां भगिनं कृणु) मुझे भागी कर ॥ ३ ॥

हे सभासदो ! (वः यत् मनः परागतं) आपका जो मन दूर गया है, (यत् वा इह वा इह वा बद्धं) जो इसमें अथवा इस विषयमें बंधा रहा है, (वः तत् आवर्तयामसि) आपके उस चित्तको मैं पुनः लौटा लेता हूं, अब आपका (मनः मयि रमतां) मन मेरे उपर रममाण होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ- लोकसभाओंके सदस्योंसे राज्यशासनविषयक विशेष ज्ञान राजा प्राप्त करता है और तेजस्वी बनता है। अतः राजा ऐसे सभाओंसे राज्यशासनविषयक विज्ञानका भाग अवश्य प्राप्त करे और भाग्यवान् बने ॥ ३ ॥

लोकसभाका कार्य करनेके समय किसी सभासद्का मन इधर उधरके कार्यमें गया, तो उसको उचित है कि, मनको वापस लाकर राज्यशासनके कार्यमें ही लगा देवे। सब सभासद राजा और उसका राज्यशासन कार्य इसीमें अपना मन लगा देवें ॥ ४ ॥

राज्यशासनमें लोकसंमति।

ग्रामसभा।

राज्यशासन चलानेके लिये एक ग्रामसभा होनी चाहिये। ग्रामके लोगोंद्वारा चुने हुए सदस्य इस ग्रामसभा का कार्य करें। ग्राममें जो जो कार्य आरोग्य, न्याय, शिक्षा, धर्मरक्षा, उद्योगवृद्धि आदिके विषयमें होंगे, उनको निभाना इस ग्रामसभाका कार्य है। यह ग्राम-सभा अपने कार्य करनेके लिये पूर्ण स्वतंत्र होगी, इसका अर्थ यह है कि, प्रत्येक ग्राम अथवा नगर पूर्ण स्वराज्यके अधिकारोंसे युक्त होगा।

जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी उन्नतिका कार्य करनेके लिये स्वतंत्र होता है,परंतु सार्वजनिक सर्वहितकारी कार्य करनेके लिये परतंत्र होता है; ठीक उसी प्रकार प्रत्येक ग्राम या नगर अपनी सर्व प्रकारसे उन्नति साधन करनेके लिये पूर्ण स्वतंत्र है, परंतु सार्वदेशिक अथवा सार्वराष्ट्रीय उन्नतिके कार्योंके लिये प्रत्येक ग्राम राष्ट्रीय नियमोंसे बंधा रहेगा।

राष्ट्रसभा।

जैसी प्रत्येक ग्रामके लिये ग्रामसभा, नगरके लिये नगरसभा होती है, उसी प्रकार प्रांतके लिये प्रांतसभा और राष्ट्रके लिये " राष्ट्रीय महासभा " होती है और यह सब राष्ट्रका शासन करती है। ग्रामसभाका अधिकार ग्रामपर और राष्ट्रसभाका राष्ट्रपर होता है। येही दो सभाएं इस सूक्तमें कही हैं। ग्रामसभा और राष्ट्रीय महासमिति इन दोनोंका वर्णन होनेसे बीचकी नगरसभा और प्रांतसभा आदि सब सभाओंका वर्णन होचुका है, ऐसा समझना योग्य है। आदि और अन्तका ग्रहण करनेसे सब बीचमें स्थित अवस्थाओंका ग्रहण होजाता है। इस सार्वत्रिक नियमके अनुसार इन मंत्रोंमें ग्रामसभा और राष्ट्रसभाका वर्णन होनेसे बीचकी सब उपसभाओंका वर्णन हुआ है, ऐसा पाठक समझें।

जनसभाका अधिकार।

इन प्रजासभाओंका अधिकार क्या है, यह एक विचारणीय प्रश्न है; इसका उत्तर इन मंत्रोंका विचार करनेसे ही मिल सकता है। प्रथम मंत्रमें कहा है कि-

सभा च समितिः च प्रजापतेः दुहितरौ॥ (मं० १)

" ग्रामसभा और राष्ट्रीय महासभा ये दोनों प्रजाका पालन करनेवाले राजाकी दो पुत्रियाँ हैं। " अर्थात् इन दोनों सभाओंका पिता राजा है और उसकी दो लड-कियां ये सभाएं हैं। यही उत्तर इनका अधिकार निश्चित करनेके लिये पर्याप्त है।

पिता पुत्रीका जनक है, परंतु उसका भोग करनेवाला नहीं। पुत्री पिताके अधिकारके नीचे हमेशा नहीं रहेगी, पुत्रीपर अधिकार किसी और का होगा, पिताका नहीं। इसी प्रकार राजाकी आज्ञासे राष्ट्रसभा और ग्रामसभा स्थापित होती है, राजाकी अनुमतिसे इन सभाओंके सदस्य चुनने और सभाओंके चलानेके नियम बनते हैं, इसलिये राजाही इन सभाओंका पिता, जनक अथवा उत्पादक होता है। तथापि उत्पत्ति और रक्षा

करनेकाही अधिकारी राजा है, वह उन सभाओंपर पतिके समान शासन नहीं चला सकता। राजा इन सभाओंका पिता या जनक है, परंतु पति अथवा शासक नहीं। लोकसभा राजाकी भोग्य नहीं। राजाके अधिकारसे भिन्न लोकसभाका अधिकार स्वतंत्र है, इसी उद्देश्यसे उक्त मंत्रमें कहा है कि—

सभा च समितिः च प्रजापतेः दुहितरौ। (मं० १)

" ये दोनों सभाएं प्रजापालक राजाकी दुहिताएं हैं। " यहां दुहिता शब्द विशेष महत्त्वका है। श्रीमान् यास्काचार्यने इस शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है।—

दुहिता दूरे हिता। (निरु० ३। १। ४)

" जो दूर रहनेपर हितकारक होती है वही दुहिता है। " धर्मपत्नी पास रखने योग्य है, दुहिता या पुत्री दूर रखनेयोग्य है। इस व्युत्पत्तिसे स्पष्ट होजाता है, यह लोकसभा राजाकी दुहिता होनेके कारण ही उसके अधिकारसे बाहर रहनी चाहिये। अर्थात् ये दोनों सभाएं स्वतंत्र हैं। राजाके नियंत्रणसे ये दोनों सभाएं बाहर हैं। यह लोकसभाका अधिकार है। लोकसभाके सभासद पूर्ण निर्भय हैं, सत्यमत प्रदर्शन करनेके लिये उनको राजासे भयभीत होना नहीं चाहिये। पूर्ण निडर होकर जो सत्य होगा, वह उनको कहना योग्य है।

ये सभाएं (संविदाना-ऐक्यमत्यं प्राप्ता) एकमतसे ही सब राष्ट्रका शासन-व्यवहार करें। सब सदस्योंका एकमत न हो सकनेकी अवस्थामें बहुमत से कार्य करना योग्य है। परंतु बहुमतसे कार्य करना आपत्कालही समझना चाहिये, क्योंकि वेदकी आज्ञा तो (संविदाना) एकमतसे अर्थात् सर्वसंमतिसेही कार्य करनेकी है। लोक-सभामें सब सदस्योंकी सर्वसंमति से जो निर्णय होगा, वह राजाके लिये भी बंधन-कारक होगा। इतना महत्त्व लोकसभाकी सर्वसंमतिका है। तथा यह निर्णय प्रजाके लिये भी बंधनकारक होगा।

राजाके पितर।

राष्ट्रसमितिके सभासद ये राजाके पितर हैं। इस सूक्तमें राजाने उनको, ' पितरः ' करके ही संबोधन किया है देखिये—

चारु वदानि पितरः संगतेषु। (मं० १)

" हे पितरो ! अर्थात् हे राष्ट्रमहासभाके सब सदस्यो ! सभाओंमें मैं योग्य भाषण करूंगा। " अर्थात् सभ्यतासे युक्त भाषण करूंगा। कभी नियमबाह्य मेरा भाषण न होगा। हे सभासदो ! सब सदस्य भी सदा इसी प्रकार सभ्यताके नियमोंके अनुकूल

भाषण किया करें। इस मंत्रभागमें राजाने लोकसभाके सभासदोंको ' पितरः ' शब्द प्रयुक्त किया है। यह शब्द यहां देखनेयोग्य है।

लोकसभा, अथवा राष्ट्रसमिति राजाकी पुत्रियां हैं यह ऊपर कहा है। अब यहां कहा जाता है कि, इन सभाओंके सदस्य राजाके 'पितर' हैं, यह कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर इतनाही है कि यहां केवल बाह्य अर्थ लेना उचित नहीं है, यहां भाव और शब्दका मूलार्थ लेना चाहिये। पितर शब्दका अर्थ रक्षक है और उत्पादक भी है। दोनों अर्थ यहां लगते हैं। राजसभाके सभासद राजाको चुनते और उसको राजगद्दीपर बिठलाते हैं, इसलिये वे उसके उत्पादक, जनक और पिताके समान भी हैं। इसी प्रकार राजाका उचित व्यवहार रहनेतक वे उसको राजगद्दीपर रखते और राजा अनुचित व्यवहार करने लगा, तो उसको हटाकर उसके स्थानपर सुयोग्य दूसरा राजा नियुक्त करते हैं, इसलिये ये राष्ट्रसभाके सदस्य राजाके रक्षक भी हैं, अर्थात् सब प्रकारसे ये सदस्य राजाके पितर हैं।

'पितृदेवो भव' पिताको देवताके समान मानकर उसका सन्मान कर, यह आज्ञा वेदानुकूल है। इस लिये राजाको उचित है कि, वह राष्ट्रमहासभाके सदस्योंका सन्मान करे, उनका गौरव करे और कभी उनका अपमान न करे। राष्ट्रसभाका यह अधिकार है।

राजाके शिक्षक।

राष्ट्रसभाके सदस्य राजाके गुरू भी हैं। इस विषयमें प्रथम मंत्रका भाग देखने योग्य है–

येन संगच्छै, सः मा उपशिक्षात्। (मं० १)

"हे गुरुजनो! हे राष्ट्रसभाके सदस्यो! तुममेंसे जिससे मैं राष्ट्रशासनके कार्यमें संमति पूछूँ, वह उस विषयमें अपनी संमति देकर मुझे उत्तम योग्य शिक्षा देवे।" अर्थात् राजाको योग्य शिक्षा देनेवाले उत्तम गुरु राष्ट्रसभाके सदस्य हैं। ये राजाको गुरु-स्थानीय हैं। ' आचार्यदेवो भव ' अर्थात् गुरुजनोंका संमान करना चाहिये, यह आज्ञा वैदिकधर्मकी है। इसके अनुसार वैदिकधर्मी राजा को उचित है कि, वह राष्ट्रसभाके सदस्योंका गौरव करे और उनसे पूर्ण आदरके साथ बर्ताव करे। राष्ट्रसभाके सदस्योंका यह अधिकार है।

सभासद सत्यवादी हों।

राजसभा अथवा किसी अन्यसभाके सभासद (सवाचसः) समान भाषण करनेवाले अर्थात् जैसा देखा, जाना और अनुभव किया है वैसाही सत्यसत्य बोलनेवाले हों। जो जैसा सत्य एकवार कहा होगा, वैसाही सत्य प्रसंग आनेपर कहनेवाले हों। उनमें

अदल बदल करके 'हां' को 'हां' मिलानेवाले 'हांजी' बहादर न हों। निर्भय हो-कर जो सत्य होगा, वही राजाको कह दें। राष्ट्रका हित किस बातमें है, इसका विचार करके जो अपना मत होगा, वह योग्य रीतिसे कहदेनेमें किसीसे न डरें। यह सभासदों का कर्तव्य है। (मं० २)

तेजप्रदाता और विज्ञानदाता।

राजाका तेज राष्ट्रसभाके सदस्योंसे प्राप्त होता है। इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन देखने योग्य है-

एषां समासीनानां वर्चः विज्ञानं अहं आददे। (मं० ३)

"राष्ट्रसभाके इन सदस्योंसे मैं राजा (वर्चः) तेज प्राप्त करता हूं और (विज्ञानं) विशेष ज्ञान भी प्राप्त करता हूं।" यहां का विज्ञान राज्यशासन चलानेके विषयका विशेष ज्ञान ही है। प्रजाका हित क्या करनेसे हो सकता है, इस समय सबसे प्रथम कौनसी बात करनी चाहिये, इस समय प्रजाको कौनसे कष्ट हैं और उन कष्टोंको किस ढंगसे दूर करना चाहिये; इत्यादि विषयमें प्रजाके प्रतिनिधियोंकी योग्य संमति योग्य समय पर राजाको मिली, और तदनुसार राजाने राज्यशासन का कार्य किया, तो सब-का हित हो जाता है। यह विज्ञान राष्ट्रसभाके सदस्य राजाको देवें और राजाभी उनसे संमति प्राप्त कर उचित शासनप्रबंध द्वारा सबका कल्याण करे।

इस प्रकार प्रजा संमतिसे राज्यशासन करनेवाला राजा चिरकाल राज्यपर रह सकता है और बडा तेजस्वी होसकता है। इसके विरुद्ध जो राजा प्रजाके प्रतिनिधियों-की संमति न मान कर, अपने मन चाहे अत्याचार प्रजापर करेगा, वह राजगद्दीसे हटाया जायगा। वेदकी संमति राज्यशासनके विषय में यह है।

राजाका भाग्य।

राजाका संपूर्ण भाग्य, ऐश्वर्य, अधिकार और वर्चस्व राष्ट्रसभाकी अनुमतिसे ही होता है। अन्यथा राजा किसी कारण भी 'राजा' नहीं रह सकता। यह बात स्वयं राजाही कहता है, देखिये-

अस्याः संसदः मां भागिनं कृणु॥ (मं० ३)

"इस सभाका मुझे भागी कर।" अर्थात् इस सभाकी अनुमतिसे रहनेके कारण मैं भाग्यवान् बनूं। मैं इस सभाकी अनुमतिका भागी बनूंगा, अर्थात् जो निश्चय सभा

करेगी, वह मैं मानूंगा और वैसा कार्य करूंगा। मैं उसके विरुद्ध आचरण कदापि न करूंगा। इस प्रकार जो राजा आचरण करेगा, वह भाग्यवान् बन जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। अर्थात् राजाका भाग्य प्रजाका रंजन करनेसे ही बढता है, नहीं तो नहीं; यह बात यहां सिद्ध होगई है।

दत्तचित्त सभासद।

राष्ट्रसभाके, नगरसमितिके अथवा किसी सभाके सभासद अपनी अपनी सभाके कार्यमें दत्तचित्त रहें। किसीका मन इधर किसीका उधर ऐसा न हो। सब अपना मन सभाके कार्यमें स्थिर रखकर सभाका कार्य अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर जहांतक हो सके वहांतक निर्दोष बनावें। इसका उपदेश इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकार है।–

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।—
तद्व आवर्तयामसि॥ (मं० ४)

"हे सभासदो! यदि आपका मन दूर भागगया हो, अथवा यहां ही इधर उधरके अन्यान्य बातोंमें लगा हो, उसको मैं वापस लाता हूं।" अर्थात् मन चंचल है, वह इधर उधर दौडता ही रहेगा। परंतु दृढनिश्चय करके उसको कर्तव्यकर्ममें स्थिर रखना चाहिये। और अपनी संपूर्ण शक्ति लगा कर अपना कर्तव्य जहांतक हो सके वहांतक निर्दोष बनाने का यत्न करना चाहिये। हरएक सभासद यदि अपने मनको कहीं और ही कार्यमें लगावेगा, तो सभा करनेका प्रयोजन कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। इस लिये हरएक सभासदका कर्तव्य है कि, वह अपना मन सभाके कार्यमें लगावे और अपनी पूरी शक्ति लगाकर सभाका कार्य निर्दोष करनेके लिये अपनी पराकाष्ठा करे। इस मंत्रभागमें सभासदोंका कर्तव्य कहा है। सभाके सभासद इसका अवश्य विचार करें।

नरिष्टा सभा।

इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें सभाका नाम 'नरिष्टा' कहा है। 'नरिष्टा' के दो अर्थ हैं। एक (नरैः इष्टा) नर अर्थात् नेता मनुष्योंको जो इष्ट है, प्रिय है अथवा नेता जिसको चाहते हैं। सभाको मनुष्य चाहते हैं क्यों कि, इस सभाद्वाराही जनताके कष्ट राजाको विदित हो जाते हैं और तत्पश्चात् राजा उनको दूर कर सकता है। इस प्रकार सभाके होनेसे जनताका सुख बढ सकता है, इस लिये जनता सभाओंको पसंद करती है।

'नरिष्टा' शब्दका दूसरा अर्थ है (न-रिष्टा) अहिंसक अर्थात् जो किसीका नाश

नहीं करती और जिसका नाश कोई नहीं कर सकता। सभाके कारण प्रजाका नाश नहीं होता और जनमतके अनुसार चलनेवाले राजाकी भी रक्षा होजाती है, इसलिये राजाका भी नाश नहीं होता। इसी प्रकार जनता स्वयं राष्ट्रसभाका नाश नहीं करना चाहती और राजाका अधिकार ही नहीं है कि, जो इस राष्ट्रसभाका नाश कर सके। इस रीतिसे सब प्रकार यह सभा 'अविनाशक' है।

इस सूक्तमें इस प्रकार वैदिक राज्यशासनके कुछ सिद्धांत कहे हैं। इनका पाठक उचित मनन करें।

शत्रुके तेजका नाश।

[१३ (१४)]

(ऋषिः-अथर्वा द्विषोवर्चोहर्तुकामः। देवता-सोमः)

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्यादुदे।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥ १ ॥
यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ।
उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥ २ ॥
॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(यथा उद्यन् सूर्यः) जैसा उदय होता हुआ सूर्य (नक्षत्राणां तेजांसि आददे) तारोंके प्रकाशोंको लेता है, (एवा द्विषतां स्त्रीणां च पुंसां च) उसी प्रकार द्वेष करनेवाले स्त्रियों और पुरुषोंका (वर्चः आददे) तेज मैं लेता हूं ॥ १ ॥

(सपत्नानां यावन्तः) शत्रुओंमें से जितने (मां आयन्तं प्रतिपश्यत) मुझे आते हुए देखते हैं, उन (सुप्तानां द्विषतां वर्चः आददे) सोते हुए शत्रुओंका तेज खींच लेता हूं। (सूर्यः इव) जैसा सूर्य लेता है ॥ २ ॥

भावार्थ— शत्रु स्त्री हो अथवा पुरुष हो, वह सोता हो अथवा जागता हो, जो कोई शत्रुता करता है उसका तेज कम करना चाहिये, अर्थात उससे अपना तेज बढाना चाहिये ॥ १—२ ॥

शत्रुका तेज घटाना।

इस सूक्तमें शत्रुका तेज घटानेका उपाय कहा है। पाठक इसका उत्तम मनन करें। नक्षत्र और सूर्य की उपमासे यह विषय कहा है। जिस प्रकार सूर्य उदय होनेके पूर्व नक्षत्र चमकते रहते हैं, परंतु सूर्यका उदय होते ही नक्षत्रोंका तेज हलका हो जाता है। इसमें नक्षत्रोंका तेज घटानेके लिये सूर्य कोई यत्न नहीं करता है, परंतु सूर्य अपना तेज बढाता है जिससे आपही आप नक्षत्रोंका तेज घटता है। इसी प्रकार द्वेष करनेवालोंका विचार न करते हुए, अपना तेज बढानेका यत्न करना चाहिये। जो शत्रुके तेजको घटानेका यत्न करेंगे वे फंसेंगे, परंतु जो सूर्यके समान अपना तेज बढानेका यत्न करेंगे उनका अभ्युदय होगा। शत्रुका विचार करनेके समय 'सूर्य और नक्षत्रोंका दृष्टान्त' पाठक ध्यानमें धारण करें। इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि, शत्रुका तेज घटानेके लिये हमें क्या करना चाहिये। शत्रुकी शक्तिसे कई गुणा अधिक शक्ति हमें प्राप्त करनी चाहिये, जिससे शत्रुकी शक्ति स्वयं घट जायगी और वह स्वयं नीचे दब जायगा।

उपासना।

[१४ (१५)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- सविता।)

अ॒भि त्यं दे॒वं स॑वि॒तार॑मो॒ण्यो॑: क॒विक्र॑तुम्।
अर्चा॑मि स॒त्यस॑वं रत्न॒धाम॒भि प्रि॒यं म॒तिम्॥ १॥

अर्थ- (ओण्योः सवितारं) रक्षा करनेवाले द्युलोक और पृथ्वी लोकके (सवितारं) उत्पादक सूर्य, जो (कवि-क्रतुं) ज्ञानी और कर्मकर्ता है, (सत्य-सवं रत्नधां) सत्यका प्रेरक और रमणीयताका धारक है और जो (प्रियं मतिं) प्रिय और मननीय है, (त्यं देवं अभि अर्चामि) उस देवकी मैं पूजा करता हूं॥ १॥

भावार्थ-संपूर्ण जगत्की रक्षा करनेवाला, सबका उत्पादक, ज्ञानी, जगत्कर्ता, सत्यका प्रेरक, रमणीय पदार्थोंका धारणकर्ता, सबका प्यारा, सबके द्वारा ध्यान करने योग्य जो सविता देव है, उसकी मैं उपासना करता हूं॥१॥

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि ।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः ॥ २ ॥
सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै ।
अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः ॥ ३ ॥
दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि ।
पिबात् सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि ॥ ४ ॥

अर्थ- (यस्य अमतिः भाः) जिसका अपरिमित तेज (सवीमनि ऊर्ध्वा अदिद्युतत) उसकी आज्ञामें रहकर ऊपर फैलता हुआ सर्वत्र प्रकाशित होता है । यह (सुक्रतुः हिरण्यपाणिः) उत्तम कर्म करनेवाला तेजही जिसका हस्त है, ऐसा यह देव (कृपात् स्वः अमिमीत) अपनी शक्तिसे प्रकाशको निर्माण करता है ॥ २ ॥

हे देव ! तू (प्रथमाय पित्रे हि सावीः) पहिले पालकके लियेही इसको उत्पन्न करता है । और (अस्मै वर्ष्माणं) इसको देह । (अस्मै वरिमाणं) इसको श्रेष्ठता, हे (सवितः) सविता देव ! (अथ अस्मभ्यं वार्याणि) हमारे लिये बहुत वरणीय पदार्थ, (भूरि पश्वः) बहुत पशु आदि सब (दिवः दिवः आसुव) प्रतिदिन प्रदान कर ॥ ३ ॥

हे देव ! तू (सविता वरेण्यः) सबका प्रेरक, श्रेष्ठ, और (दमूनाः) शमदमयुक्त मनवाला है । तू (पितृभ्यः रत्नं दक्षं आयूंषि) पिताओंको रत्न, बल और आयु (दधत्) धारण करता रहा है । (अस्य धर्मणि सोमं पिबात्) इसीके धर्मशासनमें सोमरसरूपी अन्न लेते हैं । वह (एनं ममदत) इसको आनंदित करता है । (परिज्मा इष्टं चित् क्रमते) वह गतिमान् इष्ट स्थानके प्रति संचार करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ-जिसकी कान्ति अपरिमित है,जिसकी आज्ञामें रहकर उसीका तेज सर्वत्र फैलता है, जो उत्तम कार्य करता है और तेजके किरणही जिसके हाथ हैं, वह अपनी शक्तिसे आत्मतेज फैलाता है ॥ २ ॥

इस देवने जो प्रारंभमें मनुष्य जन्मे थे, उनके लिये सब कुछ आवश्यक पदार्थ उत्पन्न किये थे । इन मनुष्योंके लिये देह, श्रेष्ठता, आदि वही देता है । वही हमारे लिये बहुत पदार्थ, पशु आदि सब प्रतिदिन देगा ॥ ३ ॥

यह देव सबका प्रेरक, सबसे श्रेष्ठ, मानसिक शक्तियोंका दमन करनेवाला है। इसीने पूर्वकालके मनुष्योंको धन बल और आयु दी थी। इसीकी शक्तिसे प्रभावित हुई वनस्पतियां मनुष्यादि प्राणियोंको अन्नरस देकर पुष्टि करती हैं। इसीसे सबको आनंद मिलता है। यह देव सर्वत्र अप्रतिबद्ध रीतिसे संचार करता है ॥ ४ ॥

उपास्य देवका यह वर्णन स्पष्ट है। अतः इसका विशेष स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है। द्विजोंके गायत्री मंत्रकी जो देवता है, वही ' सविता ' देवता इसकी है और गायत्री मंत्रके " देव, सविता, वरेण्य, " इत्यादि शब्द जैसेके वैसे ही इस सूक्तमें हैं, मानो गायत्री मंत्र का ही अधिक स्पष्टीकरण इस सूक्तमें है। यदि पाठक गायत्रीमंत्रके साथ इस सूक्तकी तुलना करके देखेंगे, तो उनको अर्थज्ञान के विषयमें बहुत लाभ हो सकता है।

[१५ (१६)]

(ऋषिः- भृगुः । देवता-सविता)

तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम् ।
यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय ॥ १ ॥

अर्थ—हे (सवितः) उत्पादक प्रभो ! (अहं सत्यसवां) मैं सत्यकी प्रेरणा करनेवाली, (सुचित्रां विश्ववारां तां सुमतिं) विलक्षण, सबकी रक्षा करनेवाली उस उत्तम बुद्धिको (आवृणे) स्वीकारता हूं, (यां सहस्रधारां प्रपीनां) जिस सहस्रधाराओंसे पुष्ट करनेवाली शक्तिको (अस्य भगाय) अपने भाग्यके लिये (महिषः कण्वः अदुहत्) बलवान् ज्ञानी दोहन करता है, प्राप्त करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस शक्तिको ज्ञानी लोग प्राप्त करते हैं और श्रेष्ठ बनते हैं, उस सत्यप्रेरक, विलक्षण शक्तिवाली, सबकी रक्षा करनेवाली, उत्तम मति रूप बुद्धि शक्तिको मैं स्वीकारता हूं ॥ १ ॥

गायत्री मंत्रमें कहा है कि, (धियो यो नः प्रचोदयात्) अपनी बुद्धियोंको सवितादेव चेतना देता है। वही वर्णन अन्य शब्दोंसे यहां है। गायत्रीमंत्रमें ' धी, धियः ' शब्द है, उसके बदले यहां ' सुमति ' शब्द है। पूर्व सूक्तके समान ही यह मंत्र गायत्री मंत्र का ही आशय विशेष स्पष्ट करता है।

सौभाग्य के लिये बढाओ।

[१९ (१७)]

(ऋषिः-भृगुः । देवता-सविता)

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय ।
संशितं चित् संतरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥१॥

अर्थ—हे (बृहस्पते सवितः) ज्ञानपते, हे उत्पादक देव ! (एनं वर्धय) इसको बढा, (एनं महते सौभगाय ज्योतय) इसको बडे सौभाग्यके लिये प्रकाशित कर । (संशितं सं-तरं चित् संशिशाधि) पहिले ही तीक्ष्ण बुद्धिवालेको अधिक उत्तम बनानेके लिये शिक्षासे युक्त कर । (विश्वे देवाः एनं अनु मदन्तु) सब देवतालोग इसका अनुमोदन करें ॥ १ ॥

भावार्थ— हे ज्ञानी देव ! हम सब मनुष्योंको बढाओ, हमें बडा ऐश्वर्य प्राप्त होनेके लिये तुम्हारा प्रकाश अर्पण करो । हममें जो पहिले से तेजस्वी लोग हैं, उनको अधिक तेजस्वी बनानेके लिये उत्तम शिक्षा प्राप्त होवे और दैवी शक्तियोंकी सहायता सबको प्राप्त होवे ॥ १ ॥

❀ ❀ ❀

पृथ्वी, आप, तेज, वायु, सूर्य वनस्पति आदि देवताओंकी सहायता हमें उत्तम प्रकार प्राप्त हो और उनकी शक्ति प्राप्त करके हम अपनी उन्नतिका साधन करेंगे और ऐश्वर्य के भागी हम बनेंगे । ईश्वर ऐसी परिस्थितिमें हमें रखे कि, जहां हमें उन्नति करनेके कार्यमें किसीका विरोध न होवे और हम अखंड उन्नतिका साधन कर सकें ।

धन और सद्बुद्धिकी प्रार्थना।

[१७ (१८)]

(ऋषिः—भृगुः। देवता-धाता, सविता)

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः।
स नः पूर्णेन यच्छतु ॥ १ ॥

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥ २ ॥

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ ३ ॥

अर्थ- (धाता जगतः पतिः ईशानः) धारणकर्ता, जगत् का स्वामी, ईश्वर (नः रयिं दधातु) हमें धन देवे। (सः नः पूर्णेन यच्छतु) वह हमें पूर्ण रीतिसे देवे ॥ १ ॥

(धाता दाशुषे) धारणकर्ता ईश्वर दाताके लिये (प्राचीं अक्षितां जीवातुं दधातु) प्राप्त करनेयोग्य अक्षय जीवनशक्ति देवे। (वयं विश्वराधसः देवस्य सुमतिं) हम संपूर्ण धनोंके स्वामी ईश्वरकी सुमतिका (धीमहि) ध्यान करते हैं ॥ २ ॥

(धाता प्रजाकामाय दाशुषे) धारक ईश्वर प्रजाकी इच्छा करनेवाले दाता के लिये (दुरोणे विश्वा वार्या) उसके घरमें संपूर्ण वरणीय पदार्थोंको (दधातु) धारण करे। (विश्वे देवाः) सब देव, (सजोषाः अदितिः) प्रीतियुक्त अनंत दैवी शक्ति, तथा (देवाः) अन्य ज्ञानी (तस्मै अमृतं सं व्ययन्तु) उसके लिये अमृत प्रदान करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जगत् का धारण और पालन करनेवाला ईश्वर हमें पूर्ण रीतिसे विपुल धन देवे। वह हमें दीर्घ जीवनकी शक्ति देवे। हम उसकी सुमतिका ध्यान करते हैं। संतानकी इच्छा करनेवाले दाताको उसके घरमें-गृहस्थ के घरमें-रहने योग्य सब पदार्थ प्राप्त हों। सब देव दाताको

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः ।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु ॥ ४ ॥

अर्थ-(धाता रातिः सविता) धारक, दाता, उत्पादक, (निधिपतिः प्रजापतिः अग्निः) निधिका पालक, प्रजारक्षक, प्रकाशरूप देव (नः इदं जुषन्तां) हमें यह देवे। तथा (प्रजया संरराणः त्वष्टा विष्णुः) प्रजाके साथ आनंदमें रहनेवाला सूक्ष्म पदार्थोंको बनानेवाला व्यापक देव (यजमानाय द्रविणं दधातु) यज्ञकर्ताको धन देवे ॥ ४ ॥

अमरत्वकी प्राप्ति करावें। सब जगत्का धारक, धनदाता, संपूर्ण विश्व का उत्पादक, संसाररूपी खजानेका रक्षक, सबका पालक, एक प्रकाशस्वरूप देव है, वह हमें सब प्रकारका सुख देवे। सब सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थोंका निर्माता, व्यापक देव उपासक को धनादि पदार्थ देवे ॥ १-४ ॥

यह प्रार्थना सुबोध है अतः स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है।

खेतीसे अन्न ।

[१८ (१९)]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता-पृथिवी, पर्जन्यः)

प्र नभस्व पृथिवि भिन्द्धी३दं दिव्यं नभः ।
उद्नो दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम् ॥ १ ॥
न घ्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः ।
आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम् ॥ २ ॥

अर्थ-हे पृथिवि ! तू (प्रनभस्व) उत्तम प्रकार चूर्ण हो। हे (धातः) धारक देव ! तू (ईशानः) हमारा ईश्वर है इस लिये (इदं दिव्यं नभः भिन्धि) इस दिव्य मेघको छिन्नभिन्न कर और (दिव्यस्य उन्दः दृतिं विष्य) दिव्य जलके भरे बर्तन को खोल दे ॥ १ ॥

(घ्रन् न तताप) उष्णता करनेवाला सूर्य नहीं तपाता, (हिमः न

जघान) हिम भी पीडित नहीं करता। (जीरदानुः पृथिवी प्र नभतां) अन्न देनेवाली पृथ्वी चूर्ण की जावे। (आपः चित् अस्मै) जल इसके लिये (घृतं इत् क्षरन्ति) घी जैसा बहता है, (यत्र सोमः) जहां सोमादि औषधियां होती हैं, (तत्र सदं इत् भद्रं) वहां सदाही कल्याण होता है ॥ २ ॥

भूमि हल आदि चलाकर अच्छी प्रकार तैयार की जावे। इसके बाद ईश्वरकी प्रार्थना की जावे कि, वह उत्तम प्रकार जल वर्षाके हमारी खेती उत्तम होनेमें सहायता देवे। बहुत गर्मी न पडे, न बहुत पाला पडे, भूमीकी उत्तम प्रकार तैयारी की जावे, खेतीको पानी घी जैसा दिया जावे, अर्थात् न बहुत अधिक और न बहुत कम। इस प्रकार खेती करनेसे बहुत उत्तम वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं और सब प्राणियोंका कल्याण होता है।

प्रजाकी पुष्टि।

[१९ (२०)]

(ऋषिः-ब्रह्मा। देवता—प्रजापतिः)

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः।
संजानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ॥ १ ॥

अर्थ— (प्रजापतिः इमाः प्रजाः जनयति) प्रजापालक परमेश्वर इन सब प्रजाओंको उत्पन्न करता है, और (सुमनस्यमानः धाता दधातु) वही उत्तम मनवाला, धारक देव इनका धारण करता है। इससे प्रजाएं (संजानानाः) ज्ञान प्राप्त करके एक मतसे कार्य करनेवाली, (संमनसः) एक विचारवाली और (सयोनयः) एक कारण से बंधी हो कर रहती हैं। इन प्रजाओंमें रहनेवाले (मयि) मुझे (पुष्टिपतिः पुष्टं दधातु) पुष्टीको देनेवाला ईश्वर पुष्टि देवे ॥ १ ॥

प्रजाकी पुष्टि कैसी होगी अर्थात् प्रजाकी शक्ति कैसी बढ सकती है, इसका उपाय इस सूक्तमें कहा है, इसके नियम निम्नलिखित हैं—

१ सब प्रजाजन एक ईश्वरको मानें और उसी एक देव को सबका उत्पादक समझें।
२ उसी ईश्वरकी शक्तिसे सबकी धारणा होती है ऐसा मानें और उसीको कर्ता धर्ता और हर्ता समझें ।
३ (संजानानाः) सब प्रजाजन उत्तम ज्ञानसे युक्त हों और एकमतसे अपना कार्य करें ।
४ (संमनसः) उत्तम शुभसंस्कार युक्त मन करके एक विचार से उन्नतिका कार्य करते जांय ।
५ (सयोनयः) एक कारणका ध्यान करके सबको एक कार्यमें संघटित करें। अपने संघ बनावें और संघके नियमोंके बाहर कोई न जावे ।

इस प्रकार संघटना करनेवाले लोगोंको प्रजापोषक ईश्वर सब प्रकारकी पुष्टि देता है । पाठक इसका विचार करें और अपनी उन्नतिका साधन इस सूक्तके उपदेशमें देख कर तदनुसार आचरण करके उन्नत हो जांय ।

अनुमति ।

[२० (२१)]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता—अनुमतिः)

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् ।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम ॥ १ ॥

अर्थ—(अद्य नः अनुमतिः) आज हमारी अनुमती (देवेषु यज्ञं अनुमन्यतां) देवता लोगोंके अन्दर सत्कर्म करनेके लिये अनुकूल होवे। (हव्यवाहनः अग्निः) हवनीय पदार्थोंको ले जानेवाला अग्नि (मम दाशुषे भवतां) हमारे दाताके लिये अनुकूल होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—आज ही हमारी बुद्धि सत्कर्म करने के लिये अनुकूल होवे और अग्नि आदि की अनुकूलता हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ २ ॥
अनु मन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिमक्षीयमाणम् ।
तस्य वयं हेडसि मापि भूम सुमृडीके अस्य सुमतौ स्याम ॥३ ॥
यत् ते नाम सुहवं सुप्रणीतेनुमते अनुमतं सुदानु ।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥४॥

अर्थ-हे (अनुमते) अनुकूल बुद्धी ! (त्वं इदं अनुमंससे) तू इस कार्य के लिये अनुमति देती है । (नः च शं कृधि) हमारा कल्याण कर । (आहुतं हव्यं जुषस्व) हवन किये हुए पदार्थका स्वीकार कर । हे देवि ! (नः प्रजां ररास्व) हमें उत्तम संतान दे ॥ २ ॥

(अनुमन्यमानः) अनुमोदन करनेवाला (अक्षीयमाणं प्रजावन्तं धनं अनुमन्यतां) क्षीण न होनेवाले प्रजायुक्त धन प्राप्त करनेके लिये अनुमति देवे। (तस्य हेडसि वयं मा अपि भूम) उसके क्रोधमें हम क्षीण न हों।(अस्य सुमृडीके सुमतौ स्याम) इसकी सुखकृति और सुमति में हम रहें ॥ ३ ॥

हे (सु-प्र-नीते अनुमते) उत्तम प्रकार नीति रखनेवाली अनुमति! हे (विश्ववारे) सबको स्वीकारने योग्य ! (यत ते सुदानु सुहवं अनुमतं नाम) जो तेरा उत्तम दानशील, उत्तम त्यागमय, अनुमतियुक्त यश है, (ततः नः यज्ञं पिपृहि) उससे हमारे सत्कर्मको पूर्ण कर । हे (सुभगे) सौभाग्यवाली ! (न सुवीरं रयिं धेहि) उत्तम वीरोंसे युक्त धन हमें दे ॥ ४ ॥

भावार्थ- अनुकूल मति होनेसे ही यह सब कार्य होता है, इस लिये हमारी अनुमतिसे ऐसे कार्य होवें,कि जो हमारा कल्याण करने वाले हों। हम जो दान करते हैं वह सत्कर्ममें लगे और हमें उत्तम संतान प्राप्त होवे ॥२॥ क्षीण न होनेवाला धन और उत्तम प्रजा प्राप्त होनेके लिये जैसा सत्कर्म करना चाहिये वैसा करने में हमारी मति अनुकूल होवे । अर्थात् सच्चा उत्तम सुख देनेवाली सुमति हमारे पास होवे ! और हम कभी क्रोधमें आकर सुमतिके विरुद्ध कार्य न करें ॥ ३ ॥ उत्तम नीति और सुमतिका यश बडा है और उस में दान, त्याग, आदि श्रेष्ठ गुण हैं । इन गुणोंसे युक्त हमारे सत्कर्म हों और हमें वीरोंसे युक्त धन मिले ॥ ४ ॥

एमं य॒ज्ञमनु॑म॒तिर्ज॑गाम सुक्षे॒त्रता॑यै सुवी॒रता॑यै सु॒जा॑तम् ।
भ॒द्रा ह्य॒स्याः प्रम॑तिर्ब॒भूव॒ सेमं य॒ज्ञम॑वतु दे॒वगो॑पा ॥ ५ ॥
अनु॑मतिः सर्व॑मि॒दं ब॑भूव॒ यत् तिष्ठ॑ति॒ चर॑ति॒ यदु॑ च॒ विश्व॒मेज॑ति ।
तस्या॑स्ते देवि सु॒म॒तौ स्या॒मानु॑मते॒ अनु॒ हि मंस॑से नः ॥ ६ ॥

अर्थ-(इमं सुजातं यज्ञं) इस प्रसिद्ध सत्कर्मके प्रति(अनुमतिः सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै आजगाम) अनुमति उत्तम स्थान बनाने के लिये और उत्तम वीरता उत्पन्न होनेके लिये आगई है। (अस्याः प्रमतिः भद्रा बभूव) इसकी श्रेष्ठ बुद्धि कल्याण करनेवाली बनी है। (सा देवगोपा इमं यज्ञं आ अवतु) वह देवोंद्वारा रक्षित हुई सुमति सब प्रकारसे इस सत्कर्मकी रक्षा करे ॥ ५ ॥

(यत् तिष्ठति) जो स्थिर है, (यत् चरति) जो चलता है, (यत् च विश्वं एजति) जो सबको चला रहा है, (इदं सर्वं अनुमतिः बभूव) वह यह सब अनुमति ही बनती है। हे देवि ! (तस्याः ते सुमतौ स्याम)उस तेरी सुमतिमें हम रहेंगे। हे अनुमति ! (नः हि अनुमंससे) हमें तू अनुमति देती रह ॥ ६ ॥

भावार्थ-सुप्रसिद्ध सत्कर्म के लिये हमारी अनुकूलमति होवे, और उससे हमें उत्तम वीरत्व और उत्तम कार्यक्षेत्र प्राप्त हों। ऐसी जो सद्बुद्धि होती है वही कल्याण करती है। यह देवोंसे रक्षित होनेवाली बुद्धि हमारे चलाये सत्कर्म की रक्षा करे ॥ ५ ॥

जो स्थिर और चर पदार्थ हैं और जो उनकी चालक शक्ति है, यह सब अनुमतिसेही बने हैं। यह अनुमति हमें अनुकूल रहे अर्थात हमसे प्रतिकूल वर्ताव न करावे और हमें सदा सत्कर्म करने की ही प्रेरणा करती रहे ॥ ६ ॥

अनुमतिकी शक्ति।

'अनुकूल बुद्धि' को ही 'अनुमति' कहते हैं, जगत्में जो कुछ भी बन रहा है वह अनुकूल मतिसे ही बन रहा है। चोर चोरी करता है वह अपनी अनुमतिसे करता है, योगी योगाभ्यास करता है वह अपनी अनुमतिसे ही करता है और देशभक्त स्वराज्य-

युद्धमें संमिलित होकर अपना सिर कटवाता है वह भी अपनी अनुमतिसेही कटवाता है। तात्पर्य यह कि, जो जो मनुष्य जो कुछ कार्य,बुरा या भला, हितकारी या अहित कारी, देशोद्धारक या देशघातक, करता है वह सब अपनी अनुमतिसे ही निश्चित करके करता है। इस लिये इस सूक्तमें कहा है-

यत् तिष्ठति, चरति, यत् उ च विश्वमेजति,
इदं सर्वं अनुमतिः बभूव ॥ (मं० ६)

" जो स्थिर है, जो चंचल है, और जो सबको चलाता है, वह सब अनुमतिसे ही हुआ है। " यह मंत्र छोटे कार्यसे बडे विश्वव्यापक कार्यतक व्यापनेवाला तत्त्व कहरहा है। जो स्थिर जगत्की व्यवस्था है, जो चर जगत्का प्रबंध है और जो इस सब स्थिरचर जगत्को चलाना है वह सब विश्वका कार्य परमेश्वर अपनी अनुमतिसे करता है। यह संपूर्ण जगत् जो चल रहा है वह परमेश्वरकी अनुमतिसे ही चल रहा है। यहां तक अनुमतिकी शक्ति है यह पाठक अनुभव करें। इसी प्रकार मनुष्य भी जो अनुकूल या प्रतिकूल कार्य करते हैं वह सब उनकी अपनी निज अनुमतिसेही करते हैं। मनुष्य बच-पनसे मरनेतक जो करता है वह सबका सब अपनी अनुमतिसेही करता है, इतना अनु-मतिका साम्राज्य सब जगत्में चल रहा है। इसीलिये अपनी अनुमति अच्छे कार्योंके लिये ही होवे और बुरे कार्योंके लिये न होवे, ऐसी दक्षता धारण करना अत्यंत आव-श्यक है। यह सूचना निम्नलिखित मंत्रभाग देते हैं-

देवेषु यज्ञं अनुमन्यताम्। (मं० १)
अनुमते! त्वं अनुमंससे, नः शं कृधि। (मं० २)
वयं तस्य हेडसि मा अपि भूम। (मं० ३)
सुमृडीके सुमतौ स्याम। (मं० ३)
सुदानु सुहवं अनुमतं नाम। (मं० ४)
सुवीरं रयिं धेहि। (मं० ४)
सुमतौ स्याम। (मं० ६)

"देवोंमें चलनेवाले सत्कर्म के लिये अनुमति हो जावे, अर्थात् राक्षसोंके चलाये घातक कार्यके लिये कदापि अनुमति न होवे ॥ अनुमतिसे ही सब कार्य होते हैं, इस लिये ऐसे कार्योंके लिये अनुमति होवे कि, जिससे कल्याण हो ॥ हम कभी क्रोधके लिये अपनी अनुमति न करें, किसीके क्रोधके लिये हम अनुकूल न हों ॥ सबका सुख बढानेके कार्योंमें और उत्तम बुद्धिके कार्योंमें हमारी अनुकूलमति हो, अर्थात् दुःख

बढानेवाले किसी कार्यके लिये हम अपनी अनुमति न दें ॥ जिसमें दान होता है और त्याग होता है, परोपकार जिसमें है ऐसे कार्योंके लिये जो अनुमति होती है, वही यश बढानेवाली होती है । अर्थात् जिसमें परोपकार नहीं, किसीका भला नहीं, बुराही बुरा है वैसे कार्योंको अनुमति देनेसे अकीर्तिही होती है ॥ सदा अनुमति ऐसे ही कार्योंके लिये रखना चाहिये कि, जो वीरतायुक्त धन बढानेवाले हों । भीरुता और नीचतासे, धन कमानेके कार्योंके लिये कभी कोई अपनी अनुमति न दें ॥ सारांश यह है कि, सुमति के लिये हमारी अनुमति होवे, और दुर्मतिके लिये कदापि अनुमति न होवे ॥"

इस सूक्तमें जो विशेष महत्त्वके उपदेश हैं वे ये हैं। अनुमतिकी शक्ति बडी है, इसलिये उस अनुमतिको अच्छे कार्योंमें ही लगाना योग्य है, अन्यथा हानि होगी। इस विषयमें सबसे पहिली आज्ञा यह है—

न: अनुमतिः देवेषु यज्ञं अद्य अनुमन्यताम् ॥ (मं० १)

" हमारी अनुमति देवोंमें चलाये जानेवाले सत्कर्मके लिये आजही अनुमोदन देवे।" यहां कलहका वायदा नहीं, शुभकर्म आजही करना चाहिये, कलहके लिये नहीं रखना चाहिये । जो सत्कर्म करना होगा वह आज ही शुरू कीजिये । सत्कर्मका लक्षण यह है कि (देवेषु यज्ञं) देवोंमें जो यज्ञ जैसा होता है, वह वैसा करनेके लिये अपनी अनुमति रखना चाहिये । देव कौनसा यज्ञ कर रहे हैं यह देखिये । देव वह हैं कि, जो दान देते हैं, प्रकाश देते हैं, परोपकार करते हैं । देखिये पृथिवी देवता है वह सबको आधार देती है, जल देवता है वह सबको शान्तिसुख देनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, अग्नि देवता है वह शीतपीडितोंको गर्मी देकर सुख पहुंचाता है, सूर्य देवता सबको जीवन और प्रकाश देता है, वायु सबका प्राण बन कर सबको आयु प्रदान कर रहा है, चन्द्रमा स्वयं कष्ट भोग कर भी दूसरोंको शान्ति देनेमें तत्पर रहता है, इसी प्रकार अन्यान्य देवताएं अहर्निश परोपकारमें लगी हैं । यही देवताओंमें होनेवाला परोपकारमय यज्ञ है । ऐसे शुभ कर्मोंके लिये हमारी मति अनुकूल होवे । इन देवोंमें—

दाशुषे हव्यवाहनः अग्निः भवताम (मं० १)

"दानी पुरुषके लिये हव्यवाहक अग्नि आदर्श होवे ।" अग्नि ही परोपकारका आदर्श है क्यों कि वह स्वयं जलता रहनेपर भी दूसरोंको सुख देनेके लिये प्रकाशता है, हिमपीडितोंको गर्मी देता है और अपनी ऊर्ध्वगति कायम रखता है । हरएक अवस्थामें अपनी उच्च गति स्थिर रखनेके कार्यमें अग्निही एक श्रेष्ठ आदर्श है । अग्निका गुण ही है (अग्नेः ऊर्ध्वज्वलनं) 'उच्च दिशासे प्रकाशित होकर प्रगति करनेका आदर्श' अग्निही

सबको देता है। हरएक अपनी बुद्धिमें यह आदर्श सदा रखे। और कोई मनुष्य अपनी गति हीन दिशासे कदापि होने न दें। सूर्य भी देखिये अग्निरूप होनेके कारण सबसे उच्च स्थानपर रहता हुआ प्रकाशता रहता है। इसी प्रकार मनुष्य भी उच्च से उच्च अवस्था प्राप्त करें और प्रकाशित हों। कभी नीच अवस्थामें पडकर सड न जांय और कभी अंधकार के कीचडमें न फंसें। किस कार्यको अनुमति देनी उचित है इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखिये-

अक्षीयमाणं प्रजावन्तं रयिं अनुमन्यताम्। (मं० ३)
सुवीरं रयिं (अनुमन्यतां)। (मं० ४)

"क्षीण न होनेवाला, प्रजायुक्त और वीरोंसे युक्त धन बढानेवाले जो जो श्रेष्ठ कर्म हों" उन कर्मोंको करनेकी अनुमति होनी चाहिये। अर्थात् कोई ऐसे दुष्ट व्यसन जिनमें धनका नाश होजाता है, वैसे करनेमें कदापि अनुमति नहीं होनी चाहिये। मनुष्यको क्या करना चाहिये, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग मनन करने योग्य है-

सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै अनुमतिः। (मं० ५)

"अपना प्रदेश उत्तम बने और उसमें वीरभाव बढे, इन दो कार्योंके लिये अपनी अनुमति देनी चाहिये।" हरएक प्रकारका क्षेत्र (सु-क्षेत्र) उत्तमसे उत्तम क्षेत्र बने, हरएक ग्राम, नगर और प्रांत सुधर जाय, हरएक राष्ट्र सुधर कर सबसे श्रेष्ठ बन जाय, इस कार्यके लिये प्रयत्न होने चाहिये और जिनसे यह सुधार हो जावे, ऐसे कार्य करनेके लिये अनुमति देनी चाहिये। जिससे स्थान हीन हो जिससे देशका देश दीन हो, ऐसे किसी कार्यको अनुमति नहीं देनी चाहिये। इसी प्रकार अपने देशमें नगर और ग्राममें घर घरमें और व्यक्ति व्यक्तिमें उत्तम वीरता उत्पन्न होने योग्य श्रेष्ठ कर्मोंके लिये अपनी अनुमति देनी चाहिये। कभी ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये कि, जिससे अपने देशके किसी मनुष्यमें थोडी भी भीरुता उत्पन्न होवे। 'अवीरताका' का नाश करनेकी वेदमें आज्ञा स्पष्ट है।

सुमति हमेशा (देवगोपा) देवोंद्वारा रक्षित हुई मति होती है अर्थात् जो दुर्मति होती है वह राक्षसोंद्वारा रक्षित होती है। इसलिये अपनी मति राक्षसोंके आधीन करना किसीको भी योग्य नहीं है। देवोंद्वारा सुरक्षित हुई जो प्रमति और विशेष श्रेष्ठ बुद्धि होती है, वही 'भद्रा' अर्थात् सच्चा कल्याण करनेवाली होती है।

इस प्रकार इस सूक्तका उपदेश अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यदि पाठक इसका विशेष मनन इस प्रकार करेंगे, तो उनको अपनी मति किस प्रकार ' प्रमति, सुमति और भद्रा

अनुमति ' बनाई जा सकती है, इसका मार्ग ज्ञात हो सकता है । आत्मशुद्धि करनेवालोंको यह सूक्त उत्तम रीतिसे मार्गदर्शक होसकता है । इस दृष्टिसे इस सूक्तका एक-एक वाक्य बहुतही बोधप्रद है ।
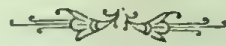
आत्माकी उपासना ।

[२१ (२२)]

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता-आत्मा)

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम् ।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु ॥ १ ॥

अर्थ— (विश्वे) आप सब लोग (दिवः पतिं वचसा समेत) प्रकाशलोकके स्वामी आत्माको स्तुतिके वचनोंसे प्राप्त करो । वह (एकः जनानां विभूः अ-तिथिः) एक है,सब जनों अर्थात् प्राणियोंमें विभू है और उसकी आनेजानेकी तिथि निश्चित नहीं है । (सः पूर्व्यः) वह सबसे पूर्व अवस्थित होता हुआ (नूतनं आविवासत) नूतन उत्पन्न शरीरोंमें भी वसता है । (तं एकं इत्) उस एकके प्रति (पुरु वर्तनिः) बहुत प्रकारके मार्ग (अनुवावृते) पंहुंचते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— सब लोग इकट्ठे हो कर प्रकाशके स्वामी आत्माकी अपने शब्दोंसे स्तुति करें । वह आत्मा एक है, और सब जनों तथा प्राणियोंके अन्दर विद्यमान है और उसकी आनेजानेकी तिथि निश्चित नहीं है । सब से पूर्व वह विद्यमान था तथापि नूतनसे नूतन पदार्थ में भी वह रहता है । वह एकही है तथापि अनेक प्रकारके मार्ग उसके पास पंहुंचते हैं ॥ १ ॥

सब लोग आत्माका विचार करें। यह आत्मा एकही है अर्थात् संपूर्ण विश्वमें एकही है। यही स्वर्ग किंवा प्रकाशलोकका स्वामी है। हरएक मनुष्य इसके गुणोंका गान करे। यह अनेक उत्पन्न हुए पदार्थोंमें (विभूः) विद्यमान है और (अतिथिः) इसके आनेजानेकी तिथि किसीको पता नहीं लगती, अथवा (अतिथिः) यह सतत प्रेरणा करता है, सतत गति दे रहा है, विश्वको सतत घुमा रहा है किंवा यह अतिथिवत् पूज्य है। यह सब जगत् (पूर्व्यः) पूर्व भी था, यह कभी नहीं था ऐसा नहीं, यह पुराण पुरुष होता हुआ यह नूतन शरीरोंमें, नूतनसे नूतन पदार्थमें रहता है। सर्वत्र व्याप्त होनेके कारण यह किसी स्थानपर नहीं ऐसी बात नहीं, इसलिये पुरातन और नूतन सबही पदार्थोंमें रहता है। यह आत्मा यद्यपि एक है तथापि उसके पास पंहुंचनेके मार्ग अनेक हैं। किसी मार्गसे गये तो अन्तमें उसी एककी प्राप्ति होती है। कोई मार्ग दूरका हो या कोई समीपका हो, परंतु प्रत्येक मार्ग वहांतक पंहुंचता है इसमें संदेह नहीं है।

इस सूक्तका वर्णन परमात्माका और कुछ मर्यादासे जीवात्माका भी है। परमात्माका क्षेत्र बडा और जीवात्माका छोटा है और इस रीतिसे क्षेत्रोंकी न्यूनाधिक मर्यादासे यह एकही वर्णन दोनोंका हो सकता है यह बात पाठक इस सूक्तके विचारके समय ध्यानमें धारण करें। जीवात्मापरक 'अतिथि' शब्द 'अनिश्चित तिथिवाला' इस अर्थमें होगा, और परमात्मापरक अर्थ होनेपर 'गतिमान्' इस अर्थमें होगा। इस प्रकार पाठक अर्थ समझकर आत्माका गुणवर्णन दोनों क्षेत्रोंमें कैसा है, यह जानें और इसके विचारसे आत्माके गुणोंका अनुभव करें।

आत्माका प्रकाश

[२२ (२३)]

(ऋषिः-ब्रह्मा। देवता-मंत्रोक्ता, ब्रध्नः)

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥ १ ॥

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन्।

अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(अयं) यह परमात्मा (वि—धर्मणि) विरुद्ध अथवा विविध धर्मवाले पदार्थोंकी संकीर्णतामें (नः कवीनां सहस्रं दृशे) हमारे ज्ञानियों

के हजारों प्रकारके दर्शनके लिये (मतिः ज्योतिः आ) उत्तम बुद्धि और ज्योतिरूप होता है ॥ १ ॥

वह (ब्रध्नः) बडा आत्मा रूपी सूर्य (समीचीः अरेपसः) उत्तम रीतिसे चलनेवाली, निर्दोष (सचेतसः मन्युमत्तमाः) ज्ञान देनेवाली, उत्साह बढानेवाली (उषसः) उषःकालकी किरणोंको (गोः स्वसरे चिते) इंद्रियोंके स्वसंचारके मार्गको बतलानेके कार्यमें (समैरयत्) प्रेरित करता है ॥ २ ॥

भावार्थ— विरुद्ध गुण धर्मवाले पदार्थोंमें व्यापनेवाला एक परमात्मा है । वह ज्ञानियोंको उत्तम मार्ग हजारों रीतियोंसे बताता है और उनको उत्तम बुद्धि तथा ज्योति देता है ॥ १ ॥

यह परमात्मा एक बडा सूर्यही है, उसकी ज्ञान देनेवाली किरणें अत्यंत निर्मल, उत्साह बढानेवाली, प्रकाश देनेवाली, हमारे इंद्रियोंको संचारका मार्ग बतानेवाली हैं, अर्थात् उनसे शक्ति प्राप्त करके हमारी इंद्रियां कार्य करती हैं ॥ २ ॥

इस सूक्तमें जगत्का भी वर्णन है और उसमें व्यापनेवाले परमात्माका भी वर्णन है और उसकी उपासना करनेवाले भक्तोंका भी वर्णन है ।

जगत्का वर्णन करनेवाला शब्द यह है- (विधर्मणि) विरुद्ध गुणधर्मवाला जगत् है, देखिये इसमें अग्नि उष्ण है और जल शीत है, पृथ्वी स्थिर है और वायु चंचल है, पृथ्वी आदि पदार्थ सावयव हैं तो आकाश निरवयव है । ऐसे विरुद्ध गुणधर्मवाले पदार्थोंमें एक रस व्यापनेवाला यह आत्मा है । विरुद्ध गुणधर्मवाले पदार्थोंकी संगतिमें सदा रहनेपर भी इसके गुणधर्मोंमें अदल बदल नहीं होता है । इसी प्रकार विरुद्ध गुणधर्मवाले लोगोंको अपने पास रखकर स्वयं उनके दुर्गुणोंसे दूर रखकर अपने शुभगुणोंसे उनको उत्तेजित करना चाहिये ।

जिस प्रकार परमात्मा सबको (मतिः ज्योतिः) सद्बुद्धि और प्रकाश देता है, उसी प्रकार अपने पास जो ज्ञान होगा वह अन्योंको देना और अपने पास जितना प्रकाश होगा उतना अंधेरेमें चलनेवाले दूसरे लोगोंको बतलाना चाहिये ।

वह बडा है, उसकी किरणें निर्दोष हैं, वह मलहीन है, उत्साह देनेवाला है; इसी प्रकार मनुष्योंको उचित है कि, वे उच्च बनें, निर्दोष बनें, शुद्ध और पवित्र बनें, उत्साही बनें और दूसरोंको उच्च, निर्दोष, शुद्ध, पवित्र और उत्साही बनावें । इस प्रकार आत्मा के गुणोंका विचार करके वे गुण अपनेमें बढाने चाहिये ।

विपत्तिको हटाना।

[२३ (२४)]

(ऋषिः- यमः। देवता- दुःस्वप्ननाशनः)

दौष्वंप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमिराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ १ ॥

अर्थ— (दौष्वप्न्यं) दुष्ट स्वप्नोंका आना, (दौर्जीवित्यं) दुःखमय जीवन होना, (रक्षः) हिंसकोंका उपद्रव, (अ-भ्वं) अभूति, दरिद्रता, (अराय्यः) विपत्तिके कष्ट, (दुर्णाम्नीः) बुरे नामोंका उच्चार करना, (सर्वाः दुर्वाचः) सब प्रकारके दुष्ट भाषण (ताः अस्मत् नाशयामसि) उनको हम अपने स्थानसे नष्ट करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ- बुरे स्वप्न, कष्टका जीवन, हिंसकोंका उपद्रव, विपत्ति,दारिद्र्य, दुष्टभाषण, गालियाँ देना आदि जो जो बुराईयां हममें हैं, उनको हम दूर करते हैं ॥ १ ॥

विपत्तियां अनेक प्रकारकी हैं, उनमें कुछ विपत्तियोंकी गणना इस स्थानपर की है। बुरे स्वप्न आना आदि विपत्ति तथा दुःखपूर्ण जीवनका अनुभव होना, ये विपत्तियां आरोग्य न रहनेसे होती हैं। आरोग्य उत्तम रीतिसे रखनेके लिये व्यायाम, योगासनोंका अनुष्ठान, यमनियमपालन, प्राणायाम, योग्य आहारविहार आदि उपाय हैं। इनके योग्य रीतिसे करनेसे ये दो विपत्तियां दूर होती हैं। हिंसकोंका उपद्रव दूर करनेके लिये अपने अंदर शूरवीर उत्पन्न करना और उस कार्यके लिये उनको लगाना चाहिये। इससे राक्षसोंके आक्रमणसे हम अपना बचाव कर सकते हैं। (अ-भ्वं) अभूति और (अराय्यः) निर्धनता ये दो आर्थिक आपत्तियां उद्योगवृद्धि करने और बेकारी दूर करनेसे दूर होती हैं। मनुष्य हरएक प्रकार आलसी न रहे, कुछ न कुछ उत्पादक काम धंदा करे और अपनी धन संपत्ति सुयोग्य उपायसे बढावे। इस प्रकार उद्योगवृद्धि करनेसे ये आर्थिक आपत्तियां दूर हो जाती हैं। गाली देना, बुरा भाषण करना, बुरे शब्द उच्चारण करना आदि जो आपत्तियां हैं, उनको दूर करनेके लिये अपनी वाणीकी शुद्धि करना चाहिये। निश्चयपूर्वक अपशब्दोंका उच्चार न करनेसे कुछ दिनोंके पश्चात् ये शब्द अपनी वाणीसे स्वयं दूर होते हैं। इस प्रकार आत्मशुद्धि करनेका मार्ग इस सूक्तने बताया है। पाठक इसका विचार करें और उचित बोध प्राप्त कराकर अपना उद्धार अपने प्रयत्नसे करें।

प्रजापालक।

[२४ (२५)]

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—सविता)

यन्न इन्द्रो अखनद् यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत् स्वर्काः ।
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् ॥ १ ॥

अर्थ—(यत्) जो इन्द्र, अग्नि, विश्वेदेव, (स्वर्काः मरुत्) उत्तम तेजस्वी मरुत इनमेंसे प्रत्येक (नः अखनत्) हमारे लिये खोदता रहा है (तत्) वह (सत्यधर्मा प्रजापतिः अनुमतिः सविता) सत्य धर्मवाला प्रजापालक अनुमति रखनेवाला सविता (नियच्छात्) देवे ॥ १ ॥

हम सब प्राणिमात्रके लिये विद्युत्, अग्नि, पृथिवी आदि सब देव तथा विविध प्रकारके वायु जो लाभ करते हैं, वह लाभ हमें सूर्यसे प्राप्त होता है, परंतु उससे योग्य रीतिसे लाभ प्राप्त कराना चाहिये । क्यों कि सच्चा प्रजापालक यही सूर्य है ।

व्यापक और श्रेष्ठ देव।

[२५ (२६)]

(ऋषिः– मेधातिथिः । देवता– सविता)

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा ।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥ १ ॥
यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः ।
पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥ २ ॥

अर्थ-- (ययोः ओजसा) जिन दोनोंके बलसे (रजांसि स्कभिता) लोक लोकान्तर स्थिर हुए हैं, (यौ वीर्यैः शविष्ठा वीरतमा) जो दो अपने परा-

क्रमोंसे बलवान् और अत्यंत शूर हैं, (यौ सहोभिः अप्रतीतौ पत्येते) जो दो अपने बलोंसे पीछे न हटते हुए आगे बढते हैं। उन दोनों (विष्णुं वरुणं) विष्णु अर्थात् व्यापक देवके प्रति और वरुण अर्थात् श्रेष्ठ देवके प्रति (पूर्वहूतिः अगन्) सबसे प्रथम प्रार्थना करता हुआ प्राप्त होता हूं ॥ १ ॥

(यस्य प्रदिशि) जिसकी दिशा उपदिशाओंमें (इदं यत् विरोचते) यह जो प्रकाशता है (प्र अनति च) और उत्तम रीतिसे प्राण धारण करता है,(देवस्य धर्मणा सहोभिः) इस देवके धर्म और बलोंसे (शचीभिः विचष्टे च) तथा शक्तियोंसे देखता है, उस (विष्णुं वरुणं च पूर्वहूतिः अगन्) व्यापक और श्रेष्ठ देवको सबसे प्रथम प्रार्थना करनेवाला होकर प्राप्त करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जिसने अपने बलसे यह त्रिलोकी को अपने स्थानमें स्थिर किया है, जो अपनी विविध शक्तियोंसे अत्यंत बलवान् और पराक्रमी हुआ है, जो कभी पीछे नहीं हटता परंतु आगे बढता है, उस व्यापक और श्रेष्ठ देवकी मैं सबसे प्रथम प्रार्थना करता हूं, क्यों कि वह सबसे श्रेष्ठ देव है ॥ १ ॥

जिसकी शक्तिसे दिशा और उपदिशाओंमें सर्वत्र प्रकाश फैल रहा है, जिसकी जीवनशक्तिसे सब प्राणीमात्र प्राण धारण करते हैं, जिस देवके निज धर्मसे और बलोंसे सब प्राणी देखते और अनुभव करते हैं। उस व्यापक और श्रेष्ठ देवकी मैं सबसे प्रथम प्रार्थना करता हूं क्यों कि वह सबसे वरिष्ठ देव है ॥ २ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है अतः इसकी व्याख्या करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस सूक्तमें प्रथम मंत्रमें दो देव भिन्न भिन्न हैं ऐसा मानकर वर्णन किया है, परंतु दूसरे ही मंत्रमें उन दोनोंको एक माना है और एकवचनी प्रयोग हुआ है। इससे 'विष्णु और वरुण' इन दो शब्दोंसे एक अभिन्न देवताका ही वर्णन अभीष्ट है ऐसा दीखता है। पाठक इसकी अधिक खोज करें।

सर्वव्यापक ईश्वर ।

[२६ (२७)]

(ऋषिः–मेधातिथिः । देवता–विष्णुः)

विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कंभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥
प्र तद् विष्णुं स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
परावत आ जंगम्यात् परस्याः ॥ २ ॥

अर्थ— (विष्णोः वीर्याणि) सर्वव्यापक ईश्वरके पराक्रमोंका (कं प्रवोचं नु) सुख बढानेवाला वर्णन निश्चय पूर्वक करता हूं। (यः पार्थिवानि रजांसि विममे) जो पृथ्वीपरके लोकोंको विशेष रीतिसे निर्माण करता है। (यः उरुगायः) जो बहुत प्रकार प्रशंसित होता हुआ (त्रेधा विचक्रमाणः) तीन प्रकारसे पराक्रम करता हुआ । (उत्तरं सधस्थं अस्कभायत्) उच्चतर स्वर्गीय प्रकाशस्थानको स्थिर करता है ॥१॥ (तत वीर्याणि)उसके पराक्रम दर्शानेके लिये (विष्णुः स्तवते) वही व्यापक ईश्वर प्रशंसित होता है। वह (भीमः मृगः न) भयानक सिंह जैसा (कु–चरः गिरि-ष्ठः) सर्वत्र संचार करनेवाला और गिरि गुहाओंमें रहने वाला है। वह (परस्याः परावतः) दूरसे दूरके प्रदेशसे (आजगम्यात्) समीप आता है ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक परमेश्वरके पराक्रम बहुत हैं। जो अपना सुख बढाना चाहते हैं वे उनका वर्णन करें, उनका गायन करें। उसी परमेश्वरने तो सब पार्थिव पदार्थोंको विशेष कुशलतासे निर्माण किया है। इसी लिये उसकी सर्वत्र बहुत प्रशंसा होती है। वह तीनों लोकों में तीन प्रकारका पराक्रम करता है और उसीने सबसे ऊपरका द्युलोक निराधार स्थिर किया है ॥ १ ॥

इस परमेश्वरका गुणसंकीर्तन करनेसे उसके पराक्रमों का ज्ञान प्राप्त होता है और उससे उसका महत्त्व अनुभव करना सुगम होता है। जैसा सिंह गिरिकंदराओंमें संचार करता है,और भूमिपर घूमता है,उसी प्रकार यह भी हृदयगुफामें संचार करता है और इस लोकमें व्यापता है। वह दूरसे दूर रहनेपर भी भक्ति करनेपर समीपसे समीप आजाता है ॥२॥

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥
इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा ।
समूढमस्य पांसुरे ॥ ४ ॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥

अर्थ-(यस्य उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु) जिसके विशाल तीन विक्रमोंमें (विश्वा भुवनानि अधि क्षियन्ति) सब भुवन रहते हैं। हे (विष्णो, उरु विक्रमस्व) व्यापक देव ! विशेष विक्रम कर। (नः क्षयाय उरु कृधि) हमारे निवास के लिये विस्तृत स्थान दे। हे (घृतयोने, घृतं पिब) रसको उत्पन्न करने· वाले! रसको पान कर और (यज्ञपतिं प्र प्र तिर) यज्ञकर्ताको पार ले जा ॥ ३ ॥

(विष्णुः इदं विचक्रमे) व्यापक देव इस जगत्में विक्रम कर रहा है। (पदा त्रेधा निदधे) अपने पांवसे तीन प्रकारसे पद रखा है। (अस्य पांसुरे समूढं) इसका जो पांव बीचके लोकमें है वह गुप्त है ॥ ४ ॥

(अदाभ्यः गोपाः विष्णुः) न दबनेवाला पालक और व्यापक देव (त्रीणि पदा विचक्रमे) तीन पावोंको इस जगत्में रखता है और (इतः धर्माणि धारयन्) वहांसे सब धर्मोंका धारण करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ-पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों लोकोंमें इस ईश्वरके तीन पराक्रम दिखाई देते हैं। उन पराक्रमोंसे ही इन तीन लोकोंका अस्तित्व हुआ है। इसलिये उस प्रभुकी विशेष प्रार्थना करते हैं कि वह हमें उत्तम और विस्तृत स्थान कार्य करनेके लिये अर्पण करे। हे प्रभो ! यजमान जो सत्कर्म करता है उसका रस ग्रहण करके यजमानको इस दुःखसागरसे पार कर ॥ ३ ॥

व्यापक देवका कार्य इस त्रिलोकीमें देख, उसने अपने तीन पांव तीन लोकोंमें रखकर वहांका कार्य किया है। पृथ्वीपर उसका कार्य दिखाई देता है, द्युलोकमें भी वैसा ही अनुभवमें आता है। परंतु मध्यस्थानीय

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इंद्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥
तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥
दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात्।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ॥ ८ ॥

अर्थ- (विष्णोः कर्माणि पश्यत) व्यापक देवके ये कार्य देखो। (यतः व्रतानि पस्पशे) जहांसे सब गुणधर्मोंको वह देखता है। (इन्द्रस्य युज्यः सखा) वह जीवात्माका योग्य मित्र है ॥ ६ ॥

(विष्णोः तत् परमं पदं) व्यापक देवका वह परम स्थान (सूरयः सदा पश्यन्ति) ज्ञानी जन सदा देखते हैं। (दिवि आततं चक्षुः इव) जैसा द्युलोकमें फैला हुआ चक्षुरूपी सूर्य होता है ॥ ७ ॥

हे (विष्णो) व्यापक देव ! (दिवः उत पृथिव्याः) द्युलोक और पृथिवीसे तथा (महः उरोः अन्तरिक्षात्) बडे विस्तृत अन्तरिक्षसे (बहुभिः वसव्यैः हस्तौ पृणस्व) बहुत धनोंसे अपने दोनों हाथ भर लें और दक्षिणात् उत सव्यात्) दायें तथा बायें हाथोंसे (आ अयच्छ) प्रदान करें ॥ ८ ॥

अन्तरिक्ष लोकमें उसका जो कार्य हो रहा है वह दिखाई नहीं देता ॥४॥

यह व्यापक देव किसी कारण भी न दबनेवाला और सबकी रक्षा करनेवाला है। इन तीनों लोकोंमें अपने तीन पांव रखता है और वहांका सब कार्य करता है। यहींसे उसके सब गुणधर्म प्रकट होते हैं ॥ ५ ॥

हे लोगो ! इस सर्वव्यापक ईश्वरके ये चमत्कार देखो। जिसके प्रभाव-से उसके सब व्रत यथायोग्य रीतिसे चल रहे हैं। हरएक जीवका यह परमेश्वर एक उत्तम मित्र हैं ॥ ६ ॥

जिस प्रकार द्युलोकमें सूर्यको सब लोग देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी लोग सदा उसको देखते हैं। अर्थात् वह ईश्वर इस प्रकार उनको प्रत्यक्ष होता है ॥ ७ ॥

हे सर्वव्यापक प्रभो ! पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोकमेंसे बहुत धन तू अपने हाथमें लेकर अपने दोनों हाथोंसे उस धनका हमें प्रदान कर ॥८॥

इस सूक्तमें सर्वव्यापक ईश्वरका वर्णन है। तीनों लोकोंमें जो विलक्षण चमत्कार दिखाई देते हैं, वे सब उसीकी शक्तिसे हो रहे हैं। उसीने ये तीनों लोक रचे, उसीने उनका धारण किया और वही यहांका सब चमत्कार कर रहा है। यह सर्वव्यापक होनेपर भी साधारण लोगोंको वह प्रत्यक्ष नहीं होता है। परंतु ज्ञानी लोगोंको वह वैसा प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जैसा दो पहरका सूर्य आकाशमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यह इसकी महिमा सब लोग देखें और अनुभव करें।

मातृभाषा।

[२७ (२८)]

(ऋषिः-मेधातिथिः। देवता-इडा (मंत्रोक्ता))

इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः।
घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी ॥ १ ॥

अर्थ- (इडा एव व्रतेन अस्मां अनुवस्तां) मातृभाषा ही नियमसे हमारे पास अनुकूलतासे रहे, (यस्याः पदे देवयन्तः पुनते) जिसके पदपदमें देवताके समान आचरण करनेवाले पवित्र होते हैं। (घृतपदी) स्नेहयुक्त पदवाली, (शक्करी) सामर्थ्यवती, (सोमपृष्ठा) कलानिधि जिसके पीछे होता है, ऐसी (वैश्वदेवी) सब देवोंका वर्णन करनेवाली वाणी (यज्ञं उप अस्थित) यज्ञके समीप स्थिर होवे ॥ १ ॥

मातृभाषासे हम कभी पराङ्मुख न हों, अनुकूलतासे मातृभाषाका उपयोग करनेकी अवस्थामें हम सदा रहें। देवता बननेकी इच्छा करनेवाले सज्जन इस मातृभाषाके पद पदके उच्चारणके समय अपनी पवित्रता होनेका अनुभव करते हैं। अर्थात् मातृभाषाको छोडकर किसी अन्यभाषाका उच्चारण करनेकी आवश्यकता होगई और उतने प्रमाणसे मातृभाषाका प्रतिबंध होने लगा, तो वे समझते हैं कि पदपदमें अपवित्रता हो रही है। क्योंकि मातृभाषाका हरएक पद उच्चारण करनेवालेके रक्तके साथ संबंध रखता है। मातृ-भाषाके शब्दोंमें (घृत-पदी) घी भरा रहता है अर्थात् एक प्रकारका तेजस्वी स्नेहरस रहता है, जिसके कारण मातृभाषाका शब्दोच्चार अन्तःकरणपर एक विलक्षण भाव उत्पन्न करता है। मातृभाषा (शक्वरी) शक्तिमती भी होती है। परकीय भाषाका व्याख्यान

श्रवण करनेसे सब उपस्थित स्त्रीपुरुषोंपर वैसी शक्तिका प्रभाव नहीं जमा सकता, जैसा मातृभाषाका व्याख्यान शक्तिका प्रदान कर सकता है। मातृभाषाके पीछे (सोम-कलानिधि) कलाओंका निधि रहता है। सब हुनर इसकी साथ करते हैं इस कारण इसकी शक्ति बहुत ही बढजाती है। यह (वैश्व+देवी=विश्वेदेवाः) सब देवोंको स्थान देनेवाली होती है अर्थात् पृथ्वी, आप, तेज, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि देवोंका गुण वर्णन-वैज्ञानिक पदार्थ विज्ञान-इस भाषामें रहनेसे इसमें देवताएं रहनेके समान होता है। ऐसी दैवी बलसे युक्त मातृभाषा हरएक सत्कर्ममें प्रयुक्त होवे। कभी अन्य भाषाके शब्द मातृभाषा बोलनेके समय प्रयुक्त न किये जांय।

इस सूक्तका एक एक शब्द मातृभाषाका गौरव वर्णन कर रहा है, पाठक इसका अधिक मनन करें।

कल्याण।

[२८ (२९)]

(ऋषिः- मेधातिथिः। देवता-वेदः)

वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति।
हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम् ॥ १ ॥

अर्थ— (वेदः स्वस्ति) ज्ञान कल्याण करनेवाला है। (द्रु-घणः स्वस्ति) लकडी काटनेका कुल्हाडा कल्याण करनेवाला है। (परशुः) परशु कल्याण करनेवाला है। (वेदिः) यज्ञ की वेदि कल्याण करती है। (नः परशुः स्वस्ति) हमारा शस्त्र कल्याण करनेवाला है। (हविष्कृतः यज्ञियाः यज्ञकामाः) हवि बनानेवाले, पूजनीय और यज्ञ करनेकी इच्छा करनेवाले (ते देवासः) वे याजक (इमं यज्ञं जुषन्तां) इस यज्ञका प्रेमसे सेवन करें ॥ १ ॥

ज्ञान, सुतारके हथियार, लकडी तोडनेके कुल्हाडे, घास काटनेकी दात्री, समिधा तयार करनेकी परसा, वेदी, हवि, हवि तयार करनेवाले लोग, यज्ञ करनेवाले, यज्ञ की इच्छा करनेवाले ये सब कल्याण करनेवाले हैं। इसलिये इनके विषयमें उचित श्रद्धा धारण करना चाहिये।

दो देवोंका सहवास।

[२९ (३०)]

(ऋषिः-मेधातिथिः । देवता-अग्नाविष्णू)

अग्नाविष्णू महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम ।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥ १ ॥

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ ।
दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥ २ ॥

अर्थ—हे (अग्नाविष्णू) अग्नि और विष्णु ! (वां तत् महि महित्वं नाम) आप दोनोंका वह बडा महत्त्वपूर्ण यश है, जो आप दोनों (गुह्यस्य घृतस्य पाथः) गुह्य घृतका पान करते हो। तथा (दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ) प्रत्येक घरमें सात रत्नोंको धारण करते हो और (वां जिह्वा घृतं प्रति आ चरण्यात्) तुम दोनों की जिह्वा प्रत्येक यज्ञमें उस रसको प्राप्त करती है ॥ १ ॥

हे अग्नि और विष्णु ! (वां धाम महि प्रियं) आपका स्थान बडा प्रिय है। उसको (घृतस्य गुह्या जुषाणौ वीथः) घीके गुह्य रसका सेवन करते हुए प्राप्त करते हो। दमे दमे सुष्टुत्या वावृधानौ (प्रत्येक घरमें उत्तम स्तुतिसे वृद्धिको प्राप्त होते हुए (वां जिह्वा घृतं प्रति उत् चरण्यात्) आप दोनोंकी जिह्वा उस घृतको प्राप्त करती है ॥ २ ॥

भावार्थ—अग्नि और विष्णु ये दो देव एक स्थानमें रहते हैं, उन दोनों की बडी भारी महिमा है। वे दोनों गुप्त रीतिसे गुहामें बैठकर घी भक्षण करते हैं, प्रत्येक घरमें सात रत्नोंको रखते हैं और अपनी जिह्वासे गुह्य घी का स्वाद लेते हैं ॥ १ ॥

इन दोनों देवोंका एकही बडा भारी प्रिय स्थान है। ये दोनों घीके गुह्य रसका स्वाद लेते हैं। हरएक घरमें स्तुतिसे बढते हैं और गुह्य घीके पासही इनकी जिह्वा पंहुंचती है ॥ २ ॥

इस सूक्तमें एक स्थानमें रहनेवाले दो देव हैं ऐसा कहा है। एक अग्नि और दूसरा विष्णु है। 'विष्णु' शब्द द्वारा सर्वव्यापक परमेश्वरका वर्णन इसके पूर्वके २६ वे सूक्त में हो चुका है। 'विष्णु' शब्दका दूसरा अर्थ 'सूर्य' है, सूर्य, भी बहुतही बडा है और इस ग्रहमालाका आधार तथा कर्ता धर्ता है। उसकी अपेक्षा अग्नि बहुतही अल्प और छोटा है। सूर्यके साथ हमारे अग्निकी तुलना की जाय तो दावानलके साथ चिनगारीकी ही कल्पना हो सकती है। अग्नि उत्पन्न होती है, अर्थात् इसका जन्म होता है यह बात हम देखते हैं, जन्मके बाद वह कुछ समय जलती रहती है और पश्चात् बुझ जाती है। ठीक यह बात जीवात्मा के जन्म होने, उसकी आयुसमाप्तितक जीवित रहने और पश्चात् मरनेके साथ तुलना करके देखिये, तो पता लग जायगा कि यदि 'विष्णु' शब्द द्वारा सर्वव्यापक परमात्मा का ग्रहण किया जावे,तो यहां ' अग्नि ' शब्दसे छोटे जीवात्माका ग्रहण किया जा सकता है। उत्पन्न होना, जीवित रहना और बुझ जाना ये तीन बातें जैसी अग्निमें हैं वैसी ही जीवात्मामें हैं और उसके साथ सदा रहनेवाला विश्वव्यापक परमात्मा है हि। यह बात वेदमें अन्यत्र भी कही है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥

"दो सुंदर पंखवाले पक्षी साथ रहते हैं, परस्पर मित्र हैं, ये दोनों एकही वृक्षपर रहते हैं।" ऋ० १। १६४। २०

यह जो दो पक्षी कहे हैं, उनमेंसे एक जीवात्मा है और दूसरा परमात्मा है। इसी प्रकार साथ रहनेवाले दो देव, एक अग्नि और दूसरा सूर्य, अथवा एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा है। यहां अग्निका जीवात्माके किन गुणोंके साथ साधर्म्य है वह ऊपर कहा है। देहके साथ वारंवार संबंधित होनेके कारण पूर्वोक्त तीनों धर्म जीवात्माके ऊपर आरोपित होते हैं, क्यों कि जीवात्मा तो न जन्मता है और न मरता है। शरीरके ये धर्म उसपर लगाये जाते हैं। ये दोनों— **दमे दमे सप्त रत्ना दधानौ** (मं० १) " घर घरमें सात रत्नोंको धारण करते हैं।" ये सात रत्न यहां प्रत्येक जीवात्माके प्रत्येक घरमें हैं। पांच ज्ञानेंद्रियाँ और मन तथा बुद्धि ये सात रत्न हैं, इसीसे साधारणतः सब प्राणी और विशेषतः मनुष्य सुशोभित होते हैं, इनमें रमणीयता है। ये मनुष्यके आभूषण हैं अतः ये रत्न ही हैं। जो जेवरोंमें पहने जाते हैं वे वस्तुतः रत्न नहीं हैं; ये आत्माके सात रत्न ठीक रहे तोही जेवर और भूषण शरीरको शोभा देते हैं, अन्यथा जेवरोंसे कोई शोभा नहीं होती। पाठक प्रत्येक शरीरमें रखे हुए इन सात रत्नोंको देखें। यजुर्वेदमें कहा है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः० ॥ यजु० ३४ । ५५ ॥

"प्रत्येक शरीरमें सात ऋषि रखे हैं, ये सात इस सभास्थानकी गलती न करते हुए रक्षा करते हैं, ये सात नदियां सोनेवाले इस जीवात्माके लोकमें जातीं हैं।" इत्यादि वर्णन भी इनही इंद्रियोंका ही वर्णन है, सात रत्न, सात ऋषि, सात रक्षक, सात जल-प्रवाह इत्यादि वर्णन इनही जीवात्माकी सात शक्तियोंका है। ये सात रत्न जबतक यह जीवात्मारूपी अग्नि इस शरीर रूपी हवन कुण्डमें जलता रहता है तब तक रहते हैं, जब यह बुझ जाता है, तब ये रत्न भी शोभा देना बंद करते हैं। ये दोनों अग्नि—

गुह्यस्य घृतस्य पाथः । (मं० १) घृतस्य गुह्या जुषाणौ वीथः । (मं० २)
वां जिह्वा घृतं प्रति आ (उत्) चरण्यात् । (मं० १-२)

"ये दोनों गुह्य घी पीते हैं। इनकी जिह्वा इस घीकी ओर जाती है।" यह गुह्य घृत कौनसा है? यह एक विचारणीय बात है। गुहामें जो होता है वह 'गुह्य' कहलाता है। यहां 'गुहा' शब्दसे 'बुद्धि' अथवा 'अन्तःकरण' विवक्षित है। इसमें जो इंद्रिय रूपी गौसे निचोडे हुए दूधका बनाया हुआ घी होता है, वह गुह्य किंवा गुप्त घी है। यह घी इस बुद्धिमें अथवा हृदयकंदरामें रखा रहता है और इसका ये गुप्त रीतिसे सेवन करते हैं। यह बात अब पाठकोंको विदित होगई होगी, कि इस रूपकका क्या तात्पर्य है। वां महि प्रियं धाम। (मं० २)

"इनका स्थान बडा है और प्रिय है।" क्यों कि यहां प्रेम भरा रहता है। सबको यह प्यारा है। सब इसकी ही प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं। ऐसा इनका स्थान है। तथा-

दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ। (मं० २)

"घर घरमें उत्तम स्तुतिसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं।" अर्थात् हरएक शरीरमें जहां जहां उत्तम ईश्वरकी स्तुति होती है, जहां उसके शुभ गुणोंका गायन होता है, वहां एक तो परमेश्वर भावकी वृद्धि होती है, और उन गुणोंकी धारणासे जीवात्माकी शक्ति बढती है। यह तो जीवात्माकी वृद्धिका उपाय ही है।

यहां शरीरको 'दम' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस शरीर में इंद्रियोंका शमन होता है और मनोवृत्तियोंका दमन होता है उसका नाम 'दम' है। दो प्रकारके शरीर हैं। एक में भोगवृत्ति बढती है और दूसरेमें दम वृत्ति बढायी जाती है। जिसमें दमवृत्ति बढती है उसका नाम यहां 'दम' रखा है और इस दमसे "सप्त रत्न" भी उत्तम तेजःपुंज स्थितिमें रहते हैं और वहां ही आत्माकी शक्ति विकसित होती है। अस्तु॥

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास

इस समय तक छपकर तैयार पर्व

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	१२ " १५]	४	३५६	२) दो	।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	१।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	- १)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	॥)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥) साडेसात	१।=)
८ कर्णपर्व	[६५ " ७०]	६	६३७	३॥) साढेतीन	,, ॥)
९ शल्यपर्व	[७१ " ७४]	४	४३५	२॥) अढाइ	" ।=)
१० सौप्तिकपर्व	[७५]	१	१०४	।॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	[७६]	१	१०८	।॥) "	।)
१२ राजधर्मपर्व	[७७—८३]	७	६९४	३॥) साढे तीन	॥)
१३ आपद्धर्मपर्व	[८४—८५]	२	२३२	१।) सवा	।-)

कुल मूल्य ४६।) कुल डा. व्य. ८।=)

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, [illegible] सातारा.

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ११

अंक १०

क्रमांक १३०

आश्विन

संवत् १९८७

अकतूबर

सन १९३०

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥·) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष ११
अंक १०
क्रमांक १३०
आश्विन
संवत् १९८७
अक्तूबर
सन १९३०

वैदिक धर्म.

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

जगत्का एक सम्राट्।

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः॥१८॥

ऋग्वेद ६।७।१

"(दिवः मूर्धानं) द्युलोक के शिरोभागमें वर्तमान, तथा (पृथिव्याः अरतिं) पृथ्वीपर भी प्राप्त, सर्वदा (ऋते आ जातं) सत्यके लिये प्रसिद्ध, (वैश्वा-नरं) सब नरोंका हित करनेवाले, (कविं सम्राजं) कवि और एकमात्र सम्राट् होते हुए भी (जनानां अतिथिं) जनोंके पास जाने वाले और उनकी (पा-त्रं) रक्षा करनेवाले तथा (आसन्) मुखके समान सब जगत् में मुख्य, ऐसे (अग्नि) तेजस्वी देवको (देवाः आ जनयन्त) सब देव प्रकट करते हैं।"

जो द्युलोक के शिरोभाग में तथा पृथ्वीपर भी विद्यमान है, जो सदा सत्य नियमोंका प्रवर्तन करता है, जो सबका सदा हित करता है, जो कवी ज्ञानी और सब जगत् का एक मात्र सम्राट है और जो सब लोगोंके पास रहकर सबकी रक्षा करता है। उस सब में मुख्य प्रकाशस्वरूप देव को सब अन्य देव प्रकट करते हैं। [पृथ्वी, जल, अग्नि, वृक्ष, वायु, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि अनेक देव अपने गुणों और कर्मोंसे उसी जगत् के एक सम्राट की महिमाको प्रकट करते हैं।]

भारतीय सभ्यता का संसार पर परिणाम।

हिन्दुस्थान अति प्राचीन देश है। वास्तव में संसार की आद्य—सभ्यता इसी देश में उत्पन्न हुई है। परन्तु पश्चिम के कुछ विद्वान् कहते हैं कि मानवी सभ्यता का उद्गम खाल्डिया, असीरिया, बॅबिलोनिया, ईजिप्त आदि देशों में हुआ!! यह कथन सर्वथा असत्य है। इस लेख में यही दिखलाने का प्रयत्न किया जावेगा कि इस भारत वर्ष से ही आर्य-सभ्यता उक्त देशों ने किस प्रकार प्राप्त की।

प्रथम 'हिन्दुस्थान' नाम से ही आरम्भ करेंगे। प्राचीन काल में इस देश को आर्यावर्त, भरतखण्ड आदि नाम थे। यही कालान्तर में हिन्दुस्थान कहलाने लगा। कई लोग कहते हैं कि बाहर के लोगों ने इस देश को यह नाम दिया। पर यह कहना झूट है। इस हिन्दुस्थान देश के इर्दगिर्द ऐसे कई देश हैं जिनके नामों के अन्त में 'स्थान' शब्द लगा है। देखिए 'तुर्कस्थान, अफगानिस्थान, बलुचिस्थान,' इत्यादि। इन सब नामों के अन्त का 'स्थान' शब्द निश्चयसे संस्कृत है। ये सब नाम फारसी और संस्कृत शब्दों के मेल से बने हैं। संस्कृत भाषा का 'स्थान' शब्द फारसी में 'स्तान' बन जाता है। कुछ लोगों का मत है कि सिन्धु शब्द से हिन्दुस्थान बना है। परन्तु हमारा मत है कि इस देश का पूर्व का नाम 'इन्दुस्थान' था। सूर्यवंश के पश्चात् जिन इन्दुवंशके राजाओं का इस देश में उदय हुआ, उन्हीं के राजत्व कालमें यह नाम इस देश को प्राप्त हुआ। अतः यह दूसरोंका दिया हुआ नाम नहीं है।

अब 'अफगानिस्थान' शब्द लेंगे। इसमें स्थान शब्द का अर्थ देश है सो तो स्पष्ट ही है। स्थान संस्कृत शब्द है और स्तान फारसी। 'अफ+गाण' शब्द का उद्गम देखिए। इसमें 'अफ और गण या गाण' ये दो शब्द हैं। सर्प शब्द से मराठी में 'साप' बनता है, हिन्दी में 'सांप' और गुजराथी में उसी को 'हाप' कहते हैं। इसी अर्थ का फारसी का 'आफ' शब्द है। 'गण' या 'गाण' शब्द फारसी भाषा का नहीं है। तब यह 'गण' शब्द कौनसी भाषाका है? 'गण' शब्द संस्कृत भाषा का ही है। बुद्ध—काल के प्रजा—प्रतिनिधियों को 'गण' संज्ञा थी। इसी प्रकार प्राचीन काल में अपने इस देश में अनेक 'गणराज्य' थे। इन सब शब्दों का विचार करने पर यही स्पष्ट होता है कि अफगानिस्थान (आफ+गण+स्तान) शब्द 'सर्पगणस्थान' का ही रूपान्तर है। अफ शब्द अहि शब्द से भी बनना संभव है। 'अहि' से 'ओहि' ओहि से 'ओफि' और 'ओफि' से 'आफ' ऐसे रूपान्तर हो सकते हैं। और इसी प्रकार 'आफ+गण+स्थान' शब्द 'अहिगणस्थान' से भी बन सकता है। अफगानिस्थान में पहले 'सर्प या अहि' नामक आर्यवंश के लोगों का राज्य था।

अब महाभारत का एक उदाहरण देखिए। 'परीक्षित राजाने एक ऋषी के गले में 'सांप' डाल दिया। ऋषि के पुत्र ने इस अपराध के लिए राजा को शाप दिया कि तेरी मृत्यु ७ वें दिन होगी। आगे चलकर सातवें दिन राजा को सर्प ने दंश किया' इत्यादि कथा भाग सभी को विदित है। प्राचीन काल में इस देश का इतिहास दंतकथाओं के रूप में प्रचलित था। आगे चलकर वह इसी रूप में लिखा गया। ऊपर लिखी कथा में जो इतिहास ग्रथित है वह इस प्रकार है कि 'राजा परीक्षित का खून सर्प या तक्षक नाम के लोगों ने किया।' क्योंकि इन लोगों का निवासस्थान जो खांडववन उसे पांडवोंने जला डाला था। इसका बदला भंजाने के हेतु ये सर्प जाति के लोग कौरवों से मिलकर पांडवों के साथ युद्ध करने को तैयार भी हुए थे। उन्होंने अपनी इच्छा कौरवों के पास प्रकट भी की थी। किन्तु उस समय उनकी इच्छा पूर्ण न हो पाई। इसी गरज से उन्होने राजा परीक्षित का खून कर अपना बदला भंजाया। पर

इस घटना से जनमेजय को बहुत क्रोध आया और उसने सर्प-सत्र किया। सर्प-सत्र का अर्थ है सर्प जाति के लोगों की कत्ल। नागकन्या आदि का जो वर्णन है उससे भी यही विदित होता है कि सर्प नाम की कोई मानव जाति थी।

अब हिन्दुस्थान के उत्तर की ओर चलिए। वहां के वैक्ट्रिया देश की राजधानी 'बाल्क' का संस्कृत नाम 'बाल्हिक' है। 'समर्कंद' शब्द संस्कृत का 'सु-मेरु-खंड' है'। खिवा' शब्द संस्कृत के (खिवा षिवा, सिवा) 'शिवा' शब्द से बना है। उस देश के सब गांवों के नाम किसी समय पूर्णतया संस्कृत ही थे। किन्तु अब उस देश के निवासियों के अशुद्ध-उच्चारण के कारण वेही संस्कृत नाम विकृत हो गए हैं। तब भी उन नामों में स्थित संस्कृत शब्द अब भी स्पष्ट दिखाई देते हैं।

पूर्व की ओर का 'ब्रह्मदेश' देखिए। यह तो शुद्ध संस्कृत शब्द ही है। 'स्याम' शब्द संस्कृत के 'श्याम' शब्द से बना है। ऋग्वेद में 'श्याम' शब्द का अर्थ सूर्य है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि सूर्य के ही रूप होने के कारण श्यामदेश का अर्थ शंकर का देश है। मुल्तान तो अपनी प्रसिद्ध प्रह्लाद नगरी है। वहां के लोग सूर्योपासक थे। वे लोग मग कहलाते थे। 'कंबोडिया' नाम 'कुंभजद्वीप' से बना है। 'द्वीप' शब्द का ग्रीक रूपांतर (द्वीप, दीप, दिव, दिय) 'डिया' होता है। कुंभजद्वीप का रूपान्तर कुंभद्वीप हुआ, कुंभद्वीप का कुंभडिया और कुंभडिया का कंबोडिया बना। 'मलाया' नाम संस्कृत के 'मलय' शब्द से बना है। वहां द्वारावती आदि संस्कृत नामों के शहर हैं। वहां के राजाओं के नाम भी संस्कृत ही थे। वहां शिवजी के प्रचण्ड देवालय हैं। वहां के लोगोंने अपनी हिन्दी सभ्यता आजदिन तक कायम रखी है।

अपनी सभ्यता अमेरिका में भी गई थी। अपन उस देश को पाताल कहते रहे हैं। अपने पुराणों में ऐसे लोगों के कई उदाहरण हैं जो उस पाताल में जाकर नागकन्याओं के साथ विपुल सम्पत्ति लेकर लौटे थे। पंद्रहवीं शताब्दि में डॉन पाविज आदिकों ने लिख रखा है कि उन दिनों मेक्सिको और पेरू देश सभ्य देश थे। मेक्सिको देश से भारत में सोना और चांदी आती थी इसीसे सोना चांदी को संस्कृत में 'माक्षिक' नाम है। आज भी लोगों का यही अनुभव है कि मेक्सिको में सोना, चांदी विपुल मिलती है। वहां के लोगों की प्रलय-काल की कल्पना ठीक अपन लोगों की सी ही है। हाल ही में मेक्सिको में गणेशजी की मूर्तियां मिली हैं। वहां पर मिलनेवाले हाथी के चित्र में जो महावत है उसकी पोषाक पूर्णतया हिन्दुस्थानी है। पेरू नाम संस्कृत के 'पारू' शब्द से बना है। पारू का अर्थ है सूर्य। पेरू देश में सूर्य-उपासना का प्रचार था। पार्विझ का कथन है कि वहां इंका नाम के सूर्यवंशीय राजा पंद्रहवीं शताब्दि में राज्य करते थे। उस समय वहां रामसीता के उत्सव भी बड़े समारोह से होते थे। उन्हे "रामोस्सीतो" कहते थे। इससे स्पष्ट होता है कि रामायण अपने देश से वहां गया था। पेरु देश में सोना मिलता है इसलिए संस्कृत में सोने का नाम पारुज हुआ। इस शब्द की पेरुज शब्द से समानता देखने योग्य है।

अब पश्चिम के देशोंका विचार करें। 'मीडिया' शब्द मध्य शब्द से बना है। मीडिया के राजाके और शहरों के नाम बिलकुल संस्कृत हैं। पर्शिया पारसिकों का देश है। इस देश पर राजा रघूने चढाई की थी। इस चढाई का सबूत रघुवंश में मिलता है। वहां के राजा 'सायरस' का नाम 'कुरु-श' से बना है। आज कल का 'गजनी' नगर उस समय 'गजपुर' के नाम से प्रसिद्ध था। वहां का 'अगमटना' नाम 'अग्रपट्टन' या 'अग्निपट्टन' का रूपान्तर है। पूर्व के 'हयराष्ट्र' का 'हिरात' हुआ है। यह राष्ट्र कार्तवीर्य हयवंशियों का था। 'मयराष्ट्र' का 'मीरत' बना है। अब भी कुछ लोग मीरत को मैरत कहते हैं। 'यूफ्रेटीस' यह नदी का नाम 'सुभ-त्री' नाम से बना है। संस्कृत के 'सु' के लिए ग्रीक भाषा में 'यु' आदेश होता है। इस नियम के अनु-सार 'सुरूप' का 'यूरोप' बना है। 'शिग्रीश' नदी का रूपान्तर अब 'टायग्रीस' में हुआ है। उसे 'दुर्जला' कहते थे और अब भी 'दुज्जल' कहते हैं।

अब 'मेसापोटेमिया' शब्द का विचार करें ।देशवाचक शब्द बनाने के लिए ग्रीक लोग 'इया (ia) प्रत्यय लगाते हैं । मेसा याने महा और पोटेम् याने पट्टम् या नगर। अर्थात् ' मसा-पोट्टम्' याने 'महापट्टम् ' हुआ । यह 'महापट्टम्' याने बडा नगर आर्यों का ही था । 'अंगपूर ' देश का नाम अँकबर्ड हो गया । 'सूर्य और असूर्य' से 'सीरिया और असीरिया' ये देशवाचक नाम बने। बगदाद ही 'भगदत्त' है ।

अफगानिस्थान के दक्षिण में 'पणी' नाम के लोग मिलते हैं । उनका कुछ इतिहास अब अपन देखेंगे । ये लोग गाय बैल पर प्रेम करनेवाले थे । आर्यों की और इनकी दुश्मनी थी । इसलिए वे भागकर दूर चले गए। चोल और पणी लोग व्यापार के लिए तैग्रीस और यूफ्रेटीस के बीच के प्रदेश में गए और वहां 'चोलडिया' (चोल द्वीप) नामक उपनिवेश स्थापित किया । वही ' खाल्डिया ' देशहै । उन लोगों में सूर्य, नंदी, लिंग आदि की पूजा हुआ करती थी । अब भी अफगानिस्थान के दक्षिण भाग में वे ' पनी ' नाम के लोग बडे नाविक हैं । ये लोग अब मुसलमान हैं पर पहले वे हिन्दू ही थे । 'वणिक' शब्द से पणिक बना और उसीका रूपान्तर 'पणी' है । आगे चलकर ग्रीक लोगों में इसी शब्द के (पणि-फोणिक) फोणिशियन्-फोनिशिअन् रूप बने। इन्हीं पणी लोगोंने कार्थेज नगर बसाया सुप्रसिद्ध कार्थेजियन वीर 'हानिबाल' का संस्कृत नाम 'अग्निपाल' था ।

अब ईजिप्त को देखें । इस शब्द को पहले Aegypt लिखते थे । ग्रीक लोग u (उ) अक्षर के बदले y अक्षर लिखते हैं । धतः इसका उच्चार ऐगुप्त होता है । ' ऐ ' हय का रूपान्तर है । हयगोपति 'हयगुप्त (हयगुप्त, हैगुप्त, ऐगुप्त) से 'ईजिप्त बना है । 'नील' नदी का रूपान्तर नाईल हुआ । सिन्धु नदी के जो नाम हैं वे ही नाइल नदी के भी हैं । इस देश के लोग जब उस देश में बसने गए, तब वे अपने साथ भारतीय नदियों तथा सरोवरों के नाम ले गए । जिस प्रकार अंग्रेज लोग अमेरिका जाते समय अपने देश के नाम साथ ले गए, उसी प्रकार इन लोगोंने भी किया । ईजिप्त के लोगों के बहुत से नाम भारतीय ही हैं । ' मेरु ' का ' (सुमेरु टुमेरु) टुमॅरस ' पर्वत बना । ' कीकट ' शब्द से बिहार के आजकल के निवासी ' कैकाडी ' हुए । उन लोगों के जो देव हैं वे भी भारतके ही हैं। नन्दी को वे ' अपिस् ' कहते हैं । अपि शब्द सूर्यवाचक है । नन्दी उस सूर्य का वाहन है इसलिए वे उसकी पूजा करते हैं ।

रोम नगर रोम्युलस ने स्थापित किया । रामको आंध्र देश में रामलु, रोमलु कहते हैं, राम शब्द का ही रूपान्तर रोमा होता है। इसके पास का'रावेना' शब्द ' रावण ' का रूपान्तर है । इन्हींसे रोम्युलस और रावेन्ना बने । वेनिस के पास स्थित'कॅलेब्रिया' ग्राम ' कालप्रिया ' का अपभ्रंश है ।

पहले ही बतला चुके हैं कि ' इया ' प्रत्यय देशवाचक नाम बनाते समय ग्रीक लोग लगाते हैं । " कोलंबिया (काल+अंबा+इया) " शब्द कालंब (काल+अम्बा) से बना । 'अश्वीय' (जिसमें घोडे बहुत हैं) से ' एशिया ' बना । या ' अस ' अर्थात् सूर्य ऊगता है अतएव एशिया नाम पडा होगा ।

इंग्लैण्ड

इंग्लैण्ड देश में ड्रूइड (Druid) लोग थे । ह... लोगों के इतिहास में उल्लेख है कि ये लोग पूर्व की ओर से आये । कश्मीर के उत्तर भाग में स्थि... 'द्रुई ' देश के निवासी हैं । इन द्रुई लोगों से ही अंग्रेज ड्रूइड बने । कालतीय लोगों के ये धर्मगुरु थे । उनके मुख्य गुरु का नाम 'सर्वनिधि' था और अन्य गुरुओं के नाम ' सुभग, सुवाद, सुकल ' आदि थे । इन द्रुइड लोगों में सती की प्रथा थी । वे गुफाओं में बैठकर ईश्वरलिंग की उपासना किया करते थे । उनकी गुफा के सामने जो कुण्ड रहता था उसे वे ' अमृतखंड (अमृत कुण्ड) ' कहा करते थे । इनमें से कुछ लोग बलुचिस्थान में थे । इन लोगों की भाषा के बहुत से शब्द द्राविडी भाषा के हैं । इंग्लैण्ड के ड्रूइड लोगों की वीर घोषणा (War cy) 'हिप

हिप हुर्रे' है। अब देखें कि यह 'हिप हिप हुर्रे' शब्द किस प्रकार बना। 'हिप' शब्द का अर्थ है पौद। परन्तु इसका वीर घोषणा से कुछ भी संबंध नहीं दिखता। ग्रीक या लॅटिन शब्दकोश में भी 'हिप्' का कोई दूसरा अर्थ नहीं है। अतः इस शब्द की व्युत्पत्ति लॅटिन या ग्रीक भाषाओंमें नहीं मिल सकती। इस लिए उसे अन्य भाषा में ही ढूंडना आवश्यक है। पीछे कह चुके हैं कि संस्कृत के 'स' के स्थान में 'ह' हो जाता है। इस प्रकार हिप् का सिप् बना। प, व, ब वर्ण एक दूसरे के स्थान में आते हैं। इस नियम के अनुसार 'सिप्' का मूल "सिप्, सिव्-सिव् शिव" में है। अतएव यह सिद्ध होता है कि 'शिव शिव हरे' ही बिगडकर 'हिप् हिप् हुरे' हुआ। इस प्रकार यह वीरघोषणा उत्पन्न हुई। 'हर' का 'हिरास' बना और उसीका 'हिरो।' बना। हिरो शब्द शूर पुरुषों का वाचक है। प्राचीन कालमें शक नाम के लोग थे। 'शक-सूनु' से ही 'सॅक्सन' (शक सन) शब्द बना है। सॅक्स और डुइड याने शक और द्रविड लोगों से ही वर्तमान अंग्रेजों में से कुछ जाति के लोग बने हैं। आयरिश भाषा में भी ऐसे कई शब्द हैं। मोझेज के कानून मनूके ही हैं क्यों कि इन दोनों में विलक्षण समानता है।

इस प्रकार कई बातों में समानता दिखलाई जा सकती है। धार्मिक बातों में हिन्दुस्थान की ही सभ्यता संसार में किस प्रकार प्रसृत हुई सो 'Bidle in India, नामक पुस्तक पढने से सहज ही विदित होगा। इस विवेचन से सहज ही स्पष्ट होगा कि अपनी सभ्यता ही संसार भर में फैली थी। अपनी ही सभ्यता के कारण संसार सभ्य बना है।
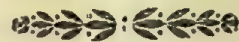
फेन का अस्त्र।

फेन का अस्त्र वेदकाल से पौराणिक काल तक अति प्रसिद्ध है। इस फेनास्त्र की कथा इस प्रकार है। 'इन्द्र नाम का देवों का राजा था। उस पर नमुचि नाम के राक्षस ने हम्ला किया। इस हम्ले में प्रथम इन्द्र हार गया। आगे चलकर उसे मालूम हुआ कि फेनास्त्र से नमुचि को मार डालना संभव है। तो पानी पर का फेन हाथ में लेकर इन्द्र ने उसे नमुचि पर डाल दिया, तब वह नमुचि उस फेनास्त्र से मर गया और इन्द्र विजयी हो अपनी राजधानी में जाकर आनंद से रहने लगा।'

इस कथा को पढकर यही लगेगा कि फेनास्त्र यह एक पौराणिक लेखकों की कल्पना है। बहुतेरे लोग इस कथा को 'पौराणिकों की गप्प' समझते हैं और वे पौराणिकों की कल्पना के स्वैर संचार की हंसी उडाते हैं। वास्तव में देखें तो कहना पडता है कि फेन या फेण मारक अस्त्र नहीं हो सकता। क्यों कि फेन स्वयं इतना निरुपद्रवी रहता है कि उससे किसी का वध हो नहीं सकता। केवल हवा से वह नष्ट हो जाता है, हाथ में लेने से वह नष्ट होता है। ऐसे फेण से नमुची जैसे बलवान राक्षस का समूल नाश हुआ यह कहना केवल कल्पना शक्ति का निराधार उड्डान है।

केवल कल्पना की उड्डान की शर्त लग जाय तो हमारे पुराण लेखक किसी भी अन्य देश के काल्पनिक कथा लेखकों के पीछे न रहेंगे। यह भी समाधान की ही बात है। क्यों कि आज सच्ची कृति में अपने देश को आगे जाते नहीं बनता, तो कल्पना के खेल में ही क्यों न हो अपन संसार की शर्त जीतते हैं। यह भी बडे अभिमान की बात है। हमारे पौराणिकों ने ऐसी गप्पें मारी हैं जैसी कोई नहीं मार सकता! उनकी कल्पना से गागर में बालक उत्पन्न हुए, बालों से सर्प हुए, नाभी से कमल हुए इत्यादि। उन्होंने अगस्ति ऋषि को सब समुद्र पिला दिया और पुनः उसे मूत्र रूप से खारा करा दिया। संसार में सरस कल्पनाओं का ऐसा भंडार अन्य कहीं भी नहीं दिखेगा। इस कल्पना

की चतुराई की ऐसी बलिहारी है कि गिरी दशामें भी इस कल्पना साम्राज्य पर हम जीवित रह सकते हैं।

इस दृष्टिसे कल्पनाकी चतुराई की भले ही प्रशंसा की जावे;परन्तु विचक्षण वाचक सोचने लगेगा कि इन कथाओं में कुछ सत्यांश है या नहीं है ? जड में सत्य तत्त्व हुए बिना कल्पना का भी विस्तार किस प्रकार होगा ? इसमें सत्य तत्त्व की खोज करने भी लगें तो फेन में मारक शस्त्र या अस्त्र बनने का संभव कहां है ? फेनका यदि अस्त्र बन जावे तो पानीका बबूला तोपका गोला बन जावेगा। परंतु पानीके बबूले की मारसे शत्रुकी सेना को तितर बितर करनेकी कल्पना अब तक किसीने नहीं की। यदि कोई ऐसी कल्पना करे तो उसका उपहास किए बिना आजकलके लोग न रहेंगे! क्यों कि आजकल के लोगोंने बडी बडी प्रचण्ड तोपें देखीं हैं और उनकी विध्वंसक शक्तिका अनुभव भी किया है।

इतना रहते भी प्रचण्ड शस्त्रोंसे सज्जित नमुचि राक्षस-सम्राट् का पराभव देवों ने फेन जैसे अहिंसाशील अस्त्र से किया। यह बात भी निःशस्त्र और पराजित हुए भारतवर्ष को बडी आशादायक प्रतीत होगी। स्वतंत्र होनेकी इच्छा करनेवाले और राक्षसों की परतन्त्रता की धुरा का त्याग करनेका प्रयत्न करनेवाले देव नमुची राक्षस को उसी के शस्त्रोंसे न हरा सकते। ऐसे समय जिसे शस्त्र के नाते कोई महत्त्व नहीं और जिसमें हिंसक और मारक गुण जरा भी नहीं है, ऐसे फेन की सहायता से यदि देवोंने राक्षसों का साम्राज्य उलट दिया और अपनी स्वतंत्रता बनाए रखी, तो उसी अहिंसा के मार्ग से अन्य लोग भी अपना उद्धार कर सकते हैं। इस कथा से ऐसी आशा की जा सकती है। प्रचण्ड शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रहनेवाले शक्तिवान् अन्यायी एवं अत्याचारी सम्राट् का साम्राज्य न्यायसे, धर्मसे, अहिंसावृत्तिसे, और मारक शस्त्रों के बिना भी केवल निश्चय के बलपर उलटा दिया जा सकता है। इस गिरी हुई दशा में लोगोंके मनमें यदि इतना भी विश्वास उत्पन्न हो जाय तो बडे महत्त्व का कार्य होगा। चढते समयमें अस्त्रशस्त्र को बढाकर अपनी रक्षा हर कोई कर सकता है। परन्तु गिरते समय में सारी दारमदार आत्मिक बलपर ही रहती है। यह आत्मिक बल जिन कल्पनाओं से बढेगा वे सब कल्पनाएं ऐसे समय में बहुत ही पोषक होती हैं। इस दृष्टि से ऐसी कथाओं का भारी महत्त्व है। इससे मालूम हो जावेगा कि बिलकुल गप्प के समान दिखनेवाली यह फेनास्त्र की कथा राष्ट्र के उत्थान की दृष्टिसे विशेष महत्त्व की है। पौराणिक कथाओं की निंदा करनेवाले इस बात की ओर अवश्य ध्यान दें। अब अपन नमुचि की कथा को देखें। जिस वेद मंत्र में यह कथा सर्व प्रथम आई व मंत्र इस प्रकार है।—

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः।
विश्वा यदजयः स्पृधः ॥ ऋ० ८।१४।१३ वा०
यजु० १९।७१; सामवेद पू० ३।२।८;
अथर्ववेद २०।२९।२

यह मंत्र चारों वेदों में आया है। इसका अर्थ इस प्रकार है– 'हे इन्द्र! तुम पानी के फेन से नमुचि का सिर उडा देते हो और सब शत्रुओं को जीत लेते हो।' इस मंत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इन्द्रने पानी के फेन से नमुचि का सिर काट डाला और सब शत्रुओं को हराया। यह हुआ कैसे? इस लेख में यही देखना है कि यःकश्चित् फेन ने या पानी के बबूले जैसी क्षुद्र वस्तु से राक्षसों का नाश हुआ कैसे।

ऊपर के मन्त्र में निम्न लिखित बातें दिखाई देती हैं–

(१) इन्द्रने नमुचि का वध किया।
(२) शस्त्र के बदले पानी के फेन का उपयोग किया।
(३) जिसका वध किया वह नमुचि असुर या राक्षस था।

यदि इस कथाका योग्य अर्थ जानना हो तो तीन बातों पर विचार करना आवश्यक है; 'नमुचि' कौन था, ? 'पानी का फेन' क्या है ? और इन्द्र कौन है ? प्रथम अपन (अपां फेनः) पानी के फेन का विचार करेंगे। सभी लोग जानते हैं कि पानी का फेन याने पानी पर आनेवाला फसूकर है।

परन्तु यहां वह फेन अभीष्ट नहीं जान पडता। इसका कारण यही है कि इस फेन में मारकता तनिक भी नहीं है। पानी का ऐसा फेन चाहिए जिसमें थोडी मारकता जरूर चाहिए। कितना भी प्रयत्न करें और कितना भी पानी का फेन इकट्ठा करें, उससे किसी भी राक्षस का मारा जाना संभव नहीं या किसी भी कीटक का वध होना संभव नहीं। अतएव 'पानी का फेन' जो इस मंत्र में अभीष्ट है वह इस फसूकरसे बिलकुल भिन्न है। तब यह पानी का फेन कौनसा होगा?

वैद्यक कोश में 'फेन, फेण, फेनक, फेणक' शब्द हैं और उसका अर्थ है 'समुद्र फेण'। समुद्र फेण याने समुद्र के पानी का फेन। समुद्र फेन में भी फेन शब्द है जो कि वेद के मंत्र में आया हुआ है। निरे पानी के फेन की अपेक्षा समुद्र फेन में कुछ कुछ मारकता है। समुद्रफेन के घिसने से चमडा निकल जाता है। उसे घिसकर व्रण आदि पर लगावें तो दोष निवारण होगा। इसका क्रिमीदोषों पर अधिक उपयोग होता है। जब हम ये औषधि के प्रकार जान लेते हैं तब विदित होता है कि समुद्र फेन से अन्य राष्ट्रीय शत्रुओं का नाश नभी हुआ, तब भी उससे शरीर के रोगादि कृमी का नाश अवश्य हो सकता है। इसीलिए उक्त मंत्र के 'फेन' शब्द का अर्थ 'समुद्र फेन' लेना ही उचित होगा। इस समुद्र फेन के गुण वैद्यक ग्रंथ में इस प्रकार दिए गए हैं—

> शीतलं कषायं नेत्ररोगघ्नं कफकंठरोगहरं
> रुच्यं कर्णरोगघ्नं च ॥
>
> रा० नि० व० ६
>
> अब्धिफेणो रुचिकरो लेखनस्तुवरो लघुः।
> चक्षुष्यः शीतलश्चैव पटलादिरुजाहरः ॥
> सरश्च विषदोषघ्नः कर्णशूलहरः परः।
> कफं च कण्ठरोगं च पित्तं चैव विनाशयेत् ॥
>
> वै० निघं० ॥

'यह समुद्रफेन शीत, कषाय, नेत्ररोगनाशक, कफनाशक, कंठरोग नष्ट करनेवाला, रुचि को बढानेवाला, कर्णरोग दूर करनेवाला, नेत्रोंपर झिल्लीसी आ जाती है उसे दूर करनेवाला, सारक, विषदोष दूर करनेवाला, और पित्तशामक है।'

वैद्यक ग्रंथोक्त गुणों से समुद्रफेन बहुत उपयोगी औषधि जान पडती है। ऊपर के मंत्र में यदि 'फेन' शब्द का अर्थ समुद्रफेन लें तो उस मन्त्र के अर्थ में बहुत युक्तियुक्तता दिखाई देगी।

अब 'इंद्र' शब्द का विचार करें। वेदमें इन्द्र शब्द एक देवता के लिए आया है। यह बात सभी पर प्रकट है। वेद में और पुराणों में भी इन्द्र शब्द 'देवों के राजा' के अर्थ में आया करता है। सब देवों का राजा जो परमेश्वर उसका यह नाम है। परन्तु उपरोक्त मन्त्र में यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। इसका कारण यह है कि जो सब देवों का अधिपति परमेश्वर है वह यदि नमुचि या अन्य किसी शत्रुका पराभव करना चाहे, तो उसकी प्रचण्ड शक्ति के सामने नमुचि या उस अन्य शत्रु का क्या चलेगा? अतएव नमुचि को जिस इन्द्र ने हराया और अपनी राजधानी के बाहर भाग जाने को विवश किया, वह इन्द्र देवाधिदेव परमेश्वर कदापि नहीं है। इसके सिवा परमेश्वर सर्वव्यापक होनेके कारण उसे नमुचि या अन्य कोई अपने स्थान से किसप्रकार हटा सकेगा? अतएव वेदों में, पुराणों में जिस इन्द्र के पराभव के वर्णन हैं वह परमेश्वर परमात्मा या देवाधिदेव कदापि नहीं है। इन्द्र शब्द का वहां कोई दूसरा ही अर्थ होना चाहिए।

'इन्द्र' शब्द का दूसरा अर्थ है 'जीवात्मा'। प्रायः सभी कोशों में इन्द्र शब्द का यह अर्थ है। शरीर के इन्द्रियस्थानों में विविध देवताओं के अंश हैं। उन सब देवताओं का अधिदेव यह जीवात्मा है। इससे इस स्थान में वह देवों का राजा ही है। इस इन्द्र की शक्ति इंद्रियों में कार्य करती है इसी लिए उन्हे "इंद्रिय" (इंद्र य=इंद्र की शक्ति) कहते हैं। इस शब्द से भी सिद्ध होता है कि हमारे शरीर में इन्द्र है। संभव है कि यह अर्थ यहां अंशतः लागू होगा। इस शरीर में जो विविध रोगों के हम्ले होते हैं, उनका प्रतिकार यह जीवात्मारूप इन्द्र अपनी शक्तिसे तथा समुद्रफेन जैसे अनेक औषधियों

की सहायता से करता है। अतः इन्द्र शब्द से यह अर्थ लिया जा सकता है। परन्तु प्रस्तुत कथा में इन्द्र शब्द का यह अर्थ लेने में एक आपत्ति आसकती है कि नमुचि राक्षस के हमले के कारण जब इन्द्र हार गया तब वह अपनी राजधानी से भाग गया। वह नमुचि को हराने के पश्चात् पुनः लौटकर आया। इन्द्र शब्द का अर्थ जीवात्मा लें तो उक्त कथा सत्य नहीं हो सकती। क्यों कि रोगों के आक्रमण से यदि जीवात्मा का पराभव हुआ और उसने इस शरीर की अपनी राजधानी छोड दी, तो मृत्यु ही होगी, तत्पश्चात् नमुचि की हार भी होना संभव नहीं और जीवात्मारूप इन्द्र का पुनः विजय भी होना संभव नहीं। इसलिए इन्द्र शब्द का जीवात्मा अर्थ भी यहां अभीष्ट नहीं है। तब इन्द्र का अर्थ क्या होना चाहिए?

वैद्यक कोश में इन्द्र शब्द के निम्न लिखित अर्थ दिए हुए हैं:— (१) कुटज वृक्ष (कुडा का वृक्ष), (२) इन्द्रयव, (३) ह्रस्व महाकाली-लता (छोटी महाकाली लता), (४) भल्लातक (भिलमा), (५) अर्क (अकौआ) इन्द्र शब्द के ये अर्थ औषधि वर्ग के हैं। इनके सिवा (६) स्थावर विष (खनिज पदार्थों का विष), (७) चन्द्र (लोह, कपूर, चांदी, सोना, हीरा), ये अर्थ स्थावर पदार्थों में से हैं और उनका उपयोग औषधियां और रसायने में होता है।

इसी प्रकार "भल्लातक गुड" नाम का औषधिप्रयोग भी वैद्यक में 'इन्द्र' के नाम से प्रसिद्ध है। वाचक इस प्रयोग को भैषज्यरत्नावलि में देख सकते हैं। कुडा, इन्द्रयव, भिलमा आदि औषधियों से जो दिव्य औषधियां, अवलेह, पाक आदि बनते हैं उन्हें भी इन्द्रशब्दयुक्त नाम हैं। इससे स्पष्ट होगा कि इन्द्र शब्द का देवता वाचक एक ही अर्थ नहीं है किन्तु अन्य कई अर्थ हैं और उनका संबंध समुद्र फेन के समान वैद्यशास्त्रोक्त औषधिप्रयोग से है। अतएव यदि अपन 'फेन' शब्द का अर्थ 'समुद्र फेन' लें तो 'इन्द्र' शब्द का भी ऐसा ही अर्थ लेना चाहिए जो समुद्रफेन से संबंध रखता है और वैद्यशास्त्रोक्त है।

इस अर्थ का निश्चय करने के पूर्व संस्कृत शब्दों के एक महत्व के भाग की ओर ध्यान देना आवश्यक है। वह भाग इस प्रकार है: एक ही पदार्थ के वाचक जो शब्द होते हैं उनके पर्याय भी प्रायः उसी पदार्थ के वाचक समझे जाते हैं। जैसे, सोमवल्ली का वाचक सोमशब्द प्रसिद्ध है। सोम शब्द का अर्थ 'चन्द्र' है; इसलिए चन्द्रवाचक इन्दु, सुधांशु आदि कई शब्द सोम के भी वाचक हैं। इसी प्रकार इन्द्र के भी कई पर्यायशब्द हैं। इसी लिए इन्द्र और सूर्यवाचक बहुत से शब्द समान ही हैं। "दिवस्पति, अहर्पति, हरिः" ये शब्द जैसे सूर्यवाचक हैं उसी प्रकार वे इन्द्रवाचक भी हैं। इससे मालूम होता है कि इन्द्र और सूर्य एक ही होना चाहिए। यही बात एक मन्त्रसे बतलाई गई है—

> स वरुणः सायमग्निर्भवति। स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्। स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति। स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्।
>
> अथर्व. १३।३।१३

"वह सूर्य रात्रि के समय अग्नि रूप से रहता है; ऊगनेवाले सूर्य को मित्र कहते हैं, ऊपर चढने लगता है तब उसे सविता कहते हैं और जब वह मध्याह्नमें आता है तब उसे 'इन्द्र' कहते हैं"।

इस मन्त्र से सिद्ध होता है कि सूर्य का ही नाम इन्द्र है। मध्याह्न का सूर्य इन्द्र है। इस प्रकार सूर्य और इन्द्र वैदिक भाषा में पर्याय शब्द हो जाने के कारण सूर्यवाचक "अहस्पति, दिवस्पति, अर्क" आदि शब्द, उक्त नियम से आपही आप, इन्द्रवाचक हुए। ऊपर दिए हुए वैदिक ग्रंथोक्त शब्दों में 'अर्क' शब्द इन्द्र के अर्थ में आया है। परन्तु वहां पर वह शब्द सूर्यवाचक नहीं है किन्तु 'अकौआ' नामक वनस्पतिवाचक है। इस प्रकार अर्थों के बदलनेका कारण ऊपर दिया गया है। उससे विदित होगा कि 'इन्द्र' शब्द के वनस्पतिवाचक भी कई अर्थ हैं। उनमें से 'कुडा, इन्द्रजव, भिलमा, अकौआ, ये अर्थ ऊपर दिये गए हैं। और भी कई अर्थ होना संभव है। संशोधक इस संबंध में खोज करें।

अपनने 'फेन' शब्द का अर्थ 'समुद्र फेन' किया। 'इन्द्र' शब्दसे यदि ' अकौआ ' या उक्त औषधियोंमें से कोई औषधि मान लिया है। यद्यपि यह सिद्ध होना है कि अमुक ही औषधि है तब भी यह निः संदेह है कि कोई न कोई औषधि अवश्य है। ['इन्द्र शक्तिका विकास' नामक हिन्दी पुस्तकमें हमने अनेक प्रमाण देकर दिखलाया है कि इन्द्र शब्दसे शरीरकी जीवन विद्युत् दिखलाई जाती है। विशेष स्पष्टता के लिए वाचक इस पुस्तकको अवश्य पढें] प्रतिपादनके सौकर्यके लिए अभी इन्द्र शब्दका अर्थ (अर्क) अकौआ मानेंगे। और इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार समझें कि 'अकौआ समुद्रफेनसे संयुक्त होकर नमुचिका मस्तक कुचलता है।' यदि यह अर्थ लें तो शंका होती है कि यह ' नमुचि ' कौन है। पुराणोंके वर्णनसे अपन समझते हैं कि नमुचि आदि राक्षस भयानक मुहके हैं। परन्तु उस प्रकार के राक्षस यहां अभिप्रेत नहीं हैं। क्यों कि फेन और इन्द्र शब्दोंके अर्थ क्रमसे 'समुद्र फेन और अकौआ' किए गए हैं। ये अर्थ वैद्यक ग्रंथोंके आधारसे अपन जान सके अतएव देखना चाहिए कि वैद्यक दृष्टिसे नमुचिका भी क्या अर्थ हो सकता है।-

' नमुची ' शब्दका मूल धात्वर्थ (न+मुची) 'मुक्त न करनेवाला, न छोडनेवाला, एक बार आने पर दूर न होनेवाला' है। असाध्य या कष्टसाध्य रोगोंमेंसे किसी का वह नाम होगा अथवा वह सब दुःसाध्य रोगोंका वाचक शब्द होगा। वैद्यक शास्त्र में ऐसे कई रोग हैं जो दुःसाध्य, कष्टसाध्य और असाध्य हैं। इनमेंसे कोई रोग नमुचि नामका है या सब रोगोंका मिलकर यह सामान्य नाम है इस विषयका स्वतंत्र रीतिसे विचार होना चाहिए। इस लेखमें उसका विचार नहीं हो सकता। यहां केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार 'अ-साध्य' शब्द है उसी प्रकार 'न-मुची' शब्द है और शब्दोंकी रचनासे यही प्रतीत होता है कि ये दोनों शब्द समान-अर्थी होंगे।

जो रोग साधारण औषधोपचारसे हटता नहीं और क्रमसे बढता ही जाता है उसे आधुनिक संस्कृतमें असाध्य, दुःसाध्य, कष्टसाध्य कहते हैं। मालूम होता है कि उन्ही रोगोंको वैदिक भाषामें ' नमुचि ' नाम होगा।

नमुची राक्षस था। इन राक्षसोंकी अब की कल्पना बिलकुल ही भिन्न है। वैदिक वाङ्मयमें यह कल्पना ठीक इस प्रकारकी नहीं है। वैदिक वाङ्मय के राक्षस अत्यंत सूक्ष्म भी रहते थे। उनकी सूक्ष्मता के परिचयके लिए एक ही उदाहरण देते हैं-

तदवधुनोति। अवधूतं रक्षः।
अवधूता अरातयः। इति।
तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्ति।

श. ब्रा. १।१।४

'वह चर्म झाडता है, तब राक्षस गिरते हैं, शत्रु गिरते हैं, वे विनाशक राक्षस इस चर्मसे गिरकर मरते हैं।' इसमें जो वर्णन दिया हुआ है उससे स्पष्ट है कि ये राक्षस बिलकुल सूक्ष्म होने चाहिए। आसन के झाडते ही उसमें से अनेक राक्षस गिर पडें और झाडनेके धक्केसे मर जावें इतने सूक्ष्म वे राक्षस हैं। परन्तु इतने सूक्ष्म रहते भी वे नाशक और मारक हैं। इसलिए उन्हे दूर करना आवश्यक है। इसी प्रकार ये सूक्ष्म जन्तु भी राक्षस मालूम होते हैं। और भी एक वचन देखिये-

मनोर्ह वा ऋषभ आस। तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक्प्रविष्टास। ... सैषाऽसुरघ्नी वागुद्वदति।

श. ब्रा. १।१।४।१५

" मनुके पास एक बैल था, उसमें असुरों का नाश करनेवाली और शत्रुओंका विध्वंस करनेवाली वाणी प्रविष्ट हुई थी। वह असुरनाशक और शत्रुविध्वंसक वाणी यह (वेदमंत्रोंमें जो है वह) है।"

मनु मानव जाति का मूलपुरुष है। उसके पास (वृष) धर्म था और मंत्ररूपी वाणी उसमें थी जिसके कारण असुर और राक्षसोंका नाश होता है। यह स्पष्ट होता है कि जिन जन्तुओंका नाश शब्दोच्चारसे होना संभव है वे असुर और राक्षस अतिसूक्ष्म हैं। औषधिकी बाससे भी इन राक्षसों का नाश होता है। इस संबंधमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य हैं-

अजशृङ्ग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय ।
अथर्व. ४।३७।२

" अजशृङ्गी नामक वनस्पति की बाससे सब राक्षसोंका नाश होता है।" इसी प्रकार-

यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे ।
शंखेन हत्वा रक्षांसि अत्रिणो विषहामहे ॥
अथर्व. ४।१०।८

"जो समुद्रसे उत्पन्न होता है उस शंखसे(अत्रिणः रक्षांसि) भक्षक राक्षसोंका पराभव करता है।" इसमें बतलाया है कि राक्षस (अत्रि=अत्ति इति) भक्षक हैं। राक्षस शरीर में घुसते हैं और वहां की रक्त, मांस, मज्जा आदि पदार्थ खा जाते हैं। इस प्रकारके सूक्ष्म राक्षस भी कच्चा मांस और कच्चा खून खाते हैं। इन राक्षसोंका पराभव शंखसे होता है। यहां पर ध्यान रहे कि शंख, शंखवटी, शंखपर्पटी, शंखभस्म आदि रूपोंमें दिया जाता है और उससे रक्तशोषक तथा मांसनाशक रोगबीज दूर किये जाते हैं। इन वैद्यकीय क्रियाओं से समझ में आजावेगा कि शंख राक्षसों का नाशक किस प्रकार है। नन्हे बालकोंको बूढी नानी बटुए की औषधियां पीसकर पिलाया करती है। इनमें शंख भी रहता है। आजके शिक्षित लोग संभवतः इस बात से परिचित न होंगे, किन्तु आजभी जहां कहीं बूढी नानियां मौजूद हैं वहां के लोग जानते हैं कि बटुए की औषधियोंमें शंख भी पीसा जाता है। बालक के शरीरमें असुर, राक्षस, पिशाच आदि प्रवेश करते हैं और उसे रोगी बनाते हैं। उनके नाशके लिए बालघुटी में शंख पीसकर दिया जाता है। इससे पाठकोंपर प्रकट होगा कि ये सूक्ष्म असुर अन्य कोई नहीं रोगके क्रिमी ही हैं।

अजशृङ्गी, शंख इनसे जैसे रोगोत्पादक राक्षसों का नाश होता है, उसी प्रकार समुद्रफेन से भी होता है। फेनास्त्र की कथामें यही बात बतलाई गई है। वेदमें कहा गया है कि वच भी इसी प्रकार क्रिमिघ्न और राक्षसघातक है। देखिए—

इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी ।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन्दृषदा खल्वां इव ॥ १ ॥
दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम् ।
अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान्क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि २
अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् ।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन्वचसा जंभयामसि ॥ ४ ॥
ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधिषु पशुष्वप्स्वन्तः ।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥ अथर्व २ । ३१ । १-५

" यह वच (वचा) औषधि याने इन्द्रकी बडी शिलाही है। वह सब रोगजन्तुओंका नाश करती है। उसके द्वारा मैं सब रोगजन्तुओंका नाश करता हूं। इन क्रिमियोंमें से कुछ आंखोंसे दिखते हैं और कुछ नहीं दिखते उन सबका नाश मैं वचाके द्वारा करता हूं। अंतडियोंमें, सिरमें, पीठमें, इस प्रकार भिन्न भिन्न स्थानोंमें ये क्रिमी जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। उनका नाश वचासे किया जाता है। ये क्रिमी पर्वत, वन, औषधि, पशु, जल इनमें रहते हैं। वे हमारे शरीरोंमें भी जाते हैं। उन क्रिमियोंका मैं समूल नाश करता हूं।" वाचक रोगजंतुओंका यह वर्णन पढें और पहले दिया हुआ असुर तथा राक्षसोंका वर्णन पढें। तब उन्हें निश्चय होगा कि जो राक्षस औषधि की बाससे नष्ट होते हैं वे ये रोगक्रिमी ही हैं।

ये राक्षस रात्रिके समय प्रबल होते हैं इसलिए इन्हे ' निशाचर, रात्रिंचर ' कहते हैं। रोगक्रिमी भी रात्रिकोही बढते हैं। रोगक्रिमी शरीरमें घुसकर वहां की सप्तधातुओंको क्षीण करते हैं इसीलिए उन्हे रक्त पीनेवाले, मांसखानेवाले कहते हैं। राक्षस और रोगक्रिमियोंके गुणधर्म बिलकुल समान हैं। ये राक्षस और पिशाच वनस्पतियों द्वारा नष्ट होते हैं। इस संबंधमें आगेका मन्त्र देखिए-

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् ।
रक्षः पिशाचानपबाधमानः ।
अथर्व १२ । ३ । १५

"राक्षस और पिशाच को वनस्पति प्रतिबंध करती है।" इस प्रकारके अनेक मंत्र हैं। इनका विचार करनेसे विदित होता है कि वेदमें राक्षस, पिशाच, असुर आदि जो शब्द हैं वे कई स्थानोंमें इन रोगक्रिमियोंके ही वाचक हैं। सभी स्थानोंमें यह अर्थ नहीं है। परन्तु जिन मंत्रोंमें रोगदूरीकरण,

औषधिगुणवर्णन आदि वैद्यकशास्त्रकी बातों का वर्णन हैं उन मंत्रोंमें इन शब्दोंका यही अर्थ है।

उपरोक्त नमुचि के मंत्रमें जो नमुचि शब्द है और जिसका नाश समुद्र-फेनसे हुआ है वह नमुचि राक्षस भी इसी प्रकार रोगबीजरूप होना चाहिए। अब तकके विवेचन से भी वाचक यही अनुमान करेंगे। इसके प्रमाणके लिए निम्नलिखित मन्त्र देखिए—

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम्॥

वा. यजु. १०।३३; २०।७६; अथर्व २०।१२५।४

"नमुची राक्षस के साथ चले हुए इन्द्रके स्पर्धा-कर्ममें इन्द्रको अश्विनीकुमारोंने सहायता की।" यही इस मंत्रमें वर्णन है। अश्विनीकुमार देवोंके वैद्य हैं। नमुचि और इन्द्रके झगडे में वैद्योंकी सहायता आवश्यक होती है। इसलिए कहना पडता है कि यह झगडा वास्तव में अस्त्रशस्त्र का युद्ध नहीं है किन्तु वह रोगकी चिकित्सा है। यदि रोग की चिकित्सा करना हो तो वैद्योंकी सहायता आवश्यक होती है।

यह मंत्र अधिक स्पष्ट रीतिसे दिखलाता है कि इन्द्र कौन है। पहले हमने इन्द्र शब्दसे जितनी औषधियां ली जासकती हैं उतनो अनेक औषधियां दिखलाई हैं और मंत्रका अर्थ किया है। परंतु यह मंत्र बतलाता है कि वह अर्थ विशेष ग्राह्य नहीं है। अतएव वाचक ध्यान रखें कि अर्थनिर्णय की दृष्टिसे यह मंत्र बहुत ही महत्व का है। अब देखिए कि इस मंत्रने विशेष क्या दिखलाया—

"(१) नमुचि असुर इन्द्रके (सच्चा) मित्रके नाते इन्द्रके पास आया, (२) मित्र के समान रहकर उसने (सुरामं,) उत्तम, रमणीय इन्द्रका बल पी डाला, (३) तब इन्द्र अपना गया हुआ बल पुनः प्राप्त करनेका (कर्म) प्रयत्न करने लगा, (४) इस प्रयत्न में अश्विनी कुमारों ने इन्द्रको सहायता की।"

यह है इस मंत्र का आशय। अश्विनी कुमारों की सहायतासे और समुद्रफेन की मददसे इन्द्रने नमुचिका पराभव किया और स्वयं विजयी हो कर अपने राज्यमें रहने लगा।

इस वर्णन से मालूम होता है कि इन्द्र शरीर में ही स्थित कोई होना चाहिए। इन्द्र शब्द वनस्पति का या अन्य किसीका वाचक होगा, परन्तु इस मंत्रमें और नमुचिके युद्धमें जो इन्द्र है वह शरीरका अधिष्ठाता शक्तिविशेष का केन्द्र ही है। इसमें कोई शंका नहीं है। अपने शरीर में जीवात्मा, मन, जीवनविद्युत् ये इन्द्रवाचक अर्थ यहां लेने योग्य हैं; इनमेंसे ऐसे मंत्रोंमें 'जीवनविद्युत्' (Life Electricity) अर्थ लेना चाहिए यही हमारा मत है। सब लोग इन्द्र को 'विद्युत् का देव' मानते हैं। परन्तु वेद-विचारकों की अबतक विशेष प्रवृत्ति नहीं है कि इसे मुख्यतः जीवनविद्युत्का केन्द्र मानें।

"जो जीवनविद्युत् शरीर में सर्वत्र है, जिसके कारण मन और उसके अधीन रहनेवाला सम्पूर्ण शरीर अपने अपने काम करने में समर्थ होते हैं, उसका नाम इन्द्र है। यह इन्द्र इस शरीररूप राष्ट्रमें रहता है। इसके राज्यमें नमुचि नामका रोगबीजरूप शत्रु प्रथम प्रवेश करता है और वह प्रथम मित्रतासे रहता है। इन्द्रसे थोडी थोडी मित्रता करके उसे मिलनेवाला रस धीरे धीरे अपन ही खाने लगता है; आगे चलकर सब पोषक रस अपन खुद ही खालेता है और इन्द्रको कुछ भी न मिलनेके कारण उसका बल कम होता जाता है और अन्तमें इन्द्रकी हार होती है। अनन्तर इन्द्र पराजित और निःसत्व होता है, इस समय उसे अश्विनोकुमारोंका-वैद्योंका-साहाय्य मिलता है। वैद्य उसे समुद्र फेनका प्रयोग देते हैं। इस प्रकार इन्द्र नमुचिको हराता है और इन्द्र पुनः विजयी होता है।"

वैद्यशास्त्रके इस सिद्धान्त पर यह कथा रची हुई है। आजकल जिस प्रकार यूरपकी भाषाओंमें (Scientific Novels) वैज्ञानिक उपन्यास निकलते हैं, उसी प्रकार पौराणिक लेखकोंने बडी चतुराईसे यह कथा मानव शरीरमें होनेवाली रोगोंकी उथलपुथल देखकर उसी एक घटना पर रची है। पुराणोंमें यह कथा कितनी भी बढाई हुई क्यों न हो उसका मूल तत्व इस कथासे समझमें आ सकता है। इस प्रकार इस कथाका तात्पर्य समझ

चुकने पर अब देखिए यही कथा शतपथ ब्राह्मणोंमें किस प्रकार आई हुई है-

इन्द्रस्येन्द्रियमन्नस्य रसं... असुरो नमुचिरहरत्सोऽश्विनौ च सरस्वतीं चोपाधावच्छेपानोऽस्मि नमुचये न त्वा दिवा न नक्तं हनानि न दण्डेन न धन्वना न पृथेन न मुष्टिना न शुष्केन नार्द्रेणाथ म इदमहर्षीदिदं म आजिहीर्षथेति ॥ १ ॥ ... तावश्विनौ च सरस्वती च । अपां फेनं वज्रमसिञ्चन् न शुष्को नार्द्र इति तेनेन्द्रो नमुचेरासुरस्य व्युष्टायां रात्रावनुदित आदित्ये न दिवा न नक्तमिति शिर उदवासयत् ॥ ... पाप्मा वै नमुचिः । पाप्मानं वाव तद्द्विषन्तं भ्रातृव्यं हत्वेन्द्रियं वीर्यमस्यावृङ्क्त ।

शत. ब्रा० १२ । ७ । ३ । १-४

" नमुचि नामके असुरने इन्द्रिय याने इन्द्र का बल अर्थात् (अन्नस्य रसं) अन्न का रस हरण किया । तब इन्द्र आश्विनीकुमारोंके पास सरस्वती के तीर पर गया और बोला मैं नमुचिको दिनको, रातको, सोटेसे या मुष्टिसे, धनुष्यसे या हाथकी चपतसे, शुष्क या आर्द्र शस्त्रसे न मारूंगा । नमुचि ने मेरी शक्ति हरण की है । क्या वह आप मेरे लिए लौटाकर लावेंगे ? तब अश्विनीकुमारोंने उसे पानी का फेन दिया और कहा कि यह न तो गीला ही है और न सूखा । तब उसने उसे लेकर सूर्य ऊगने के पूर्व और रात्र खतम होते ही नमुचिको उसके द्वारा मार डाला । नमुचि पापयुक्त है । इस पापको मारनेसे पुनः वीर्य प्राप्त होता है । "

इसी आशयकी कथा महाभारत शल्यपर्व और उद्योगपर्वमें आई हुई है । उनके अवतरण यहां देने की आवश्यकता नहीं । शतपथ ब्राह्मणके उक्त अवतरणमें 'नमुचि' याने पाप या पापी कहा है । प्रायः पापके कारण जो दुराचार होता है, उसी समय रोगबीज शरीरमें घुसते हैं और वे वहां बढकर रोग उत्पन्न होते हैं और उससे वीर्य, बल, और ओज कम होते हैं । शरीरका बल और तेज कम होता है तब रोगी वैद्यके पास जाता है, वे योग्य उपचार करते हैं और उसका मूल बल उसे पुनः प्राप्त होता है । अब तकके विवेचनसे इस कथा का अर्थ समझमें आया ही होगा ।

यह कथा कई ब्राह्मणोंमें है, वेदमंत्रोंमें और इतिहास पुराणोंमें भी है । अति प्राचीन कालसे यह कथा आर्योंके ग्रंथोंमें है और इस कथामें जो वैद्य शास्त्रका सिद्धान्त है वह इस प्रकार है—

(१) मनुष्य ऐसा कोई भी दुराचरण न करे जिससे रोग शरीरमें प्रवेश करे ।

(२) रोगबीज शरीरमें जानेपर स्थिर होता है और शरीरशक्ति खाने लगता है ।

(३) ऐसे समय वैद्यको सलाह पूछनी चाहिए और उसकी सलाहसे उपाय करके अपना पूर्वका बल प्राप्त करना चाहिए ।

इस कथा की रचना इन बातों को मन पर अच्छी तरह प्रतिबिंबित होनेके लिए रची गई है । आर्योंके साहित्य में जो शास्त्रीय कथाएं हैं उन्हीं मेंसे एक यह है । पौराणिक कथाएं खगोल, भूगोल, सृष्टि-चमत्कार, विज्ञान आदि अनेकानेक विषयोंपर हैं । इतिहासकी कथाएं भी बहुत हैं । इन कथाओंका असली मूलरूप देखकर इनका वर्गीकरण करना चाहिए और उनका रहस्य समझलेना चाहिए । इन शास्त्रीय कथाओंका अर्थ उन शास्त्रोंकी दृष्टी से ही करना चाहिए । इस प्रकार जो लोग मनन करके पौराणिक कथाओंकी और वेदके मंत्रोंकी संगति देखेंगे, उन्हे इन कथाओंका स्पष्टीकरण अवश्य ही होगा ।

इस लेखसे विदित होगा कि वेदमंत्रोंका अर्थ करते समय कितने प्रकारसे विचार करना चाहिए । जो लोग स्वयं आगेपीछे की संगति न लगा केवल वेदके भाषांतर ही पढते हैं, वे क्या समझते होंगे सो वाचक ही इस विवेचनसे देख सकते हैं ।

वैदिक धर्म का स्वरूप ।

[ले० श्री० श्रौताचार्य धुंडीराज दीक्षित बापट, सोमयाजी]

ॐनमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः । यजाम देवान्यदि शक्नवाम मा ज्यायसः शंस मा वृक्षि देवाः ॥ १ ॥
ऋग्वेद

'धारणाद्धर्मः' अथवा जिससे समाजका धारण हो सके वह धर्म है। धर्म की सामान्य परिभाषा ऐसी है। मीमांसा करोंने धर्म की परिभाषामें कहा है 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'। इस परिभाषा का अर्थ यह है कि वेद में दिखाई देनेवाली क्रियाबोधक आज्ञाएं ही धर्म हैं। वैशेषिक दर्शनकार 'यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' कहते हैं। इसका तात्पर्य है जिससे ऐहिक और पारलौकिक उत्कर्ष की सिद्धि होती है वह धर्म है। मीमांसकों की परिभाषा से वैदिक धर्म के आचारों की दिशा का बोध होता है और वैशेषिकों की परिभाषा वैदिक धर्माचरण से होनेवाली फलसिद्ध की कल्पना, अपने सामने स्पष्ट रीतिसे, रख देती है।

वैदिक धर्म का सामान्य स्वरूप ।

यदि किसी वेदवाक्य से धर्म का स्वरूप विशद कर सकें तो वह अधिक उपयुक्त होगा। 'यज्ञेन यज्ञमयजंत देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' यह पुरुषसूक्त की आधी ऋचा सर्वपरिचित है। 'यज्ञ के द्वारा यज्ञरूपी परमेश्वर का यजन देवोंने किया।' क्यों कि यज्ञविषयक आचार ही सृष्टि के आरंभ के धर्म हैं यही इस ऋचा का तात्पर्य है। इस से यही सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि वैदिक धर्म यज्ञ प्रधान या यज्ञ-मूलक है देवपूजा, संगतिकरण और दान ये 'यज्ञ' शब्द के अर्थ हैं। अर्थात् ईश्वरपूजन, समाज की व्यक्तियों का परस्पर संगठन और दूसरों के लिए स्वार्थत्याग इन तीन तत्त्वों की नीव पर वैदिक धर्म का मंदिर खडा किया गया है।

ईश्वर का पूजन तब तक हो नहीं सकता जब तक ईश्वर के लिए आस्तिक्य बुद्धि न हो। परस्पर एक भाव या एक ध्येय हुए बिना समाज के घटकों का संगठन (संगतिकरण) होना असंभव है। और जब तक दूसरे के प्रति प्रेमभाव न होगा, तब तक स्वार्थत्याग (दान) न होगा। समाज के या राष्ट्रके निःश्रेयस की अथवा पारलौकिक उत्कर्ष की सिद्धि व्यक्ती के द्वारा पृथक्त्व से होती है। किन्तु समाज के या राष्ट्र के अभ्युदय की या ऐहिक उत्कर्ष की परमावधि अनेक व्यक्तियों के समष्टि भाव से होती है। निःश्रेयस की दृष्टि से वैदिक धर्म के स्वरूप का विचार आज नहीं करना है किन्तु राष्ट्र के अभ्युदय की दृष्टि से करना है। इस लिए यह भी क्रमप्राप्त एवं आवश्यक है कि वेदकाल की समाजस्थिति का विचार करें।

केवल अनेक व्यक्तियों के समूहको ही 'समाज' नाम देना योग्य न होगा। 'समाज' नाम उसी समूहको देना उचित होगा जिसकी अनेक व्यक्तियां एकही ध्येयसे अथवा भावनासे सुसंबद्ध होकर इकट्ठी रहती हैं। यदि समाज के घटक एकनिष्ठ न हों तो वह समाज अभ्युदय अर्थात् ऐहिक उत्कर्ष के लिए कभी पात्र नहीं होगा। वेदकाल की समाजस्थिति देखने के लिए यदि प्राचीनतम ऋग्वेद पर नजर फेरें तो—

समाज का पंचविधत्व

बहुत काल रूढ हुआ दिखाई देता है। ऋग्वेद—संहिता के दस मंडल हैं। पहले मंडल से नौवें मंडल तक समाज का परिगणन सामान्यतः पांच विभागों में किया हुआ दिखाई देता है। वह इस प्रकार हैः—

'आविश्वतः पांचजन्येन' 'यः पंच चर्षणीरभी निषसाद' (ऋ० मं० ७-१५-२)

" पंच क्षितीः परिसद्योजिगाति "
(ऋ० ७-७५-४)
'पांचजन्यासु कृष्टिषु' (ऋ० मं० ३-५३-१६)
'इंद्रः पंचक्षितीनाम्, (ऋ० मं० १-८-९)
' अस्माकं द्युम्नमधिपंचकृष्टिषु'
(ऋ० मं० २-२-११)
'विश्वेदेवा अदितिः पंचजनाः '
(ऋ० मं० १-८९-१०)
'यत्पंच मानुषाँ अनु' (ऋ० मं० ८-९-२)।

पंचचर्षणीः, पंचक्षितीः, पंचकृष्टीः, पंचजनाः या पंचमानुषाः इन शब्दों का अर्थ भाष्यकार सायणाचार्य इस प्रकार करते हैंः ' निषाद पंचमाश्चत्वारो वर्णाः'याने 'निषाद नामक पांचवे वर्ण सहित ब्राह्मण आदि चार वर्ण' । तथापि यह नहीं मालूम होता कि नौवें मंडल के अन्त तक समाज के पूर्वोक्त पांचविभागों को वर्णविशेषत्व प्राप्त हुआ होगा। विशिष्ट गुण-कर्मों का पालन आनुवंशिक रीति से करने की प्रथा दीर्घकाल तक चलती रही और भिन्न भिन्न वर्गों में विशेष गुण-कर्म स्थिर हो गए। इसके अनन्तर समाज का पंचविधत्व लुप्त होते गया होगा और समाज में—

चातुर्वर्ण्य संस्था

प्रचलित हुई होगी। ऋग्वेद के दसवें मंडल की (सूक्त ९० ऋ० १२) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत' यह ऋचा सर्वपरिचित पुरुषसूक्त में आई हुई है। 'पुरुष—सूक्त' सब वेद में अनुवादित हुआ है। केवल कुछ ऋचाओं का या अक्षरों का भर न्यूनाधिक्य है। अभी जो ऋचा बतलाई गई उस में विराट् पुरुष अर्थात् समाज के सामष्टिक स्वरूप का वर्णन है। यहां भर वर्णविशेषत्वसे समाज के चार भेद दर्शाए गए हैं। यजुर्वेद के साहित्य में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की संस्था पूर्णता को पहुंची हुई दिखाई देती है। सारांश यही कि ऋग्वेद के आखीर में चातुर्वर्ण्य संस्था निर्माण हुई और ऋग्वेदोत्तर साहित्य में वह दृढमूल हो पूर्णता का पहुंची।

चार वर्ण के गुणकर्म

चार वर्णों के गुण—कर्म किस प्रकार थे सो अब देखें। विषय की सुविधा के लिए शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण इस व्युत्क्रम पद्धति से एक एक वर्ण के गुणकर्मों का विचार मैं करूंगा। शूद्र वह है जिसकी जीवन-यात्रा दूसरे के आश्रय पर सब प्रकार से अवलंबित है। शूद्रों का स्वभाव-गुण है कि एकनिष्ठा से और ईमानदारी से त्रैवर्णिकों की और तद्वारा राष्ट्रकी परिचर्या करना तथा शिल्प, माल का लाना ले जाना, मजदूरी आदि शारीरिक श्रमप्रधान कर्म उनके कार्य हैं।

राष्ट्र के अभ्युदय का आद्य एवं आवश्यक साधन है राष्ट्र के अन्न की सदैव समृद्धि रहना। राष्ट्र की जीवन शक्ति कार्यक्षम रहने के लिए आवश्यक है कि राष्ट्र के पोषण का मुख्य साधन जो अन्न वह राष्ट्र में सदैव भरपूर रहे। अर्थात् नागरिकों का प्रथम कर्तव्य है कि अन्न उत्पन्न करें। स्वावलंबन से जीवनक्रम चलाने के स्वाभाविक गुण से युक्त रहने के लिए वैश्य कृषिकर्म के द्वारा अन्न उत्पन्न करते थे। 'वैश्य' शब्द 'विश्' धातु से सिद्ध हुआ है। 'विश्' का अर्थ है वसति करना या वसति कर के रहना। अर्थात् 'वैश्य' उसी को कहना उचित होगा जो नागरिक स्वावलंबन से स्वतः के घर में निवास कर स्वप्रयत्नों से अपने पोषण के आवश्यक अन्न तैयार करते हैं। वे लोग इसी को वेदकालीन विहित कर्म मानते थे कि स्वतः धन-धान्य संपन्न रहकर जैसी आवश्यकता होगी वैसे अपने राष्ट्र को धन—धान्य पुजोना। वैश्य साक्षरता या सुविद्यता संपादन करते थे। परन्तु उनके ज्ञानार्जन का उद्दिष्ट था कृषि और वाणिज्य की सर्वांगीण उन्नति करके अपने राष्ट्र के पोषण के लिए धनधान्य की अभिवृद्धि करना।

राष्ट्र तब तक सुसंगठित एवं बलशाली नहीं होता जब तक उसमें वह शासनशक्ति नहीं होती, जो सद्वृत्त दुर्बलों की रक्षा असद्वृत्त प्रबलों से करती है और समाज को योग्य नियम दे उसका नियंत्रण

करती है। क्षत्रिय लोग शरीर-बल से संपन्न रहते, स्वावलंबन से जीवित चलाते और अपनी शक्ति का उपयोग दुर्बलों की वा संकटग्रस्तों की रक्षा में स्वाभाविक रीति से करते थे। इस प्रकार के गुणवाले क्षत्रिय अपने शौर्य से दुर्वृत्तों का दंडन और सद्वृत्तोंका रक्षण करते थे। यही नहीं वे अपने पराक्रम से परकीय शत्रुसे अपने राष्ट्र की रक्षा करना ही अपनी इतिकर्तव्यता मानते थे। अपने प्रभुत्व से अपने राष्ट्र का यथोचित नियंत्रण करके उसे सुरक्षित रखनेवाली राजसंस्था इस क्षत्रियवर्ण में ही उत्पन्न हुई।

अन्न की समृद्धता और शारीरिक बल ये दो बातें होने ही से राष्ट्र के अभ्युदय की परिपूर्ति नहीं होती। वही राष्ट्र सर्वतोपरि अभ्युदय को पात्र होता है जिसमें ऐसे कुशाग्र बुद्धिके लोग होते हैं जो अपने अनुकरणीय सदाचार से, तपोबल से, ज्ञान से, और आवश्यक स्वार्थत्याग से अपने राष्ट्र के अखिल समाज के लिए आदरणीय हो जाते हैं और राष्ट्र के सर्वांगीण अभ्युदय के लिए जिन जिन बातोंकी आवश्यकता उत्पन्न होगी उन उन बातों को सिद्ध करने की योजना करते हैं। वैदिक ब्राह्मण धर्माचरण प्रवण और सत्वगुणसंपन्न होते थे। वे विद्या और योगबल से समृद्ध होते तथा अपने राष्ट्र के उद्धार के लिए जो कुछ तीक्ष्णबुद्धिप्रधान कर्तव्य प्राप्त होगा वह करने को तत्पर रहते जिस प्रकार क्षत्रिय लोग विद्यार्जन, स्वधर्माचरण और धनसंपादन उत्कृष्ट-रीतिसे करके उन सब का उपयोग अपने राष्ट्र की सुरक्षितता के लिए एवं शक्तिवृद्धि के लिए करते थे उसी प्रकार ब्राह्मण लोग अपनी विद्या, अपना तप और अपनी स्वधर्मनिष्ठा आदि सब का उपयोग अपने राष्ट्र का सर्वांगीण अभ्युदय करने में करते थे। वेदकालीन ब्राह्मण शारीर बल के संवर्धन में बेफिकरी न करते थे और न कायरतासे ही रहते थे। वेद काल के ब्राह्मणों में आवश्यकता पडने पर आत्मरक्षा या राष्ट्ररक्षा के लिए जितना आवश्यक है उतना बल अवश्य रहता था। परन्तु क्षत्रियों की इतिकर्तव्यता जिस प्रकार शरीर-बल के संपादन ही में मानी जाती थी उसी प्रकार ब्राह्मणों की इतिकर्तव्यता बुद्धिवैभव के संपादन में मानी जाती थी। बुद्धिप्रधान एवं निःस्वार्थ प्रवण ब्राह्मणों को उनकी गुण-विशेषता के कारण इतनी ही समाजधुरीणता मिली थी। अन्य वर्णों ने उन्हे राष्ट्र के नेतृत्व का आदर दे दिया था। वेदकाल के ब्राह्मण अति आदर की 'पुरोहित' पदवी को अर्थात् समाज के पुरोभाग में स्थित होनेवाले याने 'नेता' की पदवी को प्राप्त हुए थे। हव्य कव्य का तांत्रिक ज्ञानसंपादन कर परान्नपुष्ट और परद्रव्य प्रतिग्रहोपजीवी होना यह आजकल के ब्राह्मणों की घातक कल्पना वेदकाल के ब्राह्मणों को मालूम ही नहीं थी। आजकल 'पुरोहित' शब्द की हम लोग अवहेलना कर रहे हैं। यही नहीं जो 'पुरोहित' शब्द अत्यंत श्रेष्ठतादर्शक और अत्यादरास्पद है, उसे अत्यंत हीन एवं परोपजीवित्व निदर्शक सिद्ध कर रहे हैं। आजकल 'पुरोहित' शब्द का यह अर्थ हो गया है कि धर्मकर्मों की कवायत किराये के लिए करके पराए अन्न पर पुष्ट होनेवाला ब्राह्मण। वास्तव में पुरोहित पदवी को पहुंचे हुए ब्राह्मण की योग्यता क्या है सो मैं आगे बतलानेवाला हूं।

आजकल अपने समाज में चातुर्वर्ण्य के संबंध में अनेक मतमतांतर और वादविवाद उत्पन्न हुए हैं। कोई कहते हैं, 'इस चतुर्वर्ण्य ने हम लोगों का सर्वनाश किया है। यह चातर्वर्ण्य का भूत गाड दिया जाना चाहिए और सब समाज एकवर्णी हो जाना चाहिए।' किसी किसी का कथन है कि पहले की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बिगड गई इसी लिए हमारे राष्ट्र को अवनति आ गई। दूसरे लोग कहते हैं चातुर्वर्ण्य भले ही रखा आवे परन्तु उसमें उच्च नीच भाव न होना चाहिए। सभी वर्ण एकसे समझे जाने चाहिए। कोई कहता है चातुर्वर्ण्य जन्मसिद्ध है,तो दूसरे कहते हैं कि वह गुणकर्म पर अवलंबित है। कोई कहते हैं 'जाति' और 'वर्ण' भिन्न हैं और कोई कहते हैं कि जाति और वर्ण एक ही हैं। इस प्रकार की परस्पर विरुद्ध कल्पनाएं आजकल प्रच-

लित हो गई हैं । ऐसे समय देखना अच्छा होगा कि वेदकालीन समाजस्थिति का अधिक सूक्ष्मता से निरीक्षण करने से क्या मालूम होता है ।

जाति और वर्ण

जाति और वर्ण ये दोनों भिन्न भी कहे जा सकते हैं और एक भी । रक्तसंबंध, कुलवैशिष्ट्य और प्रादेशिक भेद आदि कारणों से जाति सिद्ध होती है और व्यक्ति निज के आचरण में जो जो गुणकर्म लावेगी उनसे वर्ण सिद्ध होता है । जाति दैवायत्त है और वर्ण को मनुष्य स्वायत्तता से संपादन कर सकता है । जब तक कोई जाति विशेष गुणकर्मों का पालन पीढीयों तक अथवा आनुवंशिक रीतियों से करती है, तब तक वह जाति और उसने अपने गुणकर्मों से संपादित वर्ण ये दोनों एकरूपता को प्राप्त हुए रहते हैं । ऐसी दशा में जाति और वर्ण को एकही कहने का अवकाश मिलता है । परन्तु जब किसी जाति की आनुवंशिक गुणपरंपरा विच्छिन्न अथवा लुप्तप्राय होती है, तब उस जाति ने पहले संपादन किया हुआ वर्ण और वह जाति ये दोनों परस्पर भिन्न मालूम होने लगते हैं। चातुर्वर्ण्य जन्मसिद्ध माने जाने का कारण या चार वर्ण के माने ही चार जातियां माने जाने का कारण यही है कि चारों जातियों ने अपने अपने गुणकर्मों की विशेषता न्यूनाधिकता से दीर्घ काल आनुवंशिक पद्धति से कायम रखी । इस दृष्टि से यदि कोई यह कहे कि चारों वर्ण जातिनिविष्ट हैं अथवा ब्राह्मण जाति का जो होगा वह ब्राह्मण, क्षत्रिय जातिका जो होगा वह क्षत्रिय इत्यादि, तो उसका कोई इन्कार न करेगा । परन्तु, परंपरा से प्राप्त गुणकर्मों का लोप हो जाने पर अथवा लोप हो रहा है यह देखते हुए यदि कोई परंपरा से प्राप्त वर्ण का हक वसूल करने लगे तो उसके प्रति कोई भी सहानुभूति न दिखलावेगा । ब्राह्मण जाति के मातापिता से जन्म हुआ या मातापिता क्षत्रिय थे केवल इसी बात पर यदि कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय वर्ण का मनुष्य ब्राह्मण या क्षत्रिय वर्ण की व्यर्थ शेखी मारे तो वह अब चल न सकेगा ।

अतएव जाति और वर्ण कभी कभी भिन्न रहते हैं और कभी कभी एक यह बात निर्विवाद है । ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में स्थित स्वधर्मोचित गुणकर्मों का ऱ्हास न्यूनाधिकता से आजकल हो गया है । इसी लिए चारों वर्णों में एक दूसरे के प्रति वैषम्य एवं मत्सर कल्पना के परे उत्पन्न हो गया है । इसका कारण यह है कि राजसत्ता परधर्मीयों के हाथोंमें है और हमारे समाज में वर्णव्यवस्था का नियंत्रण करनेवाली, उत्तरदायित्वपूर्ण एवं कार्यक्षम

शासन संस्था.

नहीं है । वैदिक कालसे लेकर स्मृतिकाल के अंततक समाज की वर्णव्यवस्था का उचित नियंत्रण करनेवाली- राजा और लोगों के नेता रहनेवाले धर्मज्ञ पुरुषों से बनी हुई—एक शासनसंस्था थी । जब तक व्यक्ति गुणकर्मों का पालन उचित रीति से करती है तब तक उस व्यक्ति का वर्ण विशेषत्व का परंपराप्राप्त हक वह शासन संस्था मानती थी। परन्तु यदि ऐसा न हो तो उस व्यक्ति के गुणकर्मोंके अनुसार जो वर्ण उचित होगा उस वर्णमें उस व्यक्ति को वह शासनसंस्था शामिल करती थी ।

'धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ' इस प्रकार 'आपस्तंब' धर्मसूत्र (२।५।११।१०) है। इस सूत्र का अर्थ है कि 'धर्म के यथोचित आचरण से पिछे के वर्ण का मनुष्य जाति परिवर्तन के समय आगे के वर्ण को प्राप्त होता है ।' इसके विपरीत 'अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ' अर्थात् 'धर्म-विरुद्ध आचरण करने से आगे के वर्ण का मनुष्य जातिपरिवर्तन के समय पिछले वर्ण में जाता है ।' यह भी बतला दिया है । इसका अर्थ यह है कि कोई भी अनधिकार से किसी वर्ण पर अपना अधिकार न बतलावे और अपने अपने गुणकर्मों से उचित वर्ण में स्थान प्राप्त करने का अवकाश हर एक को रहे। इस प्रकार की निःपक्षपाती योजना चातुर्वर्ण्य संस्था की रचना में पहले से दिखाई देती है । इस प्रकार चातुर्वर्ण्य को जन्मसिद्ध मानने में एक प्रकार का साद्गुण्य है, उसी प्रकार केवल जन्म

ही को महत्व न दे कर गुणकर्मों का उत्कर्ष दिखाई देनेपर उसका भी विचार होना आवश्यक है। आज कल जो लोग चातुर्वर्ण्य को जन्मसिद्ध न कहकर गुणकर्मानुसारी कहते हैं उनकी प्रवृत्ति आगेके वर्ग के लोगों को पीछे खींचने की है। यह प्रवृत्ति इस बात का विचार करने की ओर नहीं झुकती कि स्वतः में गुणकर्मों का उत्कर्ष कहां तक है।

अ-ब्राह्मण का ब्राह्मण

गुणकर्मों का उत्कर्ष दिखाई दिया और वह परीक्षा में अच्छा सिद्ध हुआ तो वेदकाल के ब्राह्मण अब्राह्मण को भी ब्राह्मण वर्ण में शामिल कर लिया करते थे। वेद में इसके उदाहरण भी दिखाई देते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान में (अ. ८ खं १) एक कथा है। वह इस प्रकार हैः-

सरस्वती नदी के तीर पर कुछ ब्राह्मण 'सत्र' नामका अनुष्ठान करने बैठे। तब उनके साथ विद्वान् और कर्तबगार इलूषा नामक स्त्रीका 'कवष'नामका एक युवक भी सत्रानुष्ठान के लिए बैठा। जब ब्राह्मणों ने देखा कि अपने साथ एक अ ब्राह्मण अनुष्ठान को बैठा है और हवनोच्छिष्ट हविर्भाग अपनी पंगत में बैठकर खानेका उसका विचार भी है, तब वे क्रोधित हुए और उन्होंने आक्रोश किया कि 'यह अब्राह्मण है, यही नहीं यह दासीपुत्र और जुआडी है। हम लोगों में आकर यह अनुष्ठान को बैठता है यह कैसे? यह अब्राह्मण हम लोगों के साथ अनुष्ठान को बैठने का साहस करने को क्यों प्रवृत्त होता है? इसे अपनी पंगतमें लेकर हम हविःशेष किस प्रकार भक्षण करें? इसे यहां से भगा देना चाहिए। अंतमें उन्होंने कवष को भगा दिया। सोभी ऐसे स्थानमें जहां उसे पानी भी पीने को न मिलने पाय! वह कवष भी इस प्रकार के बहिष्कार से डरनेवाला न था। उसने उस निर्जल प्रदेश में 'प्रदेवत्रा०' इत्यादि सूक्त से अनुष्ठान कर वरुण को प्रसन्न कर लिया। वरुण की प्रेरणासे सरस्वती नदी उस स्थान से प्रवाह रूपसे बह निकली जहां कवष था। उसके आश्रय से उस प्रदेश की सब जमीन जोती गई और इस प्रकार कवषने धनधान्य की उत्कृष्ट समृद्धि संपादन की और वह आनंद से रहने लगा। कालांतर से बहिष्कार करनेवाले ब्राह्मणों को इच्छा हुई कि जिस कवषको भगा दिया था उसकी क्या हालत है सो खोज करें। पता चलानेपर उन्हें कवष का संपूर्ण हाल मालूम हुआ और यह भी विदित हुआ कि उसकी हालत अपने से अच्छी है। यह ज्ञात होते ही सब ब्राह्मणों के मनमें उसकेविषयमेंआदरबुद्धि उत्पन्न हुई और उन्होंने यह सोचकर कि इस प्रकार के सुविद्य, तेजस्वी, और कर्तबगार युवक को केवल उसके अब्राह्मण होनेके कारण दूर रखना और समाज में फूट उत्पन्न करना उचित नहीं, उन्होंने कवष का प्रेमपूर्वक अपने में शामिल कर लिया।

शांखायन ब्राह्मणों में यही कथा है। तब भी उस में एक दो स्थान पर ऐतरेय की कथा की अपेक्षा महत्वका फरक है। उस भेद को समझने के लिए मूल ग्रंथ के कुछ वाक्य ही आपको दिखलाता हूंः-

सरस्वत्यां सत्रमासत तद्धापि कवषो मध्ये निषसाद। तं हेम उपोदुर्दास्या वै त्वं पुत्रोऽसि न वयं त्वया सह भक्षयिष्याम इति स ह क्रुद्धः प्रद्रवत् सरस्वतीमेतेन सूक्तेन तुष्टाव तं हेयमन्वियाय तत उ हेमे निरागा इव मेनिरे तं हान्वावृत्योचुर्ऋषे नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीस्त्वं वै नः श्रेष्ठोऽसि यं त्वेयमन्वेतीति तं ह ज्ञपयांचक्रुस्तस्य क्रोधं विनिन्युः।(शांखा० १२-३)

ऐतरेय ब्राह्मण में 'अरे, यह अ-ब्राह्मण है, दासीपुत्र है इस प्रकार का हल्ला सत्र करनेवाले ब्राह्मणों ने आपस में किया है और यहां वे कवष को उसके सन्मुख ही कहते हैं कि तू दासीपुत्र है, हम तुझे पंगत में लेकर हविःशेष भक्षण न करेंगे। ब्राह्मणोंने कवष को भगा दिया ऐसा वर्णन ऐतरेय में है और इस ग्रंथ में कहा है कि जिस समय उसकी निर्भर्त्सना की गई उसी क्षण वह तेजस्वी और मानी कवष स्वयं क्रुद्ध हो निकल गया। कवष का अधिकार विदित हो जाने पर ब्राह्मणों ने उससे मित्रता की यह मुग्धम वर्णन ऐतरेय में है परंतु शांखायन के वर्णन में जिसे एक समय अ-ब्राह्मण

कह के चिढाया था उसी कवष को ऋषि कह कर संबोधन करते हैं । यही नहीं, किन्तु 'हे ऋषे, तुझे नमस्कार है । तुम हम लोगों में श्रेष्ठ है । चू कि सरस्वती नदी स्वयं अपने तंयीं तुम्हारे पास दौड कर आई तब तुह्मारी योग्यता हमसे बडी है' यह कह कर कवष का अधिकार और ब्राह्मण्य की पात्रता स्पष्ट रीतिसे और खुले दिल से मान्य की है। यह बात ध्यान में रखने योग्य है। अ—ब्राह्मण के पास ब्राह्मणवर्णोचित पुणकर्मों का उत्कर्ष दिखाई देवे और वह जांच में खरा उतरे तो वेदकाल के ब्राह्मण उसे-किसी भी प्रकार का किन्तु मन में न रख—अपने वर्ण में शामिल कर लिया करते थे। यही इस कथा का तात्पर्य है ।

स्वधर्मभ्रष्टों की शुद्धि

आजकल स्व-धर्मभ्रष्टों की शुद्धि और उनका स्वधर्म में संग्रह इस विषय को बहुत महत्व आ गया है । प्रच्छन्नता से ईसाई मिशनरियों का और खुल्लमखुल्ला महंमदियों का हिन्दु समाज पर हम्ला शुरू होने के कारण हिन्दुधर्मियों का संख्याबल तीव्रता से घट रहा है । यह देखकर हिन्दुसमाज घबडाकर जग उठा है और उसने शुद्धि का आंदोलन आरंभ कर दिया है । 'शुद्धि' की बात कोई नई चीज नहीं है किन्तु वह प्रथा प्राचीन ही है। तांडय ब्राह्मणों में (१७—१ से ४) जो वर्णन है उससे मालूम होता है कि व्रात्यस्तोम जैसे विधि करके पश्चात्तप्त धर्म भ्रष्टों को स्वधर्म में शामिल कर लेने की पद्धति वैदिक धर्म में प्रथम से ही प्रचलित थी । पश्चात्ताप से स्वधर्म में आने की इच्छा करनेवाले देशबांधवों के प्रति सक्रिय सहानुभूति दिखलाने की उदारता वेदकाल के समाज में थी । यही नहीं किन्तु वैदिकेतर संस्कृति के लोग यदि श्रद्धाविष्ट होकर वैदिक धर्म में आने की इच्छा करें तो उन्हें भी वैदिक संस्कृति में शामिल कर ले अपने समाज का संख्याबल बढानेकी दूरदर्शी नीति वैदिक धर्ममें पहलेभी विद्यमान थी । यही मैं अब बतलाऊंगा।

अ—वैदिकों का वैदिक धर्म में संग्रह

सामवेद के 'तांडय' नामक ब्राह्मण ग्रंथ (१३।१४।१७) में इस प्रकार का हाल लिखा है: 'वैदिक संस्कृति के अर्थात् वेदविहित आचार न मानने वाले कुछ परधर्मी यतियों को (श्रमणों को या बौद्ध भिक्षुओं को?) इन्द्रने लडैयों द्वारा खवाया । समय की बलिहारी से मौका देसा आया कि तीन यति बच गए । उनके नाम थे १ पृथुरश्मि, २ बृहद्गिरि और ३ रायोवाज । आत्मरक्षा के लिए निराधार हुए ये यति आपस में कहने लगे कि ' हमे धर्मपुत्र मानकर हमारा पालन कौन करेगा?' हतबल और निराश्रित होकर स्वतः के पालन के लिए चिंतातुर हुए उन यतियों पर इन्द्र ने दया की और इन्द्र उनसे बोला, 'डरो मत । मैंने हमारी संस्कृति से वैर करनेवाले तुम यतियों को लडैयों के सामने फेंक दिया था। तब भी भाग्यवश तुमलोग जीवित रहे हो और स्व-रक्षण की चिंता में तुह्मे अपने धर्मपुत्र मानता हूं। तुम लोग स्वस्थ होकर मेरे पास रहो। मैं तुह्मारी रक्षा करूंगा।'

इन्द्रने उन यतियों का ममता से पालन किया पहले की शत्रुता भूलकर असहाय दशामें इन्द्रने जो दया की उससे इन्द्र के संबंध में उनके मनमें परम पूज्यबुद्धि उत्पन्न हुई और उन्होंने निश्चय किया कि इन्द्र को ही गुरु करके उससे उदात्त वेदविहित वर्णाश्रम-धर्म की दीक्षा आपन लेंगे । एक समय इन्द्र खुष होकर उन यतियों से बोला, ' हे ऋषिकुमारों, मेरे धर्म के पुत्रों, मैं तुमपर संतुष्ट हुआ हूं। जो इच्छा हो सो वर मांग लो। ' उन तीनोंने मनमें निश्चय किया कि जिसकी अपने को उत्कंठा लगी है उस वैदिक धर्म-स्वीकार की इच्छा को सफल करने का यही उचित मौका है और इन्द्र से विनती की कि हमे अपनी अपनी रुचिके अनुसार धर्म की दीक्षा दीजिए। पृथुरश्मि बोला, ' मुझे क्षत्र दीजिए । मुझे क्षत्रियवर्ण की दीक्षा देकर उत्तम युद्धकुशल बनाइये इन्द्रने उसे क्षत्रिय बनाया। बृहद्गिरी बोला, ' मुझे ब्रह्मवर्चस की इच्छा है । इसलिए मुझे ब्राह्मण बना उत्तम प्रकार का वेदज्ञान और तप से मुझे समृद्ध करिए ' । इन्द्रने उसे ब्राह्मण बनाया । तीसरा रायो

वाज बोला, 'मुझे पशुओं की चाह है। मैं वैश्य बनकर कृषि और पशुपालन करूंगा।' इन्द्रने उसे वैश्य किया। इन्द्र और यतियों की इस कथा से निश्चय होगा कि अ- वैदिकों का संग्रह वैदिक संस्कृतिमें करने का बीज वैदिक धर्म में विद्यमान है।

अब तक वर्णान्तर, स्वधर्मभ्रष्टों की शुद्धि, अ-वैदिकों का वैदिक धर्ममें संग्रह इत्यादि के उदाहरण दिए गए। इनसे यह मतलब नहीं है कि ये काम चाहे जिस प्रकार से अथवा चाहे जिस परिस्थिति में करे। इन कार्यों के लिए दूरदर्शी, समयज्ञ, और स्वधर्मनिरत समाज की एक संस्था की आवश्यकता है। वह संस्था ही युक्तायुक्त विचार करके पूर्वोक्त कार्यों को करे। जो उद्योग बुद्धिप्रधान हैं उन सबके राष्ट्र के अभ्युदय के लिए प्रयत्न करना अपने बाहुबल एवं रणकौशल के द्वारा अपने राष्ट्र की रक्षा परकीयों से करना और उसका वैभव बढाना, धन्य धान्य की समृद्धि से राष्ट्र का पोषण उत्तम रीतिसे करके उसे बलवान् बनाना और कलाकौशल अथवा आवश्यक परिचर्या करके अपने राष्ट्र के वैभव पर सौंदर्य का मुलम्मा चढाना ये जो राष्ट्र के सर्वांगीण उत्कर्ष के लिए आवश्यक गुणकर्म हैं उनका पालन वेदकाल के ब्राह्मणादि चार वर्ण उत्तम प्रकार से करते थे। इसी लिए वेदकाल के चातुर्वर्ण्य का प्रबंध पौराणकाल के अथवा स्मृति-काल के अंत तक सुव्यवस्थित रह आया। किसी भी वर्णके लोग दूसरे वर्णके लोगों का द्वेष न करते थे। चारों वर्ण एकदूसरे का आदर करते थे। और एकदूसरे के साथ प्रेम का बर्ताव करते थे।

वरतंतु मुनि का शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के लिए रघुराजा के पास गया तब रघुराजाने कौत्स से बडे आदर के साथ पूछा कि 'इन्द्र के धैर्य को भी लजानेवाला आपके गुरु का कायिक, वाचिक और मानसिक तप ठीक तो चला है न? उनके तप में कोई विघ्न बाधाएं तो नहीं उत्पन्न हुई? (क्यों कि उनके तपोबल पर हमारा सुस्थिति में रहना निर्भर है।)' इत्यादि। इस का बीज क्या है?

दुष्यन्त राजा शकुन्तला को वारंवार देख सकने के लिए वारंवार कण्व ऋषि के आश्रम में जाना चाहता था। उसका मित्र उसे बार बार यह कह कर उत्तेजन देता था कि राजसत्ता के बलपर तुझे कण्व के आश्रम में जाने में कौनसी रुकावट है? किन्तु इतना होते भी राजा कण्व ऋषि के आश्रम में ऐसे ही समय जाता था जब कि उसका जाना कण्व ऋषि को अयोग्य न मालूम होता। इसका भी तात्पर्य क्या है? यही कि उस समय के ब्राह्मण अपने ब्रह्मतेज का उत्कृष्ट परिपालन कर उसका उपयोग दूसरों के कल्याण के लिए ही करते थे। इसी लिए राजा, महाराजा अपने सिर ऐसे ब्राह्मणों के सन्मुख नम्र करते थे। जिनमें सामर्थ्य नहीं ऐसे भस्म के पट्टों को तथा गोमुखियों को देखकर ही क्या राजा, महाराजा ब्राह्मणों का आदर करते थे? कदापि नहीं। चारों वर्ण स्व स्व कर्म में निपुण होते थे और परस्पर से प्रेमसंलग्न हुए रहते थे। इसी लिए वैदिक चातुर्वर्ण्य संस्था को अत्यंत उज्ज्वल सुंदरता प्राप्त हुई थी।

राजसंस्था और पुरोहित संस्था

वैदिक संस्कृति में राजकाज धर्मप्रधान था। इसलिए चातुर्वर्ण्य के अंगभूत दो संस्थाएं निर्माण हुई। पहली 'राजसंस्था' और दूसरी 'पुरोहित' संस्था। प्रभुता की दृष्टि से राजा को महत्व था और मार्गदर्शकत्व के कारण पुरोहित को प्रामुख्य प्राप्त होता था। यह नियम था कि राजा क्षत्रिय वर्ण का और पुरोहित ब्राह्मण वर्ण का रहे। वैदिक राजसंस्था के संबंध में बहुत कुछ विस्तारसे लिखा जा सकता है। परन्तु वह एक स्वतंत्र विषय हो सकता है इसलिए उसके संबंध में आज अधिक न लिख केवल 'पुरोहित' संस्था का विवेचन करेंगे।

पुरोहितोंका महत्व

'अर्धात्मो ह वा एष क्षत्रियस्य यत्पुरोहितः' याने 'पुरोहित मानो क्षत्रिय का (राजा का) आधा शरीर ही है'। यह ऐतरेय ब्राह्मण का (७-४-८)

वचन है। इसी से आप सोच सकते हैं कि पुरोहित का दर्जा कितना ऊंचा था और उसी हिसाब से पुरोहित पर कार्यकतृत्व का कैसा भारी उत्तरदायित्व था। पुरोहित को 'राष्ट्रगोप' याने राष्ट्र की रक्षा करनेवाला कहा है (ऐ० ब्रा० ८।५।२) यही नहीं किन्तु 'राजकार्य धुरंधर, कुशाग्रबुद्धि और विद्वान पुरोहित जिस राजा के पास होता है वह राजा अपनी सेना के द्वारा शत्रु—सेना पर जय प्राप्त करता है। उसके राज्य की संपूर्ण प्रजा उसका अच्छा आदर करती है और एक दिल से उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा करते हुए उसके सन्मुख खडी रहती है।' इत्यादि वर्णन है।

पुरोहित का कर्तव्य

पुरोहित के कर्तव्य की दिशा मालूम होने के लिए दो एक स्थान के श्रुतिवाक्य आपके सन्मुख रखता हूं। शुक्ल यजुर्वेदीय वाजसनेयी संहिता में (९-२३) एक वाक्य हैः।

'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'

उसका अर्थ है हि 'हम (समाज के नेता) पुरोहित राष्ट्रमें सदैव जागते रहेंगे'। राष्ट्ररूप नौका का पुरोहित कर्णधार है जहाज जब चलती है तब उसके यात्री गप्पें मारा करते हैं या सोते रहते हैं; परंतु कप्तान का पूर्ण ध्यान जहाज के कर्ण पर रहता है। उसे सदैव यही विचार रहता है कि मेरा जहाज भूल कर गलत दिशा में तो नहीं जा रहा? तूफान जैसा संकट उत्पन्न हो कर मेरे जहाज की गति में क्या विघ्न होगा? इत्यादि। यही हाल पुरोहित का है। अपने राजा पर या राष्ट्र पर क्या आपत्ति बीती है? अपना राष्ट्र कौनसी परिस्थिति में है? अपने राष्ट्र की सुस्थिति एवं वैभव की वृद्धि के लिए क्या उपाय करना चाहिए? इत्यादि बातों के लिए पुरोहित को सदैव अत्यन्त सावधान रहना पडता है। इस प्रकार के महत्त्व के कर्तव्य को अहर्निश जानने वाले पुरोहित की अमृतवाणी से ही अभी बतलाए हुए 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः' ये शब्द निकले हैं। वाजसनेयी संहिता में और एक स्थान में एक मंत्र है।—

'सँशितं ते ब्रह्म सँशितं वीर्यं बलम्।
सँक्षितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः'
(११-८१)

और उस मंत्र का अर्थ है 'जिस राजा का मैं पुरोहित हूं उस मेरे राजा के कल्याण के लिए मैंने अपना मंत्र सामर्थ्य ताजा कर रखा है। मेरे पराक्रमी राजा का बाहुबल मैंने अपनी ब्राह्मशक्ति से कार्यक्षम कर रखा है। उसी प्रकार मेरे राजा का जयिष्णु क्षात्र तेज उत्तम संस्कार से प्रज्वलित कर रखा है।"

पुरोहित का उत्तरदायित्व।

मन्त्रिमण्डलमें पुरोहित का दर्जा मुख्य है। इस लिए कभी कभी राजा के अपराध के लिए पुरोहित उत्तरदायी समझा जाता था। इसका एक उदाहरण तांड्य ब्राह्मण (१३।३।१२) में है। इक्ष्वाकुवंश के 'त्र्यरुण' नामक राजा का 'वृश' नाम का एक पुरोहित था। एक समय राजा 'त्र्यरुण' रथ में बैठकर कहीं जा रहे थे। राजमदसे मस्त हुए त्र्यरुण ने अपना रथ इतनी तेजीसे भगाया कि उसका धक्का लगकर एक ब्राह्मण कुमार को चोट पहुंची। राजा प्रजा के साथ किस प्रकार बर्ताव करे, उसका खास बर्ताव कैसा होवे आदि बातें राजा को सिखलाना पुरोहित का कर्तव्य है। इसलिए घायल ब्राह्मण कुमार ने पुरोहित के पास शिकायत की कि आपने राजा को उचित शिक्षा नहीं दी। राजा पर आपकी धाक नहीं है इसीलिए राजा इस प्रकार का बर्ताव करता है। आपने अपना पुरोहिती का उत्तरदायित्व अच्छी प्रकार नहीं निभाया इसीलिए आज मुझे राजा रथ का धक्का लगकर चोट आई। पुरोहितने उस की शिकायत सुनली और उसके घाव को चंगा करने के लिए जो शास्त्रीय इलाज करना आवश्यक था उसे करके उसका घाव चंगा किया पुरोहितों के संबंध में इतना विवेचन काफी है।

स्त्रियोंका सामाजिक दर्जा।

जब तक यह बतलाया नहीं है कि वैदिक धर्म में स्त्रियों का दर्जा क्या है तब तक वैदिक समाज-

संस्था का वर्णन पूर्ण न होगा। पाश्चात्य शिक्षा के एकांगित्व के कारण और वैदिक धर्मके परिशीलनके अभाव के कारण 'वैदिक धर्म में स्त्रियों का आदर नहीं, घर के कामों में परिश्रम करना और पुरुषों का दास्य करना ही स्त्रियों का कर्तव्य है, स्त्रियों को शिक्षा की मुमानियत है, वैदिक धर्म में स्त्रियों को पुरुषों की बराबरी का स्थान नहीं,स्त्रियों के प्रति सच्चा दाक्षिण्य यूरोपीय सभ्यता में ही है, ये और इस प्रकार के दूसरे विचार हम लोगों में से कई के मस्तिष्क में घूमते रहते हैं। परन्तु ये कल्पनाएं केवल भ्रममूलक हैं। वैदिक धर्म में स्त्रियों को जितना उच्च स्थान दिया हुआ है अथवा स्त्रियों के प्रति जितनी आदरबुद्धि व्यक्त की है उतनी अन्य किसी भी धर्म में या सभ्यता में व्यक्त नहीं की है। मुझे विश्वास है कि आप लोग भी विचार के पश्चात् इस बात को कबूल करेंगे। तैत्तिरीय संहिता में कहा है।

'अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी'
(तै० सं० ६-१-८)

उसका तात्पर्य यही कि 'पत्नी मानो पति के शरीर का आधा भाग ही है।' दम्पति के संबंध की और स्त्रीपुरुष की समानता दिखलाने वाली जो यह वैदिक कल्पना है, उससे अधिक सुंदर, और दांपत्य का यथार्थ भाव प्रकट करने वाली कल्पना दूसरे किस धर्म में या सभ्यता में है? 'माता पूर्वरूपम्' 'पितोत्तररूपम्' या प्रथम 'मातृदेवो भव' और तदनंतर 'पितृदेवो भव' ये तैत्तिरीय आरण्यकको आज्ञाएं वैदिकधर्मी पुरुषों में स्थित स्त्रियों के प्रति आदरबुद्धि दिखलाने वाली नहीं हैं यह कौन कहेगा?

वैदिक स्त्रियों की आकांक्षाएं

'मैं इन्द्राणी के समान सौभाग्यसंपन्न और अदिति समान पराक्रमी पुत्र की माता होऊं' इस प्रकार की आकांक्षा तैत्तिरीय ब्राह्मण में दिखाई देती है (३-७-५)। उसी ग्रंथ में और एक स्थान में कहा है 'मम पुत्राः शत्रुहणः। अथो मे दुहिता विराट्। उतामहमस्मि संजया।' इन वाक्यों से पता चलता है कि 'मेरे पुत्र शत्रुओं का संहार करनेवाले पराक्रमी वीर हैं, मेरी कन्या स्त्री समाज में श्रेष्ठता से विराज मान है और मैं भी सब कार्यों में यश और विजय संपादन करने वाली हूं' इस प्रकार वैदिक स्त्रियों के मन के भाव व्यक्त हुए हैं।

उच्च शिक्षा का संस्कार हुए बिना ही क्या वैदिक स्त्रियों में इस प्रकार के उदात्त भाव उत्पन्न होना संभव है? पुस्तकों का गट्ठा बगल में दबाकर चप्पल चटचटाते हुए अथवा सायकल पर सवार हो कालेज के चक्कर काटने से ही उच्च शिक्षा की गठरी हाथ लगती है, यह नहीं। इससे यह न समझा जावे कि मैं कालेज में जानेवाली बहनों का उपहास करता हूं। मेरा उद्देश यही है कि उच्च शिक्षा का ध्येय क्या होवे, और उच्च शिक्षासे भारतीय महिलाओं में किस प्रकारके भाव उद्दीपित होने चाहिए इस बातपर बहनों का चित्त आकर्षित होवे।

अपने को शिक्षित कहलानेवाली कुछ बहनों में आजकल बुजुर्गों के प्रति क्वचित् आदर, अमर्यादा किंचित् औद्धत्य, इसी प्रकार अंग्रेजी न जाननेवाले भाई बहनों के प्रति किंचित् उपहास-सहित तुच्छता नजर आती है। परन्तु यह बात अच्छी नहीं। यदि हमारी बहनें अपनी शिक्षितता को विनय और सहिष्णुता की जोड कर देवें, तो उनकी सुशिक्षितता को अधिक शोभा आवेगी। सभी बातों में पुरुषों की बराबरी करने की समझसे कुछ भगिनियां रास्ते से चलते समय पुरुषों के समान लम्बे लम्बे डग रखती हुई दिखाई देती हैं। परन्तु, इससे उनके नैसर्गिक निसर्गसिद्ध सौकुमार्य की और शालीनता की हानि होती है तथा औद्धत्य भर उनके पल्ले पडता है। कुलीन स्त्रियों की चलने की तथा वस्त्र परिधान की पद्धति किस प्रकार की होनी चाहिए इसके संबंध में ऋग्वेद में एक कथा है। 'प्लायोगी' नामका एक पुरुष था। कुछ कारण से उसे स्त्रीत्व प्राप्त हुआ। याने बेचारे प्लायोगी को स्त्रीवेष से रहने की बारी आई। स्वरूपतः यद्यपि

उसे स्त्रीत्व प्राप्त हुआ था तथापि उसके अंतःकरण की पुरुषभावना नष्ट न हुई थी; अतएव जब वह चलने लगता तब स्त्री की चालसे नहीं चलता किन्तु पुरुष की चालसे याने लम्बी डगें रखकर चलता था। इसी प्रकार उसे धोती का पल्ला अच्छी तरह संभालने का भी ध्यान नहीं रहता था। यह देख उसे एक परिचित ने उपदेश किया–

" अधः पश्यस्व मोपरि संतरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ ॥
ऋ० मं० ८।३४।१९

इस ऋचा का अर्थ इस प्रकार है " हे प्लायोगी, इस समय तू स्त्री बना है। अतएव तुझे स्त्रियों के समान ही बर्ताव करना चाहिए। (अधः पश्यस्व) याने चलते समय तू अपनी नजर नीचे रखा कर; (मा उपरि) ऊपर नजर करके इधर उधर मत देखा कर; (पादकौ संतरां हर) चलते समय डगें पास पास डालते जा, पुरुषों के समान लम्बीलम्बी डगें मतभर; (ते कशप्लकौ मा दृशन्) तेरे पैरे की पिडरियां रास्ता चलनेवाले पुरुष कभी भी न देखने पावें, धोती ऐसी पहन कि पैर के घोटे ढँक जावें जिससे पिंडरी छिपी रहेगी और किसी को भी नहीं दिखेगी।'

स्त्रियों के वस्त्रपरिधान एवं रास्ता चलने के बारेमें यह दिग्दर्शन कुलीन एवं सभ्य स्त्रियों के लिए अनुकरणीय है।

वैदिक स्त्रियों की रहन सहन

यह कदापि न समझिए कि वैदिक स्त्रियां अव्यवस्थितता से रहती थी। आर्यस्त्रियों का वेष ऐसा रहता था जो आर्यत्व एवं सभ्यता के लिए उचित होता तथा असद्वृत्त कामुकों की हँसी का विषय न होता था। आर्यस्त्रियां तीन वस्त्र पहिनती थीं यथा आशसन (पहिनने का वस्त्र), विशसन (ओढने का वस्त्र ओढनी इत्यादि), और अधिविकर्तन (कपडा काटकर, नापकर उसकी सी हुई चोली) (ऋ० मं० १०-८५-३५)। आर्य स्त्रियां अपना केशकलाप व्यवस्थित एवं मोहक रखती थीं और उनकी वेणी गुथती थीं अथवा उनकी गठन बांधती थीं। वे मस्तक पर सुंदर रेशमकी जाली डालतीं या बिंदी जैसा अलंकार पहनती थीं।

(मैत्रायणी सं० २।७।५ तै० ४।१५)

स्त्रियों की विद्वत्ता तथा रणकुशलता

सुलभा, मैत्रेयी, वडवा, प्रातीथेयी, गार्गी, वाचक्नवी आदि वैदिक स्त्रियां विदुषियों के नाते प्रख्यात हैं। ब्रह्मज्ञान जैसे गहन विषय की चर्चा में पुरुषों की बराबरी करके कई वेदकाल की स्त्रियों ने 'ब्रह्मवादिनी' की अति आदर की पदवी प्राप्त की है।

विश्पला नाम की एक स्त्री रणधुरन्ध थी। एक लडाई में उसका पैर टूट गया, तब अश्विनी कुमारों ने लोहे का पैर बना उसे बिठला दिया। इस प्रकार का वर्णन ऋग्वेद में है (ऋ० मं० १०-३९-८) मुद्गलानी नामकी एक स्त्री उत्तम सारथ्य कुशल थी (ऋ० मं १०-१०२-२)। मतलब यही कि वेदकाल की स्त्रियां विदुषी, वीरपत्नी, वीरमाता और वीररमणी होती थीं। वेदकाल के अनन्तर भी दमयन्ती, सावित्री, सीता आदि स्त्रियां भारतभूमि को भूषित कर गई हैं। आधुनिक काल में भी परमपूजनिय राजमाता जीजाबाई, रानी ताराबाई देवी अहल्याबाई, रणरमणी लक्ष्मीबाई (झांसी) आदि स्त्रियां अपने वंदनीय सद्गुणों से भारतवर्ष के इतिहास में नामवरी प्राप्त कर चुकी हैं।

अभ्युदय को पोषक होनेवाली राष्ट्रीय दृष्टि से वैदिकधर्म की समाजव्यवस्था का विवेचन हुआ। वैदिकधर्म के स्वरूप का आविष्करण और भी भिन्न भिन्न अंगों से होना आवश्यक है। परन्तु कालमर्यादा का विचार कर और प्रमादों के लिए क्षमा की विनती कर मैं अपने विषय को समाप्त करता हूं।

योगासनोंका प्रभाव ।

मैं पहिले एक अंग्रेजी स्कूलका विद्यार्थी था, उस समय कुसंगसे मेरा आचरण बहुत बिगड गया था, जिससे शारीरिक निर्बलता अधिक आगयी थी, जैसा कि बहुधा आजकल की विद्यार्थियोंमें पाया जाता है। किन्हीं कारणोंसे स्कूल त्यागने बाद मैं सदा यही विचारमें बहता था कि किसी प्रकार यह व्याधि दूर हो परन्तु लज्जाके कारण किसीसे न कहा। शारीरिक कष्ट इतने बढ गये थे, कि असह्य थे-अपचन का रोग शौचशुद्धि ठीकसे न होने का रोग, धातु रोग, अन्य इसी प्रकारके अनेक रोग हो गये थे, यहां तक कि यदि एक स्थानपर अधिक देरतक बैठा रहता तो खडे होनेपर चक्कर आने लगते थे. और नेत्रोंके सामने अंधेरा छा जाता था, हरवर्ष ग्रीष्म ऋतुमें बुखार आजाता था, वातरोग भी होगया था, इससे कभी कभी पैरकी गांठोंमें दर्द होने लगता था।

इन उपरोक्त रोगोंके कारण सदा यह भय बढने लगा, कि मैं शीघ्रही मृत्यु को प्राप्त होऊंगा, संसारमें आकर कुछ न कर सका, व्यर्थ ही यह मनुष्यजीवन जायगा। कोई ऐसा उपाय हो जिससे शीघ्र न मरूं और अधिक समयतक ज्ञान लाभ करके अपनी उन्नति करूं।

ईश्वर सबके शुभ और दृढ विचारोंको पूर्ण करता है, यदि मनुष्यमें उसके लिये सच्ची लगन हो। ऐसा ही हुआ। मैं राजस्थान केसरी पत्र मंगवाता था उसमें एक पुस्तकका नाम पढ कर मुझे असीम आनन्द हुआ। वह पुस्तक "मृत्युको दूर करनेका उपाय" है। उसके लेखको पढकर मुझे शान्ति मिली और निश्चय होगया, कि मैं अवश्यही अपनी उन्नति करूंगा, क्योंकि उसमें "आसन" की पुस्तकका नाम देखकर मुझे विशेष शान्ति मिली कि इसके द्वारा अवश्य लाभ उठाऊंगा और ऐसा ही हुआ। मैंने 'आसन' नामकी पुस्तक एक महाशय द्वारा मंगवाई क्योंकि मेरी हिंमत घरवालोंसे रुपये मांगने की न होती थी, कारण सब मेरे स्कूल छोडनेसे अप्रसन्न थे।

अब मेरा आसनोंके व्यायाम का काल प्रारंभ होता है। पुस्तक आते ही मैंने सभी आसनोंका थोडा थोडा अभ्यास शुरू किया। एक माहके अन्दर ही पांच या छे आसनोंको छोड सब आसन करने लगा, और भले प्रकार सब आसन ठीकसे होजानेसे मुझे अति आनन्द होता था। इससे मैंने यह निश्चय किया कि मनकी प्रबल इच्छासे सब कार्य हो सकते हैं।

केवल एक माह के ही अभ्यास से मेरा स्वप्नदोषका रोग दूर होगया। कदाचित् अन्य महाशय शंका करें कि इतना भारी रोग इतने ही कालमें दूर होगया। इसका कारण यही है कि मेरे को इच्छा थी, कि रोग दूर हो, इससे प्रबल मनके उत्साह के साथ आसन प्रारंभ किये थे, जिसका फल यह हुआ कि विशेष कष्टके विना ही सब आसन मैं दो दो मिनिट और शीर्षासन पांच मिनिट तक करने लगा था। जो आसन मैं प्रतिदिन करता था और अब भी प्रतिदिन करता हूं उनके नाम ताडासन, गरुडासन, त्रिकोणासन, हस्तपादासन, पश्चिमोत्तानासन, सर्वांगासन, ऊर्ध्वसर्वांगासन, कर्णपीडपीडनासन, शीर्षासन, अंघ्रिमूल आसन, पादांगुष्ठासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, लोलासन, (बकासन) मयूरासन, सर्पासन वज्रासन, उष्ट्रासन, इत्यादि इन्ही सब आसनोंके और साथ प्राणायाम करनेके कारण रोग दूर हुआ।

इन आसनोंके करनेसे एकदम बदहजमी दूर होगयी, शौचशुद्धि ठीकसे होने लगी। स्वप्नदोष भी दूर गया। कभी कभी हाँ कुपथ्यसे धातुस्राव होजाता है वह भी वर्षमें दो अथवा तीन वार इस समयतक मुझे दो साल आसन करते होगये। मैं कभी बीमार नहीं पडा. शरीरमें उत्साह भी बढनेका अनुभव हुआ, हलकापनभी आया। लेकिन जैसा मैं

शारीरिक उत्साह, सुडौलता चाहता था वैसा न हुआ इससे मैं कुछ चिन्तित रहता था। परन्तु जबसे मैंने आसनोंके पश्चात् सूर्यभेदी व्यायाम सं० ५ प्रारंभ किया तबसे शरीरमें विशेष उत्साह बढ गया जिसको देखकर मैं चकित होगया एकही महीनाके अभ्याससे शरीरमें सुडौलता आगई, चेहेरेपर चमक बढने लगी, चलते समय शरीरमें अत्यन्त हलकापन होनेके कारण बडा आनन्द आता है। इससे मैंने यह निश्चय किया। आसनोंके साथ साथ सूर्यभेदी व्यायाम अत्यन्त बलका बढाने वाला है जिसकी सीमा नहीं। मैं इस समय अन्य आसनोंके बाद सूर्यभेदी व्यायाम नं ५ करता हूं। इससे अच्छी प्रकार निद्रा आती है,दिनभर प्रसन्नता रहती है।

दो साल के अभ्यास बाद के मेरा मन ऐसा शान्त हुआ है, कि काम विकार कभी मनमें उत्पन्न नहीं होता। इस विषय की बातें सुनकर घृणा होती है। विषय करने की इच्छा स्वप्नमें भी नहीं होती इसका कारण आसनों के बाद सूर्यभेदी व्यायाम के पश्चात् शीर्षासन करना ही है। क्यों कि अन्तमें शीर्षासन के समय मन बिल्कुल शांत हो जाता है श्वांस बिलकुल बन्दसी हो जाती हैं अर्थात् बहुत देरके बाद श्वास लेने पडती है।

सूर्यभेदी व्यायाम सं० ५ मैं ५ मिनिटमें चार करता हूं। इस समय मैं रेलवे सरविसमें हूं। डयूटी प्रातः९ बजेसे ९ बजे तक है। इस से मुझे प्रातःकाल का समय व्यायाम के लिये मिल जाता है। रेलवे सरविस में रहते हुवे भी मुझे कोई रोग नहीं है। यह आसनों का ही विचित्र फल है। इससे पहिले मैं मथुराके रेलवेके कार्य करता था, वहां रात्री भी डयूटी आपडती थी, इससे कभी कभी ठीक समय आसनों के लिये नहीं मिलता था, क्यों कि रातमें निद्रा न ले पानेके कारण शरीर में उष्णता रहती थी, तिसपर भी मैं सायंकालको थोडासा अभ्यास आसनों का करता था, जिसका फल यह था कि मेरी नेत्रोंकी ज्योति रात्रिमें कार्य करते रहने पर भी न कम हुई और न बीमार हुआ, और अन्य मेरे साथी बाबू उस साल कई बार बीमार पडे। एक बार मुझे कुपथ्य के कारण बुखार तीन चार दिन आगया, परन्तु आसनों के कारण शरीर में इतनी सहनशीलता आगयी थी, कि दो दिन मुझे बुखार का अनुभव न हुआ, भले प्रकार रेलवेकी डयूटी करता रहा।

चूं कि मैं अभी पूर्णतः हृष्ट पुष्ट नहीं हुआ कि जितना होना चाहिये, परन्तु पहिले की अपेक्षा शरीर की कांति और बल तथा उत्साह इतना बढ गया है कि दिनभर प्रसन्नता रहती है, किसी प्रकार की थकावट नहीं आती। अब मुझे पूर्णतया निश्चय हो चुका है कि मुझे जीवन भर वैद्य और डाक्टरोंके द्वार न झांकने पडेंगे। इस असीम उपकार के लिये स्वाध्याय मंडलको सहर्ष धन्यवाद है। परमात्मा करे इसकी दिनों दिन उन्नति हो।

यहां पर दो तीन नवयुवकोंने यह व्यायाम प्रारंभ किया है जिससे उनको अभी हालमें शारीरिक उत्साह व मनकी प्रन्नता बढनेका अनुभव मिला है। आपके यहां से दो आसनों की तथा एक सूर्यभेदी व्यायाम की पुस्तकें भी उन लोगोंने मंगाली हैं। आशा है कि इस व्यायाम पद्धति का प्रचार दिनों दिन बढता जावेगा।

क्या आप कृपा कर सूचित करेंगे कि आसनों के पश्चात् सूर्य भेदी व्यायाम नं० ५ करने के बाद शीर्षासन के पश्चात् प्राणायाम करनेसे कोई हानि तो नहीं होगी? अभीतक मुझे ऐसा करने में कोई हानि नहीं हुई है। यह शंका इससे हुई है कि आपके सूर्य भेदी व्यायाम पुस्तक में सूचित किया गया है, जो प्राणायाम का अभ्यास अधिक करना चाहते हैं उन्हें सूर्य भेदी व्यायाम न करना चाहिये और वैदिक धर्म के एक विशेष अंकमें सूचित किया है कि आसनों के बाद सूर्यभेदी व्यायाम सं० ५ तथा इसके बाद शीर्षासन करनेसे इन्द्रशक्ति का विकास होता है, और शीर्षासनके बाद प्राणायाम आवश्यकीय है।

आपका
नबाब सिंह

पाण्डवोंपर किये थे। उनका राज्यशासन का अनुभव न बढे, इसलिये उन्होंने १३ वर्ष राज्यशासनसे उनको बाहर रखा था। इतने समयमें युद्ध काभी अनुभव उनको न आवे और वे स्वराज्यके लिये पूर्ण नालायक, बिलकुल जंगली जैसे बन जांय। यह साम्राज्यवादी कौरवोंकी इच्छा थी। अंतमें संजय द्वारा भ्रम उत्पन्न करनेवाली कुशिक्षा देनेका भी साम्राज्यशाहीने प्रयत्न किया, जिसका फल अर्जुनके इसप्रकार कर्तव्यभ्रष्ट होनेका प्रत्यक्ष दीखता है। इसी कारण जेता लोगोंसे धर्मोपदेशकी या अन्य प्रकारकी शिक्षा प्राप्त करना भी जित लोगोंको योग्य नहीं। क्यों कि ये लोग उस कुशिक्षा द्वारा किस प्रकारका विष जित लोगोंके मनमें भर देंगे, इसका भी पता नहीं चलेगा। इसी उपदेश द्वारा पिलाये विषके कारण वीरोंमें अत्यंत प्रबल वीर अर्जुन कैसा निर्बल बन गया है, देखिये।

उसका शरीर तो बिलकुल शिथिल बन गया, यहां तक निर्बल बना कि, वह अपने हाथसे अपना गाण्डीव धनुष्य भी धारण नहीं कर सकता, और अपने पांवसे खडा भी नहीं हो सकता !! फिर लडना तो दूर रहा !! अर्जुन जैसे आर्य वीर संतानने शत्रुसे थोडीसी शिक्षा प्राप्त की, तो उसका क्या बन गया देखिये। वह पहिले सिंह था, तो शत्रुके उपदेशकोंसे शिक्षा लेकर भेड बन गया; वह पहिले लोहा था तो उसका मोम बना। यह है शत्रुके धर्मवचनोंपर विश्वास रखनेका परिणाम ! इसीसे तो अर्जुनका शरीर और मन बिगड गया !

अनुभव का अभाव।

साम्राज्यवादी लोग जित लोगोंको राज्यशासनका अनुभव और युद्धका अनुभव ये दो अनुभव लेनेका अवसर नहीं देते। पाण्डवोंको उन्होंने १२ वर्ष जंगलमें इसीलिये रखा था, कि वे जंगलीसे बन जांय और १ वर्ष अज्ञात वासमें इसलिये रखा था कि, इस समय उनके स्वाभाविक अन्तःसामर्थ्यका प्रकाश करनेका थोडा भी अवसर उनको न मिले, और इस समय यदि वे पकडे गये, तो फिर यह १३ वर्षका चक्र घूमना ही चाहिये !! वीरोंको १२ वर्ष जंगलमें और १ वर्ष अज्ञात वासमें रखनेसे वे कितने बदल जाते हैं, इसका परिचय पाठकोंको विराटपर्वके पढनेसे लग सकता है। उस समय तो अर्जुन केवल पूर्ण नपुंसक ही बन गया था !! केवल १२ वर्ष स्वराज्यका अनुभव न होनेसे अर्जुन जैसा महारथी वीर यदि नपुंसक बन जाता है; तो जो लोग उससे वीरतामें कम होंगे उनका क्या बनेगा ? और वे यदि १३ वर्ष से अधिक वर्ष पराधीनतामें रहे, तो उनकी क्या अवस्था होगी, इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं।

नपुंसकता।

अर्जुन की स्थिति नपुंसक जैसी बनी थी, यह बात कौरवोंको पता होगी या न होगी; तथापि संजयके कपटी उपदेशने वीर अर्जुनके ही मनमें घर कर लिया था, इसका कारण यही था कि, वह एक वर्षतक विराट नगरीमें नपुंसकही बन गया था, अर्थात् इतना निर्वीर्य बना था कि इसको स्त्रीपरिवारमें रखनेमें किसीको संकोच न हुआ था। कुछ उपायोंसे वह उसका दोष एक सालके पश्चात् दूर हुआ, परंतु नपुंसकके संस्कार रहे, और एक वर्षतक स्त्रियोंकी संगतिमें रहनेके कारण मोह, दया, करुणा, आदि जो गुण स्त्रियोंमें विशेष रहते हैं, वे इसमें बढ गये !! अतः संजय का कपटी उपदेश अर्जुनके मनमें जैसा जमगया, वैसा किसी अन्य पांडव वीरके मनपर नहीं जमा। इससे संस्कारके महत्त्वका पता लग जाता है। इसीलिये साम्राज्यवादी ऐसी नीति करते हैं कि, जित लोगोंके उच्च संस्कार लुप्त हो जांय और उनमें हीन संस्कार दृढमूल हो जांय; जिससे वे कभी न उठ सकें और अपना स्वराज्य कभी वापस न ले सकें।

अर्जुनके शरीर और मनपर तो इतनी शिथिलता छाई गई। इससे वह युद्धके लिये तो पूर्ण रीतिसे निकम्मा बन गया। उसके अंदर ही

खेदका मनपर परिणाम ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

अन्वय—हे केशव ! निमित्तानि विपरीतानि च पश्यामि । आहवे च स्वजनं हत्वा श्रेयः न अनुपश्यामि ॥३१॥

हे केशव ! अब मुझे सब लक्षण विपरीत दीख रहे हैं । तथा अपने संबंधियोंको युद्धमें मार कर कुछ कल्याण होगा, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता ॥ ३१ ॥

केवल उदासीनता छाई थी यह बात नहीं थी, उसकी बुद्धी भी इतनी विवेकभ्रष्ट हुई कि उसको सब जगत् उदास प्रतीत होने लगा । देखिये वह आगे क्या कहता है—

(३१) देखिये, यहां अर्जुन कह रहा है कि 'सब लक्षण विपरीत दीख रहे हैं ।' ऐसा मनके बिगडनेसे होता है । मन बिगडनेसे सब जगत्में विपरीत भाव दिखाई देता है । मन बिगडा तो सब जगत् बिगड जाता है । "मनके हारे हार है, मनके जीते जीत ।" अर्जुनका मन हार गया था, इस लिये उसको संपूर्ण जगत्में अशुभ लक्षण दिखाई देने लगे थे । मनमें उत्साह रहा, तो सब जगत्में शुभ लक्षण दीख पडते हैं । यह सब मनका खेल है । इसीलिये युद्धके पूर्व साम्राज्यवादी धृतराष्ट्रने अर्जुनके मनकोही मोहित करने का प्रयत्न किया था । जिस समय अर्जुन युद्धभूमिमें आया था, उस समय जिस जगत्में उसको एक भी विपरीत लक्षण दिखाई नहीं देता था, उसी जगत्में उसी अर्जुनको अब सब लक्षण उलटे दीखने लगे हैं !! इसका कारण ही यह था कि, जिस समय अर्जुन युद्धभूमिपर आया, उस समय उसके मनमें उत्साह था, और अब वह उत्साह दूर हो चुका है । जगत्में कोई फर्क नहीं हुआ । अपनेमें फर्क होनेसे जगत् बिलकुल अलग मालूम होने लगता है । पाठक यह नियम स्मरण में रखें कि, मनुष्य जो मनका भाव लेकर जगत्के पास जायगा, ठीक वैसाही उसको जगत् दीखने लगेगा ! कामिलारोग वालेको सब जगत् पीला दिखाई देता है, इसका कारण उसके नेत्रका दोष है; बुखार आनेके समय सब जगत्में सर्दी भरने का अनुभव आता है, इसका कारण इसके शरीरका दोष; उदास मनुष्यको सब जगत् उदास दीखता है और उत्साही पुरुषको सब जगत् उत्साहपूर्ण होजाता है, इसका कारण उसका मन ही है । बहुत मनुष्य जगत्को दोष देते हैं, अपना नसीब, दैव आदि कहते हैं, परंतु वास्तविक देखा जाय, तो जगत्में कोई दोष या गुण नहीं है, यदि मनुष्य अपनेमें शुभ गुणोंका उत्कर्ष करेगा, तो उसको जगत् शुभ दीखेगा, और यदि इसके अंदर दोष रहे, तो जगत् भी इसके साथ दुष्टता करेगा । इसलिये ' आत्मशुद्धि' का महत्त्व शास्त्रकारोंने कहा है ।

अर्जुनके मनपर जो खेद का परिणाम हुआ, उससे उसका मन दोषयुक्त बना और उस दोषके कारण उसको सब जगत्में विपरीत लक्षण दिखाई देने लगे । जबतक उसके मनमें यह दोष नहीं था, तबतक उसका उत्साह बढ रहा था । जगत् एक शीशेके समान है, जो भाव हम लेकर उसके पास जांयगे, वैसाही ठीक प्रतिबिंब उसमें दीखेगा॥ इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि, जब उसको चारों ओर विपरीत लक्षण दीखने लग जांयगे, तब वह समझे कि, अपनेमें कुछ दोष हुए हैं; और प्रयत्न करके अपने अंदरके दोष दूर करनेका यत्न करे । अपने अंदरके दोष दूर होतेही उसको जगत्में शुभ लक्षण अवश्यही दिखाई देंगे । अपने सुधारसे जगत्के सुधारका प्रारंभ होता है।

(९) स्वजनोंका मोह ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

अन्वय—हे कृष्ण ! विजयं न काङ्क्षे, राज्यं सुखानि च न (कांक्षे) । हे गोविन्द ! नः राज्येन किम् ? भोगैः जीवितेन वा किम् ? ॥ ३२ ॥

हे कृष्ण ! मुझे विजयकी इच्छा नहीं है, न मुझे राज्य चाहिये और न मैं सुख चाहता हूं । हे गोविन्द ! हमें राज्य से क्या करना है ? भोगोंसे भी क्या और हमारे जीवित रहनेसे भी क्या लाभ होगा ? ॥ ३२ ॥

अर्जुन दूसरी बात कहता है, कि ' स्वजनोंका वध करके कुछ कल्याण होगा, ऐसा नहीं दिखाई देता है' । स्वजनोंका वध करके क्या लाभ होगा ? यहां शत्रुको अर्जुन ' स्वजन ' कह रहा है । रक्तके नातेसे स्वजन और परजन देखे नहीं जाते । स्वजनोंका नाम " आप्त पुरुष " है । और आप्त पुरुष वे होते हैं कि, जो कभी अत्याचार नहीं करते, कभी अधर्मकी बात नहीं करते, कभी असत्य नहीं बोलते । आप्तोंका तो यह लक्षण है । आप्त पुरुषका संमान शास्त्रकारोंने इतना किया है कि, जिसके लिये कोई मर्यादाही नहीं है । जिन्होंने पाण्डवोंका स्वराज्य कपटसे छीन लिया, उनको देशसे बाहर कर दिया, हर प्रकारसे उनको कष्ट दिये, वेइज्जत की, और अन्तमें जो अपना वचन तोडनेको भी तैयार हुए, वे किस प्रकार 'स्वजन' हो सकते हैं ?

बडा उत्तरदायित्व ।

यहां अर्जुनपर केवल अपना छीना हुआ स्वराज्य वापस लेनेकी ही जिम्मेवारी नहीं थी, इससे बढकर एक बडा उत्तरदातृत्व अर्जुनपर था, वह यह है कि, ' जगत् में अन्याय करनेवालोंके संघको तोडना, और सर्वत्र धर्मका राज्य होनेके लिये अनुकूल वायुमंडल तैयार करना ।' भगवान् मनमोहन श्रीकृष्ण इस कार्यके लिये कटिबद्ध थे और अर्जुनको उन्होंने इस कार्यका भार उठानेके लिये अपने पास किया था । अर्थात् अर्जुनके स्वार्थके साथ यह महान परोपकार होनेवाला था। इसी कारण सच्चे स्वजन कौन हैं और सच्चे शत्रु कौन हैं, इस विषयमें अर्जुनको मोह होना इष्ट नहीं था । परंतु जो होना नहीं चाहिये, वही समयपर बन जाता है ! और एकवार बुद्धि गिरने लगी, तो उसकी गिरावट भी सीमातक पंहुच जाती है । इसी प्रकार एक बार अर्जुन परमेश्वरके जगद्व्यापक धर्मकार्यका भागी होनेके संमाननीय महत्स्थानसे जो फिसल गया, वह परिवारके मोहके कीचडमें पडा !! पारिवारिक मोहके संकुचित वायुमंडलसेही वह अब बोलरहा है, अब देखिये कि इस संकुचित विचार के प्रवाह में पडनेसे उसका मत कैसा बन गया है—

(३२—३४) अर्जुन परिवार के मोहके कारण राष्ट्रीय कार्य करनेसे पीछे हटता है ! वास्तविक देखा जाय तो " राष्ट्रकार्य के लिये पारिवारिक सुख को त्यागना चाहिये; " परंतु यह भारतका नेता उलटी बातें बोल रहा है !! यह यहां तक भूला है कि ' मुझे विजय नहीं चाहिये ' (विजयं न कांक्षे) ऐसा स्वयं कहता है !! वस्तुतः यह स्वयं ही ' विजय ' है, इसलिये ' मैं विजय नहीं चाहता, इसका अर्थ ' मैं अपने आपकोभी नहीं चाहता ' यही होता है । परंतु इसका अर्थ क्या ? मैं अपने आपको नहीं चाहता ' यह तो मूर्खका बोलना है, थोडासा ज्ञान रखनेवाला मनुष्य ऐसा आत्मघातका भाषण बोलही नहीं

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

अन्वय- येषां अर्थे नः राज्यं कांक्षितम्, भोगाः (कांक्षिताः), सुखानि च (कांक्षितानि); ते इमे आचार्याः, पितरः, पुत्राः, तथा एव च पितामहाः, मातुलाः, श्वशुराः, पौत्राः, श्यालाः, तथा संबन्धिनः प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा, युद्धे अवस्थिताः ! ॥ ३३-३४ ॥

जिनके लिये हमने राज्यकी और भोगों तथा सुखोंकी इच्छा करनी थी, वेही ये आचार्य, बडे बूढे, पुत्र, दादा, मामा, ससुर, नाती, साले और संबंधी अपने प्राण और धन की आशा छोडकर युद्धके लिये खडे हुए हैं ॥ ३३-३४ ॥

सकता। परंतु अर्जुनके मनपर जिन आत्मघातकी विचारोंका प्रभाव जमगया था, उनका प्रभाव वहां स्थिर रहने तक, वह दूसरे विचार बोलही नहीं सकता !! शत्रुकी कपटी शिक्षाका स्वीकार करनेपर ऐसा ही विपरीत विचारों का प्रवाह शुरू होता है; इसीलिये सूज्ञ लोग कहते हैं कि, अपनी सभ्यता की शिक्षा ही प्राप्त करनी चाहिये, और शत्रुके विचारोंके नीचे अपने मनोंको दबाना नहीं चाहिये।

जन्मका उद्देश्य.

प्रत्येक मनुष्य जन्मा है, वह अपना विजय प्राप्त करनेके लिये ही जन्मा है। हरएक मनुष्य चार पुरुषार्थ सिद्ध करनेके लिये जगत् में आगया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष अर्थात् कर्तव्य पालन करना, धन कमाना, धर्मानुकूल भोग भोगना और बंधनसे मुक्त होना, ये चार पुरुषार्थ मनुष्यको करने चाहिये। कर्तव्य करना पहिला काम है और मोक्ष अर्थात् अपना स्वातंत्र्य प्राप्त करना अन्तिम साध्य है। मानवका जन्म इसी लिये है। स्वातंत्र्य प्राप्त करना श्रेष्ठ विजय कमाना ही है। इसलिये किसी को अधिकार ही नहीं कि, वह कहे कि, 'मैं विजय नहीं चाहता।' ऐसा कहना चतुर्विध पुरुषार्थ के सर्वथा विरुद्ध है। अर्जुन यहां यह धर्मविरुद्ध बात कह रहा है। यही उसका मोह अर्थात् अज्ञान है।

अज्ञानवश होकर अर्जुन और कह रहा है कि, 'मुझे सुख भी नहीं चाहिये और राज्य भी नहीं चाहिये।' पूर्वोक्त चार पुरुषार्थोंमेंसे 'विजय नहीं चाहिये' कह कर इसने कहा कि मुझे मोक्ष, स्वतंत्रता अथवा बंधननिवृत्ति नहीं चाहिये, मैं बंधनमें ही रहूंगा, अर्थात् जिस कार्यके करनेके लिये यह जन्मा है, वही कार्य करना इसको पसंद नहीं है !! अब यह कह रहा है, कि मुझे सुख भी नहीं चाहिये और स्वराज्य भी नहीं चाहिये!! येही 'अर्थ और काम' ये दो पुरुषार्थ हैं, येभी इसको नहीं चाहिये !! 'अर्थ, काम और मोक्ष' ये तीनों पुरुषार्थ नहीं चाहिये, ऐसा कहते ही प्रश्न उत्पन्न होता है कि, 'इसने जन्म किस कार्यके लिये लिया है ?' जिसको ये चार पुरुषार्थ करना अभीष्ट नहीं, क्या वह जीवित रहनेका अधिकारी भी है ? अर्जुनने जब कहा कि 'मुझे सुख, भोग, स्वराज्य और विजय नहीं चहिये,' उसी समय उसके ही मनमें यह बात आगई कि, 'मैं अब जीवित रहकर भी क्या करूं' क्यों कि किस

उद्देश्यसे जीवित रहना है? यह बात उसके ध्यानमें आकर वही स्वयं कहता है कि, 'भला मेरे जीवित रहनेसे भी अब क्या लाभ है!' अर्थात् जिस रीतिकी खेदमयी विचारपरंपरा उसके मनमें शुरू होगई थी, उस विचारपरंपराके अन्तमें उसको मृत्यु शीघ्र स्वीकारना ही योग्य हुआ !! खेदमय विचारकी परंपरा कितनी घातक है, यह बात यहां स्पष्ट हो जाती है। अतः कोई मनुष्य खेदमय विचारोंको अपने पास आने न दें, और सदा उत्साहमय पुरुषार्थी विचार अपने मनमें स्थिर करें।

संबंधियोंका मोह।

अर्जुन अपने संबंधियोंके लोभमें फंस गया है। वह कहता है कि आचार्य दादा, मामा, पिता, भाई, साले. ससुर, नाती, पुत्र आदिकोंके लिये सुख देनेके उद्देश्यसे ही भोगके साधन इकट्ठे किये जाते हैं। परंतु इस युद्धमें तो वेही अपने प्राण और धनकी पर्वा छोडकर यहां उपस्थित होगये हैं। यदि इनको मारा, तो उनकी मृत्युके पश्चात् इस युद्धसे प्राप्त किये हुए भोग किसको देने हैं? जिनके लिये सुख देना है वेही यहां मारे जाते हैं, फिर सुखप्राप्तिका प्रयत्न किस के लिये करना है? ये मेरे संबंधी हैं, इस लिये मुझे उचित नहीं कि, मैं इनका वध करूं। यदि तुम कहोगे कि मैं इन संबंधियोंका वध करूं तो इनके साथ मैं अपने सहोदर भाइयोंको भी क्यों न मारूं? ये भी भाई हैं और वेभी भाई हैं। अर्जुन कहता है—

'हे कृष्ण! तुम्हें 'गो-विन्द' कहते हैं, क्यों कि तुम 'गो' नाम इंद्रियोंको 'विन्द' अर्थात् स्वाधीन रखते हैं। अतः तुम्हारे जैसा इंद्रियवृत्तियोंको स्वाधीन रखनेवाला ज्ञानी ऐसे आप्तजनोंके वध करनेके अनर्थकारक कार्यमें मुझे किस प्रकार प्रवृत्त कर रहा है, क्या यही तुम्हारा इंद्रियसंयम है? और इसी प्रकार तुम मुझे संयम सिखाओगे? क्या मैं अपने सुखके लिये आचार्यों और अपने सब आप्तोंका वध करूं? और उनका वध करनेके बाद स्वयं सुख भोगूं?'

कुटुंब और राष्ट्र।

यहां अर्जुन अपने संबंधियोंको सुख देनेके लिये राष्ट्रकार्यमें विघ्न कर रहा है। जनतामें शुद्ध और उच्च नीतिधर्मकी स्थापनाका कार्य एक ओर और दूसरी ओर स्वजनोंका सुख होता है। यहां अर्जुन जनताके उद्धारके कार्यकी अपेक्षा अपने पारिवारिक कुटुंबियोंके सुखको अधिक मान रहा है। कौरव साम्राज्यके शासनाधिकार पर किसी न किसी प्रकार आरूढ हो गये थे। अर्थात् श्रेष्ठ पदपर थे। जो मनुष्य श्रेष्ठ पदपर रहता है, उसपर एक उत्तरदायित्व रहता है कि वह किसी प्रकार भी ऐसा बुरा आचरण कदापि न करे, कि जो जनताके लिये बुरा आदर्श हो जावे। "श्रेष्ठपदपर स्थित मनुष्य जैसा आचरण करता है, वैसा ही अन्य मनुष्य आचरण करते हैं। (भ० गीता ३। २१)" इसलिये श्रेष्ठ मनुष्य पर अन्य साधारण जनोंके लिये उत्तम आदर्शरूप बननेका भार सदा रहता है। क्या यह उत्तर-दायित्व कौरवोंने पालन किया था? बिलकुल नहीं। साम्राज्य बढानेके लिये इन्होंने कईयोंको जहर तो पिलाया, कईयोंको अग्निसे जला दिया, कइयोंकी भूमि हरण की, कईयोंके राज्य कपटसे हरण किये, कईयोंका शस्त्रोंसे वध किया, कई स्त्रियोंकी बेइज्जती की, सदा सर्वदा असत्य वचन कहते रहे, अपना दिया हुआ एक भी वचन इन्होंने पालन नहीं किया, नाना प्रकारसे आशाएं दिखलाते रहे; परंतु एककी भी पूर्तता नहीं की, अन्तिम शान्तिसभामें तो इन्होंने स्पष्ट कहा कि, युद्धके विना एक सुईके अग्रपर रहनेवाली मिट्टी भी नहीं दी जायगी। क्या येही आदर्श हैं कि जिनपर जनता चले? और यदि सम्राट् और उसके मंत्रिगण ऐसी कुनीतिसे चलने लगे, तो संपूर्ण जनताकी स्थिति कैसी होगी? इसलिये कुनीतिसे चलनेवाले इन धृतराष्ट्रपुत्र कौरवोंको साम्राज्य पदपरसे उतारना और उनके स्थानपर धर्ममर्यादासे चलनेवाले लोकसंमत राजपुरुषोंको

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

अन्वय— हे मधुसूदन ! (मां) घ्नतः अपि एतान्, त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः अपि, हन्तुं न इच्छामि, किं नु महीकृते ? ॥ ३५ ॥ हे जनार्दन ! धार्तराष्ट्रान् निहत्य नः का प्रीतिः स्यात् ? एतान् आततायिनः हत्वा अस्मान् पापं एव आश्रयेत् ॥ ३६ ॥ तस्मात् स्वबांधवान् धार्तराष्ट्रान् हन्तुं वयं न अर्हाः। हे माधव ! हि स्वजनं हत्वा वयं कथं सुखिनः स्याम ? ॥ ३७ ॥

हे मधुसूदन ! यद्यपि ये मुझे मारने लग जांय, तो भी इनको, त्रैलोक्यके राज्यके लिये भी, मारनेकी इच्छा मैं नहीं करता; फिर तो भला पृथ्वीके राज्यके लिये इन्हें क्या मारना है ? ॥ ३५ ॥ हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार कर हमारा क्या प्रिय होगा ? इन आततायियोंको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥ इस कारण अपने भाई इन कौरवोंको मारना हमें उचित नहीं है। हे माधव ! अपने ही संबंधि जनोंको मार कर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ? ॥ ३७ ॥

को स्थापित करना उस समयके राष्ट्रीय नेताओंका महान राष्ट्रीय कार्य हुआ। इसलिये उस समयके लोगोंका धर्म हुआ था कि यह राष्ट्रकार्य करें और धर्मकी मर्यादा पुनः स्थापित करें। यदि कोई मनुष्य यह राष्ट्रकार्य न करते हुए अपने परिवार के अर्थात् अपने स्त्री, पुत्र, भाई, माता, पिता, दादा, आदिकों को सुख देनेके कार्यमेंही अपने आपको समर्पित करेगा, तो वह उसके लिये अधर्म होगा। विशेष उन्नत हुए और कार्याकार्य का विचार करनेवाले लोगोंको उचित है कि वे परिवारके मोहसे राष्ट्रकार्यमें विघ्न उत्पन्न न करें। अर्जुन अपने पारिवारिक जनोंके सुखको अधिक मानकर राष्ट्रकार्यसे विमुख हुआ था। यही उस का अधर्म हुआ। इसी प्रवृत्तिसे वह आगे क्या कहता है देखिये—

(३५ – ३७) अर्जुन अपने स्वजनोंके मोहसे दीन होकर कहता है कि– " यद्यपि ये लोग मुझे मारने लगे तो भी मैं इनको नहीं मारूंगा। इनको मारनेसे निश्चयपूर्वक स्वर्गलोक, भूलोक और पाताललोकका राज्य प्राप्त होनेकी संभावना होने पर भी मैं इनको मारनेका विचार नहीं करूंगा। फिर केवल भूलोक के राज्यके लिये इनका वध नहीं करूंगा, यह क्या दुबारा कहना चाहिये ? ये कौरव अपने भाई हैं, इसलिये इनका वध करनेके पश्चात् हमें कदापि सुख प्राप्त नहीं होगा। ये आततायी हैं, यह सत्य है; तथापि इनके वधसे हमें पापही लगेगा। क्योंकि अपने संबंधियोंका वध करनेसे भला कौन कैसा सुखी हो सकता है ? "

आततायीका वध।

आततायी का वध करनेके विषयमें शास्त्रकी

आज्ञा स्पष्ट है। स्मतिग्रंथोंमें कहा है—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैतान्षड् विद्यादाततायिनः॥
शुक्रनीति

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन्॥
अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः॥
उद्यतासिर्विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा।
आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि॥
भार्यारिक्थापहारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः।
एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥
मनु० ८।३५०-३५३

"अग्निसे जलानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्रसे मारनेवाला, भूमि, स्त्री और धन छीननेवाला, शाप देनेवाला, अथर्वमंत्रोंसे मारक प्रयोग करनेवाला, राजासे चुगली करनेवाला, स्त्रीका धन छीननेवाला, दूसरेका छिद्र ढूंढनेमें तत्पर, इत्यादि सभी आततायी समझने चाहियें। आततायी गुरु, बालक, वृद्ध, वा बहुश्रुत ब्राह्मण इनमेंसे कोई हो, जो आततायी होकर आवे, उसको विना विचारे ही मारना चाहिये। लोगोंको सामने वा एकान्तमें मारनेको तैयार हुए आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं होता, क्यों कि इसका क्रोध उसके क्रोध से हट जाता है।"

आततायीका वध तत्काल करना चाहिये, ऐसी स्मृति शास्त्रकी आज्ञा है। तथापि अर्जुन कह रहा है कि, आततायी का वध करनेसे हमें पाप लगेगा !! साम्राज्यगद्दीपर आरूढ हुए कौरव सबके सब आततायी हैं, इस विषयमें अर्जुनको कोई संदेह नहीं था। वह स्वयं उनको 'आततायी' कहता है। आततायीका वध शास्त्रसे दूषित नहीं है, यह बात भी वह जानता था। परंतु आततायी हुए तो भी ये अपने संबंधी हैं, अतः रक्तका संबंध होनेसे इनका वध हमको नहीं करना चाहिये; अपने संबंधी लोग कितनी भी दुष्टता करते रहे, उनको दण्ड देना नहीं चाहिये, ऐसा अर्जुनका मत इस समय बन गया था !!

यदि अपने संबंधी कौरव न होते और उस समय साम्राज्यशासक कोई दूसरे विदेशी लोग होते, तो अर्जुन इस प्रकार न बोलता। उदाहरणार्थ मानलें कि हस्तिनापुर में इस समय किसी विदेशी असुर जातीका राज्य होता, तो अर्जुन उनसे युद्ध करता, और उनका नाश करता और उनसे अपना स्वराज्य प्राप्त करता।

परंतु कौरव हुए अपने कुलके, देशके और रक्तके संबंधी इसलिये वह कहता है कि, 'निवातकवच जैसे विदेशी बादशहाओंका तो मैं वध करूंगा, परंतु अपने संबंधियोंका वध कैसा किया जासकता है ?' स्वदेशी और विदेशी राजाका अपराध समान ही क्यों न हो, अपने राजाका पक्षपात करना चाहिये, ऐसा इस समय अर्जुनका मत बन गया है। युद्ध तो परकीयोंसे ही करना चाहिये, स्वकीयोंसे युद्ध कैसा किया जाये !

वास्तवमें देखा जाय तो यदि विदेशी राजा प्रजाजनोंको सताने लगा, तो जैसा उसका प्रतिकार करना चाहिये; उसी प्रकार अपने देशका, अपनी जातिका, अपने कुलका अथवा अपना मित्र भी क्यों न हो, अथवा अपने रक्तका संबंध रखनेवाला भी राजा प्रजाजनोंको सताने लग जाय, तो उसका भी योग्य रीतिसे प्रतिकार करना चाहिये। पुत्रको विष देकर मारनेवाली माता भी आततायिनी होती है। इसी प्रकार अपने देशका स्वजातीय राजा भी क्रूर हुआ और प्रजाको सताने लगा, तो भी उसको वैसा ही दण्ड करना चाहिये, जैसा विदेशी राजाको दिया जाता है।

स्वजन होनेसे उनकी क्षमा करनेका जो विचार अर्जुन कर रहा है वही उसकी भ्रान्ति है, वही मोह, वही अविद्या और वही अज्ञान है।

मनुष्य क्रमशः उन्नत होता है और जैसा वह ऊपर चढता है वैसा हरएक सीढीपर उसका कर्तव्य भिन्न भिन्न होता है। ज्ञान, शौर्य तथा बल बढ जानेसे उसपर विशेष प्रकारसे उत्तर-दायित्व आता है, अतः अपने अन्दर गुणोंका विकास होनेपर उसको इस प्रकार पक्षपात करना कदापि उचित नहीं। मनुष्यकी क्रम उन्नति किस प्रकार होती है और उस कारण उनके कर्तव्य कैसे बढ जाते हैं, यह बात आगे बताये चित्रमें पाठक देख सकते हैं—
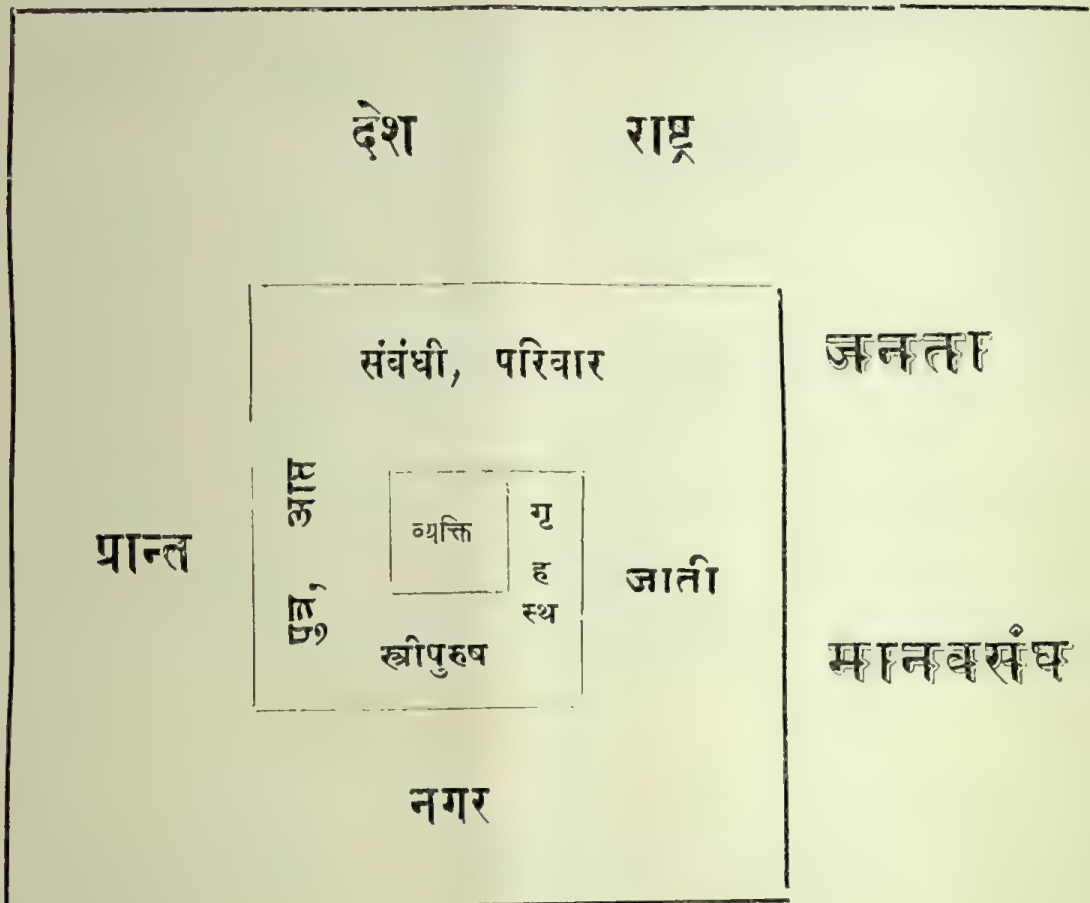
क्रम उन्नतिके साथ कार्यक्षेत्रका विस्तार बतानेवाला चित्र।

इस चित्रमें पाठक देख सकते हैं कि, व्यक्तिका सामर्थ्य बढनेके अनुसार उसके अधिकार और उसके कार्यक्षेत्रका विस्तार हो जाता है। यदि राष्ट्रीय कार्यक्षेत्रमें कार्य करनेका अधिकारी वीर लोभ या मोहके वशमें होकर अपने गृहस्थके या अपने परिवारके मोहमें फंस जाय और पारिवारिक सुखके लिये राष्ट्रकार्यमें विघ्न करे अथवा कुटुंबपोषणके मोहसे राष्ट्रकार्य न करे, तो वह पापी बनेगा और गिर जायगा। अर्जुनकी यही अवस्था हो चुकी थी। मनुष्य अकेला और बिल-

कुल स्वतंत्र नहीं है, सब जगत्के साथ उसका सुदृढ संबंध है, अतः उसको उचित है कि वह अपनी व्यक्तिका विचार समष्टिके विचारके साथ करे और समष्टिके कार्यके लिये व्यक्तिका समर्पण अवश्य करे।

पूर्व चित्रका विचार पाठक इस प्रकार करें। मनुष्य जिस क्रमसे उन्नत होगा उस क्रमसे उसपर समर्पण का भार अधिक आता है। जो व्यक्ति केवल शरीरधर्मसे जीवित रहती है वह पशुवत् है, कई पशुभी संघसे रहते हैं और संघके लिये मरते हैं। जन्मतः मनुष्य पशुसे उच्च होनेके हेतु उसको संघटित रहनाही चाहिये, अन्यथा उसकी अधोगति होगी। कुटुंब स्थितिमें मनुष्य अपने कुटुंबियोंके हितके लिये आत्मसमर्पण करता है। इससे उच्च होनेपर वह राष्ट्रकार्यके लिये आत्म-समर्पण करता है इससे भी उच्च होकर वह मनुष्य संपूर्ण जनसमाजके लिये आत्मसमर्पण करता है। अर्थात् उसका आत्मसमर्पणका पाठ कुटुंब

[ब्रह्माण्ड और व्यक्ति का संबंध बतानेवाला चित्र]

स्थितिमें प्रारंभ होता है। यही पाठ आगे विस्तृत करना होता है। जिसका कार्यक्षेत्र विस्तृत हुआ है यदि वह अपने कार्यक्षेत्रको संकुचित करने लगजाय तो वह पापी बनता है और गिर जाता है।

जिस मनुष्यने गृहस्थस्थितिका स्वीकार किया है वह यदि स्त्री पुत्रादिकोंके भरणपोषणका भार त्याग दे और उनकी पर्वाह न करे, तो वह पापी बनता है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों पर राष्ट्रके हितका भार है, अन्योंपर भी है, परंतु इनके पास ज्ञान, बल और धन अधिक होनेके कारण अन्योंकी अपेक्षा इनपर भार अधिक है। अर्जुन क्षत्रियवीर था, इसलिये धर्मकी व्यवस्था मर्यादाके अनुकूल रखनेका भार इसपर विशेष था। साम्राज्यवादी कौरव धर्ममर्यादाको तोड रहेथे और अपने स्वार्थके लिये धर्मका नाश करनेको तैयार थे। इस लिये उनको दण्ड देना अर्जुन जैसे वीरोंका आवश्यक कर्तव्य था। परंतु छोटेपरिवारके मोहमें फंस कर वह अपने विस्तृत कर्तव्यसे भ्रष्ट होने लगा है। यही इसका पाप है।

इस जगत्में कोई व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र नहीं है। सब एक दूसरेसे मिले हैं, संपूर्ण जगत्के स्थिर चर पदार्थ मिलकर संघटित होकर बना हुआ एक महापुरुष है। अर्थात् यह सब ब्रह्मांड मिलकर एकही विराट देह है और उसका एक अंश मैं हूं ऐसा मानकर मनुष्यको व्यवहार करना चाहिये।

यह व्यष्टिसमष्टिका संबंध बतानेवाला चित्र पूर्व पृष्ठपर देखिये—

इस चित्रको देखनेसे पाठकोंको पता लगजायगा कि कोई व्यक्ति बिलकुल स्वतंत्र नहीं है। विश्वका एक अंश व्यक्ति है। अतः व्यक्तिको उचित है कि वह अपनी शक्ति बढावे और उसका उपयोग संपूर्ण की भलाईके लिये करे।

विश्वका संकोच होकर व्यक्तिका रूप बना है, और व्यक्तिका परम विकास ही इसका जगत् रूप बनना है। इसविषयके उपनिषदोंके प्रमाण देखिये—

> नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां
> प्राणः प्राणाद्वायुः। अक्षिणी निरभिद्ये-
> तामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः ॥इ०॥
> ऐ० उ० १। ४

" नासिका उत्पन्न हुई, उससे प्राण बना और प्राणसे वायु हुआ। आंख बने, आंखोंसे चक्षु और चक्षुसे आदित्य बन गया।" इसी प्रकार अन्य शक्तियोंसे विश्वकी अन्य शक्तियां बनी। अर्थात् व्यक्तिकी शक्तियोंका परम विकास यह सब विश्व है। इसी प्रकार सब विश्वका बीज एक व्यक्ति है, देखिये—
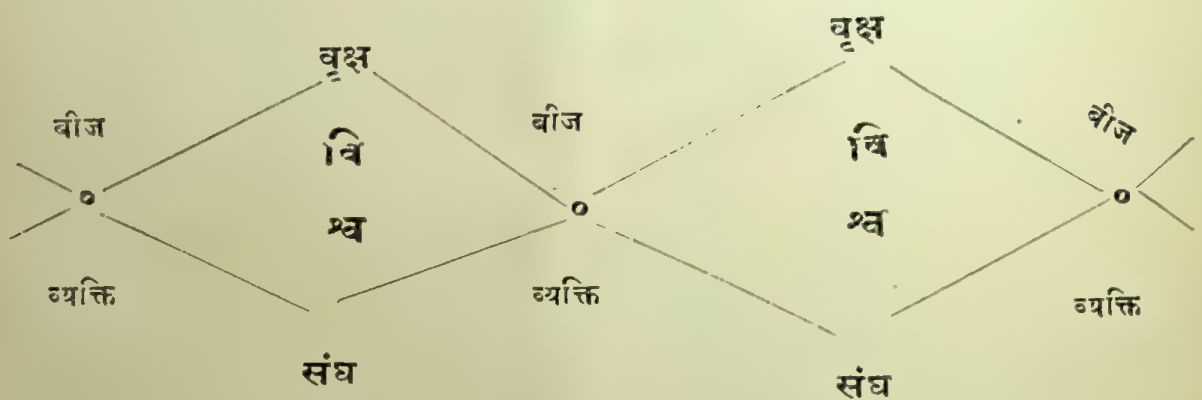
इस विषयमें प्रमाण देखिये—

वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदा—
दित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत् ।इ०।
ऐ० उ० २।४

"वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ, सूर्य चक्षु बनकर आंखमें प्रविष्ट हुआ।" इसी रीतिसे अन्य विश्वशक्तियोंसे वैयक्तिक सूक्ष्म शक्तियां बनीं। व्यक्ति एक सूक्ष्म बिंदु है और विश्वरूप उसके परमविकासकी अवस्था है;इसका चित्र पूर्व पृष्ठपर दिया है—

इसका ठीक विचार करनेसे पाठकोंको पता लग सकता है कि विश्वमें व्यक्ति और व्यक्तिमें विश्व है। एक दूसरेसे पृथक् नहीं है। विश्वका बडापन व्यक्तिमें सूक्ष्म बनकर रहा है और व्यक्तिका सूक्ष्मपन विश्वके बडेपनमें परिणत होता है। बीजका वृक्ष और वृक्षका बीज होनेके अथवा वीर्यबिंदुका पुरुष और उससे फिर वीर्यबिंदु होनेके समानहीं यह बात है। यही बात इस प्रकार कही है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
तथा— भ० गी० ६। २९

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतस्थमात्मानम्० ॥ ईश उ० ६ ॥

'जो सब भूतोंमें अपनेको और अपनेमें सब भूतोंको देखता है।' वही तत्त्वतः विश्वको जानता है। जब यह दृष्टि उत्पन्न होगी तब उसमें कुटुंबका मोह या परिवारका लोभ कहां रहेगा? वह तो समझेगा, कि व्यक्तिके दोषसे संपूर्ण समाज दूषित हो रहा है, इसलिये दोष करनेवालेको उस स्थानसे हटाना चाहिये और यदि दोष करनेवाला एक संघ होगा, तो उसको भी हटाना चाहिये। फिर वह दोष करनेवाली व्यक्ति या संघ अपने स्वजन हों या परकीय हों। स्वजन होनेपर भी हटाना चाहिये और परकीय होनेपरभी हटाना ही चाहिये। जिस प्रकार व्यक्तिके शरीरमें सदोष अवयवको काट कर दूर करना पडता है, न काटा जाय तो सब शरीर विपन्नय हो जाता है, ठीक इस प्रकार दोष करनेवाली व्यक्ति या संघ संपूर्ण मानवी जनताको बिगाड देनेके कारण दण्ड देकर दूर करने योग्य है। आततायी हैं परंतु वे अपने हैं इसलिये क्षमा करना सर्वथा अयोग्य है। क्यों कि ये स्वजन भी संपूर्ण ब्रह्माण्ड देहके भाग हैं और यदि यह अवयव सडने लगा, तो उससे सब विश्वकी शान्ति बिगड जायगी। अतः कहा है कि—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।

"कुलके हितके लिये एक व्यक्तिको, ग्रामके हितके लिये एक कुलको, राष्ट्रके हितके लिये एक ग्रामको त्यागना चाहिये।" इसी प्रकार राष्ट्रके हितके लिये साम्राज्यका कुशासन करनेवाले कौरवोंको हटाना चाहिये। क्योंकि इन साम्राज्यवादियोंकी कुनीतिसे संपूर्ण विश्वमें अशान्ति फैल रही है।

विश्वरूप।

जिस समय भगवद्गीताके उपदेशका प्रसंग था, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण 'विश्वरूप' थे और अर्जुन 'व्यक्तिरूप अथवा अपने परिवाररूप' था। परिवाररूप होनेसे अर्जुनके मनमें मोह हुआ जिस मोहका निराकरण विश्वरूप बने भगवान् श्रीकृष्णने किया। कई मनुष्य व्यक्तिरूप होते हैं, कई परिवाररूप, कई जातिरूप या राष्ट्ररूप, कई मानवसमाजरूप, कई प्राणिसमष्टिरूप और कई विश्वरूप होते हैं। इनके विचार, उच्चार और आचार विभिन्न होते हैं। जो व्यक्तिरूप हैं वे वैयक्तिक विचार करेंगे तो कोई दोष नहीं है; परंतु यदि राष्ट्ररूप बना हुआ मनुष्य पारिवारिक मोहमें फंस जांय, तो वह गिरता है। अर्जुन राष्ट्ररूप होनेकी अवस्थामें था, अतः पारिवारिक बननेसे उसको मोह हुआ, ऐसा कहा जाता है। यदि वह मानवसमाजरूप बननेका यत्न करता तो उसका मोह दूर हो जाता और वह ज्ञानी कहलाता।

जो मनुष्य 'परिवाररूप' होता है वह परिवार के मनुष्यके दुःखसे दुखी होता है, उसका दुःख दूर करनेके लिये यत्न करता है और उस कार्यके लिये स्वयं कष्ट भी भोगता है। इसी कारण यहां अर्जुन अपने पारिवारिक जनोंको बचानेके लिये स्वयं राज्य त्याग कर भिक्षावृत्ति स्वीकारनेको तैयार हुआ था। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण जैसा परमश्रेष्ठ आत्मा 'विश्वरूप' बननेके कारण विश्वकी स्थितिमें बिगाड करनेवालोंकी कभी उपेक्षा कर नहीं सकता, विश्वमें धर्मकी स्थिति सुरक्षित रखनेके लिये कटिबद्ध रहता है और उस कार्यको करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझता है। इसकी दृष्टी विश्वरूप होनेके कारण अर्थात् अति विस्तृत होनेके कारण कर्तव्य करनेके समय इसको शोक और मोह कष्ट नहीं देते और यह कभी कर्तव्यभ्रष्ट भी नहीं होता।

श्रीमद्भगवद्गीताका संवाद उन दो आत्माओंमें हुआ है कि जिनमेंसे एकका अन्तःकरण पारिवारिक ममतामें मोहित हुआ है और दूसरेका आत्मा विश्वरूप स्थितिमें है।

अर्जुन अपने परिवारको राष्ट्रीय परिवारसे और जगत्के महापरिवारसे अलग समझने लगा, और राष्ट्का और जगत्का कैसा भी अहित क्यों न हो जाय, मैं अपने परिवारको ही सुखी रखूंगा, मुझे सार्वभौमिक दृष्टिसे विचार करने की कोई जरूरत नहीं है, ऐसा बोलने लगा !! यही उसका बडा दोष इस समय होगया। ये 'स्वजन' हैं इसलिये ये 'आततायी' हैं, तथापि इनको सुरक्षित और सुखी रखना मेरा कर्तव्य है, यह अर्जुनका कथन स्पष्ट बताता है कि, उसकी दृष्टि अत्यंत संकुचित होगई थी। दृष्टिका संकोच होनेसे ही पाप होता है और उस समय यही पाप अर्जुनसे होने लगा था।

यहां अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको ' मधुसूदन, कहा है, इसका अर्थ 'मधु दैत्यको मारनेवाला' है। मधु दैत्य भगवान् श्रीकृष्णका स्वजन, संबंधी, स्वजातीय या स्वदेशीय भी नहीं था। यह विदेशी असुर था। यह कहकर अर्जुनने श्रीकृष्ण को बताया कि 'हे कृष्ण ! तुमने जो मधुदैत्यको मारा, वह कोई तुम्हारा स्वजन नहीं था। वैसा तो मैंने विदेशी शत्रु निवातकवचोंको भी मारा है। '

'कौरवोंका वध करनेकी बात इससे नहीं सिद्ध हो सकती, क्यों कि वे मेरे आप्त हैं। हे भगवन् ! यदि तुम कहोगे कि तुमने अपने मामा कंसको मारा है, वह भी उदाहरण मेरे योग्य नहीं है, क्यों कि एक तो भीष्मद्रोणके समान कंस का प्रेम तुमपर कभी नहीं था और दूसरी बात यह है कि तुम तो ' जनार्दन ' (जन+अर्दन) हो अर्थात् सभी जनोंको मारना तुम्हारा धर्म है, उसमें तुम किसीको रखना और किसीको मारना ऐसा विचार ही नहीं करते हैं। जो सभीको मारनेवाले हैं, उन्होंने अपने मामा को मार दिया, तो उसमें विशेष क्या किया ? इसलिये तुम्हारा उदाहरण मेरे लिये लेने योग्य नहीं है। तीसरी बात यह है कि तुम ' माधव ' (मा+धव) हो अर्थात् केवल लक्ष्मी अपने पास रखनेकी तुम्हारी इच्छा रहती है। जो लक्ष्मी-धनसंपत्ति-को अपने पास रखनेका इच्छुक होगा, वह मामाको या किसी संबंधीको मार देगा !! ऐश्वर्य या राज्यके लिये अपने पिताको भी लोग मार देते हैं। परंतु मैं वैसा नहीं हूं। मैंने तो इसी कारण त्रैलोक्यका भी राज्य मुझे नहीं चाहिये ऐसा तुम्हें स्पष्ट कहा है, क्यों कि यह लक्ष्मीका मोहही मनुष्यसे स्वजनवध जैसे घोर कर्म कराता है। अतः मैं कहता हूं कि मुझे राज्य, भोग या सुख भी नहीं चाहिये, और अपने सुखके लिये मैं इन आततायी कौरवोंको भी कभी नहीं मारूंगा।'

इस प्रकार अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको भी कुछ अंशमें चुभनेवाला भाषण किया और फिर कहने लगा—

(१०) कुलक्षय और मित्रद्रोह।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

अन्वय- यद्यपि एते लोभोपहतचेतसः कुलक्षयकृतं दोषं, मित्रद्रोहे च पातकं, न पश्यन्ति ॥ ३८ ॥ हे जनार्दन ! कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः अस्माभिः अस्मात् पापात् निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम् ॥ ३९ ॥

यद्यपि ये कौरव, लोभसे भ्रष्टचित्तहोनेके कारण, कुलके क्षय करनेसे होनेवाला दोष, और मित्रद्रोहका पातक, नहीं देखते हैं ॥३८॥ तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षयका दोष हमें देख पडता है, इस लिये हम इस पापसे निवृत्त होनेका विचार क्यों न सोचें ॥ ३९ ॥

भावार्थ- प्रतिपक्षीने यदि धर्म और अधर्मका विचार छोड दिया है, तो वह उसका दोष है; हमें वैसा दोष नहीं करना चाहिये और धर्ममर्यादाका विचार अवश्यही करना चाहिये।

(३८-३९) अर्जुन कहता है कि " यद्यपि ये कौरव लोभके कारण कुलक्षयसे उत्पन्न होनेवाला दोष और मित्रद्रोहका पातक नहीं देखते हैं, तथापि उससे यह नहीं सिद्ध होता कि, हम पातकको न देखें और देखकर भी उससे निवृत्त होनेका उपाय न करें। " लोभी मनुष्य किसी भी बुरे कर्ममें दोष या पातक नहीं समझता, समयपर जितना चाहे बुरा कर्म करनेमें प्रवृत्त होता है, अधिकार प्राप्त होनेपर अपने किये बुरे कर्मकोभी अच्छेसे अच्छा बतलानेकी चेष्टा करता है। यह तो साम्राज्यवादी अपने साम्राज्यकी रक्षाके लिये करते ही हैं। परंतु जो मनुष्य अपना गया हुआ स्वराज्य पुनः प्राप्त करनेके इच्छुक हैं, उनको वैसा अन्याय करना उचित नहीं। उनकी दृष्टि तो आत्मशुद्धिकी ओर होनी चाहिये। अपने आचरणमें कौनसा दोष कैसा होता है इसकी परीक्षा उनको सदा करना उचित है। और जहां दोष और पापकी संभावना हो वहांसे उनको वह दोष दूर करनेका यत्न करना उचित है। कुलक्षय, मित्रद्रोह, पितृद्रोह, बंधुवध, गुरुहत्या, संतानोंका उच्छेद, सभ्यताका लोप ये सब पाप भयानक हैं। छोटीसी पृथ्वीके एक भागके राज्यवैभवके लिये क्या हम ये पाप करें ? यदि स्वराज्य प्राप्तिके इच्छुक लोक स्वयं ये पातक करने लग जांय, तो फिर उनको अधिकारही क्या है कि, वे साम्राज्यशासकोंकी इन्हीं दोषों और पातकोंके लिये निन्दा करें ? दोनोंके पातक समानही होगये फिर एक पापियोंको हटाना और दूसरे पापियोंको उनके स्थानपर रखनेकी क्या आवश्यकता है ? कौरवोंने कुछ पातक तो किये हैं, परंतु इस युद्धके करनेसे हमसे जितने पातक होंगे उतने तो उन्होंने निःसन्देह नहीं किये हैं। कुलक्षय, गुरुहत्या, मित्रद्रोह, बंधुवध, संतानोंका उच्छेद और इनके नाशसे होनेवाला सभ्यताका नाश हमसे होगा, यदि हम युद्ध करेंगे। इनमेंसे कौरवोंने क्या किया है, कौरवोंने ऐसा एक भी दोष नहीं किया है।

कौरवोंने हमारे (पाण्डवोंके) साथ अन्याय किया, एक स्त्रीकी अप्रतिष्ठा की, कुछ और ऐसे थोडेसे पातक भी किये; परंतु क्या हमसे होनेवाले इन पातकोंकी तुलना उनसे हो सकती है? यदि उनके थोडेसे पातकोंके कारण हमारे स्वजनोंको राज्य-गद्दीसे हटाना है, तो उनसे अधिक पातक करनेके कारण हमारा राज्यपर हक कैसा सिद्ध हो सकता है?

दोनोंका दोष।

"हे कृष्ण! तुम कहोगे कि युद्धमें दोनों ओरके वीर एक दूसरेको मारेंगे, अतः पितृहत्या, गुरु-हत्या, मित्रद्रोह आदि दोष दोनों ओर समान होंगे, इसमें कोई कौरवोंका दोष कम और पांडवोंका अधिक यह वात नहीं है। यह कथन ठीक है। दोष तो दोनों ओर समान होंगे ही। परंतु यहां प्रश्न होता है कि यदि ये इस युद्धमें दोष नहीं देखते हैं, तो यह उनका वर्ताव सिद्ध करता है कि लोभके कारण उनकी बुद्धि मारी गई है। हमारी बुद्धि तो वैसी मारी नहीं गई है और यदि हम इसमें दोष स्पष्ट देखते हैं, तो हम ऐसे भयानक दोषमय कर्मसे पीछे क्यों न हटें? किसीने लोभ या मोहसे बछडा मार दिया, तो दूसरेको जरूरही गायका वध करना चाहिये, ऐसी तो वात नहीं है। इसीलिये मैंने कहा कि, पृथ्वीके राज्यके लिये क्या, परंतु त्रिभुवनके राज्यके लिये भी मैं गुरुद्रोहादिक घोर पातक नहीं करूंगा।"

कांटेसे कांटा निकालना।

अर्जुनका यह कथन है। युक्तिवाद बडा योग्य है, परंतु एक कांटा शरीरमें चुभ गया है, वह बाहर नहीं निकल आता, इसलिये दूसरा कांटा फिर शरीर में घुसा करही पहिलेको निकालना पडता है। उस समय यह युक्तिवाद करना कि, भला एक कांटा तो पहिले ही शरीरमें घुसगया है, फिर और दूसरा शरीरमें क्यों डालदेते हैं, ठीक नहीं है। क्यों कि दूसरा कांटा शरीर में डालनेके विना पहिला निकलेगाही नहीं, अतः दूसरा कांटा उपकारक और पहिला अपकारक समझा जाता है। इसी न्यायसे स्वराज्य प्राप्त करनेवालों के द्वारा चलाया युद्ध साम्राज्यशासकोंके दोषको दूर करनेके लिये अयंत आवश्यक और अपरिहार्य होनेके कारण निर्दोष है और उसी युद्धमें साम्राज्यशाही की ओरसे जो किया जाता है वह सदोष होता है। इसके अतिरिक्त सर्व साधारण नियम यह है कि जो लोग शासनाधिकार में रहते हैं, उनके हाथमें अधिकार हानेके कारण वे ही अधिक दोष करते हैं, वैसा दोष उनसे कदापि नहीं हो सकता कि जिनके हाथमें अधिकार नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यदि माना जाय कि, इस स्वराज्यप्राप्तिके युद्धमें बंधुवधविषयक दोष और पातक दोनों ओर समान ही हैं, तो उसमें साम्राज्यवादी कौरवोंके पूर्वकालके सब पातक यदि मिलाये जांयगे, तो वे स्वराज्य प्राप्त करनेवाले पाण्डवोंके पापोंसे निःसंदेह अधिक हो जांयगे। अतः पाण्डव तुलनासेभी अधिक निर्दोषी सिद्ध होते हैं। इसलिये अर्जुनका यह युक्तिवाद अज्ञान से पूर्ण ही है।

और भी एक बात है वह यह कि पाण्डवोंने शान्तिकी इच्छासे केवल पांच ही ग्राम मांगे थे। इतनी अल्पसंतुष्टता दिखाई केवल युद्ध टालनेके लिये। पाण्डव आधे राज्यके स्वामी होकर केवल पांच ग्रामोंपर ही संतुष्ट होते हैं, और केवल शान्तिके लिये इतना स्वार्थत्याग करते हैं, इसका विचार करनेसे, इस युद्धका कोई दोष पाण्डवोंपर नहीं आता है। जो कुलक्षय का अथवा बन्धुवधका दोष है, वह केवल कौरवोंपर ही जाता है। "जो अधिकारसे उन्मत्त होते हैं और न्याय्य वातें भी नहीं सुनते, उनपर सब दोष जाता है।" इस नियमानुसार युद्ध करके इतने वीरोंका वध करनेपर भी पाण्डव दोषी नहीं और कौरव ही इस वधके दोषी हैं। अतः अर्जुन का युक्तिवाद भ्रममूलक ही है।

अब आगे अर्जुन क्या कहता है देखिये-

११ कुलक्षयका परिणाम ।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

अन्वय— कुलक्षये सनातनाः कुलधर्माः प्रणश्यन्ति, उत धर्मे नष्टे अधर्मः कृत्स्नं कुलं अभिभवति ॥ ४० ॥ हे कृष्ण ! अधर्माभिभवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति । हे वार्ष्णेय ! स्त्रीषु दुष्टासु वर्णसंकरः जायते ॥ ४१ ॥ संकरः कुलघ्नानां कुलस्य च नरकाय एव (भवति); हि एषां पितरः लुप्तपिण्डोदकक्रियाः (सन्तः) पतन्ति ॥ ४२ ॥ कुलघ्नानां एतैः वर्णसंकरकारकैः दोषैः शाश्वताः जातिधर्माः कुलधर्माः च उत्साद्यन्ते ॥ ४३ ॥

कुलका क्षय होनेसे सनातन अर्थात परंपरासे चलनेवाले कुलधर्म नष्ट होते हैं, और कुलधर्म नष्ट होनेसे अधर्मका प्रभाव सब कुलपर होजाता है ॥ ४० ॥ हे कृष्ण ! अधर्मसे सब कुल व्याप्त हुआ, तो कुलस्त्रियां दुराचारमें प्रवृत्त होती हैं । हे वृष्णिकुलोत्पन्न कृष्ण ! स्त्रियां दोषयुक्त होनेसे वर्णसंकर होता है ॥ ४१ ॥ वर्णसंकर होते ही कुलघातकी पुरुष और उनका सब कुल नरकवासको प्राप्त होता है; और इनके पितर पिण्डप्रदान और जलतर्पण आदि क्रिया लुप्त होनेसे पतित होते हैं ॥ ४२ ॥ कुलका घात करनेवालोंके इन वर्णसंकर करनेवाले दोषोंसे पुरातन जातिधर्म और कुलधर्म लुप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

(४०—४५) युद्ध करनेके लिये प्रायः दोनों ओरकी सेनाओंमें तरुण लोक ही संमिलित होते हैं । 'आषोडशात्सप्ततिवर्षपर्यन्तं यौवनम् । (वात्स्यायनः)' सोलह वर्षसे सत्तर वर्षतक युवावस्था होती है और इसी अवस्थाके पुरुष युद्ध करनेके लिये रणभूमिपर उपस्थित होते हैं । भीष्म द्रोण जैसे अतिवृद्ध पुरुष भी क्वचित् युद्ध करते हैं, परंतु वह नियम नहीं है । अर्थात् युद्धसे जो मारे जाते हैं वे राष्ट्रके सत्व रूप तरुणही होते हैं । इसी कौरवपाण्डवोंके भारतीय युद्धमें दोनों ओरकी मिलकर १८ अक्षौहिणी सेना उपस्थित थी । अक्षौहिणीका प्रमाण यह है—

० ७ ८ १ २

अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैकद्विकैर्गजैः ।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः ॥

अर्थात् गज २१८७०; रथ २१८७०; अश्व ६५६१०; मनुष्य १०९३५० सब मिलकर २१८७०० अक्षौहिणीकी संख्या होती है। इसमें प्रत्येक हाथीके साथ रहनेवाले दस बारह मनुष्य, प्रत्येक रथके साथ रहनेवाले वीस पचीस मनुष्य, घोडेके साथ

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अन्वय– हे जनार्दन ! उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां नरके नियतं वासः भवति, इति अनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥ अहो ! बत, महत्पापं कर्तुं वयं व्यवसिताः, यत् राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुं उद्यताः ॥ ४५ ॥

हे जनार्दन ! जिनके कुलधर्म नष्ट होते हैं, उन मनुष्योंका नरकमें निश्चयसे वास्तव्य होता है, ऐसा हम सुनते हैं ॥ ४४ ॥ ओ हो ! कितना बडा भारी पाप करनेके लिये हम सिद्ध हुए हैं, जो राज्यसुखकी लालसासे हम अपने भाइयोंको ही मारनेके लिये उद्यत हुए हैं ! ॥ ४५ ॥

भावार्थ—कुलके बडे पुरुषोंका वध होनेसे स्त्रियां दुराचार करती हैं, और दुराचारसे कुलका संपूर्ण सत्व नष्ट होता है, अतः कुलका घात करना बडा अनर्थ कारक है ॥

रहनेवाले दोतीन मनुष्य भी मिलाना उचित है। इनकी गिनती करनेसे अक्षौहिणीमें मनुष्य संख्या आठ दस लाख हो जाती है। महा अक्षौहिणीका प्रमाण १३२१२४९०० गिना है—

० ० २ ४ २ १ २ ३ १
खद्वयं निधिवेदाक्षिचन्द्राक्ष्यग्निहिमांशुभिः ।
महाक्षौहिणी प्रोक्ता संख्यागणितकोविदैः॥

महाभारतीय युद्धमें १८ अक्षौहिणी सैना थी। न्यूनसे न्यून भी गिनती की जाय तो कमसे कम ४० लाख छोटे और मोटे वीर इस युद्धमें संमिलित थे यह बात निश्चित है। ये ४० लाख वीर उस समयकी भारतीय जातीके परिपक्व फल थे, भारतीय जातीकी सब आशा इनमें इकट्ठी हुई थी। ये भारतीय सभ्यताकी जीवित मूर्त्तियां थे। भारतीय युद्धमें इनमेंसे गिनतीके दसपांच आदमी ही बचे। शेष सब काटे गये। इनके कट जानेसे भारतीय सभ्यता प्रायः नष्टसी होगई। इस युद्धके पश्चात् राष्ट्रमें कुछ बूढे, कुछ बालक और कुछ स्त्रियां बची थीं और कुछ पुरुषार्थहीन पुरुष रहे होंगे। युद्धमें जखमी होकर कुछ पुरुष बचते हैं तो, वे हाथपांव कटजानेके कारण राष्ट्रमें निकम्मे होकर रहते हैं।

इस प्रकार महायुद्ध होनेसे राष्ट्रीय सभ्यता, जातीय परंपरा, और कुलपरंपरा टूट जाती है। और राष्ट्रकी दृष्टीसे क्या और जातीय दृष्टीसे क्या अनेक प्रकारकी हानियाँ होती हैं। इसी हानिका वर्णन अर्जुन कर रहा है। अर्जुन कहता है कि यदि हमने यह युद्ध किया, तो इस समयतक चली आई सब सभ्यता नष्ट हो जायगी। हमारी आर्य जातीने सहस्रों वर्षोंके प्रयत्नसे बनायी वैदिक संस्कृती लुप्त हो जायगी। युद्धके पश्चात् बचे हुए कुछ बूढे थोडी देरमें मर जांयगे और प्राचीन सभ्यताकी परंपराको बतानेवाला कोई मनुष्य इस जातीमें नहीं रहेगा।

जो बालक बचेंगे वे सभ्यतासे अनभिज्ञ होनेके कारण वे सर्वथा सभ्यताकी रक्षा करनेमें असमर्थ होंगे, और जब वे युवा बनेंगे तब उनकी स्थिति संस्कारहीनसी होगी। क्या उस समय वे आर्यसन्तान कहने योग्य रहेंगे? कभी नहीं।

जो स्त्रियां बचेंगी, उनमें कुछ गर्भिणी होंगी, उनके बच्चोंपरभी आनुवंशिक शुद्ध आर्यत्वके संस्कार कौन डालेगा? अतः वेभी संस्कारहीन

अञ्जन।

[३० (३१)]

(ऋषिः-भृग्वंगिराः । देवता- द्यावापृथिवी, मित्रः, ब्रह्मणस्पतिः, सविता च)

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम् ।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत् ॥ १ ॥

अर्थ- (द्यावापृथिवी मे सु-आक्तं) द्युलोक और पृथ्वी लोक मेरी आंखोंको उत्तम अञ्जन करें। (अयं मित्रः स्वाक्तं अकः) यह मित्र मुझे अञ्जन करता है। (ब्रह्मणस्पतिः मे स्वाक्तं) ज्ञानपति देवने मुझे उत्तम अञ्जन किया है। (सविता स्वाक्तं करत्) सविताने भी मेरी आंखोंके लिये उत्तम अञ्जन किया है ॥ १ ॥

आंखमें अञ्जन डालकर आंखोंका आरोग्य बढानेकी सूचना इस मंत्रद्वारा मिलती है। द्युलोकसे पृथ्वीतक जो जो सृष्टयन्तर्गत सूर्यादि पदार्थ हैं, उनका जो तेजस्वी रूप है, वैसे मेरे आंख बनें। यह इच्छा इस सूक्तमें स्पष्ट है। यह मंत्र ज्ञानाञ्जनका भी सूचक माना जा सकता है। जिससे दृष्टि शुद्ध होती है वह अञ्जन होता है, फिर वह साधारण अञ्जन हो, अथवा ज्ञानाञ्जन हो।

अपनी रक्षा।

[३१ (३२)]

(ऋषिः- भृग्वंगिराः । देवता- इन्द्रः)

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवन् छूर जिन्व ।
यो नो द्वेष्टयधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु ॥ १ ॥

अर्थ-हे इन्द्र ! (यावत्-श्रेष्ठाभिः बहुलाभिः ऊतिभिः) अतिश्रेष्ठ विविध

प्रकारकी रक्षाओंसे (अद्य नः जिन्व) आज हमें जीवित रख। हे (मघवन् शूर) हे धनवान् शूरवीर। (यः नः द्वेष्टि) जो हमारा द्वेष करता है (सः अधरः पदीष्ट) वह नीचे गिर जावे। (यं उ द्विष्मः) जिसका हम द्वेष करते हैं (तं उ प्राणः जहातु) उसको प्राण छोड देवे ॥ १॥

भावार्थ—हे धनवान् और शूर प्रभो! तुम्हारी जो अनेक प्रकारकी अतिश्रेष्ठ रक्षाएं हैं, वे सब हमें प्राप्त हों और उनसे हमारी रक्षा होवे और हमारा जीवन उनकी सहायतासे सुखकर होवे। जो दुष्ट हमारी विनाकारण निन्दा करता है, वह गिर जावे और जिस दुष्टका हम सब द्वेष करते हैं उसका जीवन ही समाप्त हो जावे ॥ १॥

हम परमेश्वरकी भक्ति करें और उसकी रक्षा प्राप्त करके सुरक्षित और स्वस्थ होकर आनन्दका उपभोग करें। परंतु जो दुष्ट मनुष्य हम सबका द्वेषका करता है और उस कारण जिस दुष्टका हम सब द्वेष करते हैं, उसका नाश हो। दुष्टता और द्वेषका समूल नाश हो॥

दीर्घायुकी प्रार्थना।

[३२ (३३)]

(ऋषिः-ब्रह्मा। देवता-आयुः)

उप॑ प्रि॒यं पनि॑प्नतं॒ युवा॑नमाहुती॒वृध॑म्।
अग॑न्म॒ बिभ्र॑तो॒ नमो॑ दी॒र्घमायुः॑ कृणोतु मे ॥ १ ॥

अर्थ—(प्रियं पनिप्नतं) प्रिय, स्तुतिके योग्य, (युवानं आहुतीवृधं) तरुण और आहुतियोंसे बढनेवाले अग्निके समीप (नमः बिभ्रतः उप अगन्म) अन्न धारण करते हुए हम प्राप्त होते हैं। वह (मे दीर्घं आयुः कृणोतु) मेरी दीर्घ आयु करे ॥ १॥

प्रतिदिन घर घरमें प्रज्वलित अग्निमें हवन करनेसे और उस में योग्य विहित हवनीय पदार्थोंका हवन करनेसे घरवालोंकी आयु वृद्धिंगत होती है।

प्रजा, धन और दीर्घ आयु।

[३३ (३४)]

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-मन्त्रोक्ता)

सं मां सिञ्चन्तु मुरुतः सं पूषा सं बृहुस्पतिः ।
सं मायमुग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १॥

अर्थ- (मरुतः मा सं सिञ्चन्तु) मरुत् मेरे ऊपर प्रजा और धनका सिंचन करें। (पूषा बृहस्पतिः सं सं) पूषा और ब्रह्मणस्पति मेरे ऊपर उसीका उत्तम रीतिसे सिंचन करें। (अयं अग्निः प्रजया च धनेन च मा सं सिञ्चतु) यह अग्नि मेरे ऊपर प्रजा और धनका उत्तम सिंचन करे। और (मे दीर्घं आयुः कृणोतु) मेरी दीर्घ आयु करे ॥ १ ॥

देवताओंकी सहायतासे मुझे उत्तम संतान, विपुल धन और दीर्घ आयु प्राप्त होवे। जिस प्रकार मेघसे पानी बरसता है उस प्रकार मेरे ऊपर इनकी वृष्टि होवे। अर्थात् पर्याप्त प्रमाणमें ये मुझे प्राप्त हों। 'मरुत्' वायु किंवा प्राण है। शुद्ध वायुसे प्राण बल-वान् होकर नीरोगता और दीर्घायु प्राप्त हो सकती है। 'ब्रह्मणस्पति' की सहायतासे ज्ञान और 'पूषा' की सहायतासे पुष्टी प्राप्त होगी। इसी प्रकार अग्नि शुद्धता करता है इस लिये इससे पवित्रता प्राप्त होगी और इन सबसे प्रजा, धन और दीर्घ आयुकी वृद्धि होगी।

निष्पाप होनेकी प्रार्थना।

[३४ (३५)]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-जातवेदाः)

अग्ने जातान् प्र णुदा मे सुपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
अधुस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवोनागसुस्ते वयमदितये स्याम ॥ १ ॥

अर्थ-हे अग्ने ! (मे जातान् सपत्नान् प्रणुद) मेरे उत्पन्न हुए शत्रुओं को दूर कर। हे (जातवेदः) ज्ञानके उत्पादक देव। (अजातान् प्रति नुदस्व) प्रसिद्ध रीतिसे शत्रु न बने हुए परंतु अंदर अंदर से शत्रुता करनेवाले शत्रुओंको एकदम हटा दो। (ये पृतन्यवः अधस्पदं कृणुष्व) जो सेना लेकर हमपर चढाई करते हैं उनको नीचे गिरा दे। (वयं अनागसः) हम सब निष्पाप हों और (अदितये स्याम) अदीनताके लिये योग्य हों ॥ १ ॥

ज्ञानी, ज्ञानदाता प्रकाशमय देव हमारे सब शत्रुओंको हमसे दूर करे। शत्रु खुली रीतिसे शत्रुता करनेवाले हों अथवा गुप्त रीतिसे घात करनेवाले हों, सबके सब शत्रु दूर हों। जो सैन्य लेकर हमारे ऊपर चढाई करते हैं, वे भी सब अपने स्थानसे गिर जावें। हम निष्पाप बनें और दीनता हमसे दूर हो जाय। अदीनता, भव्यता तथा स्वतंत्रता हमारे पास रहे।

स्त्रीचिकित्सा।

[३५ (३६)]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता-जातवेदाः)

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्वं एनमनु मदन्तु देवाः ॥ १ ॥
इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥ २ ॥
परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः।
अस्वं१ त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि ॥ ३ ॥

अर्थ—(अन्यान् सपत्नान् सहसा प्रसहस्व) दूसरे सपत्नोंको बलसे दबा दे। हे (जातवेदः) ज्ञानप्रकाशक ! (अजातान् प्रति नुदस्व) न बने परन्तु आगे होनेवाले सपत्नोंको दूर कर। (इदं राष्ट्रं सौभगाय

पिपृहि) इस राष्ट्रको उत्तम समृद्धिके लिये परिपूर्ण करो। (विश्वे देवाः एनं अनुमदन्तु) सब देव इसको अनुमोदन दें॥ १ ॥

(याः ते इमाः शतं हिराः) जो ये सौ नाडियां हैं, (उत सहस्रं धमनीः) और हजारों धमनियां हैं, (ते तासां सर्वासां बिलं) तेरी उन सब धमनियों का छिद्र (अहं अश्मना अपि अधां) मैं पत्थरसे बन्द करता हूं ॥ २ ॥

(ते योनेः परं) तेरे गर्भस्थानसे परे जो हैं उनको (अवरं कृणोमि) मैं समीप करता हूं। जिससे (प्रजा उत सूनुः) संतान अथवा पुत्र (त्वा मा अभिभूत्) तुझे तिरस्कृत न करे। (त्वा असवं प्रजसं कृणोमि) तुझे असुवाला अर्थात् प्राणवाला संतान करता हूं। और (अश्मानं ते अपिधानं कृणोमि) पत्थर तेरा आवरण करता हूं ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें स्त्रीचिकित्साका विषय कहा है। विशेषकर योनिचिकित्साका महत्वपूर्ण विषय है। सूक्त अस्पष्ट है और समझने के लिये बहुत कठीण है। अतः इसका योग्य स्पष्टीकरण हम कर नहीं सकते। योनिस्थानकी सैंकडों नाडियोंका छिद्र बंद करनेका विधान द्वितीय मंत्रमें है। अर्थात स्त्रियोंके रक्तस्रावके अथवा प्रमेह आदिके रोगको दूर करनेका तात्पर्य यहां प्रतीत होता है। रक्तस्राव को दूर करनेका साधन (अश्मा) पत्थर कहा है, यह किस जातीका पत्थर है इसकी खोज वैद्योंको करना चाहिये। यह कोई ऐसा पत्थर होगा कि जिसके घावपर लगानेसे, वहांसे होनेवाला रक्तप्रवाह बंद होगा और रोगीको आरोग्य प्राप्त होगा। तृतीयमंत्रमें भी इसी पत्थरका उल्लेख है। घावपर इस पत्थरको ढकन जैसा रखना है। यह विधान इसलिये होगा कि यदि किसी घावका रक्तप्रवाह एकवार लगानेसे बंद न होता होगा; तो उसपर वह औषधिका पत्थर बहुत समय तक बांध देना उचित होगा।

फिटकडीका पत्थर छोटे घावपर लगानेसे वहांका रक्तप्रवाह बंद होनेका अनुभव है। इसी प्रकारका यह कोई पत्थर होगा जो स्त्रियोंके योनिस्थान के रक्तप्रवाहको रोकनेवाला यहां कहा है।

तृतीय मंत्रमें सन्तान न होनेवाली स्त्रीके योनिस्थान और गर्भाशयकी नाडीयों और धमनियोंका स्थान बदल देनेका उल्लेख है। इस प्रकार स्थान बदल देनेसे उस स्त्रीको सन्तान होते हैं। स्त्री और पुरुष सन्तान भी होते हैं। इस प्रकार धमनियोंका स्थान बदलने पर संतति उस माताका तिरस्कार नहीं करती (प्रजा मा अभि भुत्) ऐसा मंत्रका वाक्य है। प्रजा अथवा संतान द्वारा स्त्रीका तिरस्कार होनेका स्पष्ट अर्थ

यह है कि उस स्त्रीको संतान न होना। जो जिसका तिरस्कार करता है, वह उसके पास नहीं जाता। यहां सन्तान स्त्रीका तिरस्कार करता है, ऐसा कहनेसे उस स्त्रीको सन्तान नहीं होता यह बात सिद्ध है। ऐसी वंध्या स्त्रीको (अस्-वं प्रजसं कृणोमि) प्राणवाली प्रजा करता हूं। पूर्वोक्त प्रकार स्त्रीकी धमनियोंका प्रवाह बदलनेसे वंध्या स्त्रीको भी प्राणवाली प्रजा होती है। ' अस्त्र ' शब्द ' अस्-वन्, ' असु-वान् ' प्राणवाला इस अर्थमें यहां है। यहां ' अश्वं ' ऐसा भी पाठ है। यह पाठ माननेपर ' बलवान् ' ऐसा अर्थ होगा।

वंध्या दो प्रकारकी होती है, एक को संतान होती नहीं और दूसरीको सन्तान होती है परंतु मरजाती है। इन दोनों प्रकारकी वंध्याओंका योनिस्थानकी नाडीयोंका रुख बदल देनेसे सन्तानोत्पत्ति करनेमें समर्थ होनेका संभव यहां कहा है। शस्त्रवैद्य इसका विचार करें। यह शस्त्र प्रयोग करनेवाले कुशल डाक्तरोंका विषय है, इस लिये इस सूक्तपर विचार करना उनका कार्य है।

पतिपत्नीका परस्पर प्रेम।

[३६ (३७)]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- अक्षि)

अक्ष्यौ॑ नौ॒ मधु॑संकाशे॒ अनी॑कं नौ॒ स॒मञ्ज॑नम्।
अ॒न्तः कृ॑णुष्व॒ मां हृ॒दि मन॒ इन्नौ॑ स॒हास॑ति ॥ १ ॥

अर्थ- (नौ अक्ष्यौ मधुसंकाशे) हम दोनोंकी आंखे मधुके समान मीठी हों। (नौ अनीकं समञ्जनं) हम दोनोंके आंखके अग्रभाग उत्तम अञ्जनसे युक्त हों। (हृदि मां अन्तः कृणुष्व) अपने हृदयमें मुझे अन्दर रख। (नौ मनः इत् सह असति) हम दोनोंका मन सदा परस्पर साथ मिला रहे ॥१॥

पतिपत्नीकी आंखें परस्परका अवलोकन प्रेमकी मीठी दृष्टिसे करें। एकको देखनेसे दूसरेको आनन्दका अनुभव हो। कभी पतिपत्नीमें ऐसा भाव न हो कि जिसके कारण एकको देखनेसे दूसरेके मनमें क्रोध और द्वेषका भाव जाग उठे। दोनोंके आंख, उत्तम अञ्जनसे शुद्ध, पवित्र और निर्दोष हुए हों। दृष्टि शुद्ध हो। किसीकी भी दृष्टिमें अपवित्रता न हो। आंखकी पवित्रता साधारण अञ्जन करता है, उसी प्रकार ज्ञानसे भी दृष्टि की पवित्रता होती है।

पति अपने हृदयमें पत्नीको अच्छा स्थान दे, वहां धर्मपत्निके सिवाय किसी दूसरी स्त्रीको स्थान न मिले। इसी प्रकार पत्नी भी अपने हृदयमें पतिको स्थान दे और कभी धर्मपतीके विना दूसरे किसी पुरुषको वहां स्थान प्राप्त न हो। (हृदि मां अन्तः कृणुष्व) पतिपत्नी एक दूसरेको हि अपने हृदयमें स्थान दें।

(मनः सह असति) पतिपत्नीका मन एक दूसरेके साथ मिला हो, कभी विभक्त न हो। इनमेंसे कोई एक व्यक्ति दूसरेके साथ न झगडे और अपना मन किसी दूसरी व्यक्तिके साथ न मिलाये।

इस प्रकार पतिपत्नी रहे और गृहाश्रमका व्यवहार करें। इस मंत्रमें पतिपत्नीके गृहस्थाश्रमका सर्वोत्तम आदर्श बताया है। पाठक इस सूक्तके उपदेशको अपने आचरणमें डाल देनेका यत्न करें और गृहस्थाश्रमका पूर्ण आनन्द प्राप्त करें।

पत्नी पतिके लिये वस्त्र बनावे ।

[३७ (३८)]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-लिंगोक्ता)

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा ।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ १ ॥

अर्थ— (मम मनुजातेन वाससा) मेरे विचारके साथ बनाये वस्त्रसे (त्वा अभि दधामि) तुझे मैं बांध देती हूं। (यथा केवलः मम असः) जिससे तू एक मात्र केवल मेरा पति होकर रह और (अन्यासां न चन कीर्तयाः) अन्य स्त्रियोंका नाम तक लेनेवाला न हो ॥ १ ॥

स्त्री अपने हाथसे सूत कांते, चर्खा चलावे, सूत निर्माण करे और अपनी कुशलतापूर्वक निर्माण किये हुए कपडेसे पतिके पहिरनेके वस्त्र निर्माण करे। पत्नीके निर्माण किये सूतसे बने हुए वस्त्र पति पहने। सूत निर्माण करनेके समय पत्नी अपने आन्तरिक प्रेमके साथ सूत कांते और पति भी ऐसा कपडा पहनना अपना वैभव माने। इस प्रकार परस्पर प्रेमका व्यवहार करनेसे धर्मपतिभी दूसरी स्त्री का नाम नहीं लेगा, और धर्मपत्नी भी दूसरे पुरुष का नाम नहीं लेगी। इस प्रकार दोनों गृहस्थाश्रमका आनन्द प्राप्त करते हुए सुखी हों।

यह सूक्त भी गृहस्थी लोगोंको ध्यानमें धारण करने योग्य उपदेश देरहा है।

पतिपत्नीका एकमत ।

[३८ (३९)]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-वनस्पतिः)

इदं खनामि भेषजं मांपश्यमभिरोरुदम् ।
परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥ १ ॥
येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि ।
तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेसानि सुप्रिया ॥ २ ॥

अर्थ—मैं (इदं औषधं खनामि) इस औषधि वनस्पतिको खोदती हूं। यह औषध (मां—पश्यं) मेरी ओर दृष्टि खींचानेवाला और (अभि—रोरुदं) सब प्रकारसे दुर्वर्तनसे रोकनेवाला, (परायतः निवर्तनं) दुर्मार्गमें दूर जानेवाले को भी वापस लानेवाला, और (आयतः प्रतिनन्दनं) संयममें रहनेवालेका आनन्द बढानेवाला है ॥ १ ॥

(आसुरी) आसुरी नामक औषधिने (येन देवेभ्यः परि इन्द्रं नि चक्रे) जिस गुणके कारण देवोंके ऊपर इन्द्रको अधिक प्रभावशाली बनाया, (तेन अहं त्वां निकुर्वे) उससे मैं तुझे प्रभावशाली बनाती हूं, (यथा ते सुप्रिया असानि) जिससे तेरी प्रिय धर्मपत्नी मैं बनूंगी ॥ २ ॥

भावार्थ-मैं इस औषधिको भूमिसे खोदकर लेती हूं, इससे मेरी ओर ही पतिकी आंखें लगेंगी, अर्थात् किसी अन्य स्थानमें नहीं जावेगी, सब प्रकारके दुर्वर्तनसे बचाव होगा, यदि दुर्मार्गमें उसका पांव पडा होगा, तो वह वापस आवेगा, और वह संयमसे रहकर अब आनंद प्राप्त कर सकेगा ॥ १ ॥

इसका नाम आसुरी वनस्पति है। इसके प्रभावसे इन्द्र सब देवोंमें विशेष प्रभावशाली होनेके कारण श्रेष्ठ बन गया। इस वनस्पतिसे मैं अपने पतिको प्रभावित करती हूं,जिससे मैं धर्मपत्नी अपने पतिकी प्रिय सखी बनकर रहूंगी ॥ २ ॥

प्रतीची सोममसि प्रतीच्युत सूर्यम् ।
प्रतीची विश्वान्देवान् तां त्वाच्छावदामसि ॥ ३ ॥
अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ ४ ॥
यदि वासि तिरोजनं यदि वा नद्यस्तिरः ।
इयं ह मह्यं त्वामोषधिर्बद्ध्वेव न्यानयत् ॥ ५ ॥
॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ— तू (सोमं प्रतीची असि) चन्द्रके संमुख रहती है, (उत सूर्यं प्रतीची) और सूर्यके संमुख होती है, तथा (विश्वान् देवान् प्रतीची) सब देवोंके संमुख होती है। (तां त्वा अच्छा वदामसि) ऐसे तेरा मैं उत्तम वर्णन करता हूं ॥ ३ ॥

(अहं वदामि) मैं बोलती हूं, (न इत् त्वं) तू न बोल। (त्वं सभायां अह वद) तू सभामें निश्चयपूर्वक बोल। (त्वं केवलः मम इत असः) तू केवल मेराही होकर रह, (अन्यासां न चन कीर्तयाः) अन्योंका नाम तक न ले॥४॥

(यदि वा तिरोजनं असि) यदि तू जनोंसे दूर जंगलमें रहा, (यदि वा नद्यः तिरः) यदि तू नदीके पार गया होगा, तो भी (इयं ओषधिः) यह औषधि (त्वां बध्वा) तुझे बांधकर (मह्यं नि आनयत ह) मेरे पास ले आवेगी ॥ ५ ॥

भावार्थ-यह वनस्पति चन्द्रके अभिमुख होकर शान्तगुण प्राप्त करती है, तथा सूर्यके संमुख रहकर तेजस्विता प्राप्त करती है और अन्य देवोंसे अन्यान्य दिव्य गुण लेती है। इसीलिये इसकी प्रशंसा की जाती है ॥३॥

हे पति ! घरमें मैं बोलूंगी, और मेरे भाषणका अनुमोदन तू कर। घरमें तूं न बोल। तू सभामें खूब वक्तृत्व कर। परंतु घरमें आकर तू केवल मेरा प्रिय पति बनकर मेरे अनुकूल रह। ऐसा करनेसे तुम्हें किसी अन्य स्त्रीका नाम तक लेनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी ॥ ४ ॥

यदि तूं ग्राममें रहा या वनमें गया, यदि नदीके पार गया अथवा इस ओर रहा, यह औषधि ऐसी है कि जिसके प्रभावसे तूं मेरे साथ बंधा होकर मेरे पासही आवेगा, और किसी दूसरे स्थानपर नहीं जावेगा ॥५॥

यह सूक्त स्पष्ट है इसलिये अधिक विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। पतिके लिये एकही स्त्री धर्मपत्नी हो और पत्नीके लिये एकही पुरुष धर्मपती हो, यह विवाह का उच्चतम आदर्श इस सूक्तने पाठकोंके सन्मुख रखा है। कोई पुरुष अपनी विवाहित धर्मपत्नीको छोडकर किसी भी दूसरी स्त्रीकी अपेक्षा न करे और कोई स्त्री अपने विवाहित धर्मपतिको छोडकर किसी दूसरे पुरुषकी कभी अपेक्षा न करे।

दोनों एक दूसरेके साथ प्रेमसे वश होकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक व्यवहार करें और गृहस्थाश्रमका व्यवहार सुखपूर्वक करें। इस सूक्तमें 'आसुरी' वनस्पतिका उपयोग कहा है। इसका सेवन करनेसे मनुष्य पराक्रमी और उत्साही होता है, मनुष्यकी प्रवृत्ति पापाचरणकी ओर नहीं होती। ऐसा इसका फल वर्णन हुआ है। यह औषधि कौनसी है इसका पता नहीं चलता। सुविज्ञ वैद्य इसका अन्वेषण करें और जनताकी भलाईके लिये उसके उपयोग का प्रयोग प्रकाशित करें।

उत्तम वृष्टि।

[३९ (४०)]

(ऋषिः–प्रस्कण्वः। देवता–मंत्रोक्ता)

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति ॥ १॥

अर्थ– (दिव्यं, पयसं सुवर्णं) आकाशमें रहनेवाले, जलको धारण करनेके कारण कारण जलसे परिपूर्ण, (अपां बृहन्तं वृषभं) जलकी बडी वृष्टि करनेवाले, (ओषधीनां गर्भं) औषधिवनस्पतियोंका गर्भ बढानेवाले, (अभीपतः वृष्ट्या तर्पयन्तं) सब प्रकारसे वृष्टिद्वारा तृप्ति करनेवाले, (रयि–स्थां) शोभायुक्त स्थानमें रहनेवाले मेघको देव (नः गोष्ठे आ स्थापयतु) हमारी गोशालाकी भूमिमें स्थापन करे अर्थात् हमारी भूमिमें उत्तम वृष्टी होवे ॥ १ ॥

मेघ आकाशमें संचार करता है, वह जलसे परिपूर्ण होता है, जलकी वृष्टी करता है, उसके जलसे सब औषधि वनस्पतियां गर्भयुक्त होती हैं, यह अन्य रीतिसे अपनी वृष्टी द्वारा सबकी तृप्ति करता है,सबकी शोभा बढाता है,यह सबका हित करनेवाला मेघ हमारी भूमिमें, जहां हमारी गौएं रहती हैं, वहां उत्तम वृष्टी करावे और हम सबको तृप्त करे।

अमृतरसवाला देव।

[४० (४१)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः । देवता- सरस्वान्)

यस्यं व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्यं व्रत उपतिष्ठन्त आपः ।
यस्यं व्रते पुष्टपतिर्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हवामहे ॥ १ ॥
आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम् ।
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् ॥ २ ॥

अर्थ- (सर्वे पशवः यस्य व्रतं यन्ति) सब पशु जिसके नियमके अनुसार जाते हैं, (यस्य व्रते आपः उपतिष्ठन्ति) जिसके कर्मके अनुसार जल उपस्थित होते हैं, (यस्य व्रते पुष्टपतिः निविष्टः) जिसके व्रतमें पोषणकर्ता कार्य करता है, (तं सरस्वन्तं अवसे हवामहे) उस अमृतरसवाले देवकी हमारी रक्षाके लिये हम प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

(दाशुषे प्रत्यञ्चं दाश्वंसं) दाताको प्रत्येक समय संमुख होकर दान देनेवाले, (पुष्टपतिं सरस्वन्तं) पुष्टि करने वाले, अमृतरसवाले, (रयि-स्थां) ऐश्वर्यमें स्थिर रहनेवाले, (रायस्पोषं श्रवस्युं) धनकी पुष्टि करनेवाले और अन्नवाले, (रयीणां सदनं) धनोंके आश्रयस्थानरूप देवकी (इह वसानाः) यहां रहनेवाले हम सब (आ हुवेम) प्रार्थना करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ- सब पशु पक्षी जिसके नियममें रहते हैं, जल जिसके नियम से बहता है, जिसके नियमसे सबकी पुष्टी होती है, उस देवकी हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमारी रक्षा करे ॥ १ ॥

हरएक दाताको जो धन देता है, सबका जो पोषण करता है, जिसके कारण सबकी शोभा होती है, जो सबके ऐश्वर्यको बढाता है, और जिसके पास अन्न भी विपुल है, जिसके आश्रयसे सब धन रहते हैं, उस देवकी हम प्रार्थना करते हैं कि, उसकी कृपासे हम सब इस स्थानमें रहनेवाले लोग सुरक्षित हों ॥ २ ॥

ईश्वरके पास संपूर्ण अमृतरस है। वह स्वयं सबका पोषण करता है अतः हम उसकी प्रार्थना करते हैं कि वह हमारी रक्षा करे, हमें पुष्ट करे, हमें धनसंपन्न करे और अमृत रससे युक्त करे ।

मनुष्योंका निरीक्षक देव।

[४१ (४२)]

(ऋषिः—प्रस्कण्वः । देवता—श्येनः)

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।
तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात् ॥ १ ॥
श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः
स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् ॥ २ ॥

अर्थ—(अवसान-दर्शः, नृचक्षाः, श्येनः) अन्तिम अवस्थाको समझनेवाला, सब मनुष्योंको यथावत् जाननेवाला, सूर्यवत् प्रकाशमान ईश्वर, (धन्वानि अति अपः अति ततर्द) रेतीले देशोंके ऊपर भी अत्यंत जलकी वृष्टि करता है । तथा (विश्वानि अवरा रजांसि) सब निम्नभागके लोकोंके प्रति (इन्द्रेण सख्या शिवः) अपने मित्र इन्द्रके साथ कल्याण रूप होकर (तरन्) सबको पार करता हुआ (आ जगम्यात्) प्राप्त होता है ॥ १ ॥

(नृचक्षाः दिव्यः सुपर्णः) मनुष्योंका निरीक्षक, द्युलोक में रहनेवाला, जिसके उत्तम किरण हैं, (सहस्रपात् शतयोनिः) सहस्र पावोंसे सर्वत्र संचार करनेवाला, सेंकडों प्रकारकी उत्पादक शक्तियोंसे युक्त, (वयोधाः श्येनः) अन्नको देनेवाला, सूर्यवत् प्रकाशमान देव (यत् पराभृतं वसु) जो अन्योंसे प्राप्त होनेवाला धन है, वह धन (सः नः नियच्छात्) वह देव हमें देवे । (अस्माकं पितृषु स्वधावत् अस्तु) हमारे पितरोंमें अन्नवाला भोग सदा रहे ॥ २ ॥

सब मनुष्योंकी अन्तिम अवस्था कैसी होगी इसका यथार्थ ज्ञान रखनेवाला, सब मनुष्योंके कर्मोंका योग्य निरीक्षण करनेवाला, द्युलोकमें प्रकाशसे पूर्ण होनेवाला, जो हजारों प्रकारकी गतियोंसे सर्वत्र संचार कर सकता है, और जो सेंकडों प्रकारकी उत्पा-

दक शक्तियोंसे विविध पदार्थोंको उत्पन्न कर सकता है, जो सबको अन्न देता है, ऐसा प्रकाशमय देव रेतीले प्रदेशोंपर भी बहुत वृष्टी करता है, अर्थात् अन्यत्र वृक्षवनस्पतियों पर तो करता ही है। यह देव द्युलोक से अपनी ओर जो अन्यान्य लोक लोकान्तर हैं, उनका धारण करता है, उनका कल्याण करता है, सबको दुःखसे पार करता है। इन्द्र अर्थात् जीवात्माका परम मित्र यह है और यह भूमिपर भी सर्वत्र उपस्थित होता है। यह देव अन्योंसे जो धन प्राप्त होता है वह सब उपासकोंको देताही है, परंतु अन्य भी बहुत कल्याणकारी धन देता है। वह देव हमारे पितरोंको तथा हम सबको अन्नादि पदार्थ देवे।

पापसे मुक्तता।

[४२ (४३)]

(ऋषिः—प्रस्कण्वः । देवता—सोमारुद्रौ)

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥ १ ॥
सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम्।
अवस्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥ २ ॥

अर्थ—हे सोम और रुद्र! (या अमीवा) जो रोग (नः गयं अविवेश) हमारे घरमें प्रविष्ट हुआ है, उस (विषूचीं विवृहतम्) फैलनेवाले रोगको दूर करो। (निर्ऋतिं पराचैः दूरं बाधेथां) दुर्गतिको विशेष रीतिसे दूर ही रोक दो। (कृतं चित् एनः) हमारा किया हुआ भी जो पाप हो, वह (अस्मत् प्रमुमुक्तं) हमसे छुडाओ ॥ १ ॥

हे सोम और रुद्र! (युवं अस्मत तनुषु) तुम दोनों हमारे शरीरोंमें (एतानि विश्वा भेषजानि धत्तं) इन सब औषधियोंको धारण करो। (यत् नः तनुषु बद्ध एनः असत्) जो हमारा शरीरोंके संबंधसे हुआ पाप है, उससे (अवस्यतं) हमारा बचाव करो। (अस्मत् कृतं एनः मुमुक्तं) हमसे किये हुए पापसे हमारी मुक्तता करो ॥ २ ॥

' अमीव ' नाम उन रोगोंका है कि जो आम अर्थात् पचन न हुए अन्नसे होते हैं। पेटमें जो अन्न जाता है वह वहां हाजम न हुआ तो वहां ही उसका आम बनता है और उससे रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगोंको सोम और रुद्र ये दो देव दूर करनेमें समर्थ हैं। ' सोम ' शब्द वनस्पति और औषधियोंका वाचक है, अर्थात् योग्य औषधि के सेवनसे आमका दोष दूर होगा। यह एक उपदेश यह मंत्र दे रहा है।

' रुद्र ' नाम प्राणका है, जीवन शक्ति जो शरीरमें है। यह रौद्री शक्ति आपका दोष दूर करनेमें समर्थ है। प्राणायामसे एक तो रक्तकी शुद्धि होती है और आंतोंमें योग्य गति होनेसे शौचशुद्धि होनेके कारण आम का दोष दूर होता है।

शरीरकी सब दुर्गति आम विकारके कारण होती है अतः योग्य औषधि सेवनसे तथा प्राणायामके अभ्याससे उक्त दोष शरीरसे दूर करना योग्य है। शरीरसे कुछ नियमविरोधी आचरण होकर कुछ पाप भी बना हो, तो भी उक्त देवताओंकी सहायतासे वह दूर होगा और पापसे आनेवाली सब विपत्ति दूर होगी।

द्वितीय मंत्रमें (विश्वानि भेषजानि) संपूर्ण औषधियां सोम और रुद्रसे प्राप्त होती हैं ऐसा कहा है। सोम तो औषधियोंका राजा ही है, अतः उसके घरमें सब औषधियां रहती ही हैं। रुद्र भी जीवनशक्तिमय है इसलिये जहां जीवनशक्ति होगी, वहां रोग कैसे आसकते हैं ? इस प्राणसे भी सब औषधियां मनुष्यको प्राप्त हो सकती हैं। इनसे पूर्ववत् शरीरके दोष और सब पाप दूर हो जाते हैं। अतः सब मनुष्य इनसे अपना आरोग्य प्राप्त करें और नीरोग बनें।

वाणी।

[४३ (४४)]

(ऋषिः प्रस्कण्वः। देवता—वाक्)

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु घोषम् ॥ १ ॥

अर्थ— (ते एकाः शिवाः) तेरे एक प्रकारके शब्द कल्याणकारक होते हैं, तथा (ते एकाः अशिवाः) तेरे दूसरे प्रकारके शब्द अशुभ भी होते हैं। (सुमनस्यमानः सर्वाः बिभर्षि) उत्तम मनवाला तू उन सबको धारण करता है। (तिस्रः वाचः अस्मिन् अन्तः निहिताः) तीन प्रकारकी वाणियां

इस मनुष्यके अन्दर गुप्त रहती हैं। (तासां एका घोषं अनु विपपात) उनमेंसे एक बडे स्वरमें विशेष रीतिसे बाहर व्यक्त होती है ॥ १ ॥

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये वाणीके चार नाम हैं, परा नाभिस्थानमें, पश्यन्ती हृदयस्थानमें, मध्यमा छातीके ऊपरके भागमें और वैखरी मुखमें होती है। जो शब्द उच्चारा जाता है वह इन चार स्थानोंसे गुजरता है। पहिली तीनों वाणियां गुप्त हैं और चतुर्थ वाणी प्रकट है जो सब लोग बोलते हैं। यह चतुर्थ वैखरी वाणी मनुष्य शुभ और अशुभ दोनों प्रकारसे बोलते हैं। अतः मनुष्यको योग्य है कि वह उत्तम शुभ संस्कार युक्त मनवाला होकर शुभ शब्दोंका ही प्रयोग करे। यही शुभ उच्चारी वाणी सबका कल्याण कर सकती है ॥

विजयी देव।

[४४ (४५)]

(ऋषिः- प्रस्कण्वः। देवता- इन्द्रः, विष्णुः)

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥ १ ॥

अर्थ- (उभा) दोनों इन्द्र और विष्णु (जिग्यथुः) विजय करते हैं। वे कभी (न परा जयेथे) पराजित नहीं होते। (एनयोः कतरः चन न पराजिग्ये) इनमेंसे एक भी कभी पराजित नहीं होता। (इन्द्रः विष्णो च) हे इन्द्र और हे विष्णु ! (यत् अपस्पृधेथां) जब तुम दोनों स्पर्धासे युद्ध करते हैं, (तत् सहस्रं त्रेधा वि ऐरयेथां) तब हजारों शत्रुओंको तीन प्रकारसे भगा देते हैं ॥ १ ॥

'विष्णु' नाम व्यापक परमात्माका है और 'इन्द्र' नाम शरीरस्थ इंद्रियोंको अपनी शक्ति का प्रदान करनेवाले जीवात्माका है। ये दोनों विजयी हैं। ये ही नर और नारायण हैं ये शरीररूपी एकही रथपर रहते हैं और विजय प्राप्त करते हैं। ये दोनों तथा इनमेंसे एक एक भी विजयशाली हैं। ये अपने शत्रुको अनेक प्रकारसे भगा देते हैं। पाठक इस मंत्रसे यह भाव मनमें समझें कि विजयी इन्द्र तो उन्हीका जीवात्मा है और विष्णु उसका परम मित्र परमात्मा है। इनकी विजयी शक्ति इनके अन्दर है, इसलिये यदि वे इस शक्तिका योग्य उपयोग कर सकेंगे; तो उनका निःसन्देह विजय होगा।

ईर्ष्यानिवारक औषध।

[४५ (४६, ४७)]

(ऋषिः-प्रस्कण्वः, ४७ अथर्वा। देवता-ईर्ष्यापनयनं, भेषजम्)

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम्।
दूरात् त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥ १ ॥
अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक्।
एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय ॥ २ ॥

अर्थ- (विश्वजनीनात् जनात्) संपूर्ण जनोंके हितकारी जनपदसे तथा (सिन्धुतः परि आभृतं) समुद्रसे जो लाया है, वह (ईर्ष्यायाः नाम भेषजं) ईर्ष्याको दूर करनेवाला औषध है, हे औषध ! (दूरात् त्वा उद्भृतं मन्ये) दूरसे तुझ औषधको यहां लाया है, यह मैं जानता हूं ॥ १ ॥

हे औषध ! तू (अस्य दहतः अग्नेः इव) इस जलानेवाले अग्निको, (पृथक् दहतः दावस्य) अलग जलानेवाले दावानलको अर्थात् (एतस्य एतां ईर्ष्यां) इस मनुष्यकी इस ईर्ष्याको (उद्ना अग्निं इव शमय) उदकसे अग्निको शान्त करनेके समान शान्त कर ॥ २ ॥

❀ ❀

मनमें जो ईर्ष्या, स्पर्धा और द्वेषभाव होता है, वह इस औषधके प्रयोगसे दूर होता है। सुविद्य वैद्योंको उचित है कि वे इन मनके ऊपर प्रभाव करनेवाली औषधियोंकी खोज करें। इस समय मानसिक रोगोंकी चिकित्सा वैद्य करनेमें असमर्थ समझे जाते हैं। यदि ये औषधियां प्राप्त हुईं तो मनके रोगभी दूर होते हैं। इस सूक्त में औषधिका नामतक नहीं है। यही इसकी खोजमें बडी कठिनता है।

सिद्धिकी प्रार्थना ।

[४६ (४८)] (ऋषिः—अथर्वा । देवता—मंत्रोक्ता)

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १ ॥
या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी ।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ॥ २ ॥
या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी ।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व ॥ ३ ॥

अर्थ—हे (सिनीवाली पृथु—ष्टुके) अन्नयुक्त और बहुतोंद्वारा प्रशंसित देवी ! (या देवानां स्वसा असि) जो तू देवोंकी भगिनी है। हे देवि ! तू (आहुतं हव्यं जुषस्व) हवन किये आहुतियोंका स्वीकार कर। और (नः प्रजां दिदिड्ढि) हमें उत्तम सन्तान दे ॥ १ ॥

(या सुबाहुः स्वङ्गुरिः) जो उत्तम बाहुवाली और उत्तम अंगुलियोंवाली, (सुषूमा बहु सूवरी) उत्तम अंगवाली और उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ है, (तस्यै विश्पत्न्यै सिनीवाल्यै) उस प्रजापालक अन्नयुक्त देवताके लिये (हविः जुहोतन) हवि प्रदान करो ॥ २ ॥

(या विश्पत्नी इन्द्रं प्रतीची असि) जो प्रजापालन करनेवाली तू प्रभुके सन्मुख रहती है । तथा (सहस्र—स्तुका देवी अभियन्ती) हजारों कवियों द्वारा प्रशंसित तू देवी आगे बढती है । हे (विष्णोः पत्नि) विष्णुकी पत्नी ! हे देवि । (तुभ्यं हवींषि राता) तुम्हारे लिये मैं हवन अर्पण करता हूं । हमारी (राधसे पतिं चोदयस्व) सिद्धिकी प्राप्तिके लिये अपने पतिको प्रेरित कर ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें 'विष्णु' अर्थात व्यापक देवकी पत्नी अर्थात् उसकी शक्तिकी प्रार्थना है। यह व्यापक ईश्वर की शक्ति संपूर्ण अन्य देवताओंमें जाकर कार्य करती है, सब जगत् की पालना इसी शक्तिसे होती है । हजारों ज्ञानी जन इस शक्तिका अनुभव करते हैं, और वे इस की विविध प्रकारसे स्तुति करते हैं । यह शक्ति अपने पति सर्वव्यापक ईश्वरको प्रेरित करे और वह हमें सब प्रकारकी सिद्धि देवे ।

अमृत-शक्ति ।

[४७ (४९)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- मंत्रोक्ता)

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन् यज्ञे सुहवा जोहवीमि ।
सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥
कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत ।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु ॥ २ ॥

अर्थ—(सुकृतं विद्मनापसं सुहवा) उत्तम कर्म करनेवाली, ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाली, स्तुतिके योग्य, (कु-हूं देवीं) पृथ्वीपर जिसका हवन होता है ऐसी दिव्य शक्तिमयी देवीको मैं (अस्मिन् यज्ञे जोहवीमि) इस यज्ञमें बुलाता हूं। (सा विश्ववारं रयिं नः नियच्छात्) वह सबको स्वीकारने योग्य धन हमें देवे। तथा (उक्थ्यं शतदायं वीरं ददातु) प्रशंसनीय और सेंकडों दान करनेवाले वीरका प्रदान करे ॥ १ ॥

(देवानां अमृतस्य पत्नी कु-हू) सब देवोंके बीचमें जो पूर्णतया अमर है, उस ईश्वरकी पत्नी यह कुहू, अर्थात् जिसका हवन इस पृथ्वीपर सब करते हैं, वह (नः हव्या) हमसे प्रशंसा होने योग्य है। वह (अस्य हविषः जुषेत) इस हविका सेवन करे। (उशती यज्ञं शृणोतु) इच्छा करती हुई वह देवी यज्ञका वृत्तान्त सुने और (चिकितुषी रायस्पोषं अद्य नः दधातु) ज्ञानवाली वह देवी धनसमृद्धी आज हमें देवे ॥ २ ॥

इस पृथ्वीपर जिसका सत्कार होता है उसको ' कु-हू ' कहते हैं। यह (अमृतस्य पत्नी) अमर ईश्वर की आदि शक्ति है। और यह ईश्वर (देवानां अमृतः) संपूर्ण देवोंमें अमर है। इसकी अमर शक्तिसे ही सब अन्य देव अमर बने हैं। इस परमेश्वरी शक्तिकी हम उपासना करते हैं। वह देवी हमें धन और वीरता देवे।

पुष्टिकी प्रार्थना।

[४८ (५०)]

(ऋषिः—अथर्वा। देवता—मंत्रोक्ता)

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मनां।
सीव्यत्वपः सुच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥
यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रापोषं सुभगे रराणा ॥ २ ॥

अर्थ—(अहं सुहवा सुष्टुती राकां हुवे) मैं उत्तम बुलानेयोग्य और स्तुती करनेयोग्य पूर्ण चन्द्रमा के समान आल्हाददायिनी देवीको हम बुलाते हैं। (शृणोतु) वह हमारी पुकार सुनें और (सुभगा नः त्मना बोधतु) वह उत्तम ऐश्वर्यवाली देवी हमें अपनी शक्तिसे जगावे। (आच्छिद्यमानया सूच्या अपः सीव्यतु) कभी न टूटनेवाली सूईसे वह अपने कपडे सीनेके काम सीवे और (उक्थ्यं शतदायं वीरं ददातु) वह प्रशंसनीय सेकडों दान देनेवाले वीर पुत्रको हमें प्रदान करे ॥ १ ॥

हे (राके (शोभा देनेवाली देवी ! (याः ते सुपेशसः सुमतयः) जो तेरे उत्तम सुन्दर सुमतियां हैं, (याभिः दाशुषे वसूनि ददासि) जिनसे तू दाताको धन देती है। हे (सुभगे) उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त देवी ! (ताभिः रराणा सुमनाः) उन शक्तियोंसे शोभनेवाली उत्तम मनवाली देवी तू (अद्य नः सहस्रपोषं उपानहि) आज हमें हजारों पुष्टिको समीप स्थानमें लाकर दे ॥ २ ॥

पूर्णचन्द्रमायुक्त राका होती है। इससे जैसी प्रसन्नता प्राप्त होती है वैसी ही प्रसन्नता ईश्वरके तेजसे कई गुणा बढकर होती है। इस अनुभवसे उस अनुभवका अनुमान पाठक कर सकते हैं। इस सूक्तमें पूर्ण चन्द्रप्रभा के वर्णन के मिषसे आध्यात्मिक परमात्माकी शक्तिका वर्णन किया है। यह परमात्मशक्ति हमें ज्ञान देवे, अज्ञानसे जगा कर प्रबुद्ध करे, और ज्ञानद्वारा हमारी उन्नति करे। इसी प्रकार हमें पुष्टि और उत्तम वीरसंतति देवे और हमारी सब प्रकारकी उन्नति करे।

सुखकी प्रार्थना।

[४९ (५१)]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता-देवपत्न्यौ)

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये ।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु ॥१॥
उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट् ।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥ २ ॥

अर्थ-(उशतीः देवानां पत्नीः नः अवन्तु) हमारी इच्छा करनेवाली देवोंकी पत्नियां हमारी रक्षा करें । वे (तुजये वाजसातये नः प्रावन्तु) सन्तान और अन्नकी विपुलताके लिये हमारी रक्षा करें । (याः पार्थिवासः) जो पृथ्वीपर स्थित और (याः अपां व्रते अपि) जो कार्योंकी नियमव्यवस्थामें स्थित हैं, (ताः सुहवाः देवीः) वे उत्तम प्रशंसित देवियां (नः शर्म यच्छतु) हमें सुख देवें ॥ १ ॥

(उत देवपत्नीः ग्नाः व्यन्तु) और देवोंकी पत्नियां ये देवियां हमारे हितकी इच्छा करें । (इन्द्राणी) इन्द्रकी पत्नी, (अग्नायी) अग्निकी पत्नी, (अश्विनी राट्) अश्विनी देवोंकी पत्नी रानी, (रोद[illegible]ी) रुद्रकी पत्नी, (वरुणानी) जलदेव वरुणकी पत्नी (आशृणोतु) हमारी पुकार सुनें । (जनीनां यः ऋतुः) स्त्रियोंका जो ऋतुकाल है उस समय (देवीः व्यन्तु) ये देवियां हमारा हित करें ॥ २ ॥

देवताओंकी शक्तियां देवोंकी पत्नियां हैं । अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु, आदि अनेक देव हैं, उनकी शक्तियां भी विविध हैं । येही इनकी पत्नियां हैं । पत्नी पालन करनेवाली होती है । अग्नि शक्ति अग्निका पालन करती है, वायुशक्ति वायुका पालन करती है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंकी शक्तियां अन्य देवोंको उनके स्वरूपमें रखती हैं, जितने देव हैं उतनी उनकी पत्नियां हैं । ये सब देवशक्तियां हम सब मनुष्योंको सुख और शान्तिका प्रदान करें ।

कर्म और विजय।

[५० (५२)]

(ऋषिः-अङ्गिराः । देवता-इन्द्रः)

यथा॑ वृ॒क्षम॒शनि॑र्वि॒श्वाहा॒ हन्त्य॑प्र॒ति ।
ए॒वाहम॒द्य कि॑त॒वान॒क्षैर्व॑ध्यासमप्र॒ति ॥ १ ॥

तु॒राणा॒मतु॑राणां वि॒शामव॑र्जुषीणाम् ।
स॒मैतु॑ वि॒श्वतो॒ भगो॑ अन्तर्ह॒स्तं कृ॒तं मम॑ ॥ २ ॥

अर्थ- (यथा अशनिः) जिस प्रकार विद्युत (वृक्षं विश्वाहा अप्रति हन्ति) वृक्षको सर्वदा अतुल रीतिसे नाश करती है, (एव अहं अद्य अक्षैः कितवान्) वैसे मैं आज पाशोंके साथ जुआडियोंको (अप्रति वध्यासं) अतुल रीतिसे मारूंगा ॥ १ ॥

(तुराणां अतुराणां) त्वरा करनेवाली तथा मन्द किंवा सुस्त और (अवर्जुषीणां विशां) बुराईका वर्जन न करनेवाली प्रजाओंका (भगः विश्वतः समैतु) ऐश्वर्य सब ओरसे इकट्ठा होवे और वह (मम अन्तर्हस्तं कृतं) मेरे हस्तके अंदर हुएके समान होवे ॥ २ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार बिजलीसे वृक्षोंका नाश होता है, उस प्रकार मैं पाशोंके साथ जुआडीयोंका नाश करता हूं ॥ १ ॥

किसी कार्यको त्वरासे समाप्त करनेवाले सुस्तीसे समाप्त करनेवाले और बुराइयोंको दूर न करनेवाले प्रजा जन होते हैं। उन सब प्रजाजनोंका धन एक स्थानपर जमा होवे और वह मेरे हाथमें रहे धन के समान रहे ॥ २ ॥

ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत् कृतं नः ।
रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृध्याम् ॥ ३ ॥
वयं जयेम त्वया युजा वृतं स्माकमंशमुदवा भरेभरे ।
अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज ॥ ४ ॥
अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम् । अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम् ५

अर्थ— (स्ववसुं अग्निं नमोभिः ईडे) अपने निज धनसे युक्त प्रकाशक देवकी नमस्कारोंद्वारा पूजा करता हूं। (इह प्रसक्तः नः कृतं विचयत) यहां रहा हुआ यह देव हमारे किये कर्मको संगृहित करे, जैसा (वाजयद्भिः रथैः इव प्रभरे) अन्नयुक्त रथोंसे स्थान भर देते हैं। पश्चात् मैं (मरुतां प्रदक्षिणं स्तोमं ऋध्यां) मरुतोंका श्रेष्ठ स्तोत्र सिद्ध करता हूँ ॥ ३ ॥

(वयं त्वया युजा वृतं जयेम) हम तेरी सहायतासे युक्त होकर घेरनेवाले शत्रुको जीतेंगे। (भरे भरे अस्माकं अंशं उद् अव) प्रत्येक युद्धमें हमारे कार्यभागकी उत्कृष्ट रक्षा कर। हे इन्द्र! अस्मभ्यं वरीयः सुगं कृधि) हमारे लिये वरिष्ठ स्थान सुखसे जाने योग्य कर। हे (मघवन्) धनवान् इन्द्र! (शत्रूणां वृष्ण्या प्र रुज) शत्रुओंके बलोंको तोड ॥ ४ ॥

(सं लिखितं त्वा अजैषं) हरएक रीतिसे खुरचनेवाले तुझ शत्रुको मैं जीत लेता हूं। (उत संरुधं अजैषं) और रोकनेवाले तुझ जैसे शत्रुको भी मैं जीतता हूं। (यथा अविं वृकः मथत्) जैसा भेडको भेडिया मथता है (एवा ते कृतं मथ्नामि) ऐसे तेरे किये शत्रुभूत कर्मको मैं मथ डालता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— मैं ईश्वरकी भक्ति और उपासना करता हूं। यह देव हमारे कर्मोंका निरीक्षण करे। और जिस प्रकार रथोंसे धन इकट्ठा करते हैं उस प्रकार हमारे सब सत्कर्मोंका फल इकट्ठा होवे। उसका उपभोग करते हुए हम उत्तम स्तोत्रोंका गायन करके आनन्दसे रहेंगे ॥ ३ ॥ हम ईश्वरकी सहायतासे सब शत्रुको जीतेंगे। ईश्वरकी कृपासे हर एक युद्धमें हमारे प्रयत्न सुरक्षित हों। हे देव! हमारे शत्रुओंका बल कम करो, और हमें वरिष्ठस्थान सुखसे प्राप्त हो ॥ ४ ॥ पीडा देनेवाले और प्रतिबन्ध करनेवाले शत्रुको मैं जीतता हूं। जिस प्रकार भेडिया भेडको पराजित करता है वैसा मैं शत्रुके किये उत्तमसे उत्तम प्रयत्नको निःसत्त्व करता हूं ॥ ५ ॥

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले ।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः ॥ ६ ॥
गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥ ७ ॥
कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः । गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ८

अर्थ-(उत अतिदीवा प्रहां जयति) और अत्यंत विजयेच्छु वीर प्रहार करने वालेको भी जीत लेता है। (श्वघ्नी [स्व-घ्नी] काले कृतं इव विचिनोति) अपने धनका नाश करनेवाला मूढ समयपर अपने किये हुए कर्मकोही विशेष रीतिसे प्राप्त करता है। (यः देवकामः धनं न रुणद्धि) जो देवकी तृप्तिकी इच्छा करनेवाला धनको केवल अपने लिये ही रोक रखता, (तं इत् रायः स्वधाभिः संसृजति) उसीको सब धन अपनी धारक शक्तियोंसे उत्तम प्रकार संयुक्त होता है ॥ ६ ॥

(दुरेवां अमतिं गोभिः तरेम) दुर्गतिरूप कुमतिको गौओंसे पार करेंगे। हे (पुरुहूत) बहुतों द्वारा प्रशंसित देव ! (विश्वे यवेन वा क्षुधं) और हम सब जैसे भूखको पार करेंगे। (वयं राजसु प्रथमाः अरिष्टासः) हम सब राजाओंमें उत्कृष्ट होकर विनाशको न प्राप्त होते हुए (वृजनीभिः धनानि जयेम) निज शक्तियोंसे धनोंको जीतेंगे ॥ ७ ॥

(कृतं मे दक्षिणे हस्ते) पुरुषार्थ मेरे दाये हाथमें है और (मे सव्ये जयः आहितः) मेरे बाये हाथमें विजय रखा है। अतः मैं (गोजित् अश्वजित्) गौओं और घोडोंका विजेता, । (हिरण्यजित् धनंजयः भूयासं) सुवर्ण और धनका विजेता होऊं ॥ ८ ॥

भावार्थ- विजयेच्छु वीर घातक शत्रुको भी जीत लेता है। आत्मघात करनेवाला मूढ मनुष्य अपने कृत कर्मको ही भोगता है। जो मनुष्य देवकार्यके लिये अपना धन समर्पण करता है और ऐसे समयमें अपने पास रोक नहीं रखता, उसीको विशेष धन प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

दुर्गति और कुमतिको गौओंकी रक्षा करके हटा देंगे। इसी प्रकार जैसे भूखको हटा देंगे। हम राजाओंमें उत्कृष्ट राजा बनेंगे और निजशक्तियोंसे यथेष्ट धन कमायेंगे ॥ ७ ॥

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥ ९ ॥

अर्थ—हे (अक्षाः) ज्ञान विज्ञानो ! (क्षीरिणीं गां इव) दूधवाली गौ के समान (फलवतीं द्युवं दत्त) फलवाली विजिगीषा हमें दो। (स्नाव्ना धनुः इव) जैसा तांतसे धनुष्य संयुक्त होता है वैसा (मा कृतस्य धारया सं नह्यत) मुझको कृतकर्मकी धारा प्रवाहसे युक्त कर ॥ ९ ॥

भावार्थ-मेरे दाये हाथमें पुरुषार्थ है और बायें हाथमें विजय है। इस-लिये हम गौवें, घोडे, सुवर्ण और अन्य धन प्राप्त करेंगे ॥ ८ ॥

ज्ञानविज्ञान ये मेरी आंखें बनें और उनसे बहुत दूध देनेवाली गौके समान उत्तम फल देनेवाली विजयेच्छा हममें स्थिर रहे। जिस प्रकार तांतसे धनुष्यके दोनों नोक जुडे रहते हैं, उस प्रकार मेरा पुरुषार्थ मुझे फलके साथ बांध देवे ॥ ९ ॥

पुरुषार्थ और विजय।

इस सूक्तका सप्तम मंत्र हरएक मनुष्यको सदा ध्यानमें धारण करने योग्य है, उसका पाठ ऐसा है—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित् ॥ (मं० ८)

" पुरुषार्थ प्रयत्न मेरे दाये हाथमें है और विजय मेरे बाये हाथमें है। इससे मैं गौवें, घोडे, धन और सुवर्णको जीत कर प्राप्त करनेवाला होऊंगा। "

मनुष्यको येही विचार मनमें धारण करने चाहिये और उसको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि अपने प्रयत्नसे अपना विजय चारों ओर हो जावे। अपना विजय कहीं बाहरके प्रयत्न से नहीं होना है, वह अपने अंदरके बलसेही प्राप्त होगा। इस लिये अपने अन्दर इतना बल बढे और अपना विजय हो, इस के लिये प्रयत्न करना मनुष्य-का प्रथम कर्तव्य है।

' कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ' ये चार प्रकारके मनुष्यके कर्म होते हैं, इनके लक्षण ये हैं—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥ ऐ० ब्रा० ७।१५

"सो जाना कलि है, निद्राका त्याग द्वापर है, उठकर तैयार होना त्रेता कहलाता है, कार्य करना कृत कहलाता है।" अर्थात् सुस्तिसे कलियुग बनता है और पूर्ण पुरुषार्थसे कृत युग होता है, और बीचकी अवस्थाएं द्वापर और त्रेता युगकी हैं। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार नाम पुरुषार्थके चार दर्जोंके सूचक हैं। जो पुरुष प्रयत्न करके अपने हाथमें कृत नामक पुरुषार्थ लेता है, वह दूसरे हाथसे निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त कर लेता है। 'कृत' पुरुषार्थ मानो एक बडे जलप्रवाहकी प्रचंड धारा है, वह धारा निःसंदेह विजय पंहुंचा देती है-

कृतस्य धारया मा सं नह्यत। (मं० ९)

"कृत नाम श्रेष्ठ पुरुषार्थकी प्रवाह धारासे संयुक्त होकर उद्दिष्ट स्थानको मैं पहुंच जाऊं।" कृतनामक पुरुषार्थका लक्षण क्या है? कृतके साथ 'सत्य, अहिंसा प्रबल पुरुषार्थ शक्ति, उद्यम, सरलता, धैर्य, आदि सात्विक गुणोंका साहचर्य हमेशा रहता है। सत्ययुग कृतयुगको ही कहते हैं। सत्ययुगके मनुष्योंके जो गुण पुराणोंमें वर्णन किये हैं, वेही सात्विक शुभ गुण इस कृत नामक पुरुषार्थके साथ सदा रहते हैं, ऐसा यहां समझना चाहिये, तब कृत पुरुषार्थका महत्त्व पाठकोंके सन्मुख आसकता है।

'कलि' यह कोई पुरुषार्थ नहीं है, यह शब्द पुरुषार्थहीनताका द्योतक है। जहां बिलकुल पुरुषार्थ नहीं है वहां कलि रहता है, आपसके झगडे, अनाचार, अधर्म अनीति, अधःपातका व्यवहार सब इसके साथ रहता है। इससे मनुष्योंकी अधोगति होती है। इसलिये इससे मनुष्योंको बचना आवश्यक है। बीचके दो पुरुषार्थ इन दो स्थितियोंके बीचमें हैं।

जुआडीको दूर करो।

अपने समाजमेंसे जुआडीको दूर करनेके विषयमें इस सूक्तका पहिलाही मंत्र बडा बोधप्रद है, देखिये—

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति॥ (मं० १)

"जैसे आकाशकी विद्युत् वृक्षका नाश करती है उस प्रकार मैं अपने समाजसे पाशोंके साथ जुआडीयोंको दूर करता हूं।" समाजसे जुआदियोंको दूर करता हूं,

अर्थात् समाजमें एकभी जुआडीको नहीं रहने देता हूं। समाजसे जुआडियोंको दूर करना ही समाजके जुआडियोंका वध है। वध कोई शरीरके नाशसे ही होता है और अन्य रीतिसे नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। समाजमें जब तक जुआडी रहेंगे, तबतक समाजमें पुरुषार्थका सामर्थ्य बढेगा नहीं, क्यों कि थोडे प्रयत्नसे ही धनी होनेका भाव जुएसे जनतामें बढता है। अतः समाज पुरुषार्थी होनेके लिये समाजमें जुआडी न रहे, ऐसा प्रबंध करना चाहिये।

तीन प्रकारके लोग।

समाजमें तीन प्रकारके लोग होते हैं, 'तुर, अतुर और अवर्जुष' अर्थात् त्वरासे काम करनेवाले, प्रत्येक कार्यमें अत्यंत शीघ्रता करनेवाले, जलदी जलदीसे कार्य करके कार्यको बिगाडनेवाले जो होते हैं वे भी पुरुषार्थ के लिये योग्य नहीं होते, क्यों कि वे शीघ्रतासे ही हाथमें लिये कामको बिगाड देते हैं। दूसरे 'अतुर' अर्थात् शिथिल किंवा सुस्त, ये अपनी सुस्तीके कारण कार्यका बिगाड करते हैं, अतः ये पुरुषार्थ के लिये निकम्मे होते हैं। तीसरे 'अवर्जुष' अर्थात् वर्जन करनेयोग्य बातोंको भी दूर नहीं करते, बुराईको भी अपने पास रख देते हैं। ये लोग भी कभी पुरुषार्थ करके अपनी उन्नति नहीं कर सकते। ये तीनों प्रकारके लोग सदा हीन अवस्थामें ही रहेंगे, इनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है। इसलिये मंत्रमें कहा है कि—

> तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम्।
> समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम॥ (मं० २)

"शीघ्रता करनेवाले, सुस्त तथा बुराइयोंको भी दूर न करनेवाले ये जो तीन प्रकारके लोग अपनी उन्नतिकी साधना नहीं करते, वे सदा दुर्भाग्यमें ही रहेंगे। अतः उनके पास जानेवाला धन मेरे हाथमें रहनेके समान हो जावे, क्यों कि मैं पुरुषार्थ करता हूं।" इसका आशय यह है, कि पूर्वोक्त तीन दोषोंवाले लोग ये सदा दुर्भाग्यमें ही रहेंगे और विश्वके धनका जो भाग उनको प्राप्त होना था, वह उनका भाग पुरुषार्थी लोगोंके हस्तगत होगा। उदाहरण के लिये यह मान लीजिये कि जगत् में १००) रु० है और संपूर्ण जगत्में १० लोगही हैं। उनमें पांच पुरुषार्थी हैं और पांच पूर्वोक्त तीन दोषोंसे युक्त हैं। ऐसा होनेसे उक्त धन पांचही पुरुषार्थी लोगोंमें बांटा जायगा और पांच लोग दुर्भाग्य में ही सडते रहेंगे। यह मंत्र इस दृष्टिसे पाठकोंको विचार करने योग्य है। एकही ग्राममें कई लोग पुरुषार्थ से धन कमाते हैं और सुस्तीसे कई निर्धन अवस्थामें रहते हैं, इसका कारण इस मंत्रमें उत्तम रीतिसे कहा है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि प्रकाशक देवकी हम उपासना करते हैं और उससे पर्याप्त धन हमें मिल सकता है। चतुर्थ मन्त्रमें भी यही आशय स्पष्ट हुआ है—

वयं जयेम त्वया युजा। (मं० ४)

"हम तेरे (ईश्वरके) साथ रहनेसे विजय प्राप्त कर सकते हैं।" ईश्वरके साथ रहनेसे अर्थात् ईश्वरके भक्त होनेसे विजय प्राप्त होता है, यह विजय सच्चा विजय होता है। ईश्वरके सत्य भक्त होनेसे बडी शक्ति प्राप्त होती है। देखिये इस विषयमें पञ्चम मंत्रका कथन यह है—

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम्। (मं० ५)

"खुरचनेवाले अर्थात् विविध प्रकारसे दुःख देनेवाले और प्रतिबंध करनेवाले तुझ जैसे शत्रुको मैं जीत लेता हूं।" अर्थात् मैं ईश्वरभक्त होनेके कारण अब मुझे सत्य मार्गसे आगे बढनेके लिये कोई डर नहीं है। मैं अपने पुरुषार्थ से अपनी उन्नति निःसन्देह सिद्ध करूंगा। पुरुषार्थकी सिद्धता होनेके विषयमें एक नियम है। वह यह कि धार्मिक दृष्टिसे निर्दोष पुरुषार्थ प्रयत्न करनेवाला ही जीत लेता है, अन्तमें इसीका विजय होता है। अधार्मिक का कुछ देर विजयसा हुआ, तो भी अन्तमें उसका नाश निश्चयसे होता है, इस विषयमें षष्ठ मन्त्रकी घोषणा विचार करने योग्य है—

उत प्रहामतिदीवा जयति।
कृतमिव श्वघ्नी विचिनोति काले॥ (मं० ६)

"निःसन्देह यह बात है कि (अतिदीवा) अत्यंत विजिगीषु पुरुषार्थी मनुष्य (प्रहां जयति) प्रहार करनेवालेको जीतता है। और (श्व-घ्नी, स्वघ्नी) अपना आत्मघात करनेवाला मनुष्य (काले) समयमें अपने कृतकर्मका फल प्राप्त करता है।

इस मंत्रमें दो शब्द विशेष महत्त्वके हैं। उनका विचार करना अत्यंत आवश्यक है।

१ श्व-घ्नी=[स्व-घ्नी]=आत्मघात करनेवाला मनुष्य। जो मनुष्य अपना नाश होने योग्य कुकर्म करता रहता है। जिससे अपनी अधोगति होती है ऐसे कुकर्म जो करता है वह आत्मघातकी है। आत्मघातकी लोगोंकी अधोगति होती है इस विषयका वर्णन ईशोपनिषद् (वा० यजु० ४०। ३) में है, वहां पाठक वह वर्णन अवश्य देखें।

२ अतिदीवा=इस शब्दमें 'दिव्' धातु "विजिगीषा, व्यवहार, स्तुति, मोद, गति" इत्यादि अर्थमें है, अतः "दीवा" शब्दका अर्थ-" विजिगीषा अर्थात् जयकी इच्छा करनेवाला, व्यवहार उत्तम रीतिसे करनेवाला, स्तुति ईशभक्ति करनेवाला, आनन्द

बढानेवाले कार्य करनेवाला, प्रगति करनेवाला " इस प्रकारका होता है। 'अतिदीवा' शब्दका अर्थ ' अत्यंत विजयका पुरुषार्थ करनेवाला ' इत्यादि प्रकारका होता है। यह विजय करनेवाला अपने शत्रुको अवश्यही जीत लेता है।

ये अर्थ लेकर पाठक इस मंत्रका उचित विचार करें।

देवकाम मनुष्य।

कई मनुष्य देवकामी होते हैं और कई असुरकामी होते हैं। देवोंके समान जिनकी इच्छा होती है, वे देवकामी मनुष्य और राक्षसोंके समान जिनकी कामना होती है, वे असुर-कामी मनुष्य समझने योग्य हैं। ये क्या करते हैं इस विषयका वर्णन इसी मंत्रमें किया है, वह अब देखिये। इसी मंत्रके शब्द निम्न प्रकार रखनेसे दोनोंके लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं-

देवकामः धनं न रुणाद्धि।
[असुरकामः] धनं रुणाद्धि। (मं० ६)

"देवकामनावाला मनुष्य अपने धनको अपने पासही बंद नहीं रखता, परंतु आसुरी कामनावाला मनुष्य अपने पास धन बंद करके रखता है।" यह मंत्रभाग इन दोनोंके व्यवहारका स्वरूप अच्छी प्रकार बता रहा है। कंजूस लोग धन अपने पास संग्रह करते हैं, उसको बाहर व्यवहारमें जाने नहीं देते, अथवा अपने स्वार्थी भोगोंके लिये रखते हैं, अतः ये राक्षसी कामनाएं हैं। परंतु जो मनुष्य दैवी प्रवृत्तीके होते हैं, वे धन अपने पास कभी नहीं रोकते, परंतु अपने सर्वस्वको सब जनताकी भलाई के लिये समर्पित करते हैं, अपनी संपूर्ण शक्तियां उसी कार्यमें लगाते हैं, इसलिये ये लोग उन्नतिके भागी होते हैं। यही बात इसी मंत्रके अंतमें कही है-

तं रायः स्वधाभिः संसृजति। (मं० ६)

" उसीको सब प्रकारके धन अपनी सब धारक शक्तियोंके साथ प्राप्त होते हैं।" जो अपना धन देवकार्यके लिये लगाता है वही विशेष धन प्राप्त कर सकता है और वही बडा विजय प्राप्त कर सकता है।

यहां देवकार्य कौनसा है, इसका भी विचार करना चाहिये। " साधुजनोंका परि-त्राण करना, दुष्कर्म करनेवालोंका नाश करना और धर्ममर्यादा की स्थापना करना " यह त्रिविध कार्य देवकार्य कहलाता है। अर्थात् इसके विरुद्ध जो कार्य होगा वह राक्षस या आसुर कार्य समझना योग्य है। यह देवकार्य जो करता है और इस देव कार्यमें

अपनी शक्ति और धन जो लगाता है वह देवकाम मनुष्य समझना योग्य है। इसके विरुद्ध कार्य करनेवाला मनुष्य आसुरी कामनावाला कहलाता है और वह अवनतिको प्राप्त होता है।

गोरक्षा।

सप्तम मंत्रमें गोरक्षा का महत्त्व वर्णन किया है। यदि दुर्गतिसे बचनेका कोई सच्चा साधन है तो एक मात्र गोरक्षा ही है देखिये-

दुरेवां अमतिं गोभिः तरेम। (मं० ७)

"दुरवस्थाकी जो बुद्धिहीन स्थिति है वह हम गौओंकी रक्षासे दूर करेंगे।" अर्थात् गौओंकी सहायतासे हम अपनी दुरवस्था हटा देंगे। देशमें उत्तम गोरक्षा हुई और विपुल दूध हरएकको प्राप्त होने लगा तो देशकी दुरवस्था निःसन्देह दूर होगी। मनुष्यका सुधार करनेका यह एकमात्र उपाय है। इसी प्रकार-

विश्वे यवेन क्षुधं [तरेम]। (मं० ७)

"हम सब जौसे भूखको दूर करेंगे।" अर्थात् जौ आदि धान्य का भक्षण करके ही हम अपनी भूखका शमन करेंगे। यहां मांस आदि पदार्थोंका भूखकी निवृत्तिके लिये उल्लेख नहीं है, यह बात विशेष ध्यानमें धारण करने योग्य है। गौका दूध पीना और जौ गेहूं चावल आदि धान्यका सेवन करना, ये दो रीतियां हैं जिनसे मनुष्य उन्नत होता है और अत्यंत सुखी हो सकता है। अब अन्तिम मंत्रका उपदेश देखिये-

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त। (मं० ९)

"हे ज्ञान विज्ञानो! फलवाला विजय हमें दो।" यहां 'अक्ष' शब्द है, यह शब्द कोशोंमें निम्नलिखित अर्थोंमें आया है- " गाडीका मध्य दण्ड, आधार स्तंभ, रथ, गाडी, चक्र, तुलाका दण्ड, तोलनेका वजन (कर्ष), बिभीतक (भिलावाँ), रुद्राक्षका वृक्ष, रुद्राक्ष, इन्द्राक्ष, सर्प, गरुड, आत्मा, ज्ञान, सत्यज्ञान, विज्ञान, तारक ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, कानून (लॉ, law) कानूनी कार्यवाही, विधिनियम," हमारे मतसे यहांका 'अक्ष' शब्द अन्तिम आठ या नौ अर्थोंको यहां व्यक्त कर रहा है और इसीलिये हमने इसका अर्थ ज्ञान विज्ञान ऐसा किया है।

द्यु और दीवा की उत्पत्ति एकही दिव् धातुसे होनेके कारण ' अतिदीवा ' शब्दके प्रसंगमें जो अर्थ बताया है वही 'द्युवं' का यहां अर्थ है। 'विजिगीषा' यह इसका यहां अर्थ अभिप्रेत है। 'ज्ञान विज्ञानसे हमें फल युक्त विजय प्राप्त हो' यह इस मंत्रभागका यहां आशय है। ज्ञान विज्ञानसे ही सुफल युक्त विजय प्राप्त हो सकता है।

विजय ऐसा हो कि जैसी (क्षीरिणीं गां इव) सदा दूध देनेवाली गौ होती है। वियज प्राप्त करनेसे उसका मधुर फल भविष्यमें मिलता रहे और पुनः हमारा अधःपात कभी न होवे, यह आशय यहां है।

(कृतस्य धारया मा संनह्यत। मं० ८) अपने किये हुए पुरुषार्थके धाराप्रवाहसे मैं उत्कर्षको सरलतया प्राप्त होऊं। बीचमें किसी प्रकारकी रुकावट न हो। जो ज्ञान विज्ञानयुक्त होकर इस प्रकार परमपुरुषार्थ करेंगे वे ही निःसन्देह यशके भागी होंगे।

पुरुषार्थ विजय प्राप्त करनेवाले इस सूक्तका इस प्रकार विचार करें और बोध प्राप्त करें।

रक्षाकी प्रार्थना।

[५१ (५३)]

(ऋषिः-अङ्गिराः। देवता-इन्द्राबृहस्पती)

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥ १ ॥
॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(बृहस्पतिः नः पश्चात्, उत उत्तरस्मात्) ज्ञानका स्वामी हमें पीछेसे, उत्तर दिशासे, (अधरात् अघायोः पातु) नीचेके भागसे पापी पुरुषसे बचावे। (सखा इन्द्रः) मित्र प्रभु (पुरस्तात् उत मध्यतः) आगेसे और बीचमें से (सखिभ्यः वरीयः नः कृणोतु) मित्रोंमें श्रेष्ठ हमें बनावे॥ १ ॥

भावार्थ— ज्ञानदेनेवाला पीछेसे, ऊपरसे और नीचेसे अर्थात बाहरसे हमारी रक्षा करे और मित्र हमारी रक्षा संमुखसे और बीचके स्थानसे करे ॥ १ ॥

ज्ञान देनेवाला और सहायक मित्र ये दोनों रक्षा करते हैं, एक बाहरसे रक्षा करता है और एक अंदरसे रक्षा करता है। परमात्मा ज्ञान देकर बाहरसे और मित्र होकर अन्दरसे और सब ओरसे हमारी रक्षा करता है। पाठक इस रक्षाका अनुभव करें और उस परमात्माको अपना सच्चा मित्र मानें।

उत्तम ज्ञान।

[५२ (५४)]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता-सांमनस्यं, अश्विनौ)

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ॥ १ ॥
सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन।
मा घोषा उत स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ॥ २ ॥

अर्थ— हे (अश्विनौ) अश्विदेवो! (नः स्वेभिः संज्ञानं) हमें स्वजनोंके साथ उत्तम ज्ञान प्राप्त हो। तथा (अरणेभिः संज्ञानं) निम्न श्रेणीके जो लोग हैं उनके साथभी हमें उत्तम ज्ञान प्राप्त हो। (इह) इस संसार में (युवं अस्मासु संज्ञानं नियच्छतं) तुम दोनों हम सबमें उत्तम ज्ञान रखो ॥ १ ॥

(मनसा संजानामहै) हम मनसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करें, (चिकित्वा सं) ज्ञान प्राप्त करके एकमतसे रहें। (मा युष्महि) परस्पर विरोध न मचावें। (दैव्येन मनसा) दिव्य मनसे हम युक्त होवें। (बहुले विनिर्हते घोषा मा उत् स्थुः) बहुतोंका वध होनेके पश्चात् दुःखके शब्द न उत्पन्न हों। (आगते अहनि) भविष्य समयमें (इन्द्रस्य इषुः मा पप्तत) इन्द्रका बाण हमपर न गिरे ॥ २ ॥

दीर्घायु।

[५३ (५५)]

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता-आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च)

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥ १ ॥

अर्थ-हे बृहस्पते! हे अग्ने! तू (यत अमुत्र-भूयात्) जो परलोकमें होनेवाले (यमस्य अभिशस्तेः अमुञ्चः) यमकी यातनाओंसे मुक्त करता है।

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥ २ ॥
आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम् ।
अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥ ३ ॥

हे (देवानां भिषजौ अश्विनौ) देवोंके वैद्य अश्विनी देवो ! (शचीभिः मृत्युं अस्मत् प्रति औहतां) शक्तियोंसे मृत्युको हमसे दूर करो ॥ १ ॥

हे प्राण और अपानो ! (सं क्राम्मतां) शरीरमें उत्तम प्रकार संचार करो । (शरीरं मा जहीतं) शरीरको मत छोडो । वे दोनों इह ते सयुजौ स्ताम्) यहां तेरे सहचारी होकर रहें । (वर्धमानः शरदः शतं जीव) बढता हुआ तूं सौ वर्ष जीवित रह । (ते अधिपाः वसिष्ठः गोपाः अग्निः) तेरा अधिपति निवासक और रक्षक तेजस्वी देव है ॥ २ ॥

(ते यत् आयुः पराचैः अतिहितं) तेरी जो आयु विरुद्ध गतियोंसे घट गयी है, उस स्थानपर (तौ प्राणः अपानः पुनः आ इतां) वे प्राण और अपान पुनः आवें । (अग्निः निर्ऋतेः उपस्थात् तत् पुनः आहाः)वह तेजस्वी देव दुर्गतिके समीपसे पुनः लाता है, (ते आत्मनि तत् पुनः आवेशयामि) तेरे अन्दर उसको पुनः स्थापन करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— परलोकमें देहपातके पश्चात् जो दुःख होते हैं उनसे मनुष्य का बचाव होवे, और मनुष्यकी शक्तियोंकी उन्नति होकर उसका मृत्युसे बचाव होवे ॥ १ ॥

मनुष्यके शरीरमें प्राण और अपान ठीक प्रकार संचार करते रहें। वे शरीरको शीघ्र न छोड दें । ये ही जीव के सहचारी दो मित्र हैं। मनुष्य बढता हुआ सौ वर्षतक जीवित रहे, मनुष्यका रक्षक, पालक, संवर्धक और यहां का जीवन सुखमय करनेवाला एकमात्र परमेश्वर है ॥ २ ॥

जो आयु विरुद्ध आचरणोंके कारण घट जाती है, उसको प्राण और अपान पुनः ले आवें और यहां स्थापित करें । वही तेजस्वी देव दुर्गतिसे आयुको वापस ले आवे और इसके अन्दर सुरक्षित रखे ॥ ३ ॥

मुद्रक तथा प्रकाशक श्री० दा. सातवलेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ११

अंक ११

क्रमांक

१३१

कार्तिक

संवत् १९८७

नवंबर

सन १९३०

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष ११

अंक ११

क्रमांक १३१

वैदिक धर्म.

कार्तिक

संवत् १९८७

नवंबर

सन १९३०

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र ।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

अहिंसामार्ग का दर्शक ।

नाभिं यज्ञानां सदनं रयीणां महामाहावमभि सं नवन्त ।
वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवाः ॥

ऋग्वेद ६।७।२

" (यज्ञानां नाभिं) सब यज्ञोंका केन्द्र, और (रयीणां सदनं) सब धनोंका घर, ऐसा जो (महां आहावं) प्रार्थना करने योग्य महान् प्रभु है, उसकी (अभि सं नवन्त) सब लोग सब प्रकार प्रशंसा करते हैं । उस (अध्वराणां रथ्यं) अहिंसामय कर्मोंका मार्ग बतानेवाले और (यज्ञस्य केतुं) यज्ञ के झण्डेके समान (वैश्वानरं) सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभुको (देवाः जनयन्त) अग्नि सूर्य आदि देव प्रकट करते हैं । "

सब सत्कर्म जिसके उद्देश्यसे किये जाते हैं, और जो सब धनों का स्थान है, उस प्रार्थना करने योग्य प्रभुकी ही सब ज्ञानी लोग प्रशंसा करते हैं। अहिंसा का सीधा मार्ग बतानेवाले इस प्रभुकी शक्तिसे ही अग्नि वायु सूर्य आदि सब देव अपने अपने कार्य करने के लिये समर्थ हुए हैं । इस लिये कहा जाता है कि ये देव उसी प्रभुकी शक्तिको प्रकट करते हैं ।

आरोग्य, बल और दीर्घ आयु।

यदि मनुष्य को किसी बात की अत्यन्त आवश्यकता है, तो वह है आरोग्य, बल तथा दीर्घ आयु की। आजकल जो सुधार जारी हैं उनके कारण यदि कुछ दुर्लभ हो रहा है तो वह आरोग्य, बल तथा दीर्घ आयु ही हैं। प्रतिदिन आरोग्य कम हो रहा है, बल घट रहा है और मनुष्य अल्पायु बन रहे हैं। यह बात केवल हिन्दुस्थान ही में नहीं हो रही है, अन्य देशों में भी है। सभी देशोंमें ये तीन बातें घट रही हैं। परन्तु अपना देश परतंत्रता में फंसा है इससे ये बातें अपने देश में बहुत तेजी से घट रही हैं। अपने देश की और अन्य देशों की परिस्थिति में यही अन्तर है।

यूरोप, अमेरिका और जापान स्वतंत्र हैं और आधुनिक सुधारों के अग्रस्थान में विराजमान हैं, ऐसी दशा में भी वहां के लोगों का आरोग्य दिन प्रतिदिन घट रहा है, बल कम हो रहा है और आयु की मर्यादा संकुचित हो रही है इस बात की चिल्लाहट उन देशों में भी हो रही है। अपने देशमें ये तीनों बातें बहुत वेगसे घट रही हैं, तब भी उनके संबंध की चिल्लाहट नहीं सुनाई देती। इसका कारण यही कि यूरप अमेरिका के लोग अपनी हालत के बारेमें जागृत हैं और हमारे देश के लोग सोते हैं। इसी कारण उक्त बातों में थोडासा भी फरक हो तो यूरप अमेरिका के लोग उसे देख लेते हैं और उसके निवारण के जो आवश्यक उपाय होते हैं उन्हें करनेमें तत्पर रहते हैं। इसीलिए जिन कारणोंसे ये तीन बातें प्रतिदिन घटती हैं वे कारण उन देशों में विद्यमान होते भी अपने देश के समान र्‍हास वहां नहीं होता।

हमारे देश में समाचार पत्र हैं और मासिक पत्र भी हैं। परन्तु उनमें इस विषय की विशेष चर्चा नहीं होती और ऐसे पत्र प्रायः है ही नहीं जो केवल इन्हीं बातों पर लिखते हों। लेखक अनेक हैं, वक्ता भी कम नहीं हैं, पर जिन्होंने अपने को केवल इसी कार्य को अर्पण कर दिया है ऐसे लेखक और वक्ता इतने थोडे हैं कि वे नहीं के बराबर हैं। वास्तव में सभी लोगों को चाहिए कि इस विषय पर अधिक ध्यान दें। परन्तु दुःख की बात तो यह है कि आज कल इसी बात पर लोकों का बिलकुल कम ध्यान है।

हमने सैंकडों गांव देखे हैं और वहां की परिस्थिति का निरीक्षण किया है। इससे हम कह सकते हैं कि तीस वर्ष पूर्व जिन गांवों में ९०।९५ वर्ष के उत्साही मनुष्य दिखाई देते थे उन्हीं गांवों में आज साठ वर्ष के भी मनुष्य मिलना प्रायः असंभवसा हो गया है। तीस वर्षों ही में ऐसा भारी अन्तर दिखाई देता है। यह कहना योग्य नहीं कि जमीन, पानी, अग्नि, हवा और पोलास्थान इनके गुणधर्म कम हुए होंगे, क्यों कि वे जैसे थे वैसे ही हैं। तब जिन गांवों में हवापानी वैसा ही रहते हुए तीस चालीस वर्ष पूर्व नब्बे वर्ष से अधिक जीवित रहनेवाले हृष्टपुष्ट मनुष्य थे उन्हीं गांवों में आयु का ऐसा क्षय क्यों हुआ? मराठों के राजत्वकाल में देश जीतने को जानेवाले लोगों में साठ वर्ष से अधिक और अस्सी वर्ष से कम उमर के मनुष्य रहते थे। यह बात तो इतिहास के कागजातों से सिद्ध है। उसी देश में विदेशी राज्य स्थापित होकर सौ वर्ष बीत चुके किन्तु लोगों का आधा उत्साह घट गया है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह इस के कारण का विचार करे।

धान्य का सत्त्व घटा नहीं, दूध का सत्त्व जैसा था वैसा ही है और अन्य सर्वसाधारण बातें जैसी जैसी पहले थी वैसी अब भी हैं, तब फिर आयु इस प्रकार क्यों घट रही है? यदि वाचक विचार करें और अपने अपने गांव की तथा अपने अपने घर की परिस्थिति का निरीक्षण करें तो उन्हे स्पष्ट होगा कि जिस मात्रामें आयु घट रही है। उससे अधिक मात्रा में बल कम हो रहा है और उससे भी अधिक मात्रा में आरोग्य बिगड रहा है।

विचार करनेपर कहना पडता है कि हिन्दुस्थान के मनुष्य की जीवनशक्ति ही कम हो रही है। यदि अपन यह देखने लगें कि इस देश के भिन्न भिन्न प्रांतों में इसका प्रमाण क्या है तो विदित होगा कि शक्ति और आयु का प्रमाण सब प्रांतों में एकसा नहीं है। यदि बल की ही बात का विचार करें तो मालूम होगा कि मद्रास अहातेमें बल बिलकुल कम है और पंजाबमें वह बहुत अधिक है। बल की चढती हुई मात्रा के क्रम से भिन्न भिन्न प्रांत इस प्रकार रखे जा सकते हैं। मद्रास, बंगाल, संयुक्त प्रांत, महाराष्ट्र और पंजाब। विचार करनेकी बात है कि मद्रासमें बल कम और पंजाबमें अधिक क्यों हुआ। मद्रास और बंगाल में परकीय राज्य की स्थापना सर्व प्रथम हुई थी इसलिए वहां की प्रजा परकीय अमलदारीमें अधिक रही अतएव अधिक सत्वहीन हो गई। महाराष्ट्र और पंजाब में अखीर में अंग्रेजी अमलदारी हुई इसलिए वहां की प्रजा मद्रास और बंगाल के समान दुर्बल न बनी। यह बात भिन्न भिन्न प्रांतों की शक्तिका ऱ्हास देखने से विदीत होगी। जहां विदेशियों की अमलदारी अधिक दिन रही है वहां की प्रजा सत्वहीन हुई नजर आती है और जहां विदेशियों का अधिकार कम रहा है वहां की प्रजा में कुछ सत्व दिखता है। यद्यपि आजकल भारतवर्ष के सभी प्रांतों पर परकीय सत्ता का समान प्रभाव है तथापि वह सत्ता कुछ प्रांतों में पहले आरंभ हुई और कुछ प्रांतों में बाद इसी लिए भिन्न भिन्न प्रांतों में अपने को भेद दिखाई देता है।

रियासतें।

इसका विचार यहीं समाप्त नहीं होता। संपूर्ण भारतवर्षपर परतंत्रता का कुंद वायुमंडल यद्यपि समानता से फैला है तथापि रियासतों में यह वायुमण्डल कुछ छना हुवा है, याने रियासत की प्रजा राजसत्ता में अपनेपन का कुछ भाव धारण कर सकती है इस लिए रियासत की प्रजा शरीरसे कुछ हृष्टपुष्ट दिखाई देती है। महाराष्ट्र के पास यदि नजर डालें तो महाराष्ट्र के पास की छोटी रियासतें छोड दें और हैदराबाद रियासत को देखें तो समाप्त होने आये हुए संस्थानी स्वराज्यमें भी शरीरसे हृष्टपुष्ट मनुष्य केवल ऊपर ऊपर देखने-वालों को भी दिखाई देंगे। यह हाल प्रायः सभी रियासतों का है। इसका कारण यही है कि वहां की प्रजा के मन में अपनेपन का भाव रहता है।

कश्मीर, पतियाला, नाभा, ग्वालियर, इंदोर, बडोदा आदि रियासतों में यदि जावें तो अंग्रेजी अमलदारी की अपेक्षा शरीर से अधिक हृष्टपुष्ट लोग दिखाई देंगे।

वास्तव में यह अन्तर बहुत भारी नहीं है क्यों कि रियासतें भी तो परकीय शासन में दबी हुई हैं, उन्हें भी सर्वांगीण उन्नति के लिए जितनी आवश्यक है उतनी स्वतंत्रता कहां है? तब भी उन्हे जितना मौका है उतना ही फरक अपन देखते हैं। वाचक इससे समझ सकते हैं सन १८१८ में मराठों का राज्य समाप्त तक हमारे शूरवीर अस्सी नब्बे की आयु को पहुंचकर भी समर में शूरता दिखलाते थे और उनका शरीर आजकल के लोगों की अपेक्षा अधिक नहीं तो दुगना तिगना अवश्यही रहता था। परिश्रमशीलता, बल, शरीर का वजन, नीरोगता, दीर्घ आयु इन सब बातों में सौ वर्ष पूर्व के हमारे देश के लोग हम लोगोंसे आगे थे। मराठों राज्य का अन्त होनेपर भी तीन तीन पीढियों तक लोगों का शरीर इतना कमजोर न हुआ था। परन्तु संतावन के पश्चात् जब लोगों को स्वराज्य के संबंध में पूर्ण निराशा हुई, तब से लोगों के शरीर कमजोर होते चले। पंजाबमें यह फरक बहुत अधिक दिखाई देता है।

जिस फरक के दिखने में महाराष्ट्र में तीन पीढियां लगीं वह फरक पंजाबमें दिखाई देनेके लिए एक दो पीढियां ही काफी हुईं। इसका कारण यही कि महाराष्ट्र की अपेक्षा पंजाबने नवीन परिस्थिति को अपनाने का प्रयत्न जलदी किया। महाराष्ट्र ने सौ पचास वर्ष इसी में बिता दिए कि परिस्थिति बदलने न पावे। ऐसा पंजाब में न हुआ।

*

वाचक इस पर कहेंगे कि शरीर की वृद्धि हवा, पानी, अन्न आदि पर निर्भर है। उसका राजनैतिक परिस्थिति से संबंध ही क्या? परन्तु खुल्लम खुल्ला यह प्रश्न यद्यपि सत्य मालूम हुआ और शरीर की बाढ का संबंध हवा, पानी और अन्न से ही दिखाई दिया, तब भी वास्तविक विचार करने पर विदित होगा कि वह ऐसा नहीं है। यह सिद्ध करने के लिए कि राजकीय स्वतंत्रता और राजकीय परवशता इनसे आरोग्य, बल तथा दीर्घायुष्य का निकट संबंध है, बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं। महाराष्ट्र के स्वराज्य के दिनों में ज्वार और नमक रोटी खाकर तथा धूप में भटक कर प्रदेश जीतते समय भी मनुष्यों के शरीर जैसे पुष्ट बनते थे वैसे रोज मलीदा खाकर भी आजकल की मुर्दे जैसी शांतता में नहीं बनते। यह स्थिति हर एक मनुष्य समझ सकता है। यह बात विचार करने योग्य है कि ऐसा क्यों होता है। प्रत्येक विचारशील मनुष्य को सोचना चाहिए कि स्वतंत्रता में ऐसा पौष्टिक तत्त्व क्या है और परतंत्रता में क्षयी तत्त्व क्या है। यह विचार इस प्रकार है—

विदेशी सत्ता होने से हरएक कार्यक्षेत्र विदेशियों के अधीन रहता है। इससे स्वदेशी लोगों के अधिन उतना कार्यक्षेत्र नहीं रहता। ऐसे जितने कार्यक्षेत्र स्वदेशी लोगों से ले लिए जावेंगे, उतनी ही कमी परतंत्र लोगों को होगी और उतनी ही उनको रुकावट होगी। जितनी रुकावट अधिक उतना ही उत्साहभंग अधिक और जितना उत्साहभंग अधिक उतना ही मनुष्य, बल तथा आरोग्य कम होते जाना बिलकुल स्वाभाविक है। परतंत्रता के वायुमण्डल में जो विष रहता है वह यही है। बडे बडे लोग जो कहते हैं कि 'परदेशी राज्य कितना ही अच्छा क्यों न हो, वह स्वराज्य की बराबरी कभी भी नहीं कर सकता', उसका कारण यही है। अब यही बात अपने देश को कहां तक लागू होती है सो देखें—

जब से अंग्रेजी राज्य हो गया है तब से क्षत्रिय वर्ग बिलकुल बेकार सा हो गया है। पलटनों में कुछ सिपाही हवेल हुए करते हैं सही, पर वे केवल हुक्म के बन्दे हैं और हुक्म करने का सब अधिकार अंग्रेज अधिकारियों को है। इस लिए हमारे देश के क्षत्रिय वर्ग का सब कार्यक्षेत्र परदेसी लोगों के अधीन है। इस बात में होनेवाली रुकावट वास्तव में इतनी असह्य है कि उसके कारण सब देश प्रतिदिन दुर्बल होता जा रहा है। सौ डेड सौ वर्ष पूर्व महाराष्ट्र का तथा अन्य प्रांतों का क्षत्रिय वर्ग भारतीय शतरंज के पट पर अपनी बुद्धिमानी से गोटें नचा रहा था और आज देश स्वतंत्र होता तो हमारे शूरवीर पुरुषों ने बाहर के देशों में भी अपने वीर नचाए होते। कुछ ही वर्ष पूर्व जो लोग पठानों के देश में जाकर वहां अपनी प्रभुता स्थापित करने में समर्थ हुए वे ही लोग आजकल गांव में अकेले दुकेले पठान को देखकर घबडाने लगे हैं। इस सम्पूर्ण स्थित्यंतर का कारण देश की परतन्त्रता ही है।

इस बात का विचार करने से वाचकों को विदित होगा कि यह परकीय सत्ता सम्पूर्ण क्षत्रियवर्ग को कमजोर बनाने के लिए कारण हुई है। क्षत्रियों को क्षात्र कार्यक्षेत्र न रहा तब उनमें से कुछ खेती में घुसे और कुछ सरकारी नौकरी के लिए तरस रहे हैं। वे आज नौकरी करने में ब्राह्मणों के साथ स्पर्धा करने को विवश हुए, उसका कारण केवल परकीय सत्ता और देश की परतन्त्रता ही है। यदि देश स्वतन्त्र होता तो क्षत्रिय लोग नोकरी के लिए इतने उत्सुक एवं अधीर हुए कदापि न दिखाई देते।

हमारा धर्म चातुर्वर्ण्यात्मक है। उसमें से एक वर्ण इस प्रकार पैरों तले कुचला जा रहा है। यदि धर्म के चार पैर माने जावें तो उनमें से एक पैर परकीय सत्ताने काट डाला है। इसलिए धर्म का चौथाई हिस्सा आचरण में आना असंभव हो गया है। सरकार कहती है कि हम किसी के भी धर्म में हस्तक्षेप नहीं करते, परन्तु उन्होंने हमारे चातुर्वर्ण्य धर्म के एक वर्ण क्षत्र वर्ण का कार्यक्षेत्र बिलकुल ही नष्ट कर दिया है, इसलिए एक चतुर्थांश धर्म प्रायः कार्य में आना असंभव हो गया है। अब वाचक ही देखें कि इसमें धर्म में हस्तक्षेप होता है

या नहीं ।

अन्य वर्णों के संबंध में कहना ही क्या? आर्थिक और औद्योगिक परतंत्रता आजदिन राजनैतिक पारतंत्र्य से भी अधिक भयानक हो गई है। बाहर से कोई यंत्र आता है और एक पूरा गांव सदा के लिए बेकार हो जाता है। मोटरों के आने से गाडीवाले नष्ट हुए, पीसने के यंत्र आने से गरीब स्त्रियों की मजदूरी डूब गई, कूटने फटकने के यंत्र आ गए उससे गांव के चांवल तैयार करनेवालों की मजदूरी नष्ट हो गई, विदेशी कपडा आने से सब कुछ कुछ डूब गए; इस प्रकार हजारों धंधे विदेशी प्रयत्नों के कारण डूब रहे हैं। इसलिए गांव बेकारी के क्षय के रास्ते पर हो चले हैं। यदि ये ही यन्त्र इसी देश में तैयार होते तो एक काम से बेकार हुए मनुष्य दूसरी ओर काम में लग गये होते। परन्तु ये मारक यंत्र विदेश में तैयार होते हैं इसलिए विदेश में बेकारी कम और इधर बेकारी अधिक हो चली है। जो धन्धेवाले हैं, इस विदेशी यन्त्र-स्पर्धा के कारण भूखों मर रहे हैं। उस कारण प्रतिदिन बल, आरोग्य और दीर्घायुष्य कम होता जा रहा है।

इसका विचार करनेपर वाचक समझेंगे कि आरोग्य, बल और दीर्घ आयुष्य का संहार होने का कारण विदेशी स्पर्धा है। दूसरा कारण यह है कि 'खटपट' फजूल ही बढ गई है। बम्बई में और उसके आसपास यह खटपटी इतनी बढी है और दिन पर दिन इतनी अधिक बढती जाती है कि उसका अनिष्ट परिणाम भयानक रूप से लोगों को भुगतना पडता है। बम्बई के आसपास के लोगों के इतने निःसत्व होने का कारण यह है। विदेशों में भी यह खटपटी बढी ही है, इससे वहां भी संहार-देवता अपना कार्य कर रही है। परन्तु वहां की हवा प्रायः शीत है इसलिए उष्ण देशों के समान वहां अनिष्ट परिणाम नहीं दिखाई देता; तब भी अंशतः वह परिणाम दिखता ही है। परन्तु हमारे देश में उसका स्वरूप भयंकर हुआ है इसका कारण उसमें पारतंत्र्य का भारी कारण और मिल गया है।

इसलिए यदि वाचक सचमुच चाहते हैं कि आरोग्य, बल और दीर्घ आयुष्य बढे, तो स्वराज्य के लिए योग्य दिशासे प्रयत्न हो कर वह जितने जल्दी हो सके स्थापित होना चाहिए। जब तक वह स्थापित नहीं होता और जब तक चारों ओर से यह रुकावट जारी है, तब तक सामान्य उपायों से उक्त तीन बातें प्राप्त होना असंभव है। तथापि पथ्यमितहित भक्षण और व्यायाम इन साधनों का अवलम्ब करें तो अंशतः प्रगति होना संभव है। इस आपत्ति के समय यदि इतना ही साधन करें तब भी कम नहीं है।

मांसाहार कब और किस प्रकार प्रचार में आया ?

आजकल बहुत से लोग समझते हैं कि मनुष्य-प्राणी आरंभ से मांसभक्षक है। वह मांसभक्षक बनकर ही उत्पन्न हुआ और जैसे वह सुधरते गया वैसे उसने मांस खाना छोड दिया। प्रायः सभी देशों के विद्वानों की यह समझ है। परन्तु विशेष विचार न कर इस समझ को मानना असंभव है। आजकल डॉ० डार्विन ने बहुत परिश्रम के पश्चात् एवं अन्वेषण करके उत्क्रान्तिवाद के सिद्धान्त खोजकर निकाले और यह निश्चित् किया कि बन्दर का ही उन्नत स्वरूप मनुष्य है। इस मत को सत्य मान लें तो यह भी मानना होगा कि बन्दर के समान मनुष्यप्राणि भी शाकाहारी होना चाहिए।

बन्दर की योनि से उत्क्रान्त हुआ मनुष्य जन्मसे मांसभक्षक होना असंभव है। अतः यदि उत्क्रान्तिवाद सत्य है और उस मत के अनुसार यदि बन्दर के बाद उन्नति हो कर मनुष्य प्राणि बना है, तो बन्दर फलभोजी होने के कारण प्राथमिक मनुष्य भी फलभोजी होना ही अधिकसंभवनीय है।

मनुष्य के शरीर की रचना देखनेसेभी यह नहीं विदित होता कि वह स्वभाव से मांसभोजी होगा। उसके दांत, उसका जबडा, उसका पेट, उसकी आंखें आदि शरीर के अंग मांसभक्षक प्राणि के समान नहीं हैं किन्तु वे विशेषतः फलाहारी प्राणियों के समान ही हैं। मांसभक्षक प्राणियों की आंखें और उनकी पानी पीने की रीति भी मनुष्यों में नहीं दिखाई देती। अतः सरसरी तौर से विचार करने पर भी यही कहना प्राप्त होता है कि प्रथम अवस्था का मनुष्य मांसभक्षक न होना चाहिए।

जो प्राणि स्वभाव ही से मांसभक्षक हैं उन्हे दूसरे पशुओं को मार डालने के साधन जन्मसें ही प्राप्त हैं। नाखून, जबडा आदि दूसरे पशुओं को काटने के साधन सिंह, व्याघ्र, बिल्ली, कुत्ता, लडैया आदि के पास हैं। इन जन्म से प्राप्त साधनों से हम लोगों को विदित होता है कि ये हिंस्र पशु दूसरे प्राणियों को मारकर उनपर उपजीविका करने में समर्थ हैं। इसके विपरीत गाय, ऊंट, हाथी, आदि प्राणियों को देखिए। इनके दांत और हाथ ऐसे बिलकुल ही नहीं हैं कि जिनसे वे दूसरे पशुओं को मारकर खा सकें। मनुष्य का भी यही हाल है। मनुष्य के पास ऐसे स्वाभाविक साधन नहीं हैं कि जिनके कारण वह दूसरे पशुओं को काटकर उनका कच्चा मांस खा सके। आजका मनुष्य बाह्य साधनों से अत्यंत संपन्न हुवा है अर्थात् उसके पास बहुतसे मारक शस्त्र तैयार हैं परन्तु इसका विचार अपने को नहीं करना चाहिए। अपने को तो मनुष्य की प्रारंभिक हालत का ख्याल करना चाहिए। अपने को देखना यह चाहिए कि जिस अवस्था में मनुष्य बाह्य साधनों से शक्तिमान् नहीं बना था, वह अग्नि प्रदीप्त करने की कला नहीं जानता था, उसने पत्थर के शस्त्र भी जिस समय नहीं बनाए थे किन्तु निसर्गदत्त पदार्थों पर ही वह अपनी जीविका चलाता था, ऐसी दशामें वह मांसाहारी था या शाकाहारी था। इस अवस्थामें उसके पास साधनों का अभाव था अतएव वह फलभोजी ही होना चाहिए।

कौए भी मांस खाते हैं। परन्तु बडा जानवर मर जानेपर वे उसे खाते हैं और संभव है कि वे छोटे छोटे कीडेमकोडों को वे जीतेजी भी खा जाते होंगे। मनुष्य स्वभाव से ऐसा भी नहीं करता। मालूम होता है कि मनुष्य स्वभाव से मृतमांस खानेवाला नहीं है क्यों कि जिस दुर्गंध से गिद्ध आकर्षित होते हैं वह मनुष्य के लिए आकर्षक नहीं प्रतीत होती। जिस समय जीवित प्राणियों को चीर फाड कर खाने के साधन मनुष्य के पास न थे, मृत शरीर को काटना भी जिस समय उसके लिए असंभव था और जिस समय मांस चुरोकर या कच्चा खाना मनुष्य के लिए बिलकुल ही असंभव था, उस समय मनुष्य फलाहार करके ही जीवित रहता होगा। यही अनुमान ठीक मालूम होता है क्यों कि अपन स्वयं देखते हैं कि बन्दर इसी प्रकार आजकल भी निर्वाह करते हैं। इस प्रकार निःसंदेह सिद्ध होता है कि प्रारंभिक अवस्था में मनुष्य फलभोजी ही था। जब मनुष्य के पास पैने और मारक शस्त्र बढने लगे तब से आगे शायद मनुष्य मांसाहारी होना आरंभ हुआ हो। बाहर के जीवन-कलह के परिणाम की परिस्थिति ने उसे मांसाहारी बनाया होगा। इस संबंध में गौड सारस्वतों का उदाहरण देखने योग्य है।

दक्षिण भारत में कम से कम सात, आठ हजार वर्षों से गौड सारस्वत नाम की ब्राह्मणों की जाति विद्यमान है। यह जाति मत्स्यभक्षक कैसे बनी इस बात का विश्वसनीय इतिहास आज उपलब्ध हुआ है। इस जाति के ब्राह्मण बहुत विद्वान् थे और सरस्वती नदी के किनारे रहते थे। कुछ शतकों के अनन्तर बडा भारी अकाल पडा। लोगों को खाने के लिए अन्न न रहा। ऐसी भारी विपत्ति में सारस्वतों के सन्मुख यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि जीवित किस प्रकार रहें और हमारी विद्या

की रक्षा किस प्रकार करें? उन दिनों में छापेखाने तो थे नहीं अतएव विद्या मुख में अर्थात् स्मरण में रखना पडती थी। अतः यदि ये सब ब्राह्मण भूखों मर जावें तो उनकी विद्या भी उनके साथ ही नष्ट हो जावेगी। इसलिए उनपर इस समय दो प्रकारका उत्तरदायित्व था, एक तो अपना जीवन कायम रखना और दूसरे अपनी विद्या कायम रखना। इस १२ वर्ष के अकालके समय अन्न बिलकुल न होने के कारण यह नौबत आगई कि जीवित रहना हो तो मच्छी खाकर रहें। ऐसे समय कुछ कुटुम्ब विद्यारक्षण के हेतु मत्स्य खाकर जीवित रहने को तैयार हुए और अन्य भूखों रहकर मर गए। इस कारण से गौड सारस्वत ब्राह्मणोंमें विशेषकर इन कुलों के सारस्वतों में मत्स्याहार शुरू हुआ। अन्य कई सारस्वत कुल उत्तरमें अब तक ऐसे हैं जो मूल की रीति के अनुसार शुद्ध शाकाहारी ही हैं। इस इतिहाससे विदित होगा कि अकाल आदि आपत्तियों के कारण ऐसे कई कुटुम्ब, जो पहले शुद्ध शाकाहारी थे, मांसाहारी बन गए। यहां यह बात ज्ञात होती है कि अन्न के लिए जब जीवनकलह बढा उस काल के अनंतर मनुष्य मांसाहार के लिए प्रवृत्त हुआ होगा। अर्थात् इस कथा से यही दिखाई देता है कि प्रथमारंभ में मनुष्य मांसाहारी नहीं था। इसी कारण से युद्धमें शत्रुद्वारा घिर जाने पर मनुष्य जो चाहे सो खाते हैं और जीवित रहने के लिए चाहे जिस जानवर का भी मांस खाने को प्रवृत्त होते हैं। ये सब जीवनकलह की आपत्तियां ही हैं।

प्रारंभ में मनुष्य थोडे और वनस्पतियां उनके प्रमाण से अधिक थीं। अतएव फल भी अधिक उत्पन्न होते थे। ऐसे समय बन्दरों के समान उन दिनों के मनुष्यों का निर्वाह फलों पर हो सकता था। अतएव इस समय के मनुष्यों को जीवनकलह की आंच कमसे कम फलभोजन के बारे में नहीं लगी। इस लिए प्रारंभिक मनुष्य मांसभोजी होने का कोई कारण ही नहीं था। उसका स्वाभाविक आहार जो फल वे उसे जितनी चाहे उतनी मात्रामें उस समय मिलना संभव था।

हमारा पुराने से पुराना ग्रंथ ऋग्वेद है। मानवी पुस्तकालय में यह ग्रंथ अत्यंत प्राचीन है। इस ग्रंथ में तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में अन्नवाचक नामों में ऐसा एक भी शब्द नहीं है जिसका अर्थ 'मांस' होता है; और सब अन्नवाचक शब्द वनस्पति के वाचक हैं। सब अन्न का राजा 'सोम' है। वेद कहता है कि सोम देवोंका अन्न है। वेदों का सिखापन है कि देव जो खाते हैं या जो करते हैं वही मनुष्य भी खावें या करें। तब सोमरस यदि देवों का अन्न है तो वही मनुष्यों का भी अन्न सिद्ध होता है। यदि पहले लोगों का अन्न मांस होता तो उस अन्न के वाचक शब्द वेदों में विपुलता से आए होते। परन्तु अन्न का राजा सोम वनस्पति है और उसका रस पीना या खाना ही वेद में बतलाया गया है। यही प्राचीन अन्न है।

कहा गया है कि देव'अमृतान्धस्' अर्थात् न मरा हुआ खानेवाले वाले हैं। पशु का मांस उसके मरने के पहले प्राप्त नहीं होता। अतः ' अ-मृत-अन्धः ' शब्द से सिद्ध होता है कि देव मांस नहीं खाते थे। 'सोमो वै देवानां अन्नं' अर्थात् सोम देवों का अन्न है। इन दोनों की यहां तुलना करना चाहिए। इस तुलना से निश्चय होगा कि पूर्वकाल के देवों का अर्थात् पूर्व के देवजाति के मनुष्यों का अन्न वनस्पति का ही था। देवजाति मानवजाति ही थी। वेद में ही कहा है कि उसे अपने कर्म ही से देवत्व प्राप्त हुआ था। इन अति प्राचीन काल के मानवों का, आर्यों से भी प्राचीन काल के मानवों का अन्न सोम था अर्थात् वे प्रथम शाकाहारी ही थे। यह बात विशेष रीतिसे ध्यान में रखनी चाहिए कि इस समय के अन्नवाचक शब्द का अर्थ मांस नहीं होता। क्योंकि इस समय मांस खाने के पदार्थों में शामिल ही नहीं था।

उन देवों के भी पूर्व की जाति राक्षस आती है। यह जाति भी पहले ब्रह्मचर्य का पालन करती थी, धर्म-नियमों का पालन कर तपस्या करती थी और दूसरों की रक्षा करने में आत्मसमर्पण कर देती थी। आगे चलकर जब यह जाति शक्तिवान् हो गई तब उसीने अपने सुख के लिए दूसरों की बलि लेना

आरंभ कर दिया। अर्थात् जो जाति उदयकाल में दूसरों के उद्धार के लिए आत्मसमर्पण करती थी वही बलशाली होनेपर दूसरों को अपने सुख के लिए कुचलने लगी। याने जो पहले 'रक्षक' थे वे ही 'भक्षक' बन गए। सुख की लालसा के कारण खानेपीने में मांस धीरे धीरे आगया और बहुत समय बीतने पर अत्यंत अवनत अवस्था में पहुंचे हुए मनुष्योंने मनुष्यों का कच्चा मांस खाना आरंभ कर दिया। जो राक्षसजाति प्रथम अपनी जाति के स्त्रियों के पातिव्रत्य का अभिमान करती थी वही जाति आगे चलकर दूसरों की स्त्रियोंका पातिव्रत्य भ्रष्ट करने लगी। अर्थात् जो जाति प्रथम 'रक्षक' थी वही अवनत होकर ' सर्वभक्षक ' हो गई। इसका कारण यही एकमात्र है कि इस जाति में जीवन-कलह अति तीव्र हो गया। इसी जीवन-संग्राम के कारण मूल के शाकाहारी मनुष्य मांसाहारी बन गए।

महाभारत ग्रंथ में वसु राजा की कथा है। उसमें ऋषि और देव का संवाद है। देव नए मतका प्रसार करने लगे कि यज्ञ में पशु मारा जाय और ऋषि पुराने मतके थे कि निर्मांस यज्ञ करना चाहिए। दोनोंका झगडा बढते बढते अंत में वह वसु राजा के पास आया। उस राजाने देवों का पक्षपात करके कहा कि देवोंका नया मत ही बराबर है। इस पक्षपातका परिणाम वसु राजा को पदच्युत करने में हुआ। क्यों कि उस समय निर्मांस-यज्ञ के मत के लोग अधिक थे। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि इन चार युगों के समय का प्रमाण क्रमसे चार लाख, तीन लाख, दो लाख और एक लाख वर्ष का माना जाता है। प्रथम के दो युगों में याने इस जगत् के प्रारंभ से करीब सात लाख वर्षों की अवधि में मनुष्य फलभोजी ही थे, आगे के युगों में मनुष्य धीरे धीरे मांस खाने की ओर झुकते गए। इस प्रकार हमारे पुराण-ग्रंथों में कहा गया है। ऋग्वेद में भी कई स्थानों में इसी प्रकारके उल्लेख हैं कि पहले के लोगों के यज्ञ वसंत आदि ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले निसर्गसिद्ध पदार्थों के द्वारा ही किए जाते हैं। आगे चलकर उन यज्ञों में धीरे धीरे मांस का प्रवेश हुआ होगा।

इस दृष्टिसे देखने पर यही कहना पडता है कि आरंभ में मांसभक्षण की प्रथा न थी। यदि अपन यज्ञ का इतिहास देखने लगें तो भी अपने को यही दिखाई देगा कि ' पूर्व वेदी ' पर केवल वनस्पतिका या धान्य का हवन करते हैं और ' उत्तर वेदी ' में मांस का हवन होता है। पूर्व-वेदी पहलेके समय की वेदी है। पूर्व काल में मांस खाया ही नहीं जाता था तब हवन में मांस कैसे आसकता था। इसी लिए उस समय की वेदी में मांसका हवन नहीं होता। परन्तु आगे चलकर जैसे जैसे मनुष्य अवनत हुए और उनमें मांस का प्रचार हुआ वैसे वैसे उत्तरवेदी पर मांस का हवन होने लगा। हमारी यज्ञप्रक्रियामें पूर्व और उत्तर वेदियोंका यह भेद स्पष्ट रीतिसे दिखलाया गया है। यह बात, मांसभक्षण का आरंभ इतिहास की दृष्टिसे देखनेवाले के लिए बहुत सहायक है। यज्ञ में जिस समय उत्तर वेदी का प्रचार हुआ उस समय मांस-भक्षण का आरंभ हुआ होगा। इसके पूर्व के काल की ऊपर दी हुई वसु राजा की कथा है। उस समय मांस—यज्ञ को संमति देने के कारण वसु राजा को पदच्युत होना पडा। इससे दिखाई देता है मांसभक्षण किस प्रकार धीरे धीरे प्रचार में आया। वसु राजा के समय मांस भक्षण का प्रसार अधिक न था, इसलिए सार्वजनिक मत विरुद्ध होने के कारण मांसयज्ञ को संमति देने से वह राजा पदच्युत हुआ। परन्तु आगे चलकर जब मांस का प्रचार बढा, तब यज्ञ में ही उत्तर-वेदी बनानी पडी और मांस-हवन यज्ञ का एक भाग हो बैठा। यह मांस की बाढ का इतिहास देखने से विदित होगा कि क्रमसे मनुष्य फलभोजी का मांसभोजी किस प्रकार बना।

सब हिन्दू लोक तेवहार के दिन और विशेषतः उपवास के दिन अति प्राचीन प्रथा के अनुसार चलते हैं। इसलिये रोज मांसाहार करनेवाला हिन्दू भी व्रत के दिन फलाहार और शाकाहार ही करता है; और नहीं तो उस दिन वह मांस बिलकूल नहीं खाता। पवित्र दिन और पवित्र तिथी के दिन भी मांस खाने की प्रथा नहीं है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि प्रारंभ के लोग मांसाहारी न थे किन्तु

शुद्ध फलभोजी थे। यह पूर्व का स्मरण इस दिन के लिए उन्होंने कायम रखा।

मनुष्य का अतिप्राचीन भोजन फलाहार है। उसके पश्चात् कंदमूल का प्रचार हुआ। तदनंतर धान्यों का उपयोग किया जाने लगा। इस धान्य के युग में भी 'अकृष्टपच्य' याने हल चलाकर उत्पन्न न किये हुए धान्य खाना अति प्राचीन अन्न था, और 'कृष्टपच्य' याने हल चलाकर उत्पन्न किया हुआ धान्य खाना अर्वाचीन अन्न है। इस के बहुत समय बाद मनुष्य मांस भक्षण करने लगा। इसके लिए सबूत हिंदुओं के एक तेवहार के इतिहास में मिल सकता है। 'ऋषिपंचमी' नाम का एक हिन्दुओं का तेवहार है। बहुत प्राचीन समय से प्रथा है कि उस दिन कंदमूल और ऐसे पदार्थ जो बैलों से न जोती गई जमीन में होते हैं खाये जावें। इससे निःसंदेह सिद्ध होता है कि हिन्दुओं के पूर्वजों का अतिप्राचीन काल का अन्न यही याने कंदमूल और अकृष्टपच्य अन्न था। क्यों कि इस तेवहार से सहज में ज्ञात होगा कि ऋषिकाल में कौनसा अन्न खाया जाता था। यदि ऋषि मांस खाते होते तो किसी न किसी रीति से मांस या मांस का प्रतिनिधि उस दिन के अन्न में आया होता। परन्तु वह नहीं है इसलिए स्पष्ट होता है कि ऋषियों का अन्न कंदमूलफलही हैं। आगे के काल में फिर लोग मांस भक्षण करने लगे। संस्कृत के 'ऋष्यन्न' और 'मुन्यन्न' शब्दों का अर्थ किसी भी परिस्थिति में 'मांसान्न' नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल के ऋषि शाकभोजी और फलभोजी थे। इसके आगे के समय के लोग जिह्वालौल्य के कारण मांसभोजी बने।

चीन में हाल ही में बडा भयानक अकाल पडा था वहां लोग भोजन के लिए ऐसे तरसने लगे थे कि कुछ लोग तो नरमांस ही खाने लगे थे। इसका कारण वहां का अकाल ही है। चीन के लोग यद्यपि सभी प्राणियों का मांस खाया करते हैं तब भी वे नरमांसभक्षक नहीं हैं। परन्तु अकाल में उनमें से कुछ नरमांस खाने लगे। इसका कारण भयानक अकाल ही है। चीनी लोग सर्वभक्षक होने के कारण नरमांस खाने के लिए सहज ही में प्रवृत्त हुए। यदि वे भारतीय ब्राह्मणों के समान प्रथम से निर्मांसभोजी होते तो शायद वे मत्स्याहार तक ही पहुंचते। भारतीय सारस्वत ब्राह्मण असल में फलभोजी थे पर अकाल में मत्स्याहारी बने और चीनी लोग मूल के कृमि-कीटजन्तु भोजी थे इसलिए अकाल के महा कष्टों ने उन्हे नरमांसभक्षक बना दिया। इससे स्पष्ट होगा कि मनुष्य अकाल आदि आपत्तियों के कारण किस प्रकार पतित होता है।

अकाल की भयानक आपत्ति से शाकाहारी सात्विक वृत्ति का मनुष्य प्रायः मर ही जावेगा, वह एकाएक मांसाहार न करेगा। परन्तु राजसी वृत्तिका भोगी और तमोवृत्ति का गंवार मनुष्य दूसरे के गले पर छुरी चला कर आपने सुख का साधन प्राप्त करने में न हिचकिचावेगा।

इससे स्पष्ट होगा कि आपत्ति के समय मनुष्य दो एक सीढियां पतित होता है। याने शाकाहारी मनुष्य आपत्ति के कारण अण्डे, मच्छी आदि खावेगा और प्रथम से ही मांसाहार करनेवाला नरमांस भी खावेगा। आपत्ति के समय लगी हुई इस प्रकार के अन्न की रुचि जल्दी न मिटेगी, यदि वह अकाल बहुत दिन तक टिके या वह बारबार आवे। इसलिए विशेष कारण से मन न पलटे तो एक बार पडी हुई मांस खाने की आदत से मनुष्य सदा के लिए मांसाहारी बना रहेगा।

केवल अकाल की आपत्ति से ही ऐसा होता है यह नहीं किन्तु अन्य कई आपत्तियां ऐसी हैं कि जिनके कारण मनुष्य मांसाहार के लिए प्रवृत्त होगा। मांसाहारी मनुष्यों में या उनके देशों में सदैव रहने से और काफी शाकाहारी पदार्थ वहां न मिलने से ऐसे विदेश में गए हुए लोग मांसाहारी बन जाते हैं। बहुत दिन तक चलनेवाले युद्ध में शत्रु का घेरा पडने पर सैनिक चाहे जो मांस खाने को तैयार हो जाते हैं। यह आजकल की स्थिति मान ली जाय तब भी प्राचीन काल में सदैव हिमवृष्टि आदि करणों से मनुष्य मांस खाने को प्रवृत्त हुए। उत्तर ध्रुव की ओर मनुष्यों की बस्ती थी, वहां केवल शाका-

हारी हाथी के समान प्राणी थे। इसपर से यह निर्विवाद है कि वहां पूर्वकाल में वृक्षवनस्पतियां होती थीं। परन्तु आगे चलकर कालचक्र बदल गया, वहां हिमवृष्टि आरंभ हुई, इसलिए मनुष्य को वहां कंदमूलफल मिलना दुरापास्त हो गया। इसी लिए वहां के लोगों को मांसाहार करना आवश्यक हुआ।

इस सब विवेचन से वाचकों को विदित होगा कि इस प्रकार की बाह्य आपत्तियों के कारण मूल के शाकाहारी लोग भी मांसाहारी किस प्रकार बने। अपने हिन्दुधर्मग्रंथों के नियमों की ओर देखने से तुर्त ही विदित होगा कि उस धर्म की प्रवृत्ति मांसाहार को हटाने की ओर है। सोमवार, मंगलवार, बृहस्पतिवार, शनिवार, इतवार इन दिनों में मांस न खाना चाहिए; तिथियों में चतुर्थी, अष्टमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी इन तिथियों को मांस न खाना चाहिए। खास खास तेवहारों में न खाना चाहिए इस प्रकार के जो नियम हैं उन्हे देखने से विदित होता है कि आपत्तिकाल में मांस खाने की जो प्रवृत्ति हुई उसे दूर करने का यह प्रयत्न है। ये नियम स्पष्ट रीति से बतलाते हैं कि निर्मांस भोजन शुद्ध, उच्च और अच्छा है। इसीलिए इन नियमों में यह प्रवृत्ति दिखाई देती है कि आपत्काल में शुरू किया हुआ मांसभोजन पवित्र दिन को नहीं खाना चाहिए।

संस्कृत में जो 'मांस' शब्द है उसका अर्थ हैं '(मां याने) मुझे आगे (सः याने) वह खावेगा'। इसका अर्थ यह है कि हिन्दु लोग जानते हैं कि 'जिसका मांस आज अपन खाते हैं, वह आगे चलकर हमे कभी तोभी अवश्य ही खावेगा'। इस जानकारी के कारण अन्य जातियों के समान हिन्दु जाति आपत्ति आने पर भी अधिक मांसभक्षक नहीं बनी। पुनर्जन्म की कल्पना के कारण हिन्दु मनुष्य पूर्णतया जानता है कि परमेश्वर के नियम अचल हैं, अपने शरीर में शक्ति रहनेके कारण ही यदि उसका उपयोग अपना पेट पालने के लिए दूसरे के संहार में करें तो परमेश्वरी नियम की समता के कारण आगे अपनाभी संहार अवश्य होगा। इस ज्ञान के कारण हिन्दु मनुष्य आपत्ति में भी अन्य मनुष्यों के समान मांसाहार के लिए प्रवृत्त नहीं होता। मांस शब्दका अर्थ भी किस प्रकार बोधप्रद है सो वाचक अवश्य देखें।

वैदिक धर्मशास्त्र में जो उत्क्रान्तिवाद है वह डार्विन के सिद्धान्तों से भिन्न है। प्रलयकाल में या यह संसार उत्पन्न होने के पूर्व काल में प्राकृतिक परमाणु बिलकुल विरल अवस्था में थे। और उनमें भिन्न भिन्न योनी के अभिमानी जीव सुप्त अवस्थामें थे। आगे चलकर जब परमाणु संगठन आरंभ हुआ तब परमाणु-संघोंका घनीभवन होने लगा और भीतरी केन्द्र की इच्छाशक्ति के अनुसार वह घनीभवन होकर जैसे शरीर बनना थे वैसे बन गए और भीतरी केन्द्र की इच्छाशक्ति के अनुसार उनके स्वभाव भी बन गए। इस समय इन मनुष्यों के शरीर अयोनिज होने के कारण अत्यंत शुद्ध थे और उन में हीन विचार और बुरी प्रवृत्ति नहीं थी। ऐसे मनुष्य से मांसभक्षण होना ही असंभव था। क्यों दूसरे का प्राण हरण करने के लिए जिस क्रूरताकी आवश्यकता होती है, वह क्रौर्य उनके शरीर की अत्यंत पवित्रता के कारण उनमें रहना संभव नहीं था। सारांश यही कि उन दिनों के मनुष्य उञ्छ वृत्तिसे उपजीविका करनेवाले थे अर्थात् वृक्षपर से पककर जो फल नीचे गिरता, वही भर वे खाते थे। ऐसी दशा में मांसाहार होना ही असंभव है। इस लिए हिन्दुधर्मग्रंथ की दृष्टि से आरंभ के मनुष्य मांसभक्षक न थे।

सिंह, व्याघ्र, लडैया, बिल्ली आदि जन्म से ही हिंसा करनेवाले प्राणी बिलकुल छुटपन ही से दूसरों पर झपटनेको तैयार रहते हैं। उस प्रकार मनुष्य प्राणी छुटपन में तो नहींच पर बडेपन में भी दूसरों पर झपट कर उसे खा डालने की प्रवृत्ति का नहीं दिखता। इस प्रवृत्ति के अभाव में मनुष्य प्राणी प्रारंभ में या स्वभावतः मांसभोजी न होना चाहिए।

इस विवेचन से विदित होगा की मनुष्य प्राणी प्रथमारंभ में मांसभक्षक न था। जब उसके पतनका

अरंभ हुआ, उस समय उसकी प्रवृत्ति धीरेधीरे मांस खाने की ओर हुई और जो अधिक पतित हुए वे नरमांस भी खाने लगे। इससे स्पष्ट होगा कि आजकल जो नरमांसभक्षक जातियां हैं वे अत्यंत अवनत जातियां हैं और जो जातियां साधारणतः दूसरा मांस खाती हैं वे नरमांस-भक्षकों से कुछ ऊपर हैं। मांसभक्षण से पता चलेगा कि कौन जाति अवनति की किस सीढी पर है।

अहिंसा वृत्ति ही स्वाभाविक वृत्ति है। यह वृत्ति जहां होगी वहां मांसभक्षण होना ही असंभव है। अर्थात जितना मांसभक्षण अधिक और नरमांस-भक्षण की ओर जितनी प्रवृत्ति अधिक उतना ही उस जाति का अधःपात अधिक समझना चाहिए। अतएव यदि अधःपातसे बचना है तो जो प्रयत्न बन सके वह कर के निर्मांसभोजी बनना चाहिए।

अछूत-निवारण।

(लेखक— श्री० महादेव शास्त्री दिवेकर.)

(१) अछूत-निवारण का अर्थ है छूत-अछूत को दूर करना। यह छूने न छूने की बात नष्ट हो जाने से इस विषय की समाप्ति ही हो जाती है।

(२) सार्वजनिक स्थानों में (सभा, स्कूल आदि समुदाय के स्थानों से) अछूत नष्ट करना।

(३) सार्वजनिक देवालयों में दूर से सब के सन्मुख देवदर्शन के लिए अछूतों का प्रवेश होना।

(४) घर में ईसाई या मुसलमान की अपेक्षा अछूतों के साथ अधिक अपनेपन का व्यवहार करना।

पानी भरने के स्थानों में कुओं पर पानी खींचने तथा भरने के लिए अधिक स्वतंत्रता दी जावे। इससे किसी भी प्रकार का अधिक अर्थ अछूत-निवारण में नहीं आता। जो जाति तोडना चाहते हैं वे उस हलचल के लिये स्वतंत्र शब्दयोजना करके उसे चलावें। अछूत-निवारण में अन्य बातों को मिलाकर उस कार्य का नाश न किया जाय।

अब तक जो बातें अछूत निवारण की मर्यादा के लिए बतलाई गई उनका शास्त्र की दृष्टि से अब विचार करें। सार्वजनिक स्थानों में स्पर्शदोष नहीं है इसके लिए निम्न लिखित वचन भिन्न भिन्न ग्रंथों में पाये जाते हैं—

देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते॥ अत्रिः
कुंडे मञ्चे शिलापृष्ठे नौकायां गजवृषयोः।
संग्रामे संकटे चैव स्पर्शदोषो न विद्यते। आचारपल्लवे
तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे।
नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते॥ बृहस्पतिः
प्राकाररोधे विषयप्रदेशे सेनानिवेशे भुवनस्य दाहे।
आरब्धयज्ञेषु महोत्सवेषु तथैव दोषा न विकल्पनीयाः॥ अत्रिः
तृणे काष्ठे रणे यज्ञे नौकायां गजपृष्ठके।
लोकयात्राविवाहेषु स्पर्शदोषो न विद्यते॥
दीर्घकाष्ठे शिलापृष्ठे नौकायां जान्हवीतटे।
महातीर्थे तु संप्राप्ते स्पर्शदोषो न विद्यते॥ स्मृतिः
संग्रामे हट्टमार्गे च यात्रादेवगृहेषु च।
अग्न्युत्पाते महापत्सु स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति॥
— स्मृत्यर्थसारे

इन श्लोकों के भाव और भावार्थ पर यदि ध्यान दें तो विदित होगा कि यात्रा, उत्सव, यज्ञ, विवाहादि प्रसंग, युद्ध, आपत्प्रसंग, नौका, बाजार, तीर्थक्षेत्र आदि स्थानों में अछूतों के छूने का दोष नहीं लगता। इसी सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान सभा, स्कूल, उत्सव आदि सामुदायिक स्थानों में

और सार्वजनिक अवसर पर स्पर्शदोष न माना जावे।

देवालय सार्वजनिक है इसका अर्थ निश्चित करना होगा। सार्वजनिक का यह अर्थ करना कठिन है कि सब के पैसेसे सब के उपयोग के लिए बनाया हुआ। तथापि हमारा मत है कि सभी हिंदू कुछ निश्चित मर्यादा से दूर से देवदर्शन करें। यह दूरी उतनी ही हो जितनी दूरीसे बनारस में विश्वेश्वरजी का दर्शन अछूत लोग करते हैं। अर्थात् यह दूरी आठ दस हाथों से अधिक न होनी चाहिए। अछूत लोग हिन्दू हैं अतएव उन्हें देवदर्शन दूरी पर से तो भी अवश्य होना ही चाहिए।

अछूत के मन्दिर में जाने से देव को दोष लगता है यह कल्पना ही भूलभरी है। हिन्दू समाज के रक्तमांस में और रोम रोम में यही सिद्धान्त पक्का जम जाना चाहिए कि जिसे स्पर्श का दोष लगता है वह देव नहीं और जिसका धर्म नष्ट हो जाता है वह हिन्दू नहीं। मन्दिर में अच्छूतों के दूर से दर्शन करने में कोई रुकावट नहीं। वर्धा में सेट जमनलालजी ने जैसा प्रबंध किया है, वैसा प्रबन्ध गांव गांव में होना चाहिए। इस संबंध में निम्न लिखित शास्त्रवचन अनुकूल हैं—

विष्वालयसमीपस्थान् विष्णुसेवार्थमागतान्।
चाण्डालान् पतितान्वापि न स्पृष्ट्वा स्नानमाचरेत्॥ -संवत्सरप्रदीपे

उत्सवे वासुदेवस्य स्नायाद्योऽशुचिशंकया।
तादृशं कल्मषं दृष्ट्वा सवासा जलमाविशेत्॥
अदृश्यानि च दृश्यानि दुरवस्थान्यपि प्रिये।
भग्नान्यपि च कालेन तानि पूज्यानि सुंदरी॥
दुरवस्थानि अस्पृश्यस्पृष्टानीति॥ बृहस्पति।

अर्थ- विष्णू केजो पास हैं, जो विष्णुसेवा के लिए आए हुए हैं उन चाण्डाल और पतितों का यदि स्पर्श हुआ तो स्नान न करना चाहिए। वासुदेवके उत्सव में (अमुक के स्पर्श से) अशुचिता आगई ऐसी शंकासे जो स्नान करेगा उसके उस पापको देखकर दूसरे लोगोंको सचैल स्नान करना चाहिए। (शिवजी पार्वती से कहते हैं) स्पष्ट दिखनेवाले भूमि में स्थित जो शिवलिंग हैं वे अछूतों द्वारा छूए हुए ही नहीं किन्तु भग्न हुए भी हों तो भी वे पूजनीय हैं। शास्त्र इस प्रकार कहता है। इसका उपयोग मन्दिरों के मालिक अवश्य कर लें। अस्तु। जलगांव के अछूतों का कहना मन्दिर के संबंध में नहीं है। क्यों कि वे लोग जानते हैं कि इस प्रकार की मांग में कई जटिल प्रश्न उपस्थित होंगे। उनकी स्यानेपन की मांग केवल इतनी ही है कि मन्दिर में जहां तक मूर्तिभंजक मुसलमान और गोभक्षक जा सकते हैं वहां तक जाने में हम लोगों को रुकावट क्यों होनी चाहिए? हमारा यह स्पष्ट मत है कि मन्दिर में या घर में जहां तक मुसलमान और ईसाई जाते हैं वहां तक अछूत भी अवश्य जावें। आगे के वचनों से सिद्ध होता है कि विधर्मी म्लेच्छों से स्वधर्मी अंत्यज शास्त्रतः निकट ही हैं—

सभायां स्पर्शनं चैव म्लेच्छेन सह संविशेत्।
कुर्यात्स्नानं सचैलं तु दिनमेकमभोजनम्॥
-देवलस्मृति।

एतेऽत्यजाः समाख्याता ये चान्येव गवाशनाः।
एषां संभाषणात्स्नानं दर्शनादर्कवीक्षणम्॥
-वेदव्यासस्मृति।

अर्थ— सभा में म्लेच्छों का स्पर्श होने पर और एकत्र बैठने पर सचैल स्नान किया जाय और एक उपवास किया जाय। गोभक्षकों से बातचीत होने पर स्नान करना चाहिए और उन्हे देखने पर सूर्यदर्शन करना चाहिए। इस प्रकार के और भी दो एक वचन हैं। गंगा अत्यंत पवित्र है वह चांडाल के स्पर्श से अपवित्र नहीं होती परन्तु म्लेच्छस्पर्श से होती है। ऐसा शास्त्र कहता है। आसन्नमरण मनुष्यके मुंहमें यदि अछूत भी गंगाजल डाले तो वह मुक्त होता है।

बृहद्धर्मपुराणवचन —

चाण्डालेनापि यस्यास्ये न्यसेत् गंगाजलं परम्।
सोऽपि मुक्तिं लभेन्मर्त्यः किं वा पुत्रादिना द्विज॥

इसी लिए जहां तक मंदिर में, मकान में और पानी भरनेके स्थानमें म्लेच्छ आते हैं उनकी अपेक्षा

अछूतों को दो एक कदम पास आने देना शास्त्र की दृष्टि से और व्यवहार की दृष्टि से न्याय-संगत है ।

पानी के स्थान के संबंध में शास्त्र यह है की चारों ओर चार हाथ लंबा और चार हात चौडा जलाशय यदि हो तो अंत्यजादिकको को भी पानी भरने में कोई रुकावट नहीं है। उस जलाशयका पानी छुटने बराबर गहरा अवश्य होवे । जिन वचनों से यह अभिप्राय निकलता है वे वचन इस प्रकार हैं।—

समंताश्च चतुर्हस्तो जलधारो भवेद्यदि ।
अंत्यजैरपि संस्पृष्टः पूतो वाप्यादिवद्भवेत् ॥
　　　　　　　　　　　　-मत्स्यसूक्ते

चांडालपतितादीनां पुष्करिण्यां न्हदेऽपि वा ।
जानुदघ्नाच्छुचि ज्ञेयमध्यतदशुचि स्मृतम् ॥
　　　　　　　　　　　　-कल्पतरौ देवलः

नद्यः कूपतडागानि सरांसि सरितस्तथा ।
असंवृतान्यदोषाणि मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥
　　　　　　　　　　　　-शुद्धिचंद्रालोके उशनाः

एक प्रश्न यह है कि किसी भी पानी के स्थान में सब लोग पानी भरें या न भरें । परन्तु सार्वजनिक जलाशय, कुएं, बावलियां, पुष्करणियां, हौज आदि बनाने के पश्चात् उनका धर्मार्थ जो संकल्प छोडा जाता है, उसका भाव यह है कि यह पानी सब भूत-मात्रों को मिले; सब स्नान, पान और अवगाहन कर आनन्द करें; मैंने यह जलाशय सब के लिए मुक्त कर दिया है । मत्स्यपुराण में इस विषय के मंत्र मिलते हैं, वे इस प्रकार हैं—

प्रदद्यात् सर्वभूतेभ्यो जलपूर्ण जलाशयम् ।
सामान्यं सर्वभूतेभ्यो मया दत्तमिदं जलं ॥
रमन्तु सर्वभूतानि स्नानपानावगाहनैः ॥
　　　　　　　　　　　　-मत्स्यपुराणे

इस सब शास्त्र का विचार करने पर यह निश्चय होता है कि सार्वजनिक जलाशय, मन्दिर और घर में जहां जहां विधर्मी म्लेंच्छ आते होंगे वहां वहां अछूतों को अवश्य ही आने देना चाहिए । जहां तक हमे मालूम है हिन्दुओं के मंदिरों में प्रायः म्लेंच्छ नहीं आते । यदि आते भी हों तो वे भूलकर और चोरी से ही आते होंगे; अथवा वे गंधी, फूलारी, माली आदि रूपान्तरों से आते होंगे । बढई, कारी-गर, बाजेवाले, पटवेवाले आदि रूपों से मुसलमानों का प्रवेश कई मन्दिरों में होता होगा, परन्तु ऐसे रूपान्तर से अछूत भी अपना प्रवेश करा लें। अछूतों के धंधों में सुधार हो जावेगा और उनकी रहनसहन सुधर जावेगी तब उनका भी मन्दिर में प्रवेश होगा ।

अछूतों में आपस में अछूत है और उच्चनीचता भी है । अछूतों की प्रत्येक छोटी जाती या उपजाति दूसरी को अछूत समझती है । यह अछूत वे स्वयं दूर करें ।

अछूत महार जाति के बहुत से लोग मरे जानवर का मांस खाते हैं । यह मरा मांस खाना छोड देना चाहिए । अछूतों में स्नानशीलता और उससे आने वाली स्वच्छता बिलकुल नहीं है । अछूतों को चाहिए कि वे सफाई की रहनसहन और साफ कपडे पहनना इन बातों की और ध्यान दें। अस्पृश्य ऐसा प्रयत्न करें की उनकी स्त्रियों और उनके बच्चों आदि में जो घिनेपनकी अस्वच्छता की आदतें हैं वे निकल जावें और अपना घर एवं रहन सहन ऐसी स्वच्छ रखें कि जिस से वे जातियां जो अछूत नहीं हैं, लज्जा से सिर झुका लेवें ।

पिछडे हुओं की उन्नति।

जो पिछडे हुए हैं उनकी उन्नति होनी ही चाहिए। उनकी उन्नति के लिए उन्हें स्वयं तथा दूसरों को जितने बन सकते हैं प्रयत्न करने चाहिए। जो आगे गए हुए हैं अर्थात् जो सुधरे हुए हैं वे यदि गैर-सुधरे हुओं की या पिछडे हुओं की उन्नति का प्रयत्न करेंगे तो उनके भारी उपकार होंगे यह नहीं किन्तु वह केवल उनके कर्तव्य का पालन भी होगा। क्यों कि किसी भी समाज में पिछडे हुए लोगों का होना आगे बढे हुए लोगों की उन्नति में भारी विघ्न ही है। इसलिए प्रत्येक का कर्तव्य है कि अपने मार्ग का विघ्न दूर करे। साथ हो यह भी न भूलना चाहिए कि यह कर्तव्य जितना पिछडे हुओं का है उससे कहीं अधिक आगे बढे हुओं का है।

भौतिक सुधारों के विचारसे संपूर्ण जगत् में पूरे हिन्दुस्थान भर के लोग पिछडे हुए हैं। प्रायः सभी अन्य देशोंने हिन्दुस्थान से अधिक उन्नति कर ली है अतएव इस क्षेत्र में हिन्दुस्थान को उन देशों की बराबरी तक पहुंचने की कोशिश कडे परिश्रम से करनी चाहिए। परन्तु यह बात तभी हो सकती है जब सब लोग इसे एक मत से एवं दृढ प्रतिज्ञा से करेंगे।

जहां सभी देश पिछडा हुआ है वहां कुछ थोडे लोग आगे रहें तो उससे क्या? वे सभी लोग अन्य देशों की तुलना में बहुत पीछे होने के कारण दोनो प्रकार के लोगों को आवश्यक है कि आपसी झगडों को मिटाकर एकतासे अपना रास्ता चलें। यह कदापि न भूलना चाहिए कि हम सभी लोग अन्य देशों के विचार से पिछडे हुए हैं और वे देश अपनी श्रेष्ठता हम लोगों को बारबार जनाते हैं और सदैव इसी प्रयत्न में रहते हैं कि हम लोग सिर ऊंचा न उठा सकें; अतः यदि हम लोग आपस में लडेंगे तो जिस स्थितिमें अभी हैं उससे भी गिरी दशामें पहुंचेंगे। ऐसी दशा में केवल एकता ही उन्नति की जड है।

आजदिन भारतवर्ष की जो दीन दशा है वह केवल यूरोपियन लोगों के संबंध के कारण ही है। और जबतक यह संबंध इसी रूप में मौजूद रहेगा तब तक यह दशा सुधरना नहीं है। यह सर्वप्रथम सूत्र या सिद्धान्त सब लोग ध्यान रखें। सारे यूरोप महाद्वीप के राष्ट्र भारत से संपत्ति लुटकर ले जाने के लिए यहां आया करते हैं और यहां से जितनी संपत्ति लुटकर ले जा सकते हैं उतनी प्रतिदिन ले जा रहे हैं। यह दूसरा सूत्र वाचक ध्यान में रखें। यूरोपीयन यहां की संपत्ति के इच्छुक हैं इसलिए वे कहते हैं कि तुम लोग धार्मिक और सामाजिक बातों में पूर्ण स्वतंत्र रहो, हम उसमें तनिक भी हस्तक्षेप न करेंगे। इससे हमें केवल यही समझना चाहिए कि वर्तमान कष्ट केवल धार्मिक और सामाजिक आंदोलन से कदापि दूर नहीं हो सकते, यह तीसरा सिद्धान्त है।

यूरोपीयन लोग आर्थिक क्षेत्र में हम लोगों पर हम्ले कर रहे हैं इसलिए उसी क्षेत्र में घुसकर उनके हम्लों का प्रतिकार करना हम लोगों को आवश्यक है। ब्राह्मण जाति का व्यवसाय सदा से मुंशीगिरी का रहा है इस लिए उनकी आर्थिक उन्नति कभी भी नहीं थी। अन्य सब जातियों का ही संबंध धनोत्पादन से है। इससे यूरोपीयनों के संबंध से सम्पूर्ण धंदेवाली जातियों का ही नाश हो रहा है। परन्तु दुःख की बात यही है कि इस सच्चे शत्रु की उन्हे खबर ही नहीं है।

सब धंदेवाली जातियां अपने अपने धन्धेमें उन्नति करकेयदि जितनी हो सकती हैं उतनी सम्पन्न और उन्नत हो गई, तो यूरोपीयनों के इस हम्ले का प्रतिकार किया जा सकता है। परन्तु उन्नति के हेतु कमर कसनेवाले इन भाइयों की वस्तुस्थिति की जानकारी जरा भी नहीं दिखाई देती। इसी लिए वे सांप सांप कहकर रस्सी को ही पीट रहे हैं और उनकी धोती में घुसे हुए विदेशी सांप उन्हे नहीं

दिखाई देते ।

पिछडे हुओं की उन्नति के लिए सर्वप्रथम उद्योग-धंधे की बढती और स्वदेशी व्रत का प्रचार करना चाहिए। जब पैसा विपुल हो जावेगा तब सह-भोजन और सहविवाह के प्रश्न सरलता से हल हो जावेंगे । सर्वप्रथम रहनसहन सुधारना आवश्यक है और उसका सुधार पैसे के बिना हो नहीं सकता। जब तक पिछडे हुओं की रहनसहन सुधारने योग्य काफी पैसा नहीं हो जाता तब तक कितना भी कडा प्रयत्न क्यों न करें उसका उपयोग ही नहीं होगा । इस लेख में यही विचार करना है कि इस आर्थिक समस्या को किस प्रकार हल करेंगे।

भारतवर्ष के सभी लोग पिछडे हुए हैं। ब्राह्मणों से अंत्यजों तक सभी अवनत दशा में हैं। उनमें भी अंत्यज सबसे अधिक अवनत हैं। सांपत्तिक दृष्टि से उनकी दशा अत्यंत हीन होनेके कारण उनकी रहन सहन में सुधार होना प्रायः असंभवसा है। इस-लिए ऐसा कोई प्रबंध करना चाहिए जिससे उनकी आर्थिक दशा इतनी सुधरे जिसके बलपर वे अपनी रहनसहन सुधार लेवें। सब अंत्यजोंमें भंगी अधिक से अधिक अछूत माने जाते हैं। इन भंगियों में भी कुछ उच्च जातियां हैं और कुछ नीच तथा वे आपस में भी छूत अछूत मानते हैं।

इस भंगियों का कोई बडा व्यवसाय नहीं, पैसा कमा सकने योग्य उनकी परिस्थिति नहीं या बडा भारी उद्योग करने योग्य उनकी हालत नहीं। यही माना जाता है कि वे लोग शौचकूप साफ करें और जो कुछ वेतन मिलेगा उसपर संतुष्ट रहें। अब अप-न प्रथम यह देखें कि भंगियों की स्थिति सुधारने का क्या कोई उपाय हो सकता है।

सभी लोगों को सबसे पहले यह जान लेना अव-श्यक है की कोई भी धंधा वह धंधे के नाते कदापि नीच नहीं है। इसके लिए जो अपवाद हैं वे धन्धे हैं मद्य का धंधा, तमाखू का धंधा, गांजा, भंग आदि के धन्धे, वारयोषिताओं का धंधा। इस प्रकार के जो धन्धे हैं वे जनता के शरीर का घात करते हैं अतएव वे वास्तव में हीन धंधे हैं। ऐसे धंधों से जिनका संबंध है वे लोग साक्षात् या परंपरासे जनता के स्वास्थ्य का नाश करते हैं अतएव वे अस्पृश्य समझे जाने चाहिए। परन्तु ये लोग स्पृश्य हैं और जो भंगी गांव के आरोग्य की रक्षा के लिए ही जिन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया है, वे भंगी अस्पृश्य! यह बात कदापि न्यायसंगत हो नहीं सकती। ब्रह्मदेव ने जब प्रथम प्रजा उत्पन्न की तब उसने सबसे पूछा कि तुम क्या करोगे। उस समय जिसने जो कार्य करना स्वीकार किया उसे वह कार्य दिया गया। गांव की सफाई का कार्य बहुत घिना है इससे उसे करने को कोई तैयार न हुआ वह कार्य ब्रह्मा की प्रेरणासे जिन्होंने स्वीकार किया वेही भंगी हैं। इससे स्मरण रहे कि ये लोग, प्राचीन नगरस्वयंसेवक-दल के नगर की सफाई का कार्य स्वयं अपनी इच्छा से करनेवाले स्वयं-सेवक ही थे। आजकल के समय में महात्माजीने अहमदाबाद के प्रतिष्ठित नागरिकों के लडकों को विशेषतः कॉलेज में पढनेवाले धनिकों के कुमारों को हाथ में झाडू लेकर अहमदाबाद के रास्ते स्वच्छ करने को कहा। यदि यह काम करना स्वीकार कर वे बालक उस नगर को सफाई में आदर्श बना दें तो इन युवकों का दर्जा कदापि कम नहीं होगा। ब्रह्मा ने भी जगत् के आरंभ में यही किया। उसकी प्रेरणा से भंगियों के पूर्वजों ने यह पवित्र कार्य करना स्वीकार किया और वे उसे आज दिन तक करते आये हैं। इससे विदित होगा कि जो काम भंगी करते हैं वह नगर की सफाई की दृष्टि से अत्यंत महत्त्व का है। यह काम सबका आरोग्यरक्षण के लिए अत्यंत आवश्य-क होने के कारण अत्यंत पवित्र है। प्राणियों का जीवन दिव्य जीवन है। उसे स्वच्छता की आवश्य-कता है। वह स्वच्छता भंगी रखते हैं। इसी लिए उनका व्यवसाय पवित्र है। बडे बडे शहरों के भंगी यदि अपना काम दो महिने के लिए छोड दें तो उन शहरों में रहना असंभव हो जावेगा। घर में माता आपने बालका मैला जिस जागृत प्रेम से उठाकर फेंक देती है और उस स्थानको साफ करती है, उसी प्रकार के सुप्त प्रेम से सब नगरवासियों का मल निकाल कर वह स्थान ये भंगी साफ करते

हैं। इसलिए भंगी को एक माता की ही उपमा दी जा सकती है। इस बात को इन्कार कोई नहीं कर सकता। इतना सब लिखने का कारण यह है कि भंगी का धन्धा जैसा समझा जाता है वैसा अपवित्र नहीं है।

परमपूजनीय राष्ट्र-धर्म-संस्थापक महात्मा गांधी स्वयं आश्रमों के शौचकूप साफ करते थे। उन्होंने अपनी अर्धांगी, अपने पुत्र, अपने शिष्यों से वह कार्य करा लिया है। वे स्वयं इस कार्य को अपवित्र नहीं समझते। भंगियों का धन्धा नागरिकों की आरोग्यता के लिए अतीव आवश्यक होने के कारण पवित्र धन्धा है। ऐसा पवित्र धंधा करनेवाले लोग अपने देश में अत्यंत गिरी हुई दशा में हों यह बात बहुत ही खराब है। अब अपन यह देखें कि इन लोगों की आर्थिक दशा सुधारने तथा उनकी रहन-सहन सुधारने के लिए क्या किया जा सकता है।

प्रायः हर एक मनुष्य यही सोचता है कि भंगीयों की आर्थिक दशा सुधारने का कोई भी साधन नहीं है। परन्तु यह विचार किसी ने नहीं किया है कि बिना पूंजिके व्यापार पर तनिक भी हानी न हो कर अधिक से अधिक लाभ होनेवाला धन्धा भंगी कर सकते हैं। इस धंधे की दृष्टि से केवल चीन देश ही आगे है अन्य सब देश चीन से बहुत पीछे रह गए हैं। चीनके लोगोंने हजारों वर्ष पहले से सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य की विष्ठा अत्यंत अमोलिक पदार्थ है। इस संबंध के चीनी लोगों के कुछ नियम देखने योग्य हैं—

(१) महमान अपने घरमें आता है तब वह अन्य आहारविहार चाहे जहां करें, किन्तु शौचको भर अपने घर के ही शौचकूप में जावे। अपना महमान यदि दूसरे के घर के शौचकूप में मल विसर्जन करे तो घर का मालिक इस लिए नाराज होता है कि 'अपने हक्क की विष्ठा व्यर्थ गई'। (संसार में अन्य किसी भी स्थान में इस कारण से क्रोध आना संभव नहीं क्यों कि किसी को भी इस संपत्ति का पता नहीं है।)

(२) जिस प्रकार अपने देश में उपहारगृहहोते हैं वैसे ही चीन में 'शौच को जाने की दुकाने' हैं। इन दुकानों में बहुत आकर्षकता इसलिए रखी है कि लोग अधिक संख्या में आवें। ऐसे दूकान भंगी लोग स्वयं अपने खर्च से चलाते हैं और उनमें शौच को जाने का प्रबंध मुफ्तमें किया जाता है। चीनके भंगी यह प्रबंध इस लिए करते हैं जिससे कि उन्हे अधिक से अधिक विष्ठा मिले।

(३) यात्रा, मेले, महोत्सव आदि समय में वहां के भंगी आवश्यक तंबू लगाकर अपने खर्च से लोगों के लिए शौचकी सुविधा कर देते हैं और यह प्रयत्न करते हैं कि जितनी अधिक विष्ठा जमा हो सकती है उतनी जमा हो जाय।

ऐसे अनेक प्रकार हैं जो केवल चीन में ही हैं अन्य किसी देश में नहीं हैं। इसका कारण यह है कि विष्ठा का मूल्य केवल चीनवालों ने ही पहिचाना है अन्य लोगों को इस बहुमोल चीज का पता भी नहीं है। सम्पूर्ण यूरोप और अमेरिका के लोग इस 'विष्ठा-विद्या' में बिलकुल ही पीछे पडे हैं।

थोडे में यदि बतलाना हो तो इस धंधे का स्वरूप इस प्रकार बतलाया जा सकता है कि लघ्वी और विष्ठा जितनी इकट्ठी हो सकती है उतनी इकट्ठी कर उसकी खातु बनवाना। इस खातु का उपयोग खेती में तथा बगीचों में करके उपज अधिक से अधिक बढाना। किसानों को इस खातु का उपयोग करके उपज बढाने की विद्या यदि सिखला दी जावे तो भंगियों के लिए सदा के गाहक मिल जावेंगे। बाहर से आनेवाले खातु की इसमें स्पर्धा न रहेगी और रासायनिक खातु की अपेक्षा अन्न के लिए यही खातु अधिक उपयोगी एवं लाभकारी होने के कारण दूसरे खातु के अपेक्षा इसी खातु का उपयोग हितकारी है क्यों कि यह खातु मनुष्य से ही बनी है।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि इस खातु से भंगियों को क्या आमदनी हो सकती है? अतएव प्रथम यह देखें कि इससे चीनी भंगियों को क्या मिलता है। चीन के अकेले शांघाई नगर में विष्ठा इकट्ठी करने का ठेका ३६००० रुपयों में दिया जाता है याने जो भंगी शांघाई शहर की विष्ठा इकट्ठी करने की इजाजत पाता है वह सरकार को ३६००० रु० देता है। इससे कल्पना हो सकती है कि इस एक

ही शहर की विष्टा की खातु बनाने में कितना लाभ हो सकता है। इसी प्रकार अधिक बस्ती के पेकिंग, नान्किन्, आदि शहरों के ठेके न्यूनाधिक रकम में दिये जाते हैं।

इसी प्रकार बम्बई, कलकत्ता, मद्रास शहरों के ठेके पंद्रह से तीस हजार रुपयों में दिये जांय तो ठेका लेनेवालों को बिलकुल नुकसान नहीं होगा। पूना, सितारा आदि छोटे शहरों के ठेके छोटी बस्ती के कारण कम रकम में जावेंगे। परन्तु हिदुस्थान में विष्टा का उपयोग करने की विद्या बहुत थोडे लोग जानते हैं। इसलिए शहरों की विष्टा इकट्ठी करने का ठेका लेकर सरकार को पैसा देना दूर ही रहा, उसके बदले भंगियों को बडी कोशिश से रख कर उन्हे वेतन देना पडता है। हम यह नहीं कहत कि भंगियों को तनख्वाह न देना चाहिए, परन्तु हमें यहां केवल यही दिखलाना है की भंगियों के वश में इतना भारी व्यवसाय रहते भी वे दीन हो गए हैं और उस व्यवसाय को नहीं करते।

इस खातु को यदि चीनियों की पद्धतिसे तैयार किया और उन्ही की पद्धति से उसका उपयोग किया तो खर्च आदि करके हर साल एक मनुष्य पीछे एक रुपया भंगियों को सहज में मिल सकता है। अर्थात् यदि अकेले बम्बई नगर की विष्टा का योग्य उपयोग किया जावे तो लाखों रुपये भंगियो को मिलेंगे। हर एक मनुष्य पीछे यदि चार आने की बचत मानी जावे तब भी तीन लाख रुपये होते हैं। बडे बडे शहरों में और छोटे छोटे शहरों में भी भंगीयों की जरूरत होती है। क्वचित् स्थानों में म्युनिसिपालिटियां पुरानी रीति से खातु बनवाती हैं किन्तु वह कम दर्जे का होता है। चीनी पद्धति के अनुसार ऊंचे दर्जे की खातु हिन्दुस्थान में एक भी जगह नहीं होती। इस खातु के बनाने के दस पांच स्थान छोड दें तो बाकी के सब शहरों का मैला फजूल फेंक दिया जा रहा है। भंगियों को यह व्यवसाय भारी आमदनी करा सकता है पर अज्ञान के कारण वे इस धन्धे को नहीं कर सकते। और अ॰ छूतों के नेता अब तक सहभोजन से आगे बढे ही नहीं हैं।

हिन्दुस्थान में आधे से अधिक लोग खुले स्थानों में शौच विसर्जन करते हैं। इस प्रकार शौच विसर्जन भी विष्टाका अपव्यय है। अपनी जमीन में उथली नालियां बना शौच विसर्जनके बाद उस पर मिट्टी डाली जावे और वह नाली पूर दी जावे तो पूरे खेत में अच्छी खातु मिल जावेगी। जहां काफी पानी होगा वहां सवागुना उपज होगी। खेडों और गांवों में तो यह हाल रहता है की वहां खडे नहीं रहा जाता। परन्तु इस अपव्यय का संबंध भंगियों से नहीं है इस लिए इसे छोड दें और केवल शहरों का ही विचार करें तो चार पांच करोड रुपयों का निरा लाभ भंगियों को मिल सकता है। यह आमदनी यदि भंगी अपनी उन्नति में खर्च करें तो उनकी रहनसहन सुधार जावेगी और दर्जा भी बढेगा। यह आमदनी का जरिया वे अपना भर लेवें। मामूली छोटे गांव में प्रायः दो तीन भंगी रहते हैं। वे अपनी नौकरी करते हुए भी विष्टा को फजूल न फेंककर यदि खातु बनाकर बेचें तो उसी से काफी आमदनी हो सकती है। उन्हे उद्योग भर करना चाहिए।

जो समझते हैं कि भंगियों की आर्थिक उन्नति के लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता, वे इस धन्धे का अच्छा विचार करें तब उन्हे विदित होगा कि भंगी यदि धन्धे को पद्धति के साथ अच्छी प्रकार करें तो पचीस वर्षों में उनकी आकर्थि दशा अवश्यमेव सुधरेगी।
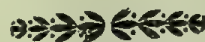
अग्निहोत्र-विज्ञान ।

(ले० श्री० पं० गणेशदत्त शर्मा गौड, 'इन्द्र,' आगर ।)

'दूसरा देवयज्ञ है जो अग्निहोत्र तथा विद्वानोंके सत्संग,सेवा आदिसे होता है। संध्या और अग्निहोत्र सायं प्रातः दोनों ही समय करे ।......सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र करनेका समय है ।'

—महर्षि दयानन्द सरस्वती.

आचार्य दोनों समय अग्निहोत्र करने की आज्ञा दे रहे हैं । सत्यार्थप्रकाशमें अपने प्रश्नोत्तर के रूपमें अग्निहोत्र के विषयका अच्छी प्रकार स्पष्टीकरण किया है । वहाँ स्वामीजीने लिखा है- 'सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु तथा जलसे रोग, रोगसे प्राणियों को दुःख और सुगन्धित वायु तथा जलसे आरोग्य और रोगके नष्ट होनेसे सुख प्राप्त होता है ।......देखो जहाँ होम होता है, वहाँ से दूर देशमें स्थित मनुष्यके नासिका से सुगन्धका ग्रहण होता है,वैसे दुर्गन्धका भी । इतने ही से समझ लो कि अग्निमें डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके, फैलकर, वायुके साथ दूर देशमें जाकर दुर्गन्धि की निवृत्ति करता है। केशर कस्तूरी इत्र आदिकी सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायुको बाहर निकलकर शुद्ध वायुका प्रवेश करा सके । क्यों कि उसमें भेदक शक्ति नहीं है और अग्निका सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्नभिन्न तथा हलका करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु का प्रवेश कर देता है । ......होम न करना पाप है क्यों कि जिस मनुष्यके शरीरसे जितना दुर्गन्ध उत्पन्न होके वायु और जलको बिगाड कर रोगोत्पत्ति होने से प्राणियों को दुःख पहुंचाता है, उतना ही पाप उस मनुष्यको होता है ।...इत्यादि

सारांश यह कि महर्षि कहते हैं कि वायु-जलकी शुद्धि के हवन आवश्यक है । हवनके द्वारा सुगंधित वायुका संचार होकर दूषित वायुका नाश हो जाता है, जिसे दूसरे इत्र, चन्दन, केसर, कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्य करने में असमर्थ हैं । अग्निहोत्र मनुष्य मात्रका इस लिये कर्तव्यकर्म है कि वह मल, मूत्र, कफ, साँस,शरीर,रोम आदिसे वायुको दूषित करनेवाले द्रव्यों को वायुमें छोडकर प्राणियों को दुर्गन्ध देता है । यह एक बुरा काम है इसलिये इस पापकी निवृत्तिके लिये अपने शरीर से छोडे मलोंके स्थानमें कुछ सुगन्धित एवम् वायुशोधक द्रव्योंको अग्निमें जलाकर अपने पापका प्रायश्चित कर ले। यदि इस नियम पर प्रत्येक प्राणी चले तो संसार से रोग, शोक, दुःख, दर्द, अकाल, महामारी,आदिका भय जाता रहे ।

वायु प्राणीके लिये सबसे पहिली आवश्यक खुराक है जिसे शुद्ध रखना मनुष्यका प्रथम धर्म है। अग्निहोत्र वायु शुद्ध करनेका एक मात्र सबसे उत्तम आर्योचित उपाय है। वायुशुद्धि के अन्य उपाय भी इन दिनों प्रचलित हो गये हैं परन्तु वे आसुरी होनेके कारण अग्राह्य एवं दुखदायी हैं। आजकल वायुशुद्धिके लिये फिनायल का तेल, मेकडांगलीज पावडर और जलशुद्धि के लिये परमॅगनेट ऑफ पोटॅश आदि पदार्थ काममें लाये जाते हैं जो बदबूदार होने के कारण मस्तिष्क को असह्य कष्ट देते हैं। किन्तु अग्निहोत्र, सुगन्धित वायु को सर्वत्र फैलाते हुए शुद्धि करता है जिससे दीमाग को तरी और आनन्द का अनुभव होता है । अग्निहोत्र पृथ्वीपर के जल को तो शुद्ध करता ही है किन्तु साथही उसके उत्पादक मेघों को ही इतना पवित्र निर्माण करता है कि पृथ्वीपर, वृक्षवनस्पतियों पर वह अत्यंत शुद्ध एवं आरोग्यवर्द्धक होकर बरसाता है ।

एक बात और भी है- अग्निहोत्र प्रत्येक प्राणीमात्र का उपकार करता है। उदाहरणार्थ, अपने एक पाव घृत और एक पाव साकल्यसे हवन किया। यदि यही द्रव्य आप अग्निमें न होम कर किसी व्यक्तिको देते तो उससे दो चार या दस वीस एक एक तोळा बाँटकर खा लेते और कई ऐसे भी होते जो इस प्रकार का दान लेनेसे ही इन्कार कर जाते। परन्तु यज्ञमें आहुतियों द्वारा क्या पशु, क्या मनुष्य, क्या वृक्षवनस्पति सभी के पास पहुँचकर उन्हें लाभ पहुँचाता है। इस प्रकार हजारों लाखों प्राणियों का अग्निहोत्रद्वारा हित साधन होता है। बडेसे बडे अमीर को भी नाकके द्वारा यज्ञ की धुआँ को दान की शक्लमें विवश होकर ग्रहण करना पडता है। बल्कि यह कहकर कि 'क्याही मस्त खूशबू है?' बार बार जल्दी जल्दी साँस खींचने लगता है। यह असंभव है कि कोई उस हवाको ग्रहण ही न करे और नाक पकडे रहे। कहने का तात्पर्य यह है कि हवन एक महान् दान है, जिसे प्रत्येक प्राणी लेता है और दाता अत्यंत पुण्य का भागी बनता है।

यह हमारे प्राचीन ऋषिमुनियोंका आविष्कार है-उनकी सूझ है। उन्होंने इसे बडा ही महत्त्व दिया है। वेदों के अधिकांश मंत्र इसी कृत्यसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। यह आर्यावर्त का पवित्रतम कार्य और आर्यों का सबसे श्रेष्ठ कर्मकाण्ड है। प्राचीन ग्रंथों में हवनों,यज्ञों,महायज्ञों के वर्णन पडे हैं, दिनों, महीनों और वर्षोंतक चलनेवाले यज्ञ इस देशमें होते थे। उस समय, भारत में रोग, शोक, भय, दुर्भिक्ष, आदिका नामोनिशान तक नहीं था। सभी सुखी थे, आनन्द की धाराएँ सर्वत्र उमड उमड कर बहा करती थीं।

स्वामीजी महाराजने "संस्कारविधि" में लिखा है "होमद्रव्य चार प्रकार के होने चाहियें। (१) सुगन्धित, जैसे कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि (२) पुष्टिकारक घृत, दूध, फल,कन्द, अन्न, चाँवल, गेहूँ, उडद आदि (३) मिष्ट,- शकर, शहद, छुहारे दाख आदि और (४) रोगनाशक जैसे सोमलता, गिलोय आदि ओषधियाँ। आज हमें इन्हीं चार प्रकार के द्रव्यों के विषयमें यहाँ कुछ लिखना है-

इन चारों प्रकारके हवन द्रव्योंका परिणाम आज-तक किसीने नहीं लिखा कि- कौनसी वस्तु कितनी और कौन कितनी डाली जाय। यह मान लेना एक भूल है कि जो पदार्थ जिस गुण से युक्त है, अग्निमें जलनेपर भी उसमें वही गुण होगा!कई द्रव्य ऐसे हैं जो सुगन्धित हैं,किन्तु आगमें पडनेपर उनकी धुआँ बदबूदार होती है। बादाम,खोपरा, पिस्ता, चिरौंजी आदि वस्तुएँ खाने में पुष्टिदायक हैं परन्तु जलनेपर भी उनकी गैसें उन्हीं गुणोंसे युक्त हों यह जरा विचारने योग्य बात है। कस्तूरी, जायफल, जावित्री, लौंग आदि अच्छी वस्तुएँ हैं किन्तु इनसे उत्पन्न गैसें वैसी ही होंगी या नहीं, इसके जाँचकी जरूरत है। यदि हवन में पडनेवाले द्रव्यों के गैस से रोगोत्पादक कीटाणुओंके नाशकी शक्ती हो तो फिर यह बात निस्सन्देह मानना पडेगा कि अग्निहोत्र धार्मिक दृष्टिसे ही नहीं अपितु वैज्ञानिक दृष्टि से भी संसार के प्राणियों के लिये अत्यंत उपयोगी तथा मनुष्यमात्रके लिये आवश्यक है।

हवनकी उपयोगिता अब विदेशीय विद्वानों की समझ में आने लगी है। डॉक्टर ट्रिलबर्टने जलती हुई शुद्ध भारतीय शक्कर पर परीक्षण करके लिखा है कि- "शकर के जलने से जो गेस उत्पन्न होती है उसमें फार्मेल्डीहाइड (Formaldehyde) का अंश अधिक होता है। इसका गुण, क्षय, शीतला, हैजा आदि रोगोंके कीटाणुओं को नष्ट कर देना है।" अनुभव भी यही बताता है कि जबतक देशमें हवन होते रहे यहाँ चेचक, हैजा, प्लेग,क्षय जैसे भयानक रोगोंका नामोनिशान भी नहीं था। शकर का इन रोगोंसे बडा ही घनिष्ठ सम्बन्ध मालूम होता है। क्यों कि जिस वर्ष विदेशी शक्कर भारत के बम्बई-नगर में पहले पहल पधारीं- उसके चन्द महीनों बाद ही बम्बई में प्लेग फैला। यह प्लेगका भारतमें पदार्पण था। देखा जाता है कि जहाँ हवन नित्य होता है वहाँ प्लेग और हैजेके रोगाणु नहीं फैलने पाते।

❀

फ्रांसके डॉक्टर हेम्फकिन की सम्मति है कि -" घी को आग में जलाने से जो बाष्प बनती है, वह हानिकारक रोगकीटाणुओं को नष्ट कर देती है।" हमारे यज्ञों में घृतही प्रधान माना गया है। साकल्य तो नाममात्र को काममें लाई जाती है। महर्षि दयानन्द प्रणीत संस्कार विधिको देखिये घृताहुतियों की भरमार है। यह पता ही नहीं लगता कि अन्य सामग्रियों की आहुती कब और किन मंत्रोंसे दी जाय। यजमान तो घृत की आहुतियाँ देने को ही बैठता है। जब भारतमें घी और दूध का बाहुल्य था, उस समय यज्ञ अत्यंत सुलभ था,किन्तु विदेशीय शासन ने हमें इतना दबोच डाला कि यज्ञ के लिये तो दूर जठराग्नि में आहुतियाँ देने तकको भारतवासियों को घी नहीं मिलता। ३००।४०० वर्षों में कुछ का कुछ हो गया। गुडगोबर हो गया। महल झोंपडी बन गया। शिवाजी के समय में ही घी का भाव २॥= मन था, और आज ? आज का भाव लिखने की आवश्यकता नहीं स्वयं खरीद कर देख लिजिये। जब हम यह पढते हैं कि प्राचीन युगमें दीर्घकाल तक चलनेवाले यज्ञों में गजशुण्डाकार घृतधारा पडा करती थी तो आश्चर्य हाता है।

मद्रास सेनेटरी कमिश्नर कर्नल किंग आई० एम० एस० ने सन् १८९८ ई० में ग्रेज्युएट विद्यार्थियों को घृत, चाँवल और केसर मिलाकर जलानेकी सम्मति दी थी। उनका कहना है की केसर, चाँवल और घृत के मिश्रण को जलाने पर जो बाष्प उत्पन्न होती है वह हवा को शुद्ध करके रोगोत्पादक कीटाणुओं को नष्ट करती है। प्लेग आदि रोगों के बीजाणु इस मिश्रण की गैसमें मर जाते हैं। उक्त कमिश्नर साहब के इस कथन का मि० हेनकिन ने अपनी 'ब्यूबोनिक प्लेग' नामक पुस्तकमें उल्लेख किया है और समर्थन भी किया है।

हवन के विषयमें वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर आकर्षित होने की आवश्यकता है। वैज्ञानिकों के द्वारा हवन की उपयोगिता साबित होनेपर इस युगमें उसका महत्त्व और भी बढ जावेगा। अभी-तक वह धार्मिक क्रियाओंके अन्दर ही सीमित है-सो भी केवल वैदिक-धर्म में ही। ईसाइयों, मुसलमानों और जैनियों में हवन विधि का विधान नहीं है। जैनमतानुयायी तो इसे बुरा समझते हैं !!! अस्तु-

वैज्ञानिकों को यज्ञकी उपयोगिता सिद्ध करने के लिये तीन प्रकार से उसकी जाँच करनी होगी। (१) रासायनिक विश्लेषण (Purely chemical analysis) (२) रसायनकी वह परीक्षा जिसकी क्रियामें जीवाणु भाग लेते हैं (Bio-chemical Experiments) और (३) जीवाणुसंम्बन्धी (Purely Bacteriological)। रासायनिक विश्लेषण दो प्रकारका होता है(१)गुणात्मकQualitative (२) राशात्मक (Quantitative)। गुणात्मक विश्लेषण से यह मालुम किया जा सकेगा कि,हवनबाष्प में कौन कौनसे अवयव हैं ? और राश्यात्मक विश्लेषण हरेक अवयव (Constituents) की प्रति शतक राशिका ज्ञान होगा। गुणात्मक तथा राश्यात्मक विश्लेषण द्वारा अवयवों की संख्या तथा राशि का परिमाण निकाल सकना सहज काम नहीं है।

हवनसामग्रीविषयक परीक्षण,अलग अलग भागोंमें विभक्त करके करना होगा। सामग्रीके प्रत्येक पदार्थ को अलग अलग जलाकर उनकी गैसों का रासायनिक एवं आयुर्वैदिक गुणों को देखा जावे। जो गुण अलग अलग जलाने पर होगा वही उन्हें इकट्ठे जलानेपर होगा ही। कस्तूरी को आप अलग जलावें या किसी दूसरे पदार्थ के आगमें डालें, वह दोनों हालतों में छोटे छोटे भागोंमें विभाजित होकर फैल जावेगी। जायफल को यदि जलाया जाय तो उससे एक ऐसी गैस उत्पन्न होती है जो अत्यंत तीव्र जीवाणु नाशक (Strong Antiseptic) होती है। इसी तरह लौंग, इलायची, की गैसों में भी हानिकारक रोगबीजाणुओंको बर्बाद कर डालने की शक्ति है। इसी तरह दूसरे वे पदार्थ जो हवन में डाले जाने योग्य हैं और जो हरेक ऋतुके लिए अलग अलग लिखे गये है, परीक्षा करने योग्य हैं।

उन पदार्थों को हवन के ताप परिमाण में जलाकर उनकी गैसों के गुणात्मक और और राश्यात्मक विश्लेषण करके देखना चाहिये। ऐसा करने के लिये बडे श्रम और समय की आवश्यकता है।

श्रीरामशरणदासजी सक्सेना एम० एससी ने आजसे१०वर्ष पूर्व 'ज्योति' नामक मासिक पत्रिका में अपने विचार प्रगट किये थे। उनका कहना है कि " हवन की गैसों में Aldehydes, Phenols, Creosotes, Turpenes और कुछ Cyclic Compounds भी रहते हैं। इन गैसों का गुण, हानिकारक कृमियों को नष्ट करके वायु शुद्ध कर देना है। हवनकी गैसपर जो परीक्षण किये गये, यद्यपि वे ऐसे नहीं हैं कि जिनके आधारपर हवन की गैस का समसन निश्चित रूपसे बताया जा सके तथापि इस विषयके खोजियों की परीक्षाओं में सहायता पहुँचने के विचारसे अभीतक के अनुभवों को लिख देना ठीक है-

वे लिखते हैं की हवन की गैसमें Aldehydes और Cyclic Compounds, देखे गये थे। जब यह गैस उस नली में से गुजारी गई, जिसमें कि पत्थर के टुकडों को Phenyl Hydrozone में डुबाकर रखे गये थे- तो इस नली के भारमें वृद्धि देखी गई और Phenyl Hydrorzone के पीले पीले स्फटिक भी पत्थर के टुकडों पर जमें हुए पाये गये। इससे यह सिद्ध हो गया की इस गैसमें Aldehyde अवश्य है, परन्तु अभी यह निश्चय करना है की यह Aldehyde कौनसा है?

खाँडको जब अलग लेकर जलाया तो उससे उत्पन्न गैसमें Aldehyde की अधिकता देखी गई है इस Aldehyde से Fehling Solution और रजत नलितका Ammoniacal घोल अपचित हो गये। पहिलेमें लाल रंग का ताम्रस औषिद् नीचे बैठ गया और दूसरे में चांदीका दर्पण परीक्षण नलीपर बन गया। इससे उक्त परीक्षण की और भी पुष्टि हो गई क्यों कि हवन सामग्री में खाँड तो अवश्य होती ही है। इसके अतिरिक्त अन्य पदार्थों में Glucosides भी होते हैं जिनके उचित अवस्थाओंमें जलनेसे Aldehyde उत्पन्न होते हैं। खाँडके जलानेसे जो Aldehyde बनता है वह Formaldehyde है जो हानिकारक कृमियों का मारनेवाला है। इसी लिये Formaldehyde का घोल Antiseptic और Preservative के तौर पर काम आता है। जायफल, दालचीनी और लौंग में सुगन्धित तैल हैं जो Phenol और Creosote की तरह तीव्र Antiseptic है। इसलिये जब इन पदार्थों को हवन सामग्री के साथ जलाया जाता है तो इनसे उत्पन्न गैसों में कृमिनाशक गुण का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। संभव है की हवन गैस में कीटाणुओं को मारने के गुण इन बाष्पों की उपस्थिति के कारण भी हों। यद्यपि हवन के गैस में अभीतक स्पष्ट रूपसे Phenol, Creosote और Terpenes के होने का निश्चय नहीं हुआ है तथापि अधिक संभावना है।

Biochemical Experiments अर्थात् कीटाणु-रसायन परीक्षणों द्वारा जो परीक्षण किया गया, वह इस प्रकार था। काँचकी बारह कुप्पियाँ लीं। इनके प्रत्येक कार्क में एक एक काँचकी मुडी हुई नली लगाई गई। नलियों के बहार के सिरे पर एक रबर की नली लगाकर क्लिप लगा दिया गया। पहले इन्हें जलबाष्प Steam Oven में लगभग ३ घण्टे रखकर इन्हें Sterilise किटाणुरहित कर लिया फिर प्रत्येक दो दो कुप्पियों में दूध, दही, मक्खन, खाँडका घोल, अण्डेकी सफेदी और मांसकी बोटियाँ भर दीं। फिर इन्हें कीटाणुरहित करने के लिये तीन घण्टेतक जलबाष्प में गरम कर लिया। इसके बाद् Sterilised डाट लगाकर सब को बन्द कर दिया। इन पर तारीख डाल दी गई।

इस प्रकारकी क्रियासे कुप्पियों तथा उनके अन्दर के पदार्थों में कृमियों के रह जाने की कोई संभावना नहीं रह गई। इसके बाद उनमें से ६ कुप्पियाँ एक एक पदार्थ की ले लीं और छः बाकी रहने दीं। इन छः में १५ मिनिटतक हवनवायु भरी गई और वही डाट लगाकर बन्द कर दी। फिर शेष छः कुप्पियों को उठाकर उनमें बागीचे की हवा पन्द्रह मिनिट तक गुजारकर उसी तरह डाट लगाकर बन्द कर

दीं। पहली छः पर "हवन गैस" और दूसरी छः पर 'वायु' लिखकर तारीख डालकर रख दिया। हर २४ घण्टे बाद तीन सप्ताह तक इन कुप्पियों का निरीक्षण बडी ही सावधानीसे करके नोट करते रहे। परिणाम यह हुआ कि जो पदार्थ हवनकी गैस में रखे गये थे उनमें सडाव देरसे हुआ और सडाव के आरंभ होनेपर रासायनिक क्रियाकी गति धीरे धीरे बढी। परन्तु जो पदार्थ हवा की कुप्पियों में रखे गये थे उनमें सडाव पहले आरंभ हुआ और रासायनिक क्रिया की गति हवन गैसकी कुप्पियोंकी अपेक्षा जोरसे बढने लगी। इस सडाव को देखने तथा उसकी गति जानने के लिये उद्गन्धित गैस (Sulphuretted hydrogen) का परीक्षण सीसक सिटकित (Lead acelate) में भीगे पत्रसे किया। हवन गैसवाली कुप्पियों में इसकी उपस्थिति कम थी और उसका दबाव भी कम था। वायुवाली कुप्पियोंमें इस गैस का दबाव बहुत अधिक था। इस प्रकारके परीक्षण से यह सिद्ध होता है कि हवन गैस हानिप्रद जीवाणुओंका विनाशक है।

दूसरा परीक्षण इस प्रकार किया गया जो और भी पुष्टिकारक सिद्ध हुआ। कुए के ताजा जलमें हवन की गैसों को लगातार तीन घण्टे तक गुजारा गया। फिर यह जल सरकारी अस्पताल के एक योग्य डॉक्टर के पास परीक्षार्थ भेजा गया। उन्होंने इस पानीको लोशन की जगह जख्मों को धोने के काम में लिया। उनका कहना है पहले दिन जख्म से मवाद अधिक आया। फिर इस जलमें नलका साफ पानी मिलाकर उसे हलका करके प्रयोग किया तो इस देशी लोशन को विदेशी लोशनों की ही तरह उपयोगी पाया। उन डॉक्टर महाशय का कहना था कि यदि वह देशी लोशन उन्हें और मिलता तो भिन्न भिन्न प्रकार के अधिक परीक्षण करके मेडिकल बोर्ड के सामने इस नये कृमिनाशक लोशनपर व्याख्यान देते। इन परीक्षाओंसे हवन गैस की उपयोगिता भली भांति सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार तीसरी-परीक्षा Purely Becteriological होनी चाहिये। यह तो स्पष्ट है कि हवनद्वारा वायु शुद्ध हो जाती है, और रोगोत्पादक नष्ट हो जाते हैं। परन्तु हवनसामग्री के प्रत्येक प्रकार के विश्लेषण की आवश्यकता है। साथही हवन में जलनेवाले काष्ट- समिधा के गैसों की भी परीक्षा होनी चाहिये। पलाश, खदिर, पीपल, गूलर, आम्र आदि काष्ट जो हवनके काममें आते हैं उनके बाष्पों के विश्लेषण की भी बहुत जरूरत है।

वैज्ञानिक दृष्टिसे हवन एक अत्यंत आवश्यकीय विषय है। वर्तमान युग में जो विधियाँ जलवायुको शुद्ध करने के लिये विदेशीय विद्वानों ने निकाली हैं वे जरा भी असावधानी होनेपर प्राणनाशक हो जाती हैं, इसलिये केवल विद्वान् डॉक्टर ही उनका प्रयोग कर सकता है-सर्व साधारणकी हिम्मत उन्हें काममें लानेकी नहीं है। क्यों कि Chlorine और Ozone नामक गैसें ऐसी हैं जो वायुमें तनिक भी अधिक हुईं कि कुछ का कुछ हुआ। इसके अलावा ये गैसें उन्हीं स्थानोंका जलवायु शुद्ध करती हैं जहाँ उन्हें प्रयोग किया जाय। परन्तु अग्निहोत्र में यह बात नहीं साधारण से साधारण मनुष्य भी उसे करके लाभही उठा सकता है। हानिकी स्वप्न में संभावना ही नहीं। बिना किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाये सुगमतासे जल वायु शुद्ध किया जा सकता है। हमारा अग्निहोत्र, यज्ञ, हवन हमारे ऋषि मुनियोंकी वैज्ञानिक दृष्टि का सबसे उत्तम प्रमाण है। उन लोगों ने हवन की वैज्ञानिक क्रियाओंको जानकर ही इसे अपने कृत्यों में प्रधानता दी। आशा है पाठक इस पर मनन और विचार करेंगे तथा वैज्ञानिक इस दिशामें विशेष प्रयत्न करेंगे।

वैदिक-राष्ट्र-गीत ।

(ले०— वैदिकधर्मविशारद पं० सूर्यदेवशर्मा साहित्यालंकार एम० ए०)

यावत् तेभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना ।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥३३॥
मातृभूमि! मैं लावूं, जहांतक तव विस्तारा ।
देखूं ज्ञानप्रकाश, "सूर्य" मोदप्रद-द्वारा ॥
तब तक भोगूं अन्त, आयु का पूर्ण पसारा ।
हों न इन्द्रियां शिथिल, ध्येय हो सफल हमारा॥३३॥

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् ।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिरधिशेमहे। मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥३४॥
मातृभूमि! जब गोद, आपकी में हम सोवें ।
करवट दक्षिण वाम, रहे वा ऊपर जोवें ॥
पश्चिमदिशिमें पैर, कहीं कैसे भी होवें ।
दो सब को आधार, न जीवन अपना खोवें ॥३४॥

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु ।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥३५॥
भूमे! हम हल आदि, चला जो खोदें, बोवें ।
तुझ में वह सब उगें, शीघ्र ही परिवृढ होवें ॥
विशेषता से तुझे, खोजकर मात! सेवें ।
मर्मस्थान न वेध, हृदय को कष्ट न देवें ॥३५॥

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहताम् ॥३६॥
भूमे! तव ऋतुविहित, हमें अति निवृति देवें ।
गर्मी वर्षा शरद, हेम, शिशिरादिक सेवें ॥
हो वसन्त वस अन्त, दुःखका नाम न लेवें ।
रात्रि दिवस भी पृथिवि! पार सुख नौका खेवें॥३६॥

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्वन्तः । परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् । शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥३७॥
जो हित हित कर चले, जहां अति अन्वेषण है ।
मेघस्थित जहँ अग्नि देव का दिव्य रमण है ॥
जो पृथ्वी बल हेतु, इन्द्र का करे वरण है ।
दते दस्युदल वही, देवगण हेतु शरण है ॥३७॥

यस्यां सदो हविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते। ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः। युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥३८॥
जहँ शाला जहँ हविः, यज्ञ का यूप निहित है ।
जिसमें ऋग्यजुसाम, सहित प्रभुवर पूजित है॥
जिसमें ऋत्विज् लोग, करें जो वेद विहित है।
सोमपानके हेतु, इन्द्रही नित योजित है ॥३८॥

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्त्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥३९॥
जिसमें पहले हुये, आर्य ऋषि अद्भुतकारी।
पावन ज्ञानी सप्त, महावीर व्रतधारी ॥
गाते महिमा यश, आदि से तप से भारी ।
मातृभूमि की सदा, करें सुख से रखवारी ॥३९॥

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे ।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥४०॥
मातृभूमि दे हमें, राशि सम्पति की, धन की ।
करे कामना पूर्ण, हमारे चितकी, मन की ॥
हों ऐश्वर्य सुपूर्ण, प्रतिष्ठा पावें प्रण की ।
नेता होवें इन्द्र, जयश्री गावें रण की ॥४०॥

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः । युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः। सा नो प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥४१॥
जिस भूमी में गावें नाचें, मानी मानव मोद मनाएँ।
प्रेरित होकर देश प्रेम से, युद्धस्थलमें आगे जायँ ॥
वधे नगाडा रण में मारू, वाजे टाप बछेडन क्यार।
करे हमें निर्द्वन्द्व मातम्, सारे समर शत्रु संहार॥४१॥

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः । भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोस्तु वर्षमेदसे ॥४२॥
जहाँ अन्न जौ चावल उपजें,पांचो प्रजा वसें सुखसार ।
वर्षा मेघ मुदित माता को,होवे नमस्कार बहु वार॥४२॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते। प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥४३॥

जिसके नगर ग्राम देवों ने,निर्मित किये सघन उद्यान।
जिसके क्षेत्र प्रदेशों में जन, बाँधें बढकर विविध वितान ॥
प्रजापतिः परमेश्वर राजा,करता पृथ्वी का विस्तार।
सर्वोत्पादक उसे बनावे, हो दिशिदिशि में रम्योदार ॥४३॥

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे। वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥४४॥

धारण करे गुहा खानों में, हीरा माणिक विविध प्रकार।
अष्ट धातु सुवर्ण आदिक को, माता देवे हमें सम्हार॥
दानशील देवी देनेको, वसु का करे विविध विस्तार।
पूजनीय वसुधा माता को,होवे नमस्कार बहुवार।४४।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥४५॥

भाँति भाँति के भाषाभाषी, जो जन विविध धर्म शिरमौर।
धारण करे मातृभू सबको, रहते गृहवत् प्रियवर पौर ॥
धन की गंगा वहे देश में,होकर सफल सहस्रों धार।
सीधी नाशरहित गौ के सम, देवे दिव्य दुग्ध दातार ॥४५॥

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये। क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः सर्पन्मोप सृपद् यच्छिवं तेन नो मृड ॥४६॥

वृश्चिक सर्प तेज विषवाले, जो हैं ज्वर उत्पादक कीट।
भृमल गुहामें रहने वाले, जो वर्षा में चलते ढीट ॥
पृथिवीमाता जो भी प्राणी, तुझ में रहते हिंसक क्रूर।
शिवमंगलमय हमें बनाओ, करके उनको हमसे दूर ॥४६॥

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥४७॥

जो हैं मार्ग तुम्हारे माता, जिनपर चलते मानव लोक।
रथगाडी भी जिनपर जावें,सज्जन दुष्ट चलें बे रोक॥
तस्कर चोर शत्रु को हनिये,दीजै सारे विघ्न विदार।
शिवमंगलमय मार्ग हमारे, होवे शुभकल्याणागार ॥४७॥

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः। वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय॥४८॥

गुरु पदार्थ को धारण करती, सबका शक्तिशील आधार।
भद्र और पापी लोगोंकी, जो नित सहे मौत अरु मार ॥
मेघ वायुसे वह मिलकर के, पावे वृष्टिभूमि भरपूर।
सूकर "सूर्य" के आकर्षण से, चलती नभमंडल में दूर ॥४८॥

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति। उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥४९॥

मातृभूमि जो आरण्यक पशु, वन में वसें कुटिल औ क्रूर।
सिंह व्याघ्र भयकारी सारे,जो जनभक्षक हिंसा शूर।
वाघ भेडिया पागल कुत्ते राक्षस भालू भय भरपूर॥
पृथ्वीमाता! शीघ्र हटाओ, हमसे करो सभीको दूर ॥४९॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः। पिशाचान्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥५०॥

जो गन्धर्व आलसी निर्धन,मांसाहारी यक्ष पिशाच।
राक्षस आदि किसी की हमको, माता! लगे न बिल्कुल आँच ॥५०॥

श्रीमद्भगवद्गीता ।

[पुरुषार्थ-बोधिनी-भाषा-टीका]

टीकालेखक और प्रकाशक ।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि० सातारा)
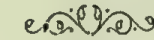
प्रथमवार २०००
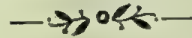
संवत् १९८७, शक १८५२, सन १९३०.

‘ वेदका वेद्य । ’

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ॥
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

भ० गी० अ० १५

“ मैं वैश्वानर होकर सब प्राणियोंकी देहोंमें रहता हूँ और मैं ही वहां प्राण और अपानसे युक्त होकर चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ ।” १४

“ मैं सबके हृदयोंमें प्रविष्ट होकर रहा हूँ । मुझसेही स्मरण, ज्ञान और तर्क (अथवा उनका अभाव) होता है । सब वेदोंसे मैं ही जाना जाता हूँ । मैं ही सब वेदोंका जाननेवाला हूँ और वेदका अन्तिम तत्त्व प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूँ ।” १५

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी।

[भाषाटीका।]

श्रीमद्भगवद्गीता यह सातसौ श्लोकोंका छोटासा ग्रंथ मननशील पाठकोंको अत्यंत प्रिय होने योग्य है। यह गीता ग्रंथ इतना छोटा है, तथापि अर्थकी गंभीरताकी दृष्टिसे इसकी योग्यता बहुत बडी है। इसलिये महात्मा गांधी जी जैसे अनासक्तिके पथपर स्वयं चलने और जनताको चलानेवाले, अहिंसाधर्मका पुनरुज्जीवन करनेवाले कर्मयोगीने इसका अर्थ वर्धिष्णु है ऐसा कहा है-

" गीता एक महान् धर्मकाव्य है। उसमें आप जितने गहरे पैठेंगे उतने ही नये और सुंदर अर्थ आपको मिलेंगे। गीता सर्वसाधारण की चीज है और इसलिये उसमें एकही बात अनेक तरहसे कही गई है। अतएव गीतामें प्रयुक्त महाशब्दोंके अर्थ हरएक युगमें बदलेंगे और विस्तृत होते जांयगे। पर गीताका मूल मंत्र कभी नहीं बदलेगा। जिस रीतिसे यह मंत्र सिद्ध किया जा सकता है उस रीतिसे जिज्ञासु उसका जो चाहे अर्थ करे।"

श्री० महात्मा गांधीजी ने निरंतर ४० वर्ष गीताका मनन किया और गीताके उपदेशके अनुसार आचरण किया और पश्चात् उक्त शब्द लिखे हैं, इसलिये इनके विरुद्ध शब्द लिखना सहजहीमें नहीं हो सकता।

गीताका अर्थ एकवार पढनेसे ध्यानमें नहीं आसकता, मनुष्य कितनाभी विद्वान क्यों न हो, थोडेसे मननसे गीताग्रंथ का हृद्गत समझमें नहीं आसकता। लो० तिलकजीने ४५ वर्ष गीताका मनन किया और गीतारहस्य ग्रंथ लिखा, म० गांधीजीने ४० वर्ष मननके साथ आचरण किया और अपना भाषान्तर प्रकाशित किया जिसकी भूमिकामें वे कहते हैं कि—

" गीताके अनुसार आचरण करनेमें प्रतिदिन निष्फलता होती है, इस निष्फलतामें हम सफलता की उगती हुई किरणोंकी झाँकी करते हैं।"

चालीस वर्ष अखंड तपस्या करनेवाले के हृदयके ये शब्द निःसंदेह गीताके उपदेशकी गंभीरताके सूचक हैं। परंतु जो लोग आचरण नहीं करते और मननभी नहीं करते, उनके लिये गीता ग्रंथका कोई विशेष मूल्य नहीं होता है। मननके विना गीता ग्रंथको देखा जाय, तो उसमें पुनरुक्ति, असंबद्धता, अस्पष्ट और परस्पर विरुद्ध विधान भी पाये जांयगे। कईयोंने गीताके विषयमें ऐसे ही अनुदार शब्द लिखे हैं,जो उनके अज्ञानके सूचक हैं।

केवल संस्कृत भाषा अथवा अनुवादकी भाषा जाननेसे गीताका आशय मनन न करते हुए ध्यानमें आना करीब करीब अशक्य है। वेद, उपनिषद् और गीता इन सब ग्रंथोंकी अवस्था यही है! प्रायः सब ऋषिग्रंथोंके विषयमें यही बात है। विशेष मननके विना उनका हृद्गत समझना अति कठीन कार्य है। यह इसलिये होता है कि, ये ग्रंथ विशेष मनोभूमिकाकी अवस्थामें लिखे होते हैं और इनके दृष्टिकोन भी भिन्न होते हैं। जबतक उनका दृष्टिकोन समझ में नहीं आता, तब तक उनके उपदेश समझमें आना कठीन है।

श्रीमच्छंकराचार्यजी तथा अन्य अनेक आचार्योंने यह कहा है कि " वैदिक धर्म " के सत्य सिद्धांत कालान्तरसे जनताके मनसे दूर हुए, अतः उनको पुनः उज्वलित करके जनताके सन्मुख रखनेके लिये गीताशास्त्र कहा गया है। यह आचार्योंका कथन नितान्त सत्य है। वैदिक धर्मके गूढ सिद्धांत उज्वल रूपमें देखनेकी इच्छा हो, तो गीता पढी जाय। स्वयं गीता में चतुर्थाध्यायके प्रारंभमें यही बात कही है—

" श्रीभगवान् बोले— यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान्से कहा था, उसने मनुसे और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा। इस प्रकार परंपरासे आया हुआ और राजर्षियोंका जाना हुआ यह योग दीर्घकाल के कारण नाशको प्राप्त हुआ। वही पुरातन रहस्य रूप योग मैंने आज तुमसे कहा है, क्यों कि तू मेरा भक्त है और मित्र भी है।"

यहां स्वयं भगवान्के द्वारा कहा गया है कि, गीता कोई नया शास्त्र नहीं है, परंतु प्राचीन परंपरासे जो ज्ञान आदिकालसे चला आया है, वही पुनः यहां कहा गया है। 'वेद' ही अनादि ज्ञान प्राचीन परंपरासे चला आता है, परंतु मनुष्यके अज्ञानके कारण उस मार्गसे मनुष्य दूर चले जाते हैं। इसलिये जनताको जगानेवाले 'उत्तम पुरुष' वारंवार आते हैं, वे आकर जनताको जगाते हैं, और पारंपरिक ज्ञान देते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् इसी प्रकारके 'उत्तम पुरुष' किंवा 'पुरुषोत्तम' थे और उक्त हेतुसे ही उन्होंने गीताशास्त्रका उपदेश किया। इससे स्पष्ट हुआ कि, गीताशास्त्रमें जो ज्ञान कहा है, वह ज्ञान परंपरासे चला आता है, वह ज्ञान इससे पूर्वके ग्रंथोंमें भी मिल सकता है, वह नया नहीं है।

इस 'पुरुषार्थ बोधिनी' भाषाटीकामें यही बात दर्शायी जायगी कि, वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रंथोंके ही सिद्धांत गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अर्थात् ये ही गीताके सिद्धांत प्राचीन ग्रंथोंमें किस रूपमें हैं। यह बात इस समयतकके किसी टीकाकारने विशद नहीं की है, प्राचीन टीकाकारोंने इसका कुछ अंश बताया है, परंतु इसका विशेष आविष्कार किसीने अभीतक नहीं किया है। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थबोधिनी' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है। गीतापर इतनी टीकाएं होते हुए पुनः यह टीका लिखनेका यही एकमात्र हेतु है।

छतीस वर्ष पूर्व मैंने मराठी भाषामें एक सारांशरूपसे गीताका रूपान्तर प्रकाशित किया था, और गीताके कई शब्दोंके अर्थ वैदिक प्रमाणोंसे निश्चित करनेके लिये भी कई लेख नियतकालिकोंमें लिखे थे। तबसे यह 'पुरुषार्थबोधिनी' टीका लिखनेका संकल्प है और तबसे गीताका विचार हो रहा है और प्राचीन ग्रंथवचनोंकी तुलना गीतावचनोंके साथ तबसे की जारही है। इतने समयके मननसे मेरे मनका यह निश्चय हुआ कि, वेद, उपनिषद् और गीता इनका तात्पर्य एकही है, जो भेद किसीको दीखता है वह अज्ञान के कारण है। यदि निःपक्षपातपूर्वक विचार हो जायगा और यदि पंथाभिमान की कलुषित दृष्टि दूर होना किसी कालमें संभव हो जायगा, तो इन तीनोंका एकही तात्पर्य स्पष्ट रीतिसे दृष्टिके सन्मुख उपस्थित होगा, इसमें मुझे संदेह नहीं है।

यह बात तो निश्चित है कि, यह गीताशास्त्र लोगोंके विचारोंके मतभेद बढानेके लिये उत्पन्न नहीं हुआ, परंतु विभिन्न मतोंका संगतिकरण करके, उनसे प्रगट होनेवाली विविधता दूर करके, उनके अंदर जो अभेद है उस ओर लोगोंके ध्यानका आकर्षण करानेके लियेही गीताशास्त्र उत्पन्न हुआ था। यद्यपि ऐसे एकता अथवा समताका प्रचार करनेवाले ग्रंथपरभी आजकल विभिन्न मत लदे गये हैं !! परंतु मूलतः देखा जाय, तो विभिन्न तत्त्वों में व्याप्त रहनेवाला अभिन्न तत्त्व बतानेके लिये और उन सबका संगतिकरण करनेके लिये इस गीताशास्त्रकी उत्पत्ति है। अर्थात् यह ग्रंथ झगडे बढानेके लिये नहीं है परंतु झगडे घटानेके लिये ही है।

यही दृष्टी यदि पाठक रखेंगे, तो उनको गीताका दृष्टिकोन शीघ्र दीखेगा और वे गीताके उपदेशके अनुसार आचरण करके, अपना और जनताका अभ्युदय और निःश्रेयस साधन करनेके अधिकारी हो सकेंगे।

अन्तमें मुझे पूर्ण आशा है कि जिस प्रकार भूले और मोहित हुए अर्जुनको उस समय इस "भगवान् के गीत" ने मार्ग दर्शाया, उसी प्रकार इस समय भूले भटके और मोहित हुए जनोंको भी यह गीता सच्चा मार्ग दर्शायेगी और मानवी उन्नतिका पथ सबके लिये खुला कर देगी। इसी उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते ही हैं कि— "सब अन्य मतोंका त्याग करके एक मेरी ही शरणमें आ, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा, तू शोक मत कर। (भ० गी० १८।६६)"

जो विश्वास रखेंगे और देवकार्यमें अपने आपको समर्पण करेंगे उनको यही अनुभव आवेगा।

निवेदक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

औंध (जि० सातारा) स्वाध्यायमंडल

कार्तिक शुद्ध पूर्णिमा शके १८५२

हो बनेंगे। जो तरुण युवतियां पति मरनेके कारण विधवाएं होगई होंगी, उनमेंसे कुछ सती बन कर पतिके साथ जल जांयगी, शेष बची स्त्रियोंमें कुछ थोडी सतीत्वकी रक्षा करेंगी ऐसा मानने पर भी चालीस लाख तरुणोंकी सबकी सब स्त्रियां पतिव्रता धर्मसे रहेंगी और उनसे कोई बुरा आचरण नहीं होगा, ऐसा कहना कठिन है। क्योंकि यह तारुण्यका देहधर्म है और वह पूर्ण स्वाधीन रखना अति कठिन है। इस कारण उनसे व्यभिचार आदि कुपथका व्यवहार हो जायगा और उस कारण कुलकी शुद्धता मारी जायगी।

चालीस लाख वीरोंका संहार होनेसे जो विधवाएं पीछे रहेंगी, उनके व्यभिचार का पातक तो हम युद्ध करनेवालोंपर ही आवेगा। व्यभिचारसे कुलकी शुद्धता नष्ट होगी, कुलपरंपरासे चले आये सदाचार नष्ट हो जांयगे, और ऐसी प्रजा बचेगी कि जिनको पूर्वेतिहास के विषयमें कुछभी अभिमान नहीं और जिनको पुरातन प्रथाओंका थोडाभी ज्ञान नहीं है। जो स्त्रियां व्यभिचारके लिये प्रवृत्त हो जांयगी, वे तो स्ववर्णमें या स्वजातीमेंही व्यभिचार करेंगी, इस विषयमें कोई नियम नहीं होगा। क्योंकि अनाचारमें नियम किस प्रकार रह सकता है? यदि उनमें प्रतिलोम व्यभिचार होगया, अर्थात् हीन वर्ण या हीन जाती अथवा हीन संस्कारोंके मनुष्योंसे व्यभिचार हो जाय, तो वह वर्णसंकरसे बिगडा हुआ कुल जीवित भी रहा, तथापि उसमें कुसंस्कारका बीज घुसनेके कारण, उससे सभ्यताकी इतनी हानि हो जायगी कि, वह किसी प्रकारभी फिर ठीक नहीं हो सकती।

वर्णसंकरसे जातिकी जाती नष्ट हो जाती है। आज जो प्रत्येक कुलका अभिमान एक एक वीरमें है, वह पूर्ण रीतिसे नष्ट हो जायगा और आज जो हीन संस्कारके थोडेसे लोग दीख पडते हैं, उनकी ही संख्या देशभरमें बढ जायगी। अर्थात् इस युद्धसे हम आर्य जातिका और परंपरासे चली आई आर्य वैदिक सभ्यताका हो नाश कर रहे हैं!! इस युद्धसे लाभ होनेकी तो कोई आशा दीखतीही नहीं है। इसलिये युद्ध करना बडा भारी पाप है।

राज्य और सुख के लिये जातीका ही समूल नाश करना कदापि योग्य नहीं है, अतः मैं युद्ध नहीं करता, यह अर्जुनके कथन का आशय है।

जो युद्धका भयानक चित्र अर्जुनने अपने भाषणमें खींचा है, वह सत्य है, इसमें कोई संदेह नहीं है। हरएक महायुद्धमें ऐसा हुआही करता है। परंतु महायुद्ध ऐसे समय होते हैं कि, उससे पूर्व एक या अनेक पक्षोंके पातक बहुत ही इकट्ठे हुए होते हैं और उन पातकोंके कारण जनताके अन्तःकरणोंको ऐसी विचित्र गति प्राप्त हुई होती है, कि उस समय उन दोनों पक्षोंको युद्धसे कोई भी रोक नहीं सकता। अर्थात् युद्ध अपरिहार्य होते हैं। भारतीय युद्ध ऐसाही अपरिहार्य था, प्रयत्न करनेपर भी इसको रोकनेमें कोई समर्थ नहीं हुआ। ये पातक केवल दुर्योधन के द्वाराही हुए ऐसी बात नहीं है, ये इसके पूर्वसे हो रहे थे, शन्तनुराजा का वृद्धावस्थामें द्वितीय विवाह करना, नवयुवतीके पुत्रको राज्याधिकारी निश्चित करना और सच्चे युवराजका अधिकार स्त्रीवशताके कारण छीना जाना, ये और ऐसे अनेक पातक इससे पूर्व हो चुके थे और क्रमशः हो रहे थे। मानो राज्याधिकारियोंको पातक करनेका अभ्यास हुआ था। राष्ट्रमें ऐसे पातक जमा होते हैं और वे राष्ट्रके मनपर कुसंस्कार डालते रहते हैं, ऐसे कुसंस्कार जमते जमते एक समय ऐसा आता है कि, जिस समय राष्ट्रीय मन अधिक कुसंस्कारोंका भार सहनेमें असमर्थ होजाता है, और थोडेसे निमित्तसे झगडा छिड जाता है, तथा युद्धकी अग्नि भडक उठती है। कोई संधि करने लगा, तो उसका भाषण दूसरा समझ ही नहीं सकता और जो जो प्रयत्न संधिके लिये किया जावे, वही युद्धकी अग्नि प्रदीप्त करनेके लिये ही कारण हो जाता है!!!

ऐसी अवस्थामें महायुद्ध अपरिहार्य होते हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

अन्वय— यदि शस्त्रपाणयः धार्तराष्ट्राः अशस्त्रं अप्रतीकारं मां रणे हन्युः, तत् मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि ये शस्त्रधारी धृतराष्ट्रपुत्र, मुझ निःशस्त्र हुए और प्रतिकार न करनेवाले को इस रणक्षेत्रमें मार डालेंगे, तो वह मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा ।४६।

इस समय यदि अर्जुन जैसा एकाद वीर युद्धसे विमुख हुआ, तो उसके स्थानपर दूसरा खडा होजाता है और युद्ध होता ही है। अतः ऐसे समय अर्जुनके समान युद्धसे भाग जानेका निश्चय करना भी युक्त नहीं होता। क्यों कि वह समय ऐसा होता है कि एक वीरके भाग जानेसे या मर जानेसे युद्ध बंद होना सर्वथा असंभव होता है। युद्ध बंद उस समय होगा कि जब एक पक्ष पूरा कमजोर हो जाय अथवा दोनों पक्ष पूर्ण तया युद्ध करके थक जांय।

अर्जुन ने जो युद्धके भयानक परिणाम वर्णन किये वे सत्य हैं, परंतु युद्ध अपरिहार्य होनेके कारण इस समय अर्जुनको भागना ठीक नहीं था। अर्जुन रणभूमिसे संन्यास लेकर भागभी जाता तो युद्ध कभी बंद नहीं होता। यहां समय को न जानना अर्जुनका दोष है।

भारतीय युद्धके समय जैसा युद्ध अपरिहार्य हुआ था वैसाही परशुरामके समय भी युद्ध अपरिहार्यही हुआ था। उस समय भी सहस्रों क्षत्रिय कुलोंका संहार हुआ। भारतीय युद्धमें भी लाखों क्षत्रिय विनष्ट हुए। द्रोण, कृप, और अश्वत्थामा की बात छोड दी जाय, तो शेष प्रायः सबके सब क्षत्रियवीर ही थे। क्योंकि भारतीय युद्धके समय विशेषकर क्षत्रिय ही युद्ध करते थे। परंतु यदि राष्ट्रके हरएक व्यक्ति को युद्धदीक्षा लेनेका प्रसंग उत्पन्न हो जावे, तो सब लोगोंमें केवल एकही क्षात्रगुणका उत्कर्ष होता है और शान्त विचारशीलता, व्यापार कुशलता और कारीगरी ये ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रोंके गुण प्रायः दब जाते हैं। और इस प्रकार अन्य वर्णोंके दब जानेसे भी राष्ट्रपर आपत्ति ही आती है। यह भी एक प्रकार का वर्णसंकर समझिये अथवा वर्णनाश समझिये, महायुद्धके कारण हो जाता है। ब्राह्मण सदाके लिये क्षात्रकर्म करने लग जांय तो वह भी एक प्रकारसे वर्णसंकरही होजाता है। इसीप्रकार ब्राह्मणके वैश्यकर्म करनेसेभी उसके ब्राह्मणगुण न्यून होते हैं। इसकारण वर्णभ्रष्टता हो जाती है। दीर्घयुद्ध तथा महायुद्ध के कारण ये सब हानियां होती हैं। अर्जुन इन हानियोंका अनुभव कर रहा है, इस लिये वह युद्ध करनेसे निवृत्त होनेका निश्चय करता है।

यहां श्लोक ४१ में श्रीकृष्ण को 'वार्ष्णेय' अर्थात् 'वृष्णीके कुलमें उत्पन्न वीर' कहा है। इस शब्दसे अर्जुनने यहां यह सूचित किया है कि 'तुमभी तो वृष्णिकुलमें उत्पन्न हुए हो। क्या तुम स्वयं चाहते हैं कि, तुम्हारे कुलका ऐसा नाश हो जाय और वर्णसंकर होकर कुलका सत्त्व नष्ट हो जाय? जैसा तुम्हारा कुल तुम्हें प्रिय है, वैसाही हमारा कुल हमें प्रिय है। इसलिये मुझे ऐसा घोर कर्म करनेकी उत्तेजना देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है।'

इसप्रकार अर्जुन युद्धसे निवृत्त होता है और अन्तिम निश्चय कहता है—

(४६) युद्धसे होनेवाला भयानक कुलका नाश अर्जुनने देखा और उससे आगे जाकर होनेवाले सभ्यताके नाशरूपी भयंकर परिणाम का भी उस ने विचार किया, और उसने युद्ध न करनेका ही अन्तिम निश्चय किया। स्वयं युद्ध न करनेपर भी

संजय उवाच— एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अन्वय— संख्ये एवं उक्त्वा, शोकसंविग्नमानसः, अर्जुनः, सशरं चापं विसृज्य, रथोपस्थे उपाविशत् ॥ ४७ ॥

संजय बोले— इस प्रकार रणभूमिमें भाषण कर, शोकसे व्याकुल चित्त होकर, अर्जुन, धनुष्यबाण छोडकर, रथमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

विपक्षी शस्त्र चलायेंगे तो अपनी मृत्यु होगी ही, इस विषयमें वह कहता है कि, " यदि मेरे शान्त और निर्वैर रहनेपर शत्रु मुझपर शस्त्र चलायेंगे, तो वह मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा।" क्योंकि जनता कहेगी कि, "अपनी ओरसे अर्जुनने तो शान्ति रखनेका पराकाष्ठाका यत्न किया; सामर्थ्य रहनेपरभी अहिंसाव्रतका अवलंबन किया, तो भी साम्राज्यवादी दुष्ट कौरवोंने अपनी पाशवी शक्तिकी घमंडमें न्याय और अन्याय न देखते हुए, निःशस्त्र और विरोध न करनेवालेका विना कारण वध किया! निःशस्त्र निर्वैर और अहिंसाशील मनुष्योंपर पाशवी बलसे आक्रमण करना और उनपर शस्त्र चलाना बडी अधोगतिको पंहुचे हुए साम्राज्यवादियोंका ही काम है। यह गिरा हुआ कार्य कोई अन्य नहीं कर सकता। " जनता ऐसा कहेगी और जनताके ये शब्द ही मेरे परम कल्याण होनेके सूचक हैं। यहां अर्जुनका भाषण समाप्त होता है।

(४७) संजयने धृतराष्ट्रसे यह सब वृत्तान्त कह कर सूचित किया कि " अर्जुन तो अपना धनुष्यबाण त्यागकर अपने रथमें दुःख करता हुआ बैठ गया।" अर्थात् युद्ध करनेका उसका संपूर्ण उत्साह नष्ट हुआ, उसकी वीरवृत्ती चली गई, उसका हृदय दुःखसे फट गया और वह पूर्ण रीतिसे उदास हो गया है।

संभव है कि यह वृत्तान्त सुनकर धृतराष्ट्रको मन ही मनमें अत्यंत आनंद हुआ होगा, क्योंकि संजयद्वारा उसने जो उपदेश पांडवोंको करवाया था, उसका जो परिणाम होना धृतराष्ट्रको अभीष्ट था, वही उसने संजयके मुखसे श्रवण किया।

इस प्रकार स्वराज्यप्राप्तिका प्रयत्न करनेवाले पांडवके सन्मुख ऐन आशाके समय पूर्ण उदासीनता और साम्राज्यवादी कौरवके सामने अपना साम्राज्य कंटकरहित होकर चिरस्थायी होनेकी आशा खडी हुई! परंतु होनेवाला कुछ और ही होता है।

स्वराज्य का प्रयत्न करनेवालों की वारंवार होनेवाली निराशासे ही उनकी परमेश्वरपर भक्ति अधिक होने लगती है और उससे उनको नवशक्ति मिलती है और साम्राज्यवादियोंके विजयोंसेही उनकी घमंड वढ जानेके कारण उनका नाश उनके समीप आने लगता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषदोंमें कथित ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए योगशास्त्र विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें, अर्जुनविषादयोग नामक पहिला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

विषादयोग का विचार।

'श्रीमद्भगवद्गीता' एक अपूर्व ग्रंथ है, इसी कारण इस की इतनी मान्यता इस देशमें और इस देशके बाहरके देशोंमें भी होगई है। हिंदूमात्रका प्रेम इस भगवद्गीतापर असीम है। पुराने विचार के बहुतसे हिंदू प्रतिदिन गीताका पाठ श्रद्धासे करते हैं। संस्कृतज्ञ हिंदू गीतापर विचार करते हैं और उसका प्रवचन करनेमें अपने आपको धन्य समझते हैं! शास्त्रज्ञानी हिंदू गीतापर टीका-टिप्पणी, रूपान्तर, भाषान्तर अथवा अन्य प्रकार का प्रबंध या निबंध लिखनेमें आनंद मानते हैं। इस कारण इस भारतवर्षमें इस 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर इतने ग्रंथ निर्माण हुए हैं कि, उन सबका संग्रह करना किसी साधारण मनुष्यकी शक्तिके बाहरका कार्य है। बहुतसे भारतीय कवियोंने इसका रूपान्तर अपने अपने प्रिय छंदमें किया है, सैंकडों भाषान्तर कर्ताओंने गद्यमें विविध भाषान्तर किये हैं, नवीन ग्रंथकार अपने मतकी पुष्टीके लिये श्रीमद्भगवद्गीताका प्रमाण दियेविना संतुष्ट नहीं होते। द्विजोंके भोजनके पूर्व उच्चारे जानेवाले संकल्पमें भी भगवद्गीताका एक श्लोक "अहं वैश्वानरो भूत्वा० (भ० गी० १५।१४)" संमिलित हुआ है, जिससे प्रायः ऐसा कहा जा सकता है कि, कोई द्विज भगवद्गीताका श्लोक पढनेके विना भोजन नहीं करता। श्रीमद्भगवद्गीताने इतना महत्त्व का स्थान हिंदूके हृदयमें प्राप्त किया है, इससे इस ग्रंथकी श्रेष्ठता ज्ञात हो सकती है।

भारतवर्षकी भाषाओंसे भिन्न विदेशकी कई भाषाओंमें भी उन देशोंके निवासियोंनेही साठ से अधिक भगवद्गीताके भाषान्तर स्वयंस्फूर्तिसे किये हैं। जिसका जो धर्मग्रंथ है, वह उसका प्रचार करनेकी इच्छासे दूसरी भाषाओंमें भाषान्तर करता है, यह बात स्वतंत्र है। इस प्रकार हिंदू लोगोंने गीताका रूपान्तर अन्यान्य देशभाषाओंमें किया होता, तो कोई विशेष बात नहीं होती; परंतु भगवद्गीताका भाषान्तर जो अन्यान्य भाषाओंमें हुआ है, वह हिंदूओंद्वारा नहीं हुआ है, परंतु अन्य देशके विद्वानोंने इस गीताकी विशेषताका अनुभव किया और स्वयंस्फूर्तिसेही इसके विचार अपनी अपनी भाषामें ग्रथित किये। ग्रंथकी योग्यता का निश्चय करनेमें यह एक बात जैसी 'श्रीमद्भगवद्गीता' के अनुकूल है, वैसी किसी अन्य धर्मग्रंथके विषयमें नहीं है।

इस प्रकार भारतवर्षीय और दूसरे देशके विद्वान् इस भगवद्गीताको विशेष माननीय मानते हैं, ऐसा कहा जाय तो वह कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसीलिये इसका विचार करनेका यत्न यहां किया जाता है। सबसे प्रथम इसके नामका विचार करना योग्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता का नाम।

गीता।

"श्रीमद्भगवद्गीता, भगवद्गीता, अथवा गीता" ये इसके नाम सबके मुखमें स्थिर हो चुके हैं। इन नामोंका अर्थ 'भगवान् का गीत' है। साक्षात् भगवान् के मुखारविन्दसे इसके प्रकट होनेके कारण इसका महत्त्व विशेष है, यह बात हरएक मान सकता है, अर्थात् इस विषयमें किसीका विरोध नहीं हो सकता। क्यों कि श्रीकृष्णभगवान्ने अर्जुनको यह उपदेश किया, यह बात सबही मानते हैं। 'धर्मसंस्थापना' करनेके लिये श्रीकृष्ण भगवान् ने जन्म लिया था, और जो धर्म उन्होंने कहा और आचरण करके दिखाया वही धर्म इस 'गीता' में कहा है। भगवान् श्रीकृष्णने जिस मानवी धर्मका उपदेश किया अथवा धर्मतत्त्वोंका गायन किया, वही "श्रीमद्भगवद्गीता अथवा भगवद्गीता" है। यह नामही इस उपदेशके

भगवान्के मुखसे आनेकी बात सूचित करता है, और इसलिये भक्तका आत्मविश्वास बढाता है कि, यदि मैं इस उपदेशके अनुसार चलूं तो निःसन्देह मेरा बेडा पार हो जायगा; क्योंकि,इस उपदेशके अनुसार चलनेका अर्थही यह है कि भगवान्के आदेशके अनुसार चलना।

'गीता' शब्दका अर्थ 'गाई गई' है। इस समय तक अनेक गीत गाये गये हैं, परंतु 'गीता' शब्द सबसे प्रथम इस श्रीमद्भगवद्गीता के लिये प्रयुक्त हुआ, क्योंकि इसको देखकर लोगोंका यह निश्चय होचुका कि, यदि कोई सच्चा मानवधर्मका गीत गाया गया हो, तो वह यही है। इसके समान दूसरा कोई गीत नहीं है। जैसा कहते हैं कि इस सुपुत्रको जन्म देनेसे यह माता 'माता' बनी, अर्थात् अन्य माताएं पुत्रका प्रसव करने वाली तो निः सन्देह होती हैं, परंतु सुपुत्रके कारणही माताका नाम यशस्वी होता है, उसी प्रकार गीत तो बहुतेरे हैं, जो शब्द छन्दमें बद्ध होते हैं वे सब गीत ही हैं। परंतु इस गीतासे मनुष्य परम धन्य हो सकता है, इसलिये यही सच्चा गीत है. अतः इसका नाम 'गीता' प्रसिद्ध हुआ। और सबको यही नाम अत्यंत प्रिय हुआ। भगवद्गीता के पश्चात् सैंकडों गीताएं बनी। रामगीता, अनुगीता,आदि सैंकडों गीताग्रंथ हैं, परंतु जनता ने 'गीता' नाम श्रीमद्भगवद्गीता का ही सच्चा नाम समझा है, अतः 'गीता' शब्दसे किसी अन्य गीताका बोध नहीं होता है, केवल इस भगवद्गीता का ही बोध होता है।

इस गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तका संकल्प इस प्रकार रहता है—

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे [पुरुषोत्तमयोगो नाम
पञ्चदशोऽ] ध्यायः ॥ १५ ॥

इसमें आये " श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद्, ब्रह्म विद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद " इन पांच शब्दोंमेंसे कोई एक नाम या इनमेंसे हरएक नाम इस ग्रंथका हो सकता है। इसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता, भगवद्गीता या गीता' होनेके विषयमें इसके पूर्व कहा ही है। उसी प्रकार इसका नाम 'उपनिषद्' भी है, सभी जानते हैं कि यह गीता उपनिषदोंका सार है—

सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

" संपूर्ण उपनिषद्रूपी जितनी गौवें हैं, उनका सारभूत यह दूध श्रीकृष्ण भगवान् ने निचोडा है, अर्जुन नामक बुद्धिमान् बछडा उस दूधका सेवन करता है। इस प्रकार यह उपनिषद्का सार होनेसे उपनिषद् ही है। अतः भगवद्गीताका नाम उपनिषद् भी हो सकता है। यह 'उपनिषद्' का अर्थ '(उप) समीप (नि) निःसंदेह (सद्) पंहुंचानेवाला ज्ञान' है। इस गीतामें कहा हुआ ज्ञान मनुष्यको निःसंदेह ईश्वरके समीप जाकर विराजमान होनेका अधिकारी बना सकता है, इस लिये इसका नाम 'उपनिषद्' है।

इस गीताका नाम 'ब्रह्मविद्या' भी है। 'ब्रह्म' नाम अति महती शक्ति का है, उस महान् शक्तिका ज्ञान (विद्या) जानना और अपनी शक्ति बढाना इस ब्रह्मविद्याका उद्देश्य है। हरएक मनुष्य अपने अल्पत्वका अनुभव करता ही है, उसको इस ब्रह्मविद्याका ज्ञान होनेसे अपनी शक्तिका विकास किस प्रकार किया जा सकता है, इसका ज्ञान हो सकता है। और इस ज्ञानके सहारे साधक अपनी शक्ति अतिविस्तृत कर सकता है।

इस गीता का नाम 'योग शास्त्र' भी है। इस गीतामें अठारह योग कहे हैं। प्रत्येक अध्यायमें एक एक योग कहा है। सब अठारह योग मिलकर गीताका योगशास्त्र होता है, इस विषयमें आगे विस्तारपूर्वक कहा जायगा, अतः यहां इस विषयमें इतनाही कहना पर्याप्त है।

इस ग्रंथका नाम 'श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' भी है। यह पूर्ण पुरुष और साधक का संवाद है। श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुष हैं और अर्जुन (अर्जन) प्राप्त करनेवाला साधक है। पूर्ण पुरुषसे पूर्ण बननेके साधनका ज्ञान यह साधक प्राप्त करनेकी

इच्छा करता है, और ज्ञान प्राप्त होते ही वह वैसाही आचरण करता है। इसमें एक साधक का इतिहास होनेसे हरएक साधकको वह अत्यंत उपयोगी हो सकता है। यदि मनुष्यमात्र साधक माना जाय, तो यह संवाद मनुष्यमात्रको मार्गदर्शक होना संभव है।

ये पांच नाम गीताके अध्यायके अन्तिम संकल्पमें हैं। इनमें 'योगशास्त्र' यह एक नाम है। गीतामें 'योग' नाम 'कर्मयोग' के लिये आ गया है ऐसा कह कर स्वर्गीय श्री० लो० बाल गंगाधर तिलक महोदयजीने अपनी भगवद्गीताकी की टीकाको 'कर्मयोगशास्त्र' नाम दिया है। इसीको आपने 'श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य' भी कहा है। श्रीमद्भगवद्गीता का रहस्य 'कर्मयोग' ही है, इसमें किसीका विरोध नहीं हो सकता। कर्म किस प्रकार करनेसे मनुष्यको बंधन नहीं होगा, इसका अपूर्व विवेचन इस गीतामें है, इस लिये इसका नाम 'कर्मयोग का शास्त्र' योग्यही है।

इसके पश्चात् श्री० महात्मा मोहनदास कर्मचंद गांधी जीने श्रीमद्भगवद्गीताका अनुवाद गुजराती भाषामें प्रसिद्ध किया, जिसका नाम उन्होंने 'अनासक्तियोग' रखा है। इस विषयमें वे स्वयं इस प्रकार लिखते हैं—

"गीताका आशय तो आत्मार्थी को आत्मदर्शन का अद्वितीय उपाय बताना है। जो वस्तु हिंदुधर्ममें यत्रतत्र बिखरे हुए रूपमें पाई जाती है उसे गीताने अनेक रूपमें...भली भाँती सिद्ध की है। कर्मफलत्यागही वह अद्वितीय उपाय है।... जहां देह है वहां कर्म तो है हि ।...पर कर्म मात्रमें कुछ न कुछ दोष तो रहता ही है। और मुक्ति तो निर्दोषको ही मिल सकती है। तो फिर कर्मबंधनसे अर्थात् दोष स्पर्शसे कैसे छुटा जाय? गीताजीने निश्चयात्मक शब्दोंमें इसका जबाब यों दिया है– निष्काम कर्मसे। यज्ञार्थकर्म करके। कर्मफलको त्याग कर। ··· ···" "शारीरिक या मानसिक कोईभी चेष्टा कर्म है, तो फिर कर्म करते हुए भी मनुष्य बंधमुक्त कैसे रहे? यह पहेली गीताजीमें जिस तरह बूझीगई है मैं नहीं जानता कि दूसरे किसी एकभी धर्मग्रंथमें यह इस तरह बूझी गई हो। गीता कहती है,–"फलासक्ति छोडो और कर्म करो," "निराशी बनो और कर्म करो," "निष्काम बनकर कर्म करो।" यह गीताजी की कभी न भूलने योग्य ध्वनि है, कर्म छोडनेवाला गिरता है और कर्म करते हुए उसके फलको छोडनेवाला चढता है।"

यह गीता की विशेषता है अतः 'अनासक्तियोग' यह नाम महात्मा गांधीजीने इस गीता को दिया है वह सर्वथा योग्य है क्योंकि गीताका यही आशय है।

जिस प्रकार लोकमान्य तिलकजीने गीताको 'कर्मयोग शास्त्र' नाम दिया और महात्मा गांधीजीने इसीको 'अनासक्तियोग' नाम दिया, उस प्रकारके भिन्नभिन्न नाम गीताको देनेकी परंपरा पहिलेसे नहीं चली आयी है। यह बात नवीन है। श्रीमच्छंकराचार्यजीसे लेकर जो जो टीकाकार हुए हैं, उनमेंसे किसीने भी दूसरा नाम देनेका यत्न नहीं किया। श्रीमच्छंकराचार्य भूमिकामें लिखते हैं—

दीर्घेण कालेन ··· प्रवर्धमाने अधर्मे जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता···विष्णुः··· कृष्णः किल संबभूव। ··· सः ··· लोकानुग्रहं कुर्वन्··· वैदिकं धर्मद्वयमर्जुनाय ··· उपदिदेश। तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबंध॥ तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं···। तस्यास्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निश्रेयसं··· ॥

—गीताभाष्यम्।

"बहुत समय जानेके पश्चात्...अधर्म बढनेके अनंतर जगत् की सुस्थिति करनेकी इच्छा करनेवाले आदिस्रष्टा···विष्णुः···कृष्ण रूपसे उत्पन्न हुए। ···उसीने···जनताके ऊपर कृपा करते हुए ···वेदके दोनों—प्रवृत्ति निवृत्तिरूप — धर्मोंका उपदेश अर्जुनको···किया। भगवान् ने जैसा उपदेश किया वैसाही उस धर्मको वेदव्यासजीने···

गीता नामक सातसौ श्लोकोंसे ग्रथित किया। यह गीताशास्त्र मानो समस्त वेदोंका सार ही है ... । उस गीताशास्त्रका संक्षेपसे प्रयोजन निश्रेयस है ... ।"

इसप्रकार श्रीमच्छंकराचार्यजीने इसका नाम "गीताशास्त्र" माना है। कोई अन्य नाम माना नहीं है और न दूसरा नाम दिया है।

श्री मधुसूदनसरस्वतीभी इसको "गीताशास्त्र" ही कहते हैं देखिये—

परं निःश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम् ॥ २ ॥
एतत्सर्वं भगवता गीताशास्त्रे प्रकाशितम् ॥ ४० ॥

—मधुसूदनसरस्वती टीका.

श्रीधरस्वामीभी वही नाम स्वीकारते हैं—

यथामति समालोड्य गीताव्याख्यां समारभे ॥ ३ ॥
गीता व्याख्यायते यस्याः पाठमात्रप्रयत्नतः ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामी-टीका.

इसप्रकार ये दोनों सुप्रसिद्ध टीकाकार इस ग्रंथका नाम 'गीता' इतनाही स्वीकारते हैं और कोई नया नाम नहीं देते। इसी प्रकार जो जो प्राचीन टीकाएं हैं उन सबमें 'गीता' ही नाम स्वीकृत किया है।

अर्थात् 'गीता' इतनाही नाम इस ग्रंथका सर्वसंमत और सर्वप्रसिद्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता अथवा भगवद्गीता ये नामभी हैं, परंतु जितना 'गीता' शब्द प्रचलित है उतने ये भी प्रचलित नहीं हैं। अन्य नाम जो ऊपर दिये हैं अर्थात् 'उपनिषद्, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' ये कभी प्रचलित नहीं हुए थे। वास्तविक देखा जाय तो 'श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्' इतना इसका नाम होना योग्य है, परंतु श्रीमच्छंकराचार्य जैसे आद्य भाष्यकारनेभी इतना लंबायमान नाम स्वीकारा नहीं है, अर्थात् उनके समयमें भी 'गीता' इतनाही नाम सर्वसंमत हुआ था।

लो० तिलक इसको 'कर्मयोगशास्त्र' कहते हैं, और महात्मा गांधीजी इसको 'अनासक्तियोग' कहते हैं। गीतामें कर्मयोग कहा है और वह कर्म अनासक्तिसे करने की युक्ति इसी ग्रंथमें कही है, अतः ये दोनों नाम नये होनेपरभी योग्य हैं। परंतु ये साधक का मार्ग बतानेवाले नाम हैं। साधक कर्म करे और वह अनासक्तिसे कर्म करे, यह भाव इन नामोंसे सूचित होता है। ऐसे साधकका मार्ग बतानेवाले ग्रंथके नाम बहुतही थोडे होंगे। प्रायः ग्रंथोंके नाम साध्यका निर्देश करनेवाले होते हैं। यहां विचारणीय बात यह है कि क्या श्रीमद्भगवद्गीताके ऐसे कोई नाम हैं कि जो साध्यका निर्देश करनेवाले माने जा सकते हैं? पूर्वोक्त संकल्पमें जो 'उपनिषद् और ब्रह्मविद्या' ये दो नाम हैं वे कुछ अंशसे ब्रह्मरूपी साध्यकी सूचना देते हैं। 'योगशास्त्र' यह नाम 'कर्मयोगशास्त्र' माननेपर साधकका मार्ग बताता है, यह सत्य है; परंतु गीतामें 'योग' शब्दका अर्थ 'कर्मयोग' ही है, यह बात सत्य नहीं है। 'समत्वं योग उच्यते (भ० गी० २।४८)' समत्वका नाम योग है, ऐसी योग की व्याख्या स्वयं गीतामें बताई है, यह गीताका स्वतंत्र सिद्धान्त है, इसलिये गीताके अध्याय समाप्तिके संकल्पके 'योगशास्त्र' शब्दका अर्थ 'समताशास्त्र' (Science of Equanimity) ऐसा मानना योग्य है। गीताका "समता" ही साध्य है। ईश्वरप्राप्ति, ब्रह्मप्राप्ति, आदिकाभी यही अर्थ है कि परिघको छोडकर मध्य केन्द्रमें जाना और वहांका समत्व प्राप्त करना। यह समत्व व्यक्तिके मनमें स्थापन होना चाहिये, उसके उच्चार और आचारमें प्रदर्शित होना चाहिये, यह समत्व समाजमें, राष्ट्रमें और जगत्में स्थापन होना चाहिये। संपूर्ण मानवी समाज यदि किसी बातके लिये तडफ रहा है तो इसी समताके लिये तडफ रहा है। यह समत्व कैसा प्राप्त किया जा सकता है, इसका ज्ञान भगवद्गीताने उत्तम रीतिसे दर्शा दिया है, अर्थात् भगवद्गीताका यदि कोई अन्वर्थक नाम हो सकता है, तो 'समताशास्त्र' ही है और इसी अर्थका 'योगशास्त्र' यह शब्द अध्यायकी समाप्तिके संकल्पमें आया है। वहां योगका अर्थ 'कर्मयोग' नहीं है। क्योंकि गीतामें 'योग' शब्दका अर्थ

समत्व है ऐसा स्वयं गीतारचयिताने कहा है। समता आसक्तिरहित कुशलतापूर्वक किये कर्मसे स्थापन हो सकती है, यह बात निःसंदेह है, परंतु अनासक्तियुक्त कर्मकौशलरूप कर्मयोग (भ. गी. २।५०) साधन है और उसका साध्य 'समता' है।

'योग' शब्दका मूल अर्थ 'जोडना' है, किसीसे अपना संबंध जोडनेका नाम योग है। अर्जुनने अपना संबंध सबसे पहिले 'विषाद' (खेद) के साथ जोडा था। इसीलिये प्रथम अध्यायका नाम 'अर्जुन-विषाद-योग' हुआ है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अपना संबंध 'पुरुषोत्तम (ईश्वर)' से जोडेगा, तो वह उसका 'पुरुषोत्तमयोग' होगा। मनुष्यको खेदसे मुक्त करके उसका संबंध 'उत्तम पुरुष' से कराना भगवद्गीता का साध्य है। इसमें बताया है कि एक मनुष्य जो प्रारंभमें खेदसे युक्त था, वही गीतोपदेश श्रवण करते करते 'उत्तम पुरुष' से युक्त होकर 'नरका नारायण' बननेका अधिकारी हुआ। नरका नारायण, पुरुषका पुरुषोत्तम, बनाना गीता का ध्येय है। इसलिये इसका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' अथवा 'नारायणयोग' भी हो सकता है। इसके १५ वे अध्यायमें 'पुरुषोत्तमयोग' कहा है, यही अध्याय सब अध्यायोंमें मुख्य है, क्यों कि इसमें मनुष्यका अन्तिम साध्य बताया है, अन्य अध्यायोंमें जो कहा है वह इस एकमात्र साध्यके विविध साधनही हैं।

अर्थात् हमारे मतसे गीताका नाम 'पुरुषोत्तमयोग' है, यह नाम ग्रंथोक्तभी है, और गीतामें जो जो उपाय कहे हैं वे सबके सब इसी साध्यके साधनरूप हैं। यदि दूसरे किसी नामकी कल्पना करनी है तो 'समतायोग'का नाम उसके बाद ध्यानमें आसकता है यह नामभी ग्रंथोक्त ही है।

"योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
(भ० गी०६।३३)"

"आपने जो समत्वरूपी योग कहा है" यहां साम्ययोग शब्दही प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार जगत् में समता और शान्ति स्थापन करनेके लिये ही गीता कही गई है। यहां कई ऐसी शंका करेंगे कि यह गीता तो युद्धभूमिपर कही गई है और जो युद्ध न करनेका निश्चय कर रहा था उसीसे अन्तमें युद्ध कराया है, अतः यह गीता युद्ध करानेवाली है और समता बढानेवाली नहीं है। यह शंका विचार करनेके पूर्व सत्य प्रतीत होती है, परंतु थोडासा विचार करनेपर यह शंका व्यर्थ है ऐसाही प्रतीत होगा। जो युद्ध श्रीकृष्णभगवान् ने अर्जुनसे करवाया वह समता स्थापन करनेके लिये करना अपरिहार्य हुआ था। कौरवोंने विषमता उत्पन्न की थी; वे विषमता के लिये अपनी शक्ति लगा रहे थे, समझानेपर भी वे समझनेकी अवस्थामें नहीं आये, अतः यदि कौरवोंको विषम पथपर से हटाना है तो युद्धके लिये कमर कसना अत्यंत आवश्यक हुआ। अर्थात् भारतीय युद्ध लूटमार के लिये नहीं हुआ था किंतु शत्रुकी लूटमारकी वृत्तिको रोककर जगत्की विषमता दूर करनेके लिये और समताकी स्थापनाके लिये हुआ था। यही कारण है कि युद्धभूमिपर यह 'समताका संदेश' भगवान्ने कहा और अर्जुनके मिषसे जगत्को सुनाया है। ता कि आगेकी जनता जगत्में समता स्थापन करनेका यत्न करे।

अध्यायोंके नामोंका विचार।

गीताके नामके विषयमें इतना कहनेके पश्चात् अब हम गीताके अध्यायोंके नामोंका विचार करते हैं। इन नामोंका विचार करनेके समय एक बात प्रमुखतासे सामने आती है वह यह है कि, ये अध्यायों के नाम हरएक टीकामें भिन्न भिन्न पाये जाते हैं। गीता सर्वमान्य ग्रंथ है इस लिये उसके अक्षर अक्षर की सुरक्षा रखना उसके अनुयायियोंका कर्तव्य है, परंतु अध्यायोंके नामोंके विषयमें बडी शिथिलता दिखाई देती है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये हम कई टीकाकारोंने दिये हुए अध्यायोंके नाम यहां निम्नदर्शित कोष्टकमें देते हैं, इनको देखनेसे पाठकोंको पता

लग जायगा, कि एकहि टीकाकारके ग्रंथमें भी अध्यायोंके नाम मूलमें और टीकामें भिन्न भिन्न दिये हैं! देखिये ये हैं कोष्टक-- [इनमें श्री० शंकराचार्यके समान जो नाम हैं वहां (—) ऐसा चिन्ह है और जहां नाम दिया नहीं वहां (०) ऐसाचिन्ह किया है।]

श्रीमच्छंकराचार्य. मूलग्रंथ	श्रीमच्छंकराचार्य. भाष्य	म० वि. प्र. लिमये आचार्य	मूल	मधुसूदनस०	श्रीधरस्वामी	गीतासंग्रह·
१ अर्जुनविषादयोगः	०	---	१ —	०	०	१ —
२ सांख्ययोगः	०	--	२ --	सर्वगीतार्थसूत्रणं	०	२ --
३ कर्मयोगः	—	---	३ —	--	०	३ --
४ ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः	---	—	४ ब्रह्मार्पणयोगः	ब्रह्मार्पणयोगः	ज्ञानयोगः	४ ज्ञानविभागयोगः
५ संन्यासयोगः	---	—	५ --	स्वस्वरूपपरिज्ञानं	—	५ —
६ ध्यानयोगः	---	—	६ आत्मसंयमयोगः	अध्यात्मयोगः	अध्यात्म०	६ अध्यात्मयोगः
७ ज्ञानविज्ञानयोगः	---	—	७ ज्ञानयोगः	ज्ञेयध्येयप्रतिपाद्यतत्त्व-ब्रह्मनिरूपणं नाम.	—	७ ज्ञानयोगः
८ ब्रह्माक्षरनिर्देशः	---	—	८ अक्षरपरब्रह्मयोगः	अक्षरपरब्रह्मविवरणं.	महापुरुषयोगः	८ अक्षरब्रह्मयोगः
९ राजविद्याराजगुह्ययोगः	---	—	९ —	—	—	९ —
१० विभूतियोगः	---	—	१० —	—	—	१० —
११ विश्वरूपदर्शनं नाम	---	—	११ —	—	--	११ —
१२ भक्तियोगः	---	—	१२ --	--	--	१२ —
१३ प्रकृतिपुरुषविवेकयोगः	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगः	---	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकः	--	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः
१४ गुणत्रयविभागयोगः	---	—	१४ --	--	--	१४ —
१५ पुरुषोत्तमयोगः	---	—	१५ --	--	--	१५ पुराणपुरुषोत्तमयोगः
१६ दैवासुरसंपद्विभागयोगः	---	—	१६ --	--	—	१६ —
१७ श्रद्धात्रयविभागयोगः	---	—	१७ —	-- (विवरणं)	-- (विवरणं)	१७ —
१८ मोक्षसंन्यासयोगः	—	—	१८ संन्यासयोगः	-- (प्रतिपादनं)	मोक्षयोगः	१८ संन्यासयोगः
[अष्टेकर—मुद्रित.]		(श्रीमच्छंकराचार्य जीके समान)		[आनंदाश्रम-मुद्रित]		[अष्टेकर-मुद्रित]

लो० बा. गं. तिलक. मूल.	अर्थ	दामोदर सांवळाराम मुद्रित गीतापंचरत्न सार्थ (मराठी)	म० गांधीजी. (गुजराती)	निर्णयसागरमुद्रित.
१ —	—	१ —	१ —	१ ---
२ —	—	२ —	२ —	२ ---
३ —	—	३ —	३ —	३ ---
४ —	—	४ ब्रह्मार्पणयोगः	४ —	४ कर्मब्रह्मार्पणयोगः
५ —	—	५ संन्यासयोगः	५ कर्मसंन्यासयोग.	५ कर्मसंन्यासयोगः
६ अध्यात्मयोगः	ध्यानयोग	६ आत्मसंयमयोगः	६ —	६ आत्मसंयमयोगः
७ —	—	७ ज्ञानयोगः	७ —	७ ---
८ अक्षरब्रह्मयोग	अक्षरब्रह्मयोगः	८ अक्षरब्रह्मयोगः	८ अक्षरब्रह्मयोग.	८ अक्षरब्रह्मयोगः
९ —	—	९ —	९ —	९ ---
१० —	—	१० —	१० —	१० ---
११ —	विश्वरूपदर्शनयोग	११ — (नाम) — (योगः)	११ विश्वरूपदर्शनयोग.	११ विश्वरूपदर्शनयोगः
१२ —	—	१२ —	१२ —	१२ —
१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग.	क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगः	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगः	१३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग.	१३ प्रकृतिपुरुषनिर्देशयोगः
१४ —	—	१४ —	१४ —	१४ ---
१५ —	—	१५ —	१५ —	१५ ---
१६ —	—	१६ सुरासुरसंपत्तियोगः	१६ —	१६ ---
१७ —	—	१७ —	१७ —	१७ ---
१८ —	—	१८ संन्यासयोगः	१८ संन्यासयोग.	१८ संन्यासयोगः
(प्रथमवार मुद्रित-मराठी) (तृतीयवार हिंदी)		(इंदुप्रकाशमुद्रित)	(नवजीवनमुद्रित.)	——

श्रीमच्छंकराचार्यजीके नामपर छपे ग्रंथमें १३ वें अध्यायका नाम मूलमें "प्रकृतिपुरुषविवेकयोग" छपा है और उसी अध्यायके भाष्य में उसी अध्यायका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' मुद्रित हुआ है। एकही मुद्रक और एकही प्रकाशक है।

आनंदाश्रममें मधुसूदनसरस्वती और श्रीधर स्वामी की टीकाएं छपी हैं, उनमें मूलमें अध्यायों के नाम और टीकामें अध्यायोंके नाम विभिन्न हैं। ये टीकाकार श्रीशंकराचार्यजीके अनुगामी होने पर भी शांकरभाष्य में दिये अध्यायके नामोंसे भिन्न नाम इनके मूलमें पाये जाते हैं और इनकी टीकाओंमें तो उससेभी अधिक भिन्नता है!! ये तीनों कोष्टक पाठक स्वयं तुलना करके देखें।

लो० तिलक मुद्रित 'गीतारहस्य'में भी छठे अध्यायमें मूलमें 'अध्यात्मयोग' छपा है और अर्थ में 'ध्यानयोग' नाम छपा है तेरहवें अध्यायका नाम मूलमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग' है और अर्थ में 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' छपा है!

अन्य छपे पुस्तकोंके अध्यायोंके नाम पाठक इन कोष्टकोंमें देखकर उनकी विविधताका अनुभव कर सकते हैं। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो ये नाम एक ही होने चाहिये, और इनमें इस प्रकार विविधता नहीं होनी चाहिये। परंतु इस प्रकारकी शिथिलता चली आती है और अभीतक इसका नियंत्रण नहीं हुआ, यह निःसंदेह खेदकी बात है।

इनमें कई नाम अर्थकी दृष्टीसे एकत्व के बोधक माने जा सकते हैं, परंतु कई नाम विभिन्न ही हैं और उनमें संगति लग नहीं सकती। जैसा-लो० तिलकजीके छठे अध्यायके मूलमें 'अध्यात्मयोग' और अर्थमें उसीका नाम 'ध्यानयोग' छपा है। ये एक अर्थके नाम नहीं हैं। इसी प्रकार श्री० शांकर भाष्यमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' और मूलमें 'प्रकृतिपुरुषविवेकयोग' ये नाम १३ वें अध्याय के दिये हैं, यहां प्रकृतिपुरुषविवेकयोग है या क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग है। अर्थात् यहां 'विवेकयोग' इष्ट है वा केवल 'योग' इष्ट है यह शंका रहती है।

चतुर्थ अध्यायके 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, ब्रह्मार्पणयोग, ज्ञानयोग, ज्ञानविभागयोग, कर्मसंन्यासयोग, कर्मब्रह्मार्पणयोग' इतने नाम हैं, इनमें कुछ भिन्न हैं और कइयोंकी संगति अर्थदृष्टिसे लग भी जायगी। इसी प्रकार अन्य अध्यायोंके विषय में कुछ भिन्नता और कुछ समानता भी है।

इतनी विभिन्नता होनेपर भी हम अध्यायोंका तात्पर्य देखकर और अध्यायके श्लोकोंके पदोंका विचार करके अध्यायोंके नाम इस समयमें भी निश्चित कर सकते हैं। इस विषयमें वक्तव्य इस प्रकार है-

१ पहिले अध्यायका सर्वसंमत नाम 'अर्जुनविषाद-योग' है। किसीका इस विषयमें मतभेद नहीं है। वास्तव में यह "विषाद-योग" ही है। 'अर्जुन' नाम अर्जन करनेवालेका है। धनार्जन, ज्ञानार्जन, मोक्षार्जन, ये विषय मनुष्यके द्वारा अर्जन करनेके हैं। अर्जन करनेका भाव प्राप्त करना है। ज्ञान, मोक्ष, अथवा स्वाधीनता प्राप्त करनेका प्रारंभ विषाद स्थितिमें होता है। (विषीदन्निदमब्रवीत्। भ० गी० अ० १। २८) यह श्लोक इस अध्यायका नाम सूचित करता है।

२ द्वितीय अध्यायका नाम 'सांख्ययोग' बहुसंमत है। केवल अकेले मधुसूदन सरस्वतीने अपनी टीकामें इसका नाम 'सर्वगीतार्थसूत्रण' दिया है। वस्तुतः द्वितीयाध्यायके श्लोक ३९ तक ही सांख्यमत का सिद्धांत वर्णन किया है। 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु। (भ० गी० २। ३९)' 'यह सांख्यसिद्धांत तुझे कहा अब योगसिद्धान्त सुन।' ऐसा कह कर सांख्यमत बताया और इसके पश्चात् ४० वे श्लोकसे योगमत कहनेका प्रारंभ किया है। इसके अनंतर ५४ वे श्लोक से 'स्थितप्रज्ञके लक्षण' और 'ब्राह्मी स्थिति' के लक्षण वर्णन किये हैं। इस प्रकार सांख्यमत, योगमत, स्थितप्रज्ञलक्षण और ब्राह्मीस्थिति इनका वर्णन इस अध्यायमें है। बहुत अधिक भाग सांख्यमत के प्रतिपादन के लिये गया है, इस कारण इस अध्यायका नाम

'सांख्ययोग' माना है। अथवा इसमें सांख्यमत और योगमत कहा है इसलिये भी इसको 'सांख्य+योग' कहा होगा।

३ तीसरे अध्यायका नाम 'कर्मयोग' सर्व टीकाकारोंको संमत है और इसमें किसीकी विप्रतिपत्ति नहीं है।

४ चतुर्थ अध्यायका नाम 'ज्ञानकर्मसंन्यास' जो श्रीशंकराचार्यजीने माना है वह ठीक है, क्यों कि अपना ज्ञान और कर्म ब्रह्मार्पण करनेसे, ईश्वरार्पण करनेसे ब्रह्मप्राप्ति होती है, ऐसा इस अध्यायमें कहा है। अनेक प्रकारके यज्ञ इस अध्यायमें कहे हैं, उन सबमें ज्ञानयज्ञकी श्रेष्ठता वर्णन करके, वह यज्ञ (ब्रह्मार्पणं। भ० गी०४।२४) समर्पण बुद्धिसे करनेसे दोषमुक्त होकर श्रेष्ठ शान्ति प्राप्त होती है ऐसा यहां कहा है। कइ दूसरे इसका नाम 'ब्रह्मार्पणयोग अथवा कर्मब्रह्मार्पणयोग' मानते हैं, ये नामभी पूर्वोक्त नाम के समान अर्थवाले ही हैं। इसलिये ये नाम माननेपरभी कोई हानि नहीं है। परंतु 'ज्ञानविभागयोग' आदि नाम चिन्त्य हैं।

५ पंचम अध्यायका नाम 'संन्यासयोग अथवा कर्मसंन्यासयोग' है। (सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। भ० गी० ५।१३) सब कर्मोंका मनसे संन्यास करके संयमी मनुष्य सुख प्राप्त कर सकता है ऐसा इस अध्यायमें कहा है। वस्तुतः देखा जाय तो चतुर्थ और पंचम अध्यायका विषय करीब करीब एकसा ही है।

६ षष्ठ अध्यायका नाम 'ध्यानयोग' ठीक प्रतीत होता है क्योंकि इस अध्यायमें मनकी एकाग्रता करके ध्यानयोगका अभ्यास करनेकी विधि कही है। इसीसे आत्मसंयम होता है अतः इसका नाम कई विद्वान् 'आत्मसंयमयोग' मानते हैं वह अयुक्त नहीं है।

७ सप्तम अध्यायका नाम 'ज्ञानविज्ञानयोग' बहुसंमत है। अकेले मधुसूदनसरस्वतीने इसका नाम अलग दिया है। इस अध्यायके द्वितीय श्लोक में ही 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्यामि' (भ० गी० ७।२) कहा है। इसमें 'ज्ञानविज्ञान' का संबंध इस अध्यायसे है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

८ अष्टम अध्यायका नाम 'अक्षरब्रह्मयोग' प्रायः सर्वसंमत है। 'अक्षरब्रह्म, ब्रह्माक्षर' इन सब शब्दोंका तात्पर्य एकही है। इस अध्यायके तृतीय श्लोकमें 'अक्षरं ब्रह्म परमं' शब्द है जो इस अध्यायके विषयका सूचक है।

९ नवम अध्यायका नाम 'राजविद्याराजगुह्ययोग' सबको संमत है। और ये शब्द 'राजविद्याराजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमं।' (भ० गी०९।२) इस श्लोकमें ही आगये हैं।

१० दशम अध्यायका नाम 'विभूतियोग' है, इस विषयमें किसीका विरोध नहीं है। (हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।) (भ० गी० १०।१९) इस श्लोकमें विभूतिकथन की बात स्पष्ट कही है।

११ ग्यारहवें अध्यायका नाम 'विश्वरूपदर्शन' है, इसमें सबका एकमत है। इस नामके साथ 'योग' शब्द लगाना या नहीं इसी विषयमें किसी किसीका मतभेद है। भ० गी० ११।१६ में 'विश्वेश्वर विश्वरूप' ये शब्द अध्यायके नामके सूचक हैं। इसके अतिरिक्त 'ऐश्वरं रूपं' (श्लो०३,९) 'ऐश्वरं योगं (श्लो० ८) 'अनंतरूप' (श्लो. ३८) ये शब्द भी इस अध्यायके नामके सूचक हैं।

१२ बारहवें अध्यायका नाम 'भक्तियोग' एकमतसे सब मानते हैं। इस अध्यायमें 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः।' (भ० १२।१५) जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है, ऐसा कई बार कहा है, इसलिये इसका नाम भक्तियोग होनेमें कोई शंका नहीं है।

१३ तेरहवें अध्यायका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' है क्योंकि 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं' (भ० गी० १३।२) ये शब्द इस अध्यायके द्वितीय श्लोकमेंही आगये हैं। श्रीशंकराचार्यजीने इसका नाम 'प्रकृतिपुरुषविवेकयोग' मूलमें दिया है और भाष्यमें 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' दिया है। दोनोंका अर्थ समानही है।

१४ चौदहवें अध्यायका नाम 'गुणत्रयविभाग-योग' सर्वसंमत है। इस अध्यायमें 'सत्त्व, रज और तम' इन तीन गुणोंका विचार है इसलिये यह नाम सार्थ है।

१५ पंद्रहवे अध्याय का नाम 'पुरुषोत्तमयोग' है। अकेले गीतासंग्रह कर्ताने 'पुराणपुरुषोत्तम-योग' नाम लिखा है और वह अनावश्यक है।

१६ सोलहवे अध्यायका नाम 'दैवासुरसंपद्वि-भागयोग' है। मुंबईके म० दामोदर सांवळाराम मुद्रित पंचरत्नगीतामें 'सुरासुरसंपत्तियोग' नाम लिखा है। यह भिन्न नाम अनर्थक है। 'दैवी' [संपत्] शब्द अध्याय (भ० गी० १६। ३, ५, ६,)में आगये हैं, वहां एकस्थानपर भी 'सुर' [संपत्] नहीं है।

१७ सतरहवे अध्यायका नाम 'श्रद्धात्रयविभाग-योग' है। केवल मधुसूदनसरस्वती और श्रीधर स्वामीने 'योग' शब्दके स्थानपर 'विवरण' शब्द रखा है। अन्तमें 'योग' शब्द रखना ही गीताकी परिपाटीके अनुरूप है।

१८ अठारहवे अध्यायके नाम 'मोक्षसंन्यास-योग' अथवा 'मोक्षयोग' तथा 'संन्यासयोग' ये दिये हैं। बंधनसे मुक्त होनेके लिये किस प्रकार संन्यास और त्याग करने चाहिये इसका वर्णन इस अध्यायमें है, अतः पहिला नाम अधिक योग्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार अध्यायोंके नाम हैं। अध्यायमें आये हुए शब्दोंके और वर्णनोंके साथ जो नाम मिलते हैं वे ही योग्य और आदरणीय हैं। अन्य नाम कल्पित समझने चाहिये। अब इन अठारह अ-ध्यायोंमेंसे प्रथम अध्यायके नामका विचार करके क्या बोध मिल सकता है यह देखेंगे--

प्रथम अध्यायका नाम।

विषादयोग!

पहिले अध्यायका नाम 'विषादयोग' है। यह विषादयोग द्वितीय अध्यायके श्लोक ८ या ९ तक है। वहां तक विषादकी बातें अर्जुन बोल रहा है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या हठयोग, राज-योग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोगके समान यह 'विषादयोग' कोई योगशास्त्रका भाग है वा यहां योग शब्दका कुछ और अर्थ है। योगके किसी ग्रंथमें भी 'विषादयोग' नामक कोई योग कहा नहीं है और न यह विषादयोग किसी स्थान-पर अनुष्ठान किया जाता है। हठयोग का अनु-ष्ठान किया जा सकता है, राजयोग का अनुष्ठान होता है, भक्तियोगका अनुष्ठान हो सकता है, वैसा इस 'विषादयोग' का अनुष्ठान नहीं होता। अनुष्ठान करने योग्य यह योग नहीं है। न इसपर कोई प्राचीन या अर्वाचीन पुस्तक है। फिर इस-को यहां 'योग' क्यों कहा?

खेदका योग!

'विषाद' का अर्थ है 'खिन्नता, खेद, उत्साह-का संकोच होना, अपनी शक्तिकी न्यूनता होना, यह बात कोई अनुष्ठान करके प्राप्त करने योग्य नहीं है।

ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग ये सब योग ऐसे हैं कि जो अनुष्ठान करने योग्य हैं, लोग स्वेच्छासे उनका अनुष्ठान करते हैं और उस अनु ष्ठानसे 'मनका उत्साह बढता है, खेद हटता है, सहजानंद प्राप्त होता है, अपनी शक्तिका विस्तार होता है, अपनी शक्ति बढनेका अनुभव होता है।' अर्थात् 'विषादयोग' का परिणाम शक्तिकी न्यूनता है तो अन्य योगोंका परिणाम शक्तिका विकास है।

पाठक यहां देखें कि 'योग' शब्द कैसे विचित्र अर्थमें यहां प्रयुक्त किया है। इसका संबंध भगवद्गीतामें कहे अन्य योगोंसे भी है; देखिये। इसका विचार करनेके लिये मनसे कुछ शब्दों की कल्पना करनी भी पडेगी। [निम्नलिखित कोष्टकमें गीतामें कहे योग स्थूल अक्षरसे दिये हैं और उनके विरुद्ध कल्पनासे रखे योग सूक्ष्म अक्षरसे दिये हैं।] यह विचार इसप्रकार है--

योगोंका सापेक्ष संबंध।

(आनंदयोग)	विषादयोग(अ०१)
पुरुषोत्तमयोग(अ०१५)	(हीनपुरुषयोग)
दैवीसंपद्योग(अ०१६)	आसुरसंपद्योग (अ०१६)
(सत्त्व)गुणयोग(अ०१४)	(रजतम) गुणयोग (अ०१४)
(सत्त्व)श्रद्धायोग(अ०१७)	(रजतम) श्रद्धायोग (अ०१७)
मोक्षयोग(अ० १८)	(बंधयोग)
संन्यासयोग(अ० ३)	(भोगयोग)
कर्मयोग (अ० ३)	(आलस्ययोग)
ज्ञानविज्ञानयोग(अ० ७)	(अज्ञानकुज्ञानयोग)
सांख्ययोग(ज्ञानयोग। अ०२)	(अविवेकयोग, मोहयोग)
ब्रह्मार्पणयोग(अ० ४)	(अहंकारयोग)
(ईश्वरार्पणयोग)	(आसुरभावयोग)
ध्यानयोग (अ० ६)	(चांचल्ययोग)
आत्मसंयमयोग(")	(असंयमयोग)
अक्षरब्रह्मयोग(अ० ८)	(क्षरविषययोग)
विभूतियोग(अ० १०)	(अभूतियोग)
विश्वरूपदर्शनयोग(अ०११)	(व्यक्तिरूपमोहयोग)
राजविद्यायोग(अ० ९)	(कुविद्यायोग)
राजगुह्ययोग (")	(गुह्यहानियोग)
भक्तियोग (अ० १२)	(भक्तिहीनत्वयोग)
प्रकृतिपुरुषविवेकयोग(अ०१३)	(विवेकहीनतायोग)
क्षेत्रयोग (")	(क्षेत्रवियोग)
क्षेत्रज्ञयोग (")	(क्षेत्रज्ञवियोग)

इस कोष्टकमें पाठक देख सकते हैं कि, विषाद-योगके साथभी उतनेही योग हैं कि जितने आनंद योग अथवा पुरुषोत्तमयोग के साथ हैं। यहां प्रथमाध्यायमें जो विषादयोग कहा है, वह अकेला नहीं है, उसके साथी इतने या इससे भी अधिक हैं, अर्जुनके मनको इन सबने घेर लिया था, जिसका परिणाम अर्जुनको विषाद होने में हुआ। इन सब कुयोगोंने अर्जुन के मनको घेर लिया था, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें इतने सुयोग कहे गये और इन सुयोगोंके बलसे शत्रु-रूपी कुयोगोंको दूर किया गया। गीताके हरएक सिद्धान्त के उपदेशका इस प्रकार कारण है, कोई उपदेश व्यर्थ नहीं किया गया है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि प्रायः सब कुयोग विना प्रयत्न किये ही पास आते हैं, और सब सुयोग निरलस प्रयत्नोंसे साध्य करने पडते हैं। असंयम के लिये बहुत प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है परंतु संयम करना हो तोही अनेक नियमों का पालन करना पडता है। शत्रु लानेके लिये बहुत प्रयत्न नहीं चाहिये, परंतु शत्रुको दूर करने के लिये ही सब सायास करने पडते हैं। गिरना आसान है परंतु चढना कठिन है।

विषादयोग का एक महत्त्व भी है। विषाद होनेके विना आनंदका महत्त्व ध्यानमें नहीं आता है; बंधनमें पडनेके विना स्वाधीनता का महत्त्व विदित नहीं होता। निर्बलताके विना बल का महत्त्व ध्यानमें नहीं आसकता। यद्यपि विषाद प्रयत्नसे प्राप्त करनेयोग्य नहीं है, तथापि उससे ही आनन्द और उत्साह की श्रेष्ठता अधिक उज्वल होती है।

यदि पारतंत्र्यका दुःख अनुभवमें न आवेगा, तो कौनसा वीर स्वातंत्र्यके लिये प्रयत्न करेगा? यदि बंधन न होगा तो मुक्तिके लिये कौन प्रयत्न करता? उसी प्रकार यदि विषाद अथवा खेद न होगा, तो उत्साह और आनंदका रसास्वाद किसको प्राप्त होगा? जगत्के व्यवहारमें इस सापेक्ष संबंधसे ही कार्य चलता है। यहां ऐन युद्धके प्रसंगमें अर्जुन जैसे वीर को खिन्नता हुई और मोह हुआ, इसी लिये बंधनसे छुडानेवाली यह भगवद्गीता प्रकाशित हुई !!!

शिष्यके मनकी भूमिका योग्य रीतिसे तैयार न हुई तो उसके मनमें कोई उपदेश स्थिर नहीं होसकता। जितनी विषाद, खेद और निराशा मनमें उत्पन्न होती हैं उतना आनंद, उत्साह और आशावादका उपदेश मनमें जम जाता है। जिस प्रकार खेतमें हल चलाकर भूमिको उखेडा जाता

है और पश्चात् उसमें बीज बोया जाता है; उसी प्रकार मनोभूमिकामें विषाद या खेद रूपी हल चला कर मनको उखेडा जाता है और उसमें आत्मोन्नतिके उपदेशका बीज बोया जाता है ।

यह विषाद केवल अर्जुनकोही भारतीय युद्धभूमिपर हुआ था, ऐसी बात नहीं है; हरएक मनुष्यको यह विषाद किसी न किसी अर्जन करनेके समय होताही है । विद्यार्जन, धनार्जन, स्वाधीनतार्जन आदि जो मनुष्यके श्रेष्ठ प्राप्तव्य होते हैं, उनके प्राप्त करनेके पूर्व यह उदासीनता, खेद या विषाद किसी न किसी रूपमें मनुष्यके मनमें आते ही हैं । इस संसारमें विचरनेवाला मनुष्य कितने प्रसंगोंमें खिन्न होता रहता है, यह देखनेसे इस विषादयोगका मानवी जीवनसे कितना घनिष्ठ संबंध है इसका ज्ञान हो सकता है । और यह ज्ञान होते ही गीताके उपदेश हरएक मनुष्यको ऐसे विषादके प्रसंगमें सहायक होनेवाले हैं, यह बात ध्यानमें आवेगी और उससे यह निश्चय हो जायगा कि, यह गीता मनुष्यमात्रका खेद दूर करके उसको जीवनका आत्मानंद देनेवाली है, अतएव यह ग्रंथ मनुष्यमात्रको उच्च मार्ग दर्शानेवाला ग्रंथ है ।

संजयका उपदेश और अर्जुनका मोह.

हमने पहले बता दिया है कि, अर्जुनका मोह संजयके कपटी उपदेशके कारण हुआ था । यह बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये यहां संजयके कपटी उपदेशके कुछ वचन देते हैं और उसके साथ साथ अर्जुनके मनपर उसका कितना गहरा परिणाम हो गया था । वह बतानेके लिये अर्जुनके भी वचन देते हैं । देखिये—

ते वै धन्या यैः कृतं जातिकार्यं ते वै पुत्राः सुहृदो बांधवाश्च। उपक्रुष्टंजीवितं संत्यजेयुर्यतः कुरूणां नियतो वैभवः स्यात् ॥८॥ ते चेत्कुरूननुशिष्याथ पार्था निर्णीय सर्वान्द्विषतो निगृह्य । समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याद्यज्जीवध्वं ज्ञातिवधेन साधु ॥९॥ म० भा० उद्योग. अ० २५

" वे लोग धन्य हैं कि जो अपनी जातीका कल्याण करते हैं और वेही सच्चे पुत्र, मित्र और बांधव हैं । वे निंदित जीवनका त्याग सदाके लिये करें, जिससे कौरवोंका वैभव बढ जाय ॥ ऐसा न करते हुए यदि तुम पांडव कौरवोंको शत्रु मानकर मारोगे तो तुम्हारा जीवन मरनेके समान ही हो जायगा, क्योंकि ज्ञातिवधके पापसे तुम्हारा जीना कलंकित होगा । "

कैसा कपट है देखिये, जातिहित करनेवालेकी महती वर्णन करता है और अधर्म फैलानेवालोंका नाश करनेसे पाप लगेगा ऐसा कहता है । इसका प्रतिबिंब अर्जुनके भाषणमें हुआ है, देखिये—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
गीता० अ० १

" धृतराष्ट्रपुत्रोंको मारकर हमारा क्या प्रिय होगा ? इन अततायियोंको मारनेसे हमें पापही लगेगा । " इत्यादि श्लोक यहां पाठक देखें । तथा और देखिये—

सोऽहं जये चैव पराजये च
निःश्रेयसं नाऽधिगच्छामि किंचित् ॥१२॥
म० भा० उ० अ० २५

" मैं हार और जीतमें कुछ भी कल्याण नहीं देखता हूं । " यही संजयका कहना अर्जुनके मन पर कैसा जम गया है यह द्वितीयाध्यायमें देखिये-

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ॥
भ० गी० २ । ६

" हम कौरवोंको जीतेंगे, अथवा वे हमें जीतेंगे, इनमें से क्या होगा और इनमेंसे कौनसा हमारे लिये अच्छा है यह भी मेरे समझमें नहीं आता है । " वेही शत्रुके कपटी उपदेश कैसे मनमें जमगये हैं देखिये ! तथा और भी—

कथं हि नीचा इव दौष्कुलेया
निर्धर्मार्थं कर्म कुर्युश्च पार्थाः ॥ १३ ॥
म० भा० उ० २५

"पाण्डव धर्मात्मा हैं, वे नीच कुलमें उत्पन्न हुए हीन मनुष्योंके समान (युद्ध करनेका पाप) कर्म कभी नहीं करेंगे । " अर्थात् पाण्डवोंकी प्रशंसा करके उनको युद्धसे हटानेके लिये यह कपटपूर्ण वाक्य संजयने कहा है। अर्जुन यही भाव अन्य शब्दोंमें बोल रहा है, देखिये—

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान्॥३७
भ० गी० १

"इसलिये हम अपने भाई धृतराष्ट्रपुत्रोंका वध करनेके लिये योग्य नहीं हैं। " अर्थात् यदि हम युद्ध करके उनका वध करेंगे, तो हम नीच हो जांयगे। इसी प्रकार और देखिये—

धर्मनित्या पाण्डव ते विचेष्टा
लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ ॥
महाश्रावं जीवितं चाप्यनित्यं
संपश्य त्वं पाण्डव मा व्यनीनशः ॥ १ ॥
न चेद्भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो ॥
भैक्षचर्यामंधकवृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ॥ २ ॥
म० भा० उ० २७

"हे पाण्डवो ! आपके सब कर्म धर्मानुकूल ही होते हैं, धर्मके विषयमें आपकी कीर्ति जगत्में प्रसिद्ध है । मनुष्यका जीवित अनित्य है यह आप जानतेही हैं, अतः इसका विचार कर युद्धसे इन सबका नाश मत कीजिये । हे युधिष्ठिर ! यदि कौरव लोग युद्धके विना आपका राज्य वापस न देंगे, तो आप सब पाण्डव भिक्षा मांगकर अंधक और वृष्णी देशमें रहिये । युद्ध करके राज्य कमानेकी अपेक्षा भीख मांगकर रहना अधिक अच्छा है । " इसी भीख मांगनेका प्रतिध्वनि अर्जुनके भाषणमें देखिये—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं
भैक्ष्यमपीह लोके ॥ भ० गी० २ । ५

"गुरुजनोंका वध करके राज्य कमानेकी अपेक्षा भीख मांगकर इस लोकमें जीविका निर्वाह करना अच्छा है । " इसी प्रकार और देखिये—

निबंधनी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ
तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव ।
धर्मं तु यः प्रवृणीते स बुद्धः
कामे गृध्नो हीयतेऽर्थानुरोधात् ॥ ५ ॥
धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं
महाप्रतापः सवितेव भाति ।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां
लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः ॥ ६ ॥
म० भा० उद्यो० २७

"हे युधिष्ठिर ! तृष्णा बंधनमें डालनेवाली और धर्मका नाश करनेवाली है ! अतः जो धर्म स्वीकारता है वह ज्ञानी कहलाता है। उत्तम धर्म कर्म करनेसे आपका तेज सूर्यके समान फैलेगा। परंतु धर्म छोडकर आपने इस पृथ्वीका राज्यभी प्राप्त कर लिया, तो भी उससे गिरावट ही है।"

पाठक यहां देखें कि यह संजय पांडवोंको ही धर्मका उपदेश कर रहा है, कौरवोंके दुष्ट कर्तृत जानता हुआ भी यह कपटी अधिकारी पांडवोंका स्वराज्यप्राप्तिका प्रयत्न सदोष है ऐसा कहता है, यही विचार मनमें रखकर अर्जुन बोलता है-

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि सूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।३।।
भ० गी० १

"मैं इनको मारनेकी इच्छा नहीं करता । हे कृष्ण ! यदि त्रैलोक्यका राज्यभी मिल जाय, तो भी मैं यह पाप नहीं करूंगा, फिर पृथ्वीके राज्यके लिये कौन करेगा ? " शत्रुके कपटी उपदेशोंसे देशके नवयुवक कैसे फंसते हैं इसका यह उत्तम उदाहरण है । और देखिये—

अन्तं गत्वा कर्मणां मा प्रजह्याः
सत्यं दमं चार्जवमानृशंस्यम् ।
अश्वमेधं राजसूयं तथेज्याः
पापस्यान्तं कर्मणो मा पुनर्गाः ॥ १५ ॥
तच्चेदेवं द्वेषरूपेण पार्थाः
करिष्यध्वं कर्म पापं चिराय ।

निवसध्वं वर्षपूगान्वनेषु
दुःखं वासं पाडवा धर्म एव ॥ १६ ॥
म० भा० उद्यो० अ० २७

" हे पांडव ! सत्य, आत्मसंयम, सरलता तथा मृदुता का मार्ग न छोडिये। अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञ करके पश्चात् आप इस युद्धके पापमार्गसे जांयगे ? यदि धर्म छोडकर इस पापमार्ग में आप जाना चाहते हैं तो अनेक वर्ष वनवास में रहिये, इस पापसे वनवास अच्छा है।'' देखिये स्वराज्य का प्रयत्न करनेवालोंको ही साम्राज्यवादी वनवास में जानेका उपदेश करतेहैं !!! कौरव दुराचार करें और राज्य भोगें और पांडव धर्म पालन करें और वनवास में रहें। येही संजयके विचार अर्जुन बोल रहा है—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥
भ० गी० १ । ४५

" हम जो राज्यके लोभसे अपने बांधवों का वध करना चाहते हैं वह बडाभारी पाप हम कर रहे हैं। '' संजयके कपटी उपदेशसे अर्जुन इस प्रकार मतिभ्रष्ट हो गया था। और देखिये--

पापानुबंधं को नु तं कामयेत
क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः।
यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्यात्
यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात् ॥ २४ ॥
कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो
विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च ।
एतान्हत्वा कीदृशं तत्सुखं स्यात्
यद्विन्देथास्तदनुब्रूहि पार्थ ॥ २५ ॥
लब्ध्वापीमां पृथिवीं सागरान्तां
जरामृत्यू नैव हि त्वं प्रजह्याः ।
प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राजन्
एवं विद्वान्नैव युद्धं कुरु त्वम् ॥ २६ ॥
अमात्यानां यदि कामस्य हेतोः
एवं युक्तं कर्म चिकीर्षसि त्वम् ।
अपक्रमेः स्वं प्रदायैव तेषां
मा गास्त्वं वै देवयानात्पथोऽद्य ॥२७॥
म० भा० उ० अ० २७

" हे धर्मराज ! कौन बुद्धिमान् पुरुष युद्धरूपी पापको करनेकी इच्छा करेगा ? आपको क्षमा ही शोभा देती है ! भोग भोगना क्या है ? जहां भीष्म और-अश्वत्थामासहित द्रोण मारे जांयगे, कृपाचार्य, शल्य, सौमदत्ति, विकर्ण, विविंशति, कर्ण, दुर्योधन मारे जांयगे, वहां तुमको कौनसा सुख मिल जायगा? हे धर्मराज! यदि तुम्हें सब पृथ्वी का भी राज्य मिल जावे, तोभी मृत्यु तो तुम्हें नहीं छोडेगा। फिर युद्ध करनेसे क्या लाभ होगा? तुम्हारे मंत्रिगणों के आग्रहसे तुम युद्ध करनेको तैयार हुए होंगे, तो उनको जो चाहे सो देकर तुम देवयान मार्गसे भ्रष्ट न हो जाओ। युद्ध करोगे तो देवयानमार्गसे भ्रष्ट हो जाओगे। ''

देखिये यह कौरवोंका उपदेशक पांडवोंको ही देवयान मार्गका उपदेश करता है!! यदि देवयान मार्गपर इसका सच्चा विश्वास है, तो वह अपने साम्राज्य चलानेवाले भाईयोंको ही क्यों नहीं यह उपदेश सुनाता ? परंतु पाण्डवोंको इस युद्धसे हटाना इसका प्रयोजन है और उस प्रयोजन की सिद्धिके लिये धर्मका सहारा इसने लिया है ! अर्जुनके भाषणमें इसीकी प्रतिध्वनि देखिये-

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥ ३४ ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥ भ० गी० अ० १

तथा —

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
भ० गी० अ० २

" जिनके लिये हमने राज्यादि कमाना है वे ही यहां मरनेके लिये आगये हैं, अतः इनका वध मैं नहीं करूंगा। पूजा करने योग्य इन भीष्मद्रोणोंके ऊपर मैं बाण कैसे चलाऊं? " इस प्रकार अर्जुन शत्रुके कपटी उपदेशोंका ही अनुवाद करता है!

मन शत्रुके विचारोंसे प्रभावित होनेका परिणाम ऐसाही होता है। अतः जो स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं, उनको उचित है कि वे अपने विचारोंको शत्रुके कपटी उपदेशोंसे न प्रभावित होने दें। विचारोंकी स्वतंत्रता रही तो बाह्य जगत् के व्यवहारोंमें भी स्वाधीनता प्राप्त होसकती है। परंतु यदि मन ही दब गया, तो फिर पराधीनता हटना कठिन है ।

संजयका कपटी उपदेश और अर्जुनका खेद देखनेसे और दोनोंके वाक्योंकी इस प्रकार तुलना करनेसे पाठक जान सकते हैं कि शत्रुके उपदेशों द्वारा किये गये धर्मोपदेशभी राजकीय हेतुको केन्द्रमें रख कर ही किये होते हैं। अतः उनको बडी सावधानीसे सुनना चाहिये और सुननेपरभी बडी सावधानीसे ही उनको स्वीकारना चाहिये। अन्यथा मोह और विषाद जैसा अर्जुनके पल्ले पडा वैसेही उस भोले आदमीके भी पल्ले पडेगा।

इस विषादयोग के अध्ययनसे यह सावधानी की सूचना मिलती है। पाठक इस सूचनाको मनमें धारण करें। अब आगे भगवान् श्रीकृष्ण भूले अर्जुनको क्या उपदेश देते हैं देखिये—

अर्जुन-विषाद-योग नामक प्रथम अध्याय समाप्त ।

प्रथम अध्यायके कुछ संस्मरणीय श्लोक ।

१ अपना और शत्रुका बल ।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलम्....।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलम्....॥ १० ॥
भ० गी० १ । १०

"हमारा बल अपूर्ण है। और इन (शत्रुओंका) बल पूर्ण है।" अपना बल अपूर्ण है ऐसा मानकर उसको हरएक रीतिसे बढानेका यत्न करना, तथा शत्रुका बल थोडा हुआ तो भी उसको पूर्ण मान कर उसके प्रतिकारका यत्न करना विजयेच्छु पुरुषको योग्य है।

२ प्रवेशद्वारकी रक्षा ।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
....अभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥११॥
भ० गी० १ । ११

"सब प्रवेशके द्वारोंमें अपने अपने स्थानोंमें दक्षतासे रहते हुए आप अपनी सब ओरसे रक्षा कीजिये।" देहद्वार, गृहद्वार, नगरद्वार, राष्ट्रद्वार ये शत्रुका प्रवेश अंदर होनेके स्थान होते हैं। यदि इन प्रवेशद्वारोंमें उत्तम रक्षाका प्रबंध रहा तो शत्रुका प्रवेश अंदर नहीं होगा। अतः इन प्रवेशद्वारोंपर उत्तम रक्षाका प्रबंध करना चाहिये। यह रक्षाका सूत्र है, इससे व्यक्तिकी, घरकी, नगरकी, राष्ट्रकी अर्थात् सबकी रक्षा होसकती है।

३ संयमीसे प्रश्न पूछना ।

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते....हृषीकेशं....आह ॥
भ० गी० १ । २०-२१

"युद्धके समयमें....इंद्रियोंका जिसने संयम किया है ऐसे संयमी पुरुषसे ही.... (जो कुछ प्रष्टव्य होगा वह) पूछना योग्य है।" असंयमी पुरुषसे पूछा जाय तो अहित होगा। युद्धके समय आत्मसंयम करनेवालेकी ही संमति लेनी योग्यहै।

४ शत्रुका निरीक्षण करना ।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यम्....॥२२॥ भ.गी.१।२२

"जिनके साथ मुझे लढना है उनको मैं पहिले देखता हूं।" युद्धके पूर्व शत्रुकी वास्तविक अवस्थाको देखना योग्य है। इस जगत्में प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी युद्धमें खडा है, अतः उसको उचित है कि वह अपने शत्रुओंकी तैयारियां कैसी हैं, इसका पहिले अवलोकन करे और वैसी लडनेकी अपनी तैयारी रखे।

५ स्वजनोंपर शस्त्र न चलाना ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।
भ० गी० १ । ३१

"अपने लोगोंपर शस्त्र चलानेसे कोई कल्याण नहीं होगा।" अपनेही लोगोंपर हथियार चलाकर स्वयं अपने देशभाईयोंका नाश करना किसीको भी योग्य नहीं है। तथा—

....नार्हा वयं हन्तुं स्वबांधवान्॥भ.गी.१।३७

"हमें अपनेही भाईयोंका वध करना उचित नहीं है।" और भी देखिये—

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम? ॥
भ० गी० १।३७

"अपने ही लोगोंका वध करके हम कैसे सुखी हो सकते हैं?" जो लोग समझते हैं कि, अपने लोगोंका नाश अपने हाथसे करके हम सुखी हो जांयगे, वे भ्रममें पडे हैं; क्योंकि वे अपने ही प्रयत्नसे अपना नाश कर रहे हैं। शत्रु तो हम दोनोंको खानेके लिये वैठा है। वह जैसा हमको खायेगा वैसा हमारे भाइयोंको भी खा जायगा। ऐसी अवस्थामें यदि हमने अपने ही भाइयोंका वध किया, तो उससे शत्रुका बल बढेगा और हमारा घट जायगा। अतः स्वजनोंपर शस्त्र चलाना अयोग्य है। इसलिये कहा है—

....महत्पापं कर्तुं व्यवसिताः....। यद्राज्य-
सुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥

भ० गी० १।४५

"जो राज्य सुख और लोभसे अपने ही लोगों का वध करते हैं वे बडा भारी पाप करते हैं।" भूमि, नौकरी, वेतन अथवा धन या मान प्राप्त करनेके लिये जो लोग अपनेही लोगोंपर शस्त्र चलाते हैं वे बडा भयंकर पाप करते हैं।

६ पापसे बचना।

यद्यप्येते न पश्यन्ति....दोषं....पातकम्।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्॥

भ० गी० १।३८-३९

"यदि ये (दूसरे लोग) इसमें दोष अथवा पाप नहीं देखते, तथापि हम इस पापसे दूर होनेका उपाय क्यों न सोचें?" दूसरे लोग किसी दुष्कर्म में दोष या पाप नहीं देखते हैं और पाप करते हैं, यह हेतु नहीं कि, जिससे हम भी वैसाही दोष और पाप करते जांय। यदि हम उसमें पाप देखते हैं, तो उससे निवृत्त होनेका प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है।

७ कुलक्षयसे धर्मनाश।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।

भ० गी० १।४०

"कुलका नाश होनेसे कुलके साथ सनातन कालसे चले आये धर्म नष्ट हो जाते हैं।" कुल परंपरासे चली आयी विद्या कला आदि कुलके नाशके साथ नाशको प्राप्त होती है, अतः वंशबीज की रक्षा करना उचित है।

८ कुलस्त्रियोंकी गिरावट।

अधर्माभिभवात्....प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः॥

भ० गी० १।४१

अधर्मप्रवृत्ति बढ जानेसे कुलस्त्रियां दूषित होती हैं।"

९ स्त्रीदोषसे वर्णसंकर।

स्त्रीषु दुष्टासु....जायते वर्णसंकरः।

भ० गी० १।४१

"स्त्रियां दोषी होनेसे....वर्णसंकर होता है।" अर्थात् व्यभिचार आदि दोषोंसे वर्णसंकर होता है, अतः स्त्रियोंकी व्यभिचारादि दुष्ट प्रवृत्तियोंसे रक्षा करना समाजकी सुस्थितिके लिये अत्यंत आवश्यक है। व्यभिचारादि दोषसे रक्षा तो जैसी स्त्रियोंकी वैसी पुरुषोंकी भी होनी चाहिये।

१० वर्णसंकरसे नरक।

संकरो नरकायैव....। भ० गी० १।४२

"वर्णसंकरसे नरक अर्थात् मनुष्य अवनत होता है।" नर-क अर्थात् छोटा मनुष्य, हीन मनुष्य। वर्ण शुद्ध रहनेसे मनुष्य उन्नत होता है और वर्णसंकर से अवनत होता है। अतः व्यभिचारादि दोष से वर्णसंकर होने देना योग्य नहीं है।

११ निःशस्त्रका वध।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
....हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ भ०गी० १।४६

"यदि बदला न लेनेवाले मुझ निःशस्त्रका शस्त्रधारी (शत्रु) वध करेंगे, तो मेरा अधिक कल्याण होगा।" निःशस्त्र अहिंसक शान्त और क्रोध न करनेवाले निर्वैर मनुष्यका वध यदि शस्त्रधारी क्रूर शत्रुने किया, तो उस शस्त्रधारी वधकर्ता की निन्दा सब लोग करते हैं, और उस निःशस्त्र निर्वैर के लिये जगत् की सहानुभूति मिलती है। इस प्रकार उच्च भूमिकापर अहिंसक का विजय और हिंसक का पराजय होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी.

प्रथमाध्यायकी विषयसूची.

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥ ४ ॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ।
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥ ६ ॥

अर्थ- (इमं प्राणः मा हासीत) इसको प्राण न छोडे और (अपानः अवहाय परा मा गात् उ) अपान भी इसको छोड कर दूर न जावे। (सप्तर्षिभ्यः एनं परिददामि) सात ऋषियोंके समीप इसको देता हूं, (ते एनं जरसे स्वस्ति वहन्तु) वे इसको वृद्धावस्थातक सुखपूर्वक ले जावें ॥४॥

हे प्राण और अपान ! (व्रजं अनड्वाहौ इव प्रविशतं) जैसे गोशाला में बैल घुसते हैं उस प्रकार तुम दोनों प्रविष्ट होवो ! (अयं जरिम्णः शेवधिः) यह वार्धक्यतककी पूर्ण आयुका खजाना है, यह (इह अरिष्टः वर्धतां) यहां न घटता हुआ बढ जावे ॥ ५ ॥

(ते प्राणं आ सुवामसि) तेरे प्राणको मैं प्रेरित करता हूं। (ते यक्ष्मं परा सुवामि) तेरे क्षयरोगको मैं दूर करता हूं। (अयं वरेण्यः अग्निः) यह श्रेष्ठ अग्नि (नः आयुः विश्वतः दधत्) हमारे अन्दर आयु सब प्रकारसे धारण करे ॥ ६ ॥

भावार्थ- इस मनुष्यको प्राण और अपान न छोडें। सप्तर्षिसे बने जो सप्त ज्ञानेद्रिय हैं, उनके समीप इस जीवको छोड देते हैं। वे इसको सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्रदान करे ॥ ४ ॥

शरीरमें प्राण और अपान वेगसे संचार करें और इस शरीर में रखा हुआ दीर्घायुका खजाना बढावें ॥ ५ ॥

तेरे प्राणोंको प्रेरित करनेसे तेरे रोग दूर होंगे और तेरी आयु वृद्धिंगत होगी ॥ ६ ॥

उद् वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ७ ॥

अर्थ-(वयं तमसः परि उत्) हम अन्धकार के ऊपर चढें, वहांसे (उत्तरं नाकं रोहन्तः) श्रेष्ठ स्वर्गमें आरोहण करते हुए (देवत्रा उत्तमं ज्योतिः सूर्यं अगन्म) सब देवोंके रक्षक उत्तम तेजस्वी सूर्य—सबके उत्पादक-देवको प्राप्त होंगे ॥ ७ ॥

भावार्थ-हम अन्धकार को छोडकर प्रकाशकी प्राप्तिके लिये ऊपर चढते हैं, ऊपर स्वर्गमें आरोहण करते हुए सबके रक्षक तेजस्वी देवताको प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

दीर्घ आयु कैसी प्राप्त होगी ?

इस सूक्तमें दीर्घ आयु प्राप्त करनेका उपाय बताया है। इसलिये दीर्घायु होनेकी इच्छा करनेवाले पाठक इस सूक्तका अधिक मनन करें। दीर्घ आयु करनेवाले दो देव हैं, वे अपनी शक्तियोंसे मनुष्यकी मृत्युसे रक्षा करते हैं, ये दो देव अश्विनी देव हैं। अश्विनी देव कौन हैं और कहां रहते हैं, इसका विचार करके निश्चय करना चाहिये। इसका विचार इस प्रकार होता है—

देवोंके वैद्य।

अश्विनी कुमार ये देवोंके दो वैद्य हैं, इस मंत्रमें भी इनको—

देवानां भिषजौ (मं० १)

'देवोंके दो वैद्य ये हैं' ऐसा कहा है। यहां देव कौनसे हैं और उनकी चिकित्सा करनेवाले ये वैद्य कौनसे हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इनके नामोंका मनन करनेसे एक नाम हमारे सन्मुख विशेष प्रामुख्यसे आता है, जो 'नासत्यौ' है। (नास-त्यौ=नासा-स्थौ) नासिकाके स्थानपर रहनेवाले। नासिका यह प्राणका स्थान है। प्राणके स्थानपर रहनेवाले ये दो 'श्वास उच्छ्वास' अथवा 'प्राण अपान' ही हैं। प्राण और अपान ये दो देव इस शरीरमें रहकर इस शरीरमें जो इंद्रियस्थानोंमें अनेक देवगण हैं उनकी चिकित्सा करते हैं। प्राण से पुष्टि प्राप्त होती है और अपानसे दोष दूर होते हैं। इस प्रकार दोष दूर करके पुष्टि देने द्वारा ये दो देव इन सब इंद्रियोंकी चिकित्सा करते हैं। यहां यह अर्थ देखनेसे इनका 'नास-त्य' नाम बिलकुल सार्थ प्रतीत होता है। प्राण और अपान अशक्त हुए, अथवा इनमेंसे कोई

भी एक अपना कार्य करनेमें असमर्थ हुआ, तो इंद्रियगण भी अपना अपना कार्य करनेमें असमर्थ होते हैं । इतना इंद्रियोंके आरोग्यके साथ प्राणोंके स्वास्थ्यका संबंध है । अर्थात् वेदोंमें और पुराणोंमें 'देवोंके वैद्य अश्विनी कुमार' करके जो प्रसिद्ध वैद्य हैं, वे अध्यात्मपक्षमें अपने देहमें प्राण और अपान हैं, और येही इंद्रियरूपी देवोंकी चिकित्सा करते हुए इस मनुष्यको दीर्घायु देते हैं । यदि प्राणोंकी कृपा न हुई तो कोई दूसरा उपाय ही नहीं है कि जिससे मनुष्य दीर्घायु प्राप्त कर सके । यह विचार ध्यानमें रखकर यदि पाठक निम्नलिखित मंत्र देखेंगे तो उनको उसका ठीक अर्थ ध्यानमें आसकता है, देखिये--

(हे) देवानां भिषजौ अश्विनौ !

शचीभिः मृत्युं अस्मत् प्रत्यौहताम् । (मं० १)

'हे देवोंके वैद्य प्राण और अपानो ! अपनी विविध शक्तियोंसे मृत्युको हमसे दूर करो ।' अर्थात् प्राण और अपानही इस देहस्थानीय सब अवयवों और अंगोंकी चिकित्सा करते हैं और उनको पूर्ण निर्दोष करते हुए मनुष्यको मृत्युसे बचाते हैं । अतः मृत्यु दूर करनेके लिये उनकी प्रार्थना यहां की है । जो देव जिस वस्तुको देनेवाले हैं उनकी प्रार्थना उस वस्तुकी प्राप्तिके लिये करना योग्य ही है । इसी अर्थको मनमें धारण करके निम्नलिखित मंत्र देखिये—

(हे) प्राणापानौ ! सं क्रामतं, शरीरं मा जहीतम् । (मं० २)

" हे प्राण और अपानो ! शरीरमें उत्तमरीतिसे संचार करो, और शरीरको मत् छोडो । " यहां अश्विनौ देवताके बदले ' प्राणापानौ " शब्द ही है, और यह बताता है कि हमने जो अश्विनौ का अर्थ ' प्राण और अपान ' किया है वह ठीक ही है । ये प्राण और अपान शरीरमें उत्तम प्रकार संचार करें । शरीरको इनके उत्तम संचार के लिये योग्य बनाना नीरोग रहने के लिये अत्यंत आवश्यक है । शरीरको प्राणसंचारके योग्य बनानेके लिये योगशास्त्र में कहे धौती, बस्ति, नेति आदि क्रियाएं हैं । इनसे शरीर शुद्ध होता है, दोषरहित बनता है और प्राणसंचार द्वारा सर्वत्र अनारोग्य स्थिर होता है । शरीरमें प्राणापानोंका यह महत्त्व है । पाठक इस बातको मनमें दृढ रखें और योगसाधन के प्राण साधनसे दीर्घायु प्राप्त करें, प्राणापानोंका इतना महत्त्व है, इसीलिये कहा है कि–

इह प्राणापानौ ते सयुजौ स्ताम् । (मं० २)

' यहां प्राण और अपान ये दोनों तेरे सहचारी मित्र बन कर रहें । ' तेरे विरोध

करनेवाले न बनें। सहचारी मित्र सदा साथ रहते हैं और सदा हित करनेवाले होते हैं इस प्रकार ये प्राणापान मनुष्यके सहचारी मित्र हैं। मनुष्य इनको ऐसा समझे और उनकी मित्रता न छोडे। ऐसा करनेसे क्या होगा सो इसी मंत्रमें लिखा है—

वर्धमानः शतं शरदः जीव। (मं० २)

' वृद्धि और पुष्टिको प्राप्त होता हुआ तू सौ वर्ष जीवित रहेगा' अर्थात् प्राण और अपानको अपने अंदर उत्तम अवस्थामें रखेगा तो तू पुष्ट और बलिष्ठ होकर सौ वर्षकी दीर्घायु प्राप्त कर सकेगा। दीर्घायु प्राप्त करनेका यह उपाय है, मनुष्य योगशास्त्रमें कहे उपायोंका अवलंबन करके तथा प्राणायामका अभ्यास करके अपने शरीरमें प्राणापानोंको बलवान् करके कार्यक्षम बनावे, जिससे मनुष्य दीर्घायु बन सकता है। प्राण अपान ये ऐसे सहायक हैं कि वे दोषोंसे घटीहुई आयुको भी पुनः प्राप्त करा देते हैं, देखिये—

यत् ते आयुः पराचैः अतिहितं

प्राणः अपानः तौ पुनः आ इताम् ॥ (मं० ३)

" जो तेरी आयु हीन दोषोंके कारण घटगई है, वे प्राण और अपान, पुनः उस स्थानपर आवें और वे उस आयुको वहां पुनः स्थापन करें। " यह है प्राणापानोंका अधिकार। कुमार अथवा तरुण अवस्थामें कुछ अनियमके कारण यदि कोई ऐसे कुव्यवहार होगये, और उस कारण यदि आयु क्षीण होगई तो युक्तिसे प्राण और अपान उस दोषको हटा देते हैं और दीर्घ आयु प्राणोपासना करनेवाले मनुष्यको अर्पण करते हैं। इस लिये कहा है–

इमं प्राणः मा हासीत्, अपानः अवहाय मा परा गात् ॥ (मं० ४)

" इसको प्राण न छोड देवे और अपान भी इसको छोडकर दूर न चला जावे। " क्योंकि प्राण और अपान इस मनुष्यके देहको छोडने लगे तो कोई दूसरी शक्ति मनुष्यको आयु देनेमें समर्थ नहीं होसकती। इनके रहनेपरही अन्य शक्तियां सहायक होती हैं। अन्य शक्तियां इस मंत्रमें सप्तर्षि नामसे कही हैं, जो इस देहमें रहकर मनुष्य की सहायता करती हैं–

सप्तर्षिभ्य एनं परिददामि

त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥ (मं० ४)

" मैं इस मनुष्यको सप्त ऋषियोंके पास देता हूं, वे इसको बुढापेतक उत्तम कल्याण के मार्गसे ले चलें। " ये सप्त ऋषि सप्त ज्ञानेंद्रियां-पंच ज्ञानेंद्रियां और मन तथा बुद्धि-

हैं, इनके विषयमें पूर्व स्थल में कईवार लिखा जा चुका है। जब प्राण और अपान उत्तम अवस्थामें रहते हैं तब ये सातों इंद्रियां उत्तम अवस्थामें रहती हैं और मनुष्य दीर्घ जीवन प्राप्त करता है। ये प्राणापान शरीरमें बलवान् रहने चाहिये। इनका बल कैसा चाहिये इस विषयमें निम्नमंत्र देखिये—

अनड्वाहौ व्रजं इव प्राणापानौ प्रविशतम्। (मं० ५)

" जैसे बैल गोशालामें वेगसे प्रवेश करते हैं, वैसे प्राण और अपान वेगसे शरीरमें प्रवेश करें। प्राणका अंदर प्रवेश बलसे होवे और अपानका बाहर निःसरण भी वेगके साथ हो। इनमें निर्बलता न रहे यही तात्पर्य यहां है। अवास्तविक वेग उत्पन्न हो यह इसका मतलब नहीं है। इस प्रकार मनका वेग योग्य प्रमाणमें रहा, तो यह वार्धक्य तक आयुका खजाना ठीक अवस्थामें रहेगा। इस विषयमें मंत्र देखिये-

अयं जरिम्णः शेवधिः इह अरिष्टः वर्धताम् (मं०५)

" यह दीर्घ आयुका खजाना, न्यून न होता हुआ यहां बढे। " अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार प्राणापान अपना अपना कार्य करनेके लिये समर्थ हुए तो दीर्घायुका खजाना बढता जाता है। दीर्घायु प्राप्त करनेका उपाय प्राणापान को बलवान् बनाना ही है। इसी विषयमें और देखिये—

ते प्राणं आसुवामि, ते यक्ष्मं परा सुवामि। (मं०६)

" प्राणसे तेरा जीवन बढाता हूं, और अपानसे तेरा क्षय दूर करता हूं। " प्राण अपने साथ जीवन की शक्ति लाता है तथा शरीर जीवनमय करता है और अपान अपने साथ शरीरके क्षयको बाहर निकालता है, जिससे शरीर निर्दोष होता है। इस प्रकार ये दोनों शरीरको जीवनपूर्ण और निर्दोष बनाते हुए इसको दीर्घजीवन देते हैं। यही बात निम्नलिखित मंत्रभागमें कही है-

वरेण्यः अग्निः नः आयुः विश्वतः दधत्। (मं० ६)

" प्राणसे उत्पन्न होनेवाला श्रेष्ठ अग्नि हमारी आयु सब प्रकारसे धारण करे। " यहां प्राणके साथ रहनेवाला जीवनाग्नि अपेक्षित है। प्राणायाम करनेसे, विशेष कर भस्त्रा करनेसे शरीरमें अग्नि बढनेका अनुभव तत्काल आता है। इस सूक्तमें कहा अग्नि यही शरीरस्थान की उष्णता है। यहां बाह्य अग्नि अपेक्षित नहीं है।

अगले सप्तम मंत्रमें कहा है कि हम अंधकारसे दूर होकर उत्तम प्रकाशमें आवेंगे, और सूर्यकी ज्योतिको प्राप्त होंगे। इस मंत्रमें जो यह बात कही है, आयुष्य बढानेकी दृष्टीसे इसकी बडी आवश्यकता है। इससे निम्नलिखित बोध मिलता है-

१ वयं तमसः परि उत् रोहन्तः—हम अंधकारके ऊपर चढेंगे। अर्थात् अंधकारके स्थानमें निवास करना आयुको घटानेवाला है, अतः हम अंधकारके स्थानको छोडते हैं और ऊपर चढते हैं और-

२ उत्तमं नाकं रोहन्तः—उत्तम सुखदायक प्रकाशपूर्ण स्थान को प्राप्त करते हैं, क्यों कि प्रकाश ही जीवन देनेवाला और रोगादि दोषोंको दूर करनेवाला है, इसलिये—

३ देवत्रा देवं उत्तमं ज्योतिः सूर्यं अगन्म—सब देवोंके रक्षक उत्तम तेजस्वी सूर्यदेवको प्राप्त करते हैं। सूर्यही सब स्थावर जंगमका प्राण है अतः प्राणरूपी सूर्यको प्राप्त करनेके कारण हम अवश्य दीर्घजीवी बनेंगे।

दीर्घायु प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले लोग सूर्य प्रकाश वाले घरमें रहें और कभी अंधेरे कमरोंमें न रहें। इस प्रकार दीर्घायु बननेके दो उपाय इस सूक्तमें कहे हैं। एक प्राण और अपान को बलवान् बनाना और सूर्य प्रकाशको प्राप्त करना और अंधेरे कमरोंमें न रहना। पाठक इस प्रकार इस सूक्तका विचार करें और इसके अमूल्य आदेशसे लाभ उठावें-

ज्ञान और कर्म।

[५४ (५६, ५७—१)]

(ऋषिः- भृगुः। देवता—इन्द्रः)

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥ १ ॥

अर्थ— (याभ्यां कर्माणि कुर्वते) जिनके द्वारा कर्म करते हैं उन (ऋचं साम यजामहे) ऋचाओं और सामोंसे हम संगतिकरण करते हैं। (एते सदसि राजतः) ये दोनों इस यज्ञस्थलमें प्रकाशमान होते हैं। और ये (देवेषु यज्ञं यच्छतः) देवोंमें श्रेष्ठ कर्मका अर्पण करते हैं॥ १ ॥

भावार्थ— ऋचा और साम इन मन्त्रोंसे मानवी उन्नतिके सब कर्म होते हैं, इसलिये हम इन वेदोंका अध्ययन करते हैं। ये ही वेद इस जगत्की कर्म भूमिमें प्रकाश देनेवाले मार्गदर्शक हैं। क्यों कि येही देवों में सत्कर्मकी स्थापना करते हैं॥ १ ॥

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम् ।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते ॥ २ ॥

अर्थ- (यत् ऋचं साम, यजुः) जिन् ऋचा, साम और यजु तथा (हविः ओजः बलं अप्राक्षं) हवन, ओज, और बलके विषयमें मैंनें पूछा, हे (शचीपते) बुद्धिमान् ! (तस्मात एषः पृष्टः वेदः) उस कारण यह पूछा हुआ वेद (मा मा हिंसीत्) मेरी हिंसा न करे ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं गुरुसे ऋचा, साम और यजुके विषयमें पूछता हूं, और हवन की विधि, शारीरिक बल कमानेका उपाय और मानसिक बल प्राप्त करनेका उपाय भी पूछता हूं। यह सब प्राप्त किया हुआ ज्ञान मेरी उन्नति का सहायक होवे और बाधक न बने ॥ २ ॥

इस सूक्तमें कहा है कि ऋचा, यजु और साम ये ज्ञान देनेवाले मंत्र हैं और इनसे श्रेष्ठतम कर्म किया जाता है। इन कर्मोंको करके मनुष्य उन्नतिको प्राप्त करता है और ओज तथा बल को बढाता है। उक्त मन्त्रोंसे मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है और उस ज्ञानसे कर्म करके उन्नत होता है। परन्तु किसी किसी समय मनुष्य मोहवश होकर ज्ञानका दुरुपयोग भी करता है और अपना नाश कर लेता है। उदाहरणार्थ कोई मनुष्य बल प्राप्तिके उपायका ज्ञान प्राप्त करता है और उसका अनुष्ठान करके बहुत बल कमाता है। शरीरमें बल बढनेसे उसको घमण्ड होती है और वही मनुष्य निर्बलोंको सताने लगाता है और गिरता है। अतः इस सूक्तके अन्तिम मन्त्रमें प्रार्थना की है कि वह प्राप्त हुआ ज्ञान हमारा घात न करें। ज्ञान एक शक्ति है जो उपयोग कर्ताके भले बुरे प्रयोगके अनुसार भला बुरा परिणाम करनेवाली होती है। इसीलिये परमेश्वर से प्रार्थना की जाती है कि वह हमारी सत्प्रवृत्ति रखे और हमें घातपातके मार्गमें जाने ही न दें।

प्रकाशका मार्ग ।

[५५ (५७-२)] (ऋषिः- भृगुः । देवता-इन्द्रः)

ये ते पन्थानोव दिवो येभिर्विश्वमैरयः ।
तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो ॥ १ ॥

अर्थ- हे (वसो) सबके निवासक प्रभो ! (ये ते दिवः पन्थानः) जो

तेरे प्रकाशके मार्ग हैं, (येभिः विश्वं अव ऐरयः) जिनसे तू सब जगत्को चलाता है, (तेभिः नः सुम्नया धेहि) उनके साथ हम सबको सुखसे युक्त रख ॥ १ ॥

भावार्थ— हे प्रभो ! जो तेरे प्रकाशके मार्ग हैं और जिन से तू सब जगत्को चलाता है, उनसे हमें सुखके मार्गसे ले चल और हमें सुख दे ॥ १ ॥

मार्ग दो हैं । एक प्रकाश का और दूसरा अन्धेरेका । ईश्वर प्रकाशका मार्ग सबको बताता है और सबको सुखी करता है । परन्तु जो इस प्रभुको छोडकर अन्धेरेके मार्गसे जाते हैं वे दुःख भोगते हैं । इसीलिये इस प्रभुकी ही प्रार्थना करना चाहिये कि वह अपना प्रकाशका मार्ग हमें दर्शावे और हमें ठीक मार्गसे ले चले ।

विषचिकित्सा ।
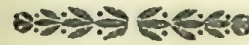
[५६ (५८)]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-वृश्चिकादयः, २ वनस्पतिः, ४ ब्रह्मणस्पतिः ।)

तिर॑श्चिराजेरसि॒तात् पृदा॑को॒ः परि॒ संभृ॑तम् ।
तत् क॒ङ्कप॑र्वणो वि॒षमि॒यं वी॒रुद॑नीनशत् ॥ १ ॥

अर्थ— (तिरश्चि-राजेः असितात्) तिरछी रेषावाले, काले, (पृदाकोः कंकपर्वणः) नाग और कौवे जैसे पर्ववाले सांपसे (संभृतं तत् विषं) इकट्ठे हुए उस विषको (इयं वीरुत् परि अनीनशत्) यह वनस्पती नाश करती है ॥ १ ॥

भावार्थ— जिसपर तिरछी लकीरें होती हैं और जिसके पर्व होते हैं ऐसे सांपके विषको मधु नामक वनस्पति दूर करती है ॥ १ ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।
सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ २ ॥
यतो दष्टं यतो धीतं ततस्ते निर्ह्वयामसि ।
अर्भस्य तृप्रदंशिनो मशकस्यारसं विषम् ॥ ३ ॥
अयं यो वक्रो विपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि ।
तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषिकामिव सं नमः ॥ ४ ॥

अर्थ— (इयं वीरुत् मधु-जाता मधुला) यह वनस्पति मधुरताके साथ उत्पन्न हुई मधुरता देनेवाली (मधुश्चुत् मधूः) मधुरताको चुआनेवाली स्वयं मधुर है। (सा विह्रुतस्य भेषजी) वह कुटिल सांपके विषकी औषधि है और वह (मशक-जम्भनी) मच्छरोंका नाश करनेवाली है ॥ २ ॥

(यतः दष्टं) जहां काटा गया है, (यतः धीतं) जहांसे खून पिया है, (ततः) वहांसे (तृप्रदंशिनः अर्भस्य मशकस्य) तीक्ष्ण काटनेवाले छोटे मच्छरके (अरसं विषं निः ह्वयामसि) रसहीन विषको हम हटा देते हैं ॥ ३ ॥

हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानके स्वामिन् ! (यः अयं वक्रः वि-परुः) जो यह तेढा और संधिस्थानमें शिथिल और (व्यंगः) कुरूप अंगवाला हुआ है और जो (मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि) मुख तेढे मेढे और विरूप करता है,(तानि त्वं इषिकां इव सं नमः) उनको तू मूञ्जके समान सीधा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— यह वनस्पति मीठे रसवाली है, मीठास के लिये प्रसिद्ध है, इसका नाम मधु है। यह विषबाधासे तेढेमेढे हुए रोगीके लिये उत्तम औषधी है। इससे मच्छर भी दूर होते हैं ॥ २ ॥

जहां काटा है और जहांसे रक्त पीया है, वहांसे मच्छर आदिके विषको उक्त औषधिके प्रयोगसे हटा देते हैं ॥ ३ ॥

विषबाधासे जो रोगी तेढा मेढा, विरूप अंगवाला, ढीले संधियोंवाला होगया है और जो अपने मुख तेढे मेढे करता है, उस रोगीको इस औषधीद्वारा ठीक किया जा सकता है ॥ ४ ॥

अरसस्यं शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः ।
विषं ह्य१स्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥ ५ ॥
न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः ।
अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम् ॥ ६ ॥
अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः ।
सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम् ॥ ७ ॥
य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्ये॒न च ।
आस्ये३ न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥ ८ ॥

अर्थ- (अरसस्य नीचीनस्य उपसर्पतः) नीरस और नीचेसे आनेवाले (अस्य शार्कोटस्य विषं) इस बिच्छू या सर्पके विषको (आ अदिषि) खण्डित करता हूं,(अथो एनं अजीजभं) और इसको मार डालता हूं ॥५॥

हे बिछू (ते बाह्वोः बलं न अस्ति) तेरी बाहुओंमें बल नहीं है। (न शीर्षे उत न मध्यतः) सिरमें नहीं और ना ही मध्य भागमें है। (अथ किं अमुया पापया) फिर क्यों इस पापवृत्तीसे (पुच्छे अर्भकं बिभर्षि) पूंछ में थोडासा विष धारण करता है ? ॥ ६ ॥

(पिपीलिकाः त्वा अदन्ति) कीडियां तुझे खाती हैं,(मयूर्यः विवृश्चन्ति) मोरनियां काट डालती हैं। (सर्वे भल ब्रवाथ) सब भलीप्रकार कहते हैं कि (शार्कोटं विषं अरसं) बिछू का विष खुष्की करनेवाला है ॥ ७ ॥

(यः पुच्छेन च आस्येन च उभाभ्यां) जो तू पूंछ और मुख इन दोनों से (प्रहरसि) प्रहार करता है, परन्तु (ते आस्ये विषं न) तेरे मुखमें विष नहीं है, (किं उ पुच्छधौ असत्) फिर क्यों पूंछमें है ? ॥ ८ ॥

भावार्थ-नीचे से आनेवाले खुष्की पैदा करनेवाले सापके या बिच्छूके विषको हम इससे दूर करते हैं और उनको हम मार भी देते हैं ॥ ५ ॥

बिच्छू का बल बाहुओंमें, सिरमें अथवा मध्यभागमें नहीं है। केवल पूंछके अग्रभागमें उसका विष रहता है ॥ ६ ॥

कीडियां, मोरनियां या मुर्गियां उसको (बिच्छू और सांपको भी) खाजाती हैं। इनका विष शुष्कता उत्पन्न करनेवाला है किंवा इस वनस्पतिसे यह निर्बल हो जाता है ॥ ७ ॥

बिच्छू पूंछसे प्रहार करता है, मुखसेभी कुछ चेतना देता है। इसके मुखमें विष नहीं है केवल पूछमें है ॥ ८ ॥

इसमें सर्पविष अथवा बिच्छूका विष दूर करनेके लिये मधुनामक औषधि का उपयोग करनेको कहा है । यह शर्तिया औषध है । परंतु यह कौनसी वनस्पति है इसका पता नहीं चलता । विषबाधासे शरीरपर जो परिणाम होता है, उसका वर्णन चतुर्थ मंत्रमें है। भयंकर सर्पविषसे मनुष्य ऐसा कुरूप और तेढामेढा हो जाता है । इस सूक्तमें कहा अन्य भाग सुबोध है । इस लिये उस विषयमें अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है ।

मनुष्यकी शक्तियां ।

[५७ (५९)]

(ऋषिः- वामदेवः । देवता-सरस्वती)

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो जनाँ अनु ।
तदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद् घृतेन ॥ १ ॥

अर्थ— (यत् आशसा वदतः मे विचुक्षुभे) जो हिंसासे बोलनेवाले मेरा क्षोभित हो गया है, (यत जनान् अनुचरतः याचमानस्य) जो लोगोंकी सेवा करते हुए याचना करनेवालेकी व्याकुलता हो गई है, (तत् आत्मनि मे तन्वः विरिष्टं) वह अपनी आत्मामें और मेरे शरीरमें जो हीनता होगई है, (तत् सरस्वती घृतेन आ पृणत्) उसको सरस्वती घृतसे भर देवे ॥ १ ॥

भावार्थ— वक्तृत्व करनेके समय अथवा जनसेवा करनेके समय किंवा सेवाके लिये प्रार्थना करनेके समय करनेके योग्य हलचलमें जो भी शरीरमें अथवा मनमें या आत्मामें दुःख हुआ हो, वह सरस्वती दूर करे ॥ १ ॥

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि ।
उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः ॥ २ ॥

अर्थ-(मरुत्वते शिशवे सप्त क्षरन्ति) प्राणवाले बालकके लिये सात प्राण अथवा सात इन्द्रियशक्तियां जीवनरस देती हैं। जिस प्रकार (पित्रे पुत्रासः ऋतानि अपि अवीवृतन्) पिता के लिये पुत्र सत्य कर्मोंको करते हैं। (अस्य उभे इत्) इसके पास दो शक्तियां हैं, (अस्य उभे राजतः) इसकी दोनों शक्तियां प्रकाशती हैं, (उभे यतेते) दोनों प्रयत्न करती हैं और (अस्य उभे पुष्यतः) इसकी दोनों पोषण करती हैं ॥ २ ॥

भावार्थ- चैतन्यपूर्ण बालकमें सात दैवी शक्तियां कार्य करती हैं। ये शक्तियां उसका ऐसा कार्य करती हैं कि जैसा बालक अपने पिताका कार्य करते हैं। उसके पास दो शक्तियां होती हैं जो तेज बढाती, कार्य कराती और पोषण करती हैं ॥ २ ॥

जनसेवा।

जनसेवा करनेके समय जो कष्ट होते हैं (जनान् अनुचरतः यद् विचुक्षुभे। मं० १) जनताकी सेवा करनेके समय जो क्षोभ होता है, जो मानसिक क्लेश होते हैं अथवा जो शारीरिक क्लेश भोगने पडते हैं, वे सरस्वती अर्थात् विद्या देवीकी सहायतासे दूर हों। अर्थात् मनुष्यको जनताकी सेवा करना चाहिये और उस पवित्र कार्यके करनेके समय जो कष्ट होंगे, उनको आनंदसे रहना चाहिये। विद्या उत्तम प्रकार प्राप्त होनेके पश्चात् यह सहन शक्ति प्राप्त होती है। ज्ञानी मनुष्य ऐसे कष्टोंकी पर्वाह नहीं करता।

मानवी बालकके तथा बडे मनुष्यके शरीरमें सात शक्तियां रहती हैं। बुद्धि, मन और पांच ज्ञानेंद्रियां, ये सात शक्तियां हैं जो हरएक मानवी बालकमें जन्मसे रहती हैं। मानो ये सातों इसके पुत्र ही हैं। पुत्रवत् ये इसकी सहायता करती हैं। जिस प्रकार पुत्र अपने पिताके कार्य सद्भावनासे करते हैं और कोई कपट नहीं करते; उसी प्रकार ये शक्तियां इसके कार्य अपनी शक्तिके अनुसार निष्कपट भावसे करती हैं।

इसके पास प्राण और अपान ये दो और विशेष प्रकार के बल हैं, इन दोनों बलोंसे इसका तेज बढता है, इन दोनोंके कारण यह प्रयत्न कर सकता है और इन दोनोंकी सहायतासे इसकी पुष्टी होती है।

इन सब शक्तियोंसे मनुष्यकी उन्नति होती है । इनके साथ सरस्वती अर्थात् सार· वाली विद्यादेवी है जो मनुष्यकी सहायक देवता है । मानवी उन्नति इनसे होती है यह जानकर मनुष्य इन शक्तियोंकी रक्षा और वृद्धी करे और अपनी उन्नति अपने प्रयत्नसे सिद्ध करे ।

बलदायी अन्न ।

[५८ (६०)]

(ऋषिः-कौरुपथिः । देवता—मंत्रोक्ता· इन्द्रावरुणौ)

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ ।
युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये ॥ १ ॥
इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम् ।
इदं वामन्धः परिषिक्तमासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयेथाम् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (सुतपौ धृतव्रतौ इन्द्रावरुणा) उत्तम तप करनेवाले, नियम के अनुसार चलनेवाले इन्द्र और वरुणो ! (इमं सुतं मद्यं सोमं पिबतं) इस निचोडे हुए आनंद बढानेवाले सोमरस का पान करो । (युवोः अध्वरः रथः) तुम दोनोंका अहिंसावाला रथ (देववीतये, पीतये प्रतिस्वसरं उपयातु) देवप्राप्ति और रक्षा करनेके लिये प्रतिध्वनि करता हुआ जावे ॥ १ ॥

हे (वृषणा इन्द्रावरुणा) बलवान इन्द्र और वरुण ! (मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषेथां) अत्यन्त मधुर बलकारी सोमरस की वर्षा करो अथवा इससे बल प्राप्त करो । (इदं परिषिक्तं वां अन्धः) यह रखा हुआ तुम दोनोंका अन्न है । (अस्मिन् बर्हिषि आसद्य मादयेथां) इस आसन· पर बैठकर आनन्द करो ॥ २ ॥

इस सूक्तमें मनुष्य किस प्रकार रहें और क्या खाएं और किस प्रकार आनंद प्राप्त करें इस विषय में लिखा है देखिये—

१ सुतपौ= मनुष्य उत्तम तप करनेवाले हों, शीत उष्ण आदि द्वंद्वोंको सहन करनेकी शक्ति अपने अंदर बढावे।

२ धृतव्रतौ= नियमोंका पालन करें। नियमके विरुद्ध आचरण कदापि न करें। सब अपना आचरण उत्तम नियमानुकूल रखें।

३ वृषणौ=मनुष्य बलवान बनें, अशक्त न रहें।

४ इन्द्रावरुणौ=मनुष्य इन्द्र के समान शूरवीर ऐश्वर्यवान्, धीर गंभीर, शत्रुओंको दबाने और परास्त करनेवाला बने। वरुण के समान वरिष्ठ और श्रेष्ठ बने। जो जो इन्द्रके और वरुण के गुण वेदमें अन्यत्र वर्णन किये हैं, पाठक उन गुणोंको अपने अंदर धारण करें और इंद्रके समान तथा वरुणके समान बननेका यत्न करें!

५ अध्वरः रथः=हिंसा रहित, कुटिलतारहित रथ हो। अर्थात् जहां गमन करना हो वहां अहिंसा और अकुटिलताका संदेश स्थापन करनेका यत्न किया जावे।

६ देववीतये=देवत्व की प्राप्ति के लिये प्रयत्न होता रहे। राक्षसत्वसे निवृत्ति होवे और दिव्य गुणोंका धारण हो।

७ पीतये=रक्षा करनेका प्रयत्न हो। आत्मरक्षा, समाजरक्षा, राष्ट्ररक्षा, जनरक्षाके लिये प्रयत्न होवे।

८ इदं वां अन्धः=यह तुम्हारा अन्न है। हे मनुष्यो यही अन्न तुम खाओ। कौनसा यह अन्न है? देखिये यह अन्न है-(मद्यं सुतं सोमं) हर्ष उत्पन्न करनेवाला सोम आदि औषधि वनस्पतियोंसे संपादित रस आदि तथा (वृष्णः मधुमत्तमस्य सोमस्य वृषेथां) बलवर्धक तथा मधुर सोमादि औषधियों के रससे तुम सब लोग बलवान बनो।

इस प्रकार देवों का वर्णन अपने जीवन में ढालने का प्रयत्न होनेसे वेदका ज्ञान अपने जीवन में उतरता है और जो श्रेष्ठ अवस्था मनुष्यको प्राप्त करनी होती है वह प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार देवतावर्णनवाले वेदमंत्रोंका अध्ययन करके पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं।

शापका परिणाम।

[५९ (६१)]

(ऋषिः- बादरायणिः । देवता-अरिनाशनम्)

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।
वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥ १ ॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अर्थ- (यः अशपतः नः शपात्) जो शाप न देते हुए भी हमें शाप देवे और (यः च शपतः नः शपात्) जो शाप देते हुए हमें शाप देवे वह;(आ मूलात् अनु शुष्यतु) जडसे सूख जावे, जैसा (विद्युता आहतः वृक्षः इव) बिजलीसे आहत हुआ वृक्ष सूख जाता है ॥ १ ॥

किसीको शाप देना, गाली देना या बुराभला कहना या निन्दा करना बहुत ही बुरा है। उससे गाली देनेवालेका ही नुकसान हो जाता है।

रमणीय घर।

[६० (६२)] (ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-गृहाः, वास्तोष्पतिः)

ऊर्जं बिभ्रद्वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥ १ ॥

अर्थ— (ऊर्जं बिभ्रत् वसुवनिः) अन्नको धारण करनेवाला, धनका दान करनेवाला, (सुमेधाः) उत्तम बुद्धिमान् (अघोरेण मित्रियेण चक्षुषा सुमनाः) शान्त और मित्रकी दृष्टि धारण करनेके कारण उत्तम मनवाला होकर तथा (वन्दमानः) सब श्रेष्ठ पुरुषोंको नमन करता हुआ, मैं (गृहान् एमि) अपने घरके पास प्राप्त होता हूं। यहां तुम (रमध्वं) आनन्दसे रहो, (मत मा बिभीत) मुझसे मत् डरो ॥ १ ॥

भावार्थ- मैं स्वयं उत्तम अन्न, विपुलधन, श्रेष्ठबुद्धि, और मित्रकी दृष्टि को धारण करके उत्तम विचारोंके साथ पूजनीयोंका सत्कार करता हुआ घरमें प्रवेश करता हूं, सब लोग यहां आनन्दसे रहें और किसी प्रकार यहां मेरेसे डर उत्पन्न न हो ॥ १ ॥

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः । पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः॥२॥
येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः । गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः॥३॥
उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः। अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥४॥
उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः । अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥५॥

अर्थ- (इमे गृहाः) ये हमारे घर (मयो-भुवः ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः) सुखदायी, बलदायक धान्यसे युक्त, और दूधसे युक्त हैं। ये (वामेन पूर्णाः तिष्ठन्तः) सुखसे परिपूर्ण हैं, (ते नः आयतः जानन्तु) वे हम आनेवाले सबको जानें ॥ २ ॥

(प्रवसन् येषां अध्येति) अन्दर रहता हुआ जिनके विषयमें जानता है, कि (येषु बहुः सौमनसः) जिनमें बहुत सुख है, ऐसे (गृहान् उप-ह्वयामहे) घरोंके प्रति हम इष्ट मित्रोंको बुलातें हैं; (ते नः आयतः जानन्तु) वे आनेवाले हम सबको जानें ॥ ३ ॥

(भूरिधनाः स्वादुसंमुदः सखायः उपहूताः) बहुत धन वाले, मीठेपन से आनन्दित होनेवाले अनेक मित्र बुलाये हैं। हे (गृहाः) घरो! तुम (अ-क्षुध्याः अ-तृष्याः स्त) क्षुधावाले और तृषावाले न हो, तथा (अस्मत मा बिभीतन) हमसे मत डरो ॥ ४ ॥

(इह गावः उपहूताः) यहां गौवें बुलाईं गईं तथा (अज-अवयः उप-हूताः) बकरियां और भेडें लाईं गईं। (अथो अन्नस्य कीलालः) और अन्नका सत्वभाग भी (नः गृहेषु उपहूतः) हमारे घरमें लाया है ॥ ५ ॥

भावार्थ- इन घरोंमें हमें सुख मिले, बल प्राप्त हो, और सब आनन्द से रहें ॥ २ ॥

इन घरोंमें रह कर हमें सुख का अनुभव हो, हम यहां इष्टमित्रोंको बुलावें और सब आनन्दसे रहें ॥ ३ ॥

बहुत धनी, आनन्दवृत्तीवाले बहुतमित्र घरमें बुलाये हैं, उनको यहां जितना चाहे उतना खानपान प्राप्त हो, यहां सबकी विपुलता रहे और कोई भूखा प्यासा न रहे ॥ ४ ॥

हमारे घरमें गौवें, बकरियां और भेडें रहें, सब प्रकारका सत्ववाला अन्न रहे, किसी प्रकार न्यूनता न रहे ॥ ५ ॥

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥ ६ ॥
इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।
ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥ ७ ॥

अर्थ- हे (गृहाः) घरो ! तुम (सूनृता-वन्तः सुभगाः) सत्ययुक्त और उत्तम भाग्यवाले,(इरावन्तः हसा-मुदाः) अन्नवान् और जहां हास्य विनोद चलरहे हैं ऐसे, (अतृष्याः अक्षुध्याः) जहां क्षुधा और तृषा का भय नहीं ऐसे (स्त) हो । (अस्मत् मा बिभीतन) हमसे मत डरो ॥ ६ ॥

(इह एव स्त) यहांही रहो, (मा अनु गात) हमसे मत भाग जाओ, (विश्वा रूपाणि पुष्यत) विविधरूपवाले प्राणियोंको पुष्ट करो, (भद्रेण सह आ एष्यामि) कल्याणके साथ मैं तुम्हें प्राप्त होता हूं। (मया भूयांसः भवत) मेरे साथ बहुत हो जाओ ॥ ७ ॥

भावार्थ- घर घरमें सत्य, भाग्य, अन्न, आनन्द, हास्य और खान और पान की विपुलता रहे ॥ ६ ॥

घर सुदृढ हों, अस्थिर न हों, घरमें सबका उत्तम पोषण होता रहे। कल्याण और सुख सबको प्राप्त हो और हमारी वृद्धि होती रहे ॥ ७ ॥

रमणीय घर कैसा होना चाहिये, यह विषय इस सूक्तमें सुबोध रीतिसे कहा है। घरमें प्रेम रहे, द्वेष न रहे, सब लोग आनन्दसे रहें, परस्पर डरावा न हो, वहां धनधान्यकी सुख समृद्धि हो, गोरस विपुल हो, किसी प्रकार सुखभोग की न्यूनता न हो। इष्टमित्र आवें, आनन्द करें, कोई कभी भूखा न रहे, अन्नपान सत्ववाला हो, हरएक हृष्टपुष्ट हो, कोई किसी कारण पीडित न हो। इस प्रकारके घर होने चाहिये। यही गृहस्थाश्रम है।

तपसे मेधाकी प्राप्ति।

[६१ (६३)] (ऋषिः—अथर्वा । देवता—अग्निः)

यदग्ने तपसा तप उप तप्यामहे तपः ।
प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ १ ॥
अग्ने तपस्तप्यामह उप तप्यामहे तपः ।
श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ २ ॥

अर्थ-हे अग्ने ! (तपसा यत् तपः) तपसे जो तप किया जाता है। उस (तपः उप तप्यामहे) तपको हम करते हैं। उससे हम (श्रुतस्य प्रियाः) ज्ञानके प्रिय (आयुष्मन्तः सुमेधसः भूयास्म) दीर्घायुषी और उत्तम बुद्धिमान् हो जांयगे ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (तपः तप्यामहे) हम तप करते हैं और (तपः उपतप्यामहे) तप विशेष रीतिसे करते हैं। (वयं श्रुतानि शृण्वन्तः) हम ज्ञानोपदेश श्रवण करते हुए (आयुष्मन्तः सुमेधसः) दीर्घायुषी और उत्तम बुद्धिमान् होंगे ॥ २ ॥

भावार्थ—हम तप करके ज्ञान प्राप्त करेंगे और दीर्घायु, बुद्धिमान् और ज्ञानको चाहनेवाले बनेंगे ॥ १—२ ॥

तप करनेसे यह सिद्धि प्राप्त होती है यह इस सूक्त का आशय है, अतः जो दीर्घायु और बुद्धिमान् बनना चाहते हैं वे तप करें।

शूर वीर।

[६२ (६४)] (ऋषिः- मारीचः कश्यपः। देवता-अग्निः)

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्तीनजयत् पुरोहितः।
नाभा पृथिव्यां निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥ १ ॥

अर्थ- (अयं अग्निः) यह अग्नि समान तेजस्वी पुरुष (सत्पतिः वृद्धवृष्णः) सज्जनोंका पालक, महाबलवान्, (पुरः-हितः) सबका अग्रणी (रथी इव पत्तीन् अजयत्) महारथी जैसा पैदल सैनिकोंको जीतता है, वैसा जीतता है। (पृथिव्यां नाभा निहितः) भूमिपर केन्द्रमें रखा है, (दवि. द्युतत्) वह प्रकाशता है, वह (ये पृतन्यवः अधस्पदं कृणुतां) जो सेना लेकर चढाई करते हैं उनको पांवके नीचे करे ॥ १ ॥

भावार्थ— यह तेजस्वी पुरुष सज्जनोंका पालन करे, बलवान् बने, जनोंका अग्रणी बने शत्रुसेनाका पराभव करे, महारथी होवे, पृथ्वीके केन्द्र स्थानपर आरूढ होवे, तेजसे प्रकाशित होवे और सैन्य लेकर चढाई करनेवालोंको पांवके तले दबा देवे ॥ १ ॥

मनुष्य इसप्रकार अपने गुण कर्म प्रकाशित करे और अपने राष्ट्रके केन्द्रमें विराजमान रहे।

बचानेवाला देव ।

[६३ (६५)] (ऋषिः—मारीचः कश्यपः । देवता—जातवेदाः)

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात् सधस्थात् ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद् देवोति दुरितान्यग्निः ॥ १ ॥

अर्थ—(पृतनाजितं सहमानं अग्निं !) शत्रुसेनाका पराजय करनेवाले सामर्थ्यवान् तेजस्वी देवको हम (उक्थैः परमात् सधस्थात् हवामहे) स्तोत्रोंसे उत्कृष्ट स्थानसे बुलाते हैं । (सः नः विश्वा दुर्गाणि अति पर्षत्) वह हमें सब दुःखोंसे पार ले जावें । और (वह अग्निः देवः) तेजस्वी देव (दुरितानि अति क्षामत्) दुरवस्थाओंका नाश करे ॥ १ ॥

भावार्थ—शत्रुका पराभव करनेवाला और शत्रुके आक्रमणोंको सहने वाला तेजवी प्रभु है, उसका हम गुणगान करते हैं और उसको अपने श्रेष्ठ स्थानसे यहां हमारे पास बुलाते हैं । वह निःसन्देह हमें कष्टोंसे बचावेगा और कठिनताओंसे पार करेगा ॥ १ ॥

इस प्रभुकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना हरएक मनुष्य करे और उसके ये गुण अपनेमें बढावे । अर्थात् उपासक भी शत्रुसेना का पराभव करे, शत्रुके हमलेको सहे अर्थात् न भाग जावे, दूसरोंको कष्टोंसे बचावे और दुरवस्थामें उनका सहायक बने ।

पापसे बचाव ।

[६४ (६६)] (ऋषिः— यमः । देवता—मंत्रोक्ता, निर्ऋतिः)

इदं यत् कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥ १ ॥
इदं यत् कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन ।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

अर्थ— (इदं यः कृष्णः शकुनिः) यह जो काला शकुनी पक्षी (अभिनिष्पतन् अपीपतत) झुकता हुआ गिरता है । (तस्मात् सर्वस्मात् दुरितात् अंहसः) उस सब गिरावटके पापसे (आपः मा पान्तु) जल मेरी रक्षा करें ॥ १ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (इदं यः कृष्णः शकुनिः) यह जो काला शकुनी पक्षी (ते मुखेन अवामृक्षत्) तेरे पास मुखके साथ गिरता है (गार्हपत्यः अग्निः) गार्हपत्य अग्नि (तस्मात् एनसः) उस पापसे (मा प्रमुञ्चतु) मुझे छुडावे ॥ २ ॥

इन दोनों मन्त्रोंके प्रथम चरण दुर्बोध हैं। दूसरे चरणोंमें जल और अग्नि दोषमुक्त करके पापसे बचाते हैं यह बात सूचित की है। पहिले चरणोंसे प्रतीत होता है कि शकुनि-पक्षीका गिरना या उडना अशुभ या शुभका सूचक है। परन्तु ये मन्त्र खोजके योग्य हैं।

अपामार्ग औषधी।

[६५ (६७)] (ऋषिः—शुक्रः। देवता—अपामार्ग वीरुत्)

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ। सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥१
यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया। त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे ॥२
श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत्सहासिम। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥३॥

अर्थ-हे (अपामार्ग) अपामार्ग औषधी ! (त्वं प्रतीचीनफलः हि रुरोहिथ) तू उलटे मोडे हुए फलवाली होकर उगती है। अतः (मत् सर्वान् शपथान्) मुझसे सब शापोंको (इतः वरीयः अधियावय) यहांसे दूर हटा दे ॥ १ ॥

(यत दुष्कृतं) जो पाप, (यत शमलं) जो दोष या कलंक मैंने किया होगा अथवा (यत् वा पापया चेरिम) जो पापीके साथ व्यवहार किया हो, हे (विश्वतो-मुख अपामार्ग) सर्वतोमुख अपामार्ग ! (त्वया तत अप मृज्महे) तेरेसे उसको हम दूर करते हैं ॥ २ ॥

(यत् श्यावदता) काले दांतवाले (कुनखिना) जो बुरे नाखूनोंवाले (बण्डेन सह आसिम) विरूपके साथ हम बैठते हैं, हे अपामार्ग ! (तत सर्वं वयं त्वया अपमृज्महे) वह सब दोष हम तेरेसे हटादेते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— अपामार्ग औषधिके फल उलटी दिशासे बढते हैं, इसलिये इस वनस्पतिसे उलटे आचरणके सब दोष हटाये जाते हैं। दुराचार, पाप, दोष, पापीका सहवास, दन्तदोष, बुरे नाखून तथा रक्तदोषीका सहवास, ये स्वयं आचरित अथवा संगतसे आये दोष अपामार्गके प्रयोगसे दूर होते हैं ॥ १—३ ॥

वैद्योंको इस सूक्तका विशेष विचार करना चाहिये। दन्तदोष अपामार्ग का दान्तन करनेसे दूर होता है, यह अनुभव है। पाठक भी इसका अनुभव लें, अपामार्ग औषधी दोषनिवारक है तथापि इसका विविध रोगोंपर कैसा उपयोग करना चाहिये, यह विषय अन्वेष्टव्य है। महाराष्ट्रमें विशेषतः ऋषिपञ्चमीकेतेहवार में अपामार्ग के काष्ठसे ही दन्त-धावन करनेकी परिपाठी इस दिन तक चली आयी है। प्रायः इसका पालन इस समय स्त्रियां ही करती हैं। तथापि इस मन्त्रमें दन्तरोगका दूर होना अपामार्ग प्रयोग से कहा है और यहांकी परिपाठी भी वैसीही है। अतः इसकी अधिक खोज करना योग्य है।

ब्रह्म।

[६६ (६८)] (ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-ब्रह्म)

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु।
यदश्रवन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥ १ ॥

अर्थ— (यदि अन्तरिक्षे यदि वाते) यदि अन्तरिक्षमें और यदि वायुमें (यदि वृक्षेषु यदि वा उलपेषु) यदि वृक्षोंमें अथवा यदि घासमें आप देखेंगे तो उसमें जो (आस) सदा रहा है, (यत् पशवः अस्रवन्) जो प्राणियोंमें स्रवता है, (तत् उद्यमानं ब्राह्मणं) वह प्रकट होनेवाला ब्रह्म (पुनः अस्मान् उपैति) पुनः हमें प्राप्त होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो ब्रह्म इस अवकाशमें, वायुमें, वृक्षोंमें, घासमें विराजता है, जो पशुओंमें अर्थात् प्राणियोंमें प्रवाहित होता है अर्थात् जो स्थिर चर में विद्यमान है, वह सर्वत्र प्रकाशित होनेवाला ब्रह्म हमें प्राप्त होता है।

ब्रह्म नाम महान् आत्मतत्त्व जो सर्वत्र स्थिर चरमें व्यापक है, वह सर्वत्र प्रकाशित होता है, जिसकी शक्तिसे संपूर्ण जगत्को यह सुंदर रूप मिला है, वह ब्रह्म हम सब मनुष्योंको प्राप्त हो सकता है। अतः उसकी प्राप्तिके लिये मनुष्य प्रयत्न करे।

आत्मा।

[६७ (६९)] (ऋषिः— ब्रह्मा । देवता—आत्मा)

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥ १ ॥

अर्थ— (मा इन्द्रियं पुनः एतु) मुझे इन्द्रियशक्ति पुनः प्राप्त हो। (आत्मा द्रविणं ब्राह्मणं च पुनः) मुझे आत्मा चेतना और ब्रह्म पुनः प्राप्त हो। (धिष्ण्याः अग्नयः यथा—स्थाम) बुद्धि आदि स्थानकी अग्नियां यथायोग्य स्थानमें (इह एव पुनः कल्पयन्तां) यहांही पुनः समर्थ हों ॥१॥

भावार्थ— सब इन्द्रियकी शक्तियां, ज्ञान, चेतना, आत्मा, बुद्धि, मन आदिकी सब चैतन्यशक्तियां मुझे प्राप्त हों और यहां उक्त उन्नत हों ॥१॥

इंद्रियां ज्ञानेन्द्रियां पांच और कर्मेन्द्रियां पांच मिलकर दस हैं, आत्मा नाम जीवका है, द्रविणका अर्थ यहां मनका उत्साह अथवा चैतन्य है, ब्राह्मणका अर्थ ब्रह्म-आत्मा-की ज्ञानशक्ति है। धिषणा-धिष्ण्या का अर्थ बुद्धि अथवा अन्तःकरणकी शक्तियां हैं। ये अग्निस्वरूप चेतन हैं। ये सब आत्माकी शक्तियां यहां स्थिर रहें, उन्नत हों और प्रकाशरूप होकर मुझे सहायक हों।

सरस्वती।

[६८ (७०, ७१)] (ऋषिः—शन्तातिः। देवता-सरस्वती)

सरस्वती व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु। जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः॥१॥
इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं यत्।
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥ २ ॥
शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति। मा ते युयोम संदृशः ॥ ३ ॥

अर्थ—हे सरस्वति देवि ! (ते दिव्येषु धामसु व्रतेषु) तेरे दिव्य धामोंके व्रतोंमें (आहुतं हव्यं जुषस्व) हवन किया हुआ हवन सेवन कर और हे देवि ! (नः प्रजां ररास्व) हमें प्रजा दे ॥ १ ॥

हे सरस्वति ! (ते इदं घृतवत् हव्यं) तेरा यह घीवाला हवन है। (इदं पितॄणां हविः यत् आस्यं=आश्यं) यह पितरोंका हवि है जो खाने योग्य है। (ते इमानि उदिता शंतमानि) तेरे ये प्रकाशित कल्याणकारी सामर्थ्य हैं, (तेभिः वयं मधुमन्तः स्याम) उनसे हम मीठे बनेंगे ॥ २ ॥

हे सरस्वति ! (नः सुमृडीका शिवा शंतमा भव) हमारे लिये स्तुति-करने योग्य, शुभ और सुखकारी हो, (ते संदृशः मा युयोम) तेरी दृष्टिसे हम कदापि वियुक्त न हों ॥३॥ [सरस्वतीके उपासकोंका सदा कल्याण होता है।]

सुख ।

[६९ (७२)] (ऋषिः-शन्तातिः । देवता-सुखं)

शं नो॒ वातो॑ वातु॒ शं न॑स्तपतु॒ सूर्यः॑ ।
अहा॑नि॒ शं भ॑वन्तु॒ नः॒ शं रात्री॒ प्रति॑ धीयतां॒ शमु॒षा नो॒ व्यु॑च्छतु ॥ १ ॥

अर्थ— (नः वातः शं वातु) हमारे लिये वायु सुखकर रीतिसे बहे। (नः सूर्यः शं तपतु) हमारे लिये सूर्य सुखकारी होकर तपे। (नः अहानि शं भवन्तु) हमारे दिन सुखदायक हों। (रात्री शं प्रतिधीयतां) रात्री सुखकरी हो। (उषा नः शं व्युच्छतु) उषःकाल हमें सुख देवे॥ १॥

वायु, सूर्य, दिन, रात और उषा ये तथा अन्य सब पदार्थ हमें सुखदायक हों। हमारी आन्तरिक अवस्था ऐसी रहे कि हमें बाह्य जगत् सदा सुखकारी होवे और कभी दुःखदायी न हो।

शत्रुदमन ।

[७० (७३)] (ऋषिः—अथर्वा । देवता—श्येनः, मन्त्रोक्ता)

यत् किं चा॒सौ मन॑सा॒ यच्च॑ वा॒चा य॒ज्ञैर्जु॒होति॑ ह॒विषा॒ यजु॑षा ।
तन्मृ॒त्युना॒ निर्ऋ॑तिः संविदा॒ना पु॒रा स॒त्यादाहु॑तिं हन्त्वस्य ॥ १ ॥
या॒तु॒धाना॒ निर्ऋ॑ति॒राद् उ॒ रक्ष॒स्ते अ॑स्य घ्नन्त्वनृ॑तेन स॒त्यम् ।
इन्द्रे॑षिता दे॒वा आज्य॑मस्य मथ्नन्तु॒ मा तत् सं पा॑दि॒ यद॒सौ जु॒होति॑ ॥ २ ॥

अर्थ- (असौ यत् किं च मनसा) यह शत्रु जो कुछ भी मनसे और (यत् च वाचा) जो कुछ वाणीसे करता है तथा जो कुछ (यजुषा हविषा यज्ञैः जुहोति) यजु, हवि और यज्ञोंसे हवन करता है। (अस्य यत संविदाना निर्ऋतिः) इसका वह उद्देश्य जाननेवाली संहारशक्ति (सत्यात् पुरा मृत्युना आहुतिं हन्तु) यज्ञकी पूर्णता होनेके पूर्वही मृत्युसे उसकी आहुति नष्ट करे ॥ १ ॥

(यातुधानाः रक्षः निर्ऋतिः) यातना देनेवाले, राक्षस और विनाशशक्ति ये सब (आत् उ अस्य सत्यं अनृतेन घ्नन्तु) निश्चयपूर्वक इस दुष्टशत्रुके सत्यका भी अनृतसे घात करें। (इन्द्र-इषिताः देवाः) इन्द्रद्वारा

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव ।
आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥ ३ ॥

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्यम् । अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेवधिषं हविः ॥४॥

अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्यम् । अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेवधिषं हविः॥५॥

प्रेरित देव (अस्य आज्यं मथ्नन्तु) इस दुष्ट शत्रुके घृतको मथें। और (यत् असौ जुहोति तत् मा संपादि) जिस उद्देश्यसे यह हवन करता है वह सिद्ध न हो ॥ २ ॥

(अजिर-अधिराजौ संपातिनौ श्येनौ इव) शीघ्रगामी पक्षिराज बाज जैसे एक दूसरेपर आघात करते हैं,उस प्रकार (यः कः च नः अभि अघायति) जो कोई हमें पापसे कष्ट देता है उस (पृतन्यतः आज्यं हतां) सेनावाले शत्रुका घी नष्ट करें ॥ ३ ॥

(ते उभौ बाहू अपाञ्चौ) तुझ शत्रुके दोनों बाहू मैं पीछे मोडकर बान्धता हूं तथा (आस्यं अपि नह्यामि) तेरा मुह मैं बांध देता हूं। (अग्नेः देवस्य तेन मन्युना) अग्निदेवके उस क्रोधसे (ते हविः अवधिषं) तेरे हविका मैं नाश करता हूं ॥ ४ ॥

(ते बाहू अपि नह्यामि) तुझ शत्रुके दोनों बाहुओंको बांधता हूं (आस्यं अपि नह्यामि) मुखको भी बांधता हूं। (घोरस्य अग्नेः तेन मन्युना) भयानक अग्निके उस क्रोधसे (ते हविः अवधिषं) तेरे हविका मैं नाश करता हूं ॥५॥

जो शत्रु अपने (पृतन्यतः) सैन्यसे हमें सताता है, और (नः अघायति) हमें पापी युक्तियोंसे विविध कष्ट देता है, उस दुष्ट शत्रुके अन्य सब यज्ञादि प्रयत्नभी सफल न हों। ऐसे दुष्ट शत्रु जो भी सत्य कर्म करते हैं उसका उद्देश्य इतनाही होता है कि उससे उनकी शक्ति बढे और उस शक्तिका उपयोग हमें दबाने की युक्तियोंमें वे करें। दुष्ट लोग जो कुछ सत्कर्म करते हैं, वह सत्यके प्रेमसे नहीं करते, परंतु अपनी शक्ति बढानेके लिये करते हैं और वे मनमें यही इच्छा धारण करते हैं कि, इस शक्तिसे हम निर्बलोंको लूटेंगे और अपने भोग बढावेंगे। अतः इस सूक्तमें ऐसी प्रार्थना की है कि ऐसे दुष्टोंके सत्कर्मभी सफल नहों और उनकी शक्ति न बढे; दुष्टोंकी शक्ति घटनेसे जगत् में शान्ति रह सकती है।

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक-तत्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ११

अंक १२

क्रमांक १३२

मार्गशीर्ष

संवत् १९८७

डिसेंबर

सन १९३०

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष ११
अंक १२
क्रमांक १३२

मार्गशीर्ष
संवत् १९८७
दिसंबर
सन १९३०

वैदिक धर्म.

वैदिक-तत्त्वज्ञान-प्रचारक मासिक-पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि० सातारा)

वीरयुक्त धन।

ते नो रायो द्युमतो वाजवतो दातारो भूत नृवतः पुरुक्षोः।
दशस्यन्तो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता अप्या मृळता च देवाः॥२०॥

ऋ० ६।५०।११

" हे देवो ! (ते द्युमतः वाजवतः) वे तुम तेजस्वी, बलवान्, (नृवतः पुरुक्षोः रायः) वीरयुक्त और अन्नयुक्त धन (नः दातारः भवत) हमें देनेवाले बनो। और तुम (पार्थिवासः दिव्याः अप्याः च) पृथ्वी, द्युलोक और अन्तरिक्षमें निवास करते हुए (गोजाताः दशस्यन्तः मृळत) उत्तम वाणीके लिये प्रसिद्ध होकर सहाय्य करते हुए हमें सुखी करो।"

हमें धन चाहिये, परंतु उसके साथ तेजस्विता, बल, अन्न, वीरता और पुष्टि भी चाहिये। इसलिये जिस धन के साथ इन सब की प्राप्ति होगी, वह धन परमेश्वर हमें देवे, ऐसी उस ईश्वरकी हम प्रार्थना करते हैं। वे देव पृथ्वी,अन्तरिक्ष और द्युलोक में रहते हुए हमारी वाणीकी शुद्धि करें, और उक्त प्रकारका धन हमें देवें। हम सब मनुष्यों को चाहिये कि हम ऐसा करें कि जिससे उक्त शुभ गुण हममें बढें। यदि हम प्रयत्न करेंगे तो निःसन्देह हमें ईश्वर सहायता करेगा। क्यों कि प्रयत्नशील पुरुषोंको वह सहायता करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रथम अध्याय।

(पुरुषार्थबोधिनी भाषाटीकासमेत । मूल्य ॥) आठ आने. डा० व्य०=)

श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी भाषाटीका का प्रथम अध्याय छपकर तैयार हो चुका है। कई ग्राहकोंने पत्रद्वारा उसकी मांग की थी, अतः इसको पुस्तकाकार में तैयार करके विक्रयार्थ रखा है। जो इसको मंगवाना चाहते हैं शीघ्र मंगावें। जिनके पत्र आचुके थे उनके नामपर डाकद्वारा यह प्रथमाध्याय भेजा गया है।

वैदिक धर्मके इस अंकमें श्रीभगवद्गीता-पुरुषार्थ बोधिनी भाषाटीका का द्वितीय अध्याय प्रारंभ हुआ है। क्रमशः इसी प्रकार यह भाषाटीका छपती रहेगी और वैदिक धर्म में प्रकाशित होगी।

श्रीमद्भगवद्गीतापर अनुकूल और प्रतिकूल जो जो टीकाएं हिंदी भाषामें तथा अन्य भाषाओंमें प्रकाशित हो चुकी हैं तथा जो टीकात्मक लेख प्रकाशित हो चुके हैं, उनकी समालोचना इस लेखमाला में क्रमशः होती रहेगी।

हमारेपास इस समय तक बीसियों चिट्ठियां आगई हैं जिनमें पाठकोंने लिखा है कि वे इस टीका को बहुत पसंद करते हैं। इस प्रकारके पत्रोंसे यह टीका लिखनेमें हमारा उत्साह द्विगुणित हुआ है और आशा करते हैं की, इसी प्रकार आगे की टीका भी पाठकोंको पसंद होगी।

जो पाठक इस टीकाका मुद्रण शीघ्र होनेके इच्छुक है, वे 'वैदिक धर्म' मासिक की ग्राहकसंख्या बढाने में सहायता दें। यदि प्रत्येक ग्राहक अपने इष्टमित्रों में इस मासिक का परिचय करादेंगे, तो एक दो ग्राहक बढा देना उनके लिये कठिन नहीं है। आशा है कि पाठक इस प्रकार सहायता करेंगे।

अथर्ववेद भाष्य।

अथर्ववेद का सप्तम काण्ड करीब आधेसे अधिक हो चुका है. संभव है और दो चार अंकोंमें समाप्त हो जायगा। बहुत पाठक इसको शीघ्र समाप्त करने की वारंवार प्रेरणा कर रहे हैं। उनसे सविनय निवेदन है कि यह वेदविषय कठिन है और इस विषयमें अधिक शीघ्रता करना उचित नहीं है और शीघ्रता करना हमारी शक्तिसे बाहर भी है। जितना लिखना हो सकता है, उतना किया जाता है और उसमें कोई आलस्य नहीं होता है।

अनियम।

'वैदिक धर्म' तथा 'महाभारत' के प्रकाशन में थोडा अनियम हुआ है, परंतु उसमें हम पराधीन है। देश की इस समय की अस्थिर अवस्था ही उस अनियम के लिये कारण है। पहिली बात यह है कि धंदा बहुत कम हो गया है रुपयेमें चार आने भी नहीं रहा. सभी व्यवहार की यही अवस्था है। धार्मिक पुस्तकों का व्यवहार तो अन्य व्यवहारोंसे अधिक न्यून होना स्वाभाविक है। अतः पूर्वके समान कार्यकर्ताओंकी संख्या रखना यहां असंभव हुआ है। अतः ठीक समयपर मासिकों के कार्य नहीं होते हैं। जब बाहर की देश की अवस्था पूर्वके समान बनेगी तब पूर्ववत् सब प्रकाशन यथासमय होता रहेगा। अन्यान्य कठिनताएं भी हैं, परंतु उन सबको यहां लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। पाठक इससे समझेंगे।

महाभारतके ९१, ९२, ९३, ये तीन अंक तैयार हुए हैं और वे ग्राहकोंके पास भेजे गये हैं। आगेकी छपाई चल रही है।

मंत्री— स्वाध्यायमंडल.

वेदकी पहेली।

(१)

(ले०- श्री० पं० जयदेवशर्माजी विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ, अजमेर)

वेदके मंत्रोंमें संस्कृतकी जटिल भाषाका प्रयोग तो कहीं भी नहीं है। दो शब्दों के समास भी बहुत कम हैं तो भी वेदकी भाषा अपने भीतर छुपे भावों और पारिभाषिक प्रयोगोंसे इतनी गहरी है कि, उसका तुरन्त सरल, सीधा, सत्य तथा ज्ञानसे भरा अर्थ निकल आना बडा कठीन है। इसी रहस्यको न समझकर वेदके सम्बधमें नाना जमानोंके लोगोंके नाना प्रकारके विचार हैं। उन वेदमन्त्रोंके सरल सूधे प्रचलित संस्कृत के अनुसार अर्थ कर लेनेपर बृहस्पतिके अनुयायी चार्वाकोंने वेदके सम्बन्धमें स्पष्ट कह दिया कि,

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।

वेदके तीनही कर्ता हैं भण्ड,धूर्त और निशाचर। क्यों कि उन लोगोंने वेदके गहरे अर्थोंमें जानेका यत्न ही नहीं किया था। इसी प्रकार वर्तमानके योरोपके विद्वान् ग्रीफिथ, विटनी, मैक्समूलर आदिने भी वेदके प्रसिद्ध रूढ अर्थोंकोही लेनेका हठ किया है इसलिये वेभी वेदोंको सतत महत्व देनेको उत्सुक नहीं हैं। परन्तु प्राचीन विद्वान् यास्क तथा कुमारिल आदिने वेदके आख्यात अर्थात् धातुज अर्थ और नैरुक्तिक अर्थोंको लेनेका बडा आग्रह किया है। उनहीकी शैलीसे महर्षि दयानन्दने वेदके गहरे छिपे तत्वों को स्थान स्थान पर खोलकर वेदका अपूर्व महत्व दर्शाया है। कर्मकाण्डको तथा ऐतिह्यको मुख्य मानकर चलनेवाले विद्वान् सायण, महीधर और उव्वट आदि यद्यपि यास्काचार्य आदिको बडा पूजनीय मानते थे और स्थान स्थानपर उन्होंने भो बडा चमत्कारिक वेदज्ञान प्रकट किया है। परन्तु उनपर कर्मकाण्डकी जकड इतनी प्रबल थी कि वे उसको स्पष्टतया न तोड सके और सहस्रों स्थानों पर अपने अन्धविश्वासोंको ही वेदमेंसे खेंचने और ताननेका यत्न करने लगे। अधिकतः उन्होंने कर्मकाण्डके देववाद और यज्ञाग्नि और यज्ञोचित सामग्री परकही वेदार्थ करनेका यत्न किया है।

हमें उन सबसे इस स्थानपर कुछ नहीं लेना। हम अपनी इस लेखमालामें वेदमन्त्रोंको पहेली रूपमें प्रथम प्रस्तुत करेंगे। अर्थात् उसका जो लौकिक संस्कृतकी शैली अर्थात् रूढिके अनुसार जो अर्थ होता है उसको ही प्रथम करेंगे। वह अर्थ अवश्य कुछ हास्यजनक, कुछ मुर्खतापूर्ण, कुछ बेमतलब तथा कुछ समस्यापूर्ण होगा। इसी कारण हम उसको वेदकी पहेलीके नामसे पुकारेंगे। फिर उस पहेलीको सुलझानेका यत्न किया जायेगा। वेदमन्त्र के एक एक शब्दपर विचार किया जायेगा और जितने भी पक्ष ज्ञानप्रकाश के लिये उठाये जा सकेंगे उठाए जायेंगे। और इस प्रकार वेदकी सब समस्याओंको सुलझाकर रखनेका यत्न करेंगे।

हम इस कार्य में विद्वान् पाठकोंका सहयोग चाहते हैं।। हमारे लेखको पढकर जिन महानुभावोंको जो कुछ विशेष जिज्ञासा हो वह अवश्य विना संकोचके, किसी प्रकारकी अशिष्टताको विचार या कार्य में न लाकर केवल जिज्ञासा या अधिक कुछ चमत्कार बतलानेकी इच्छासे जो कुछभी अनुकूल या प्रतिकूल अपने विचार हों अवश्य लिखें। और वैदिकधर्मके संपादक महोदयके पास भेज दें। वे मेरे पास भेज देंगे और उनका यथोचित विचार करके पुनः संकलन और समाधान किया जाया करेगा।

अब हम अपने प्रस्तुत कार्यको आरंभ करते हैं।

वैदिक पहेली (१ म)

पितुः प्रत्नस्य जन्मना वदामसि
सोमस्य जिव्हा प्र जिगाति चक्षसा।
यदीमिन्द्रं शम्यृक्वाण आशता-
दिन्नामानि यज्ञियानि दधिरे॥
ऋ० अष्ट०१, अ०६, व०१३, मं०५॥
मं० १ सू० ८७ मं० ५

(१) (प्रतीयमान अर्थ) - (जन्मना प्रत्नस्य पितुः वदामसि) जन्मसे पुराने पिता का हम कहते हैं (सोमस्य जिह्वा चक्षसा प्रजिगाति) सोमकी जीभ आंख द्वारा कहती है। (शमि यत् ईम् इन्द्रं ऋक्वाणः आशत) जब इस इन्द्रको कर्ममें ऋचावाले खा जाते हैं (आत् इत् यज्ञियानि नामानि दधिरे) तभी वे यज्ञके नामों को धारण कर लेते हैं। इसमें हास्यजनक यही अर्थ है—(१) सोमकी जीभ आंखसे बोले (२) क्या कभी आंख बोलती है। इन्द्र वृषभ को कहते हैं। फलतः ऋचावाले विद्वान् बैलको खाकर यज्ञयोग्य नामको धरते हैं। यह अर्थ घोर पामरताका निकल आता है। चार्वाक नास्तिक लोगोंने ऐसेही नासमझीके अर्थोंको करके वेदका परित्याग कर दिया। यह मन्त्रका अविद्यापरक अर्थ है। इस मन्त्रमें पुराना पिता कौन है? सोमकी जीभ क्या है? वह आंखसे या आंखद्वारा क्या कहती है ? भला आंखसे भी कुछ कहा जाता है? कर्म या यज्ञकर्ममें ऋचावाले स्तोता लोग इन्द्रको खा जावें, तब यज्ञयोग्य नाम पावें यह कैसी बात है। इसका क्या अभिप्राय है? 'यज्ञिक' नामका क्या तात्पर्य है? वे इन्द्रको कैसे खा जावें। ये सभी रहस्य ही रहस्य भरे हैं। और सुसंगत अर्थ रूढ शब्दार्थोंसे प्राप्त नहीं होता अतः अब और गहरे जाना चाहिये। और देखना चाहिये कि विद्वानोंने इस पहेली को किस प्रकार सुलझानेका यत्न किया है। और वे कहांतक सफल हुए हैं। प्रथम हम सायण आचार्यको ही लेते हैं।

(२) श्री सायण के मतसे यह मन्त्र रहूगणके पुत्र गोतम ऋषिका दृष्ट है। अतः ऋषि कहता है कि-हमारे पुराने पिता रहूगणके पाससे हमारा जन्म हुआ, अर्थात् हमारे पिताने हमें उपदेश किया। इस लिये हम अगला वृत्तान्त कहते हैं अर्थात्- (सोमस्य) सोम द्रव्य की (चक्षसा) प्रकाशमान आहुतिके सहित (जिह्वा प्र जिगाति) जिह्वा अर्थात् स्तुतिरूप वाणी मरुद्गणको प्राप्त होती है। अर्थात् यज्ञोंमें सोमकी आहुति और मरुत् देवोंकी स्तुति की जाती है (यत्) जिससे (ईम् इन्द्रं) इस इन्द्रको (शमि) वृत्रवध आदिके कर्म में (ऋक्वाणः) 'प्रहर भगवः, जहि, वीरयस्व' इत्यादिरूप स्तुतिसे युक्त होकर प्राप्त होते हैं, अर्थात् वे उसको नहीं छोडते। (आत् इत्) इन्द्र को प्राप्त होते ही वे (यज्ञियानि) यज्ञके योग्य ईदृक्, अन्यादृक् आदि नामोंको इन्द्रसे प्राप्त करके धारण करते हैं।

आचार्य सायणका अभिप्राय पढकर शब्दार्थ और योजना स्पष्ट हो जाती है। परन्तु कुछ औरभी बातें जटिल रूपसे आखडी होती हैं। जैसे कि मरुद्गण कोई देव हैं इन्द्रभी देव है। सोमाहुति होनेपर मरुत् देवोंकी स्तुति होती है। स्तुतिकर्ता लोग ' भगवान् प्रहार करो, मारो, वीरता दिखाओ' इस प्रकार इन्द्रकी स्तुति करते हैं और मरुद्गण ईदृक्, अन्यादृक् आदि नामोंको धारते हैं। पर यह क्या बात हुई? इसका कुछभी स्पष्टीकरण नहीं होता। यज्ञ में मरुद्गण को सोमाहुति कैसे प्राप्त होती है। 'चक्षसा' का अर्थ प्रकाशमान आहुति यह यज्ञपरक खेंचा हुआ अर्थ प्रतीत होता है। सोम शब्द केवल सोमरसमें रूढ है। वह स्तुतिको कैसे प्राप्त करता है। ' शमिसे ' वृत्र आदिका वध लेनेमें भव यज्ञमें कोई इस प्रकार के वृत्रादि वधका प्रसंग नहीं दीखता। इत्यादि।

(३) महर्षि दयानन्दने ऐश्वर्यवान् होनेसे 'इन्द्र' शब्दसे अग्नि, बिजुलीका ग्रहण किया है। (ऋक्वाणः) उत्तम स्तुतिकर्ता हम लोग (प्रत्नस्य पितुः) पुरातन अनादि परमेश्वर की व्यवस्थासे कर्मानुसार प्राप्त मनुष्यादि देहधारण रूप (जन्मना) जन्म लेकर (सोमस्य चक्षसा) उत्पन्न संसार के दर्शनसे (यज्ञियानि नामानि वदामसि) शिल्प आदि यज्ञ योग्य (नामानि) जलोंको हम उपदेश करें (यत् ईम् इन्द्रं जिव्हा प्रजिगाति) जिस अग्नि बिजुलीको जिह्वा प्रशंसा करती है। उन नामोंको तुम (आशत) प्राप्त करो और (दधिरे) धारण करो। उनका सरल अभिप्राय यह है कि मनुष्य जन्म प्राप्त करके संसारके पदार्थोंका विज्ञान प्राप्त करें अग्नि बिजुलीका ज्ञान प्राप्त करें। शिल्पोपयोगी जलोंका अन्योंको उपदेश करें।

(४) जरा और गहरी दृष्टिसे इस मन्त्रके अन्य पक्षोंपर भी विचार करना उचित है। क्यों कि वैदिक सत्य सार्वत्रिक और सार्वकालिक है। शब्दों के प्रयोगोंपर भी कुछ विशेष विचार करना आवश्यक है।

(१) (जन्मना) आर्य दार्शनिकोंने औत्पत्तिक शब्दको नित्यके अर्थोंमें प्रयोग किया है। नित्य अर्थात् सहज, स्वाभाविक; 'प्रत्न पिता' पुरातन पुराण पुरुष, पालक परमेश्वर ही निःसंदेह है। तब योजना इस प्रकार है। (प्रत्नस्य पितुः जन्मना वदामसि) हम अनादिसिद्ध परमेश्वरकी स्वभावतः स्तुति करें। वह हमारा पिता है हम उसके पुत्र हैं। हमारा उसका औत्पत्तिक संबंध है। जैसे पुत्र पिता का भक्त और उसके गुणोंका स्मरण करता है उसी प्रकार हमभी उस अनादिसिद्ध, सबके पालक परमेश्वर पिताकी इसलिये स्तुति करें क्यों कि हमें उसीने जन्म दिया। हमें उसीने प्रकट किया है।

अब प्रश्न यह है कि हम तो उत्पन्न होतेही पशु या कीटके समान ज्ञानरहित हैं, तो उसकी स्तुति कैसे करें? हममें स्तुति करनेकी योग्यता कहांसे आयी? उसका वेद स्वयं उत्तर देता है कि- (सोमस्य चक्षसा जिह्वा प्रजिगाति) परमेश्वर सबका उत्पादक होनेसे सोम सबका प्रेरक है। उसके (चक्षसा) साक्षात् दर्शन या उत्तम उपदेशसे ज्ञानवाली होकर (जिह्वा) वाणी (प्र जिगाति) उत्तमसे उत्तम वचन बोलती है।

उत्पन्न हुआ संसार भी "सोम" है उसके (चक्षसा) दर्शन करके वाणी उसके ज्ञानका कथन करती है।

(५) मन और इन्द्रियोंको प्रेरनेवाला आत्मा सोम है। उसके (चक्षसा) दर्शनद्वारा (जिह्वा) वाणी उत्तम ज्ञान कहती है। अर्थात् आत्मा जिस पदार्थको साक्षात्कर लेता है उसीको वह वाणीद्वारा कहती है। पांचों ज्ञानेन्द्रिय ७ छिद्रोंमें सात ऋषिरूपसे विराजते हैं वे बाह्यविषयोंका दर्शन करनेसे ऋषि हैं। आठवीं वाणी उनके ज्ञानका प्रवचन करती है। 'तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना।' (बृहदारण्यक उप० २।२।३)

वाणी न केवल बाह्य संसारको देखकर उसका वर्णन करती है प्रत्युत भीतरी आत्माके विषयक सुख दुःखों तथा अन्यान्य आत्मिक भावसंवेदनाओंका भी वर्णन करती है। आभ्यन्तर परम सुख का साक्षात्कार होनेपर तो जिव्हा कभी रुक ही नहीं सकती। यह जीवमात्रका स्वभाव है कि किसी भी वेदना की तीव्रता होजानेपर वह वाणी के मार्ग से बाहर हो जाती है। दुःखकी तीव्रतामें आहें और चीखें निकलती हैं, सुखकी तीव्रतामें स्तुति और साधुवाद बाहर आते हैं, प्रेमकी तीव्रतामें कूजन होता है, क्रोधकी तीव्रतामें कठोर शब्द बाहर आते हैं। विस्मयकी तीव्रतामें अट्टहास होता है। फलतः सभी संवेदन वाणीद्वारा आपसे आप बाहर होते हैं। इन सबको प्रेरणा करनेवाला 'सोम' आत्मा है। उसमें नवोंके नवों रस एकाकार होकर परम रस रूपमें विराजते हैं वह स्वतः आत्मा है। उन नवों रसोंके स्थायी भाव एक सत्ता होकर परम भावरूप आत्मामें लीन रहते हैं। वह सबका प्रेरक होनेसे और परम आनन्दजनक होनेसे 'सोम' है। उसके साक्षात्कार होनेपर परम रस परम आनन्दकी प्रतीति होती है। वह परम हर्षोत्पादक होनेसे मधु, मद, मत्सर, सोम, इन्द्र आदि नामसे कहा जाता है। इसीलिये वेद कहता है उस (सोमस्य) परम रस स्वरूप हर्षकारी आनन्दघन के (चक्षसा) साक्षात्कार होनेसे (जिह्वा) यह वाणी (प्रजिगाति) अच्छी प्रकार खूब गान करती है। उसके रसमें उन्मत्त होकर हृदयसे कविताएं और वाग्विलास उमडा करते हैं। साधककी इसी दशाका वर्णन श्रीदुर्वासाने किया है।

विद्याः सर्वाः कलयति हृदा व्याकरोति प्रवाचा।
लोकाश्चर्यैर्नवनवपदैरिन्दुबिम्बप्रकाशैः॥

इस दशाको भक्तोंने ' भक्तिका उद्रेक ' कहा है। शाक्तोंने इस दशाको मद्यपान से तुलना की है, उपनिषदों में यही सर्वाप्तकामता कही है, योगमें यह समाधिदशा है, गीतामें यह परावरका दर्शन है। कबीरादिने इसे सुरत, नाद आदि नामसे कहा। अस्तु।

(६) अगले मंत्रार्ध में आत्माके नाना नामोंके होनेका कारण बतलाते हैं- (यत् ईम् इन्द्रं) जब इस इन्द्र आत्माको (शमि) क्रिया कालमें (ऋक्वाणः) स्तुतिकर्ता जन (आशत) प्राप्त करते हैं (आत् इत् यज्ञियानि नामानि दधिरे) तब उस आत्माके 'यज्ञिय' नामों को धारण करते हैं।

अपनी शक्ति दूसरेको देना 'यज्ञ' कहाता है। आत्मा जब अपनी शक्ति प्राणोंमें प्रदान करता है तब वह प्राण अपना काम करते हैं। आंख देखती है, नाक सूंघती है,कान सुनता है,त्वचा छूती है, रसना रस लेती है। कार्य व्यवहारों को करता हुआ वह आत्मा कार्यकालमें यज्ञिय नामोंको धरता है अर्थात् वह जिस प्राणको अपनी शक्ति देता है विद्वान् लोग उसीके नामसे आत्माको पुकारते हैं। अर्थात् वे उस के कर्मानसार नाना नाम धर देते हैं। जैसे- छांदोग्य उपनिषत्में लिखा है—

स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः। अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्। अथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्मा अभिव्याहाराय वाग्। अथ यो वेद इदं शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्। अथ यो वेद इदं मन्वानीति स आत्मा मनः। इत्यादि (छान्दोग्य उपनि० प्र० ८ अ० १२।४।५) स हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। (प्रश्न उप० प्र०४।८)

अर्थात् वह चक्षुका स्वामी शक्तिरूप आत्मा देखने के लिये चक्षु, सूंघने के लिये घ्राण, वचन कहनेके लिये वाग्, सुननेके लिये श्रोत्र, मनन करनेके लिये मन हो जाता है। यही उस आत्माके यज्ञिय नाम हैं। जिस जिस अंगमें आत्माने अपनी शक्ति प्रदान की वही अंगवाचक नाम उस आत्माका भी रख दिया जाता है। इस संबंधमें बहुतसे उपनिषद्वाक्य उठाकर रखे जासकते हैं। परंतु पाठकगण इतनेसे ही समझ गये हैं। अतः इतनेपर ही बस करके अब इस मन्त्रके एक और पहलूपर विचार करते हैं।

(७) वेदमें (ऋक्वाणः) यह स्तुतिकर्ता जन कौन हैं। स्तुतिकर्ता जन विद्वान् पुरुष हैं। ठीक है, परंतु उनको आत्माकी स्तुतिसे क्या प्रयोजन? हमारी संमतिसे 'ऋक्वाणः' यह भी प्राणगणका वाचक है। अर्थात् प्राणगण आत्माकी शक्तिको प्राप्त करलेनेसे उस आत्माकी स्तुति करते हैं। वे उसकी ऋक् अर्थात् शक्तिका प्रवचन करते हैं। उसी शक्तिकी व्याख्या करते हैं। इन्द्रियगण इन्द्र आत्माकी शक्तिको ही दिखलाते और बतलाते हैं। फलतः ये इन्द्रियगण ही वाणीके साथ ऋषिरूप होकर विराजते हैं। वही ऋक्वा हैं। वे जब उस आत्माको (आशत) प्राप्त करते हैं,उसकी शक्तिका भोग करते है,तो वे अपनेमें दिये 'यज्ञ' अर्थात् आत्माके बलानुरूप ही नाम आत्माको समर्पित करते हैं। आंख आत्मासे दर्शन शक्ति को ग्रहण करती है,दर्शनशक्तिसे ही आत्मा 'चक्षु'कहाता है, इसी प्रकार घ्राण,रसना आदि भी पूर्वोक्त रीतिसे आत्माके कर्मानुसार नाम हैं।

आत्मा अनादि नित्य है। उसके नित्य स्वभाव होनेसे ही उस पुराण पुरुष आत्माके गुणोंका हम प्राणगण वर्णन करते हैं। उस आत्माके दर्शनसे ही जिह्वा उत्तम कहती है। ये प्राणगण ही उसकी अर्चना करते हुए कर्मकाल या संवेदनामें उस आत्माकी शक्ति का भोग करते हैं और आत्माकी दी हुई दर्शनादि शक्तिके अनुसारही आत्माके नाना नाम धरते हैं। यह इस मंत्रका आध्यात्मिक अर्थ हुआ।

(८) अब राष्ट्रमें सबसे प्रत्न (प्रमुख) पालक राजा है। वही सबका प्रेरक होनेसे सोम है उसके दर्शन या कथन या आज्ञा द्वारा ही जिह्वा वाणी, प्रमुख ब्राह्मण वर्ग उत्तम उत्तम ज्ञानोंका उपदेश करता है। (ऋक्वाणः) ऋच् अर्थात् ज्ञानमन्त्रों या व्यवस्था वाणियोंके स्वामी विद्वान् जन कार्यकालमें राजाकी शक्ति को प्राप्त करते हैं, वे उसके दिये अधिकारको भोगते हैं और उसके दिये अधिकारोंके अनुसारही नाना जज् आदि शासकोंके नाम धारण करते हैं। वे सब अधीनस्थ पुरुष भी (जन्मना) स्वभावतः उस मुख्य पुरुष के ही सामर्थ्यका वर्णन करते हैं।

जहां जहां भी उपजीव्य उपजीवक भावसे वस्तुस्थिति होती वहां ही यह वेदमन्त्र अपना सत्य तत्व वर्णन कर देगा।

(९) सेनापति पक्षमें- प्रेरक होनेसे सेनापति सोम है। वह सब संकटोंको देखकर तब वाणी द्वारा आज्ञा देता है। शत्रु हन्ता होनेसे 'इन्द्र' है। शक्तिमान् आज्ञापालक होनेसे, वाणीके स्वीकर्ता होनेसे अधीन सैनिक 'ऋक्वा' हैं। वे उसके बलका भोग करते हैं। नाना 'संघों,' 'यज्ञों' के अनुसार शतपति दशपति आदि नामों को धारण करते हैं।

सायणने जिन मरुद्गण का वर्णन किया है वे वस्तुतः मारणशील होनेसे और वायुके समान तीव्र प्रचण्ड वेगसे शत्रुरूप वृक्षोंको तोड फोड डालनेसे 'मरुत्' हैं। उनका पति सूर्य के समान तेजस्वी होनेसे इन्द्र, आज्ञापक होनेसे सोम है। प्रेरक सूर्य (चक्षसा) प्रकाशसे जिस प्रकार (जिह्वा) मध्यस्थाना वाग् मेघगर्जना विद्युत् घोर गर्जन करती है उसी प्रकार सेनापतिके दर्शनादिसे आज्ञारूप वाणी या प्रमुख दूत जन उत्तम वचन कहते हैं। अथवा (जिह्वा) आहुति देनेवाली शस्त्रास्त्रोंकी ज्वाला घोर गर्जना करती है। (शमि) शत्रुओंके शमन करनेके युद्धादि कार्यमें उसकी बहादुरीकी दाद देनेवाले या उत्तम मन्त्रणा देनेवाले सेनापति को उसको और अधिक उत्तेजित करते हैं कि मार, काट, वीर हो इत्यादि। और उसके वीरताके द्योतक नाना जंगबहादुर आदि प्रदान करते हैं।

इस प्रकार वेदमंत्रकी समस्याका स्पष्टीकरण हो जाता है। और पहेली भी सुलझ जाती है। और पहले लिखे असंगत अर्थोंका निराकरण होजाता है

एक विचार्य वेदमन्त्र।

(ले० श्री० अ० शं० कोल्हटकर, मेढा)

मुग्धा देवा उत शुनाऽयजन्त
उत गोरंगैः पुरुधाऽयजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत
प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥

अथर्व ७।५।५

इस मन्त्रके प[illegible]का उत्तानार्थ यही जान पडता है कि 'मूढ [illegible]वोंने कुत्तेसे तथा गौके अंगोंसे बहु[illegible]जन किया।' अहिंसाको परमधर्म म[illegible] वेदानुयायी सज्जनोंके अंगप्रत्यंग इस पूर्व अ[illegible]ते ही सहरायेंगे। क्या वेदकालीन देव [illegible]न्तःकरण[illegible] हो जाते थे कि वे हुताशनमें अपवित्र [illegible]त्पन्न [illegible] तथा पवित्र और अवध्य गौकी आहुति से[illegible] करते थे? और यदि हां तो उनको 'देव' कहनेकी अपेक्षा दुष्ट दानव क्यों न कहें?

मेरी रायमें इस मन्त्रार्धके अर्थपर बहुत विचार होना चाहिये। मेरी अल्प बुद्धिसे मैंभी प्रयत्न करता हूं।

इस सूक्तका ऋषि अथर्वा और देवता आत्मा है। अतः 'देव' 'यज्ञ' आदि शब्दोंका आध्यात्मिक अर्थ लेना उचित है। देव शब्दका 'इन्द्रिय' अर्थ प्रसिद्धही है। और यज्ञ शब्दका अर्थ- (१) परमात्मा (२) जीवात्मा (३) सत्कार+दान+संगतिकरण संदर्भानुसार होगा। इन अर्थोंको लेकर मन्त्र के पूर्वार्ध और उत्तरार्धमें संगतिभी होनी चाहिये। देखियेः-

" (देवाः) इन्द्रियां (मुग्धाः) मूढ होगई। उन्होंने परमात्माका प्रतिनिधी जो जीवात्मा उसको अनासक्त भावसे विषयोंका स्वयं ग्रहण कर दान करना और इस प्रकार उसका विषयोंसे संगतिकरण कर उसका सत्कार करना छोड दिया और स्वयं एक कुत्तेकी (शुना) तरह लंपट होकर अथवा एक निर्बुद्ध (गोः अंगैः) वृषभ के अवयव होनेके समान वह विषयोंका उपभोग करने लगा।" आत्मज्ञानकी प्राप्ति करनेका इच्छुक कोई एक साधक इस प्रकार अपनी इन्द्रियाधीनतापर पछताकर आगे कहता है। " (यः) जिस महापुरुषने आत्माको (मनसा) हृदयसे (चिकेत) जान लिया है वही हमें उसका (ब्रवः)उपदेश करे,जिससे मैं भी इन्द्रियोंको अधीन रखता हुवा सच्चा यज्ञ करके आत्मप्राप्तीको योग्य हो जाऊं।"

Damage Page

सूर्योपासना ।

(ले० म० राधाकृष्णजी पेशकार, मुरादाबाद)

पाठकगण ! परमात्मा अङ्गी और सूर्य उसका अङ्ग है इस सम्बन्धसे वेदने सूर्यनारायण को चेतन बनाकर इनकी प्रार्थना व उपासना बताई है। इस सिद्धान्त को विस्तार के साथ हम आपके सम्मुख आगे रखेंगे । इससे पहले हम यह दिखाते हैं कि " सूर्याचन्द्रमसौ धाता " इत्यादि मन्त्रों में सूर्यको चन्द्र, पृथिवी, द्यु और अन्तरिक्षादिके साथ देखकर सूर्यको जड कहने का सिद्धांत मान लेना बडी भूल है । दूसरे वेदमन्त्रोंसे सङ्गति न मिला कर किसी एक दो मन्त्रोंसे कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं कर लेना चाहिये । इस मन्त्रके विचारके साथ साथ आपको यह स्पष्टतया विदित होगा कि सूर्य की चेतनताके सिद्धान्त का क्या स्वरूप है ।

अब मैं ' सूर्याचन्द्रमसौ धाता ' मन्त्रका विचार पाठकों के आगे रखता हूं। [इससे पहले यह सूचना देनी आवश्यक है कि सितम्बरके वैदिकधर्ममें स्वा० विवेकानन्द के स्थानपर स्वा० विशुद्धानन्द, यजु० ४०।११ के स्थानपर ४०।१७का भावार्थ और परमात्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं किन्तु इन्द्रियाग्राह्य है और बरा यरास्त की जगह बराह रास्त ऐसा है ।]

पाठको ! 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ' अर्थात् धाता ने सूर्य और चन्द्र को पूर्व जैसा (अकल्पयत् क्लृप् ' सामर्थ्ये ') समर्थ किया; इसका मिलान मेरे सिद्धान्त से कीजिये ।

मैं यह तो मानताही नहीं कि सूर्यमण्डल सर्वदा अर्थात् प्रलयकाल में भी अपने इस मण्डलस्वरूप में वर्तमान रहता है अतःमुझे इस माननेसे कब अस्वीकृति है कि सूर्यमण्डल का प्रादुर्भाव प्रलयान्त में हुआ करता है । पाठकों को यह ज्ञात है कि मैं सूर्यनारायण अङ्ग की जान परमात्मा अङ्गी है इस लिये सूर्यनारायण ब्रह्मा विष्णु महेश हैं ऐसा वेदका सिद्धान्त मानता हूं यहां फिर यह जताना आवश्यक समझता हूं कि सृष्टि के अन्त में सूर्य की ज्योतिका यह मण्डल नहीं रहता । मुझे वेदका यह कथन अक्षरशः शिरोधार्य है और पृथिव्यादि का धारणादि कार्य जो मण्डलरूपमें एकत्रित ज्योति से हो सकता है वह विना मण्डलरूप में स्थित ज्योति से नहीं हो सकता, अर्थात् वह उस काम के करने में समर्थ नहीं है इसलिये प्रलयान्त में परमात्माने सृष्टि का कार्य चलाने के लिये सूर्य को पूर्व जैसा समर्थ किया अर्थात् धारणादि कार्यों में समर्थ सूर्यमण्डल का जनन किया 'जनी प्रादुर्भावे' ऐसा धात्वर्थ होने से इस सूर्यमण्डल का प्रादुर्भाव किया,या 'कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः' ऋ० १०।१२८।६ अर्थात् कहां से आ+जाता=अच्छे प्रकार प्रादुर्भूत हुई कहां से यह वि+सृष्टिः=विशेष सर्जन हुआ; इस वैदिक प्रयोगसे परमात्मा ने सूर्यमण्डल का सर्जन किया इस कथन में मुझे कोई आपत्ति नहीं, इसको चाहे लोग सूर्यमण्डल का बनना कहें, उत्पन्न होना क[illegible] रचा जाना कहें, कुछ भी कहें, दिखाना यह है कि [illegible] की पृथिवीमण्डल की भांति जड मान लेने का सि[illegible]त वैदिक नहीं है,क्योंकि उसमें पृथिवी की भांति [illegible]वाण पानी वनस्पति पशु पक्षी और मनुष्य इत्य[illegible]का उपदेश [illegible] । और लोगों का यह कहना भूल है [illegible]नमन्त्रों या में ४० हजार मील का गड्ढा पडगय[illegible]र्यकालमें कहना ठीक है कि जैसे सूर्यपण्डल [illegible]के दिये लोक टिके हैं एसे ही दूसरे भूमण्डल आदि[illegible] आकर्षण से सूर्य टिका है ।

वेद के कहे हुए सूर्यजनन और सृष्टि जननादि का वह आशय कभी नहीं है जो कि मुसल्मान और ईसाइयों के यहां सूरज पैदा होने या दुनिया पैदा होनेका है, क्यों कि वे तो सिवाय खुदा के दूसरी हस्ती (अस्तित्व) ही नहीं मानते उनकी निगाह में सूरज पैदा होने का यह मंशा है कि वह जिस

का मन. है उस का पुञ्ज सूर्य
अङ्ग होने से चेतन है इसीलिये
स्कार कराये हैं और इनसे प्रार्थना

इन्हीं सूर्यनारायण के पहले प्र
अर्थात् बिजुली से बिजुली का मण्ड
यह वेदमन्त्र सूचित कर रहा है—
मनत्युद्यं जना विदुः। स्कम्भस्तदग्रे
लोके अन्तरा ॥ अ० १०।७।२८ अ
ण्यगर्भ सूर्यनारायण को सर्वोत्कृष्ट
जानते हैं। उस हिरण्य=ज्योति को (
गर्भ है जिससे सूर्यमण्डल प्रकट हो
में (भविष्य में बनाये जाने वाले)
स्कम्भ प्रसिञ्चन करता है अर्थात्
संकल्प से बिजुली को उसी
सृष्टि में सूर्यमण्डल स्थित था इ
रूप देदेता है।

मनु महाराजने सबसे पहिले
प्रादुर्भावको १।५ में प्रलय को तमोभूत
१।६ में प्रादुरासीत् तमोनुदः कह क
है क्योंकि तमोनुदः नाम सूर्यना
ही है और प्रलय के उस अ
ढपी हुई थी यही सू
लिये इन का मण्ड
का प्रारम्भ होत
हम पृ
य

अनार्य
थ द्विती
सांख
शाविष्टमश्रुपूर्ण
वाक्यमुवाच
मलमिदं विष
स्वर्ग्यमकीर्ति
या आविष्ट अश्रुपू
अनार्यजुष्टं अस्व

कृपासे
(श्रीकृष्ण
र्जुन ! (अन
नहीं करते,
होती है, ऐसी
हांसे प्राप्त होगई ॥ २ ॥

अध्याय दूसरा।

सांख्ययोग।

पूर्व अध्यायमें वर्णन हुई रीतिसे अर्जुनके अन्तःकरणमें कौरवोंके विषयमें अत्यंत दया उत्पन्न होगई और उस कारण वह अपने कर्तव्य से पराङ्मुख हुआ। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण उसको स्वकर्तव्य करनेका उपदेश करते

समय भजन कीर्तन में साथ बैठते है
घर में तो परमात्माकी बहुत कृपा है
सुखी हूं। मुझे तो अपना गृहस्थ ही
आप समझे होंगे कि जो अवस्था
थी वही उन साधारण मनुष्यों की है
भगवत्भक्तों के सत्संग का सौभा
हुआ। वे यह नहीं जानते कि परम
अपने अस्तित्व में विश्वास रखने औ
को अनुभव करते हुए कर्तव्य पालन
प्रकार का सुख प्राप्त होता है और दुः
हैं। इस प्रकार के जीवन से तो मृत्यु
है। बुढापे तक अतुल शक्ति बनी रह
तेज कभी मन्द नहीं पडता। सब दु
कारण होते हैं और मोह और आल
परिणामभूत अवस्था है। जब स
व्यवहार द्वारा जीवन पवित्र होता है
उपासना से अवश्य अंधेरा दूर होता
वान की ज्योति के अन्दर प्रकाशित
नष्ट हो जाता है। दुःख परमात्मा से वि
में रहने की ही अवस्था का नाम है।
परमात्मा सुखरूप हैं। उन में ह
से उन का सहवास प्राप्त ह
सुख की प्राप्ति होती है
से और उनके अ
नित न रमंग
है। आ
सु
श्र
उन
बढ़

किसे थ द्वित

सांख्

ाविष्टमश्रुपूण
वाक्यमुवाच

मलमिदं विष
स्वर्ग्यमकीर्तिक

या आविष्टं अश्रुपू
अनार्यजुष्टं अस्व

कृपासे व्य
(श्रीकृष्ण
र्जुन! (अन
नहीं करते,
होती है, ऐसी
से प्राप्त होगई ॥ २ ॥

अध्याय दूसरा।

सांख्ययोग।

पूर्व अध्यायमें वर्णन हुई रीतिसे अर्जुनके अन्तःकरणमें कौरवोंके विषयमें अत्यंत दया उत्पन्न होगई और उस कारण वह अपने कर्तव्य से पराङ्मुख हुआ। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण उसको स्वकर्तव्य करनेका उपदेश करते

ुराद्
कि स
नहीं
शिर
काय
कता
ाति
के कर
रमात्मा
वं जैसा
समर्थ स
ऐसा धा
किया, य
२८।६
दुर्भूत
था; इस
ा सर्जन
नहीं, इसक
ं, उत्पन्न होना क
दिखाना यह है कि
जड मान लेने का लि
उसमें पृथिवी की भांति
पशु पक्षी और मनुष्य इत्
ों का यह कहना भूल है
ार मील का गड्ढा पडगय
ीक है कि जैसे सूर्यमण्डल
के हैं एसे ही दूसरे भूमण्डल
से सूर्य टिका है ।

ब में दिखाई देती थी ।
ों के लोगों में भी दो दो सौ वर्ष
ोग रहे हैं । तब यदि यह अनुमान
नुष्य की आयु २०० वर्ष की है, तो
होगी । और जो लोग इतनी उमर
इस लोक से चल बसते हैं उनकी
विक एवं अकाल मृत्यु में करनी

ट पीटर्सबर्ग) के लीस्टोक नामक
सन १८९५ ई. के अक्टूबर ता. ३
किसान का हाल छपा है । ऐवा·
। एक किसान था । वह १३८ वर्ष
ओ अस्पताल में बीमार होकर
म सन १७५७ में हुआ था । ८५
कर वह साइबेरिया में भेजा गया॥
ाने पर वह स्वतंत्र रीतिसे रहने
ा नामक सोने की खदान में काम
। अकस्मात् उसके पैर का अंगूठा
वह पुनः अपनी मातृभूमि, मास्को
ाया । परन्तु उसके संबंधियों में
नहीं था । अतएव वह मास्कोमें
तंतर वह सेंट पीटर्स·
किराए के मकान
किया था ।
नेप्रे की
का उपदेश
ानमन्त्रों या
ार्यकालमें
हुके दिये
आदि·

अथ द्वितीयोऽध्यायः।

सांख्ययोगः।

संजय उवाच— तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

(१) अनार्य कर्मका निषेध।

श्रीभगवानुवाच— कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

अन्वयः– संजयः उवाच– तथा कृपया आविष्टं अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं विषीदन्तं तं मधुसूदनः इदं वाक्यं उवाच ॥ १ ॥ श्रीभगवान् उवाच— हे अर्जुन! अनार्यजुष्टं अस्वर्ग्यं अकीर्तिकरं इदं कश्मलं, विषमे त्वा कुतः समुपस्थितम्? ॥ २ ॥

संजय बोले— इस प्रकार कृपासे व्याप्त और अश्रुपूर्ण नेत्रोंवाले खिन्नहृदय उस (अर्जुन) को मधुसूदन (श्रीकृष्ण) ने ये वचन कहे ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन! (अनार्यही जिसका आचरण करते हैं, किंवा) आर्य जैसा कभी आचरण नहीं करते, जिससे स्वर्गप्राप्तिमें बाधा हो सकती है और जिससे दुष्कीर्ति होती है, ऐसी यह मनकी उदासीनता, इस प्रतिकूल समयमें तुझे कहांसे प्राप्त होगई ॥ २ ॥

अध्याय दूसरा।

सांख्ययोग।

पूर्व अध्यायमें वर्णन हुई रीतिसे अर्जुनके अन्तःकरणमें कौरवोंके विषयमें अत्यंत दया उत्पन्न होगई और उस कारण वह अपने कर्तव्य से पराङ्मुख हुआ। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण उसको स्वकर्तव्य करनेका उपदेश करते हैं, यह प्रसंग संजयके मुखसे इस प्रकार धृतराष्ट्रने सुना–

(१) "हे धृतराष्ट्र! अर्जुनके अन्तःकरणमें कौरवोंके विषयमें अत्यंत दयाका भाव उत्पन्न हुआ, क्योंकि उसको इस बातका निश्चय ही था, कि यदि मैं युद्ध करनेके लिये धनुष्यबाण लेकर खडा हुआ, तो इनमेंसे कोई नहीं बचेगा। सबके सब निश्चयपूर्वक मर जांयगे। इस आत्मविश्वास के कारण उन सबकी मृत्युका भयानक चित्र उसके आंखोंके सन्मुख खडा हुआ और उसको देखकर अर्जुनके आंख आंसुओंसे भर गये, हृदय गद्गद होगया, अन्तःकरण दयासे भरा और मन अत्यन्त खिन्न दुःखी और शोकपूर्ण हुआ, और इस कारण युद्ध न करनेका निश्चय उसने किया। युद्ध करनेके निश्चयसे उसको बडा पश्चात्ताप हुआ और उस कारण वह अपने युद्धके निश्चय-की ही निंदा करने लगा!"

जब यह अर्जुनकी अवस्था भगवान् श्रीकृष्ण-ने देखी, तब वह आश्चर्यसे चकित होगये, और वे उसे इस प्रकार बोधवचन कहने लगे—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! क्लैब्यं मा स्म गमः । त्वयि एतत् न उपपद्यते । हे परंतप ! इदं क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ ॥ ३ ॥

हे पृथाके पुत्र ! तू नपुंसक मत बन । तेरे लिये यह योग्य नहीं है । हे शत्रुओंको ताप देनेवाले ! अन्तःकरणकी इस क्षुद्र दुर्बलताको छोडकर (युद्ध के लिये) खडा हो ॥ ३ ॥

भावार्थ— हीन अथवा अवनत हुए मनुष्योंके समान आचरण करना, किसीकोभी योग्य नहीं है; श्रेष्ठ सज्जन जो कार्य कभी नहीं करते वैसा कार्य भी कोई न करे । जिससे उच्च लोकोंकी प्राप्तिमें बाधा हो और जिससे अपना यश कलंकित हो वैसा करनाभी किसीको योग्य नहीं है । हरएक मनुष्य सदा सावधानतासे अपना कर्तव्य करे, परंतु प्रतिकूल अवस्थामें तो विशेषही दक्षतासे स्वकर्तव्य करे । प्रतिकूल समयमें मनकी उदासीनताको अपनेपास आने न दे । कोई मनुष्य नामर्द न बने । अपने अन्तःकरणमें सदा वीरता धारण करे । और हृदयकी दुर्बलताको पूर्णतासे छोड देवे ॥ २–३ ॥

आर्यत्वकी रक्षा ।

(२—३) भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको अपने आर्यत्वकी रक्षा करनेका उपदेश सबसे प्रथम कर रहे हैं, क्योंकि आर्यत्वकी रक्षामें सब मानवधर्मकी रक्षा आगई है । 'आर्य' शब्दका अर्थ " सुयोग्य, श्रेष्ठ, सन्मान्य, उच्च, उच्चकुलोत्पन्न, स्वामी, सदाचारसे बर्ताव करनेवाला " है । जैसा आचरण इस समय अर्जुन कर रहा है, वैसा कोई आर्य कदापि नहीं करेगा । (अनार्यजुष्ट) जो अनार्य होते हैं, वे ही समयका महत्त्व न जानकर जैसा चाहे वैसा हीन व्यवहार करते रहते हैं । परंतु वैसा करना आर्योंके लिये कदापि योग्य नहीं है । मांधाता, श्रीरामचंद्र, जनक आदि आर्य राजाओंका आदर्श जीवन सन्मुख रखो और यह समय कैसा है, इसका विचार करो ।

विषम समय ।

(विषमे) शत्रु तो तुम्हारे सिरपर नांच रहा है, तुम्हारा नाश करनेके लिये इस समयतक उसने हजारहां कपटप्रयोग किये थे, इस समयभी शत्रु कमर कसके तुम्हारा नाश करनेके लिये सज्ज हुआ है और तुम्हारे सन्मुख उपस्थित है । तुम्हारा राज्य तुम्हारे शत्रुके आधीन है, उसका सेनाबल, धनबल और अधिकारबल तुमसे कई गुना अधिक है, तुमने इस समयतक इतने कष्ट सहे, सत्यधर्ममें निष्ठा रखी, कभी अधर्मकी ओर रुची नहीं की, उनके अत्याचार करनेपरभी तुमने शान्ति धारण की; तो भी तुम्हारे शत्रुका अत्याचार करनेका स्वभाव कम नहीं हुआ । अन्तिम सन्धिसभामें जब सन्धिकी बातें चलीं, उस समय दुर्योधनने स्पष्ट शब्दोंसे कहा कि " विना युद्ध किये रतिमात्र भूमि तुम्हें प्राप्त नहीं होगी । " इतना शत्रुका दुराग्रह है, वह तुम्हें स्वराज्य कदापि सुखसे नहीं देगा । इस बातका पूर्ण निश्चय होनेके बादही युद्ध करनेका निश्चय सर्वसंमतिसे किया । धर्मराज, भीम, नकुल, सहदेव, सती द्रौपदी तथा तुम्हारे अन्यान्य हितचिंतकोंकी विचारणासे युद्ध करनेका निश्चय किया ।

युद्धकी तैयारी ।

युद्धके लिये ही तुमने कैलासमें गमन करके भगवान् शंकरसे पाशुपत अस्त्र लाये, और देव-

राज इन्द्रसे दिव्य अस्त्र भी प्राप्त किये। बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास के भयंकर कष्ट सहन करके अपने सब दुःखों और कष्टोंका परिमार्जन करनेके लिये तुम यहां रणक्षेत्रमें आये हो।

पाशवी बलका नियमन ।

इसके अतिरिक्त जगत्में अधार्मिक दुष्ट मनुष्य मनमाना अत्याचार पाशवी बलके जोरके कारण न करें और धार्मिक लोग निर्भय होकर जगत्में संचार करें, इस प्रकारकी धर्ममर्यादा स्थापन करनेके हेतुसे यह युद्ध हम कर रहे हैं, ऐसे धर्मयुद्धमें तुम्हारे जैसे आर्य वीरको आनंदके साथ अपना कर्तव्य करना चाहिये।

परंतु तुम तो अनार्योंके समान अपने कर्तव्यको न समझते हुए कार्यक्षेत्रसे पीछे हटते हो ! क्या यह तुम्हारे जैसे आर्यवीर को योग्य है ? तुम्हारे पूर्वज आर्योंमें से कोई भी आर्यवीर इस प्रकार युद्धके समय मोहित भी नहीं हुआ, और नाही युद्ध से पीछे हटा था। उसीके वंशमें तुम उत्पन्न हुए हैं और उनके ही श्रेष्ठ वंशके यशको कलंकित करते हैं !! हाय हाय ! इस समय तुम अपने आर्यत्वकी रक्षा करो ! अनार्य मत् बनो।

स्वर्गद्वार का मार्ग ।

यह युद्ध क्षत्रियोंके लिये मानो स्वर्गद्वार खुला हुआ है. यदि तुम इस रणक्षेत्रसे भाग जाओगे, तो तुम्हारे स्वर्गप्राप्तिमें (अस्वर्ग्य) बडी बाधा आजायगी, युद्धसे भागनेवाले क्षत्रियको कभी स्वर्ग मिल नहीं सकता।

दुष्कीर्ति ।

यदि तुम इस प्रकार रणक्षेत्रसे भाग गये तो तुम्हारा यश (अकीर्तिकरं) कलंकित होगा। क्षत्रियकी ऐसी अकीर्ति होना या किसी भी मनुष्यकी ऐसी दुष्कीर्ति होना योग्य नहीं। दुष्कीर्तिसे मरण अच्छा है। अतः दुष्कीर्तिके मार्गसे जाना तुम्हें योग्य नहीं है।

मनकी दुर्बलता ।

(कश्मलं) यह मनकी मलीनता है जो अनार्य-पथमें मनुष्य को जानेमें प्रवृत्त करती है, मानो यह मन का ' मल ' ही है। यह मनकी मलीनता उसका धवल यश फैलानेमें रुकावट उत्पन्न करती है।

हे अर्जुन ! तू अर्जुन अर्थात् अर्जन करनेवाला, प्राप्त करनेवाला, अपना स्वराज्य वापस लानेका प्रयत्न करनेवाला है, यह समय तुम पाण्डवों के लिये प्रतिकूलता का समय है। यह समय ऐसा है कि जिस समय तुम्हारे शत्रु हाथमें मट्टी पकडते हैं तो उसका सोना बनता है और तुम लोगोंने हाथमें सोना पकडा तो उसकी मट्टी बनती है। तुम्हारे शत्रु अधर्माचरण और अत्याचार करते हुए बढते जाते हैं, और तुम धर्ममार्गपर पैर रख कर चलते हो तोभी गिरते जाते हो, ऐसे प्रतिकूल समयमें तुम्हें मनकी उदासीनता धारण, किंवा मन की दुर्बलता धारण करना सर्वथा अयोग्य है। मनमें बल धारण करनेका यही समय है। परिस्थिति विपरीत होनेपर ही मनमें बल धारण करना चाहिये, तभी उस विपरीत परिस्थितिसे मनुष्य पार हो सकता है। अतः (क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा) इस समय यह मनकी दुर्बलता दूर कर और अपने मनमें बलको धारण कर।

वीरवृत्ती ।

(क्लैब्यं मा स्म गमः) नपुंसक न बन, नामर्द न हो। हे अर्जुन ! हमने सुना है कि जब तू अमरावतीमें देवराज इन्द्र के युद्धविद्यालय में दैवी अस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये गया था, उस समय वहां की स्वेच्छासे व्यवहार करने वाली विदेशी सुंदर गौरवर्ण तरुणी उर्वशी का तुम्हारेसे कुछ प्रेमसंबंधका वार्तालाप हुआ था। उस समय आर्य कुमारको शोभा देने योग्य बर्ताव तुमने किया था, यह सुनकर हमने आनंदका

(२) रुधिरसे भरे भोग।

अर्जुन उवाच— कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच— हे मधुसूदन ! अहं भीष्मं द्रोणं च संख्ये इषुभिः कथं प्रतियोत्स्यामि ? हे अरि-सूदन ! (एतौ) पूजार्हौ ॥ ४ ॥ हि महानुभावान् गुरून् अहत्वा, इह लोके भैक्ष्यं भोक्तुं अपि श्रेयः । गुरून् हत्वा तु, इह एव रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भोगान् भुञ्जीय ॥ ५ ॥

अर्जुन बोले–हे मधुसूदन ! मैं भीष्म और द्रोणके साथ युद्धमें बाणों से कैसे लडूं ? हे शत्रुके नाश करनेवाले कृष्ण ! ये पूजा करने योग्य हैं ॥४॥ अत्यंत उदार अन्तःकरणवाले इन गुरुजनों को न मार कर, इस लोकमें भीख मांगकर खाना भी अधिक कल्याणकारी है । क्यों कि गुरुजनों का वध करके यहां उनके रक्तसे भरे हुए अर्थ और काम रूप भोगही भोगने पडेंगे ॥५॥

लाभ किया था । उस समय उस स्वेच्छा-व्यवहारिणी कुमारिकाके जाल में तुम नहीं फंसे, यह तमने उत्तम किया । परंतु उनके प्रस्तावका तिरस्कार करनेके कारण उसने तुमको 'नपुंसक' बन जानेका शाप दिया था, यह भी हमने सुना है । क्या इस समय तुमपर उसका कुछ परिणाम हो रहा है ? फिर ऐसे वीरताके समयमें तुम ऐसे नामर्दके समान आचरण क्यों कर रहे हो ? उर्वशी जैसी विदेशी तरुणियां इच्छाभंग होनेपर वैसा बुराभला कहतीं ही हैं, परंतु तुम जैसे वीरोंको उचित है कि वे अपने आत्मिक बलसे उस विचारका प्रतीकार करें । तुम यदि अपना मनोबल बढाओगे और अपने धैर्यपर स्थिर रहोगे, तो उस तरुणीके बुरेभले कहनेका कोई परिणाम तुमपर नहीं होगा । ऐसे विपरीत समय में (एतत् त्वयि न उपपद्यते) ऐसी मनकी दुर्बलता धारण करना तुम जैसे आर्य वीरको शोभा नहीं देता है ।

हे अर्जुन ! तुम (परं-तप) शत्रुको ताप देने वाले, शत्रुका नाश करनेवाले प्रचंड महावीर हो! तुम्हारा प्रचंड शौर्य सुनकर शत्रु भाग जायंगे, तुम्हारे अस्त्रशस्त्रोंके प्रभाव के सामने कौन ठहर सकता है ? अतः तुम्हें ऐसी मनकी कमजोरी ऐसे विपरीत और प्रतिकूल समयमें धारण करना कदापि योग्य नहीं ।

इस प्रकारका उत्साहवर्धक उपदेश सुनकर अर्जुन अपने मनके भाव फिर कहता है—

(४-८) अर्जुन युद्धसे निवृत्त होनेके अपने कारण बता रहा है । हे मधुसूदन श्रीकृष्ण ! देखो, मातापिता आदि पूज्यपुरुषोंकी सेवा करना हमारे लिये योग्य है, न कि उनका वध करना । यहां भीष्मपितामह हमारे पूज्य पितामह हैं, द्रोणाचार्य तो हमारे अत्यंत आदरके योग्य आचार्य हैं, जिनसे मैंने सब विद्या प्राप्त की । क्या इनपर ही मैं बाण छोडूं ? जिनकी पूजा करनी योग्य है ऐसे गुरुजनोंका ही मैं वध करूं ? यह मुझसे कैसा होगा ? जिनसे मैं स्वप्नमें भी वैरभाव नहीं रखता, उनका प्रत्यक्ष नाश मैं कैसा करूं ? जो

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अन्वयः- नः कतरत् गरीयः ? यत् वा (वयं) जयेम, यदि वा (ते) नः जयेयुः, एतत् अपि च न विद्मः । यान् हत्वा न जिजीविषामः, ते एव धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः ॥ ६ ॥ कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः धर्मसंमूढचेताः (अहं) त्वां पृच्छामि । यत् निश्चितं श्रेयः स्यात्, तत् मे ब्रूहि । अहं ते शिष्यः । त्वां प्रपन्नं मां शाधि ॥ ७ ॥ हि भूमौ असपत्नं ऋद्धं राज्यं, सुराणां च अपि आधिपत्यं, अवाप्य, यत् मम इंद्रियाणां उच्छोषणं शोकं अपनुद्यात् तत् न पश्यामि ॥ ८ ॥

हमारे लिये इन दोनोंमेंसे कौनसा श्रेष्ठ है ? क्या हम जीतेंगे, या वे हमें जीतेंगे ? यह भी समझ नहीं पडता । जिनको मार कर हम जीवित रहनेकी इच्छा नहीं करते, वे ही धृतराष्ट्र के संबंधी हमारे सन्मुख (युद्धके लिये) खडे हुए हैं ॥ ६ ॥ दीनता के दोषसे मेरी स्वाभाविक वीरवृत्ती मारी गई है, अतः कर्तव्यनिश्चय करनेमें मेरा चित्त मोहित हुआ है । इस लिये मैं तुमसे पूछता हूं । जो निश्चय से कल्याणकारी हो वह मुझे कहो । मैं तुम्हारा शिष्य हूं । मुझ शरणागत को समझाइये ॥७॥ क्योंकि इस पृथ्वीमें निष्कंटक और संपन्न राज्य अथवा देवोंका स्वामित्व भी मिल जाय, तोभी मेरे इंद्रियोंका शोषण करनेवाले इस शोक को दूर करनेवाला कोई उपाय मैं नहीं देखता॥८॥

शस्त्रास्त्रविद्या मैंने सीखी, क्या वह सब इन सबके विनाश करनेके लिये ही है? जिन्होंने विद्या सिखाई उस गुरुकी क्या यही गुरुदक्षिणा है, कि मैं उनका आज वध करूं ? जिन्होंने बचपनसे हमारा पुत्रवत् पालन किया उस पितामह की सेवा करनेके स्थानपर क्या मैं उनके पवित्र शरीरपर बाणोंसे व्रण करूं ? ये भीष्मद्रोण दया के सागर हैं, विद्याके निधि हैं, अनेक गुणोंकी मानो खान हैं । ऐसे सच्चे धर्मात्माओंको मार कर, जो भी कुछ भोग प्राप्त होंगे, उनको भोगते हुए हमें कदापि सुख नहीं मिलेगा । किसीके मतसे इस प्रकार प्राप्त किये राज्यभोग सुखदायक हों, परंतु मैं इनको सुखदायक नहीं मानता हूं । मैं तो इससे भीख मांगकर जीवनयात्रा निभाना अच्छा समझता हूं । अथवा पूर्वके समान वनवास भी भोगना पडे, तो भी मैं उसको निर्दोष समझता हूं । जो कुछ हो मैं ऐसे महानुभावोंपर राज्यभोगकी प्राप्ति लिये कदापि शस्त्र नहीं चलाऊंगा ।

हे श्रीकृष्ण ! आपने तो मधु राक्षस को मारा है, अन्यान्य शत्रुओं को भी मारा है, परंतु वे प्रसंग इस से भिन्न हैं । भीष्म द्रोण जैसे आप्त

(३) अर्जुनका न लडनेका निश्चय ।

संजय उवाच--एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

अन्वयः— संजयः उवाच- परंतपः गुडाकेशः हृषीकेशं एवं उक्त्वा ' न योत्स्ये ' इति गोविन्दं उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

संजय बोले--शत्रुको ताप देनेवाले और निद्राको जीतनेवाले (अर्जुन) ने इंद्रियों को स्वाधीन करनेवाले श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा और अन्तमें ' मैं न लडूँगा ' कह कर चुप होगया ॥ ९ ॥

सत्पुरुषों का वध करनेका प्रसंग आपपर कभी नहीं आया था । जिनसे वैरभाव उत्पन्न होने की अवस्थामें हम जीवित भी रहना नहीं चाहते, वेही संग्राममें इस समय मेरे सन्मुख खडे हैं । इनका वध करनेके पश्चात् हम जीवित रहना ही नहीं चाहते, ऐसे ये पूजनीय पुरुष हैं । इसलिये मेरे सन्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि क्या मैं इनको मारूं या इस युद्धक्षेत्र को छोड कर जंगल में जाऊं ? इनमेंसे कौनसा कार्य करना उचित है, यह भी मेरे समझमें इस समय नहीं आता है । मैं क्या करूं ?

युद्ध छिडनेपर उसका परिणाम हमारे अनुकूल होगा या प्रतिकूल होगा, यह भी किसको पता है ? निश्चयसे हमारी जीत होगी या उनकी होगी यह इस समय संदेह की ही बात है । अतः ऐसे संदेह की अवस्थामें हम गुरुजनोंका वध करना प्रारंभ करें यह निःसंदेह अनुचित बात है ।

इस युद्धमें इन पूज्य पुरुषोंका वध करके हमें जय भी प्राप्त हुआ, तोभी वह पराजयसे अधिक दुःखदायक होगा। क्यों कि इनके रक्तसे भींगे भोग भोगते समय इनका स्मरण होता रहेगा और उससे जो दुःख होगा, वह कई गुणा असह्य कष्ट देगा ।

इस प्रकारके विचारसे मेरे अंदर की स्वाभाविक वीरवृत्ती नष्ट हुई है । मैं दीन बना हूं और इस समय क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इसका विवेक करनेकी शक्ति मेरे अंदर नहीं रही है । धर्म की दृष्टीसे इस समय मेरा कर्तव्य क्या है, यह बात मैं जानना चाहता हूं । हे श्रीकृष्ण ! मैं इस समय आपको शरणागत हुआ हूं, आपही इस समय मुझे योग्य उपदेश-द्वारा सन्मार्ग बताने में समर्थ हैं । परंतु अन्तमें मैं आपसे स्पष्ट कहना चाहता हूं कि यदि पृथ्वीका निष्कंटक साम्राज्य प्राप्त हुआ, अथवा देवोंके स्वर्गका राज्य अर्थात् इन्द्रपदभी प्राप्त हुआ, तो भी मेरे इंद्रियोंको सुखानेवाले इस शोक को दूर करनेवाला कोई उपाय प्राप्त होगा, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता है । इस प्रकार इस समय मेरी दिशाभूल होगई है, मुझे ठीक मार्ग दीखता नहीं है। अतः प्रार्थना है कि आप योग्य उपदेश करके मुझे उचित मार्ग बताइये । ''

(९–१०) ['गुडाकेश और हृषीकेश' इन दो शब्दोंकी टिप्पणी भ० गी० अ० १ श्लो० २४ के स्थानपर देखिये ।] इस प्रकार अर्जुनने अपने हृदयकी दीनता प्रकट की और 'मैं युद्ध नहीं करूंगा ' ऐसा कह कर वह चुप होगया । यह आश्चर्य कारक घटना देख कर श्रीकृष्ण भगवान् आश्चर्यचकित हुए, क्यों कि अर्जुन जैसे आर्य वीर के मनमें ऐसी दीनता उत्पन्न होना संभवही नहीं था !! क्या कभी सूर्य अंधेरे में छिपाया जा सकता है, कभी मेरु पर्वत राईके दानेमें दबाया जा सकता है, क्या आकाश को समेट कर हटाना

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

सांख्ययोग ।

(४) पण्डितोंकी समवृत्ती ।

श्रीभगवानुवाच-- अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

अन्वय— हे भारत ! उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तं (अर्जुनं) हृषीकेशः प्रसन् इव इदं वचः उवाच ॥ १० ॥ श्रीगवान् उवाच— त्वं अशोच्यान् अन्वशोचः । प्रज्ञावादान् च भाषसे । पंडिताः गतासून् अगतासून् च न अनुशोचन्ति ॥ ११ ॥

हे धृतराष्ट्र ! दोनों सेनाओं के बीच खिन्न हो कर बैठे हुए (अर्जुन) से इंद्रिय-संयमी श्रीकृष्ण कुछ हंसते हुए इस प्रकार उपदेश करने लगे ॥ १० ॥ श्रीभगवान् बोले- जिनका शोक करना योग्य नहीं है, उनका ही शोक तू करता है, और ज्ञानकी बडी बडी बातें बोलता है ? परंतु ज्ञानी लोग मरे हुओं का अथवा जीवितों का शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

भावार्थ— जिनके विषयमें शोक करना योग्य नहीं, उनके विषयका शोक करनेमें अपना समय गमाना किसीकोभी योग्य नहीं है । विना आगेपीछे का संबंध समझे बडे ज्ञानियोंके वाक्य बोलकर अपनी खोखली पंडिताई बताना भी किसीको योग्य नहीं है । ज्ञानी लोग कदापि प्राणोंके जाने अथवा रहने का शोक नहीं करते ।

संभव है, क्या कभी महासागर सुखाया जायगा ? जैसा यह कभी नहीं हो सकता है वैसा ही आर्यवीर के अन्तःकरणमें दीनता आना भी कभी संभव नहीं है । परंतु जो कभी होनेवाला नहीं था, वही आज बन गया !!! यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण किंचित् मुस्कराये, और मनमें समझे कि, यह अर्जुनकी अवस्था कोई आगंतुक कारणसे हुई नहीं है । इसके मूलकारणका विचार करनेसे उनको उसी समय पता लगा कि इसका कारण बडा गहरा है । शत्रुपक्षके संजय ने जो विषैला उपदेश अन्तिम समयमें किया था, वही इस दयालु पुरुषके मनपर जमगया है । शत्रुकी शिक्षा जैसी की वैसी स्वीकार करनेसे इसकी मति भ्रष्ट होगई है । अतः इसके अन्तःकरण का यह दोष विना विशेष उपदेश किये, नहीं धोया जायगा । अपना कौन और पराया कौन है, अपना संबंधी कौन और दूर का कौन, इसका तत्त्वज्ञान की दृष्टिसे विचार इसको समझाना चाहिये । ऐसा विचार करके भगवान्ने इसको इस प्रकार उपदेश करना आरंभ किया—

अध्याय का नाम ।

(११) यद्यपि इस द्वितीय अध्यायका नाम 'सांख्य योग्य' है, तथापि पहिले दस श्लोकोंमें सांख्यतत्त्वज्ञान की बात बिलकुल नहीं है । इसी प्रकार इसी अध्याय के ३९ श्लोक तक ही सांख्यतत्त्वज्ञान का उपदेश किया है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु । भ० गी० २। ३९

'यहांतक तुझे सांख्यज्ञानका उपदेश किया आगे योगका तत्त्वज्ञान श्रवणकर' ऐसा कहा है। वस्तुतः यहांतक ही सांख्य तत्त्व कहा है और इसके आगे योगतत्त्व कहा है। परंतु सांख्य और योग में बहुत भेद नहीं है। दोनों मार्ग कुछ समय के पश्चात् एकरूप हो जाते हैं। कई लोग 'सांख्य' को 'निरीश्वर योग' कहते हैं और 'योग' को 'सेश्वर सांख्य' भी कहते हैं। इतनी दोनों तत्त्वज्ञानों की एकरूपता मानी है। भगवद्गीतामें भी—

सांख्य और योग।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥
भ० गी० अ० ५

"मूढ लोग कहते हैं कि कि सांख्य और योग पृथक् हैं, इनमेंसे एक का अनुष्ठान करनेसे दूसरे का फल मिलजाता है। जो स्थान सांख्योंको मिलता है वही योगियोंको भी प्राप्त होता है। अतः सांख्य और योग एक हैं ऐसा जो जानता है वही ठीक बात जानता है।"

इस कथनसे स्पष्ट होता है कि सांख्यमार्ग और योगमार्ग परस्पर बहुत भिन्न नहीं हैं; इतना ही नहीं, परन्तु बहुत अंशोंमें एकरूपही हैं। इसी कारण इस अध्याय का नाम 'सांख्ययोग' रखा है, यद्यपि इसमें जैसा सांख्यमत कहा है उसी प्रकार योगमत भी कहा है। इस नामसे भी दोनोंकी एकरूपता ही सिद्ध होती है।

सांख्य शब्दका अर्थ।

'सांख्य' किसको कहते हैं, इसका यहां विचार करना चाहिये। इस तत्त्वज्ञानको 'सांख्य' नाम क्यों दिया गया, इसका हेतु देखिये 'संख्या' शब्दसे 'सांख्य' शब्द बना है और इसका अर्थ यह है—

चर्चा संख्या विचारणा। (अमरकोशः)
संख्यैकादौ विचारे च। (हेमकोशः)
संख्या सम्यगात्मबुद्धिः। (मधुसूदनसरस्वती=गी० टीका. ३।३; ५।४)
सम्यक्ख्यानं संख्या क्रमवैशिष्ट्येन ज्ञानम्।
(शब्देन्दुशेखर १४५)

पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्ते अस्मिन् इति सांख्यम् (मधुसूदन० गी० १८।१३)

"संख्या शब्दका अर्थ (सम्यक् ख्यानं) विचार करना, तत्त्वनिश्चय के लिये वादविवाद करना है। संख्या शब्दका दूसरा अर्थ आत्मविषयक निश्चित ज्ञान है। क्रमपूर्वक युक्तियों को दर्शाकर जिसमें सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है उसको सांख्य कहते हैं, इस जगत् में जितने पदार्थ हैं उन पदार्थोंकी संख्या बताकर उनका यथावत् ज्ञान जिस शास्त्र में कहा होता है उसको सांख्य कहते हैं।" यह सांख्य शब्दका अर्थ है। इसी विषयमें महाभारतका एक श्लोक देखिये—

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कंचिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥
म० भा० शान्ति० अ० ३२०। ८२

"किसी सिद्धान्त के विचार में दोषों और गुणों के प्रमाणका विचार करनेका नाम संख्या है।" अर्थात् इसमें दोष पांच हैं और गुण दस हैं, तो यह अच्छा है, दोषोंकी संख्या जिसमें अधिक है वह ठीक नहीं, इस प्रकार का निश्चय करना, इसका नाम 'संख्या' है। इस तरह संख्यानिश्चय जिस शास्त्र में किया होता है उसको सांख्य शास्त्र कहते हैं। सांख्य शास्त्रमें सबसे प्रथम विश्वके अंदर के जडचेतन पदार्थोंकी संख्या निश्चित की, जडपदार्थोंके कार्यों और चेतन के कार्योंका निश्चय किया, इस प्रकार संख्यानिश्चय करनेसे इस शास्त्र का नाम 'सांख्य' हुआ। इस सांख्यशास्त्रके अनुसार उपदेश सबसे प्रथम श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन को दे रहे हैं। अर्जुनका मोह दूर करनेके लिये तत्त्वज्ञानके विना दूसरा साधन कोई नहीं है। और 'अपना और पराया'

इस संबंधका मोह दूर करने के लिये सांख्य-शास्त्र जैसा उपयोगी है, वैसा दूसरा कोई शास्त्र नहीं है, क्यों कि इस शास्त्रमें जगत् के संपूर्ण तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान दिया है। जिसको प्राप्त करनेके पश्चात् मनुष्यका मोह दूर होता है।

दो प्रकारके लोग।

जगत् में दो प्रकारके लोग, प्राणी अथवा पदार्थ होते हैं। (१) एक "अ-गतासु" और (२) दूसरे "गतासु"। जिनके प्राण चले जाते हैं उनको गतासु कहते हैं, और जिनके प्राण शरीर में कार्य करते हैं उनको अगतासु कहते हैं। भाषामें 'गतासु' का अर्थ 'मृत' और 'अगतासु' का अर्थ 'जीवित' होता है। 'पण्डित लोग जीवित और मृत इनमें से किसी का शोक नहीं करते।' यह एक पण्डितोंका स्वभावधर्म इस श्लोकमें कहा है। यहां पण्डित वे कहे गये हैं जो इस सांख्यतत्त्वज्ञानको यथावत् जानते हैं, ये सांख्यतत्त्वज्ञानी मनुष्य मरे हुओं का अथवा जीवित मनुष्योंका शोक नहीं करते।

जगत् में सबके सब लोग पण्डित नहीं हुआ करते। पण्डित उनको कहते हैं कि जिनको (पण्डा) आत्माके विषयमें यथार्थ ज्ञान (इत) प्राप्त हुआ है। अर्थात् आत्माका यथार्थज्ञान जो जानते हैं वे ज्ञानी जीवितों या मृतोंके विषयमें शोक नहीं करते। यदि गीताका यह श्लोक ठीक प्रकार समझनेकी पाठकों को इच्छा है तो 'गतासु और अगतासु' शब्दोंका उपयोग करनेसे ही श्रीकृष्ण भगवानजीका आशय समझमें आसकता है, इनके स्थानपर 'मृत और जीवित' शब्द रखनेसे या इस आशयके अन्य शब्द रखने से वह आशय समझमें नहीं आसकता। सांख्यशास्त्रके अनुसार 'मृत और जीवित' ऐसा भेद नहीं है, परंतु 'गतासु और अगतासु' ऐसा भेद जगत् में है। अब इस विषयमें बात यह है—

	अगतासु (जीवित)		गतासु (मृत)
राजा	आत्मा	प्रथम कक्षा	आत्मा
रानी	बुद्धि	द्वितीय कक्षा	बुद्धि
मुख्यमंत्री	सुषुप्तिका मन		सुषुप्तिका मन
		... ...	
उपमंत्री	जागृतीका मन	तृतीय कक्षा	जा. प्र. म. न.
रक्षक	प्राण	चतुर्थ कक्षा	प्रा ण
		... ...	
कार्यवाहक	इंद्रियां	पंचम कक्षा	इं द्रि यां
कर्मसाधक	शरीर	षष्ठ कक्षा	श री र
कर्मसाधन	जगत्	सप्तम कक्षा	जगत्

प्राण रहनेतक की अवस्था

अमर्त्य

मृतामृत संबंध

मर्त्य

न बिगडनेवाला

बिगडनेवाला

प्राण जानेके पश्चात् की अवस्था.

अगतासु और गतासु का चित्र

एक बडे मंदिर की कल्पना कर लीजिये। राजारानी अंदरकी प्रथम कक्षामें बैठती हैं। रातके समय का एक और दिनके समयका एक ऐसे दो प्रधान मंत्रीयोंका कार्यालय द्वितीय और तृतीय कक्षामें है। चतुर्थ कक्षामें रक्षक प्राणका कार्यालय है, दशविध प्राण इसके कार्यवाहक मुख्य प्राण की आज्ञासे सब शरीर भरमें जाकर विविध कार्य करते हैं। इसके बाद तीन कक्षायें हैं। इन सब कक्षाओंमें आत्माका राज्यशासन चल रहा है।

इस राज्यशासनमें प्राण द्वाररक्षक, या पहारेदार का कार्य करनेवाला है. यही 'असु' है। यह कुछ काल तक शरीरमें रहता है, और कुछ कालके पश्चात् शरीरको छोडकर बाहर चला जाता है। जब चला जाता है तब इंद्रियां और शरीर कार्य करनेमें असमर्थ हो जाती हैं, क्योंकि प्राणके ही आधीन रहकर वे कार्य कर सकते हैं। यह प्राण गया या रहा, तो प्रथम और द्वितीय कक्षामें रहनेवालों पर कोई परिणाम नहीं होता है। प्राण चला जानेसे तृतीय कक्षासे सप्तम कक्षा तक के जो कार्यवाहक हैं उनपर परिणाम होता है, परंतु प्रथम और द्वितीय कक्षाओंमें रहनेवालों पर प्राणके चले जानेका या रहनेका कोई बुरा या अच्छा परिणाम नहीं होता है।

उदाहरणार्थ देखिये, राजाके महलपर पहारा करनेवाले द्वारपालक एक दिन चले गये तो राजाकी शक्तिमें, बुद्धीमें या महत्तामें कोई न्यूनता नहीं होती। अधिकसे अधिक यही होगा कि राजारानी और मुख्य दीवान अपने दूसरे मंदिरमें जाकर निवास करेंगे, अथवा इसी मंदिरमें दूसरे द्वारपालक को रखेंगे। यहांभी यही होता है. प्राण जाने लगा तो मणिमंत्रऔषधीके प्रयोग से प्राणकी स्थापना शरीरमें की जाती है और इस उपायसे प्राण स्थिर न रहा, तो आत्मा, बुद्धी और मन दूसरे मंदिरमें रहने लगते हैं और वहां अपना वैसाही कार्य शुरू करते हैं, जैसा पहिले मंदिरमें शुरू था।

धनी पुरुषोंके घरमें अनेक द्वारपालक होते हैं। उनमेंसे चतुर्थ कक्षाका द्वाररक्षक नौकरी छोड कर चला गया, तो कोई रोते पीटते नहीं; क्योंकि मुख्य धनी पुरुष वैसाका वैसाही होता है। उसी प्रकार जिन ज्ञानियोंको पता है कि, प्राण चले गये तो भी आत्मा, बुद्धी और मन वैसेके वैसेही हैं और उनमें कोई न्यूनता नहीं हुई. वे क्यों शोक करेंगे? क्योंकि जिनके लिये शोक करना है वे तो प्रथम और द्वितीय कक्षामें जैसेके वैसे ही हैं। चतुर्थ कक्षा टूट भी गई तो भी पूर्वकी तीनों कक्षाएं जैसीकी वैसीही रहती हैं। इस विषयका निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान पण्डितोंको होता है. अतः वे (गतासु) मृत और (अगतासु) जीवित दोनोंमेंसे किसीभी अवस्थाके विषयमें शोक नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि जिसका आनंद या शोक करना है, वह दोनों अवस्थाओं में जैसाका वैसाही है।

यहां कोई कहेगा कि इंद्रियों और शरीरके नष्ट होनेका शोक ज्ञानियोंको क्यों न होगा? इसके विषयमें शोक न होनेके कई कारण हैं देखिये—

१ ज्ञानी जानते हैं कि यह शरीर प्राप्त होनेके पूर्व भी कई वार शरीर प्राप्त हुआ था और हरएक वार वह नाश को भी प्राप्त हुआ। अतः कितने शरीरोंके विषयमें शोक करें? यही एक शरीर मिला है ऐसी बात नहीं है। हरएक वार शरीर मिलता है और वह नाश को प्राप्त होता रहता है। यह उसका स्वभाव ही है। फिर स्वभाव के लिये क्या रोना है।

२ शरीर तो अवश्य नाशको प्राप्त होगा ही शरीर उसीको कहते हैं कि जो (शीर्यते) नाश होता है। फिर नाश होनेवाले का नाश हुआ तो उस विषयमें शोक किसका करना है?

पहारेदार पहारेपर आते हैं और बीच बीच में कार्य छोड कर या नौकरी छोडकर चले भी जाते हैं। अतः वे रहे या गये तोभी किसी

प्रकार शोक करना उचित नहीं । यहां घरका स्वामी नाश को प्राप्त हुआ तो वह शोक का विषय हो सकता है; परंतु 'आत्मा' अविनाशी होनेसे न वह कभी जन्म लेता है और न कभी वह मरता है, अतः उस विषयमें शोक करनेका कदापि कोई कारण ही नहीं है ।

ज्ञानी लोग पूर्ण रीतिसे यह बात जानते हैं अतः जीवित या मृत अवस्थाके कारण वे कभी शोक नहीं करते । परंतु जो लोग पण्डित नहीं होते हैं, परंतु मूढ या साधारण लोग होते हैं, वे इस ज्ञानको नहीं जानते हैं और वे समझते हैं कि प्राण जानेके पश्चात् आत्मा भी मरता है और इस कारण प्राण जाते ही रोने लगते हैं । परंतु घरका मालिक जीवित रहनेतक, पहारेदार नौकरी छोड कर चला गया, तो घरके मालिकके कारण रोनेपीटनेकी क्या जरूरत है? जब उसको दूसरा पहारेदार निश्चयपूर्वक मिलनेवाला है ?

यदि यह विचार पाठक समझेंगे, तो " जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी पण्डित जन क्यों शोक नहीं करते " इस बातका ज्ञान पाठकोंके ध्यानमें आवेगा । इस प्रकार इस श्लोकार्धसेही भगवान ने अर्जुन का मोह दूर करनेका ज्ञान दिया, परंतु इतने संक्षेपसे कहा ज्ञान साधारण जनके समझमें नहीं आसकता; अतः आगे इसका स्पष्टीकरण होगा ।

(गतासु) मृत किंवा (अगतासु) जीवित लोग ये सबके सब (अ-शोच्य) शोक करने योग्य नहीं हैं । क्योंकि जो मुख्य आत्मतत्त्व है उसकी स्थितिकी दृष्टीसे उक्त दोनों अवस्थाओं में कोई भेद नहीं है । जिस प्रकार घरका स्वामी जाग्रत रहा किंवा सोगया, तो कोई शोक का विषय नहीं होता है । उसी प्रकार यह है । अतः मृत या जीवित कोई अवस्था हो, किसी अवस्थाके लिये शोक करना योग्य नहीं है ।

अर्जुन बडी बडी ज्ञानी जैसी बातें तो बोलता है, परंतु ये सब आप्त जन मरेंगे ऐसा मानकर शोक कर रहा है । अर्थात् जो ज्ञानके वाक्य वह बोल रहा है, उनका भाव उसके समझमें बिलकुल नहीं आया है यह सत्य है । इसी कारण यह तत्त्वज्ञान उसको सबसे प्रथम समझाना चाहिये । इसी उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं--

'अरे अर्जुन ! ऐन युद्ध के समय तूने यह क्या प्रारंभ किया है । तू अपने को बडा ज्ञानी मानता है, परंतु अपना अज्ञान छोडना नहीं चाहता, अच्छा, तुमको कोई सिखलाने का विचार करे, तो तू स्वयं स्थानेपन की बातें बोलने लगता है ! जैसा जन्मान्ध पागल होता है और उस पागलपनमें इधर उधर नाचने लगता है, वैसी तेरी अवस्था बन गयी है !! अरे, तू अपने आत्माका स्वरूप तो नहीं जानता, परंतु कौरवोंके लिये शोक करता है, कितना आश्चर्य है । इस विश्वकी रचना अनादि कालसे चली है और उसका संचालक प्रभु सर्वसमर्थ है यह सब तू भूल गया! तू ही इस सब जगत् का उत्पादक तो नहीं है? जगत् के पालनेवाले प्रभुने ये सब प्राणिमात्र उत्पन्न किये और उसीने उन सबकी जन्ममृत्यु की योजना की है, तूने तो यह योजना नहीं की है ? क्या तूही अकेला इनका नाश करनेवाला है और तूने इनका नाश नहीं किया तो ये अमर रहेंगे ? तू ही इनको मार सकता है और तेरे प्रयत्नसेही ये मर सकते हैं ? क्या यही तेरा विश्वास ठीक है ? तूने इनका वध नहीं किया तो ये चिरंजीव रहेंगे? यही तेरा विश्वास है ना ? जरा अनादिसिद्ध विश्वकी महती रचना कैसी चल रही है और उसमें उत्पत्ति-विनाश ये स्वयं कैसे चल रहे हैं, इसका जरासा विचार तो कर, तो तुझे पता लगेगा कि इनका जीना या मरना तुम्हारे प्रयत्नके आधीन नहीं है। वह किसी अन्य प्रचण्ड शक्तिके आधीन है। अतः तूने इनको न मारा और उस प्रचण्ड शक्तिके मनमें इनको मारनेका विचार हुआ तो ये यहां खडे नहीं हो सकेंगे । अतः किसीके जीने या मरनेके कारण ज्ञानी लोग शोक नहीं करते और तेरे जैसे मोहित भी नहीं होते । तुझको अब यहां

(५) हम सब सनातन हैं ।

न त्वेवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

अन्वयः— अहं जातु न आसं (इति) न तु एव, त्वं (जातु न आसीः इति) न, इमे जनाधिपाः (जातु न आसन् इति) न, अतः परं च सर्वे वयं न भविष्यामः (इति) न एव ॥ १२ ॥

मैं किस कालमें नहीं था (ऐसा) नहीं, तू (कभी नहीं था ऐसा) नहीं, ये राजा लोक (कभी नहीं थे ऐसाभी) नहीं और इसके बाद भी हम सब न होंगे (ऐसा) भी नहीं है। (अर्थात् हम पहिले भी थे, इस समय हैं, और आगे भी होंगे) ॥ १२ ॥

भावार्थ— सब देहधारण करनेवाले आत्मा, (वे देह धारण करें या न करें,) नित्य हैं । वे देहधारण करनेके पूर्व थे, देहधारणके पश्चात् भी वैसे ही होंगे और देहपातके पश्चात् भी रहेंगे ॥ १२ ॥

इसी बातका विचार करना चाहिये कि, उस नियामक प्रभुके विश्वव्यापक प्रचण्ड कार्यका भागी बनकर यहांका तेरे ऊपर आया हुआ कार्य करना है अथवा उसके विरुद्ध होकर जैसा चाहे वैसा मनमाना व्यवहार करके उसका परिणाम भोगना है। हम सब इसी समय इस जगत्में देह-धारण करके आगये हैं, पहिले कभी नहीं थे और आगेभी कभी नहीं होंगे, यह बात नहीं है।

(१२) जगत्में पदार्थ दो हैं। (१) एक देह, जिसको शरीर कहते हैं, और (२) दूसरा आत्मा जिसको जीवात्मा कहा जाता है, शरीर उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं, परन्तु आत्मा अविनाशी और अजन्मा है। देहकी उत्प-त्तिके साथ आत्मा जन्मता नहीं और शरीरके नाशके साथ आत्माका नाश भी नहीं होता है। शरीर मिला या न मिला तो भी आत्मा अनादि अनन्त अर्थात् नित्य है और अपनी शक्तियोंके साथ जैसा का वैसाही रहता है। शरीरकी शक्तियाँ न्यूनाधिक होती हैं, शरीरका जन्म होता है और नाश भी होता है। साधारण लोग शरीर को ही मनुष्य कहते हैं और यह मनुष्य जन्मको प्राप्त हुआ, तरुण या वृद्ध हुआ और अन्तमें मरा ऐसा भी मानते हैं, इन साधारण जनोंको पुत्र-जन्मसे आनन्द होता है और संबंधीकी मृत्यु से दुःख होता है। परन्तु जो ज्ञानी लोग मनुष्य को स्थूल शरीरकी ओरसे देखते नहीं, परन्तु आत्माकी ओरसे देखते हैं, उनको तो उसमें जन्म और मृत्यु होनेवाला कोई पदार्थ दीखता ही नहीं, क्योंकि उनके सन्मुख सदा नित्य आत्मा ही रहता है। यह श्लोक उन ज्ञानियोंके दृश्यबिन्दु से लिखा है। पूर्व चित्रमें दर्शाया ही है कि ' आत्माबुद्धिमन ' ये अविचल हैं और ' इन्द्रियां और शरीर ' ये चल हैं। और प्राण दोनोंका संबंध करनेवाला है, मनुष्यके ये दो भाग हैं, एक मर्त्यभाग है और दूसरा अमर भाग है।

साधारण मनुष्य अपने मर्त्यभाग को जानता है, और अपने अन्दर की अमर सत्ताको नहीं जानता, इस कारण वह मरा और यह जन्मा ऐसी भाषा बोलता है। यदि यह अपनी अमर सत्ताको जानेगा, तो यह किसीके जन्मसे आनं-दित नहीं होगा और किसीकी मृत्युसे दुःखी भी नहीं होगा, क्यों कि वह जन्म, जीवन और मरण इन तीनों अवस्थाओंमें समानतया रहनेवाली इसकी अमर सत्ताको जानता है ।

अमूर्त	अमर्त्य	द्युलोक	आत्मा बुद्धि मन	स्वर्ग, स्वः, अमरभाग
		अन्तरिक्षलोक	प्राण	अन्तरिक्ष, भुवः (स्वर्गका भूलोकसे संबंध करनेवाला)
मूर्त	मर्त्य	भूलोक	इंद्रिय शरीर	मृत्युलोक, भूः, मर्त्यभाग

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।
कठ उप० ५ । ५

"प्राण और अपानसे मनुष्य जीवित नहीं रहता, किसी अन्य शक्तिके कारण जीवित रहता है जिसमें ये प्राण और अपान आश्रित होते हैं ।" इस उपनिषदके वचनमें भी वह अमर सत्ता कही है, जो इस गीताके वचनमें कही है । इसको ही आत्मा कहते हैं, इसके आश्रयसे प्राण, इंद्रियां और शरीर इनकी स्थिति होती है । इसी विषयमें और देखिये—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च० ॥ १ ॥......इदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणात्० ॥ ४ ॥ अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतं० ॥ ५ ॥
छांदोग्य उ० २ । ३ । १

" ब्रह्मके दो रूप हैं, (१) एक अमूर्त और अमर और (२) दूसरा मूर्त और मर्त्य । प्राणसे भिन्न जो इंद्रियां और शरीर आदि हैं वह मूर्त अर्थात् साकार है, यह मर्त्य अर्थात् मरनेवाला है । जो अमूर्त प्राण आदि (मन बुद्धि आत्मा) है वह अमूर्त अर्थात् निराकार है और यह अमर है ।"

इस उपनिषद्वचनमें स्पष्ट कहा है कि, मनुष्यके अंदर "मरनेवाला एक भाग है और दूसरा अमर भाग है ।" मरनेवाला भाग साकार और स्थूल है तथा न मरनेवाला जो अमर भाग है वह निराकार और सूक्ष्म है । यहां हमें पता लगा कि जो अमर भाग जिसको हम यहां आत्मा कहते हैं वह शरीरके नाशके पश्चात् रहनेवाला है और शरीरके जन्मके पूर्व भी वह होता है । जो शरीरकी उत्पत्तिके पूर्व होता है और शरीरके मरनेके पश्चात् भी रहता है वही अमर कहने योग्य है ।

इस युद्धभूमिमें जो कौरव पाण्डव वीर युद्धके लिये उपस्थित हैं, उनके अन्दरभी एक अमर आत्मा और मरनेवाला एक शरीर ऐसे दो भाग हैं । इन सबका आत्मा अमर होनेसे वह उन सबके जन्मके पूर्व भी था और इसी कारण इनके मरनेके पश्चात् भी रहेगा । यही दर्शानेके लिये भगवान् श्रीकृष्णजीने कहा कि " तू, मैं, और ये सब पहिले भी थे, इस समय हैं और आगे भी रहेंगे । " अर्थात हममेंसे कोई भी शरीरके जन्मके साथ जन्मा है और शरीरकी मृत्युसे मरेगा वह बात नहीं है, अतः हम सब नित्य हैं । और यदि नित्य हैं तो नित्य पदार्थके लिये शोक करनेका किसीको क्या कारण है ?

वायुके चलनेसे जलपर तरंग उठते हैं, वायु स्तब्ध होनेसे तरंग भी मरजाते हैं । जलके तरंग बनने या नाश होनेसे जिस प्रकार जलमें कोई

(६) पुनर्जन्म ।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३

अन्वयः– देहिनः अस्मिन् देहे यथा कौमारं यौवनं जरा, तथा देहान्तरप्राप्तिः । तत्र धीरः न मुह्यति ॥ १३ ॥

देहधारी (आत्मा) को इस देहमें जिसप्रकार बालपन, तरुणपन और वृद्ध–पन प्राप्त होता है, उसी प्रकार (आगे) उसी आत्माको दूसरी देह भी प्राप्त होती है । (इस कारण) इस विषयमें ज्ञानी पुरुष मोहित नहीं होता ॥ १३ ॥

भावार्थ— बालपन, तारुण्य और वृद्धावस्था ये जैसी तीन अवस्थाएं हैं उसी प्रकार अन्य देहकी प्राप्ति भी एक चतुर्थ अवस्था हैं। अतः पूर्व तीन अवस्थाओंके पश्चात् क्रमसे चतुर्थ अवस्था प्राप्त होती है, इसमें कोई संदेह नहीं ॥

न्यूनाधिकता नहीं होती है, उसी प्रकार प्राणवायु के चलनेसे प्रकृतिके समुद्रमें यह शरीररूपी एक तरंग उत्पन्न हुआ और प्राणवायु स्तब्ध होनेसे वह तरंग शान्त हुआ। उससे देहधारी आत्माकी अनित्यता नहीं मानी जा सकती। जैसे वायु स्तब्ध होनेपर जल और जलका आधार जैसेके वैसही हैं। उसी प्रकार कुछ अंशमें पाठक यहां आत्माके विषयमें समझें।

सबका तात्पर्य यही है कि शरीरमें रहनेवाला आत्मा अमर है और शरीर नाशवन्त है। शरीर के मरनेपरभी वह जैसा का वैसाही रहता है। शरीरके नाशके साथ आत्माका कुछ भी बिगडता नहीं, यह बात यहां स्पष्ट होगई। अतः अर्जुनके बाणसे ये भीष्मादि कौरव मरेंगे ऐसी जो अर्जुन की शंका थी, उसका यह शास्त्रीय उत्तर है कि वे नहीं मरेंगे, शरीर कितनी वार भी जन्मे या मरे, उनकी आत्माकी अवस्थामें कोई न्यूनाधिक नहीं होता है।

इतना विचार जाननेके पश्चात् यह शंका उपस्थित होती है कि "आत्मा नित्य है, और देह अनित्य है, यह सत्य है; परंतु जीवित रहने तक देहके साथ आत्मा है यह हम देखते हैं। देहका नाश होनेके पश्चात् उस आत्माका क्या होता है यह हमें पता नहीं चलता, अतः मरनेका शोक होना योग्य है।" इस शंकाका उत्तर अगले श्लोकमें देते हैं—

(१३) शरीर की तीन अवस्थाएं यहां कहीं हैं, परंतु वस्तुतः यहां छः अवस्थाएं होती हैं। (जायते) उत्पन्न होना, (अस्ति) होना, रहना, (वर्धते) बढना, (विपरिणमते) परिणाम होना, (अपक्षीयते) क्षीण होना और (नश्यति) नाशको प्राप्त होना। इन पांच अवस्थाओंमें बालपन, तारुण्य और वृद्धपन क्रमशः होता है। बालपन के पश्चात् तरुणपन, और तारुण्य के पश्चात् बुढापा क्रमपूर्वक होता है। किसी शरीर का मरण तारुण्यमें हुआ, तो उसको वार्धक्य नहीं आवेगा, और किसी की मृत्यु बालपनमें हुई तो उसको तारुण्य और वार्धक्य नहीं आवेगा, यह सत्य है; परंतु यदि किसीकी दीर्घायु हुई और उसको तीनों अवस्थाएं प्राप्त होनी हैं, तो पहिली आयुमें बालपन, मध्य आयुमें तरुणपन और पश्चात् की आयुमें वृद्धपन आवेगा। इसका तात्पर्य यह है कि यह क्रम कदापि नहीं बदलेगा एक के पीछे ही दूसरेने और दूसरे के पीछे तीसरेने आना है। यह बात सबके प्रत्यक्ष अनुभवमें होनेसे इस विषयमें किसीको संदेह नहीं

हो सकता। इस देहकी तीनों अवस्थाएं होनेमें देहधारी आत्मामें कोई हेरफेर नहीं होता है। देहके बालपनसे आत्मा बाल नहीं होता, इसी प्रकार देहके तारुण्य और वृद्धपन के साथभी आत्मा तरुण या वृद्ध नहीं होता है। वह सदा एक जैसा रहता है। जैसी ये तीनों अवस्थाएं हैं उसी प्रकार इस देहकी समाप्तिपर दूसरा देह प्राप्त होना भी एक चौथी अवस्था है। आत्मा जैसा पहिले तीन अवस्थाओंमें रहता हुआ एक जैसा रहता है, उसी प्रकार अन्य देहकी प्राप्ति होनेपर भी वैसाही रहता है। और इसी प्रकार इस जन्मके पूर्वभी पूर्व देहकी अन्तिम अवस्थामें वह था। इस प्रकार ये चारों या पांचों अवस्थाएं क्रमपूर्वक आत्माको देह के कारण प्राप्त होती हैं ऐसा साधारणतः समझनेसे आत्मा कैसा नित्य है और देह कैसे अनित्य हैं, यह बात ठीक प्रकार समझमें आसकती है।

जितने निश्चयसे बालपनके नंतर तारुण्य आता है, उतने ही निश्चयसे उसके बाद वार्धक्य आता है और उतने ही निश्चयसे मृत्युके बाद दूसरा देह भी प्राप्त होता है। पुत्रने बालपन का त्याग किया और तारुण्यको प्राप्त किया, तो कोई रोते पीटते नहीं; इसी प्रकार उसने इस देहका त्याग करके दूसरा देह प्राप्त किया, तोभी उसमें दुःख करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। क्यों कि उसकी चार अवस्थाओंमें यह भी एक अवस्था है और वह यथाक्रम प्राप्त होनी ही है। वेदमें यह बात अन्य रीतिसे कही है देखिये—

सनातनमेतदाहुरुताद्य स्यात्पुनर्णवः ॥२३॥ त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥२७॥ उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः। एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः॥ २८॥

अथर्ववेद १०। ८

" यह सनातन है, यह पुनः पुनः (पुनः नवः) नवीन जैसा होता है ॥ २३॥ तू स्त्री है और पुरुषभी है, तू कुमार है और कुमारी भी है, वृद्ध होनेपर तू हाथमें सोटी लेकर चलता है, और जब तू नवीन जन्मता है तब तू सर्वत्र देखता है ॥ २७॥ तू इनका पिता है और इनका पुत्र है, इनमें ज्येष्ठ है और कनिष्ठ भी है। मनमें प्रविष्ट होकर रहा हुआ तू एक ही देव है। जो पहिले जन्मा था वही अब गर्भ में पुनः आगया है॥२८॥ "

अर्थात् जीवात्मा सनातन अथवा नित्य है, वह स्त्रीके शरीर में स्त्री और पुरुषशरीरमें पुरुष होता है। वह कुमारकुमारी वृद्धतरुण जरा-पीडित होता है, वह शरीरकी अवस्थाके कारण ही होता है ऐसा मानते हैं। उसी प्रकार यह किसीका पिता, किसीका पुत्र, किसीका बडा भाई और किसीका छोटा भाई होता है। यह मनमें प्रविष्ट हुआ एक ही देव है, मनके अंदर बुद्धि और आत्मा विराजमान रहता है और यही एकवार जन्म लेनेपर भी पुनः पुनः गर्भमें आता है अर्थात् वारंवार जन्मता है।

इसका सच्चा मतलब यही है कि यह आत्मा नित्य है अतः यह पुरुषके शरीरमें पुरुष होनेपर भी वस्तुतः यह पुरुष नहीं, परंतु शरीरका गुणधर्म इसपर माना गया है। स्त्रीके शरीरमें स्त्री माना जानेपर भी उसी कारण यह स्त्री नहीं। बालकके शरीरमें यह बालक और कुमारीके शरीरमें यह कुमारी होता है परंतु ये भी शरीरके

धर्म हैं वस्तुतः यह न कुमार है और न कुमारी है। इसको कोई पिता कहते हैं, कोई पुत्र और कोई बडा या छोटा भाई कहते हैं, यह कहना भी शरीरकी अपेक्षासे है। वस्तुतः यह किसीका पिता नहीं, किसीका पुत्र या भाई अथवा बहिन भी नहीं है। यह पहिले एकवार जन्मा था और अब पुनः गर्भमें आया है, इसका अर्थ स्पष्ट है कि इसका पहिला शरीर छूट गया है और यह दूसरा शरीर प्राप्त करनेकी तैयारीमें है।

इस प्रकार इसको बाल्य, तारुण्य, वार्धक्य जैसा प्राप्त होता है उसी प्रकार नवीन शरीर भी प्राप्त होता है, यह बात वेदमंत्रों द्वारा भी उक्त प्रकार कही गई है। वेदमें जीवात्माका जन्म, तारुण्य, क्षय और पुनर्जन्म बतानेके लिये 'चन्द्रमा' का उदाहरण दिया जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्ल प्रतिपदामें जन्मता, शुक्ल अष्टमीतक बालकसा रहता है, पूर्णिमातक पूरा जवान होता है, पश्चात् कृष्ण अष्टमीसे क्षीणता आती है और अमावास्याकी रात्रीमें इसका देहपात होता है, और यह पश्चात् पुनः जन्म लेता है। चद्रमाकी जैसी सोलह कलाएं हैं वैसीही जीवात्माकी भी सोलह कलाएं मानी हैं । इस प्रकार साम्य वेदमें वर्णित है, यह इसी लिये है कि जनताको पता लगे कि जीवात्मा भी (पुनः नवः=पुनर्णवः) पुनः पुनः जन्म लेकर नवीन जैसा होनेवाला है । इसी प्रकार उपनिषदोंमें भी कहा है—

वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते।

ऐ० उ० ४।४

पुनःपुनर्वशमापद्यते मे॥ कठ उ० २।६

" बडी आयु होनेके पश्चात् इस लोकसे जाता है और पुनः जन्म लेता है। वह पुनः पुनः (जन्म लेकर मुझ मृत्युके) वशमें होता है।"

पूर्वोक्त स्थानमें ' त्वं स्त्री त्वं पुमानसि० ' इत्यादि मंत्र श्वेताश्वतर उपनिषदमें (४।३में) आगया है, पाठक वहां उसका संबंध अवश्य देखें। इस श्वेताश्वतर उपनिषद्का एक मंत्र यहां विशेष रीतिसे देखने योग्य है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ॥ स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ श्वे० २।१६

वा० य० ३२।४

" यही (देवः) प्रकाशमान आत्मा सब दिशाओंमें है वह (पूर्वः जातः) पहिले जन्मा था, (सः गर्भे अन्तः) वही फिर गर्भमें आया है, (सः जातः) वह एक वार जन्मा हुआ (जनिष्यमाणः) भविष्यमें पुनः जन्म लेगा। यह हरएक मनुष्यमें रहता है इसका मुख सब ओर है अर्थात् जितने मनुष्य अथवा प्राणी हैं उतने सब इसके मुखही हैं।

इसी कारण इसको 'मातरिश्वा' अर्थात् 'मातके गर्भ में रहने वाला' कहते हैं, क्यों कि यह वारंवार माताके गर्भमें जाता है और जन्मधारण करता है। पहिला जन्म लेकर देह प्राप्त करता है, उस देहकी समाप्तिपर उस देहका त्याग कर माताके गर्भमें प्रविष्ट होता है, वहां नया देह धारण करता है। इस प्रकार यह वारंवार माताके गर्भ में रहकर वारंवार भिन्न भिन्न देह प्राप्त करता है।

इत्यादि स्थलोंपर पुनर्जन्मके विषयमें उपनिषदोंके अंदर लिखा है। अर्थात् जीवात्मा निःसंदेह पुनर्जन्म प्राप्त करता है, इस विषयमें संदेह नहीं। इसी प्रकार इष्ट, मित्र, संबंधी, गुरु आदि नातेका जो संबंध है वह भी शरीरकी अपेक्षासे ही है। वह संबंध आत्माकी अपेक्षासे नहीं है। अर्थात् इस तत्त्वज्ञानके उपदेशसे अर्जुनको यह ज्ञान दिया कि जिनको अर्जुन गुरू, पिता, दादा, मामा आदि आप्तजन समझता है वह नाता केवल इस समयके अनित्य शरीरके संबंधसे उत्पन्न हुआ है। वस्तुतः उनके अंदर जो नित्य आत्मा विद्यमान है, उसकी दृष्टीसे इस प्रकारका कोई नातेका संबंध नहीं है, क्योंकि वह न कभी किसीका गुरु है और न दादा, मामा होता है। अतः यह संबंध अनित्य है । अर्थात् इस अनित्य संबंधके कारण

प्रभुका ध्यान ।

[७१ (७४)]

[ऋषिः—अथर्वा । देवता–अग्निः)

परिं त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावंतः ॥ १ ॥

अर्थ—हे (सहस्य अग्ने) बलवान तेजस्वी देव ! (वयं पुरं विप्रं धृषद्वर्णं) हम सब परिपूर्ण, ज्ञानी, शत्रुका धर्षण करनेवाले (भंगुरावतः हन्तारं) विनाशकको मारनेवाले (त्वा दिवे दिवे परि धीमहि) तुझ ईश्वरकी प्रतिदिन सब ओरसे स्तुति गाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर बलवान, अग्नि समान तेजस्वी, सर्वत्र परिपूर्ण, ज्ञानी, शत्रुका पराजय करनेवाला, घातपात करने वालेका विनाश करनेवाला है, अतः उसकी सब प्रकारसे स्तुति करना योग्य है ॥ १ ॥

मनुष्य ईश्वरके गुणगान गावे, उन गुणोंको अपने अंदर धारण करे और ईश्वरके गुणोंको अपनेमें बढावे । मनुष्य इन गुणोंका धारण करे यह बतानेके लिये ही ईश्वरके गुणोंका वर्णन स्थान स्थानपर किया होता है । यहां अग्नि नामसे ईश्वरका वर्णन है । अग्निभी उसी प्रभुकी आग्नेयशक्ति लेकर अग्नि गुणसे युक्त बना है । इसी प्रकार अन्यान्य नाम उसी एक प्रभुके लिये प्रयुक्त होते हैं ।

खान पान ।

[७२ (७५, ७६)]

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—इन्द्रः)

उत् तिष्ठतावं पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदिं श्रातं जुहोतंन यद्यश्रातं ममत्तंन ॥ १ ॥
श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वंनो वि मध्यंम् ।
परिं त्वासते निधिभिः सखांयः कुलपा न व्राजपतिं चरंन्तम् ॥ २ ॥

श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुशृतं मन्ये तदृतं नवीयः ।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन् पुरुकृज्जुषाणः ॥ ३ ॥

अर्थ—(उत् तिष्ठत) उठो और (इन्द्रस्य ऋत्वियं भागं अवपश्यत) प्रभुके ऋतुके अनुकूल भागको देखो। (यदि श्रातं) यदि परिपक्व हुआ हो तो (जुहोतन) स्वीकार करो और (यदि अश्रातं ममत्तन) यदि परिपक्व हुआ हो तो उसके परिपाक होनेतक आनन्द करो ॥ १ ॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (श्रातं हविः ओ सुप्रयाहि) हवि सिद्ध हुआ है, उसके प्रति तू उत्तम प्रकार प्राप्त हो, (सूरः अध्वनः मध्यं वि जगाम) सूर्य अपने मार्गके मध्यमें गया है। (सखायः निधिभिः त्वा परि आसते) समान विचारवाले लोग अपने संग्रहोंके साथ तेरे चारों ओर बैठते हैं। (कुलपाः व्राजपतिं चरन्तं न) जैसे कुलपालक पुत्र संघपति पिताके विचरते हुए उसके पास आते हैं ॥ २ ॥

(ऊधनि श्रातं मन्ये) गायके स्तनमें परिपक्व हुआ है ऐसा मैं मानता हूं। तत्पश्चात् (अग्नौ श्रातं) अग्निपर परिपक्व हुआ है अतः (तत् ऋतं नवीयः सुश्रृतं मन्ये) वह सचा नवीन दुग्ध उत्तम प्रकार परिपक्व हुआ है ऐसा मैं मानता हूं। हे (पुरुकृत् वज्रिन् इन्द्र) बहुत कर्म करनेवाले वज्रधारी प्रभो ! (जुषाणः) उसका सेवन करता हुआ (माध्यंदिनस्य सवनस्य दध्नः पिब) मध्यदिनके समय सवनके दहीको पान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ-उठो और ईश्वरने दिये ऋतुके अनुकूल अन्न भागको देखो। जो परिक्व हुआ हो उसको लो और यदि कुछ अन्नभाग परिपक्व न हुआ हो, तो उसके परिपाक होने तक आनंदसे रहो ॥ १ ॥

हे प्रभो ! यह अन्नभाग परिपक्व हुआ है,यह सिद्ध है, यहां प्राप्त हो, सूर्य मध्यान्ह में आगया है। सब मित्र अपने अपने संग्रहोंको लिये हुए प्राप्त हुए हैं। जैसे पुत्र पिताके पास इकट्ठे होते हैं वैसे हम सब तेरे पास इकट्ठे हुए हैं ॥ २ ॥

मैं मानता हूं कि एक तो गायके स्तनोंमें दूध परिपक्व होता है, पश्चात् अग्निपर परिपक्व होता है। नव अन्न इस प्रकार सिद्ध होता है। हे प्रभो मध्यदिनके समय इसका सेवन करो और दही पीओ ॥ ३ ॥

भोजनका समय।

सूर्य मध्यान्हमें आनेपर भोजन करना चाहिये, यह बात इस सूक्तसे प्रतीत होती है, देखिये-

सूरः अध्वनः मध्यं विजगाम। श्रातं हविः सुप्रयाहि। (मं० २)

"सूर्य मार्गके मध्यमें पहुंच चुका है अतः परिपक्व हुए अन्नके प्रति प्राप्त हो।" यह वाक्य भोजन का समय दोपहरके बारह बजे का या उसके किंचित पश्चात् का है, इस बातको स्पष्ट करता है। हवि नाम अन्नका है। यह अन्न परिपक्व हुआ हो। अन्न एकतो स्वयं (ऊधनि श्रातं) गायके स्तनोंमें परिपक्व होता है, जिसको हम दूध कहते हैं, यह दूध निचोडे जानेके पश्चात् (अग्नौ श्रातं) अग्निपर पकाया जाता है। एक स्वभावतः परिपक्वता होती है पश्चात् अग्निपर परिपक्वता होती है, पश्चात् देवताओंको समर्पण करके भोजन करना होता है। दूध पकनेके पश्चात् उसका दही बनाया जाता है। यह दही (मध्यन्दिनस्य दध्नः पिब) मध्यान्हके भोजनके समय पीना योग्य है। रात्रीके समय, या सवेरे दही पीना उचित नहीं, क्यों कि दही शीतवीर्य होता है इस कारण वह दोपहरके उष्ण समयमें ही पीना योग्य है।

जैसा गायके स्तनमें दूध परिपक्व होता है, उसी प्रकार 'गो' नाम भूमिके अंदर धान्य आदिकी उत्पत्ति होती है। इसको भी परिपक्व दशामें लेना चाहिये, पश्चात् अग्निपर पकाकर या भूनकर उसको सेवन करना चाहिये। यह अन्न दूध हो या अन्य धान्यादि हो वह (ऋतं नवीयः) सच्चा नया लेना योग्य है। दूध भी ताजा लेना चाहिये और धान्य भी बहुत पुराना लेना योग्य नहीं। अन्न भी पकते ही लेना चाहिये अर्थात् दोचार दिनके बासे पदार्थ लेने योग्य नहीं है। भगवद्गीतामें कहा है कि—

यातयामं गतरसं पूतिर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ भ० गी० १७।१०

"जो अन्न तैयार होकर तीन घण्टे व्यतीत हुए हैं, जो नीरस है, जो दुर्गंधयुक्त है, जो उच्छिष्ट है और अपवित्र है वह तामस लोगोंको प्रिय होता है।" अर्थात् अन्न पकाकर तीन घंटोंके पश्चात् उसका सेवन करना योग्य नहीं; तबतक पकनेके तीन घंटेतक उसको (ऋतं नवीयः) नया या ताजा कहते हैं, इसी अवस्थामें उसका सेवन करना चाहिए।

परमेश्वर (ऋत्वियं भागं) ऋतुके योग्य अन्न भागको देता है। जिस ऋतुमें जो

सेवन करने योग्य होता है वह अन्न, फूल, फल, रस आदि देता है। उसके पक्क अवस्थामें प्राप्त करना चाहिये और पश्चात् उसका सेवन करना चाहिये। यदि कोई फल पक्का न हो तो उसकी प्रतीक्षा आनंदके साथ करना चाहिये।

सब परिवारके तथा (सखायः) इष्टमित्र अपनी अपनी थालीमें (निधिभिः) अपने अन्न संग्रहको लें और साथ साथ पंक्तिमें बैठें, सब अपने अन्नभागसे कुछ भाग देवताओंके उद्देश्यसे समर्पण करें। सब इष्टमित्र ऐसा मानें की वह ईश्वर अपने बीचमें है अथवा हम उसके चारों ओर हैं और जो अन्न भाग मिले वह आनंदके साथ सेवन करें।

गाय और यज्ञ।

[७३ (७७)]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता अश्विनौ)

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु।
वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (वृषणौ अश्विनौ) दोनों बलवान अश्विदेवों! (दिवः रथी अग्निः समिद्धः) प्रकाशका रथ जैसा अग्नि प्रदीप्त हुआ है। यह (घर्मः तप्तः) तपी हुई गर्मीही है। यह (वां इषे मधु दुह्यते) आप दोनों के लिये मधुर रस का दोहन करता है। (वयं पुरु-दमासः कारवः सध-मादेषु वां हवामहे) हम सब बहुत घरवाले और कार्य करनेवाले पुरुष साथ साथ मिलकर आनंद करनेके समय तुम दोनोंको बुलाते है ॥ १ ॥

भावार्थ—हवनकी अग्नि प्रदीप्त हो चुकी है, गौका दोहन किया जाता है और हम सब ऋत्विज देवताओंको बुलाते हैं ॥ १ ॥

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम् ।
दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः ॥ २ ॥
स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः ।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥ ३ ॥
यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोयं स वामश्विना भाग आ गतम् ।
माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः ॥ ४ ॥

अर्थ- हे (वृषणौ अश्विनौ) बलवान् अश्विदेवो ! (अग्निः समिद्धः) अग्नि प्रदीप्त हुआ है, (वां घर्मः तप्तः) आपके लिये हि यह दूध तप रहा है। इसलिये (आगतं) आओ। (नूनं इह धेनवः दुह्यन्ते) निश्चयसे यहां गौवें दूही जाती हैं। हे (दस्रौ) दर्शनीय देवो ! (वेधसः मदन्ति) ज्ञानी आनंद करते हैं ॥ २ ॥

(यः अश्विनोः देवपानः चमसः यज्ञः) जो अश्विदेवोंका देव जिससे रसपान करते हैं ऐसा चमसरूपी यज्ञ है वह (देवेषु स्वाहाकृतः शुचिः) देवोंके अंदर स्वाहा किया हुआ अतएव पवित्र है। विश्वे अमृतासः तं उ जुषाणाः) सब देव उसीका सेवन करते हैं और (तं उ गंधर्वस्य आस्ना प्रत्यारिहन्ति) उसीकी गंधर्वके मुखसे पूजाभी करते हैं ॥ ३ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (यत उस्रियासु आहुतं घृतं पयः) जो गौओंमें रखा हुआ घृतमिश्रित दूध है, (अयं सः वां भागः) यह वह आपका भाग है, तुम दोनों (आगतं) आओ। हे (माध्वी) मधुरतायुक्त (विदथस्य धर्तारौ) यज्ञके धारक, (सत्पती) उत्तम पालको ! (दिवः रोचने तप्तं घर्मं पिबतं) द्युलोकके प्रकाशमें तपाहुआ यह दूध रूपी तेज पीओ ॥ ४ ॥

भावार्थ- हे देवो ! अग्नि प्रदीप्त हुई है, दूध तप रहा है, इसलिये यहां आओ, यह गौवें दोही जाती हैं जिससे ज्ञानी आनंदित होते हैं ॥ २ ॥

यह यज्ञ ऐसा है कि जिसमें देवतालोग रसपान करते हैं, और वे इस पवित्र यज्ञका सेवन करते हैं और सत्कार करते हैं ॥ ३ ॥

गौके दूधमें देवोंका भाग है, इसलिये इस यज्ञमें पधारो। और इस तपे हुए मधुर गोरसको पीओ ॥ ४ ॥

तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान् ।
मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः ॥ ५ ॥
उप द्रव पयसा गोधुगोषमा घर्मे सिञ्च पय उस्रियायाः ।
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योनुप्रयाणमुषसो वि राजति ॥ ६ ॥
उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचत् ॥ ७ ॥

अर्थ- हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (तप्तः घर्मः वां नक्षतु) तपा हुआ तेज रूपी यह दूध तुम दोनोंको प्राप्त होवे। (स्वहोता पयस्वान् अध्वर्युः वां प्रचरतु) हवनकर्ता दूध लिये हुए अध्वर्यु तुम दोनोंकी सेवा करे। (तनायाः उस्रियायाः मधोः दुग्धस्य पयसः) हृष्टपुष्ट गौके दुहे हुए मधुर दूधको (वीतं पातं) प्राप्त करो और पीओ ॥ ५ ॥

हे (गोधुक्) गायका दोहन करनेवाले ! (पयसा ओषं उपद्रव) दूधके साथ अतिशीघ्र यहां आ, (उस्रियायाः पयः घर्मे आसिञ्च) गौका दूध कढाईमें रख, और तपा। (वरेण्यः सविता नाकं वि अख्यत्) श्रेष्ठ सविता सुखपूर्ण स्वर्गधाम को प्रकाशित करता है और वह (उषसः अनुप्रयाणं विराजति) उषः कालके गमनके पश्चात् विराजता है ॥ ६ ॥

(सुहस्तः एतां सुदुघां धेनुं उपह्वये) उत्तम हाथवाला मैं इस सुखसे दोहनेयोग्य धेनुको बुलाता हूं। (उत गोधुक् एनां दोहत) और गायका दोहन करनेवाला इसका दोहन करे। (सविता श्रेष्ठं सवं नः साविषत्) सविता यह श्रेष्ठ अन्न हमें देवे। (अभीद्धः घर्मः तत् उ सु प्रवोचत्) प्रदीप्त तेज रूपी दूध यही बता देवे ॥ ७ ॥

भावार्थ-हे देवो ! यह तपा हुआ रस तुम्हें प्राप्त हो। गौके इस मधुर गोरसका पान करो ॥ ५ ॥

हे गौका दोहन करनेवाले ! दूध लेकर यज्ञमें आओ। गायका दूध तपाओ। हवन करो, श्रेष्ठ सविताने यह सुखमय स्वर्ग तुम्हारे लिये खुला किया है ॥ ६ ॥

मैं दूध दोहनेमें कुशल हूं, और गायको दोहनेके लिये बुलाता हूं। दोहनेवाला इसका दोहन करे। सविताने इस श्रेष्ठ रसको दिया है ॥ ७ ॥

हि॒ङ्कृ॒ण्व॒ती व॑सुप॒त्नी वसू॑नां व॒त्समि॒च्छन्ती॒ मन॑सा॒ न्याग॑न् ।
दु॒हाम॒श्विभ्यां॒ पयो॑ अ॒घ्न्येयं सा व॑र्धतां म॒हते॒ सौभ॑गाय ॥ ८ ॥
जुष्टो॒ दमू॑ना॒ अति॑थिर्दुरो॒ण इ॒मं नो॑ य॒ज्ञमुप॑ याहि वि॒द्वान् ।
विश्वा॑ अग्ने अभि॒युजो॑ वि॒हत्य॑ शत्रूय॒तामा भ॑रा॒ भोज॑नानि ॥ ९ ॥
अग्ने॒ शर्ध॑ म॒हते॒ सौभ॑गाय॒ तव॑ द्यु॒म्नान्यु॑त्त॒मानि॑ सन्तु ।
सं जा॑स्प॒त्यं सु॒यम॒मा कृ॑णुष्व शत्रूय॒ताम॒भि ति॑ष्ठा॒ महां॑सि ॥ १० ॥

अर्थ— (हिंकृण्वती वसूनां वसुपत्नी) हीं हीं करनेवाली ऐश्वर्योंका पालन करनेवाली (मनसा वत्सं इच्छन्ती नि आगात्) मनसे बछडेकी कामना करती हुई समीप आगई है। (इयं अघ्न्या अश्विभ्यां पयः दुहां) यह गौ दोनों अश्विदेवोंके लिये दूध देवे। और (सा महते सौभगाय वर्धतां) वह बडे सौभाग्य के लिये बढे ॥ ८ ॥

(दमूना अतिथिः दुरोणे जुष्टः) दमन किये हुए मनवाला अतिथि घरमें सेवित होकर यह (विद्वान्) ज्ञानी (नः इमं यज्ञं उपयाहि) हमारे इस यज्ञमें आवे। हे अग्ने ! (विश्वा अभियुजः विहत्य) सब शत्रुओंका वध करके (शत्रूयतां भोजनानि आभर) शत्रुता करनेवालोंके अन्न हमारे पास ला ॥ ९ ॥

हे (शर्ध अग्ने) बलवान अग्ने। (तव उत्तमानि द्युम्नानि महते सौभगाय सन्तु) तेरे उत्तम तेज बडे सौभाग्य बढानेवाले हों। (जास्पत्यं सुयमं सं आकृणुष्व) स्त्रीपुरुष संबंध उत्तम संयमपूर्वक होवे। (शत्रूयतां महांसि अभितिष्ठा) शत्रुता करनेवालोंके बलोंका मुकाबला कर ॥ १० ॥

भावार्थ- हींहीं करती हुई, मनसे बछडेकी इच्छा करनेवाली गौ यहां आगई है। यह अहननीय गौ देवोंके लिये दूध देवे और बडे सौभाग्य की वृद्धि करे ॥ ८ ॥

यह इन्द्रियसंयमी अतिथि विद्वान् हमारे यज्ञमें आवे। हमारे सब शत्रुओंका नाश करके, शत्रुओंके भोग हमारे पास ले आवे ॥ ९ ॥

हे देव ! जो तेरे उत्तम तेज हैं वह हमारा भाग्य बढावे। स्त्रीपुरुष-संबंधमें उत्तम नियम रहे, अनियमसे व्यवहार न हो। शत्रुता करनेवालों-का पराभव करो ॥ १० ॥

सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ ११ ॥
॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अर्थ- हे (अघ्न्ये) न मारने योग्य गौ ! तू (सु-यवस-अद् भगवती हि भूयाः) उत्तम घास खानेवाली भाग्यशालिनी हो ! (अधा वयं भगवन्तः स्याम) और हम भाग्यवान होंगे। (विश्वदानीं तृणं अद्धि) सदा तृण भक्षण कर और (आचरन्ती शुद्धं उदकं पिब) भ्रमण करती हुई शुद्ध जल पी ॥ ११ ॥

भावार्थ— हे गौ ! तू उत्तम घास खा, और भाग्यवान् बन। तुझसे हम भाग्यशाली बनेंगे। गाय घास खावे और इधर उधर भ्रमण करती हुई शुद्ध पानी पीवे ॥ ११ ॥

गोरक्षा।

गौकी रक्षा कैसी की जावे इस विषयमें इस सूक्तके आदेश स्मरण रखने योग्य हैं। देखिये—

१ सूयवस-अद्=उत्तम घास खानेवाली, अर्थात् बुरा घास अथवा बुरे जौ न खानेवाली गौ हो। गायके दूधमें खाये हुए पदार्थका सत्त्व आता है, इसलिये यदि गाय उत्तम घास खावेगी तो दूध भी नीरोग और पुष्टिकारक होगा। इसलिये यह आदेश स्मरण रखने योग्य है। साधारण अनाडी लोग प्रातःकाल गायको भ्रमणके लिये ले जाते हैं, और उस समय गौको मनुष्य का शौच-विष्ठा-भी खिलाते हैं। पाठक ही विचार कर सकते हैं कि ऐसे पदार्थ खिलाकर उत्पन्न हुआ दूध कैसा होगा। विष्ठामें जो बुरे पदार्थ होंगे, जो कृमि होंगे, उन सबका परिणाम उस दूधपर होगा, और वैसा दूध रोगकारक होगा। अतः यह वेदका संदेश गोपालना करनेवाले लोग अवश्य ध्यानमें धारण करें। (मं० ११)

२ शुद्धं उदकं पिबन्ती=शुद्ध जल पीनेवाली गौ हो। अशुद्ध, मलीन, गंदा, दुर्गंधयुक्त जल गौ न पीवे। इसका कारण ऊपर दिया हुआ समझना योग्य है। (मं०११)

३ आचरन्ती= भ्रमण करनेवाली। गौ इधर उधर अच्छी प्रकार भ्रमण करे। गौ केवल घरमें बंधी नहीं रहनी चाहिये। वह सूर्यप्रकाशमें भ्रमण करनेवाली हो। सूर्य-प्रकाशमें घूमनेवाली गौका दूध ही पीने योग्य होता है। (मं० ११)

४ विश्वदानीं तृणं अद्धि=गौ सदा तृण-घास—ही खावे। दूसरे दूसरे पदार्थ न खावे। जौके खेतमें भ्रमण करे और जौ खावे। इस प्रकारकी गौका दूध उत्तम होता है। (मं०११)

५ भगवती: भूयाः=बलवती, प्रेममयी, शुभगुणयुक्त गौ हो। गायपर प्रेम करनेसे वह भी घरवालों पर प्रेम करती है। इस प्रकार प्रेम करनेवाली गौका दूध पीनेसे पीनेवालेका कल्याण होता है। (मं ११)

ये शब्द गायकी पालना कैसी करनी चाहिये, इस बातकी सूचना देते हैं। पाठक इसका विचार करें और अपनी गौकी पालना इस प्रकार करें।

६ सुदुघा=जो विना आयास दोही जाती है। दोहन करनेके समय जो कष्ट नहीं देती। (मं० ७)

७ सुहस्तः गोधुक् एनां दोहत् = उत्तम हाथवाला मनुष्य ही गौका दोहन करे। अर्थात् दोहन करनेवाला मनुष्य अपने हाथ पहिले स्वच्छ करे, निर्मल करे और गौको दुहे। अपने हाथको फोडा फुन्सी नहीं है, ऐसा देखकर वैसे उत्तम हाथसे दोहन करे। इस आदेशका अत्यंत महत्त्व है। जो दोष गवालियोंके हाथपर होगा, वह दोष दूधमें उतरेगा और वह सीधा पीनेवालोंके पेटमें जावेगा। अतः हाथ स्वच्छ रखकर गायका दोहन करना चाहिये। (मं० ७)

८ अघ्न्या = गाय अवध्य है, अतः उसको ताडन भी नहीं करना चाहिये। अपनी माताके समान प्रेमसे उसकी पालना करना योग्य है। (मं० ८)

९ सा महते सौभगाय वर्धतां=ऐसी पाली हुई गौ बडे सौभाग्यके साथ बढे। हरएक घरमें ऐसी गोमाता रहे, हमारी भी यही इच्छा है। (मं० ८)

१० वत्सं इच्छन्ती=गौ बछडेवाली हो। मृतवत्सा न हो। मृतवत्सा गौका दूध पीनेसे पीनेवालोंके घरमें भी वही बात बन जायगी। क्यों कि यदि गौके दूधके दोषके कारण उसका बछडा मरा हो, तो वह दोष पीनेवालोंके वीर्यमें भी बढ जायगा। अतः बछडेवाली गाय हो और बछडेकी इच्छा करनेवाली वह प्रेमसे घरमें आजाय। (मं०८)

११ गोधुक् पयसा उपद्रव, उस्रियायाः पयः घर्मे सिंच=गायका दोहन करनेवाला मनुष्य दूध लेकर शीघ्रतासे आवे और वह गायका दूध अग्निपर रखे। इसका मतलब यह है कि बहुत देर तक दूध कच्चा न रखा जावे। चाहे मनुष्य धारोष्ण ही पीवे, निचोडते ही पीवे, परंतु रखना हो तो शीघ्रही अग्निपर तपाकर रखे। क्यों कि दूधमें नाना प्रकारके क्रिमी हवामेंसे जाकर जम जाते हैं और वहां वे बढते हैं। अतः कच्ची

अवस्थामें दूध बहुत देरतक रखना नहीं चाहिये। शीघ्रही अग्निपर चढाना चाहिये। (मं० ६)

१२ मधु दुह्यते=गायका दोहन करके जो निचोडा जाता है वह मधु अर्थात् शहद ही है। क्यों कि वह बडा मीठा होता है। (मं० १)

१३ तप्तं पिबतं= तपा हुआ दूध पीओ। इसका कारण ऊपर दिया ही है (मं० ४)

इसी प्रकारके दूधका देवोंके लिये समर्पण करना चाहिये। विशेषतः अश्विनी देवोंका भाग गायका दूध और घी ही है, यह बात चतुर्थ मंत्रमें कही है। अश्विनी देव स्वयं देवोंके वैद्य हैं अतः उनको मालूम है कि कौनसा दूध अच्छा है और कौनसा अच्छा नहीं है। अश्विनी देव दूसरा दूध पीते ही नहीं और दूसरा घी भी नहीं सेवन करते। यह बात हम सबको स्मरण रखने योग्य है। अतः मनुष्योंको गायका ही दूध और घी पीना चाहिये, और भैंसका नहीं, यह बात भी इस प्रकार यहां सिद्ध हुई। इसी प्रकार बाजारका दूध भी नहीं लेना चाहिये, क्यों कि वह दूध इतनी स्वच्छतासे रखा होता है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अतः घरघरमें गौ पालनी चाहिये और उसका दूध यज्ञमें समर्पण करना चाहिये और हुतशेष भक्षण करना चाहिये।

गण्डमाला-चिकित्सा।

[७४ (७८)]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता-मन्त्रोक्ता, ४ जातवेदाः)

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥ १ ॥

अर्थ—(लोहिनीनां अपचितां) लाल गण्डमालाकी (कृष्णा माता इति शुश्रुम) कृष्णा उत्पादक है ऐसा सुना जाता है। (ताः सर्वाः) उन सब गण्डमालाओंको (देवस्य मुनेः मूलेन अहं विध्यामि) मुनि नामक दिव्य वनस्पतिकी मूली—जड—से मैं नाश करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ-लाल रंगवाली गण्डमालाका नाश करनेके लिये मुनि नामक औषधी की जड बडी उपयोगी है ॥ १ ॥

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम् ।
इदं जघन्यामासामा छिनद्मि स्तुकामिव ॥ २ ॥
त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्याममीमदम् ।
अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि ॥ ३ ॥
व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह ।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे ॥ ४ ॥

अर्थ-(आसां प्रथमां विध्यामि) इनके पहिली गण्डमाला को मैं वेधता हूं, (उत मध्यमां विध्यामि) और मध्यमको वेधता हूं। (आसां जघन्यां इदं आ छिनद्मि) इनकी नीचली को मैं यह छेदता हूं (स्तुकां इव) जिस प्रकार ग्रंथीको खोलते हैं ॥ २ ॥

(त्वाष्ट्रेण वचसा) सूक्ष्मता उत्पन्न करनेवाली वाणीसे (अहं ते ईर्ष्यां वि अमीमदम्) मैं तेरी ईर्ष्या दूर करता हूं । हे पते ! (अथ यः ते मन्युः और जो तेरा क्रोध है, (ते तं शमयामसि) तेरे उस क्रोधको हम शान्त करते हैं ॥ ३ ॥

हे (व्रतपते) व्रतपालन करनेवाले ! (त्वं व्रतेन समक्तः) तूं व्रतसे संयुक्त होकर (इह विश्वाहा सुमनाः दीदिहि) यहां सर्वदा उत्तम मनवाला होकर प्रकाशित हो । हे (जातवेदः) अग्ने ! (सर्वे वयं तं त्वा समिद्धं) हम सब उस तुझ प्रदीप्त हुए को (प्रजावन्तः उपसेदिम) प्रजावाले होकर प्राप्त होंगे ॥ ४ ॥

भावार्थ-इससे पहिली बीचकी और अन्तकी गण्डमाला दूर होती है॥२॥
क्रोध और ईर्ष्या सूक्ष्मविचार के द्वारा दूर किये जांय ॥ ३ ॥
नियमपालन से सदा उत्तम मन रहता है और मनुष्य प्रकाशमान हो सकता है । इस प्रकार हम सब तेजस्वी होकर, बालबच्चोंको साथ लेते हुए हम तेजस्वी ईश्वरकी उपासना करेंगे ॥ ४ ॥

मुनि नाम " दमनक, वक, पलाश, प्रियाल, मदन " इत्यादि अनेक औषधियोंका है, उनमेंसे कौनसी औषधि गण्डमाला दूर करनेवाली है इसका निश्चय वैद्योंको करना चाहिये। क्रोध मनसे हटाना, पथ्य के नियमोंका पालन करना इत्यादि बातें आरोग्य देनेवाली हैं इसमें संदेह नहीं है ।

गायकी पालना।

[७५ (७९)]

(ऋषिः-उपरिबभ्रवः। देवता-अघ्न्याः)

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा वं स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ १ ॥
पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः। उप मा देवीर्देवेभिरेत ॥
इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान्त्समुक्षत ॥ २ ॥

अर्थ—(प्रजावतीः) उत्तम बछडोंवाली (सूयवसे चरन्तीः) उत्तम घासके लिये विचरती हुई (सु-प्र-पाने शुद्धाः अपः पिबन्तीः) उत्तम जलस्थानपर शुद्ध जल पान करनेवाली गौवें हों। हे गौवो! (स्तेनः वः मा ईशत) चोर तुमपर शासन न करे। (मा अघशंसः) पापी भी तुमपर हुकुमत न करे। (रुद्रस्य हेतिः वः परि वृणक्तु) रुद्रका शस्त्र तुम्हारी रक्षा करे ॥ १ ॥

हे (रमतयः) आनन्द देनेवाली गौवो! (पदज्ञाः स्थ) अपने निवासस्थानको जाननेवाली हो। तुम (संहिताः विश्वनाम्नीः देवीः) इकट्ठी हुई बहुत नामवाली दिव्य गौवें (देवेभिः मा उप एत) दिव्य बछडोंके साथ मेरे पास आओ। (इमं गो-स्थं, इदं सदं) इस गोशालाको और इस घरको तथा (अस्मान्) हम सबको (घृतेन सं उक्षत) घीसे युक्त करो ॥२॥

भावार्थ—गौवें उत्तम घास खानेवाली और शुद्धजल पीनेवाली हों। उनको बहुत बछडे हों। कोई चोर और कोई पापी उनको अपने आधीन न करे। महावीरके शस्त्र उनकी रक्षा करें ॥ १ ॥

गौवें हमें आनंद दें। वे अपने निवासस्थानको पहचानें, मिलकर रहें, अनेक नामवाली दिव्य गौवें अपने बछडोंके साथ हमारे पास आवें। और हमें भरपूर घी देवें ॥ २ ॥

इसमें भी गोपालनके आदेश दिये हैं वे स्मरण रखने योग्य हैं। पाठक इस सूक्तके साथ ७३ (७७) वां सूक्त अवश्य देखें ॥

गण्डमाला की चिकित्सा ।

[७६ (८०, ८१)]

(ऋषिः—अथर्वा । देवता–१,२ अपचिद्भैषज्यं । ३—६ जायान्यः, इन्द्रः ।)

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः ।
सेहोररसतरा लवणाद् विक्लेदीयसीः ॥ १ ॥
या ग्रैव्या अपचितोथो या उपपक्ष्याः ।
विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः ॥ २ ॥
यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥ ३ ॥

अर्थ–(सुस्रसः सुस्रसः आ) बहनेवालीसे भी अधिक बहनेवाली, (असतीभ्यः असत्तराः) बुरीसेभी बुरी, (सेहोः अरसतराः) शुष्कसेभी अधिक शुष्क और (लवणात् विक्लेदीयसीः) नमकसेभी अधिक पानी निकालनेवाली गण्डमाला है ॥ १ ॥

(याः अपचितः ग्रैव्याः) जो गण्डमाला गलेमें होती है, (अथो या उपपक्ष्याः) और जो कन्धों या बगलोंमें होती है तथा (याः अपचितः विजाम्नि) जो गंडमाला गुप्तस्थानपर होती है, ये सब (स्वयं स्रसः) स्वयं बहनेवाली है ॥ २ ॥

(यः कीकसाः प्रशृणाति) जो पसलियोंको तोडता है, जो (तलीद्यं अवतिष्ठति) तलवेमें बैठता है, (यः कः च ककुदि श्रितः) जो रोग पीठमें जम गया होता है, (तं सर्वं जायान्यं) उस सब स्त्रीद्वारा आनेवाले रोग को (निः हाः) निकाल दो ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब गण्डमाला बहनेवाली, बुरी, खुष्की उत्पन्न करनेवाली और द्रव उत्पन्न करनेवाली होती है ॥ १ ॥

कई गण्डमाला गलेमें, कन्धेमें, गुप्तस्थानपर होती है और ये सब स्राव करनेवाली होती हैं ॥ २ ॥

हड्डीमें, तलवेमें, पीठमें एक रोग होता है वह स्त्रीसंबंधसे रोग होता है ॥ ३ ॥

पक्षी जायान्यः पतति स आ विंशति पूरुषम् ।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥ ४ ॥
विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे ।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥ ५ ॥
धृषत् पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम् ।
माध्यंन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि ॥ ६ ॥

अर्थ—(पक्षी जायान्यः पतति) पक्षीके समान यह स्त्रीसे उत्पन्न रोग उडता है और (सः पूरुषं आविशति) वह मनुष्य के पास पहुंचता है। (तत् अक्षितस्य सुक्षतस्य उभयोः च) वह चिरकालसे रोगग्रस्त न हुए अथवा उत्तम क्षत किंवा व्रणयुक्त बने दोनोंका (भेषजं) औषध है ॥ ४ ॥

हे (जायान्य) स्त्रीसे उत्पन्न होनेवाले क्षयरोग ! (यतः जायसे) जहांसे तू उत्पन्न होता है, (ते जानं विद्म वै) तेरा जन्म हम जानते हैं। (त्वं तत्र कथं हनः) तू वहां कैसा मारा जाता है (यस्य गृहे हविः कृण्मः जिसके घरमें हम हवन करते हैं ॥ ५ ॥

हे (शूर धृषत् इन्द्र) शूर, शत्रुको दबानेवाले इन्द्र ! (कलशे सोमं पिब) पात्रमें रखा सोमरस पीओ। तू (वसूनां समरे वृत्रहा) धनोंके युद्धमें शत्रुका पराजय करनेवाला है। (माध्यन्दिने सवने आवृषस्व) मध्यदिनके सवन के समय तू बलवान् हो। (रयि-स्थानः अस्मासु रयिं धेहि) तू धनके स्थान में रहकर हमें धन दे ॥ ६ ॥

भावार्थ— इसके बीज पक्षीके समान हवामें उडते हैं, ये मनुष्यमें जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। जो लोग ऐसे रोगसे चिरकालसे ग्रस्त होते हैं, अथवा जिनमें व्रण होते हैं, ऐसे रोगको भी औषधसे उपचार करना चाहिये ॥ ४ ॥

स्त्रीसे उत्पन्न होनेवाला क्षयरोग कैसा उत्पन्न होता है यह जानना चाहिये। जिसके घरमें हवन होता है वहांके रोगबीज हवनसे जलजाते हैं ॥ ५ ॥

हे शूर प्रभो ! इस सोमरसका सेवन करो। तू शत्रुओंका नाश करनेवाला और बलवान् है। हमें धन दे ॥ ६ ॥

गण्डमाला ।

इस एक सूक्तमें वस्तुतः भिन्न भिन्न दो सूक्त हैं । और एक का दूसरेके साथ कोई संबंध नहीं । परंतु यदि इन दो सूक्तोंका संबंध देखना हो, तो एकही विचारसे देखा जा सकता है । पहिले दो मंत्रोंमें जिस गण्डमालाका उल्लेख है, वह गण्डमाला क्षयरोगसे उत्पन्न होती है जो क्षयरोग स्त्रीके विषयातिरेकसे उत्पन्न होता है । इस प्रकार संबंध देखनेसे ये दो सूक्त विभिन्न होते हुए भी एक स्थानपर क्यों रखे हैं, इसका ज्ञान हो सकता है ।

यह गण्डमाला बहनेवाली, खुष्की बढानेवाली, नमक जैसी गीली रहनेवाली, बुरा परिणाम करनेवाली, गलेमें उत्पन्न होनेवाली, पसुलियोंमें उत्पन्न होनेवाली, जिसकी उत्पत्ति गुप्त स्थानके विषयातिरेकसे होती है ।

इसके रोगबीज पसलियों और हड्डियोंको कमजोर करते हैं, हाथ पांवके तलवोंमें बैठकर गर्मी पैदा करते हैं, पीठ की रीढमें रहते हैं । इन स्थानोंसे इनको हटाना चाहिये ।

इस क्षयके रोगबीज पक्षी जैसे हवामें उडते हैं और वे—

पक्षी जायान्यः पतति । स पूरुषं आविशति ॥ (मं० ४)

"पक्षी जैसे क्षयरोगके बीज उडते हैं, और वे मनुष्यमें प्रवेश करते हैं" तथा ये (जायान्यः) स्त्रीसंबंधसे उत्पन्न होते हैं अर्थात् स्त्रीसे अति संबंध करनेसे शरीर वीर्य-हीन होता है और इन को बढनेका अवसर मिलता है ।

हवनसे नीरोगता ।

यस्य गृहे हविः कृण्मः, तत्र हनः । (मं० ५)

"जिसके घरमें हवन करते हैं वहां इनका नाश होता है" ये क्षयरोगके बीज हवामें उडकर आते हैं और हवन होते ही इनका नाश होता है । यह हवनका महत्त्व है । पाठक इसका अवश्य स्मरण रखें । हवन आरोग्य देनेवाला है । इस प्रकार नीरोग बने मनुष्य शूर होते हैं, वे सोमरस पान करें, और अपने शत्रुओंका दमन करनेद्वारा अपने लिये यश और धन संपादन करें ।

बंधनसे मुक्ति।

[७७ (८२)] (ऋषिः—अंगिराः। देवता-मरुतः)

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन। अस्माकोती रिशादसः॥ १॥

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति।

द्रुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम्॥ २॥

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः।

ते अस्मत् पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सरा मादयिष्णवः॥ ३॥

अर्थ—हे (सां-तपनाः मरुतः=मर्-उतः) अच्छी प्रकार शत्रुको तपाने-वाले मरनेके लिये तैयार वीरो! (इदं तत् हविः जुजुष्टन) इस हवि-अन्न-का सेवन करो। हे (रिश-अदसः) शत्रुओंका नाश करनेवालो! (अस्माक ऊती) हमारी रक्षा करो॥ १॥

हे (वसवः मरुतः) निवासक मरुतो! (यः नः मर्तः दुर्हृणायुः) हममेंसे जो मनुष्य दुष्टभावसे युक्त होकर (चित्तानि तिरः जिघांसति) हमारे चित्तोंको छिपकर नाश करना चाहता है। (सः द्रुहः पाशान् प्रतिमुञ्चतां) उसपर द्रोहीके पाश छोडो और (तं तपिष्ठेन तपसा हन्तन) उसको तापदायक तपनसे मार डालो॥ २॥

(संवत्सरीणाः सु—अर्काः) वर्ष भरतक प्रकाशनेवाले. (सगणाः उरुक्षयाः) सेनासमूहके साथ बडे घरोंमें रहनेवाले, (मानुषासः) मानवी वीर (सांतपनाः मादयिष्णवः मत्सराः) शत्रुको संताप देनेवाले हर्ष बढानेवाले प्रसन्न (ते मर्-उतः) वे मरनेतक लडनेवाले वीर (एनसः पाशान् अस्मत प्रमुञ्चंतु) पापके पाशोंको हमसे छुडावें॥ ३॥

भावार्थ— शत्रुको ताप देनेवाले वीर हमने दिये अन्नभागको स्वीकार करके, शत्रुओंका नाश कर, हमारी रक्षा करें॥ १॥

हममें से कोई दुष्ट मनुष्य यदि छिपकर हमारे मनोंका नाश करना चाहे, तो उसको पाशोंसे बांध कर मार डालो॥ २॥

सालभर रहनेवाले, तेजस्वी, अनुयायियोंके साथ बडे घरोंमें रहनेवाले, शत्रु को ताप देनेवाले मानवी वीर पापसे हमें बचावे॥ ३॥

इसमें क्षत्रियधर्म बताया है। क्षत्रिय शत्रुको ताप देनेवाला शूरवीर हो, स्वजनोंकी रक्षा करे, अपनेमें यदि कोई दुष्ट मनुष्य निकल आवे, तो उसको भी दण्ड देवे, सबको निर्भय बनावे और पापसे जनोंको दूर रखे।

बंधमुक्तता।

[७८ (८३)]

(ऋषिः—अथर्वा। देवता—अग्निः)

वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम्।
इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने ॥ १ ॥
अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन।
दीदिह्यस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दां देवतासु ॥ २ ॥

अर्थ—हे अग्ने! (ते रशनां विमुञ्चामि) तेरी रस्सीको मैं खोलता हूं। तेरे (योक्त्रं वि) बंधनको भी मैं छोडता हूं। (नियोजनं वि) तेरे खींचकर बांधनेवाले बंधको भी मैं छोडता हूं। (इह एव त्वं अजस्रः एधि) यहां ही तू अहिंसित होकर रह ॥ १ ॥

हे अग्ने! (अस्मै क्षत्राणि धारयन्तं त्वा) इसके लिये यहां क्षत्रधर्मका धारण करनेवाले तुझको (दैव्येन ब्रह्मणा) दिव्यज्ञानके साथ (युनज्मि) युक्त बनाता हूं। (अस्मभ्यं इह द्रविणा दीदिहि) हमारे लिये यहां धन दे। (इमं देवतासु हविर्दां प्रवोचः) इसके विषयमें देवताओंमें हविसमर्पण करनेवाला करके वर्णन किया जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—पहिला, बीचका और निचला इस प्रकार तीनों बंधनोंको मैं खोलकर तुम्हें मुक्त करता हूं, इस प्रकार तू मुक्त होकर यहां आ ॥ १ ॥

वीरता धारण कर, दिव्यज्ञानसे युक्त हो, धन समर्पण कर, देवताओंमें हवि अर्पण कर, इसीसे तुम्हारा यश बढेगा ॥ २ ॥

तीन बंधन।

बंधन तीन प्रकारके रहते हैं, एक मनका बंधन, दूसरा अथवा बीचका वाणीका और तीसरा अथवा निचला देहका। इन तीन बंधनोंसे मनुष्य बंधा है अर्थात् बद्ध

हुआ है। इससे उसको मुक्त होना है। ये बंध जब खोले जाते हैं तब वह मुक्त होता है, तबतक उसकी बद्ध स्थिति है ऐसा कहते हैं।

बंधसे छूटनेके लिये क्षत्र अर्थात् पुरुषार्थ करनेका सामर्थ्य अवश्य चाहिये। इसके विना कोई मनुष्य बंधमुक्त होनेका यत्न भी नहीं कर सकता। इसके पश्चात् उसको ज्ञान चाहिये। ज्ञानके विना बंधनसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। ज्ञानका अर्थ (मोक्षे धीर्ज्ञानं) बंधमुक्त होनेका उपाय जानना है। पुरुषार्थ द्वारा धन आदि प्राप्त करना और उस प्राप्त धनका ईश्वरार्पण बुद्धिसे समर्पण करना, ये दो कार्य करना मनुष्यको योग्य है। इसीसे मनुष्यके बंध दूर होते हैं। विशेष कर अपने धनका समर्पण अर्थात् त्याग, (देवतासु हविर्दा) देवताओंको समर्पण करनेसे मनुष्य बंधनसे मुक्त होता है।

यह सूक्त थोडासा अस्पष्ट है, तथापि उक्त प्रकार इसका विचार करनेसे इसका भाव समझमें आ सकता है।

अमावास्या।

[७९ (८४)]

(ऋषिः-अथर्वा। देवता—अमावास्या)

यत् ते॑ दे॒वा अकृ॑ण्वन् भाग॒धेय॒ममा॑वास्ये सं॒वस॑न्तो महि॒त्वा।
तेना॑ नो य॒ज्ञं पि॑पृहि विश्ववारे र॒यिं नो॑ धेहि सुभगे सु॒वीर॑म् ॥ १ ॥

अर्थ—हे (अमावास्ये) अमावास्ये! (ते महित्वा) तेरे महत्वसे (संवसन्तः देवाः) एकत्र निवास करनेवाले देव (यत् भागधेयं अकृण्वन्) जो भाग्य बनाते हैं, (तेन नः यज्ञं पिपृहि) उससे हमारे यज्ञकी पूर्णता कर। हे (विश्ववारे सुभगे) सबको वरनेयोग्य उत्तम भाग्यवती देवी! (सुवीरं रयिं नः धेहि) उत्तम वीरवाला धन हमें दो ॥ १ ॥

भावार्थ— सब देव जो भाग्य देते हैं वह हमें प्राप्त होवे और उससे हमारा यज्ञ पूर्ण होवे। तथा हमें ऐसा धन प्राप्त होवे कि जिसके साथ वीर हों ॥ १ ॥

अहमेवास्म्यमावास्या३मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे ।
मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे ॥ २ ॥
आगन् रात्री सङ्गमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती ।
अमावास्यायै हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न आगन् ॥ ३ ॥
अमावास्ये न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ४ ॥

अर्थ—(अहं एव अमावास्या अस्मि) मैं ही अमावास्या हूं। (मां इमे सुकृतः मयि आवसन्ति) मेरी इच्छा करते हुए ये पुण्य करनेवाले लोग मेरे आश्रयसे रहते हैं। (साध्याः इन्द्रज्येष्ठाः सर्वे उभये देवाः) साध्य और इन्द्र आदि सब दोनों प्रकारके देव (मयि समगच्छन्त) मुझमें आकर मिलते हैं ॥ २ ॥

(वसूनां संगमनी) सब वसुओंको मिलानेवाला, (पुष्टं ऊर्जं वसु आवेशयन्ती) पुष्टिकारक और बलवर्धक धन देनेवाली (रात्री आगन्) रात्री आगई है। (अमावास्या वै हविषा विधेम) अमावास्याके लिये हम हवनसे यजन करते हैं। क्यों कि वह (ऊर्जं दुहाना पयसा नः आगन्) अन्न देनेवाली दूध के साथ आगई है ॥ ३ ॥

हे अमावास्ये ! (त्वत् अन्यः एतानि विश्वा रूपाणि) तेरेसे भिन्न इन सब रूपोंको (परिभूः न जजान) घेरकर कोई नहीं बना सकता। (यत् कामाः ते जुहुमः) जिसकी इच्छा करते हुए हम तेरा यजन करते हैं, (तत् नः अस्तु) वह हमें प्राप्त होवे। (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम धनोंके स्वामी बनेंगे ॥ ४ ॥

भावार्थ-मैं अमावास्या हूं, अतः साध्य आदि सब देव तथा पुण्यकर्म करनेवाले मनुष्य मेरे आश्रयसे रहते हैं ॥ २ ॥

अमावास्या सब धन देती है, पुष्टि, बल और धन भी देती है, अतः इसके लिये हवन किया जावे ॥ ३ ॥

हे अमावास्ये ! तेरेसे भिन्न दूसरा कोईभी नहीं है कि जो इस जगत् को घेरकर बना सकता है। जिस कामनासे हम तेरा यजन करते हैं वह कामना हमारी पूर्ण होवे और हम धन के स्वामी बनें ॥ ४ ॥

अमावास्या।

'अमावास्या' का अर्थ है 'एकत्र वास करानेवाली'। सूर्य और चन्द्र एक स्थानपर रहते हैं अतः इस तिथिको अमावास्या कहते हैं। सूर्य उग्रस्वरूप है और चन्द्र शान्त स्वरूप है। उग्र और शान्तको एक घरमें रखनेवाली यह अमावास्या है। इसी प्रकार सब देवोंको एकत्र निवास करानेवाली भी यही है। यह गुण मनुष्योंको अपने अंदर धारण कराना चाहिये। परस्पर विरोधी स्वभाववाले जितने अधिक मनुष्योंको धारण करनेका सामर्थ्य मनुष्यमें हो उतनी उसकी योग्यता होगी। 'अमावास्या' से यह-बोध मनुष्योंको प्राप्त हो सकता है।

अमावास्या पर यह सूक्त एक सुंदर काव्य है। यह काव्यरस देता हुआ मनुष्यको उत्तम बोध देता है। विभिन्न प्रकृतिवाले मनुष्योंको एक घरमें, एक जातीमें, एक धर्ममें, एक राष्ट्रमें, एक कार्यमें रखकर, उन सबसे एकही कार्य कराना और उन सबकी उन्नति सिद्ध करना, यह इस सूक्तका उपदेशविषय है। जो हरएक व्यवहारमें निःसन्देह बोधप्रद होगा।

पूर्णिमा।

[८० (८५)]

[ऋषिः—अथर्वा। देवता-पौर्णमासी, प्रजापतिः)

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम ॥ १ ॥

अर्थ—(पश्चात् पूर्णा) पीछेसे परिपूर्ण, (उत पुरस्तात् पूर्णा) और आगेसे भी पूर्ण तथा (मध्यतः) बीचमें से भी परिपूर्ण (पौर्णमासी उत् जिगाय) पूर्णिमा हुई है। (तस्यां देवैः संवसन्तः) उसमें देवोंके साथ रहते हुए हम सब (महित्वा नाकस्य पृष्ठे इषा संमदेम) महिमासे स्वर्गके पृष्ठपर इच्छाके अनुसार आनन्दका उपभोग करेंगे ॥ १ ॥

भावार्थ— सब प्रकारसे परिपूर्ण होनेसे पौर्णमासीको पूर्णिमा कहते हैं। इस समय जो लोग देवोंकी सभामें—यज्ञमें—लगे होते हैं, वे अपनी महिमासे स्वर्गधाम प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे ।
स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥ २ ॥
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ३ ॥
पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु ।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः ॥ ४ ॥

अर्थ-(वृषभं वाजिनं पौर्णमासं) बलवान अन्नवान पौर्णमासका (वयं यजामहे) हम यजन करते हैं। (सः नः) वह हम सबको (अक्षितां अनु-उपदस्वतीं रयिं ददातु) अक्षय और अविनाशी धन देवे ॥ २ ॥

हे प्रजापते ! (त्वत् अन्यः) तेरेसे भिन्न (एतानि विश्वा रूपाणि) इन संपूर्ण रूपोंको (परिभूः न जजान) सर्वत्र व्यापकर कोई नहीं उत्पन्न कर सकता। (यत्-कामाः ते जुहुमः) इसकी कामना करते हुए हम तेरा यजन करते हैं, (तत् नः अस्तु) वह हमें प्राप्त हो। (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम सब धनोंके स्वामी बनेंगे ॥ ३ ॥

(पौर्णमासी) पूर्णिमा (अह्नां रात्रीणां अतिशर्वरेषु) दिनोंमें तथा रात्रीयोंके अंधेरोंमें (प्रथमा यज्ञिया आसीत) प्रथम पूजनीय है। हे (यज्ञिये) पूजनीय ! (ये त्वां यज्ञैः अर्धयन्ति) जो तुम्हें यज्ञके द्वारा पूजते हैं, (ते अमी सुकृतः नाके प्रविष्टाः) वे ये सत्कर्म करनेवाले स्वर्गके पीठपर प्रविष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ-पूर्णमास बल और अन्नसे युक्त होता है, इसी लिये हम सब उसका यजन करते हैं। इससे हम अक्षय धन प्राप्त करेंगे ॥ २ ॥

इस जगत्के अनन्त रूपोंको उत्पन्न करनेवाला प्रजापतिसे भिन्न कोई नहीं है। जिस कामनासे हम यज्ञ करते हैं वह पूर्ण हो और हम धन संपन्न बनेंगे ॥ ३ ॥

पूर्णिमा दिनमें और रात्रीमें पूजनेयोग्य है। हे पूर्णिमा ! तेरा यजन हम करते हैं, हमें स्वर्गधाममें प्रवेश प्राप्त होवे ॥ ४ ॥

ये दोनों सूक्त अमावास्या और पौणमासीके 'दर्श और पूर्णमास' यज्ञोंके सूचक हैं।

अमावास्याके समय जैसा यजन करना चाहिये उसी प्रकार पूर्णिमाके समय भी करना चाहिये। इससे इहपर लोकमें लाभ होता है।

इसीका वर्णन इन सूक्तोंमें पाठक देख सकते हैं। दर्शपूर्णमास यज्ञकी आवश्यकता इन दो सूक्तोंमें स्पष्ट शब्दोंमें कही है।

घरके दो बालक।

[८१ (८६)]

(ऋषिः—अथर्वा। देवता—सावित्री)

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातार्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ १ ॥

अर्थ—(एतौ शिशू क्रीडन्तौ) ये दोन बालक अर्थात सूर्य और चन्द्र, खेलते हुए (मायया पूर्वापरं चरतः) शक्तिसे आगे पीछे चलते हैं। और (अर्णवं परि यातः) समुद्रतक भ्रमण करते हुए पहुंचते हैं। (अन्यः विश्वा भुवना विचष्टे) उनमेंसे एक सब भुवनोंको प्रकाशित करता है। और (अन्य, ऋतून् विदधत् नवः जायसे) दूसरा ऋतुओंको बनाता हुआ नया नया बनता है ॥ १ ॥

भावार्थ— इस घरमें दो बालक हैं, वे एकके पीछे दूसरा,अपनी शक्ति से ही खेलते हैं। खेलते हुए समुद्रतक पहुंचते हैं,उनमें से एक सब जगत् को प्रकाशित करता है और दूसरा ऋतुओंको बनाता हुआ वारंवार नवीन नवीन बनता है ॥ १ ॥

नवोनवो भवसि जायमानोह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥ २ ॥
सोमस्यांशो युधां पतेनूनो नाम वा असि ।
अनूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥ ३ ॥
दर्शोऽसि दर्शतोऽसि समग्रोसि समन्तः ।
समग्रः समन्तो भूयासं गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥ ४ ॥

अर्थ— (जायमानः नवः नवः भवसि) प्रकट होता हुआ नया नया होता है। एक (अन्हां केतुः) दिनोंको बतानेवाला है वह (उषसां अग्रं एषि) उषःकालोंके अग्रभागमें होता है। (आयन् देवेभ्यः भागं विदधासि) वह आता हुआ देवोंके लिये विभाग समर्पण करता है। तथा (चन्द्रमः ! दीर्घं आयुः प्र तिरसे) हे चन्द्रमा ! तू दीर्घ आयु अर्पण करता है ॥ २ ॥

हे (युधां पते, सोमस्य अंशः) युद्धोंके स्वामी ! हे सोमके अंश ! (अनूनः नाम वै असि) तू अन्यून यशवाला है। हे (दर्श) दर्शनीय ! (मा प्रजया धनेन च अनूनं कृधि) मुझे प्रजा और धनसे परिपूर्ण कर ॥ ३ ॥

(दर्शः असि) तू दर्शनीय है, तू (दर्शतः असि) दर्शनके लिये योग्य हो। तू (सं अन्तः समग्रः असि) सब अन्तोंसे समग्र हो। (गोभिः अश्वैः प्रजया पशुभिः गृहैः धनेन) गौवें, घोडे, संतान, पशु, घर और धनसे मैं (समन्तः समग्रः भूयासं) अन्ततक परिपूर्ण होऊं ॥ ४ ॥

भावार्थ- इनमेंसे एक दिनके समयका झंडा है जो उषःकालके आन्तिम समयमें प्रकट होता है और सब देवों को योग्य विभाग समर्पण करता है। जो दूसरा बालक है वह स्वयं वारंवार नवीन नवीन बनता है और सबको दीर्घ आयु देता है ॥ २ ॥

हे युद्धोंके स्वामी ! सोमके अंश ! तू पूर्ण और दर्शनीय हो, अतः मुझे संतान और धनसे परिपूर्ण बना ॥ ३ ॥

तू दर्शनीय और अत्यन्त परिपूर्ण है, मैं भी गाय घोडे आदि पशु, संतति, घर, धन आदिसे पूर्ण बनूंगा ॥ ४ ॥

यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेना प्यायस्व ।
आ वयं प्याशिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥ ५ ॥
यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति ।
तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिरा प्याययन्तु भुवनस्य गोपाः ॥ ६ ॥
॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अर्थ-(यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हम सबका द्वेष करता है,(यं वयं द्विष्मः) जिसका हम सब द्वेष करते हैं, (तस्य प्राणेन आप्यायस्व) उसके प्राणसे तू बढ जा, (गोभिः अश्वैः प्रजया, पशुभिः, गृहैः, धनेन वयं आप्याशिषीमहि) गौवें घोडे, संतति, पशु, घर और धनसे हम बढेंगे ॥ ५ ॥

(यं अंशुं देवाः आप्याययन्ति) जिस सोम को देव बढाते हैं, (यं अक्षितं आक्षिताः भक्षयन्ति) जिस अविनाशी को अविनाशी खाते हैं, (तेन) उस सोमसे (अस्मान्) हम सबको (भुवनस्य गोपाः इन्द्रः वरुणः बृहस्पतिः) भुवनके रक्षक इन्द्र वरुण बृहस्पति ये देव (आप्याययन्तु) बढावें ॥ ६ ॥

भावार्थ-जो दुष्ट हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं उसके प्राणका तू हरण कर और हम धनादिसे परिपूर्ण बनेंगे ॥ ५ ॥

जिस सोमको देव बढाते और भक्षण करते हैं उससे हम पुष्ट हों, त्रिभुवनके रक्षक देव हमारी उन्नति करें ॥ ६ ॥

जगत्रूपी घर ।

यह संपूर्ण जगत् एक बडाभारी घर है, इस घरमें हम सब रहते हैं। इस घरमें दो आदर्श बालक हैं, इन बालकोंका नाम ' सूर्य और चन्द्र ' है। हमारे घरमें बालक कैसे हों, और माता पिताने प्रयत्न करके अपने घरके बालकोंको किस प्रकारकी शिक्षा देनी चाहिये और बालक कैसे बनने चाहियें, इस विषयका उपदेश इस सूक्तमें दिया है। हरएक घरके मातापिता इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करें।

खेलनेवाले बालक ।

घरमें बालक (क्रीडन्तौ शिशू) खेलनेवाले होने चाहियें रोनेवाले नहीं। बालक कमजोर, बीमार और दोषी हुए तो ही रोते रहते हैं। यदि वे बलवान्, नीरोग और

किसी शारीरिक दोषसे दूषित न हों, तो प्रायः रोते नहीं । मातापिताओंको उचित है कि वे गृहस्थाश्रममें ऐसा योग्य और नियमानुकूल व्यवहार करें कि, जिससे सुदृढ, हृष्ट पुष्ट, नीरोग और आनंदी बालक उत्पन्न हों ।

अपनी शक्तिसे चलना ।

बालकोंमें दूसरा गुण यह चाहिये कि वे (मायया पूर्वापरं चरन्तः) अपनी आंतरिक शक्तिसे ही आगे पीछे चलते रहें । दूसरेकेद्वारा उठानेपर उठेंगे, दूसरेने चलाये तो चलेंगे ऐसे परावलंबी बालक न हों । मातापिता बलवान् हुए और वे नियमानुकूल चलनेवाले रहे, तो उनको ऐसे अपनी शक्तिसे भ्रमण करनेवाले बालक होंगे। जो मातापिता दुर्व्यसनी नहीं हैं, सदाचारी हैं और ऋतुगामी होकर गृहस्थाश्रम का व्यवहार ऐसा करते हैं कि जिसे धार्मिक व्यवहार कहा जाय, उनको सुयोग्य बालक होते हैं । जो नीरोग और सुदृढ बालक होते हैं वे कितना भी कष्ट हुआ तो भी अपने प्रयत्नसे आगे बढनेका यत्न करते ही रहते हैं ।

दिग्विजय ।

ये आगे बढकर विद्वान् और पुरुषार्थी होकर (अर्णवं परियातः) समुद्रके चारों ओरके देशदेशान्तरमें भ्रमण करते हैं, दिग्विजय करते हैं । अपने ही ग्राममें कूप-मण्डूक के समान बैठते नहीं, समुद्रके ऊपरसे अथवा अन्तरिक्षमेंसे संचार करते हैं, और देशदेशान्तरमें परिभ्रमण करते हैं और धर्म, सदाचार तथा सुशीलता आदि का उपदेश करते हैं और सब जनताको योग्य आदर्श बताते हैं ।

जगत्को प्रकाश देना ।

इस प्रकार परमपुरुषार्थ से व्यवहार करते हुए उनमेंसे एक (अन्यः विश्वानि भुव-नानि विचष्टे) सब जगत् को प्रकाश देता है, अन्धकारमें डूबी हुई जनता को प्रकाश में लाता है । सब देश देशान्तरमें यह इसी लिये भ्रमण करता हुआ जनताको अन्धेरेसे छुडवाकर प्रकाशमें लानेका यत्न करता है ।

दूसरा गृहस्थाश्रमी (ऋतून् विदधत्) ऋतुगामी होकर, ऋतुओंके अनुकूल रहकर (नवः जायते) नवीन जैसा होता है । कितनी भी बडी आयु हुई तो भी पुनः नवीन तरुण जैसा होता है । ऋतुगामी होना, ऋतुके अनुकूल रहनासहना रखना, सोमादि

औषधियोंका उपयोग करने आदिसे वृद्ध भी तरुणके समान नवीन होना संभव है।

सूर्य और चन्द्रपर यह रूपक प्रथम मंत्र में है। पाठक इसका उचित विचार करें और अपने बालकोंकी शिक्षा आदिके विषयमें योग्य उपदेश प्राप्त करें। एक सूर्य जैसा पुत्र होवे जो जगत् को प्रकाश देवे, अथवा एक चन्द्र जैसा पुत्र होवे कि जो (नवः नवः भवति) नवजीवन प्राप्त करनेकी विद्या संपादन करके नवीन जैसा होवे और (दीर्घं आयुः प्रतिरते) दीर्घायु प्राप्त करे और लोगोंको भी दीर्घायु बनावे।

कर्तव्यका भाग।

जो जगत्को प्रकाश देता है वह (देवेभ्यः भागं विदधाति) देवोंके लिये भाग्य देता है, अथवा देवोंके लिये कर्तव्य का भाग देता है, अर्थात् यह इस कार्यको करे वह उस कार्यको संभाले, इस प्रकार कार्यविभागके विषयमें आज्ञाएं देता है और विभिन्न कार्यकर्ताओंसे विभिन्न कार्य कराकर एक महान कार्य परिपूर्ण करा देता है। मनुष्योंको भी यह आदर्श सामने रखना चाहिये। देखिये, इस सृष्टीमें जल शान्ति देनेका कार्य करता है, अग्नि तपानेके कार्यमें तत्पर है, वायु सुखाता है, भूमि आधार देती है, इत्यादि देव विभिन्न कार्योंके भाग सिरपर लेकर अपने अपने कार्यमें तत्पर रहकर सब जगत् का महान कार्य निभा रहे हैं। मानो यह मुख्य देव इन गौण देवोंको करनेके लिये कार्यभाग देता है। इसी प्रकार राष्ट्रमें मुख्य नेता अन्य गौण नेताओंको कर्तव्य का भाग बांट देवे और वे उसको योग्य रीतिसे करें, तो सबके अपने अपने कार्यका भाग करनेसे महान् कार्यकी सिद्धी हो जाती है।

पूर्ण हो।

एक 'पूर्ण सोम' होता है जो पूर्णिमाके दिन प्रकाशता है। दूसरा सोमका अंश होता है। अंश भी हुआ तो भी वह पूर्ण बननेकी शक्ति रखता है, इस कारण वह न्यून नहीं है। इसीलिये उसको (अनूनः असि) अन्यून-परिपूर्ण-कहा है। यह सोम अंशरूप हो या पूर्ण हो वह अन्यून ही है, क्यों कि यदि वह आज अंश हुआ तो कुछ दिनोंके बाद वह पूर्ण होगा ही. अतः वह न्यून रहनेवाला नहीं है। न्यून होनेपर भी वह प्रयत्नपूर्वक पूर्ण बनता है, यह पूर्ण बननेका उसका पुरुषार्थ हरएक मनुष्यके लिये अनुकरणीय है। इसलिये उसकी प्रार्थना तृतीय मंत्रमें की जाती है कि (अनूनं मा कृधि) 'अन्यून-परिपूर्ण-मुझे कर;' क्यों कि तू परिपूर्ण करनेवाला है, मैं पूर्ण बनना

चाहता हूं । धन,आरोग्य, प्रजा, गौएं, घोडे आदिसे भी परिपूर्ण मैं होऊं यह अभिप्राय यहां है ।

यही भाव चतुर्थ मंत्रमें कहा है । (समन्तः समग्रः असि) तू सब प्रकारसे समग्र अर्थात् पूर्ण है, मैं भी तेरी उपासनासे (समग्रः समन्तः) पूर्ण और समग्र होऊं ।

दुष्टका नाश ।

जो दुष्ट हम सबका द्वेष करता है और जिस अकेले दुष्ट का द्वेष हम सब करते हैं, उसके दोषी होनेमें कोई संदेह ही नहीं है । यदि ऐसा कोई मनुष्य सब संघका घात करे तो उसका नियमन करना आवश्यक होता है। यह द्वेष करनेवाला यहां अल्प संख्या-वाला कहा है । ' जिस अकेलेका हम सब द्वेष करते हैं और जो अकेला हम सब का द्वेष करता है । ' इसमें बहु संख्याक सज्जन और अल्पसंख्याक दुर्जन होनेका उल्लेख है । ऐसे दुष्टोंको दबाना और सज्जनोंकी उन्नतिका मार्ग खुला करना, यही धार्मिक मनुष्य का कर्तव्य है ।

दिव्यभोजन ।

जो देवोंका भोजन होता है उसको देवभोजन अथवा दिव्यभोजन कहते हैं । यह देवोंका भोजन क्या है इस विषयमें इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें कहा है ।—

देवाः अंशुं आप्याययन्ति)
अक्षिताः अक्षितं भक्षयन्ति ॥ (मं० ६)

" देव लोग सोमको बढाते हैं और ये अमर देव इस अक्षय सोमका भक्षण करते हैं।" सोम यह एक वनस्पति है । इसको बढाना और उसको भक्षण करना; यह देवोंका अन्न है । अर्थात् देव शाकाहारी थे । जो लोग देवोंके लिये मांस का प्रयोग करते हैं, उनको वेदके ऐसे मन्त्रोंका विशेष विचार करना चाहिये । सोम देवोंका अन्न है, इस विषयमें अनेक वेदमन्त्र हैं । और सबका तात्पर्य यही है कि जो ऊपर कहा है ।

पाठक इस रीतिसे इस सूक्तका विचार करें ।

गौ।

[८२ (८७)] (ऋषिः-शौनकः संपत्कामः। देवता—अग्निः)

अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ताम् ॥ १ ॥
मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।
मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥ २ ॥
इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन् पूर्वचित्ता निकारिणः।
क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः ॥ ३ ॥

अर्थ—(सु-स्तुतिं गव्यं आजिं अभ्यर्चत) उत्तम स्तुति करने योग्य गौ संबंधी प्रगतिकी सीमाका आदर करो। (अस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त) हमारे मध्यमें कल्याणकारी धन धारण करो। (नः इमं यज्ञं देवता नयत) हमारे इस यज्ञको देवताओंतक पहुंचाओ। (घृतस्य धाराः मधुमत् पवन्तां) घीकी धाराएं मधुरताके साथ बहें ॥ १ ॥

(अग्रे मयि क्षत्रेण वर्चसा बलेन सह अग्निं गृह्णामि) पहिले मैं अपने अन्दर क्षात्रशौर्य, ज्ञानका तेज और बल के साथ रहनेवाले अग्निका ग्रहण करता हूं। (मयि प्रजां) मेरे अन्दर प्रजाको, (मयि आयुः) मेरे अन्दर आयुको, (मयि अग्निं) मेरे अन्दर अग्निको (दधामि) धारण करता हूं, (स्वाहा) यह ठीक कहा है ॥ २ ॥

हे अग्ने! (इह एव रयिं आधिधारय) यहां ही धन का धारण कर। (पूर्वचित्ताः निकारिणः त्वा मा निक्रन) पूर्वकालसे मन लगानेवाले अपकारी लोग तेरे संम्बन्ध में अपकार न करें। हे अग्ने! (क्षत्रेण तुभ्यं सुयमं अस्तु) क्षत्रबलसे तेरे लिये उत्तम नियमन होवे। (उपसत्ता अनिष्टृतः वर्धतां) तेरा सेवक अहिंसित होता हुआ बढे ॥ ३ ॥

भावार्थ—गौओंकी उन्नतिका विचार करो, क्योंकि यही उत्तम प्रशंसा के योग्य कार्य है। घी की मीठी धाराएं विपुल हों अर्थात् घरमें घी विपुल हो, कल्याण करनेवाला विपुल धन प्राप्त करे और इन सबका विनियोग प्रभुकी संतुष्टताके यज्ञमें किया जावे ॥ १ ॥

मेरे अन्दर शौर्य, ज्ञान, बल, संतति, आयु आदि स्थिर रहे ॥ २ ॥

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्यं उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ४ ॥
प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥ ५ ॥
घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे ।
घृतं ते देवीर्नप्त्य१ आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने ॥६॥

अर्थ-(अग्निः उषसां अग्रं अनु अख्यत्) अग्नि-सूर्य-उषःकालोंके अग्रभागमें प्रकाश करता है। (प्रथमः जातवेदाः अहानि अनु अख्यत्) पहिला जातवेद-सूर्य-दिनोंको प्रकाशित करता है। वही (सूर्यः अनु) सूर्य अनुकूलता के साथ (उषसः अनु) उषःकालोंके अनुकूल, (रश्मीन् अनु) किरणोंके अनुकूल, (द्यावापृथिवी अनु आ विवेश) द्युलोक और पृथ्वीलोक के बीचमें अनुकूलताके साथ व्यापता है ॥ ४ ॥

(अग्निः उषसां अग्रं प्रति अख्यत्) अग्नि-सूर्य-उषाओंके अग्रभागमें प्रकाशता है। (प्रथमः जातवेदाः अहानि प्रति अख्यत्) पहिला जातवेद-सूर्य-दिनोंको प्रकाशित करता है। (सूर्यस्य रश्मीन पुरुधा प्रति) सूर्यकी किरणोंको विशेष प्रकार प्रकाशित करता है। तथा (द्यावापृथिवी प्रति आ ततान) द्यावापृथिवीको उसीने फैलाया है ॥ ५ ॥

हे अग्ने! (ते घृतं दिव्ये सधस्थे) तेरा घृत दिव्य स्थानमें है। (मनुः त्वां घृतेन अद्य सं इन्धे) मनुष्य तुझे घीसे आज प्रज्वलित करता है। (नप्त्यः देवीः ते घृतं आवहन्तु) न गिरानेवाली दिव्य शक्तियां तेरे घृत को ले आवें। हे अग्ने! (गावः तुभ्यं घृतं दुह्रतां) गौवें तेरे लिये घीको देवें ॥ ६ ॥

भावार्थ-मुझे धन प्राप्त हो। अपकारी लोग अपकार न कर सकें। क्षात्र तेजसे सर्वत्र नियमव्यवस्था उत्तम रहे। प्रभु का भक्त-सेवक-वृद्धिको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥ सूर्य उषाके पश्चात प्रकट होता है और दिनमें प्रकाश करता है। वह प्रकाशसे द्युलोक और पृथ्वी के बीचमें व्यापता है ॥ ४—५ ॥

मनुष्य घीसे अग्निमें यजन करे, क्योंकि घीही उत्तम दिव्य स्थानमें रहनेवाला है। गौवें हवनके लिये उत्तम घी तैयार करें=देवें ॥ ६ ॥

इस सूक्तमें गोरक्षाकी महिमा वर्णन की है। तथा गौके घृतके हवनका भी माहात्म्य वर्णन हुआ है। घृतके हवनसे रोगोंके दूर होनेकी बात इससे पूर्व (अथर्व कां० ७६।५) कही है। अतः रोग दूर होने के बाद दीर्घ आयु, बल, तेजस्विता, ज्ञान, धन आदिका प्राप्त होना संभव है। इस प्रकार सूक्तकी संगति देखना योग्य है।

मुक्ति।

[८३ (८८)]

(ऋषिः-शुनःशेपः । देवता-वरुणः)

अप्सु तें राजन् वरुण गृहो हिंरण्ययों मिथः ।
ततों धृतव्रंतो राजा सर्वा धामांनि मुञ्चतु ॥ १ ॥
धाम्नोंधाम्नो राजन्नितो वंरुण मुञ्च नः ।
यदापों अघ्न्या इति वरुणेति यदूंचिम ततों वरुण मुञ्च नः ॥ २ ॥

अर्थ—हे वरुण राजन् ! (ते गृहः अप्सु) तेरा घर जलोंमें है और वह (मिथः हिरण्ययः) साथ साथ सुवर्णमय भी है। (ततः धृतव्रतः राजा) वहांसे व्रतपालक वह राजा (सर्वा धामानि मुञ्चतु) सब स्थान मुक्त-बंधन-रहित-करे ॥ १ ॥

हे वरुण राजन् ! (इतः धाम्नः धाम्नः नः मुञ्च) इस प्रत्येक बंधनस्थान से हमारी मुक्तता कर। (यत् ऊचिम) जो हम कहते हैं कि (आपः अघ्न्याः इति) जल अवध्य गौके समान प्राप्तव्य है और (वरुण इति) हे वरुण तूही श्रेष्ठ है, हे वरुण ! (ततः नः मुञ्च) इस कारणसे हमें मुक्त कर ॥ २ ॥

भावार्थ— हे सबके राजाधिराज प्रभो ! तेरा धाम सुवर्ण जैसा चमकनेवाला आकाश में है। वह तू इस जगत्का सत्यनियमोंका पालन करनेवाला एकमात्र राजा है। वह तू हमें सब बन्धनोंसे छुडाओ ॥ १ ॥

हम सबको हरएक बन्धनसे मुक्त कर। मुक्तिकी इच्छासे हम आपके गुणगान करते हैं ॥ २ ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ३ ॥
प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ४ ॥

अर्थ- हे वरुण! (उत्तमं पाशं अस्मत उत् श्रथाय) उत्तम पाश को हमसे जरा ढिला कर, (अधमं पाशं अवश्रथाय) अधम पाशको भी दूर कर, तथा (मध्यमं पाशं विश्रथाय) मध्यम पाशको हटा दे। हे आदित्य! (अधा वयं तव व्रते) अब हम तेरे नियममें रहकर (अनागसः अ-दितये स्याम) निष्पाप बनकर बंधनरहित-मुक्ति—अवस्थाके लिये योग्य होंगे ॥ ३ ॥

हे वरुण! (ये उत्तमाः ये अधमाः वारुणाः पाशाः) जो उत्तम मध्यम और कनिष्ठ वारुण पाश हैं उन (सर्वान् पाशान् अस्मत प्रमुञ्च) सब पाशोंको हमसे दूर कर। (दुःस्वप्न्यं दुरितं अस्मत् निःस्व) दुष्ट स्वप्न और पापका आचरण हमसे दूर कर। (अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकं) अब पुण्य लोकको हम प्राप्त होंगे ॥ ४ ॥

भावार्थ- हे श्रेष्ठ देव! हमारे उत्तम, मध्यम और अधम पाश खोल दो। तेरे व्रतमें रहते हुए हम सब निष्पाप होकर बन्धनसे मुक्त होनेके लिये योग्य होंगे ॥ ३ ॥

हमारे सब पाश मुक्त कर, हमसे पाप दूर कर, जिससे हम पुण्यलोक को प्राप्त होंगे ॥ ४ ॥

तीन पाशोंसे मुक्ति।

मनुष्यको मुक्ति चाहिये। परंतु वह मुक्ति बंधनकी निवृत्ति होनेके विना नहीं हो सकती। उत्तम, मध्यम और अधम वृत्तीके तीन बंधन मनुष्यको बंधनमें डालते हैं। सात्विक, राजस और तामस वृत्तिके ये बंधन हैं जो मनुष्यको पराधीन कर रहे हैं। तमोवृत्ती के बंधनकी अपेक्षा सात्विक बंधन बहुत अच्छा है इसमें संदेह नहीं, परंतु वह बंधन ही है। लोहेकी शृंखला का बंधन जैसा बंधन है उसी प्रकार सोनेकी शृंखला पांवमें अटकायी तो भी वह बंधन ही है। इसी प्रकार हीन मनोवृत्तीयोंके बंधनकी अपेक्षा श्रेष्ठ मनोवृत्तीयोंका बंधन बेशक अच्छा है, परंतु चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेकी

अपेक्षासे वह भी बंधन ही है । इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि उत्तम, मध्यम और अधम अर्थात् सब वृत्तियोंके पाश हमसे दूर कर ।

पापसे बचो ।

बंधन दूर होनेके लिये मनुष्य (अन्-आगस्) निष्पाप होना चाहिये । पाप वृत्ति दूर होनेके विना बंधनके क्षय होनेका संभव नहीं है । (दुरितं) जो पाप अन्तःकरणमें होता है वह दूर होना चाहिये । परमेश्वर भी तभी दया करके बंधनसे मुक्त कर सकता है । अतः मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह पापसे बचनेका यत्न करे ।

इसके लिये ईश्वरकी भक्ति यह एकमात्र मुक्तिका श्रेष्ठ साधन है । "दिति" नाम बंधन का है, उससे मुक्त होनेका नाम 'अ-दिति की प्राप्ति' होना है । मुक्तिकी प्राप्ति ही यह है ।

परमेश्वर (धृत-व्रतः) हमारे व्रतोंका निरीक्षक है । वह अपने नियमानुकूल रहता है और जो उसके नियमोंके अनुकूल चलता है, उसीपर वह दया करता है । और सीधे मार्गपर चलता है । जिससे निर्विघ्न रीतिसे मनुष्य मुक्तिको प्राप्त होता है ।

व्रत धारण ।

व्रत धारण करनेके विना मुक्ति नहीं होसकती, यह एक उपदेश इस सूक्तसे मिल करता है, क्यों कि (धृतव्रत) व्रत धारण करनेवाला ही यहां बंधमुक्त करनेका अधिकारी है ऐसा कहा है। व्रतधारण और व्रतपालनसे मनोबल और आत्मिक बल बढता है । जो लोग व्रत पालनेमें शिथिल रहते हैं वे उन्नतिको कदापि प्राप्त नहीं कर सकते । व्रत अनेक हैं, सत्य बोलना, सत्यके अनुसार आचरण करना, ब्रह्मचर्य पालन करना, पवित्रता धारण करना, इत्यादि अनेक व्रत हैं । इन सबकी यहां गिनती नहीं की जासकती । पाठक अपनी कर्तृत्वशक्तिका विचार करें और जो व्रत करना हो वह करनेका प्रारंभ करें । एकवार लिया हुआ व्रत पालन करनेमें शिथिल न बनें । इस प्रकार करनेसे व्रतपालनका सामर्थ्य आजायगा और क्रमसे उन्नति होगी ।

R.No.B.1463

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध जि० सातारा.